भरत
और
भारतीय नाट्यकला

सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

प्रथम संस्करण | १९७०

प्रकाशक | राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली ६

मुद्रक | नवीन प्रेस, दिल्ली ६

मूल्य | ३० ००

सज्जा | सुखदेव दुग्गल

भरत
और
भारतीय नाट्यकला

भारतीय विद्या के अनन्य प्रेमी
प्रात स्मरणीय परम श्रद्धास्पद
पूज्य पितृदेव स्व० बाबू
यदुवश सिह जी
की
पुण्य स्मृति मे

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ॥

आमुख

भरत (भरता) की शाश्वत साधना का परिनिष्ठित परिणाम है नाट्यशास्त्र। बिना नाट्यशास्त्र के भारतीय नाट्यकला की कल्पना ही नही की जा सकती, पर वह न केवल नाट्य कला ही अपितु काव्य, सगीत एव नृत्य आदि विभिन्न ललितकलाओ का भी विश्वकोष है। प्राचीन भारतीय नाट्यकला ने प्रागैतिहासिक काल में ही आर्यों एव आर्येतर सभ्यताओ के सगम का माग प्रशस्त किया था, इसकी पुष्टि तो नाट्यशास्त्र से ही होती है। सच्ची कला सवेदना से जन्म लेती है जहाँ सारे विरोध और सघष एकरग, एकरूप हो जाते हैं। यही कारण है कि भरत ने समस्त मानव की एकता के मागलिक अनुष्ठान का महान् समारभ सवलोकानुरजनकारी नाट्यकला के माध्यम से किया था। देवा और दानवा ने सघष को भूल एक ही रगमडप पर महेन्द्र विजयोत्सव' का रगमचन हर्षोत्फुल्ल हो देखा था, क्योकि वह देवा की विजय या दानवो की पराजय की कथा का नाटक नही वह तो नाना भावोपसपन्न नानावस्थान्तरात्मक, शुभाशुभ विकल्पक तीनो लोकों का भावानुकीतन रूप था।

भरतमुनि ने आज से सदियो पूव भारत की सामाजिक, सास्कृतिक और जातीय एकता की मगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से प्रकृत रूप दिया। इस रूप मे वे वाल्मीकि और व्यास की गौरवशाली पक्ति म खडे दिखाई देते हैं। रामायण और महाभारत न हमारी समग्र चेतना को आलोकित और उत्प्रेरित किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र यद्यपि लक्षणग्रथ है, पर वह एक ओर नदिकेश्वर, धनजय, सागरनदी, अभिनवगुप्त, शाङ्गधर आदि नाट्य एव सगीत कला के चिन्तकों को प्रभावित करता रहा है तो दूसरी ओर भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति हष और राजशेखर जसे महान् नाटककारो के नाट्यशिल्प का प्रेरणा स्रोत बना रहा है। इन महत्तर कृतियो से प्रसूत भारत के सास्कृतिक गौरव और कला-समद्धि का मधुर सौरभ सदिया बाद भी किस उद्बुद्ध भारतीय के मन प्राण को सुवासित और अनुरजित नही कर देता!

विषय की व्यापक पृष्ठभूमि

नाट्यशास्त्र भरतमुनि की एकमात्र महान् कृति है। भारतीय कलाओ के इस विशाल कोष की रचना से पूव भी भारतीय जन-जीवन में कला की विभिन्न विधिया थी पर अविकसित और विशृखल रूप म। पाणिनि के काल में नट-सूत्र वतमान थे। पतजलि के काल म कस-वध और बलिबधन की कथाए नाट्यायित होती थी, परन्तु नट, ग्रथिक और शौभिक आदि नाटकीय पात्रा की सामाजिक मर्यादाएँ पतनोन्मुख हो रही थी। नाट्य के विभिन्न अगो का व्याख्यान शिष्य आचाय की परपराओ मे हो रहा था। परन्तु भरत ने पहले-पहल नाट्यकला को शास्त्र का व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप दिया। नाट्य का उद्भव, नाट्य की रचना, नाट्य-मडप, नाट्य का अभिनयन आदि विभिन्न विषया का इतना परिनिष्ठित और व्यापक विवेचन न तो

पहले हुआ और न बाद म ही।

वस्तुत भरत के लिए 'नाटच' शब्द अत्यत व्यापक है। कोई एसा ज्ञान, कोई एसा शिल्प, कोई ऐसी विद्या और न कोई ऐसी कला है, जिसका नाटच म उपयोग नही होता। मूर्ति, चित्र, सगीत, नत्य और वाद्यकलाओ के अतिरिक्त भवन निर्माण, अग प्रसाधन आभरण रचना, वश विन्यास, वस्त्ररजन, अस्त्र शस्त्र रचना और पुस्तविधि आदि न जाने कितने शिल्पो का प्रयोग रगशिल्पी किया करते हैं। इन शिल्पो और कलाओ के समानयन से नाटच-कला की पूर्णता प्राप्त होती है।

न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
न तत्कम न योगोऽसौ नाटयेऽस्मिन्न दृश्यते॥ ना० शा० १।११६

भरत प्रवर्तित भारतीय नाटचकला की यह भागीरथी चतुर्मुखी हो प्रवाहित होती हुई मालूम पडती है। भारतीय नाटचशास्त्रीय ग्रथ एव नाटचकृतियो के अध्ययन और विश्लेषण स भारतीय नाटचकला के उन महत्वपूर्ण आयामो स हमारा परिचय होता है जो कवि, नाटच शास्त्र प्रणेता नाटच प्रयोक्ता और प्रेक्षक के रूप म प्रसिद्ध हैं। इन प्रमुख आयामो की विशाल परिधि म 'भारतीय नाटचकला के उदात्त स्वरूप का हम दर्शन करते हैं। कवि तो वस्तुतत्त्व और पात्र के शील आदि के आधार पर नाटचरचना करता है उस एक ओर नाटचशास्त्रप्रणेता की दृष्टि से दिशा निर्देश मिलता है तो दूसरी ओर लौकिक जीवन का सुखदुखात्मक परिवेश प्रभूत सवेदना और शक्ति प्रदान करता है। शास्त्रीय सिद्धान्त और जीवन की वास्तविकता स अनुप्राणित नाटच रचना को नाटच प्रयोक्ता रगभूमि पर प्रस्तुत करता है वहाँ भी वह लोक धर्मी और नाटचधर्मी विधियो द्वारा आगिक आदि विभिन्न अभिनयो के माध्यम स उस नाटच रचना को प्रेक्षक के हृदय म रसास्वाद की दशा तक ले जाता है, अभिनयन करता है इसीलिए वह अभिनेता भी होता है। नाटचप्रयोक्ता की काय परिधि तो बहुत ही विस्तृत है। रगमडप की रचना दृश्य विधान पात्रो का उपयुक्त चयन, अवस्था के अनुरूप वेषविन्यास रूपानुरूप गति प्रचार गति के अनुरूप ही अय सम्बद्ध भावभगिमाओ और मुद्राओ का प्रदर्शन प्रयोग की उत्तमता का रगप्राश्निको द्वारा निर्धारण, वाचिक अभिनय द्वारा कविरचित वाक्य का यथोचित पाठय आहार्य विधियो का समुचित विधान सात्त्विक भावो की अभिव्यक्ति और गीतवाद्य आदि का यथास्थान रागात्मक प्रयोग—सब नाटचकला के अग बनकर ही तो उपस्थित होते हैं। रगमडप पर नाट्यकला से सबधित नाना शिल्प और मडन विधियाँ नाटचकला ही होती हैं।

विषय की सीमा

प्रस्तुत शोध प्रबध म यह अनुसधेय है कि नाटचकला के इस व्यापक क्षेत्र म भरत की देन क्या है। नाटचसिद्धात और प्रयोग स सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर भरत न जिन सिद्धान्तो का आकलन किया है, उनका परवर्ती नाटककारो नाटचशास्त्र प्रणेताओ और रगशिल्पियो पर क्या प्रभाव पडा है उनकी चिन्तन धारा और प्रतिभा को भरत न अपने विचारो और कल्पनाओ तथा प्रयोग विधान स किस सीमा तक अनुप्राणित और परिपुष्ट किया है? भरत एव परवर्ती आचार्यों के विचारों म अपेक्षाकृत मौलिकता किसम है क्या नाटचकला के नवीन क्षेत्रो को अपनी विचार किरणों से आलोकित किया है? जब तक भरत एव उनके परवर्ती आचार्यों की मान्यताओ

का तुलनात्मव, क्रमवद्ध एव वैनानिव विश्लेषण नही होता, तब तक भरत की देन की महत्ता का तात्विक मूल्याकन नही हो सकता। अतएव हमारी विचार परिधि मे भरत के पूववर्ती (?) एव परवर्ती आचार्यों के लक्षणग्रथो मे निर्धारित नाट्यसिद्धान्त और प्रयोग विज्ञान तुलना के रूप मे प्रस्तुत होते है। भरत का नाट्यशास्त्र तो हमारा आधार ग्रथ है पर उसके अतिरिक्त अय नाट्यशास्त्रीय ग्रथ पूणतया या आशिक रूप से अनुसधान की यात्रा मे आलोकदान करते रहे हैं, उनम से कुछ निम्नलिखित हैं—

१ अग्निपुराण, २ विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३ हरिवश (विष्णुपव ८८ ९३), ४ नाट्य शास्त्र सग्रह ५ अभिनय दपण (नदिकेश्वर) ६ भरताणव (नन्दिकेश्वर), ७ दशरूपक (धनजय), ८ अभिनवभारती (अभिनवगुप्त), ९ नाट्यदपण (रामचन्द्र गुणचन्द्र), १० भावप्रकाशन (शारदातनय), ११ नाटक लक्षण रत्नकोष (सागरनदी), १२ रसाणव सुधाकर (शिंग भूपाल), १३ साहित्य दपण (विश्वनाथ) १४ काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), १५ सगीत रत्नाकर (शाङ्ग धर), १६ मानसार, १७ शिल्परत्न, और १८ मत्स्यपुराण आदि।

इन उपयुक्त लक्षणग्रथो के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रथ भी अनुसधान मे सहायक रहे है। नाट्यप्रयोगविज्ञान के प्रधान अग वाचिक अभिनय का विधान स्वरव्यजनयुक्त शब्द, छद, लक्षण और गुणालकारयुक्त वाक्य पर निभर करता है। भरत का एतत्सबधी विधान अय पूववर्ती आचार्यों की तुलना म किस कोटि का है इसके निर्धारण के लिए इन परवर्ती काव्यशास्त्र के ग्रथो की समीक्षा की आवश्यकता होती है। इनमे स कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) काव्यालकार (भामह),
(२) काव्यादश (दण्डी),
(३) ध्वन्यालोक (आनन्दवधनाचाय)
(४) ध्वन्यालोकलोचन (अभिनवगुप्त),
(५) काव्यालकार सूत्रवत्ति (वामन),
(६) काव्यप्रकाश (मम्मट),
(७) काव्यमीमासा (राजशेखर),
(८) काव्यालकार (रुद्रट), एव
(९) छदसूत्र (पिंगल) आदि।

इन लक्षणग्रथो के अतिरिक्त भास से राजशेखर तक के सस्कृत और प्राकृत के नाटक और उन पर मनीषी आचार्यों द्वारा की गयी महत्त्वपूण टीकाए भी हमारे परीक्षण की परिधि मे आती हैं। इन आचार्यों की टीकाओ मे भरत, धनजय और अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के अतिरिक्त मातृगुप्त और कोहल आदि अपेक्षाकृत कम परिचित आचार्यों की नाट्यकला सम्बधी मान्यताओ का भी परिचय प्राप्त होता है। इनम शकुन्तला पर राघवभट्ट महावीर चरित और वेणीसहार पर जगद्धर और मृच्छकटिक पर पृथ्वीधर की टीकाएँ विशेष रूप से अनुसधान की यात्रा मे दिग्दशन करती रही हैं।

आनुषगिक रूप से भारतीय नाट्यकला पर समग्रता की दृष्टि से विचार करते हुए मध्यकाल के सगीत प्रधान नाटको की चर्चा तो हुई है परन्तु उन्नीसवी सदी के बाद आधुनिक युग म भारतीय नाट्यधारा के विकास पर भी हमारी दृष्टि गई है। इस सदभ मे विशेषकर

भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमी, मिलिंद, रामकुमार वर्मा, बेनीपुरी, माथुर और लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि के नाटक और उनके प्रयोग तथा भारतेन्दु, बाबू श्यामसुन्दर दास, गुलाब राय और डॉ० दशरथ ओझा आदि के नाट्य सिद्धान्त भरत के नाट्य सिद्धान्तों के प्रभाव की खोज में हमारी तुलनात्मक चिन्ताधारा में आकर मिल गये हैं।

विषय से सबद्ध सामग्री

विषय के स्वरूप और सीमा निर्धारण के प्रसग म हमने उन कुछ प्राचीन ग्रन्थो का सकेत किया है जो हमारे अनुसधान के मार्ग म सहायक रहे हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य के ऐतिहासिक शोध और साहित्यिक मूल्याकन की दृष्टि से गत डेढ़ सौ वर्षों म यूरोपीय एव भारतीय विद्वानो द्वारा विपुल साहित्य लिखा गया है। विलियम जोन्स द्वारा १७७९ म अनूदित 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के प्रकाशन के बाद प्राचीन भारतीय नाटक और नाट्यकला को भी पाश्चात्य मनीषियो के गवेषणात्मक अध्ययन का लाभ हुआ है। एच० एच० विलसन की 'इण्डियन थियेटर' नामक पुस्तक (१८२६) के प्रकाशन-काल तक नाट्यशास्त्र उपलब्ध नही था। हाल महोदय ने दशरूपक के अनुवाद म नाट्यकला के प्रयोग पक्ष की कोई विवेचना नही की। इस बीच प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् वान श्राडर, पिश्चेल, हर्टेल, रिजवे, जैकोबि, सिल्वान् लेवी तथा कीथ प्रभृति विद्वानो ने सस्कृत नाटको के उद्भव और विकास की समस्या पर ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से विचार किया है। कीथ का 'सस्कृत ड्रामा' नाटकों के रचनाकाल और काव्य सौन्दर्य पर गभीर विवेचनात्मक ग्रन्थ होने के कारण अब भी सदर्भ ग्रन्थ के रूप में समादृत है। परतु नाट्यशिल्प और उसकी प्रयोगविधियो का विवेचन उसम अत्यन्त स्वल्प है।

लगभग गत सौ वर्षों स नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक सस्करण के सपादन की दिशा म प्रयत्न जारी है। यूरोप से नाट्यशास्त्र का अधूरा ही सस्करण प्रकाशित हुआ। भारत म नागरी लिपि मे प्रकाशित काशी और काव्यमाला सस्करण पूरे तो हैं पर पाठ की शुद्धता की दृष्टि स उतने विश्वसनीय नही हैं। अभिनव भारती टीका सहित नागरी लिपि म नाट्यशास्त्र का प्रकाशित सस्करण चार भागो म पूरा हुआ है। अभिनव भारती टीका के कारण इसका महत्त्व तो है ही, पर पाठ भेदों के उल्लेख के कारण भी यह सस्करण बहुत उपयोगी है। मनमोहन घोष द्वारा अग्रेजी म अनूदित तथा मूल पाठ-सहित सपादित नाट्यशास्त्र का सस्करण सभवत सर्वाधिक प्रामाणिक है और अपनी महत्त्वपूर्ण पादटिप्पणियो के कारण अत्यन्त उपयोगी भी है। आचार्य विश्वेश्वर द्वारा नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय एव षष्ठ अध्याय के मूल तथा अभिनव भारती टीका पर प्रकाशित व्याख्या अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है तथा मर्मस्थलो का उद्घाटन करने वाली है। डॉ० रघुवश द्वारा १७ अध्यायो का सपादन एव अनुवाद एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

काशी एव काव्यमाला सस्करणो म भूमिका नाममात्र है। अन्य सस्करणो की भूमिकाओ, पादटिप्पणियों और परिशिष्टो म मुख्यतया रचनाकाल, पाडुलिपियो और प्रतिपाद्य विषय की चर्चा है। नाट्यकला, नाट्यप्रयोग विज्ञान, नाट्य के काव्यशास्त्रीय पक्ष तथा रगमच के सबध म पर्याप्त सामग्री नही है।

नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण के सबध म पी० वी० काणे और एस० के० दे के प्रसिद्ध ग्रन्थो हिस्ट्री आफ सस्कृत पोएटिक्स (१९६१) तथा सस्कृत पोएटिक्स (१९६०) म महत्त्वपूर्ण

सामग्री का सकलन किया गया है। इन आधुनिक आचार्यों ने नाटयशास्त्र का विवेचन काव्य-शास्त्र के ऐतिहासिक विवेचन के क्रम मे किया है न कि महान् कलात्मक विशेषताओ के विवेचक ग्रन्थ के रूप मे। इस अवधि मे भारतीय नाटक और रगमच पर बहुत से शोध ग्रथ प्रकाश मे आये हैं। दासगुप्ता के इण्डियन स्टेज (१६३४) मे बगला रगमच पर पश्चिमी रगमच के प्रभाव तथा उसके विकास की दिशाओ का अनुसधान किया गया है। आर० के० यानिक के इण्डियन थियेटर (१६३३) म भारत के प्रादेशिक रगमच पर विदेशी प्रभाव तथा मराठी रगमच की प्रगति का सकेत किया गया है। मुल्कराज आनन्द का 'इण्डियन थियेटर' आधुनिक रगमचों पर आधारित परिचयात्मक ग्रन्थ है। चन्द्रभानु गुप्त का इण्डियन थियटर' (१६५४) प्राचीन भारतीय रगमचीय शैली स सबधित है। सस्कृत नाटको के प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया का अनुसधान इसका मुख्य लक्ष्य है। परन्तु आगिक अभिनय पर प्रस्तुत सामग्री अत्यन्त अपर्याप्त है और वाचिक अभिनय के विभिन्न अग इनके विवचन की परिधि मे नही आते। यद्यपि स्वय भरत ने वाचिक अभिनय को 'नाट्य के तनु' के रूप म स्वीकार किया है। एस० एन० शास्त्री का शोध प्रबन्ध *'लॉज एण्ड प्रक्टिसेज ऑफ सस्कृत ड्रामा' सस्कृत नाटको म व्यवहृत नाट्य नियमो* के अनुसधान म प्रवत्त है। इसम नाटय के रचनात्मक तथा वाचिक अभिनय के अन्तगत कुछ विषया का तुलनात्मक विवेचन तो है पर विभिन्न अभिनया, रगमडप अथवा दृश्यविधान का कोई विवरण नही दिया गया है। मुझे 'भरत की देन' के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए नाटयकला के रचनात्मक, रसात्मक और अभिनयात्मक इन तीनो विभिन्न केन्द्रबिन्दुओ तक अपन अनुसधान की परिधि का विस्तार करना पडा है। इनके अतिरिक्त मन्कद, राघवन् मनमोहन घोप और जागीरदार आदि के नाटय और रगमच सबधी ग्रन्था तथा शोध-पत्रिकाओं म प्रकाशित बहुमूल्य निबधो ने दिशा निर्देश किया है।

हिन्दी मे प्राचीन भारतीय नाटयकला के सम्बन्ध मे शाध के रूप मे अत्यन्त नगण्य काय हुआ है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थो का अनुवाद या तदन्तगत विचारा के सकलन का काय बडी तेजी से हो रहा है, पर नाट्यशास्त्र उपेक्षित ही रहा है। आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'भारतीय नाटयशास्त्र की परम्परा' एक अपवाद है। इस महत्त्वपूण प्रबन्ध द्वारा प्राचीन भारतीय नाटय-परम्परा को दृष्टि म रखकर शोध काय करने वालो को प्रेरणा मिलती है। डॉ० दशरथ ओझा के प्रसिद्ध शोध प्रबध 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' की पूवपीठिका के रूप मे तथा 'नाट्य समीक्षा' मे सकलित सामग्री बहुत सुलझी हुई है और उसम प्राचीन भारतीय नाटय-परम्परा पर एक महत्त्वपूण दृष्टिकोण का सकेत मिलता है। राय गोविन्द चन्द्र लिखित 'भरत के नाट्यशास्त्र म रगशालाओ के रूप' का प्रतिपाद्य मात्र रगमच है। प्राचीन काव्यशास्त्र की परम्परा को दृष्टि म रखकर लिखे गय प्रो० बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय काव्यशास्त्र' तथा डा० नगेन्द्र को भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' म परम्परागत काव्यशास्त्र का अध्ययन लक्ष्य है। नाटयकला के लिए वहा अवकाश नही है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के नूतन ग्रथ 'प्राचीन भारतीय लोक-धम के द्वारा नाटयोत्पत्ति की समस्या पर प्रकाश पडता है।

हिन्दी के 'पौराणिक नाटक' (देवर्षि सनाढय) और हिन्दी नाटको पर पाश्चात्य प्रभाव' (श्रीपति त्रिपाठी) जैसे अन्य बहुत से नाटक-सम्बन्धी शोध ग्रन्थों मे भी भरत तथा प्राचीन भारतीय नाटयकला से सम्बन्धित विचारों का पृष्ठभूमि के रूप में आकलन किया गया

है। मेरे लिए उनकी उपयोगिता इसी अंश मे थी कि भरत की महत्ता आधुनिक शोध ग्रन्थो मे स्वीकार्य होती जा रही है।

विषय की मौलिकता

भरत और भारतीय नाट्यकला के सम्बन्ध मे उपलब्ध सामग्री बहुत कम थी। अन्य शास्त्रीय ग्रन्थो के अतिरिक्त विशेषकर नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती ही मेरे अनुसंधान मार्ग के दो महान् प्रकाश स्तंभ रहे हैं जिनके आलोक मे राह ढूंढता रहा हूं। नाट्यशास्त्र के पाठभेद, त्रुटिपूर्ण पाठ और यत्र तत्र विषय की अस्पष्टता और दुरूहता के कारण मेरा यह कार्य कितना दुसाध्य था, यह नाट्यशास्त्र की वर्तमान पाठ पद्धति से परिचित विद्वान् अनुमान कर सकते हैं। नाट्यशास्त्र के आधुनिक ममज्ञो के अतिरिक्त अभिनवगुप्त की अभिनव भारती ने मेरा मार्ग आलोकित किया है। निःसंदेह गत पचास वर्षों मे भरत और नाट्यशास्त्र पर लिखित बहुत सी सामग्री के परिशोधन के क्रम मे भी अपने शोध के लिए बहुत सी उपयोगी सामग्री मिली। यथा स्थान मैंने उसका भी उपयोग किया है।

अनुसंधान के क्रम मे मैंने बार बार यह अनुभव किया है कि भरत नाट्य कला के माध्यम से भारतीय संस्कृति और सभ्यता मे जो श्रेष्ठ सुंदर, महान्, भव्य और मधुर था, उसकी अभिव्यक्ति और अनुभूति का एक कलात्मक माध्यम हमारे पूर्वजो को सौंप गये। सोलहवी सदी तक के लक्ष्य और लक्षण ग्रन्थो तथा नाट्य प्रयोग के रूपो और भारतीय संस्कृति को उससे जीवन और गति मिलती रही। भास से राजशेखर और धनजय से विश्वनाथ तक के आचार्य उस परम्परा का वहन करते आये हैं। न जाने कितने नाट्याचार्यो और रंगशिल्पियो ने प्रयोग के क्रम मे भरत निर्दिष्ट भारतीय नाट्यकला को सदियों तक जीवित रखा। मुसलमानो के आक्रमण ने नाट्यकला को उसके ऊँचे सिंहासन से अपदस्थ तो किया ही, परन्तु ब्रिटिशो के राजनीतिक और सांस्कृतिक आक्रमण ने भारतीय नाट्यकला पर साधारण कुठाराघात नही किया है। प्रायः हमारे सब देशी रंगमंच विदेशी नाट्य पद्धति की छाया मे विकसित हुए। हमारा विगत सौ वर्षों का इतिहास इसका साक्षी है। पर एक अद्भुत बात यह रही कि ब्रिटिश प्रभाव के चकाचौंध मे भी संस्कृत नाटको और उनके रूपान्तरों के रंगमंचीकरण के माध्यम से वह युग भी भारतीय नाट्य के प्रति सजग अवश्य रहा। स्वतंत्रता के बाद तो यह चेतना और भी उद्बुद्ध हुई है। अपने देश मे संस्कृत के नाटको का अभिनय तो हो ही रहा है विदेशो मे भी कभी कभी उत्साही कलाकारो द्वारा प्रदर्शित ये नाट्य कम लोकप्रिय नही रहे हैं।

दक्षिण पूर्व एशिया के बहुत से देशों मे नाट्यकला का जो वर्तमान स्वरूप है, उसके मूल मे भी भारतीय नाट्यकला की कितनी देन है, यह अनुसंधान का विषय है। बृहत्तर भारत की संस्कृति और कला भारतभूमि की सतत प्रवहमान कला और संस्कृति का प्रतिरूप थी इसमे संदेह नहीं। वहाँ पर प्रचलित नाट्य के विविध रूपों की तुलनात्मक विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है। अतएव जिस कला ने कभी अन्य देशो की कला को गति और शक्ति दी थी वह स्वयं अपने घर मे वन्दिनी वनवासिनी बनी रहे और भारतीय रंगमंच पर पाश्चात्य नाट्य पद्धति ही पूर्ण रूप से यह बात किस स्वाभिमानी भारतीय कला चिन्तक के मन को नहीं सालती रही है। नाट्य कला के पुनरुद्धार और पुनर्नयन के इस युग मे मैंने अनुभव किया है कि जिस भरत की नाट्य

कला की विरासत ऐसी गौरवशाली है, जिसने भारतीय धर्मों (बौद्ध और आय) के साथ-साथ बहत्तर एशिया मे भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया, उसके पुनरुद्धार की दिशा मे हिन्दी भाषा के माध्यम से मैं भी अपने अनुसधान का शुभारभ करूँ।

भारतीय नाटयकला पर भरत की चिन्तनधारा से सवथा पृथक ही विचार करना शायद सम्भव नही है। भरत ने भारतीय नाटयकला को व्यवस्थित शास्त्र और चिन्तनधारा का रूप दिया। वह इतना व्यापक, सूक्ष्म और तात्त्विक है कि परवर्ती कोई भी आचाय उसके प्रभाव की छाया मे ही कोई चिन्तनसूत्र प्रस्तुत कर सका। मौलिकता और व्यापकता की दृष्टि से भरत के नाटयसिद्धान्ता मे ऐसे बीज निहित हैं जिनका प्रयोग आधुनिकतम नाटका मे भी सफलतापूवक हो सकता है। यह कम आश्चय की बात नही है कि इतनी सदियो पूव विश्व की किसी भी भाषा मे नाटच क इतने रूपो और पक्षा पर इतनी सूक्ष्मता और विस्तार के साथ कोई ग्रन्थ नही लिखा गया। निष्पक्षता से विचार करने पर उसके आगिक, आहाय और सात्त्विक अभिनय क सिद्धान्त पाठ्य विधि और पात्रो की भूमिका की पृष्ठभूमि म महत्त्वपूण विचार दशन विश्व की किसी भी उन्नत नाटयकला के लिए आज भा ग्राह्य है। हमारी आज की नाटयकला तो अधिकाशत भारतीय नाटयकला की उन रत्नविभूतियो से अनजान है, वे उपेक्षा और विस्मृति के गभ मे पडे उद्धार क लिए अब भी हमारी प्रतीक्षा म हैं। भरत की चिन्तनधारा म निष्पण्ण उन नाटच रत्ना को आधुनिक भारतीय नाटयकला क सदभ म प्रस्तुत करना भी मेरे इस प्रयास का प्रधान लक्ष्य रहा है।

नाटयशास्त्र के सपादन के क्रम म उसके रचनाकाल, प्राप्त पाडुलिपियो तथा प्रतिपादित विषयो की सामान्य चर्चा तक ही विद्वानों ने अपन को परिसीमित रखा था। भरत न नाटच कला के सिद्धान्तों तथा प्रयोग विज्ञान के सब पक्षो का जैसा सतुलित और तात्त्विक निरूपण किया है, उसका अपन आपमे महत्त्व तो है ही, पर तु परवर्ती कवियो और आचार्यों द्वारा प्रयुक्त और प्रतिपादित नाटयकला से तुलना करते हुए इस शोध प्रब ध म उसकी व्यापकता और महत्ता की भी स्थापना की गई है। इस रूप म व्यवस्थित रीति से वैज्ञानिक ढग पर सबद्ध विषयो का विचार करने पर भरत की देन के सम्बन्ध मे हम जिन निष्कर्षों पर पहुचे हैं उसका यथास्थान निर्देश भी किया गया है। अभी तक इस व्यापक एव तुलनात्मक दृष्टि से भरत के नाटच सिद्धान्ता का मूल्याकन नही किया जा सका है। मेरी जानकारी मे न केवल हिन्दी म ही अपितु हिन्दीतर भाषाओ म भी इस प्रकार का प्रयास नही किया गया है इस दृष्टि से यह अपने ढग का सवथा नूतन प्रयास है। किसी भी मान्यता का निधारण करने से पूव अनेक तात्त्विक विचारो का सकलन, आकलन और सतुलन आवश्यक है उनके आधार पर प्रतिपादित निणयात्मक विचारो का निष्कष प्रस्तुत किया जाता है। नि सदेह इस शोध प्रबध म भरत के सिद्धान्तो के स्वरूप और महत्त्व के मूल्याकन के क्रम म जिन निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है व अमूल नही हैं इसलिए भी वे मौलिक हैं। उन सबकी पुष्टि भरत एव अन्य प्राचीन तथा नवीन नाटच एव काव्यशास्त्र के महान् चिन्तकों की मूल विचारधारा से हुई है। इस प्रकार विचारतत्त्व को प्रस्तुत एव प्रमाणित कर उसकी मौलिकता का पूण निर्वाह किया गया है।

अभी तक अपने यहा प्राचीन भारतीय नाटयकला के सम्बन्ध म जो भी सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसके मुख्य आधार ग्रन्थ रहे हैं—दशरूपक और साहित्यदपण। भरत और अभिनव

गुप्त की गहन चिंतनधारा की ओर विद्वानों की दृष्टि नही गई। अभिनवगुप्त द्वारा विरचित अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र पर विवृत्ति) सपूर्ण रूप मे हाल तक उपलब्ध भी नही थी। इन आचार्यों ने तो नाट्य की रचनात्मक कथावस्तु, पात्र और रूपक भेद तथा आशिक रूप से रसात्मक पक्ष पर ही विचार किया है, परन्तु भरत की दृष्टि मे नाट्यकला इतनी परिसीमित नही थी। प्रयोग विधान उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग है। इसी प्रयोग विज्ञान के अन्तगत आगिकादि चारो अभिनय रगमडप निर्माण, दृश्यविधान, रगशिल्पियो का सगठन आदि नाट्यकला सम्बन्धी अन्य कलाओ का भी उपबृहण किया गया है। वस्तुत यह उल्लखनीय है कि दसवी बारहवी सदी के आते आते भारतीय नाट्यशास्त्रियो ने प्रयोगपक्ष की उपेक्षा कर केवल रचनात्मक पक्ष का ही प्रतिपादन किया। भरत ने वाचिक अभिनय के अन्तगत अपनी विवेचना द्वारा भारतीय 'काव्य शास्त्र की परम्परा' का तथा रचनात्मक एव अभिनयात्मक पक्ष के अन्य रूपो के मौलिक विवेचन द्वारा 'नाट्यशास्त्र', सगीत एव नृत्तशास्त्र का प्रवतन किया।

विषय का वस्तुविधान

सम्पूण शोध प्रबन्ध दस अध्याया म विभाजित है। प्रथम अध्याय मे भरत के व्यक्तित्व, नाट्यशास्त्र के कालनिर्धारण, प्रकाशित सस्करणो एव पाण्डुलिपिया, प्रतिपाद्य विषय, शली, स्वरूप और विकास की अवस्थाओं के सम्बन्ध म प्रामाणिक रूप स सामग्रिया की विवेचना की गई है। द्वितीय अध्याय नाट्योत्पत्ति से सम्बन्धित है। नाट्योत्पत्ति के इतिहास मे भरत के इन विचारा का बडा महत्त्व है। उक्त विषय की महत्ता को दृष्टि म रखकर नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी आधुनिक विचारा का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए अपना मतव्य प्रस्तुत किया गया है कि वदिक और लौकिक दोनो परम्पराओ ने भारतीय नाट्योत्पत्ति को प्रभावित किया है। तीसरे अध्याय म नाट्यमडप, दृश्यविधान और यवनिका आदि के सम्बन्ध म भरत की भव्य कल्पना और भारतीय रगमच की रूपरेखा अकित की गई है। चतुथ अध्याय मे नाट्यकला के रचनात्मक पक्ष', 'रूपक भेद', 'कथावस्तु और 'पात्र' के सम्बन्ध मे भरत और परवर्ती नाट्यशास्त्रिया के विचारों का तुलनात्मक उपबृहण किया गया है। पचम अध्याय मे भाव और रस का नाट्य प्रयोग की दृष्टि से विवेचन किया गया है। भाव के प्रसग म ही भरत ने सात्विक भावों की अभिनय विधि का विधान किया है। अतएव सात्विक अभिनय का पृथक विवेचन अभिनय के प्रसग म न कर यही प्रस्तुत किया गया है। शोध प्रबन्ध के चतुथ और पचम अध्यायो म प्रतिपादित नाट्यकला के रचनात्मक और रसात्मक पक्षों का ही परवर्ती नाट्यशास्त्र और रस शास्त्र के ग्रथों मे उपबृहण हुआ। इस दृष्टि से भरत एव परवर्ती आचार्यों के विचारों का तुलनात्मक विवेचन करत हुए तात्विक निष्कर्षों का सकेत यथा-स्थान दिया गया है।

छठे अध्याय म नाट्य के प्रयोग विधान के अभिनयात्मक पक्ष का प्रतिपादन है इसम कई खण्ड हैं—वाचिक, आगिक और आहार्य। वाचिक अभिनय नाट्य एव काव्यशास्त्र दोनो ही दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत नाट्य के पाठ्य पक्ष—छन्द, अलकार गुण दोष और पाठ्य विधियो पर भरत के विचारो का तुलनात्मक समीक्षा करते हुए विकासक्रम का निर्धारण किया गया है। आगिक अभिनय म अगोपागों की चेष्टाओ द्वारा जिन मनोभावों का प्रकाशन होता है उनका विस्तृत एव अत्यन्त सूक्ष्म विधान है। निश्चय ही यह विश्वसाहित्य की

ाटय विद्या की अमूल्य निधि है। आहार्य अभिनय मे भरत की नाटय प्रतिभा पात्र के रूप-परि-
ततन और वेशभूषा आदि के सम्बन्ध मे तात्त्विक विचारो का आकलन करती है। प्रयोग-काल
मे पात्र वेशानुरूपता ही धारण नही करता वह तो कवि कल्पित पात्रो के आत्मसस्कार को धारण
कर लेता है।

सप्तम अध्याय प्रयोग से सबधित है। परन्तु इसम नाटय प्रयोग सबधी पूवरग, पात्र
की भूमिका, रग शिल्पियो के साधन तथा प्रयोग की सिद्धि और विफलता आदि से सम्बन्धित
अनेक समस्याओ पर विचार किया गया है। अष्टम अध्याय म नाट्य की रूढियो के अन्तगत
वत्ति, प्रवत्ति तथा लोकधर्मी एव नाटयधर्मिया के सम्बन्ध म महत्वपूण विचारो का आकलन
किया गया है।

नवें अध्याय मे गीत वाद्य और नत्य जसी नाटय की उपरजक कलाओं का आनुषगिक रूप
से विवेचन किया गया है, परन्तु नाटय प्रयोग मे उनके महत्त्व की दृष्टि से भरत की मान्यता
प्रस्तुत की गई है।

नवें अध्याय तक प्राचीन भारतीय नाटयकला का रूप स्पष्ट कर भारतीय नाटयकला का
समग्र दृष्टि से अध्ययन करने के उद्देश्य से आधुनिक भारतीय रगमच शीषक दसवें अध्याय मे
प्रधान भारतीय भाषाओ मे नाटय-कला के रूपो और उनकी रगमचीय शली पर तात्त्विक दृष्टि
से विचार किया गया है। हमारे परिप्रेक्ष्य मे इस सन्दभ म मुख्यत मराठी, गुजराती बगला
हिन्दी और दक्षिण भारत के रगमच आए हैं। उक्त विषय की पूव पीठिका के रूप म सस्कृत
नाटको के स्वण युग और ह्रास काल की ओर भी हमारी दृष्टि गई है।

भारतीय स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय रगमचो की स्थिति पर विचार करते हुए हमने
अपना निश्चित मतव्य प्रकट किया है कि देश को राष्ट्रीय रगमच की आवश्यकता है। क्योकि
राष्ट्रीय रगमच के निर्माण की हमारी चिर सचित कल्पना तभी साकार होगी, जब हम उसे नित्य
नूतन रूप देकर भी स्वदेशी शिल्प, स्वदेशी मडन विधि और स्वदेश की चेतना और सस्कार की
उसम प्रतिष्ठा करें। निश्चय ही भारतीय नाटय कला का पुनरुन्नयन भरत की नाटयकला की
गौरवशाली प्रभाव की छाया म ही सम्भव है।

विषय निरूपण की पद्धति

अपने विषय को प्रस्तुत करत हुए विषय से सबधित सामग्री की खोज म सस्कृत,
अग्रेजी, हिन्दी, बगला और मराठी के प्राचीन एव नवीन ग्रन्थो, शोध पत्रिकाओ और मासिक
साहित्य आदि की अत्यावश्यक सामग्री का जहा भी उपयोग किया गया है, उनके मूल विचारो
को पादटिप्पणी मे प्राय मूल सदभ सहित प्रस्तुत किया गया है। इस बात की हर सम्भव चेष्टा
की गई है कि जो भी उद्धरण हो व नितान्त मूल स्रोत से लिए गय हो। पाद टिप्पणियो की क्रम
सख्या प्रत्यक पृष्ठ पर बदल दी गई है। ग्रन्थो पत्र पत्रिकाओ तथा लेखको के नाम सकेत रूप म
मूल ग्रन्थ म प्रस्तुत किय गये हैं अत आरम्भ मे ही शब्द सकेत सूची है और अन्त मे अनुसधान के
भाग मे सहायक अनेकानक महत्वपूण ग्रन्थो और शोध पत्रिकाओ की सूची, ग्रन्थ-लेखक,
प्रकाशक, वष आदि के साथ गई है। नाटयकला-सम्बन्धी भरत के कुछ सिद्धान्तो पर विद्वानो म
ऐकमत्य नही है। उन मतो का आकलन करत हुए अपना मतव्य भी प्रस्तुत किया गया है।

संकेताक्षर

(१) अं०=अंग्रेजी
(२) अं० अ०=अंग्रेजी अनुवाद
(३) अ० अ०=अष्टाध्यायी (पाणिनि)
(४) अ० द०=अभिनय दर्पण
(५) अधि०=अधिकरण
(६) अ०=अध्याय
(७) अ० पु०=अग्नि पुराण
(८) अ० भा०=अभिनव भारती
(९) अ० शा०=अभिज्ञान शाकुन्तल
(१०) इ० हि० क्वा०=इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली
(११) उ० रा० च०=उत्तररामचरित
(१२) ऋ०=ऋग्वेद
(१३) का० अ०=काव्यालंकार
(१४) का० अ० सू०=काव्यालंकार सूत्र वृत्ति
(१५) का० आ०=काव्यादर्श
(१६) का० प्र०=काव्य प्रकाश
(१७) का० मा०=काव्य माला (निर्णय सागर से प्रकाशित संपूर्ण नाट्यशास्त्र)
(१८) का० मी०=काव्य मीमांसा
(१९) का० सं०=काशी संस्करण (काशी से प्रकाशित संपूर्ण नाट्य शास्त्र)
(२०) गा० ओ० सी०=गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा
(२१) चौ० सं० सी०=चौखंबा संस्कृत सीरीज, काशी
(२२) छं० सू०=छन्द सूत्र
(२३) ज० ए० एच० आर०=जरनल ऑफ आन्ध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसाइटी
(२४) ज० आर० ए० सो०=जरनल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल
(२५) द० रू०=दशरूपक
(२६) द्वि०=द्वितीय
(२७) ध्व० अ०=ध्वन्यालोक
(२८) ना० द०=नाट्य दर्पण
(२९) नि० सा०=निर्णय सागर संस्करण बम्बई
(३०) ना० ल० को०=नाटक लक्षण रत्नकोश
(३१) प०=पंक्ति
(३२) परि०=परिच्छेद
(३३) पू० ओ० इ०=पूना ओरियंटल इंस्टीच्यूट
(३४) प्र० रु०=प्रताप रुद्रयशोभूषण
(३५) पृ०=पृष्ठ
(३६) वा० रा०=वाल्मीकि रामायण
(३७) भ० ओ० रि० इ०=भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट
(३८) भ० को०=भरत कोष
(३९) भ० ना०=भरत नाट्यशास्त्र
(४०) भ० र०=भक्ति रसायन (मधुसूदन सरस्वती)

(४१) भा० प्र० = भाव प्रकाशन
(४२) म० = मंडल (ऋग्वेद)
(४३) म० च० = महावीर चरित
(४४) म० मो० = मनमोहन घोष
(४५) मा० अ० = मालविकाग्निमित्र
(४६) मा० मा० = मालती माधव
(४७) मु० रा० = मुद्रा राक्षस
(४८) मृ० श० = मृच्छकटिकम्
(४९) र० सु० = रसार्णव सुधाकर
(५०) वा० अ० = वासुदेवशरण अग्रवाल
(५१) वि० उ० = विक्रमोर्वशी
(५२) वि० ध० पु० = विष्णु धर्मोत्तर पुराण
(५३) वि० स० ग्र० = विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला, काशी
(५४) व० र० = वृत्त रत्नाकर
(५५) स० र० = संगीत रत्नाकर
(५६) शृ० प्र० = शृंगार प्रकाश
(५७) स० क० आ० = सरस्वती कंठाभरण
(५८) सा० द० = साहित्य दर्पण
(५९) सू० = सूत्र
(६०) स्व० वा० = स्वप्नवासवदत्तम्
(६१) हि० = हिन्दी
(६२) हि० अ० प० = हिन्दी अनुसंधान परिषद दिल्ली
(६३) हि० अ० = हिन्दी अनुवाद
D R = Dasrupaka
E. = English
N S = Natya Sastra
I H Q = Indian Historical Quarterly
I A = Indian Antiquery
N I A = New Indian Antiquery

विषय-सूची

प्रथम अध्याय
भरत और नाट्यशास्त्र

द्वितीय अध्याय
भारतीय नाट्योत्पत्ति

तृतीय अध्याय
नाट्यमण्डप

चतुर्थ अध्याय
नाट्यसिद्धान्त

प्रकृति, नायक के प्रधान चार प्रकार—धीर ललित, धीर शान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत नायक भेद का एक और आधार, भरत का प्रभाव, नायक भेदो पर सामाजिक चेतना का प्रभाव, अन्य प्रधान पुरुष पात्र आचार्यों की मान्यता, भरत की मान्यता राजा, मन्त्री, सेनापति, विदूषक और शकार आदि, नायको के अलकार, नारी पात्र, नायिका भेद का आधार, भरत के नायिका भेद की विचार भूमि, सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार, आचरण की शुद्धता या अशुद्धता का आधार, अन्त पुर मे नाट्योपयोगी नारी पात्र, कामदशा पर आधारित भेद, नायिकाओ के अन्य तीन भेद, मनोदशा का आधार, अन्त प्रकृति का आधार, अगरचना और मन सौष्ठव पर विश्व प्रकृति का प्रभाव, परवर्ती आचार्यों का नायिका भेद, नायिका भेद के आधार की असगतता, स्वीया, परकीया और साधारणी, हिन्दी के प्राचीन आचार्यों का नायिका भेद, भरत का प्रभाव, नायिकाओ के अलकार समाहार।

पाँचवाँ अध्याय
नाट्य के रस और भाव

पाँचवाँ अध्याय

नाट्य के रस और भाव

षष्ठ अध्याय

अभिनय-विधान

सप्तम अध्याय

नाट्य का प्रस्तुतीकरण

अष्टम अध्याय

नाट्य-प्रयोग विज्ञान

नवम अध्याय

नाट्य की रूढ़ियाँ

दशम अध्याय

नाट्य की उपरजक कलाएँ

एकादश अध्याय

आधुनिक भारतीय रगमच

प्रथम अध्याय

भरत और नाट्यशास्त्र

१ भरत

२ नाट्यशास्त्र के प्रकाशित सस्करण एव पाण्डुलिपियाँ

३ नाट्यशास्त्र का रचना काल

४ नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य, स्वरूप शैली और विकास की अवस्थायें

५ नाट्यशास्त्र के पूर्वाचार्य और भाष्यकार

आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः ॥

—नाट्यशास्त्र १। ९

ततश्च भरतः सार्द्धं गंधर्वाप्सरसां गणैः ।
नाट्यं नृत्यं तथा नृत्तं अग्रे शंभोः प्रयुक्तवान् ॥

—संगीत रत्नाकर

This work is probably unique in the world's literature on dramaturgy. Hardly any work on dramaturgy in any language has the comprehensiveness, the sweep and the literary and artistic flair of the Natyasastra.

History of Sanskrit Poetics, P. V. Kane, page 39-40

१

भरत

भरत आर्षवाङमय का साक्ष्य

प्राचीन भारतीय वाङ्मय म अनेक 'भरता' का विवरण मिलता है। इन भरता ने अपनी जीवन-गरिमा, तेजस्विता और प्रतिभा से न केवल अपने युग को ही प्रभावित किया अपितु उनकी जीवन-ज्योति का आलोक आज भी इस महादेश को कला और कम के क्षेत्र मे प्रेरणा और गति दे रहा है।

सहिताकाल के भरत

सहिताकाल से ब्राह्मणकाल तक के विशाल वैदिक वाडमय मे भरत का उल्लेख एक प्रसिद्ध वदिक जाति के रूप मे हुआ है। इसी जाति म 'दौष्यति भरत' और 'शतानीक सत्राजित्' नाम के दो भरतवशी राजाओं ने अपने अपूव पराक्रम का परिचय देने के लिए यत्न किए। सरस्वती और दृषद्वती नदियो के तटा पर इनकी तेजस्विता के फलस्वरूप कभी पवित्र वेदमत्रो की ध्वनि गूजती थी।[१] ऐतरेय ब्राह्मण मे तो इन दोनो भरतवशिया के राज्याभिषेक की कथा का भी उल्लेख मिलता है।[२] भरत दौष्यति का अभिषेक दीघतमा मामतेय ने और शतानीक सत्राजित् का अभिषेक सोमसुष्मन् वाजरत्नायन न किया था। इन्होंने काशिया को पराजित कर गगा-यमुना के तट पर याज्ञिक अनुष्ठान का प्रसार किया था।[३] इनमे से एक 'दौष्यन्ति भरत' की वीरता और तेजस्विता ने समस्त जम्बू द्वीप को 'भारत' के रूप म विख्यात कर दिया।[४] इस भरत से नाटयशास्त्र की रचना का सम्बन्ध रहा हो, यह कल्पना नही की जा सकती। परन्तु वदिक कालीन इन भरतो से नाटयप्रयोक्ता एव नाटयशास्त्रकार भरत(तो)

१ यदगत्वा भरता सनरेयु ग न्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूत। ऋक्० म० ३।३३ ११ १२

२ ऐतरेय ब्राह्मण ८।४।२३ शतपथ ब्राह्मण। १३।५।८

३ ऋग्वेद मण्डल १ ६, २ ४।१ ३ ५३।२४ आदि।

४ वैदिक कोष डा० सूर्यकान्त—पृ० ३५० ३५१।

से एव अर्थ में साम्य है कि ऋग्वेद में कई स्थलों पर 'भरत' और 'भारतजन' का उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति और नाट्यप्रयोग के विभिन्न सदर्भों में भरतमुनि के पुत्रों तथा नाट्यप्रयोक्ता सूत्रधार, नट, विदूषक एव अन्य शिल्पियों का 'भरतजन' के रूप में उल्लेख मिलता है।[1] वह सम्भवत इसलिए कि नाट्यप्रयोक्ता शिल्पी विभिन्न नाट्यप्रयोगों को धारण या भरण करते हैं। वेदों में भरणार्थक 'भृ' धातु से व्युत्पन्न 'भरत' शब्द अग्नि और मरुत् के विशेषण के रूप में व्यवहृत हुआ है। 'अग्नि' को भारत के रूप में भी अभिहित किया गया है।[2] नाट्यप्रयोक्ता के लिए भरत शब्द के प्रयोग की परपरा याज्ञवल्क्य स्मृति एव अन्य कई परवर्ती ग्रथों में भी दिखाई देती है।[3] आर्षवाङ्मय की यह सारी सामग्री इतना ही सकेत दे पाती है कि इस देश में भरतों की एक परपरा थी, सभवत इन भरतों या भरतजनों में से किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या पूरे वश का सबध नट-सूत्रों से रहा हो जिन्हें परपरागत पवित्र वदिक चरणों में स्थान मिला हो। आर्ष परम्परा में वर्तमान ये नटसूत्र ही क्या भरत के नाट्यशास्त्र के बीजरूप सिद्ध नहीं हुए ?[4]

नाट्यशास्त्र का साक्ष्य

भरत के जीवन के सबध में नाट्यमडप नाट्योत्पत्ति और नाट्यावतार नामक अध्यायों में कुछ बिखरी हुई सामग्री मिलती है। नाट्योत्पत्ति अध्याय के साक्ष्य के अनुसार नाट्यवेद का ज्ञान भरत को ब्रह्मा से प्राप्त हुआ।[5] उन्होंने अपने शतपुत्रों (भरतों या भारतों) को इस नाट्यवेद की शिक्षा दी। उन भरत पुत्रों में कोहल दत्तिल वात्स्य और शाण्डिल्य आदि आचार्य न केवल नाट्यप्रयोक्ता अपितु नाट्यशास्त्र प्रणेता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं।[6] इसी अध्याय में महेन्द्र विजयोत्सव त्रिपुरदाह (डिम) और अमृतमथन नामक तीन रूपकों का विवरण मिलता है जिनका प्रयोग विभिन्न अवसरों पर भरत ने ही किया था।[7] विक्रमोर्वशी तथा पद्मपुराण में 'लक्ष्मी स्वयवर' और भावप्रकाशन में दक्षाध्वरध्वस नामक रूपकों के प्रवर्तक भरत ही माने गये हैं।[8] नाट्यप्रयोग के प्रथम प्रवर्तक भरत और भरतों का जीवन भयानक युद्ध, रक्तपात, हत्या और अभिशाप से तमसाच्छन्न रहा है। महेन्द्र विजयोत्सव में दानवों के पराजय की कथा निबद्ध थी, इसलिए दानवों ने रगभवन का सहार और प्रयोक्ताओं पर कठोर प्रहार किया। यद्यपि उन्हें देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त था। पर स्वर्ग में नाट्य

---

१ नाट्यशास्त्र १।२४, ३६।६६ ६६ का० मा०

२ त्व न असि भारत आग्ने। ऋग्० २।७।८
सायणभाष्य ४।२५।४।

३ यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयति आत्मनस्तनूम्। याज्ञवल्क्य स्मृति ३।१६२
अमरकोष पृ० १६५३।

४ पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३१५। वासुदेवशरण अग्रवाल।

५ आज्ञापितो विदित्वाऽह नाट्यवेद पितामहात्।
पुत्रानध्यापयामास प्रयोगचापि तत्त्वत ॥ ना० शा० १।१२,२८ (गा० ओ० सी०)।

६ कोहल कथयिष्यति। ना० शा० ३६।६८ (का० मा०)

७ ना० शा० १।८८ ८६ ४।२ १० (गा० ओ० सी०)।

८ भा० प्र० पृ० ५७ प० २, विक्रमोर्वशीय अङ्क २।१७, पद्मपुराण ५।१२।८१।

प्रयोग प्रस्तुत करते हुए ऋषि मुनियो का उपहास अनुकरण के रूप मे प्रस्तुत किया तो भरत पुत्र अभिशाप के भी भाजन हुए। नहुष के अनुरोध और भरतमुनि के आदेश से वे अभिशप्त भरतपुत्र मनुभूमि पर आये और यहाँ सवलोकानुरजनकारी नाट्य का प्रयोग किया, तव उन्हे शाप से मुक्ति मिली।[1]

रगभवन की रचना के सदभ म भी भरत को ही सारा श्रेय नाट्यशास्त्र म प्राप्त है। यद्यपि उन्हे विश्वकमा से भी सहायता प्राप्त हुई। बाद म देवो और दानवो म परस्पर लोकानुरजनकारी इस चाक्षुष यज्ञ के सम्बन्ध म सहमति होने पर शुभाशुभ विकल्पक भावानुकीतन रूप नाट्य का प्रयोग सवलक्षण सपन्न नाट्यमडप पर हुआ।[2] नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यमण्डप के प्रथम प्रवत्तक भरत ही है।

भरत नाट्यप्रयोक्ता

भरत का जीवन नाट्यशास्त्र मे जिस रूप म भी उपलब्ध है उसस यह हम अनुमान कर सकते है कि भरत एव (भरतवशी) प्रयोक्ताओ ने नाट्यकला के प्रयोग, विकास और सरक्षण के लिए प्राक इतिहास काल से ही सघष युद्ध शाप और अपमान सहन कर मनुष्य-जीवन को मधुर, रसवती नाट्य विद्या स्वग को भी दी और इस धरती को भी। मनुष्य का जीवन दुःख और अनुताप से घिरा रहता है और इस ललित कला का प्रयोग उसके इस दुःखदग्ध जीवन मे सुख की शीतल किरणो की वर्षा करता है। पौराणिक कथाओ के घटाटोप से घिरी भरत और भरत-पुत्रो की यह नाट्य भागीरथी उनकी अक्षय उज्ज्वल कीर्ति को प्रतिभासित करती है। भरतो द्वारा प्रणीत और प्रयुक्त यह नाट्य विद्या अपनी रसमयी विनोद वत्ति के कारण मनुष्य की मूल चेतना 'आनन्द वत्ति' का भरण पोषण करती है। इसीलिए व भरत भी हैं।

नाटको का साक्ष्य

नाट्यशास्त्र के परवर्ती नाटको एव नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थो म भरत का उल्लेख नाट्याचाय, नाट्यप्रणेता तथा नाट्यशास्त्रकार के रूप म मिलता है। इस दृष्टि से कालिदास के विक्रमोवशीयम् तथा मालविकाग्निमित्र म महत्त्वपूण सामग्री मिलती है। विक्रमोवशी मे प्राप्त कथा के अनुसार भरत ने स्वगलोक म अप्सराश्रित 'लक्ष्मीस्वयवर' नाट्य का प्रयोग किया था। मालविकाग्निमित्र के विश्लेषण से यह प्रमाणित हो जाता है कि वह नाटक नाट्यशास्त्र मे निर्दिष्ट नाट्यविधियो का प्रयोगस्थल ही है।[3] कालिदास भरत से नाट्याचाय और नाट्यशास्त्रप्रणेता—दोनो ही रूपो मे परिचित हैं। नाटककार भवभूति ने उत्तररामचरित म नाटकान्तगत नाटक की परिकल्पना करते हुए भरत को 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' के रूप म स्मरण किया है। वहाँ की कथावस्तु के अनुसार वाल्मीकि ने रामायण का मार्मिक प्रसङ्ग नाट्य रूप

१ गम्यता सहितैं भूमिं प्रयोक्तुं नाट्यमेव च।
करिष्यामि च शापान्ते अस्मिन् सम्यक् प्रयोजिते। ना० शा० ३६।४३ ६३।
२ ना० शा० १।७६ (गा० ओ० सी०)।
३ मालविकाग्निमित्र अक १।२ की कथावस्तु विक्रमोर्वशी २।१७।

म प्रस्तुत करने के लिए भरत के पास भेजा था। भरत उस प्रसग को नाटय रूप म अप्सराओं की सहायता से प्रस्तुत करने वाले थे।[1] दामोदर गुप्त विरचित कुट्टनीमत म भरत का उल्लेख नाटयाचाय के रूप म है ही, पर उसम हर्षरचित रत्नावली के नाटय प्रयोग का यथावत् काव्य मय विवरण देते हुए भरतमुनि का स्मरण करना वह न भूले हैं।[2] रत्नावली नाटिका का प्रयोग तो नाटयशास्त्र की शली म ही प्रस्तुत किया है। वस्तुत कालिदास से आरम्भ कर बाद के जितने भी नाटककार (या काव्यकार भी) हुए हैं, उन्होने अपना प्रत्यक्ष परिचय भरत और उनके नाटयशास्त्र से प्रगट किया है।

नाटयशास्त्रो का साक्ष्य

नाटयशास्त्रीय ग्रन्थो म भरत एव उनके नाटयशास्त्र का उल्लेख तो है ही उन पर नाटयशास्त्र का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। दशरूपक, अभिनयदपण भावप्रकाशन, नाटयदपण, अभिनवभारती रसाणव सुधाकर, नाटक लक्षणरत्नकोष और सगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों म भरत का उल्लेख अनेक बार हुआ है। उन प्राप्त विवरणो के अनुसार भरत नाटयशास्त्र प्रणेता एव नाटयाचाय भी थे।

दशरूपक म वन्दना के क्रम म ग्रन्थकार ने नाटयशास्त्रप्रणेता के रूप म भरत को स्मरण किया है।[3] दशरूपक पर भरतरचित नाटयशास्त्र का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है।

नाटयदपण मे भरत का विवरण मुनि और वद्धमुनि के रूप म मिलता है। भरत के विपरीत मतो का खण्डन है तथा सभी नाटयाचार्यो म भरत का मत सर्वाधिक प्रमाणभूत माना गया है।[4]

सागरनन्दी रचित नाटक लक्षणरत्नकोष नाटयशास्त्र के कुछ महत्वपूण विषयो की सक्षिप्त उद्धरणी है। ग्रन्थ के मध्य म भरत मुनि एव भरताचाय के नाम से अनेक श्लोक उद्धत हैं जो नाटयशास्त्र के वतमान सस्करणो म प्राप्त नही होते। सागरनन्दी ने भरत के अतिरिक्त कात्यायन, बादरायण, शातकर्णि अश्मकुट्ट नखकुट्ट चारायण मातृगुप्त और राहुल आदि कई आचार्यो के मतो का एकाधिक बार उल्लेख किया है। इनम से कोई भी आचाय भरत की अपेक्षा प्राचीन नही है इसका कोई स्पष्ट सकेत नही मिलता। परन्तु ग्रन्थ की परिसमाप्ति म उन्होन यह स्पष्ट कर दिया है कि आचार्यो मे भरत 'मुख्याचाय हैं एव उनका ग्रन्थ नाटच शास्त्र अम्बुराशि के समान विशाल और अथाह है'।[5]

शिगभूपाल के रसाणवसुधाकर म भरत का उल्लेख नाटयशास्त्र प्रणेता के रूप म है। उनकी दष्टि से इस काय मे उन्हे अपने शत पुत्रो से भी सहयोग मिला।[6]

शाङ्ग देव के सगीतरत्नाकर म प्रस्तुत विषय की चचा नाटयशास्त्र म प्राप्त उल्लेखो

---

१ तच स्व हस्तलिखित व्यसृजद्भगवतो भरतस्य तौयत्रिक सूत्रधारस्य। स किल भगवान् भरतस्तमर सरोभि प्रयोजयिष्यतीति। उ० रा० अ० ४।

२ कुट्टनीमत श्लोक १२३।१२४।

३ दशरूपक १।२।

४ नाटयदपण-तत्र वृद्धाभिप्रायमनुसरदि। तथा पृ० २६, ७१ १०२, १०६ (गा० ओ० सी० द्वि० स)

५ इइदि भरतमुख्याचाय शास्त्राम्बुराशे, ना० ल० को० पृ० ३२१७, ३२२५ १८, १६, २८, १२३।

६ र० सु० पृ० ८।४८ ५४।

के अनुरूप ही है। किसी नवीन तथ्य का उल्लेख या विवरण नहीं। नाट्यशास्त्र प्रणेता एव नाट्यप्रयोक्ता के रूप मे वे भरत से परिचित हैं।[1]

शारदातनय के भावप्रकाशन म नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध म दो कथायें प्राप्त ह। उनसे भरत के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कुछ नवीन तथ्यो का सकेत मिलता है। नाट्योत्पत्ति के प्रसग मे ब्रह्मा के अतिरिक्त नन्दिकेश्वर आदि नाम नवागत मालूम पडते है। नाट्य प्रयोक्ता और शास्त्र प्रणेता के रूप म भरत का महत्त्व तो सिद्ध है ही। परन्तु इस सम्बन्ध की प्राप्त दोनो कथाओ म भरत के अतिरिक्त एक आदि भरत का भी उल्लेख है। 'भरत शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ मे एक के अनुसार तो ब्रह्मा न प्रयोगज्ञान के लिए प्रस्तुत मुनियो को उक्त ज्ञान को भरण (ग्रहण) करने का आदेश दिया। इसीलिए 'भरत' नाम से यह प्रसिद्ध हुआ।[2] दूसरी कल्पना के अनुसार भाषा, वर्णों के उपकरण, नाना प्रकृतिसम्भव वेष, वय, कम और चेष्टा को धारण (भरण) करने से ही वे भरत' होते हैं।[3] दोनो उपलब्ध कथायें भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ही हैं और नाट्यशास्त्र के शास्त्रीय एव प्रयोग पक्षो का सकेत करती हैं। परन्तु शारदातनय का भावप्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण समस्या का सकेत करता है कि क्या 'आदि भरत' परम्परागत नाट्यशास्त्र प्रणेता 'भरत' से भिन्न थे? तथा 'भरत' एक नही अनेक थे? क्या नाट्यशास्त्र एव प्रयोग को भरण या धारण करने से नाट्य प्रयोक्ताओ और नाट्याचार्यों के लिए यह भरत' शब्द प्रचलित हो गया? इन सम्बद्ध विषयो पर थोडा और भी विचार कर ल।

नाट्यशास्त्र मे भरत एक या अनेक?

भरत एक थे या अनेक इस सम्बन्ध म प्राचीन भारतीय साहित्य म अनेक सम्भावनायें दृष्टिगोचर होती हैं। इस विषय म नाट्यशास्त्र, भाव प्रकाशन और अभिनवगुप्त की अभिनव भारती म पर्याप्त सामग्री मिलती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने ब्रह्मा म नाट्यवेद की शिक्षा पाई और नाट्य का प्रयोग भी किया। भरत के लिए प्रयुक्त एक वचनान्त (भरतम्) शब्द भी इसी के समर्थक हैं। भरत के शतपुत्रो का भी उल्लेख भरतपुत्र या भरत के रूप म प्रथम एव छत्तीसवें अध्यायो म किया गया है। परन्तु नाट्यशास्त्र मे नाट्य प्रणेता और प्रयोक्ता भरत मुनि का एक विशिष्ट व्यक्तित्व सवत्र ही उन भरत-पुत्रों एव कोहल आदि आचार्यों से भिन्न है।[4] नाट्यशास्त्र के ३६वें अध्याय म 'भरत' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग (भरतानाम्) सूत्रधार, नाट्यकार मालाकार और आभरणकृत आदि शिल्पियो के लिए भी हुआ है।[5] इस प्रकार के प्रयोग म ही

---

१ म० र० भाग ४, पृ० ३।

२ नाट्यवेदमिम यस्माद्भरतनि मयोदितम्।
तस्मात् भरतनामानो भविष्यथ जगत्रये। भा० प्र० २८७।२ ४।

३ भाषावर्णोपकरणै नानाप्रकृतिसभवम्।
वेष वय कर्म चेष्टा बिभ्रद् भरत उच्यत॥ भा० प्र० पृ० २८८।३ ४।

४ एव तु मुनय श्रुत्वा मर्वेश भरत तदा। ना० शा० २६।१, १०, ११, १२, ४० (का० मा० स०)।

५ ना० शा० ३३।६६ (का० म०)।

मे प्रस्तुत करने के लिए भरत के पास भेजा था। भरत उस प्रसग को नाट्य रूप म अप्सराओ की सहायता स प्रस्तुत करन वाले थे।[१] दामादर गुप्त विरचित कुट्टनीमत म भरत का उल्लेख नाट्याचाय के रूप म है ही, पर उसम हषरचित रत्नावली क नाट्य प्रयाग का ययावत् काव्य मय विवरण देते हुए भरतमुनि का स्मरण करना वह न भूले हैं।[२] रत्नावली नाटिका का प्रयाग तो नाट्यशास्त्र की शैली म ही प्रस्तुत किया है। वस्तुत कालिदास स आरम्भ कर बाद के जितने भी नाटककार (या काव्यकार भी) हुए हैं, उन्होने अपना प्रत्यक्ष परिचय भरत और उनके नाट्यशास्त्र से प्रगट किया है।

नाट्यशास्त्रो का साक्ष्य

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थो म भरत एव उनके नाट्यशास्त्र का उल्लेख तो है ही, उन पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। दशरूपक, अभिनयदपण, भावप्रकाशन, नाट्यदपण, अभिनवभारती, रसाणव सुधाकर नाटक लक्षणरत्नकोष और सगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थो म भरत का उल्लेख अनक बार हुआ है। उन प्राप्त विवरणो के अनुसार भरत नाट्यशास्त्र प्रणेता एव नाट्याचाय भी थे।

दशरूपक म वन्दना के क्रम म ग्रन्थकार ने नाट्यशास्त्रप्रणेता क रूप म भरत को स्मरण किया है।[३] दशरूपक पर भरतरचित नाट्यशास्त्र का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है।

नाट्यदपण म भरत का विवरण मुनि और वृद्धमुनि के रूप म मिलता है। भरत के विपरीत मतो का खण्डन है तथा सभी नाट्याचार्यों म भरत का मत सर्वाधिक प्रमाणभूत माना गया है।[४]

सागरनन्दी रचित नाटक लक्षणरत्नकोष नाट्यशास्त्र क कुछ महत्त्वपूण विषयो की सक्षिप्त उद्धरणी है। ग्रन्थ के मध्य म भरत मुनि एव भरताचाय के नाम से अनेक श्लोक उद्धत है, जो नाट्यशास्त्र के वतमान सस्करणो म प्राप्त नही होत। सागरनन्दी ने भरत के अतिरिक्त कात्यायन बादरायण शातकर्णि अश्मकुट्ट नखकुट्ट, चारायण मातृगुप्त और राहुल आदि कई आचार्यो के मतो का एकाधिक बार उल्लेख किया है। इनम स कोई भी आचाय भरत की अपेक्षा प्राचीन नही है इसका कोइ स्पष्ट सकेत नही मिलता। परन्तु ग्रन्थ की परिसमाप्ति मे उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि आचार्यो म भरत मुख्याचाय' हैं एव उनका ग्रन्थ नाट्य शास्त्र 'अम्बुराशि के समान विशाल और अथाह है।[५]

शिंगभूपाल के रसाणवसुधाकर म भरत का उल्लेख नाट्यशास्त्र प्रणेता के रूप म है। उनकी दृष्टि से इस काय मे उन्हे अपने शत-पुत्रो से भी सहयोग मिला।[६]

शार्ङ्गदेव के सगीतरत्नाकर म प्रस्तुत विषय की चर्चा नाट्यशास्त्र म प्राप्त उल्लेखो

---

१ तच स्व हस्तलिखित व्यसृजद्भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिक सूत्रधारस्य। स किल भगवान् भरतस्तमर सरोभि प्रयोजयिष्यतीति। उ रा० अ० ४।

२ कुट्टनीमत श्लोक १२०।१२४।

३ दशरूपक १।२।

४ नाट्यदपण-तत्र वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धि। तथा पृ० २६, ७१ १०२, १०६ (गा० ओ० सी० द्वि० स)

५ इदहि भरतमुख्याचार्य शास्त्राम्बुराशे, ना० ल० को० प० ३२१७, ३२२५ २८, १६, २८, १२३।

६ र० सु० पृ० ८।४८ ५४।

के अनुरूप ही है। किसी नवीन तथ्य का उल्लेख या विवरण नहीं। नाट्यशास्त्र प्रणेता एवं नाट्यप्रयोक्ता के रूप में वे भरत से परिचित हैं।[1]

शारदातनय के भावप्रकाशन में नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कथायें प्राप्त हैं। उनसे भरत के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्यों का संकेत मिलता है। नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में ब्रह्मा के अतिरिक्त नन्दिकेश्वर आदि नाम नवागत मालूम पड़ते हैं। नाट्य प्रयोक्ता और शास्त्र प्रणेता के रूप में भरत का महत्त्व तो सिद्ध है ही। परन्तु इस सम्बन्ध की प्राप्त दोनों कथाओं में भरत के अतिरिक्त एक 'आदि भरत' का भी उल्लेख है। 'भरत' शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में एक के अनुसार तो ब्रह्मा ने प्रयोगज्ञान के लिए प्रस्तुत मुनियों को उक्त ज्ञान को भरण (ग्रहण) करने का आदेश दिया। इसीलिए 'भरत' नाम से यह प्रसिद्ध हुआ।[2] दूसरी कल्पना के अनुसार भाषा, वर्णों के उपकरण, नाना प्रकृतिसम्भव वेष, वय, कर्म और चेष्टा को धारण (भरण) करने से ही वे 'भरत' होते हैं।[3] दोनों उपलब्ध कथायें भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ही हैं और नाट्यशास्त्र के शास्त्रीय एवं प्रयोग पक्षों का संकेत करती हैं। परन्तु शारदातनय का भावप्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण समस्या का संकेत करता है कि क्या 'आदि भरत' परम्परागत नाट्यशास्त्र प्रणेता 'भरत' से भिन्न थे? तथा 'भरत' एक नहीं अनेक थे? क्या नाट्यशास्त्र एवं प्रयोग को भरण या धारण करने से नाट्य-प्रयोक्ताओं और नाट्याचार्यों के लिए यह 'भरत' शब्द प्रचलित हो गया? इन सम्बद्ध विषयों पर थोड़ा और भी विचार कर लें।

नाट्यशास्त्र में भरत एक या अनेक?

भरत एक थे या अनेक इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक सम्भावनायें दृष्टिगोचर होती हैं। इस विषय में नाट्यशास्त्र, भाव प्रकाशन और अभिनवगुप्त की अभिनव भारती में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने ब्रह्मा से नाट्यवेद की शिक्षा पाई और नाट्य का प्रयोग भी किया। भरत के लिए प्रयुक्त एक वचनान्त (भरतम्) शब्द भी इसी के समर्थक हैं। भरत के शतपुत्रों का भी उल्लेख भरतपुत्र या भरत के रूप में प्रथम एवं छत्तीसवें अध्यायों में किया गया है। परन्तु नाट्यशास्त्र में नाट्य प्रणेता और प्रयोक्ता भरत मुनि का एक विशिष्ट व्यक्तित्व सर्वत्र ही उन भरत-पुत्रों एवं कोहल आदि आचार्यों से भिन्न है।[4] नाट्यशास्त्र के ३६वें अध्याय में 'भरत' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग (भरतानाम्) सूत्रधार, नाट्यकार मालाकार और आभरणकृत आदि शिल्पियों के लिए भी हुआ है।[5] इस प्रकार के प्रयोग से ही

---

१ स० र० भाग ४, पृ० ३।

२ नाट्यवेदमिमं यस्माद्भरतेति मयोदितम्।
तस्माद् भरतनामानो भविष्यथ जगत्त्रये। भा० प्र० २८७।१४।

३ भाषावर्णोपकरणैः नानाप्रकृतिसम्भवम्।
वेष वय कर्म चेष्टा बिभ्रद् भरत उच्यते॥ भा० प्र० पृ० २८८।३-४।

४ एवं तु मुनयः श्रुत्वा सर्वे न भरत तदा। ना० शा० ३६।१, १०, ११, १२, ४० (का० मा० स०)।

५ ना० शा० ३६।६६ (का० म०)।

म प्रस्तुत करने के लिए भरत के पास भेजा था। भरत उस प्रसग को नाटय रूप म अप्सराओ की सहायता स प्रस्तुत करने वाले थे।[१] दामोदर गुप्त विरचित कुट्टनीमत म भरत का उल्लेख नाटयाचाय के रूप म है ही, पर उसम हषरचित रत्नावली के नाटय प्रयाग का यथावत् काव्य मय विवरण देते हुए भरतमुनि का स्मरण करना वह न भूल हैं।[२] रत्नावली नाटिका का प्रयाग तो नाटयशास्त्र की शली म ही प्रस्तुत किया है। वस्तुत कालिदास ग आरम्भ कर बाद क जितने भी नाटककार (या काव्यकार भी) हुए हैं, उन्होन अपना प्रत्यक्ष परिचय भरत और उनके नाटयशास्त्र स प्रगट किया है।

नाटयशास्त्रों का साक्ष्य

नाटयशास्त्रीय ग्रन्थो म भरत एव उनके नाटयशास्त्र का उल्लेख तो है ही, उन पर नाटयशास्त्र का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। दशरूपक, अभिनयदपण भावप्रकाशन, नाटयदपण, अभिनवभारती, रसाणव सुधाकर, नाटक लक्षणरत्नकोष और सगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थो म भरत का उल्लेख अनेक बार हुआ है। उन प्राप्त विवरणो के अनुसार भरत नाटयशास्त्र प्रणेता एव नाटयाचाय भी थे।

दशरूपक म वन्दना के क्रम म ग्रन्थकार ने नाटयशास्त्रप्रणेता क रूप म भरत को स्मरण किया है।[३] दशरूपक पर भरतरचित नाटयशास्त्र का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है।

नाटयदपण म भरत का विवरण मुनि और वृद्धमुनि के रूप म मिलता है। भरत के विपरीत मतो का खण्डन है तथा सभी नाटयाचार्यो म भरत का मत सर्वाधिक प्रमाणभूत माना गया है।[४]

सागरनन्दी रचित नाटक लक्षणरत्नकोष नाटयशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो की सक्षिप्त उद्धरणी है। ग्रन्थ के मध्य म भरतमुनि एव भरताचाय के नाम स अनेक श्लोक उद्धृत है, जो नाटयशास्त्र के वतमान सस्करणो म प्राप्त नही होते। सागरनन्दी ने भरत के अतिरिक्त कात्यायन, बादरायण, शातकर्णि अश्मकुट्ट, नखकुट्ट चारायण, मातृगुप्त और राहुल आदि कई आचार्यो के मतो का एकाधिक बार उल्लेख किया है। इनमे से कोई भी आचाय भरत की अपेक्षा प्राचीन नही है इसका कोइ स्पष्ट सकेत नही मिलता। परन्तु ग्रन्थ की परिसमाप्ति मे उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि आचार्यो मे भरत 'मुख्याचाय हैं एव उनका ग्रन्थ नाटय शास्त्र अम्बुराशि के समान विशाल और अथाह है'।[५]

शिगभूपाल के रसाणवसुधाकर म भरत का उल्लेख नाटयशास्त्र प्रणेता के रूप म है। उनकी दृष्टि स इस काय म उन्ह अपने शत-पुत्रो से भी सहयोग मिला।[६]

शार्ङ्ग देव के सगीतरत्नाकर म प्रस्तुत विषय की चर्चा नाटयशास्त्र म प्राप्त उल्लेखो

१ तच्च स्व हस्तलिखित व्यसृजद्भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिक सूत्रधारस्य। स किल भगवान् भरतस्तमर सरोभि प्रयोगयिष्यतीति। उ० रा० अ० ४।

२ कुट्टनीमत श्लोक १२३।१२४।

३ दशरूपक १।२।

४ नाटयदपणन्तत्र वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धि। तथा पृ० २६, ७१ १०२ १०६ (गा० ओ० सी० द्वि० स०)

५ इहहि भरतमुख्याचाय शास्त्राम्बुराशे, ना० ल० को० प० ३२१७, ३२२८ २८, १६, २८, १२३।

६ र० सु० पृ० ८।४८ ५४।

के अनुरूप ही है। किसी नवीन तथ्य का उल्लेख या विवरण नहीं। नाट्यशास्त्र प्रणेता एवं नाट्यप्रयोक्ता के रूप में वे भरत से परिचित हैं।[1]

शारदातनय के भावप्रकाशन में नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कथायें प्राप्त हैं। उनसे भरत के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्यों का संकेत मिलता है। नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में ब्रह्मा के अतिरिक्त नन्दिकेश्वर आदि नाम नवागत मालूम पड़ते हैं। नाट्य प्रयोक्ता और शास्त्र प्रणेता के रूप में भरत का महत्त्व तो सिद्ध है ही। परन्तु इस सम्बन्ध की प्राप्त दोनों कथाओं में भरत के अतिरिक्त एक 'आदि भरत' का भी उल्लेख है। 'भरत' शब्द की व्युत्पत्ति के संदर्भ में एक के अनुसार तो ब्रह्मा ने प्रयोगज्ञान के लिए प्रस्तुत मुनियों को उक्त ज्ञान को भरण (ग्रहण) करने का आदेश दिया। इसीलिए 'भरत' नाम से यह प्रसिद्ध हुआ।[2] दूसरी कल्पना के अनुसार भाषा, वर्णों के उपकरण, नाना प्रकृतिसम्भव वेष, वय, कर्म और चेष्टा को धारण (भरण) करने से ही वे 'भरत' होते हैं।[3] दोनों उपलब्ध कथायें भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ही हैं और नाट्यशास्त्र के शास्त्रीय एवं प्रयोग-पक्षों का संकेत करती हैं। परन्तु शारदातनय का भावप्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण समस्या का संकेत करता है कि क्या 'आदि भरत' परम्परागत नाट्यशास्त्र प्रणेता 'भरत' से भिन्न थे? तथा 'भरत' एक नहीं अनेक थे? क्या नाट्यशास्त्र एवं प्रयोग को भरण या धारण करने से नाट्य-प्रयोक्ताओं और नाट्याचार्यों के लिए यह 'भरत' शब्द प्रचलित हो गया? इन सम्बद्ध विषयों पर थोड़ा और भी विचार कर लें।

नाट्यशास्त्र में भरत एक या अनेक?

भरत एक थे या अनेक इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक सम्भावनायें दृष्टिगोचर होती हैं। इस विषय में नाट्यशास्त्र, भाव प्रकाशन और अभिनवगुप्त की अभिनव भारती में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने ब्रह्मा से नाट्यवेद की शिक्षा पाई और नाट्य का प्रयोग भी किया। भरत के लिए प्रयुक्त एक वचनान्त (भरतम्) शब्द भी इसी के समर्थक हैं। भरत के शतपुत्रों का भी उल्लेख भरतपुत्र या भरत के रूप में प्रथम एवं छत्तीसवें अध्यायों में किया गया है। परन्तु नाट्यशास्त्र में नाट्य प्रणेता और प्रयोक्ता भरत मुनि का एक विशिष्ट व्यक्तित्व सर्वत्र ही उन भरत पुत्रों एवं कोहल आदि आचार्यों से भिन्न है।[4] नाट्यशास्त्र के ३६वें अध्याय में भरत शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग (भरतानाम्) सूत्रधार, नाट्यकार मालाकार और आभरणकृत आदि शिल्पियों के लिए भी हुआ है।[5] इस प्रकार के प्रयोग में ही

---

१ सं० र० भाग ४, पृ० ३।

२ नाट्यवेदमिमं यस्माद्भरतेति मयोदितम्।
तस्माद् भरतनामानो भविष्यथ जगत्त्रये। भा० प्र० २८७।२४।

३ भाषावर्णोपकरणैः नानाप्रकृतिसम्भवम्।
वेष वय कर्म चेष्टा बिभ्रद् भरत उच्यते॥ भा० प्र० पृ० २८८।३४।

४ एवं तु मुनयः श्रुत्वा सर्वज्ञ भरतं तदा। ना० शा० ३६।१, १०, ११, १७, ४० (का० मा० सं०)।

५ ना० शा० ३३।६६ (का० सं०)।

सभवत परवर्ती आचार्यां म इस विचार का प्रसार हुआ हो कि भरत एक नहीं अनेक थे। क्योकि ये नाट्य प्रयोक्ता अपने अभिनय आदि कम म नाट्यप्रयोग का भरण-पोषण करते थे।

भावप्रकाशन तथा आधुनिक विद्वानो की मान्यता

भावप्रकाशन म उपलब्ध विचार-सामग्री 'भरत' एक व्यक्ति की अपेक्षा 'भरत' जाति का सकेत करती है। इस ग्रन्थ म भरत तथा उसके लिए प्रयुक्त सवनाम शब्द प्राय बहु वचनान्त हैं। तृतीय एव दशम अधिकारो म उपयुक्त शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग कम-स-कम पच्चीस बार हुआ है। वे 'भरत' के स्थान पर 'भरतादि' शब्द का प्रयोग करना उचित मानते हैं। यहाँ तक कि भावप्रकाशन की भूमिका म भरत के मत की चचा न कर भरत के शिष्यो के विभिन्न मतो के अध्यापन का उल्लेख किया है। इसस यह सिद्ध होता है कि प्राचीन विद्वानो के बीच कोई एसी परम्परा जीवित थी जो नाट्य प्रयोग ही नहीं नाट्यशास्त्र के प्रणयन का भी श्रेय एक 'भरत' नामक ऋषि को न देकर व्यास की तरह एक 'भरतादि' परम्परा को देना उचित समझती थी[1], जिसका प्रभाव भावप्रकाशन की विचारधारा पर पड़ा है। सम्भव है इस विचार का प्रसार नाट्यशास्त्र के पाठभेद के कारण भी हुआ होगा। अन्तिम अध्याय म एक ऐसी महत्वपूण पक्ति है जिससे दो भिन्न विचारधाराओ को पनपने का अवसर प्राप्त होता है। कोहल आदि न इस शास्त्र का 'प्रणयन' और 'प्रयोग' किया एसा उल्लेख है।[2] प्रणयन की पाठ परम्परा को स्वीकार कर लेन पर कोहल आदि भरत पुत्रो को नाट्यशास्त्र के प्रणयन का श्रेय मिल जाता है और यदि 'प्रयुक्त' पाठ को स्वीकार करते हैं, तो यह नाट्यशास्त्र की सम्पूण परम्परा के अनुकूल विचार प्रतीत होता है। परन्तु नाट्यशास्त्र म उल्लिखित 'प्रणीत' पाठ का प्रभाव भावप्रकाशन पर है। आधुनिक विद्वानो ने भी इसे ही अधिक प्रश्रय दिया है, क्योकि उनके विचार स ऐसे महान् कलाग्रन्थ की रचना उत्तरोत्तर भरतो के वशानुक्रम की ही देन हो सकती है न कि एक विशिष्ट व्यक्ति की। यह उपलब्ध नाट्यशास्त्र एस कलामर्मज्ञो की रचना है जिन्होने अपने पूर्व से लेकर वतमान तक की समस्त ग्राम्य और नागर जीवन प्रवृत्तियो और अभिव्यक्ति प्रणालियो का अध्ययन कर नाट्यकला के व्यापक सिद्धान्तो का आकलन किया।[3]

आचाय अभिनवगुप्त की स्थापना

भरत एक विशिष्ट व्यक्ति ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया अथवा भरतादि ने, इस प्रश्न पर आचाय अभिनवगुप्त के पूर्व स ही नाट्यशास्त्र के विद्वानो म मतभिन्नता थी।

---

१ शिष्याणा भरतस्य यानि च मतान्यध्याप्य,
प्रावरचा भरतीनि भरतादिभिरुच्यते। भा० प्रा० पृ० २, २०६ पं ४, २४८, पं० १।

२ कोहलादिभिरेवा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिल।
मर्त्यधर्मानुसारेण कंचित् कालमवस्थितैः।
प्रणीत (अत्र प्रयुक्त (प्रणीत) तु नराणां बुद्धिवर्द्धनम्। ना० शा० ३७।२४, का० मा०।

३ पी० वी० काणे भूमिका सा० द० पृ० ७-८

।

आचाय अभिनवगुप्त के विचार नितान्त स्पष्ट है कि नाटयशास्त्र की रचना भरत मुनि द्वारा हुई न कि वशपरम्परागत अनेक भरतो द्वारा। अपन विचार का उपबृहण करत हुए अपन से पूव के अनक आचार्यों की एक एतत्सम्बन्धी मान्यताओ का खण्डन किया है। कुछ पूर्वाचार्यों के मतानुसार नाटयशास्त्र के छत्तीस अध्याया म शास्त्र जिज्ञासा के रूप म जहा भी प्रश्नो की योजना हुइ है, व सब उनके शिष्यो के वचन है न कि भरत के। पर आचाय अभिनवगुप्त के अनुसार शास्त्रो म विषयविवेचन के प्रसग म पूवपक्ष प्रश्नशली म ही प्रस्तुत किया जाता है। उत्तरपक्ष म सिद्धान्त की स्थापना होती है। यह सारी योजना एक ही शास्त्रकार द्वारा होती है न कि किसी अन्य आचाय द्वारा भी। नाटयशास्त्र के पूवपक्ष एव उत्तरपक्ष की योजना के सम्बन्ध म भी यही तथ्य है। एक ही महामुनि ने प्रश्न एव समाधान दोनो को प्रस्तुत किया है।[1]

सदाशिव, ब्रह्मा और भरत नाट्यशास्त्र प्रणेता

आचाय अभिनवगुप्त न वशपरम्परागत भरतो को नाटयशास्त्र के प्रणायन का श्रेय न देकर केवल विशिष्ट भरतमुनि को ही ग्रन्थकार के रूप म स्वीकारते हुए अपने किसी नास्तिक गुरु के इस मत का खण्डन किया है कि नाटयशास्त्र की रचना मूलरूप मे सदाशिव ने की, तदनन्तर ब्रह्मा न और अन्तिम रूप म भरत ने। अत यह नाटयशास्त्र मात्र भरत विरचित नही है।[2] आचाय अभिनवगुप्त के अनुसार नाटयशास्त्र म उपलब्ध नाट्योत्पत्ति के विवरण स भी एक 'भरत' का ही समथन होता है न कि भरतादि' का।[3] वहा तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि भरत न ब्रह्मा से नाटयवेद की शिक्षा पाई। मूल नाटयशास्त्र के विभिन्न सन्दर्भो के विश्लेषण से आचाय अभिनवगुप्त की इस मान्यता की पुष्टि होती है कि भरतमुनि ने नाटयशास्त्र की रचना की। प्रयोग का प्रवतन तो भरत न अपने शतपुत्रो की सहायता स किया पर शास्त्र की रचना स्वय ही की।

आदि भरत, वृद्ध भरत, भरत ।

भरत के विवेचन के प्रसग मे हमारा ध्यान अन्य आचाय भरतो की ओर भी जाता है। भावप्रकाशन के विवेचन स हम भरतादि का सकेत प्राप्त होता है। इनकी दृष्टि से नाटयशास्त्र की रचना के पूव नाटयवेद की रचना आदि भरत या किसी वृद्ध भरत ने की थी। भावप्रकाशन म न कवल वृद्ध भरत का ही उल्लेख है अपितु वृद्ध भरत के नाम से कुछ गद्याश भी उद्धत हैं।[4] शारदातनय की दृष्टि से यह नाटयवेद द्वादशसाहस्री सहिता थी और उसी

---

१ मध्ये षट्त्रिंशत् अध्याय्या यानि प्रश्न प्रतिवचन योजनानि तानि तच्छिष्यवचना यथेत्याहु। तच्च असत्। एक ग्रथस्य अनेक कर्तृवचनसदभमयत्वे प्रमाणाभावात्। अ भा० भाग १ पृ० ६।

२ एतन सदाशिव ब्रह्म भरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममत सारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासार विवेचन तद्ग्रथप्रक्षेपेण विहितमिद शास्त्रम्। न तु मुनिविरचितमिति यदाहु नास्तिकोपाध्यायास्त प्रत्युक्तम्।
अ० भा० भाग १ पृ० ६।

३ ना० शा० १।१२ ८७।

४ तथा भरत वृद्धेन कथित गद्यमीदृशम्। भा० प्र० पृ० ३६।

का संक्षिप्त रूप काव्यशास्त्र है।[1] शारदातनय के मत से हम असहमत ही क्यों न हों परन्तु इस सत्य को हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं कि नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भी नाट्य शास्त्रीय विषयक सामग्री का विवेचन उपलब्ध था। आनुवंश्य आर्याओं और श्लोकों के रूप में स्वयं भरत ने भी उद्धृत कर अपने भाव और रस सम्बन्धी तात्त्विक विचारों का समर्थन किया है।[2] अतः दो विचार-सूत्र हमारे समक्ष बहुत स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की रचना से पूर्व नाट्यशास्त्र के रचयिता नाट्याचार्य थे। वे वृद्ध भरत हों, जड़ भरत हों या आदि भरत। परन्तु वर्तमान षट्साहस्री संहिता के रचयिता भरतमुनि ही हैं इस विचार का प्रायः परम्परा से समर्थन होता आ रहा है पर उसके प्रयोग का दायित्व निश्चित रूप से भरतवंशियों पर भी आता है।

निष्कर्ष

आर्ष वाङ्मय, नाट्यशास्त्र एवं अन्य सबद्ध ग्रन्थों में प्राप्त भरतसम्बन्धी विवरणों के विश्लेषण से नाट्यशास्त्रकार भरत के सम्बन्ध में निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिलती है। भरतों की वंशपरम्परा वैदिक काल में वर्तमान थी। पर नाट्यशास्त्र की रचना का दायित्व इस पर देना सम्भव नहीं मालूम पड़ता। वेदों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में कभी कभी पूरी वंशपरम्परा का ही उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल में मन्त्रद्रष्टा ऋषि वसिष्ठों की वंशपरम्परा है न कि एक व्यक्ति की।[3] अतः यह कल्पना की जा सकती है कि इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की भाँति ये भरत भरत जाति के हों, जिन्होंने नट-सूत्रों की रचना की हो तथा जिनकी ख्याति नट सूत्रों के रूप में पाणिनिकाल तक जीवित रही हो।[4] इन्हीं नट-सूत्रों से नाट्यशास्त्र का विकास हुआ और उसके प्रणयन का श्रेय भरतों को दिया गया।

नाट्यशास्त्र में भरत शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। भरतमुनि नाट्य शास्त्रकार हैं भरतपुत्र (भरत) नाट्यप्रयोक्ता हैं और सूत्रधार, नट विदूषक आभरणकृत् और मालाकार आदि तमाम नाट्यप्रयोक्ता भी भरत हैं क्योंकि नाट्यप्रयोग का धारण और भरण वे करते हैं।[5] अतः भरत शब्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र प्रणेता नाट्यप्रयोक्ता, नाट्याचार्य तथा नाट्यशिल्प के प्रयोजयिता आदि के रूप में है। यह प्रश्न अनिर्णीत सा ही रह जाता है कि नाट्यशास्त्रकार भरत एक विशिष्ट व्यक्ति थे, या उसकी रचना का दायित्व अनेक भरतों को दिया जा सकता है। इतना तो निश्चित मालूम पड़ता है कि इन तमाम भरतों (भरतपुत्रों या प्रयोक्ताओं) के मध्य भरत एक विशिष्ट व्यक्ति की सत्ता स्थिर और दृढ़ मालूम पड़ती है। भरत मुनि ब्रह्मा ने नाट्यवेद की शिक्षा दी भरत मुनि ने अपने शतपुत्रों की सहायता में महेन्द्र विजयोत्सव नाटक का प्रयोग किया। लक्ष्मीस्वयंवर

---

१ भा० प्र० पृ० ८७।

२ ना० शा० भाग १, पृ० २८६, २६३, ३१८, ३२८, ३२२ (गा० ओ० सी०)।

३ वैदिक हिस्ट्री जिल्द १, पृ० ७७ "ऋग्वेद के सूक्त १२२, १३७, १५०, १६०

४ अष्टाध्यायी ४।३, ११० १११।

५. ना० शा० ३५।६६ ६६, ३५।८२,६६।

नाटक के वहा प्रस्तोता थे। अभिशप्त भरतपुत्रा को शाप स उन्होंने मुक्ति दिलायी। पर इस विशिष्ट व्यक्तित्व क अतिरिक्त 'भरतादि' की भी परम्परा परवर्ती ग्रथा म जीवित रही है। पर आचाय अभिनवगुप्त जसे नाट्यशास्त्र क विद्वान् 'भरतादि' परम्परा क विरोधी है तथा अपने किसी नास्तिक उपाध्याय के इस मत का भी खडन किया है कि नाट्यशास्त्र की रचना अनेक भरतो ने की, एक भरत ने नही।

अत भरत शब्द मूलत किसी वशपरम्परा या नाट्यप्रयोक्ता समुदाय के लिए ही क्या न प्रयुक्त हुआ हो पर काल प्रवाह मे जनमानस की भावना म भरतमुनि का एक विशिष्ट व्यक्तित्व मूर्तिमान हो उठा। जिसे ही नाट्यशास्त्र के प्रणयन और प्रयोग का श्रेय प्राप्त हो गया है। यद्यपि नाट्यशास्त्र से ही यह बात प्रमाणित हो जाती है कि भरत स पूव नट-सूत्र, नाट्यशास्त्र और नाट्याचार्यों या भरता की अक्षुण्ण परम्परा वतमान थी।

२

नाट्यशास्त्र के प्रकाशित सस्करण और पाण्डुलिपियाँ

भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्यविद्या का विशाल वाङ्मय है। इस देश म पाश्चात्य पद्धति के अध्ययन अनुसधान की परम्परा एक डेढ सौ वर्षों स प्रचलित है। और इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के त्रुटिरहित प्रामाणिक सस्करण के प्रकाशन की दिशा म निरन्तर प्रयत्न हो रहा है। भारतीय नाट्यविद्या के इस अक्षय कोष के उद्धार की दिशा म विद्वानो द्वारा किया गया प्रयत्न ऐतिहासिक महत्त्व का है। यहाँ हम उसका सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

नाट्यशास्त्र के विदेशी सस्करण

विलियम जोन्स द्वारा कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल[1] के ऐतिहासिक महत्त्व के अनुवाद के बाद ही सर्वप्रथम एच० एच० विल्सन महोदय ने १८२६ २७ म भारतीय नाट्य के कुछ विशिष्ट उदाहरण के रूप म एक सग्रह ग्रन्थ प्रकाशित किया।[2] इसकी भूमिका म उन्होने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारतीय नाट्य एव काव्यो म बहुचर्चित भरत का नाट्यशास्त्र सर्वथा लुप्त हो चुका है। विल्सन महोदय की इस निराशापूर्ण घोषणा के उपरान्त भी इस ग्रन्थ के अनुसधान का कार्य चलता रहा।

एफ० हाल० का दशरूपक और उसका परिशिष्ट

एफ० हाल० को धनजय रचित दशरूपक के सपादन के क्रम म नाट्यशास्त्र की त्रुटिपूर्ण

---

[1] शकुन्तला आर द फैटल रिंग, कलकत्ता—१७८६।

[2] एच० एच० विल्सन सेलक्ट स्पेसिमेन्स आफ द थियेटर आफ द हिन्दूज।
(३ भाग) कलकत्ता—१८२६, २७।

पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसी के आधार पर दशरूपक के परिशिष्ट के रूप में नाट्यशास्त्र के १८ २० एवं ३४वें अध्यायों को १८६५ में प्रकाशित करवाया। अट्ठारह से बीस अध्यायों के वर्ण्य विषय तो नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अनुरूप थे परन्तु श्लोकों में परस्पर भिन्नता थी। हाल के तीन अध्यायों में क्रमशः १३२, १३३ और ६३ श्लोक संग्रहीत थे।[1] परन्तु काव्यमाला संस्करण में श्लोकों की संख्या क्रमशः १६८, १३३ और ६६ थी।[2] हाल संस्करण के ३४वें अध्याय में १२१ श्लोक थे और काव्यमाला के संस्करण के ३४वें (जिसमें ११६ श्लोक हैं), ३४वें तथा काशी संस्कृत सीरीज के ३५वें अध्याय के कुछ अंश के अनुरूप है। इस आंशिक प्रकाशन से ही विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि संस्कृत में इतना प्राचीन नाट्यशास्त्र उपलब्ध है।

हेमान का निबन्ध

नाट्यशास्त्र के अनुसंधान के क्रम में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हेमान को भी नाट्यशास्त्र की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसके आधार पर उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्र पर एक परिचयात्मक निबन्ध १८७४ ईस्वी में जर्मनी के एक नगर गाटिंगन की विज्ञान परिषद की पत्रिका में प्रकाशित करवाया। इस निबन्ध के द्वारा नाट्यशास्त्र के अध्ययन अनुसंधान को और भी बल मिला।[3]

पी० रेग्नो और ग्रासेट के संस्करण

नाट्यशास्त्र के अध्ययन और अनुसंधान के इतिहास में फ्रेंच विद्वान् पी० रेग्नो और जे० ग्रासेट की देन चिरस्मरणीय रहेगी। ये दोनों ही गुरु शिष्य थे। नाट्यशास्त्र को आंशिक रूप में प्रकाश में लाने का प्रथम श्रेय इन्हें ही मिलना चाहिए। रेग्नो महोदय ने १८८० ई० में छन्दों से सम्बन्धित नाट्यशास्त्र के १५ एवं १६ अध्याय (का० मा० सं० १५ एवं १५, का० सं० १५ एवं १६, गा० ओ० सी० सं० १४ और १५ अध्याय) प्रकाशित किये। इसी वर्ष रस और भाव से सम्बन्धित छठा और सातवाँ अध्याय रोमनलिपि में फ्रांसीसी भाषा के अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ। ग्रासेट महोदय ने अपने गुरु की परम्परा को जीवित रखते हुए १८८८ में संगीत से सम्बन्धित अट्ठाईसवाँ अध्याय प्रकाशित किया। तदनन्तर १८९८ में १-१४ अध्याय तक नाट्यशास्त्र का सुसंपादित संस्करण रेग्नो महोदय ने प्रकाशित किया। नाट्यशास्त्र का यह अधूरा संस्करण पाश्चात्य पद्धति की गवेषणापूर्ण संपादन शैली का आज भी उत्तम आदर्श है।[4]

---

१ दशरूपक एफ० हाल (बिब्लिओथिका इंडिका सिरीज में प्रकाशित)—कलकत्ता—१८६१ ई०।
२ का० मा० संस्करण नाट्यशास्त्र।
३ ना० शा० का अंग्रेजी अनुवाद म० मो० घोष भूमिका भाग पृ० ३९ [illegible] संस्करण की भूमिका, पृ० ८६। इण्डिश्चे स्टूडियन [illegible] पृ० २३।
४ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स पृ० ११ १२ पी० वी० काणे तथा मनमोहन घोष ना० शा० के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० २७।

भारतीय नाट्यकला पर प्रो० सिल्वान लेवी का प्रबन्ध

इसी बीच फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रो० सिल्वान लेवी ने इण्डियन थियेटर (थियात्रे ईंदियत्) नामक निबन्ध में नाट्यशास्त्र के १८ २० तथा चौंतीसवें अध्यायों के आधार पर नाट्यशास्त्र की विवेचना की। इस प्रबन्ध में नाट्यशास्त्र की महत्ता पर आंशिक रूप से चर्चा हुई। परन्तु इसके माध्यम से नाट्यशास्त्र की महत्ता की ओर विद्वानों का ध्यान निरन्तर आकर्षित हुआ। प्राचीन हिन्दू नाट्यकला के सम्बन्ध में यह निबन्ध वर्षों तक पश्चिम में विचार विवेचन का आधार बना रहा।

नाट्यशास्त्र के भारतीय संस्करण

गत छः सात दशकों में नाट्यशास्त्र के चार पूर्ण एवं चार अधूरे संस्करण प्रकाशित हुए हैं। उनका संक्षिप्त विवरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

काव्यमाला संस्करण—प्रस्तुत संस्करण सैंतीस अध्यायों में सर्वप्रथम १८९४ में प्रकाशित हुआ। नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन मुद्रित संस्करण यही था।[1] यह संस्करण 'क' एवं 'ख' नामांकित जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रकाशित हुआ इसका कोई विवरण ग्रन्थारम्भ में उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थ के अन्त में ५ ६ पंक्तियों की संक्षिप्त पादटिप्पणी में पाण्डुलिपियों की अशुद्धि का स्पष्ट उल्लेख है।[2] लगभग पचास वर्षों बाद पुनः इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण वहीं से १९४३ में प्रकाशित हुआ। इस अवधि में नाट्यशास्त्र के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके थे—एक काशी से, दूसरा बड़ौदा राज्य से। काशी से प्रकाशित संस्करण में केवल मूल अंश था[3] और बड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के १८ अध्यायों पर अभिनवगुप्त रचित अभिनव भारती विवृति भी उस समय तक उपलब्ध थी।[4] निर्णयसागर से प्रकाशित काव्यमाला संस्करण के लिए दोनों पूर्व प्रकाशित संस्करण भी आधार थे। काशी संस्करण के लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपियों तथा गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज़ के लिए जिन ४० पाण्डुलिपियों का उपयोग हुआ था उन सबको दृष्टि में रखकर यह संस्करण प्रकाशित हुआ यह सम्पादक ने स्वीकार किया है।[5] सम्भवतः यही संस्करण अभिनवगुप्त एवं अन्य काश्मीरी स्फोटवादियों के बीच बहुत लोकप्रिय था। दक्षिण भारत में इसका प्रचार अधिक था। इसके लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपि उज्जैन से प्राप्त हुई थी। इससे सम्बन्धित नाट्यशास्त्र की अन्य पाण्डुलिपियाँ बड़ौदा एवं बीकानेर राज्यों के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। धनंजय रचित दशरूपक

---

१ भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्रम्। सम्पादक शिवदत्त शर्मा तथा काशीनाथ शर्मा १८९४।

२ तथा च पुस्तकान्तरालाभेन यथाशक्य पाठे शोधितेऽपि अशुद्धीनामशक्यशोधनानां सदिग्धपाठानां च बहुत्वेन शुद्धिपरिश्रमस्याशुद्धिमागरे निमज्जितत्वेऽपि केवलं ग्रथप्रकाशन मात्र प्रयोजन मत्वा प्रकाश्य नीत। का० मा० प्रथम स० १८९४ पृ० ४४७।

३ चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ सम्पादक प० बलदेव उपाध्याय तथा स्व० प० बटुकनाथ शास्त्री साहित्योपाध्याय। १९२९

४ गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज़ ना० शा० के तीन भाग प्रकाशित, १ ७ (१९२७), ८ १८ (१९३४) सम्पादक—रामकृष्ण कवि।

५ ना० शा० (का० मा०) भूमिका पृ० २, १९४३।

की रचना पर इस पाण्डुलिपि की परम्परा का बहुत स्पष्ट प्रभाव है।[1] इसमें ३७ अध्याय है।

काशी संस्करण—काशी से नाट्यशास्त्र का नवीन संस्करण दो आचार्यों के सम्पादकत्व में १९२९ में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ३६ अध्याय हैं। इसकी पाण्डुलिपि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन में सुरक्षित है। इस परम्परा की पाण्डुलिपि पर शंकुक और लोल्लट प्रभृति नैयायिकों और मीमांसकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस संस्करण के प्रकाशित होने तक अन्य पाण्डुलिपियों के अभाव में नितान्त त्रुटि रहित न था। पाठभेद भी बहुत कम थे। इस संस्करण के लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपि बहुत प्राचीन तथा मौलिक नाट्यशास्त्र की निकटवर्ती है। भाज इसी पाठ-परम्परा से प्रभावित थे। घाष महोदय ने इसी संस्करण की पाण्डुलिपि का मुख्यतः अनुसरण किया है

बड़ौदा से प्रकाशित संस्करण—मूल ग्रन्थ के रूप में नाट्यशास्त्र के पूर्ण संस्करण नागरी लिपि में ये ही दो प्रकाश में आ सके हैं। परन्तु बड़ौदा राज्य की ओर से नाट्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण और भी प्रकाशित हुआ। यह क्रमशः रामकृष्ण कवि के सम्पादन मे चार भागों में पूर्ण रूप से प्रकाशित हुआ है। अन्य दो प्रकाशित नाट्यशास्त्र के संस्करण मूल रूप में है। परन्तु इस संस्करण में आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनव भारती भी उपलब्ध है। अतः इसका महत्त्व पाठ शुद्धि और विषय विवेचन की दृष्टि से बहुत अधिक बढ़ जाता है।[2] इस संस्करण के सम्पादक महोदय ने यह उल्लेख किया है कि उन्होंने इसके लिए चालीस पाण्डुलिपियों का उपयोग किया। परन्तु उन पाण्डुलिपियों का कोई स्पष्ट विवरण उन्होंने नहीं दिया है। अपने प्राक्कथन में इन पाण्डुलिपियों की पारस्परिक भिन्नता का उल्लेख किया है। उन्होंने उन प्राप्त पाण्डुलिपियों को दक्षिण भारतीय एवं उत्तर भारतीय इन दो भागों में विभाजित किया है। उत्तर भारतीय पाण्डुलिपियों को 'अ' के अन्तर्गत और दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपियों को 'ब' के अन्तर्गत परिगणित किया।[3]

अभिनव भारती प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण—अभिनव भारती के तीनों भागों के प्रकाशन के उपरान्त प्रथम भाग (१-७) का पुनः संशोधित संस्करण हाल ही में प्रकाशित हुआ है।[4] इस संस्करण के संशोधक और सम्पादक हैं रामस्वामी शास्त्री। इन्होंने प्रथम भाग के प्रथम संस्करण की अपेक्षा इस नूतन संस्करण में महत्त्वपूर्ण संशोधन एवं पाठ परिवर्तन प्रस्तुत किया। इस संस्करण के लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपियों का विवरण भी दिया। रामकृष्ण कवि की सम्पादन पद्धति की अनेक त्रुटियों का भी इन्होंने उल्लेख किया है। उदाहरण के रूप में रामकृष्ण कवि महोदय ने शान्तरस का पाठ किन किन पाण्डुलिपियों में था, यह स्पष्ट न कर अभिनव भारती के आधार पर उसे नाट्यशास्त्र के मूलअंश के रूप में स्वीकार किया था। द्वितीय संस्करण के सम्पादक महोदय ने इस पर आपत्ति की है कि भरत शान्तरस को स्वीकार करने के पक्ष में है। अतएव इस संस्करण में शान्तरस को प्रक्षिप्त पाठ के ही रूप में स्वीकार

---

१ ना० शा० (का० मा०) द्वितीय म० की भूमिका पृ० ७।

२ ना० शा० प्रथम भाग १९२७, द्वितीय भाग १९३४ तृतीय भाग १९५४, चतुर्थ भाग १९६४, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा।

३ ना० शा० प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, प्रिफेस पृ० ४, तथा ६० ६७ (ना० शा० सी०)।

४ वही, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण १९५६।

किया है ।[1] यह नूतन संस्करण अब तक के प्रकाशित नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों सर्वोत्तम है ।

नाट्यशास्त्र के कई अनूदित संस्करण—नाट्यशास्त्र के कई अनूदित संस्करण भी इध प्रकाशित हुए हैं । प्रसिद्ध प्राच्यविद्या विशारद मनमोहन घोष महोदय ने नाट्यशास्त्र के स अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद तथा मूल अंश भी प्रकाशित किया है ।[2] अनुवाद की पादटिप्पणं में यथास्थान बहुत सी पाण्डुलिपियों और प्रकाशित संस्करणों के आधार पर पाठभेद के अने महत्त्वपूर्ण संकेत हैं । अनेक महत्त्वपूर्ण स्थलों पर आचार्य अभिनवगुप्त एवं अन्य नाट्याचार्य के विभिन्न मतों का आकलन पादटिप्पणी में प्रस्तुत किया गया है ।[3]

हिन्दी में नाट्यशास्त्र के अनूदित संस्करण—हिन्दी में नाट्यशास्त्र के दो अधू संस्करण उपलब्ध हैं । दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी अनुसंधान-परिषद की ओर से इसक प्रकाशन हुआ है ।[4] इसमें नाट्यशास्त्र के प्रमुख तीन – प्रथम (नाट्योत्पत्ति), द्वितीय (नाट्य मंडप) तथा षष्ठ (रसाध्याय) अध्यायों एवं उस पर उपलब्ध अभिनव भारती टीका का सम्पादन एवं अनुवाद किया गया है । इन तीनों अध्यायों के अनुवाद एवं विश्लेषण आदि वे क्रम में अनुवादक महोदय ने अभिनवगुप्त के सूक्ष्म विचार बिन्दुओं का व्याख्यान किया है और अभिनवगुप्त के विचारों की संगति के लिए मूल ग्रन्थ एवं अभिनव भारती में नवीन पाठभेदों की परिकल्पना भी की है । डा० रघुवंश ने हाल ही नाट्यशास्त्र के १ ७ अध्यायों को मूल पाठान्तर अनुवाद तथा व्याख्या सहित प्रस्तुत किया है । निःसन्देह इन्हें अब तक के प्रकाशित मूल एवं अनूदित नाट्यशास्त्रों के उपयोग की सुविधा मिली है ।[5] एक अन्य संस्करण मराठी भाषा में भी प्रकाशित हुआ है । इसका अनुवाद प्रा० भानु ने किया है ।[6]

प्रकाशित संस्करणों में पाठ भिन्नता समग्रदृष्टि

नाट्यशास्त्र की विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रकाशित नाट्य शास्त्र के संस्करणों में पाठ भिन्नता तो नितान्त स्वाभाविक है । वस्तुतः यह पाठ भिन्नता केवल कुछ श्लोकों के ही सम्बन्ध में नहीं है अपितु विभिन्न अध्यायों के पौर्वापर्य क्रम, उनकी संख्या तथा प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में भी है । नाट्यशास्त्र के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों में प्राप्त एतत्सम्बन्धी विवरण हमने सूत्ररूप से परिशिष्ट में दिया है जिससे विभिन्न संस्करणों में वर्तमान पाठभेद का रूप स्पष्ट हो सके ।

---

१ वही पृ० ५ ६ ।

२ नाट्यशास्त्र — रॉयल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, १९५०,१९६२ म० मो० घोष ।

३ N S Eng Trans p 40

४ हिन्दी अ० भा० सम्पादक तथा व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि । हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय १९६० ।

५ भरत का नाट्यशास्त्र, भाग १ (अध्याय १ ७) डा० रघुवंश—मोतीलाल बनारसीदास काशी, १९६४ ।

६ तथा मराठी में लिखित गोदावरी वासुदेव केतकर का 'भारतीय नाट्यशास्त्र' आर्यभूषण प्रेस, पूना, १९२८ ।

प्रकाशित संस्करणों में पाठ-भिन्नता का विश्लेषण

नाट्यशास्त्र के प्रकाशित विभिन्न (पूर्ण और अपूर्ण) संस्करणों की तुलनात्मक तालिका से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक संस्करण का पाठ भिन्न है। प्रकाशित संस्करणों में एक ओर काव्यमाला संस्करण और गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज संस्करण तथा दूसरी ओर काशी संस्करण एवं मनमोहन घोष के संस्करण एक-दूसरे के निकट हैं। आचार्य विश्वेश्वर और डा० रघुवंश के संस्करण गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज के अनुयायी हैं। वस्तुतः प्रधान रूप में प्रकाशित इन चार संस्करणों में यही भेद अब भी स्पष्ट मालूम पड़ता है जो भेद अभिनवगुप्त से पूर्व से ही नाट्यशास्त्र के विभिन्न पाठों में वर्तमान था। नाट्यशास्त्र की पाठ भिन्नता का उल्लेख स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने भी कई स्थानों पर किया है।[1] पाठ भेद की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं को हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

पंचमाध्याय की पाठ भिन्नता—पंचम अध्याय के अन्त में लगभग चालीस श्लोक मुद्रित दक्षिण भारत से प्राप्त त्रिवेन्द्रम की पाण्डुलिपि के अतिरिक्त किसी भी अन्य पाण्डुलिपि में नहीं हैं जिसकी अनुरूप पाण्डुलिपि का विवरण हम देंगे। काव्यमाला और गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज संस्करणों में ये चालीस श्लोक प्रक्षिप्त रूप में हैं। काव्यमाला के प्रथम संस्करण में वे थे ही नहीं।[2] मनमोहन घोष के अनूदित संस्करण में उन चालीस श्लोकों को प्रक्षिप्त मानकर स्थान ही नहीं दिया है। इस अंश पर अभिनवगुप्त की टीका भी उपलब्ध नहीं है।[3] अभिनव भारती की प्राप्त दोनों पाण्डुलिपियों में पंचमाध्याय के अन्त से छठे अध्याय के आरम्भ तक पाण्डुलिपि का एक तारतम्य खंडित है। अतः सम्भव है कि अभिनवगुप्त ने इस अंश को कोहलादि द्वारा रचित प्रक्षिप्त अंश मानकर व्याख्या भी न की हो।[4]

षष्ठ अध्याय में शान्त रस का पाठ—नाट्यशास्त्र का छठा अध्याय रसाध्याय के रूप में प्रसिद्ध है। नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के विकास के इतिहास में इस अध्याय का बड़ा महत्त्व है। रसों के विवेचन के प्रसंग में 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'[5] आदि के अनुसार रसों की संख्या आठ ही थी। परन्तु पाठभेद के अनुसार नव रसों का उल्लेख ही नहीं मिलता अपितु छठे अध्याय के अन्त में शान्तरस के पोषक गद्यांश तथा अतिरिक्त साढ़े पाँच श्लोक भी संगृहीत हैं, और उन पर अभिनव भारती टीका भी है।[6] टीका में शान्त रस का समर्थन शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा अभिनवगुप्त ने किया है। परन्तु उनसे पूर्व ही से शान्त रस को नवम रस स्वीकार करने की परम्परा वर्तमान थी। अभिनव भारती में इसका संकेत मिलता है।[7] काशी संस्करण में इस अध्याय की परिसमाप्ति 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' के साथ हो जाती है।[8] नाट्यरसों की संख्या

---

१ अस्मदुपाध्यायपरम्परागत । अ० भा० भाग २, पृ० २९८।

२ काव्यमाला संस्करण १८९४, पृ० ८६ तथा श्लोक संख्या १६१।

३ व्याख्या प्रथम सम्पादकेन कृता नाभिगुप्तपादैः । अ० भा० भाग १, पृ० २५१ (द्वि० सं०)।

४ अ० भा० भाग १, पृ० २५१ (द्वि० सं०), (२८)।

५ ना० शा० ६।१५।

६ ये पुनर्नवरसा इति पठन्ति तन्मते शान्तरसस्वरूपमभिधीयते। अ० भा० भाग १, पृ० ३२३।

७ इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नवरसाः श्रूयन्ते। अ० भा० भाग १ पृ० ३३८।

८ एवमेते रसाः ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः। ना० शा० ६ ८३ (काशी सं०)।

आठ होने का समर्थन चौथी पाँचवी सदी में कालिदास के विक्रमोर्वशी से भी होता है।[1] ७वीं सदी के दंडी ने अपने काव्यादर्श में 'अप्सरगायतना' का उल्लेख किया है।[2] दशरूपककार धनंजय तथा उनके टीकाकार धनिक ने नाटक में शान्त रस को स्वीकार नहीं किया है, अपितु उनके तर्क वितर्क से यह तो सिद्ध होता है कि उनके समय से पूर्व नाट्य में शान्त रस के सम्बन्ध में वाद विवाद था और नाट्यशास्त्र के दो भिन्न पाठ प्रचलित थे।[3]

एक अध्याय का दो भागों में विभाजन—नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के ६वें अध्याय में २६७ श्लोक हैं परन्तु काशी संस्करण में ये श्लोक ६वें और १०वें अध्यायों में विभक्त हैं।[4]

छन्द एवं वृत्त विधान—*काव्यमाला तथा गायकवाड ओरियन्टल सीरीज संस्करणों में* छन्द एवं वृत्त विधान १४वें और १५वें अध्यायों में मिलता है परन्तु काशी संस्करण के अनुसार पन्द्रहवें और सोलहवें अध्यायों में। गायकवाड ओरियन्टल सीरीज संस्करण का पाठ इन दोनों संस्करणों की अपेक्षा भिन्न है। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में इस भेद का बहुत स्पष्ट शब्दों में उल्लेख भी किया है।[5] बहुत सी प्राप्त पाण्डुलिपियों में मगण आदि की पद्धति से छन्दों का लक्षण प्रस्तुत किया गया है और किसी किसी पाण्डुलिपि में गुरु लघु की प्राचीन प्रणाली के माध्यम से। मगण आदि की प्रणाली नवीन है और गुरु लघु प्रणाली प्राचीन। कुछ संस्करणों में छन्दों के लक्षण उपजाति वृत्त में भी उपलब्ध है। घोष महोदय के अनुसार जिन छन्दों के लक्षण गण प्रणाली एवं उपजातिवृत्तों में प्रस्तुत किये गए हैं वे संस्करण परवर्ती तथा गुरु-लघु प्रणाली तथा अनुष्टुप छन्दों में लक्षण प्रस्तुत करने वाला संस्करण पूर्ववर्ती है। इस दृष्टि से अभिनव भारती संस्करण परवर्ती हो जाता है।

लक्षणों का पाठ—लक्षणों का पाठ भी नाट्यशास्त्र के प्राप्त संस्करणों के विभिन्न अध्यायों में है। काव्यमाला और गायकवाड ओरियन्टल सीरीज के १६वें अध्याय में और काशी संस्करण के १७वें में। गायकवाड ओरियन्टल सीरीज में ३६ लक्षण ४३ छन्दों में वर्णित हैं। परन्तु काव्यमाला और काशी संस्करणों में यह अनुष्टुप छन्दों में प्रस्तुत किया गया है। लक्षण के नाम भी सब समान नहीं है, केवल सत्रह नामों में समानता है।[6] आचार्य अभिनवगुप्त के काल में ही इनकी संख्या के सम्बन्ध में भिन्न पाठ प्रचलित थे।[7] भोज ने तो इनकी चौंसठ संख्या स्वीकार की है।[8] दशरूपक तथा उसके टीकाकार धनिक एवं शाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट प्रभृति आचार्यों ने उपजाति छन्द वाले पाठ का ही उपयोग किया है।[9] दूसरा ओर

1. विक्रमोर्वशी—अंक २।१६।
2. काव्यादर्श—२।२६२।
3. द० रू० ४। ३८ ख।
4. *का० मा० सं० पृ० १७७ श्लोक सं० २६७, का० सं० नवम् अध्याय पृ० ११८ श्लोक २०७,* १०म अ० श्लोक ५८, पृ० १३३।
5. अ० भा० भाग २, पृ० २८२ ३।
6. का० मा० और गा० ओ० सी० संस्करण का १६वाँ अध्याय तथा का० सं० का १७वाँ अध्याय।
7. तथा च मना नरेण भरतमुनिरेव—तत्र पत्र पुस्तकेषु भेदो दृश्यते। अ० भा० भाग २, पृ० २६८।
8. एतानि काव्यस्य विभूषणानि प्राय चतुःषष्ठिरुदाहृतानि। भोज का शृंगार प्रकाश (१२), पृ० २६ ३०।
9. विभूषणचाक्षर –द० रू० ४ ८४, अ० का० राघव भट्ट की अर्थ द्योतनिका, पृ० ०, नि० सा० १६११।

विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने अनुष्टुप छन्दों में प्रस्तुत लक्षणों के पाठ का ही अनुसरण किया है।[1] लक्षणों का पाठ भिन्न रूप में इन आचार्यों को उपलब्ध था।

संस्करणों में अध्याय विषयों के पौर्वापर्य में भिन्नता—काव्यमाला संस्करण का २४वाँ अध्याय काशी संस्करण के ३४वें अध्याय में विभाजित है। दशरूपक निरूपण काव्यमाला और गायकवाड ओरियन्टल सीरीज के १८वें अध्याय में है पर काशी संस्करण के २०वें अध्याय में। काशी संस्करण का ३६वाँ अध्याय काव्यमाला संस्करण के ३६ और ३७ अध्यायों में विभक्त है। यद्यपि दोनों अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है, पर काशी संस्करण में उस अध्याय का नाम नाटयावतार है तथा काव्यमाला के ३६ और ३७ अध्यायों के नाम क्रमशः 'नटशाप' और 'गुह्य विकल्पक' हैं।

प्रकाशित संस्करणों की प्राचीनता—प्रकाशित संस्करणों की अपेक्षाकृत प्राचीनता निर्धारित करना सम्भव नहीं है। काल प्रवाह में देश काल, लिपि तथा आचार्यों की विचार-दृष्टि की भिन्नता के कारण पाठ में अन्तर आ गया है। काव्यमाला और अभिनवभारती वृत्तियुक्त नाटयशास्त्र के संस्करण एक-दूसरे के निकट तो हैं, पर कई अंशों में वे भी परस्पर भिन्न हैं। काशी संस्करण इन दोनों से भिन्न है। मनमोहन घोष ने नाटयशास्त्र का जो संस्करण तैयार किया है वह इन तीनों से भी आंशिक रूप से भिन्न है। यद्यपि उन्होंने अभिनवभारती से सहायता ली है[2] पर उनका संस्करण कई दृष्टियों से काशी संस्करण के अधिक निकट है। काशी संस्करण दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपि का तथा काव्यमाला और गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़ संस्करण उत्तर भारतीय पाण्डुलिपि का अनुवर्ती है। मक्डोनल और पिश्चेल महोदय दक्षिण भारतीय संस्करण को अधिक प्राचीन तथा मौलिक नाटयशास्त्र का निकटवर्ती मानते हैं।[3] परन्तु डा० लक्ष्मणस्वरूप उत्तर भारतीय संस्करण को ही मूल का निकटवर्ती मानते हैं।[4] मनमोहन घोष के विचार से दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपि में कुछ अत्यन्त प्राचीन पाठ सुरक्षित है।[5]

नाटयशास्त्र की पाण्डुलिपियाँ उनका विवरण

नाटयशास्त्र की मूल पाण्डुलिपियाँ दक्षिण और उत्तर भारत में प्राप्त हुई। अ० भा० के सम्पादक श्री रामकृष्ण कवि ने उनके पाठ सम्बन्धी साम्य और वैषम्य के आधार पर 'अ' और 'ब' भागों में वर्गीकरण किया। तेलुगु, तमिल, कन्नड और मलयालम जिलों से प्राप्त प्रतिलिपियों को उन्होंने 'ब' नाम से चिह्नित किया। परन्तु जो पाण्डुलिपियाँ उज्जैन तथा महाराजा बीकानेर के पुस्तकालय से प्राप्त हुई उन्हें 'अ' नाम से चिह्नित किया। उनके विचार से काशी संस्करण दक्षिण भारतीय 'अ' चिह्नित पाण्डुलिपियों की परम्परा का है तथा काव्यमाला संस्करण 'अ' चिह्नित उत्तर भारतीय पाण्डुलिपियों का अनुवर्ती। दशरूपककार धनञ्जय ने तो 'अ' वर्ग की पाण्डुलिपियों का अनुसरण किया है और भोज ने 'ब' वर्ग की। दोनों पाण्डुलिपियों की प्राचीनता

१ र० सु० ३।१७ १०१, सा० द० ६।१७१ २०६। ना० शा० अ० भ० भूमिका भाग, पृ० ४०।
२ ना० शा० अ० भ० भूमिका भाग, पृ० ४०।
३ हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज कालिदास की शकुन्तला, पृ० ६। तथा—बृहद्देवता (हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज़) पृ० १८ १६।
४ निघण्टु और निरुक्त भूमिका, पृ० ३६।
५ ना० शा० अ० अनुवाद—भूमिका भाग, पृ० ७२।

के सम्बन्ध म विद्वानो म ऐकमत्य नहीं है। यदि 'ब' चिह्नित पाण्डुलिपि अपेक्षाकृत प्राचीन भी हो परन्तु उसम कोहल और नन्दिकेश्वर आदि आचार्यों के मतो के मिश्रण होने से उसकी मौलिकता सन्देहरहित नहीं रह जाती है।[1]

पाण्डुलिपियों के वर्गीकरण की नूतन प्रणाली—अभिनव भारती प्रथम भाग के द्वितीय सस्करण मे सम्पादक श्री रामस्वामी शास्त्री ने श्री कवि महोदय की इस कृत्रिम विभाजन प्रणाली को असगत सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि से पाण्डुलिपियो की यह विभाजन प्रणाली सर्वथा कृत्रिम है। वस्तुत उनम दक्षिण भारतीय और उत्तर भारतीय दो भागो म विभाजित करने का सगत आधार नही है। उन्होने नाटयशास्त्र की प्राप्त पाण्डुलिपियो के लिए पृथक्-पृथक् चार चिह्नो की कल्पना की है उन्ही के द्वारा उनका वर्गीकरण उन्होने किया है, न कि दक्षिण या उत्तर भारतीय इस भौगोलिक भिन्नता के आधार पर।[2]

'अ' चिह्नित पाण्डुलिपि—नाटयशास्त्र की एक मूल पाण्डुलिपि अलमोडा से प्राप्त हुई। यह बडौदा के ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट म सुरक्षित है। यह प्रति खण्डित है। इसम कुल २३ अध्याय हैं। सम्पादक महोदय के अनुमानानुसार यह प्रति पाँच सौ वर्ष पुरानी है। इसम कुल १०५ पृष्ठ है। यत्र-तत्र पृष्ठ लुप्त हैं। यह जराजीर्णावस्था म है। पाठ अति सुन्दर है। अभिनवभारती के प्रथम भाग के द्वि० स० म यह पाण्डुलिपि 'अ' सकेत द्वारा चिह्नित है।[3]

'ब' चिह्नित पाण्डुलिपि—यह पाण्डुलिपि उज्जैन से प्राप्त हुई है। यह भी बडौदा ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट मे सुरक्षित है (स० ४६२०)। सपादक के अनुसार तीन सौ वर्ष पुरानी यह पाण्डुलिपि है। उत्तर भारत से प्राप्त होने पर भी 'अ' चिह्नित अलमोडा वाली पाण्डुलिपि से यह भिन्न है। अन्य पाण्डुलिपियो म अप्राप्य कुछ श्लोक भी इसम हैं। काव्यमाला सस्करण के लिए प्रयुक्त 'क' पाण्डुलिपि के यह कुछ अनुरूप है। अभिनवभारती के प्रथम सस्करण मे इसका उपयोग किया गया था और द्वितीय सस्करण मे यही 'अ' द्वारा चिह्नित पाण्डुलिपि है।[4]

दक्षिण भारत से प्राप्त दो पाण्डुलिपियाँ 'म' और 'त'— म चिह्नित पाण्डुलिपि तालपत्र पर अकित मूल पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि है। यह प्रतिलिपि मद्रास सरकार की ओरियण्टल मन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी म सुरक्षित अन्य पाण्डुलिपि की सहायता से तयार की गई है। यह बडौदा के ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट म (स० १८०४१) सुरक्षित है। यह दक्षिण एव उत्तर भारत मे प्राप्त होने वाली पाण्डुलिपियो से भिन्न है। यही एकमात्र पाण्डुलिपि है जिसम पचम अध्याय के अन्त म चालीस श्लोक मूल ग्रथ के अश के रूप म दिये गये हैं। सरस्वती भवन (वाराणसी) पुस्तकालय म इसी की प्रतिलिपि सुरक्षित है। उसमें ३६ अध्याय हैं।[5]

सरस्वती भवन मे सुरक्षित 'म' चिह्नित पाण्डुलिपि—नाटयशास्त्र की पाण्डुलिपियो के अनुसधान के क्रम म वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन मे मूल नाटयशास्त्र की पचमाध्यायान्त पाण्डुलिपि की मैंने वह प्रति देखी जिसम पचम अध्याय के अतिरिक्त श्लोको

---

१ N S (G O S) Vol I, Intro p 59 61 2nd Edn
२ N S (G O S) Vol I Intro p 10 11 2nd Edn
३ अ० भा० भाग १, भूमिका भाग, पृ० १०।
४ अ० भा भाग १, पृ० १, द्वि० स०।
५ ना० शा० (गा० ओ० सी०) प्रथम भाग, द्वितीय सस्करण, पृ० ८६।

का पाठ है। उक्त पाण्डुलिपि के कुछ आवश्यक विवरण निम्नलिखित हैं—

उक्त पाण्डुलिपि मे पत्रसख्या १ ६०, आकार ८।६ १२।५ प्रति पष्ठ प० १६, १८, ग्रन्थकार—भरतमुनि, नाम—भारतीय नाटयशास्त्रम्, क्रम सख्या ०८०७६७। लिपिकाल का कोई विवरण उसमे उपलब्ध नही था। १ ६० पष्ठ तक की लिपि नागरी है और साफ एव सुदर भी। पादटिप्पणियाँ गहरी काली स्याही म लिखी हुई हैं।[1]

लिपिकाल—मूल पाण्डुलिपि की यह प्रतिलिपि कब तैयार हुई इसका स्पष्ट सकेत तो नही है परन्तु इसके प० ८५ तदनुसार ५।१६४ श्लोक की पादटिप्पणी सख्या १० पर प्रतिलिपिकार ने यह स्पष्ट रूप से लिखा है, यहाँ स समाप्ति-पयन्त जो श्लोक हैं वे मुद्रित पुस्तक म नही है।[2] इसस यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि यह प्रतिलिपि नाटयशास्त्र के काव्यमाला सस्करण (१८९४) के बाद तैयार की गई, क्योकि उसम ही इन अतिरिक्त श्लोको का उल्लेख नही है। अत सरस्वती भवन मे सुरक्षित यह अनकृत पाण्डुलिपि रामस्वामी शास्त्री द्वारा म' चिह्नित पाण्डुलिपि की अनुवर्ती है।[3]

'त' चिह्नित पाण्डुलिपि—इसकी मूल पाण्डुलिपि त्रावणकार महाराज के पुस्तकालय म सुरक्षित है। यह प्रतिलिपि इसी पुस्तकालय म सुरक्षित अन्य पाण्डुलिपियो के आधार पर तयार की गई है। यह भी बडौदा के आरियन्टल इन्स्टीच्यूट म सुरक्षित है (स० १८०४२)। एकमात्र इसी प्रति म नाटयशास्त्र के छठे अध्याय के अन्त म शान्तरस का अतिरिक्त अश मूल रूप म सगहीत है। काव्यमाला और अभिनवभारती सस्करण इसी प्रति के अनुवर्ती हैं। इसमे कुल ३२ अध्याय हैं। यह मलयालम लिपि म है तथा बहुत ही जराजीर्णावस्था म है।[4]

निष्कर्ष

पिछले पृष्ठो मे हमने नाट्यशास्त्र के प्रकाशित विभिन्न सस्करणो एव पाण्डुलिपियो का विवरण एव विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पाण्डुलिपियो मे जो भिन्नता है वह देशभेद, कालभेद और आचार्यों के दृष्टिभेद के कारण। ये सब पाण्डुलिपियाँ सुदूर दक्षिण और उत्तर भारत स प्राप्त हुई हैं। नाट्यशास्त्र के विभिन्न सस्करणो म कौन अधिक प्राचीन है इसका निणय करना सरल नही है। इतना तो निश्चित है कि नाटयशास्त्र म पाठभेद की परपरा का आरभ कालिदास के बाद और आचाय भटटोदभटट के पूव हो चुका था।[5] आचाय अभिनवगुप्त पाठभेद की परम्परा से सुपरिचित थे।[6] उनके गुरु भटटतोत और महेन्द्रराज, तथा परमगुरु उत्पलदेव नाटयशास्त्र के

---

१. वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालयान्तर्गत, सरस्वती भवन में सुरक्षित ना० शा० की पाण्डुलिपि के आधार पर।

२ अत आरभ्य श्लोका समाप्तिपयन्त मुद्रित पुस्तके न सन्ति। ना० शा० की सरस्वती भवन मे सुरक्षित पाण्डुलिपि पृ० ८५।

३ ना० शा० की पाण्डुलिपि, पृ० स० १५, १६, १७ २२, २६, ४६, ४७, ५३, ५५, ५७ आदि।

४ अ० भा० भाग १, भूमिका, पृ० ९ १०।

५ मुनिना भरतेन—अष्टरसाश्रय। विक्रमोर्वशी अक २।१७।
तथा बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवनाट्ये रसा स्मृता। काव्यालकारसारसग्रह ४।५।

६ तथा च मतान्तरेण भरतमुनिरेवान्यथाऽप्युद्दयलेपोन नामान्तरैरपि व्यवहार करोमि। तत एव पुस्तकेषु भेदो दृश्यते। अ० भा० भाग १, पृ० २०८।

विभिन्न सस्करणो का उपयोग भी कर रहे थे। अभिनवगुप्त की गुरुपरम्परा द्वारा स्वीकृत पाठ परम्परा म शान्तरग रा उपव हण किया गया तथा स्फोटयान्ी काश्मीरी आचार्यां क मध्य यही सस्करण लोकप्रिय था। अभिनवभारती क लिए इसी का उपयोग किया गया था। नाट्यशास्त्र के सस्करण की दूसरी परम्परा वह है जिस पर भट्ट लोल्लट और शकुक जैस आचार्यों के विचारो का प्रभाव है। नाट्यशास्त्र के इन भाष्यकारो तथा आचार्यों न जिस पाठ-परम्परा का उपयोग किया वह अभिनवभारती क लिए स्वीकृत सस्करण स भिन्न अवश्य थी।

नाट्यशास्त्र के विभिन्न सस्करणो मे अनुरूपता भारत की सास्कृतिक एकता

नाट्यशास्त्र नाट्यविद्या का आकरग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को वेद और सूत्र का सम्मान प्राप्त था। वीरकाव्य का इसम परिवतन और परिवद्धन तो कम हुआ। अत सस्करणो म पाठ भिन्नता होन पर भी दक्षिण स उत्तर तक की विभिन्न पाण्डुलिपियो की अनुरूपता भी बहुत प्रबल थी। नाट्यशास्त्र क सिद्धान्तो और प्रयोगो क रूप दक्षिण भारत क मन्दिरो म किसी प्रकार जीवित और सुरक्षित तो रह सक, उत्तर भारत म निरन्तर विदेशी आक्रमणकारियो के कारण प्रतिकूल वातावरण नही रह सका। यही नही सुदूर उत्तर म काश्मीर के हिमशुभ्र शिखरो की शान्त एकान्त छाया म शवशक्ति के साधक महान् प्रत्यभिज्ञावादी आचाय अभिनवगुप्त की अभिनवभारती की पाण्डुलिपियाँ सुदूर दक्षिण भारत म ही मिली। नाट्यशास्त्र दक्षिण भारत म कितना लोकप्रिय हुआ यह तो इसी स सिद्ध हो जाता है कि चिदम्बरम नटराज मन्दिर के १०८ कक्षा के चौदह स्तम्भो पर १०८ नृत्य की मुद्राए अकित हैं। व मुद्राएँ नाट्यशास्त्र म प्रतिपादित १०८ करणो के नितान्त अनुरूप ही नही वे सबद्ध श्लोक भी उसी क्रम म अकित हैं। इस दृष्टि स नाट्यशास्त्र का ऐतिहासिक महत्त्व है। राजनीतिक दृष्टि स बार बार खडित और पराधीन भारत जिन कला और सास्कृतिक स्रोतो के माध्यम से एक रहा है उनम भरत का यह नाट्य शास्त्र भी कम महत्त्वशाली नही है। नाट्य नृत्य और सगीत कलाओ के माध्यम से यह नाट्य शास्त्र देश को एकता क सूत्र म पिरोय रहा है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ की पाडुलिपियाँ दक्षिण और उत्तर भारत म किंचित् भिन्न रूप म प्रचलित रही है, तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु इतने लम्बे काल प्रवाह म इसका यह रूप पिछले पन्द्रह-सोलह सौ वर्षों से इसी रूप मे प्रचलित है और भारतीय कलाचेतना को प्रभावित और अनुप्राणित कर रहा है।[1]

---

1 These indications will make it clear at any rate that the text existed in its present form in the 8th century A D if not earlier

—*Sanskrit Poetics* p 24 S K De (1963)

३

नाट्यशास्त्र का रचना-काल

नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। इसका प्रणयन किसी एक काल में और एक ही व्यक्ति द्वारा हुआ हो, यह सम्भव नहीं मालूम पड़ता है। परन्तु इतना निश्चित-सा है कि कालिदास के दो एक सदी बाद इसने लगभग यह वर्तमान रूप धारण कर लिया था। इस सुदीर्घ परम्परा में अपने विषय की महत्ता के कारण यह नाट्यशास्त्र वेद[1] एवं सूत्र[2] ग्रन्थ के रूप में समादृत हो चुका था। ऐसे आकरग्रन्थ के रचना काल के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों एवं आधुनिक विद्वानों के विचारों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

काल-निर्धारण की दो सीमाएँ

आर्यों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ और उनकी उत्कर्षशाली संस्कृति प्राचीनकाल से नाट्यशास्त्र और भरतमुनि से परिचित थी। अश्वघोष और भास सन् ईस्वी के प्रभातकाल से ही भरत के नाट्यशास्त्र की प्रभाव रश्मियों का स्पर्श अनुभव कर रहे थे और कालिदास ने उस प्रभाव के उज्ज्वल आलोक में अपनी नाट्यकृतियों का सृजन किया। उनसे पूर्व के नाटक आज उपलब्ध नहीं हैं। अश्वघोष, भास, शूद्रक और कालिदास से पूर्व भी संस्कृत नाटकों की रचना हुई होगी। ईस्वी पूर्व दूसरी या तीसरी सदी के पतंजलि ने महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बलिबंधन' नामक नाटकों और प्रयोगों का उल्लेख किया है।[3] यदि वे लुप्त प्राचीन नाट्यकृतियाँ मिल पातीं तो नाट्यशास्त्र के साथ उनकी तुलना करने से उसके समय निर्धारण में हमें सहायता प्राप्त होती।

---

१ नाट्यवेदं कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः । ना० शा० १।४ (गा० ओ० सी०)।
तथा—नाट्यवेदस्य संग्रह । भा० प्र०, पृ० २८५, २८६ ७।

२ षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदम् । अ० भा० भाग १, पृ० १।

३ ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति नटस्य शृणोति ग्रन्थिकस्य शृणोति । पदारम्भका रंगं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्यामो।
अ० अ० ३।१।२६, २८, २९ तथा १।४।२९ पर महाभाष्य।

वस्तुत नाट्यशास्त्र कालनिर्धारण की समस्या इसकी निचली और ऊपरली सीमाओं के निर्धारण से सम्बन्धित है। दूसरी सदी से चौदहवी सदी तक के विविध ललित साहित्य की कृतियों पर भरत एवं नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव होने के कारण निचली सीमा तो सामान्य रूप से निर्धारित हो जाती है। पर कठिनाई है ऊपरली सीमा के निर्धारण में। प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हम उसकी अति प्राचीनता का अनुमान कर सकते हैं पूर्ण निश्चय के साथ समय का निर्धारण अनेक जटिल सम्भावनाओं से व्याप्त है।

काल निर्धारण की पद्धति—नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण के लिए विभिन्न प्रकार की आन्तरिक और बाह्य सामग्रियों की समीक्षा अपेक्षित है। स्वयं नाट्यशास्त्र में अन्तःसाक्ष्य के लिए महत्वपूर्ण एवं प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। उसमें आर्यों के वैदिककालीन देवता नाना प्रकार की जातियों और जनपदों, विभिन्न भाषाओं सभ्यता, आचार व्यवहारों और काव्यशास्त्र के विवरण आदि भी हमारी समीक्षा की परिधि में आते हैं। इन अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त भरत एवं नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों तथा शिलालेखों में उल्लेख प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा भी काल निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है।

नाट्यशास्त्र का अन्तःसाक्ष्य

नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति पूर्वरंग एवं नाट्यावतरण के प्रसंग में[1] अनेक वैदिक एवं पौराणिक काल के देवताओं का स्मरण किया गया है। ब्रह्मा शिव इन्द्र विष्णु इन चार प्रधान देवताओं के अतिरिक्त सूर्य, वायु कुबेर सरस्वती और लक्ष्मी आदि देवी-देवता तथा प्रकृति के विराट तत्त्व अग्नि, सोम समुद्र, काल, रुद्र, मित्र, अश्विनी, महेश्वर, महाग्रामण्य, नागराज एवं वासुकि आदि की परिगणना हुई है। तदनन्तर एक लम्बी सूची में गन्धर्व, अप्सराएं नाट्यविघ्न नाट्यकुमारी यक्ष, गुह्यक, पिशाच, भूतगण दैत्यराक्षस आदि के प्रति भी पूज्यभाव व्यक्त किया गया है।

महाग्रामणी गणेश—इस सूची में 'महाग्रामणी' शब्द का उल्लेख नाट्यशास्त्र के रचना काल के सम्बन्ध में विरोधी विचार बिन्दुओं का सृजन करता है। यह शब्द सामान्य रूप से ग्राम देवता का वाचक है, पर इससे किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने इस शब्द को गणपति माना है[2], पर वैसा स्वीकार करने पर नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का समर्थन नहीं हो पाता। क्योंकि गणेश हिन्दुओं के देवता के रूप में परवर्ती काल के साहित्य में प्रसिद्ध हुए हैं। वराह वामन और ब्रह्मवैवर्त जैसे परवर्ती पुराणों में ही गणेश का उल्लेख देवता के रूप में मिलता है।[3] मनमोहन घोष आचार्य अभिनवगुप्त के तर्क से सहमत नहीं हैं।[4] तृतीय अध्याय में गणेश्वर शब्द का प्रयोग शिव के विभिन्न गणपतियों तथा स्वयं महेश्वर के लिए भी

१ नाट्यशास्त्र १ १, १७, १४ ५६ ६२ ३/८६।
२ महाग्राममणी गणपति। अ० भा० भाग १, पृ० ७२।
३ ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ ५६८—विन्टरनित्स।
४ ना० शा० घोष अनुवाद पृ० ६६ तथा That the worship of Ganesha as an affiliated son of Parvati was wholly unknown to the Hindus previous to the 6th century A D *B C Majumdar, J B R*, p 528

हुआ है न कि गणेश नामक देवता के अर्थ मे। महाग्रामणी शब्द का गणेशवाचक न होना इस तर्क का पोषक है कि नाटयशास्त्र की रचना उस पुरातन काल मे हुई होगी जब नृसिंह[1] को छोड विष्णु के अन्य प्रधान अवतारो की कल्पना भी न की गई होगी। सम्भवत उस समय तक हिन्दुओ के प्रसिद्ध देवता गणेश की वन्दना की परम्परा का आरम्भ भी न हुआ होगा।

प्राचीन जातियाँ और जनपद—नाटयशास्त्र मे विभिन्न जातियो एव वर्गों के लिए पृथक्-पृथक् शरीरवर्ण का विधान है। किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रमिल, काशी, कोशल पुलिंद और दाक्षिणात्य आदि के लिए असित वर्ण का विधान है। पर आन्ध्र और द्रमिल किरात एव बर्बरो के साथ भी परिगणित हैं।[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र के लेखक तमिल ही थे और इनका अनुमानित समय तीसरी सदी के आसपास है। आन्ध्र और द्रमिल का किरातो और बर्बर जातियो के साथ उल्लेख होने से यह कल्पना की जा सकती है कि नाटयशास्त्र की रचना उस समय हुई होगी जब आन्ध्र और द्रमिल (द्रविड) जनपदो का कुछ भाग अभी तक भी पूर्ण सभ्य नही हो पाया था। यह समय ईस्वीपूर्व मे ही हो सकता है।[3]

नाटयशास्त्र की प्राकृत और संस्कृत भाषा—नाटयशास्त्र मे दो प्रकार की भाषाओ के रूप प्राप्त है, प्राकृत और संस्कृत के। प्राकृतभाषा के विवेचन के क्रम मे उसके स्वर वर्ण तथा उच्चारण आदि का जैसा विश्लेषण किया है उससे भरतकालीन प्राकृतभाषा का रूप हमे प्राप्त हो जाता है और अन्यत्र प्रयुक्त भाषा के साथ तुलना के लिए उचित आधार भी।[4] प्राकृतभाषा का जो स्वरूप इन विभिन्न प्रसगो मे उपलब्ध है वह अश्वघोष के शासित प्रकरण मे प्रयुक्त प्राकृतभाषा की अपेक्षा उत्तरवर्ती एव विकसित मालूम पडती है।[5] नाटयशास्त्र की प्राकृतभाषा के साक्ष्य पर मनमोहन घोष ने प्रतिपादित किया है कि इसकी प्राकृतभाषा अश्वघोष और काव्यशैली काल की प्राकृतभाषा की मध्यवर्ती है। इस आधार पर नाटयशास्त्र का रचना काल चौथी सदी के पूर्व और पहली सदी के बाद हो जाता है। पर अश्वघोष ने शारिपुत्त प्रकरण मे जिस नाटयशिल्प का प्रयोग किया है वह नाटयशास्त्र के दशरूपक विवरण मे प्रकरण के लिए निर्धारित नियमो के सर्वथा अनुकूल है। अत प्राकृत भाषा के आधार पर पहली सदी के बाद, पर नाटयशिल्प के सन्दर्भ मे पहली सदी के पूर्व नाटयशास्त्र की रचना हुई जान पडती है। नाटयशास्त्र की कारिकाओ, आनुवश्य आर्याओ, नादी, भरतवाक्य एव छन्दविधान आदि के विविध प्रसगो मे संस्कृत भाषा के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इन प्रसगो मे प्रयुक्त संस्कृत भाषा पर्याप्त प्राचीन, सरल पर प्रवाहमय है। काव्यशैली काल की अलंकरण-पद्धति और चमत्कारप्रियता का यहाँ सर्वथा अभाव है। संस्कृत भाषा के सरल रूप को देखकर ही पी० रेनाउ महोदय ने नाटयशास्त्र का रचनाकाल ईस्वी सदी के प्रभातकाल मे निर्धारित किया है।

नाटयशास्त्र मे शैली की अनेकरूपता—नाटयशास्त्र मे शैली की अनेकरूपता है। इसमे श्लोकबद्ध कारिकाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इसमे सूत्र भाष्य, सूत्रानुविद्ध आर्यायें तथा आनुवश्य

१ या कृता नरसिंहेण विष्णुना प्रभविष्णुना। ना० शा० १२/१५४।

२ ना० शा० २१/१०२ (का० मा०) १७/४४ (का० स०)।

३ जॉली० हि दू ला एण्ड कस्टम, पृ० ६ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पी० वी० काणे, भाग १ पृ० ४५।

४ ना० शा० ३२।५८ ६०, ६२, ६४ ६६ आदि।

५ ना० शा० म० म० म०, मो० घोष, पृ० ६८। ५।१०८ ११२, १२६, १८वाँ अध्याय (का० मा०) ना० शा० के प्रामे संस्करण में पी० रेनाउ की भूमिका, पृ० ७८ (३७)।

आधार में भी संगृहीत हैं। अभिनवगुप्त तथा भवभूति ने नाट्यशास्त्र का भरत-सूत्र के रूप में भी उल्लेख किया है।[1] भरत से पूर्व भी पाणिनि के काल में नट सूत्र प्रचलित थे। ये सूत्र तथा नाट्यशास्त्र सूत्र रूप में, सूत्र रूप होने के कारण समानार्थक ही रहे हों, यह कोई आवश्यक नहीं है। सूत्र (यह शब्द) तो समास रूप में गद्य या पद्य की धारा हो अर्थों के लिए प्रयुक्त होता है यदि उसमें गूढ़ विचार तत्वों का सूत्र रूप में अंकन किया गया हो।[2] अतएव पी० वी० काणे महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र का मूलरूप गद्य पद्य विमिश्रित रहा होगा। उसमें गद्यात्मक सूत्र और छन्दोबद्ध कारिकायें भी रही हों।[3] परन्तु एस० के० दे महोदय ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न प्रतियों के अध्ययन के उपरान्त यह कल्पना की है कि नाट्यशास्त्र मूल रूप में 'सूत्र भाष्य' के रूप में रहा होगा और कालान्तर में छन्दोबद्ध कारिकायें भी उसमें आ मिली होंगी।[4] अतः नाट्यशास्त्र में कथा की आरम्भता का जो समन्वय हमें उपलब्ध है यह उसकी अतिप्राचीनता के ही कारण। जब नाट्यशास्त्र आचार्यों के मध्य मूल ग्रन्थ के रूप में समादृत था।

नाट्यशास्त्र में प्राचीन काव्यशास्त्र की रूपरेखा—नाट्यशास्त्र में अलंकार छन्द, गुण दोष एवं रस आदि के काव्यशास्त्रीय विवेचन की परस्पर तुलनात्मक समीक्षा करने पर समय निर्धारण के लिए हमें बहुत-कुछ महत्वपूर्ण सामग्री मिलती है।

अलंकार—वाचिक अभिनय के प्रसंग में नाट्यशास्त्र में उपमा रूपक दीपक और यमक[4] केवल इन चार अलंकारों का उल्लेख है। छठी सदी के आचार्य भामह ने स्वयं लगभग पैंतीस अलंकारों[5] और किसी अज्ञातनामा आचार्य के मतानुसार पाँच अलंकारों का उल्लेख किया है[7] जबकि काव्यालंकार सर्वस्वसंग्रह में इन पाँच अलंकारों के अतिरिक्त पुनरुक्तवदाभास छेकानुप्रास और प्रतिवस्तूपमा ये तीन अलंकार अधिक हैं।[8] विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में इन अलंकारों की संख्या सत्रह तक पहुंच जाती है।[9] अतः भरत और भामह-दंडी के मध्यवर्ती आचार्यों द्वारा अलंकारों का विकास निरंतर होता रहा होगा। कुल चार ही अलंकारों का उल्लेख नाट्य शास्त्र की अतिप्राचीनता का सूचक है।

छन्द—नाट्यशास्त्र में अलंकार की अपेक्षा छन्द का विवेचन पर्याप्त विस्तार के साथ हुआ है। सम, अर्द्धसम और विषम इन तीन भेदों के अनुसार पचास से अधिक छन्दों की विवेचना हुई है। छन्दशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ पिंगल में प्रतिपादित छन्दों की अपेक्षा नाट्यशास्त्र के छन्द

---

१ षट्त्रिंशत् भरतसूत्रमिदं अ० भा० भ० ग० १, पृ० १। तथा भरतस्य नौर्य त्रिकसूत्रधारस्य। उ० रा० च० अ० ४।

२ सूत्रत सूत्रणेन। एतेन सूत्रमपि कारिका।
तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनुपश्चात् पठिता।
श्लोकारूपा सा पिण्डारिका अ० भा० १, पृ० २६४।

३ History of Sanskrit Poetics, p 17 P V Kane

४ Sanskrit Poetics p 28, S K De

५ ना० शा० १६।४३ का भा०।

६ भामह—का यालंकार २ परिच्छेद।

७ अनुप्रास सयमको रूपक दीपकोपमे। इति वाचामलंकारा पञ्चैवान्यैरुदाहृता। भामह २।४।

८ काव्यालंकार सर्वस्वसंग्रह, १, १, २।

९ विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड, अध्याय १४, पृ० ३१ (गा० ओ० सी०)।

दशा एवं जातियों के नामों का प्रयोग हुआ है जिनका समानांतर उल्लेख प्राचीन भारतीय शिलालेखों में भी मिलता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रो० सिल्वान् लेवी ने इन शिलालेखों में प्रयुक्त बहुत-से शब्दों के आधार पर नाट्यशास्त्र के समय निर्धारण का प्रयास किया है। इस दृष्टि से शक क्षत्रप रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख बहुत महत्त्व का है। उसके अध्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा हमारे समक्ष कई महत्त्वपूर्ण तथ्य आते हैं।[1]

नाट्यशास्त्र और जूनागढ़ शिलालेख में प्रयुक्त कुछ समानांतर शब्द—

१ सम्बोधनवाचक शब्द स्वामी, सुगृहीत नामन और भद्रमुख।[2]

२ पारिभाषिक शब्द सौष्ठव, गान्धर्व और नियुद्ध।[3]

३ गौ और ब्राह्मण के प्रति पूज्य भाव की दोनों में समान रूप से वर्तमानता।[4]

उपर्युक्त शब्दों में से स्वामी और भद्रमुख आदि शब्द दोनों स्थलों पर राजा के सम्बोधन के रूप में व्यवहृत हैं। सौष्ठव गान्धर्व और नियुद्ध आदि शब्द भी दोनों प्रसंगों में समान अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं तथा गौ-ब्राह्मण के प्रति आदर भाव भी दोनों में समान रूप से वर्तमान है।

वशिष्ठ पुत्र पुलोमयी शिलालेख—इस शिलालेख में शक, यवन पह्लव आदि-आदि आक्रमणकारी जातियों का उल्लेख इसी क्रम में है जिस क्रम में इन जातियों का विवरण नाट्यशास्त्र में मिलता है।[5]

प्रो० सिल्वान लेवी की स्थापना—प्रो० सिल्वान् लेवी महोदय ने इन शिलालेखों में प्रयुक्त शब्दों के साम्य तथा शक आदि उत्तरकालीन जातियों के उल्लेख द्वारा यह प्रतिपादित किया है। नाट्यशास्त्र कुछ शब्दों के लिए इन शिलालेखों का ऋणी है। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी के बाद है।[6] पर क्या यह सम्भव नहीं है कि ये शब्द नाट्यशास्त्र में ही पहले प्रयुक्त हुए हों और शिलालेखों में ही वहीं से उद्धृत हुए हों। ऐसी स्थिति में नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी से पूर्व हो जाता है। पी० वी० काणे महोदय ने शिलालेखों की अपेक्षा नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का समर्थन किया है।[7]

---

१ क्षत्रप रुद्रदामन का शिलालेख १५० ई०।

२ वर्दिग्दाशेषमहाक्षत्रपस्य सुगृहीतनाम्नः स्वामिनः नस्य।
गिरिनार का रुद्रदामन शिलालेख (अभिलेखमाला, पृ० २)।
स्वामीति युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारक
सौम्य भद्रमुखेत्येव हे पूर्वं चाधमे वदेत्। ना० शा० १९।१२ (काशी सं०)।

३ शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां तुरगगजरथचर्यासिचर्मनियुद्धाद्या
परबललाघवसौष्ठवक्रियेण। रुद्रदामन का शिलालेख (अभिलेखमाला, पृष्ठ ३)
गान्धर्वं हि नारदश्च सम्यक् समनुवर्तति। ना० शा० ३६।७८ (का० सं०)।
युद्धे नियुद्धे च ११।७० (ग० ओ० सी०)।
सर्व सौष्ठवसंयुक्ते १२।४३ (वही)।

४ महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना वर्षसहस्राय गोब्राह्मणार्थं धर्मकीर्तिवृद्ध्यर्थं
—रुद्रदामन का शिलालेख, पृष्ठ ४
गोब्राह्मणानां नरेन्द्रस्मृति ... मुनिना समम्। ना० शा० ३६।७५ (का० सं०)।

५ शकाश्च यवनाश्चैव पह्लवा बाह्लिकाश्च ये। ना० शा० २१।१०१ (का० सं०)।

६ इंडियन एंटिक्वेरी, भाग ३३ पृष्ठ १०२।

७ That the inscriptions might have been drafted by persons thoroughly

समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भाभिलेख तथा ऐहोल शिलालेख—नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण की दृष्टि से उसमें प्रयुक्त नेपाल और महाराष्ट्र शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रयागस्तम्भाभिलेख में नेपाल शब्द[1] और ऐहोल शिलालेख में 'महाराष्ट्र'[2] शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रयागस्तम्भ का लेखनकाल चौथी सदी पूर्वार्द्ध है। 'महावंश' में महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग हुआ है, जो पाँचवीं सदी की प्रसिद्ध बौद्ध कृति है। ऐहोल शिलालेख का समय ६३४ ईस्वी है। इन सब प्रमाणों के आधार पर डा० सरकार महोदय ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी के बाद निर्धारित किया है।[3] पर पी० वी० काणे महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि किसी शिलालेख में यदि किसी देश विशेष का उल्लेख न हो तो उसके अस्तित्व में भी सन्देह होना उचित नहीं होता। यद्यपि महाराष्ट्री शब्द का उल्लेख दूसरी सदी के नानाघाट शिलालेख में है।[4] अतः इन प्रदेशों के उल्लेख परवर्ती शिलालेखों में होने के कारण नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी के उपरान्त स्थापित नहीं किया जा सकता। सेतुबन्ध में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस परिष्कृत रूप में प्रयोग हुआ है उससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग करने वाले मराठी जनपद इन शिलालेखों के रचनाकाल से सदियों पूर्व वर्तमान रहे होंगे।

आन्तरिक सामग्री का विश्लेषण और निष्कर्ष—पिछले पृष्ठों में हमने नाट्यशास्त्र की तुलना में जिन सामग्रियों की समीक्षा की है उनसे केवल नाट्यशास्त्र की अतिप्राचीनता का बोध होता है। शिलालेखों के साक्ष्य में दूसरी सदी के बाद की हम कल्पना कर सकते हैं। एक ओर रुद्रदामन शिलालेख में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्द उसकी पूर्ववर्तिता का समर्थन करते हैं तो दूसरी ओर पुलामयी शिलालेख में प्रयुक्त शकादि उत्तरवर्ती जातियों का समान रूप से नाट्यशास्त्र में उल्लेख उसकी परिवर्तिता का बोध कराते हैं। क्योंकि शक आक्रमणकारी बहुत बाद के हैं। उपरली सीमा के निर्धारण में ऐसी बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। पर भाषा, वर्ण, अलंकार, छन्द और कुछ प्राचीन जातियों के उल्लेख से बहुत स्पष्ट रूप से नाट्यशास्त्र की प्राचीनता प्रमाणित होती मालूम पड़ती है। यही कारण है कि एक ओर रामकृष्ण कवि जैसे नाट्यशास्त्र के विद्वान् ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी में नाट्यशास्त्र का समय निर्धारित करते हैं तो कीथ महोदय सन् ईस्वी की तीसरी सदी में। इस प्रकार नाट्यशास्त्र की उपरली सीमा ईस्वीपूर्व पाँचवीं सदी से तीसरी सदी के मध्य है।[5] परन्तु पी० वी० काणे, एस० के० दे और मनमोहन घोष प्रभृति ने ईस्वीपूर्व पहली सदी से दूसरी सदी के मध्य उनके समय की कल्पना की है।[6] निःसन्देह नाट्यशास्त्र भारत के

---

imbued with the dramatic terminology of Natyasastra *History of Sanskrit Poetics* P V Kane p 4

१ पौण्ड्र नेपालकारवैव। ना० शा० १३।४६ (गा० ओ० सी०)
कामरूप नेपाल कर्तृ पुरादित्य पर्यन्त प्रयागस्तम्भाभिलेख।

२ द्रमिडान्ध्रमहाराष्ट्रा। ना० शा० १३।४०। तथा
तथा अगमदधिपतित्व यो महाराष्ट्रकाणाम्। पुलकेशिन द्वितीय की ऐहोल प्रशस्ति श्लोक ४८।

३ जर्नल ऑफ आ० ए० च० आर० सोसाइटी, भाग १२, पृष्ठ १०८।

४ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ ४०।

५ भरतकोश, रामकृष्णकवि पृष्ठ ?, संस्कृत ड्रामा कीथ, पृष्ठ १३।

६ जे० ए० एम० बी० १९१३, पृष्ठ ३०७, हरप्रसाद शास्त्री।
तथा हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पी० वी० काणे, पृष्ठ ४१

अतीत काल की अत्यन्त प्रगल्भ एवं समृद्ध रचना है, जिसमें भारतीय जीवन की प्रकर्षमय गौरवशाली संस्कृति का पूर्ण रूप प्रतिभासित हुआ है। उसे छोटे काल की सन्धि की सीमा में बाँधकर नहीं देखा जा सकता। उसका यह विशाल रूप शती दो शती में परिवर्द्धित और विकसित हुआ होगा। अतः मौखिक रूप में तो उसका समारम्भ ईसापूर्व के उत्तरार्द्ध से बहुत पूर्व ही हुआ होगा, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

नाट्यशास्त्र का रचना काल और बाह्य साक्ष्य

नाट्यशास्त्र की आन्तरिक समालोचना के क्रम में हम उसके रचनाकाल की उपरली सीमा का अनुमान कर सकते हैं। किन्तु निश्चित तथ्यों पर पहुँचने में बड़ी कठिनाई होती है। परन्तु सौभाग्य से भास, अश्वघोष और कालिदास जैसे उच्च कोटि के प्राचीन नाटककारों की रचनाएँ प्राप्य हैं जिनके आधार पर नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की निचली सीमा को स्पष्ट रूप से अंकित कर सकते हैं। इन तीनों नाटककारों में अश्वघोष का समय तो सर्वथा निर्णीत है। पर भास और कालिदास का रचनाकाल अनुमान पर ही आधारित है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार अश्वघोष, भास और कालिदास का समय क्रमशः पहली, दूसरी या तीसरी एवं चौथी सदी है।[1] इस मान्यता को हम यदि स्वीकार कर लें तो नाट्यशास्त्र की निचली सीमा का निर्धारण करने में हमें सहायता मिलती है क्योंकि इनकी रचनाओं पर भरत के नाट्यशास्त्र का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा है। हम यहाँ पर इन तीन नाटककारों के ग्रन्थों पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव की समीक्षा क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

नाट्यशास्त्र, अश्वघोष और भास के नाटक—अश्वघोष बौद्ध कवि थे। मध्य एशिया में उनके प्रकरणों की भी उपलब्धि इस सदी में हुई। हम यह पिछले पृष्ठों में प्रतिपादित कर चुके हैं कि शारिपुत्र प्रकरण की प्राकृत भाषा नाट्यशास्त्र की प्राकृतभाषा की अपेक्षा प्राचीन है।[2] पर शारिपुत्र प्रकरण पर नाट्यशास्त्र में निरूपित प्रकरण नामक रूपक भेद का बहुत स्पष्ट प्रभाव है। अतः अश्वघोष का यह प्रकरण नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित प्रकरण की शिल्पविधि से अप्रभावित नहीं है।[3]

भास ने तेरह रूपकों की रचना की है। नाटककार ने उन रूपकों में यत्र-तत्र नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नियमों की अवहेलना की है। भास के नाटकों का आरम्भ सूत्रधार द्वारा होता है।[4] नाट्यशास्त्र के अनुसार तो सूत्रधार पूर्व रंग प्रस्तुत कर रंगमंच से निकल जाता है तब उसकी आकृति और गुण में समान स्थापक ही कवि नाम कीर्तन तथा काव्य की प्रस्थापना करता है।[5] परन्तु भरत प्रणीत इस नियम का अनुसरण कालिदास या भवभूति आदि ने भी नहीं किया है। अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी तथा मालविकाग्निमित्र में सूत्रधार ही काव्य प्रस्थापना एवं

---

१ संस्कृत ड्रामा—कीथ, पृष्ठ ६३।
२ संस्कृत ड्रामा—कीथ, पृ० ६३।
३ There is close co incidence between its technique and that of Natya sastra P V Kane *History of Sanskrit Poetics*, p 21
४ भास के नाटकों की स्थापना द्रष्टव्य।
५ ना० शा० ५।१६२–५।१६५ (गा० ओ० सी०)।

कवि नाम-कीर्तन भी करता है।[1] अभिनवगुप्त ने इसी स्वीकृत परंपरा को दृष्टि में रखकर सूत्रधार और स्थापक को दो भिन्न व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार ही नहीं किया है।[2] भास की विलक्षणता यह अवश्य है कि वे प्रस्तावना का प्रयोग करते ही नहीं। भास ने भरत निषिद्ध रक्तपात, हत्या, मरण और युद्ध आदि अनेक दृश्यों की परिकल्पना उन रूपकों में की है।[3] इसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि भरत के नाट्यशास्त्र का वह प्रभाव अभी तक नहीं छाया हो जिसके नियमों की अवहेलना नहीं की जा सके। भास ने मौलिकता और नूतनता के कारण भी ऐसा किया हो।[4] परन्तु इन अवहेलनाओं की अपेक्षा नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों का भास के रूपकों में उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह भास की रचनाओं पर नाट्यशास्त्र के प्रत्यक्ष प्रभाव का संकेत करता है। स्थापना, सूत्रधार, प्रेक्षक, चारी, गति, भद्रमुख, हाव, भाव मारिष, नाटकस्त्री और नाटकीया आदि शब्द भास की नाट्यकृतियों में प्रयुक्त हैं और नाट्यशास्त्र में इनकी विधिवत् मीमांसा भी हुई है।[5] 'चारुदत्त' नाटक में वसन्तसेना के पलायन काल में उसकी गति की भावभंगिमा का वर्णन नाट्यशास्त्र में वर्णित नृत्य की भावभंगिमाओं के नितान्त अनुरूप है।[6] पुनश्च रदनिका के स्वर को दृष्टि में रखकर विट द्वारा नाटकस्त्रियों द्वारा स्वर परिवर्तन का जो उल्लेख किया गया है वह नितान्त भरतानुसारी है।[7]

नाट्यशास्त्र और भास के नाटकों में प्राप्त इन समताओं के अतिरिक्त 'दशरूपक विवरण एवं संध्यंगों के अन्तर्गत प्रस्तुत विविध नाट्यशिल्प का भी प्रभाव भास पर बहुत स्पष्ट है। इस तथ्य को तो भारतीय वाङ्मय के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् कीथ महोदय ने भी स्वीकार किया है कि कालिदास काल की अपेक्षा भास काल में नाट्यशास्त्र का प्रभाव किंचित् मंद भले ही रहा हो परन्तु नाट्यशास्त्र वर्तमान अवश्य था। अतः भास पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव की संभावना के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय दूसरी सदी से पूर्व अवश्य होता है।[8]

कालिदास के नाटक और नाट्यशास्त्र—कालिदास ने भरत द्वारा विहित नाट्य प्रयोग

---

१ कालिदास और भवभूति के नाटकों की स्थापना द्रष्टव्य।

२ अ० भा० भाग १, पृ० २४८।

३ ऊरुभंग, १।५६, बालचरित ५।११ अभिषेक नाटक अंक १।
तथा युद्धं वधश्चैव मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि॥ ना० शा० १८।२१ (का० मा०)।

४ ना० शा० अ० अ०, पृ० ७४-७५ (म० मो० घोष)।

५ (क) स्थापना, सूत्रधार का प्रयोग सब नाटकों में,
(ख) चारीं गतिं प्रचरति। ऊरुभंग—१।१६।
(ग) चारुदत्त अंक १ में मारिष भाव, नाटकस्त्री आदि शब्द के प्रयोग द्रष्टव्य।
तथा ना० शा० के १८-२७ एवं अन्य अध्यायों में इन पारिभाषिक शब्दों का विवेचन।

६ नृत्योपदेशविशदौ चरणौ क्षिपन्ति। चारुदत्त अंक—१।१६।
तथा ना० शा० ५ एवं १२ अध्याय (गा० ओ० सी०)।

७ एषा रंगप्रवेशेन कलानां चैव शिक्षया।
स्वरान्तरेण दक्षा हि याहृतुं तं तमुच्यताम्। चारुदत्त अंक—१।२४।
तथा—उच्च दीप्ता द्रुता चैव काकु: कार्या प्रयोक्तृभिः। ना० शा० १७।११६, १२६ (गा० ओ० सी०)।

८ संस्कृत ड्रामा, ए० बी० कीथ पृ० ९६२।

एवं नाटय की 'अष्टरसाश्रयता' का स्पष्ट उल्लेख 'विक्रमोर्वशीय' में किया है।[1] 'मालविकाग्निमित्र' नामक कालिदास का नाटक नाटयशास्त्र के प्रभाव परीक्षण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हरदत्त और गणदास नामक आचार्यों के बीच वर्णित नाट्य प्रयोग की प्रतिस्पर्द्धा के सन्दर्भ में आंगिक और वाचिक आदि अभिनय, सिद्धि, रस, प्राश्निक एवं अन्य अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया गया है जिनका विधान भरत ने नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रसंगों में किया है।[2] रघुवंश में वर्णित नाटिका[3] आंगिक, सात्त्विक और वाचिक अभिनयों तथा कुमारसम्भव में सप्तस्वर एवं ललित अंगहारों के उल्लेख द्वारा कालिदास की कृतियों पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव की बात सर्वथा सिद्ध हो जाती है।[4]

नामों के निर्देश—नाटयशास्त्र में नाट्यप्रयोग के क्रम में प्रयुक्त विभिन्न पात्रों के लिए प्रतीक नामों का विधान है। नृप पत्नी के लिए विजया, युवराज के लिए स्वामी, प्रेष्याओं के लिए पुष्पवारक और परिचारकों के लिए मंगलार्थक शब्दों के प्रयोग का विधान है।[5] परन्तु भरत के इन नियमों की अवहेलना कालिदास एवं अन्य परवर्ती नाटककारों ने भी की है। भावप्रकाश में नृप पत्नी का नाम इरावती और धारिणी, अभिज्ञानशाकुन्तल में वसुमती और हंसपदिका है। बकुलावलिका और कुमुदिका को छोड़ कालिदास के नाटकों में प्रेष्याओं के नाम फूलों पर नहीं है। स्वामी शब्द का प्रयोग कालिदास ने नाट्यशास्त्र के विधान के विपरीत युवराज के लिए न कर सम्राट् दुष्यन्त के लिए किया है। परन्तु शास्त्रीय नियमों की ऐसी उपेक्षा परम्परा से होती आ रही है। उसके आधार पर कालिदास की रचनाओं की अपेक्षा नाटयशास्त्र की परवर्तिता स्थापित नहीं हो सकती। वस्तुतः कालिदास-काल तक तो भरत का नाटयशास्त्र नाटय एवं अन्य ललितकलाओं के क्षेत्र में महान् प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में समादृत हो चुका था। नाटयशास्त्र में निर्धारित नियमों की सर्वथा उपेक्षा सम्भव नहीं थी। कालिदास से तीन सौ वर्ष पूर्व यदि नाट्यशास्त्र की निचली सीमा निर्धारित की जाय तो यह सीमा ईस्वी सदी के प्रभातकाल के आसपास ही होती है। रैप्सन महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि नाटयशास्त्र का रचनाकाल तीसरी सदी के बाद कदापि कल्पित नहीं किया जा सकता।[6]

स्मृति-पुराण का साक्ष्य—नाटयशास्त्र के रचनाकाल की निचली सीमा निर्धारण की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति, अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण भी विशेष रूप से उपादेय हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति में भरत शब्द का उल्लेख है और उसकी परिभाषा पर नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित

---

१ वि० उ० अ० २।१७।

२ मालविकाग्निमित्र अंक १, २।

३ प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः। रघुवंश १९।२१।
तथा अंगसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्। तथा ना० शा० ११।१०९-११०
रघुवंश १९।३६।

४ तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम्। कुमारसम्भवम् ७।९१। तथा ना० शा०
४।१७-३३।

५ ना० शा० १७।६५, १७।७४ (का० मा०)।
तथा अ० शा० अंक २ तथा अन्य नाटकों में प्रयुक्त नाम।

६ Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol 9 page 43

आहार्याभिनय विधि का बहुत स्पष्ट प्रभाव मालूम पडता है।[१] याज्ञवल्क्य म सामवेद क गीता के महत्त्व के प्रतिपादन के प्रसग म वदिकेतर सात प्रकार के गीता के गायको के भी मोक्षगामी होने का उल्लेख है।[२] इन गीता की व्याख्या के प्रसग म मिताक्षरा और अपराक न भरत का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य म अनवसर ही उल्लिखित इन सात प्रकार क गीता का विवचन नाटयशास्त्र म भी मिलता है। दोना ग्रथा म उल्लिखित इन गीता क नामो म थोडा सा अतर है—नाटयशास्त्र मे उल्लिखित सात प्रकार के गीत निम्नलिखित हैं —

मद्रक, अपरान्तक प्रकरी, रोविदक, ओणेवक, उल्लोप्यक और उत्तर।[३] याज्ञवल्क्य स्मृति म उल्लिखित सात प्रकार के गीत हैं—अपरान्तक, उल्लोप्यक, मद्रक, प्रकरी, ओणेवक सरोबिन्दु तथा उत्तर।

मिताक्षरा और अपराक के आधार पर पी० वी० काणे महोदय के मतानुसार याज्ञवल्क्य म उल्लिखित इन गीत-सम्बन्धी पद्या का स्रोत नाटयशास्त्र ही है। यदि याज्ञवल्क्यस्मृति का समय दूसरी सदी हो तो नाटयशास्त्र की रचना का समय पहली या दूसरी सदी के पूर्व ही होगा।[४]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—विष्णुधर्मोत्तरपुराण साहित्य और कलाओ का विशाल कोष है। नाट्यशास्त्र मे वर्णित विभिन्न विषया का इस पर स्पष्ट प्रभाव है। आगिक अभिनय के विविध प्रकार आहार्य एव सामान्याभिनय रस एव भाव आदि अनेक नाटयोपयोगी विषया का वर्णन है। दोना ग्रथा म प्रतिपादित विषया की तुलना करने स यह स्पष्ट हो जाता है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण उत्तरकालीन रचना है। नाटयशास्त्र म अलकार पाच हैं पर विष्णुधर्मोत्तरपुराण म सत्रह।[५] इसका अर्थ यह है कि नाटयशास्त्र और छठी सदी म भामह के काव्यालकार की मध्यवर्ती रचना है नाटयशास्त्र से प्रभावित भी। रूपको की सख्या नाटयशास्त्र म दस है पर विष्णुधर्मोत्तरपुराण म बारह। रसो की सख्या नाटयशास्त्र म आठ है (कुछ आचार्यो की पाठ परपरा के अनुसार) पर इस पुराण म नौ है।[७] नाटयशास्त्र म वर्णित विषया के साम्य तथा उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि स ऐसा लगता है कि इस पुराण का तृतीय खण्ड नाट्यशास्त्र का अनुवर्ती है। पी० वी० काणे महोदय के अनुसार[८] इसका रचनाकाल छठी सदी का उत्तरार्द्ध तथा डॉ० प्रियबाला शाह के अनुसार[९] चौथी सदी म हो सकता है और नाटयशास्त्र का समय इसस पूर्व निश्चित रूप से है। चौथी स पूर्व ही नाटयशास्त्र कला और साहित्यसर्जन क क्षेत्र म ऐसा सम्मान प्राप्त कर चुका था, पुराणरचयिता अपनी रचनाओ को अधिकाधिक समृद्ध और उपयोगी बना रहे थे।

---

१ यथाहि भरतो वर्णै वणयत्यामनस्तनुम्। याज्ञवल्क्य ३, १६२।
२ याज्ञवल्क्य ३, ११३।
३ ना० शा० ३१।४१६, २६० ३ ३,३०६ का० स०।
४ History of Sanskrit Poetics p 46
५ ना० शा० १६/४३। का० मा०, का० अ० २/४, का यालकार सार सग्रह १, १, २। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, पृ० ३१ ३२ (गा० ओ० सी०)।
६ ना० शा० १८/१। (का० मा०) वि० ध० प्र० १७/६० (गा० ओ० सी०)।
७ ना० शा० ६/१६। वि० ध० पु० १७/६१।
८ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स पृ० ६६ पी० वी० काणे।
९ विष्णुधर्मोत्तरपुराण भूमिका पृ० २६। प्रियबाला शाह (ओ० ओ० सी०)।

अग्निपुराण—अग्निपुराण में पुराणेतर विषयों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। इसमें नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र का उत्तम वर्णन प्राचीन शैली में उपलब्ध है। नाट्यशास्त्र एवं अग्निपुराण के वर्ण्यविषयों की समानता देखकर काव्यप्रकाशकार के सम्पादक महेश्वर ने यह प्रतिपादित किया कि नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्रीय विषयों के उपस्थापन के लिए अग्निपुराण का ऋणी है।[1] इसी विचारधारा में डि सानु जी ने भी यह प्रतिपादित किया है। नाट्यशास्त्र को अग्निपुराण से ही ली गई हैं।[2] पर यह नितान्त भ्रम जान पड़ता है। वृत्तियों के विवेचन के क्रम में अग्निपुराणकार ने उनके सम्बन्ध की कल्पना भरतमुनि से की है।[3] यदि अग्निपुराण ही आकर ग्रंथ होता तो परवर्ती काव्यशास्त्रकार अग्निपुराण के प्रति ही अपना आभार प्रकट करते। पर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को छोड़ सभी ने भरत के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है। पी० वी० काणे महोदय तो इस ग्रंथ को न केवल नाट्यशास्त्र का ही अपितु भामह, दण्डी और भोज का भी परवर्ती मानते है।[4] अतः इससे नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण में सहायता नहीं मिलती। पर उस पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है।

काव्य ग्रन्थों का साक्ष्य—काव्य ग्रन्थों के विश्लेषण से भी नाट्यशास्त्र पर्याप्त प्राचीन ग्रंथ सिद्ध होता है और इसके रचना-काल की हम कल्पना कर सकते हैं।

(अ) हाल की सप्तशती की रचना दूसरी से चौथी शती के मध्य हुई होगी। प्रस्तुत मुक्तक काव्य में कवि ने एक पद्य में प्रेम रूपी नाट्य-व्यापार में आलिंगन की तुलना नाट्य के पूर्वरंग से की है।[5] पूर्वरंग का विवेचन नाट्यशास्त्र के एक स्वतंत्र अध्याय में किया गया है। सम्भव है हाल ने नाट्यशास्त्र से ही अपनी कल्पना परिपुष्ट की हो।

(आ) आठवीं सदी में रचित कुट्टनीमत में नाट्यशास्त्र के एक से ३६ अध्यायों में प्रतिपादित विभिन्न नाट्य विषयों का उल्लेख है। प्रावेशिकी और नैष्क्रामिकी ध्रुवा[7], खण्डिता, कलहान्तरिता, सात्त्विक भाव, नहुष के अनुरोध से पृथ्वी पर भरतपुत्रों द्वारा नाट्य प्रयोग आदि सम्बद्ध विषयों का उल्लेख किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि आठवीं सदी का यह ग्रंथ नाट्यशास्त्र के वर्तमान स्वरूप से सर्वथा परिचित था।

(इ) बाणभट्ट की कादम्बरी और हर्षचरित में ऐसे उल्लेख हैं जिनसे नाट्यशास्त्र तथा भरत से उनका परिचय प्रकट होता है। कादम्बरी में भरत रचित नृत्तशास्त्र का उल्लेख है। इस कथा ग्रंथ का प्रधान पुरुष चन्द्रापीड इस शास्त्र में दक्ष था।[8] हर्षचरित में भरत सम्मत गीत

---

१ अग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकार शास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनि प्रणीतवान्। म० दभ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३।

२ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३१। पादटिप्पणी संख्या २, एस० के० डे।

३ भरतेन प्रणीतत्वाद भारती वृत्तिरुच्यते। अ० पु० ३३९ ६।
तथा ना० शा० २०/२५। (का० मा०)।

४ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ५।

५ हाल की सप्तशती ४४४।

६ प्रावेशिकी अवसाने दिपन्ती गइयातरे-विशत् मुखी। कुट्टनीमत ८८१।

७ नैष्क्रामिकया ध्रुवया विनिर्ययौ नायकोऽपि सह—कुट्टनीमत ६२८, ६४१, ६४६, ६८७ आदि।

८ । नादि प्रणीतपुनश्च (त्य) शास्त्रेषु। कादम्बरी, पृ० १५०।

विद्या, आरभटी वत्ति तथा रेचक का उल्लेख किया गया है।[1] वाणभट्ट का समय सातवी सदी निधारित है। अत नाटयशास्त्र के प्रधान प्रतिपाद्य विषयो से वाणभट्ट सातवी सदी म पूर्णतया परिचित थे।

अन्य शास्त्रीय ग्र थ—इन मूल काव्य एव नाट्यग्रन्थो के अतिरिक्त काव्यशास्त्र एव नाटयशास्त्र के प्राय बहुत म उपलब्ध ग्रथो म भरत अथवा नाटयशास्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है। अत भामह और दडी द्वारा भरत निरूपित अलकारो का उत्तरोत्तर विकास तथा वत्ति आदि का तदनुरूप विवेचन इन आचार्यों पर भरत के स्पष्ट प्रभाव का सूचक है। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धनाचाय आठवी सदी के महान् गभीर आलोचक थे। इन्होने नाटयशास्त्र म प्रतिपादित प्रख्यात वस्तु, उदात्तनायक, पाच सन्धिया कशिकी आदि वत्तिया काव्यरचना का उद्देश्य तथा रस निष्पत्ति आदि अनेकानेक विषयो का उल्लेख ध्वन्यालोक म किया है। इन प्रसगो म सवत्र भरतमुनि का उल्लेख भी है। अत यह तो स्पष्ट ही है कि व नाटयशास्त्र से परिचित थे।[2] मम्मट के 'काव्य प्रकाश म तो भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र को ही उद्धत किया गया है। अभिनव गुप्त के आधार पर भट्टलोल्लट आदि प्राचीन आचार्यों के मतो की समीक्षा भी प्रस्तुत की है। ये सब आचाय आठवी सदी से ग्यारहवी सदी के मध्य क थे, और इन्होने भरत के नाटयशास्त्र पर स्वतत्र टीकायें की या अपने स्वतत्र ग्रन्थो म भरत क मतो की समीक्षा प्रस्तुत की।

नाटयशास्त्रीय ग्र थ—नाटयशास्त्रीय दशरूपक, भावप्रकाशन, सगीत रत्नाकर काव्यानुशासन, रसाणव सुधाकर नाटक लक्षण, रत्नकोष और नाटयदपण आदि ग्रन्थो म सवत्र भरत का स्पष्ट प्रभाव ही नही अपितु इन आचार्यो न भरत के नाटय सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तो का पुन कथन किया है।[3]

निष्कर्ष

नाटयशास्त्र के रचना काल के सम्बन्ध म नाटयशास्त्र, प्राप्त प्राचीन अभिलेख, काव्य एव नाटयग्रन्थ, स्मति पुराण और काव्यशास्त्र आदि म प्राप्त एतत् सम्बन्धी सामग्री की समीक्षा करत हुए हम निम्नलिखित निष्कप प्राप्त होते हैं।

नाटयशास्त्र के रचना-काल की निचली सीमा—नाटयशास्त्र के रचना काल की निचली सीमा प्राय निर्धारित हो जाती है। कालिदास का समय यदि चौथी सदी हो तो नाटयशास्त्र के रचनाकाल की सीमा कम स कम इसस दो एक सदी और भी पूव चली जाती है, क्योकि चौथी सदी म रचित कालिदास के काव्य एव नाट्य ग्रन्थो म भरत एव उनक नाटयशास्त्र म प्रतिपादित विषयो का स्पष्ट उल्लख किया गया है। कालिदास के उपरान्त भामह और दडी की काव्यशास्त्रीय कृतियाँ भरत की प्रभाव छाया प अछूती नहीं हैं। आठवी से ग्यारहवी सदी तक

१ वशानुगम विवादि स्फुटकरण भरतमार्गभजनगुरु श्रीकठविनियातं गीतमिद राज्यमिव। हर्षचरित ३।४।

२ अतएव च भरते प्रबध प्रख्यात वस्तु विषयत्व प्रख्यातोदात्तनायकत्व च नाटकस्यावश्यकर्तं यतोप य स्तम्। ध्व० आ०, पृ० २६० २६२, २६८, २६४ तथा ना० शा० १८/१० १२ (का० मा०)।

३ द० रू० १४ (मुनिरपि भरत) भा० प्र०, पृ० २८, २८७।
(भरतादिभि आचार्यों प्रणीतेनैवमार्गेना)
इति तेन नियुक्तस्तु भरत सहमुनुभि र० मु० १।४८ भरताचार्यो ह्येवविध नाट्य प्रतनौति ना० ल० को० १, पृ० ११६ प०, भरतमुनिनोपदर्शितानि, काव्यानुशासन, पृ० ४३३।

तो भरत के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यसिद्धान्तों का इतना व्यापक प्रभाव हो जाता है कि भट्टलोल्लट, उद्भट, शंकुक, भट्टनायक, भट्टतौत और अभिनवगुप्त जैसे महान् आचार्यों ने नाट्य-शास्त्र पर भाष्य की रचना की। भाव, रस, आंगिकादि अभिनय, रंगमंच विधान, पञ्चसन्धि तथा संगीत अलंकार आदि नाट्यशास्त्रीय विषय कालिदास के काल में सम्भवतः नाट्यशास्त्र के अंग बन चुके थे। अतः कालिदास के काल में नाट्यशास्त्र के प्रधान अंगों की रचना हो चुकी थी। परन्तु कालिदास ने इन विषयों का जिस रूप में उल्लेख किया है, भरतानुमोदित शैली पर भाव प्रकाशन में दुष्प्रयोज्य छलिक का प्रयोग किया है[1] तथा प्रथम एवं द्वितीय अंक की सारी कथा वस्तु को 'प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र'[2] में प्रतिपादित नाट्य नियमों के आधार पर प्रयोगात्मक में प्रस्तुत रूप है। इसके आधार पर हम यह प्रतिपादित कर सकते हैं कि कालिदास के पूर्व नाट्य-शास्त्र वर्तमान था। कितनी शताब्दियों पूर्व से नाट्यशास्त्र का यह स्वरूप भारतीय साहित्य भण्डार को प्रकाशित कर रहा था, यह कल्पना और अनुमान का विषय है। इसी सम्बन्ध में हमारी दृष्टि नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की ऊपरी सीमा की ओर जाती है जिस प्रसंग-परिधि में भास और अश्वघोष जैसे प्राचीन कवि और नाटककार भी आते हैं।[3]

नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की ऊपरली सीमा—नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की ऊपरली सीमा अनिर्धारित है। नाट्यशास्त्र में प्राप्त सूत्र, सूत्रभाष्य शैलियों के स्वरूप की मीमांसा करते हुए पतञ्जलि काल की ओर हमारी दृष्टि जाती है। गद्यात्मक सूत्र एवं छन्दोबद्ध कारिकाओं का प्रयोग नाट्यशास्त्र की अतिप्राचीनता का स्पष्ट संकेत करता है। सम्भव है सूत्र काल में रचित सूत्र रूप इस नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद का सम्मान प्राप्त हुआ हो। स्वयं सूत्र शब्द का प्रयोग भी पवित्र धार्मिक चरणों के लिए प्रयुक्त होता था। अतः नाट्यशास्त्र मूल रूप में सूत्र या कारिका के रूप में रहा हो तो प्रथम सदी के अश्वघोष-काल से भी पर्याप्त प्राचीन रचना होने का अनुमान किया जा सकता है।[4] यह तो हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि शिल्पविधि की दृष्टि से नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित प्रकरण की शैली में शारिपुत्र प्रकरण की रचना हुई है। इसी प्राचीनता तथा परवर्ती नाट्यप्रथा पर स्पष्ट प्रभाव को दृष्टि में रखकर ही रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र की उपरली सीमा ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी में निर्धारित की।[5] अष्टाध्यायी सूत्र शैली में लिखित रचना है और उसका रचनाकाल ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी के आसपास है। यदि नाट्य सूत्रों में कारिकायें और आर्यायें भी शनैः शनैः मिलती गईं तो यह अनुमान करना उचित नहीं होगा कि नाट्यशास्त्र के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अंशों की रचना ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी के बाद और

---

१ चतुष्पादोऽथ छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरति। मा० अ० अ० १।

२ प्रयोगप्रधानम् हि नाट्यशास्त्रम्। मा० अ० अ० १।

३ संस्कृत ड्रामा कीथ, पृ० २६२।
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स—पृ० ४३ पी० वी० काणे।

४ But if the tendency towards Sutra Bhasya style may be presumed to have been generally prevalent in the last few centuries B C, then the presumed Sutra text of Bharata belongs apparently to this period
—*Sanskrit Poetics* S K De p 31

५ Bharata Kosha, p 2, रामकृष्ण कवि।

प्रथम सदी के मध्य हुई होगी क्योंकि प्रथम सदी के अश्वघोष की रचना पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव है ही।[1]

अत दोनो निष्कर्षों को दृष्टि म रखने पर एसा अनुमान किया जा सकता है कि तीसरी सदी से पूर्व ही भरत के नाम से एक नाट्यशास्त्र निश्चित रूप म लोकविश्रुत हो चुका था। इस नाट्यशास्त्र म भाव, रस, अभिनय, प्रेक्षागृह नाट्यप्रयोग और ललित अगहार आदि नाट्यकला सम्बन्धी विषयो पर विस्तार से विचार किया गया था। यह नाट्यशास्त्र अश्वघोष और भास पर अपनी प्रभाव रश्मियाँ विकीर्ण कर चुका था। कालिदास की चौथी सदी से ग्यारहवी सदी तक का कोई भी उल्लेख्य योग्य नाटककार या काव्यशास्त्र रचयिता इस प्रभाव के आलोक म ही साहित्य का सृजन कर सका।

1 M M Ghosh Journal of Department of Letters, Calcutta University जिल्द स० २५, पृ० १ १४ तथा ना० शा० अ० अनुवाद भूमिका भाग, पृ० ६१ ६४। *History of Sankrit Poetics*, p 43

४

नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य शैली, स्वरूप और विकास की अवस्थायें

नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों की व्यापकता—प्रतिपाद्य विषयों की व्यापकता शैली और स्वरूप की विविधता तथा विकास की विभिन्न अवस्थाओं की दृष्टि से नाट्यशास्त्र एक विलक्षण ग्रन्थ है। सुकुमार कलाओं के इस महाकोष ने लगभग गत दो हजार वर्षों से भारतीय नाट्य नृत्य और संगीत की उदात्त चेतना को आलोकित और अनुप्राणित किया है। अतएव पर वर्ती आचार्यों एवं शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद[1] और नाट्यप्रणेता भरत को मुनि[2] के रूप में स्मरण किया है। नाट्यशास्त्र के कुल छत्तीस अध्यायों में लगभग छः हजार श्लोक हैं, जिनमें मुख्यतः नाट्यसिद्धान्तों और प्रयोगों तथा नृत्य संगीत एवं वाद्यशास्त्र आदि का विधिवत् विवेचन किया गया है।

नाट्योत्पत्ति, नाट्यमण्डप, रंगपूजा, पूर्वरंग और अंगहार—नाट्यशास्त्र के आरम्भिक पाँच अध्यायों में भरत ने उपयुक्त पाँच विषयों की विवेचना शास्त्रीय पद्धति पर की है। उन्होंने नाट्योत्पत्ति का परम्परागत एवं शास्त्र सम्मत सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि चारों वेदों से एक एक अंग लेकर नाट्य का सर्जन ब्रह्मा ने किया। तदनन्तर अपने शतपुत्रों के सहयोग से नाट्य का प्रयोग भी प्रस्तुत किया।[3] द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप की रचनाविधि का विस्तृत विधान है। यह प्राचीन भारतीय रंगमंच की उन्नतिशालिता का सूचक है। तीसरे अध्याय में रंगपूजा के अनुष्ठान का वर्णन धार्मिक परम्पराओं का प्रतीक है। चतुर्थ में तण्डु के द्वारा करण एवं अंगहार का शास्त्रीय पद्धति पर विवेचन है। ये करण चिदम्बरम के नटराज मन्दिर में उसी रूप में टंकित हैं। पंचम अध्याय नाट्यप्रयोग के शुभारम्भ का एक महत्त्वपूर्ण मांगलिक अनुष्ठान है। पी० वी० काणे महोदय के मतानुसार नाट्यशास्त्र के ये आरम्भिक अंश नाट्यशास्त्र के नितान्त मौलिक अंश नहीं

---

१ नाट्यं वेदश्च भरता। भावप्रकाशन १०।३४।
२ मुनिना भरतेन—विक्रमोर्वशी अङ्क २।१७।
३ ना० शा० १।१६ २८ ११६ (गा० ओ० सी०)।

आभरणवत् माल्यवत् शिल्पी, चित्रकार और रजक आदि अनगिनत प्रयोक्ता इस श्रेणी के हैं। रंगमंच पर नाट्य प्रयोग के लिए न जाने कितनी सामग्री, ज्ञानशक्ति और प्रतिभा की आवश्यकता होती है। भरत ने उन प्रयोक्ताओं और उनके द्वारा प्रयोज्य वस्तुओं का आकलन कर अपनी विलक्षण प्रयोगात्मक दृष्टि का परिचय दिया है।

नाट्यसिद्धान्त—नाट्यसिद्धान्त की दृष्टि से नाट्यशास्त्र के १८ १९ अध्याय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं दो अध्यायों में शास्त्रकार ने दस रूपकों, नाट्य का शरीर रूप इतिवृत्त इतिवृत्त की पाँच संधियों, चौंसठ सन्ध्यंगों एवं सन्ध्यंगों का तत्-सम्बन्धी विभाजन और वर्गीकरण किया है। परवर्ती नाट्यशास्त्रकारों ने मुख्य रूप से नाट्य के इस सिद्धान्त पक्ष को परिवर्द्धित और विकसित किया तथा रूपकों के क्षेत्र में अन्य उपरूपकों तथा नायक नायिका भेद की भी परिकल्पना की। नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित ये नाट्य सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्त्व के हैं।

नाट्यसिद्धि—छत्तीस अध्यायों में नाट्य प्रयोग तथा नाट्य सिद्धान्त का उपबृंहण किया गया है। परन्तु नाट्य प्रयोग की सफलता के निर्धारण के लिए नाट्यशास्त्र में कुछ निश्चित मानदण्डों को स्थापित किया गया है। किन कारणों से प्रयोग सिद्ध होता है और किन कारणों से दोषयुक्त, इनका विधिवत् विवरण सत्ताइसवें अध्याय में दिया गया है। इस अध्याय का इस दृष्टि से बहुत महत्त्व है कि नाट्यशास्त्र की रचना से पूर्व ही भारतीय नाट्य-कला इतनी उत्कर्षशाली हो चुकी थी कि नाट्य प्रयोग की सफलता के निर्धारण के लिए रंग प्राश्निक आदि रंग सभा में नियुक्त होते थे और उत्तमता अथवा मध्यमता आदि के लेखा जोखा के लिए लेखक भी होते थे।[१]

संगीत और वाद्य—नाट्यशास्त्र में संगीत और वाद्य का २८ से ३४ अध्यायों में विस्तृत विवरण दिया गया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की तन्त्री अवनद्ध, ताल तथा सुषिर (वंशी) आदि वाद्य सप्तस्वर स्वरों का रसों में अनुयोग, आरोही अवरोही, स्थायी और संचारी चार प्रकार के वर्ण, तान और लय, रंगमंच पर प्रवेश तथा उसमें निष्क्रमण आदि के लिए ध्रुवागान आदि का विस्तृत विधान तथा विनियोग है। इन अध्यायों में संगीत की स्वर प्रक्रिया, उनका रसानुरूप विधान तथा विभिन्न वाद्य-यन्त्रों का तदनुरूप प्रयोग आदि का जितना विस्तृत विधान है वह नाट्यशास्त्र में एक स्वतन्त्र विषय ही बन गया है। इसीलिए काव्यमाला संस्करण के अन्त में 'नन्दि भरत संगीत पुस्तक' के रूप में इसका उल्लेख किया गया है।[२]

नाट्यावतरण—अन्तिम ३६ और ३७ अध्यायों में नाट्यावतरण की पौराणिक कथा का संकलन है। उसी प्रसंग में ऋषियों द्वारा भरत पुत्रों के अभिशप्त होने तथा नहुष के अनुरोध पर उन भरत पुत्रों द्वारा मनुष्य लोक पर नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करने की महत्त्वपूर्ण कथा का उल्लेख है। इस अध्याय से नाट्य प्रयोक्ताओं की हीन दशा का बहुत स्पष्ट परिचय मिलता है। इसका समर्थन पतंजलि के महाभाष्य से भी होता है कि नाट्य प्रयोग के शिक्षक नाट्याचार्यों को प्राचीन काल में 'आख्याता' का सम्मान प्राप्त तो था पर बाद में वे सामाजिक हीनता के शिकार हुए।[३]

---

१ ना० शा० २७।२६ (गा० ओ० सी०)।

२ समाप्तश्चायं (ग्रन्थ) नन्दिभरतसंगीत पुस्तकम् (?) ना० शा० (का० मा०) पृ० ६६६।

३ पातञ्जल महाभाष्य १।४।२९।
तथा-पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३३१ (वासुदेवशरण अग्रवाल)।

नाटयविद्या से सम्बंधित इन विषयों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए भी भरत ने इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है कि प्रयोग के क्रम में नाटयशास्त्र में अप्रतिपादित विचार भी लोकप्रमाण के अनुरूप ग्राह्य एवं प्रयोज्य हैं,[१] क्योंकि नाटय प्रयोग में प्रामाणिकता लोक व्यवहार की ही होती है।

प्रतिपाद्य विषय की विविधता—नाटयशास्त्र में जहाँ एक ओर भवन निर्माण कला और विज्ञान से सम्बंधित नाटयमण्डप का विधान है वहाँ दूसरी ओर छन्द, अलंकार, रस तथा अंगोपांगों की विभिन्न मुद्राओं का भी वर्णन है, जिनके द्वारा मनुष्य के आंतरिक भावों का प्रकाशन होता है। इन भाव भंगिमाओं को भी यथार्थ रूप प्रदान करने तथा अधिक भावगम्य बनाने के लिए आहार्याभिनय की विस्तृत रासायनिक विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जिनके माध्यम से पात्रों की रूप रचना, रंगमंच पर अपेक्षित प्राकृतिक और भौतिक परिवेश की प्रभावशाली योजना होती है। नाट्य सिद्धान्तों का विश्लेषण शास्त्रीय रूप से तो है ही। संगीत और नृत्य कलाएँ स्वतन्त्र विषय के रूप में विवेचना के विषय हैं। भरत की दृष्टि से नाटय अनुकृति रूप कला ही नहीं अपितु वह मनुष्यमात्र और देवताओं के 'शुभाशुभ विकल्पक' कर्म और भाव का अनुकीर्तन' रूप है। इसमें समस्त लोक के भावों का अनुकीर्तन होता है। लोक का सुख दुःख समन्वित भाव ही आंगिकादि अभिनयों से युक्त होने पर नाटय होता है। इसमें वेदविद्या, इतिहास और आख्यान सबकी परिकल्पना होती है। भरत की दृष्टि में नाटय मानव जीवन के सौंदर्य और आनन्दोदबोधन का प्रतिफलन है।[२] अतएव उनकी दृष्टि में नाटय जितना ही व्यापक है उसका शास्त्र भी उतने ही विस्तृत और गवेषणात्मक रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है।

नाट्यशास्त्र में नाटय विद्या एवं अन्य सम्बन्धित कलाओं का जैसा विशद विवेचन किया गया है विश्व की किसी भी भाषा में नाटयकला पर इतने विस्तार स्पष्टता सुन्दरता और सूक्ष्मता से शायद ही कभी विचार किया गया हो। प्रतिपाद्य विषयों की विविधता व्यापकता, महत्ता और स्पष्टता की दृष्टि से विश्व नाटय-साहित्य में यह महाग्रन्थ अद्वितीय है।[३]

शैली की विविधता

नाटयशास्त्र में विषय की दृष्टि से जो विविधता है उसीके अनुरूप हम अनेक प्रकार की शैलियों का भी परिचय मिलता है। सम्पूर्ण नाटयशास्त्र में वहाँ गद्य और पद्य दोनों प्रकार की शैलियाँ हैं। यही नहीं, गद्य और पद्य की इन दो शैलियों में भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर मालूम पड़ता है। इस दृष्टि से नाटयशास्त्र के रस एवं भावाध्याय लक्षण, छन्द, वृत्ति एवं प्रवृत्ति आदि की विवेचन शैली विशेष रूप से उपादेय है, क्योंकि इनके विवेचन के क्रम में गद्य और पद्य की अनेक शैलियों के रूपों से हमारा परिचय होता है।

नाटयशास्त्र में गद्य-शैली के रूप—नाटयशास्त्र में विभिन्न शास्त्रीय विषयों के प्रति

१ तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक उच्यते। ना० शा० २६।११३ (का० सं०)।

२ त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। ना० शा० १।१०७-१२० (का० मा०)

३ This work is probably unique in the world's literature on dramaturgy Hardly any work on dramaturgy in any language has the comprehensiveness the sweep and the literary artistic flair of Natyasastra *History of Sanskrit Poetics*, P V Kane, p 39-40

पाठ्न के क्रम में यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग आंशिक रूप से किया गया है। इस गद्य शैली के प्रधानतया तीन रूप हैं और उनके द्वारा तीन प्रकार के कार्य सम्पन्न होते हैं।

(अ) गद्यमय सूत्र में सिद्धांत निरूपण,[१] (आ) गद्यमय भाष्य द्वारा सूत्र में निरूपित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण[२] तथा (इ) प्रतिपाद्य विषय के निरूपण के क्रम में निरुक्त और व्याकरण की शैली में शब्दों की व्युत्पत्ति या निर्वचन।[३] शास्त्रीय निरूपण के लिए प्रयुक्त ये तीनों शैलियाँ प्राचीनकाल में प्रचलित थीं। ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी से भी पहले पाणिनि ने इस सूत्र शैली में ही व्याकरण का गूढ़ ज्ञान अनुसूचित किया था। उन सूत्रों पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने जिस व्यास शैली में पाणिनि के विचारों की व्याख्या की है, नाट्यशास्त्र में उस शैली का प्रयोग गूढ़ विषयों के स्पष्टीकरण के लिए हुआ है। रस एवं भावाध्याय में ऐसी व्यास शैली का प्रयोग हम सर्वत्र देखते हैं। भरत ने स्वयं ही यह उल्लेख किया है कि 'इस नाट्य का अन्त नहीं है और ज्ञान एवं शिल्प भी अनन्त है।'[४] अतः इन विषयों को संग्रह रूप में 'सूत्र भाष्य' शैली में प्रस्तुत किया है।[५] निरुक्त की निर्वचन शैली शब्दार्थों के स्पष्टीकरण के लिए बहुत प्रसिद्ध रही है और अत्यन्त प्राचीन भी।

नाट्यशास्त्र में गद्य शैली के तीनों रूप अत्यन्त प्राचीन हैं। जिन पाणिनि, यास्क और पतंजलि आदि की गद्य शैली से हमने नाट्य शास्त्र की गद्य शैली की तुलना की है, वे ईस्वी पूर्व दूसरी सदी से छठी सदी के मध्य में थे। इन शैलियों के प्रयोग से नाट्यशास्त्र की विवेचन प्रणाली की वैज्ञानिकता तथा अतिप्राचीनता का समर्थन होता है। यह सम्भव है कि गद्य के ये तीनों रूप क्रमशः विकसित हुए हों। सूत्रों में सिद्धान्त निरूपण हुआ हो, तदनन्तर शब्दार्थ तथा शब्द-स्वरूप की दृष्टि से शब्दों का निर्वचन और विश्लेषण हुआ हो और अन्तिम रूप में सूत्रों में अनुस्यूत विचारों का भाष्य—व्यासशैली में विस्तार हुआ हो। यह भी संभव है कि भरत को ये तीनों शैलियाँ प्रयोग के लिए उपलब्ध रही हों और आवश्यकतानुसार इन्होंने तीनों का प्रयोग किया हो।

नाट्यशास्त्र में पद्य की विभिन्न शैलियाँ—नाट्यशास्त्र में प्रधान रूप से पद्य का प्रयोग हुआ है। ये पद्य अधिकतर अनुष्टुप छन्द में हैं। ये सब सूत्र या कारिकाओं के रूप में हैं। इनमें भरत ने अपने नाट्य सिद्धान्तों का आकलन किया है। परन्तु इन कारिकाओं के अतिरिक्त अपने विचार-तत्त्वों के समर्थन में आनुवंश्य आर्याओं, श्लोक और सूत्रानुविद्ध आर्याओं का भी उपयोग किया है। विषय विवेचन के प्रसंग तथा उदाहरण आदि के रूप में उपजाति आदि छन्दों के उदाहरण भी मिलते हैं। इस प्रकार पद्य के रूप में भी नाट्यशास्त्र में अनेक शैलियों से हमारा परिचय होता है।

---

१ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० ६, पृ० २७२ (गा० ओ० सी०)।

२ को दृष्टान्त अत्राह – यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० अ० ६, पृ० २८७। (गा० ओ० सी०)।

३ अत्राह भावा इति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः। किं वा भावयन्तीति भावाः? वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति। करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्।
ना० शा० अ० ७, पृ० ३४२-४८ (गा० ओ० सी०)।

४ न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथंचन।
कस्मात् बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां चाप्यनन्ततः॥ ना० शा० ६।४६।

५ आचार्य कस्मात्? आचिनोति अर्थान् बुद्धिमिति वा। निरुक्त नैघण्टुक काण्ड १।३।

आनुवश्य श्लोक—आनुवश्य श्लोक गुरु शिष्य की परम्परा से प्राप्त आर्या या श्लोकरूप में हैं।[1] इन आनुवश्य श्लोक या आर्याओं द्वारा सूत्रार्थ का ही संक्षेप में समर्थन किया जाता है। अतः कारिका शब्द से भी इनका अभिधान होता है। आनुवश्य श्लोकों के उपयोग की परम्परा महाभारत के वनपर्व[2] में भी दिखाई देती है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने अभिनवगुप्त की तरह ही आनुवश्य श्लोकों का परम्परागत आख्यान श्लोक के रूप में ही स्वीकार किया है।[3] इन आनुवश्य श्लोकों का प्रयोग अधिकतर नाटयशास्त्र के ६, ७ अध्यायों में किया गया है। ये आनुवश्य श्लोक या आर्यायें नाटयशास्त्र के पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत हैं। इसी सन्दर्भ में सूत्रानुविद्ध आर्याओं की ओर भी हमारी दृष्टि जाती है।[4] इन आर्याओं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। सूत्ररूप कारिकाओं में अनुस्यूत विचारों का विस्तार इन्हीं सूत्रानुविद्ध आर्याओं द्वारा ग्रन्थकार ने किया है।[5]

आर्याएँ—उपर्युक्त आनुवश्य आर्याओं के अतिरिक्त आर्याओं को भी भरत ने उद्धत किया है। वर्ण्य विषय का गद्य में व्याख्यान कर 'अत्र आर्ये भवतः', 'अत्र आर्या', 'अत्र आर्ये रस विचार मुखे' आदि संक्षिप्त वाक्यों द्वारा इन आर्याओं की अवतारणा होती है।[6] ये आर्यायें भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत हैं, भरत रचित नहीं हैं। भयानक रस के प्रतिपादन के सन्दर्भ में आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि पूर्वाचार्यों ने इन आर्याओं को एक साथ लिखा है जबकि भरत ने वीर रस से अलग करके भयानक रस के प्रकरण में इन आर्याओं का पाठ किया है।[7] अतः ये आर्यायें नाटयशास्त्र के मौलिक अंश नहीं हैं इस तथ्य से अभिनवगुप्त परिचित थे।

कारिकाएँ, श्लोक तथा अन्य छन्दों में अनुबद्ध पद्य—नाटयशास्त्र में श्लोक या अनुष्टुप छन्दों की ही प्रधानता है। ये श्लोक कारिका के रूप में भी प्रसिद्ध रहे हैं। इसी कारिका प्रधान नाटयशास्त्र को सूत्र रूप में भी आचार्य अभिनवगुप्त और नान्यदेव ने उल्लेख किया है।[8] इन कारिकाओं के अतिरिक्त कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जिन्हें आनुवश्य की श्रेणी में रखना चाहिए। उनका भी अवतरण प्राचीन परम्पराओं से ही किया गया है।[9] इन सामान्य छन्दों के अतिरिक्त ३६ नाटयलक्षणों को नाटयशास्त्र के एक संस्करण में चार उपजाति छन्दों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।[10] नाटय वृत्तियों के विवेचन के प्रसंग में प्रत्येक वृत्ति के विवेचन का आरम्भ

---

१ अ० भा० भाग १, पृष्ठ २६० (द्वि० सं०)।

२ यत्रानुवंशं भगवान् जामदग्न्यस्तथाजगौ। वनपर्व ८७।१६, १२६।८।

३ परम्परागतमाख्यानं श्लोकम्। नीलकण्ठ।

४ अपि चात्र सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः। ना० शा० ६।४७-४८ (गा० ओ० सी०)।

५ अ० भा० भाग १० पृष्ठ ३११।

६ ना० शा० भाग १, पृष्ठ ३१८, ३२४, ३२६, ३३२, ३४१, ३४९।

७ ता एताहि आर्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैः लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः। अ० भा० भाग १, पृष्ठ ३२७-८।

८ अ० भा० भाग १, पृष्ठ १।
कलानाम नि सूत्रहृदयतानि। नाट्यशास्त्र का भरत भाष्य। अ० भा० भाग १, पृष्ठ ४७, भूमिका भाग (द्वि० सं०)।

९ अत्र श्लोकाः ना० शा० ६।४४-६१, ७।४७।

१० ना० शा० १६।१४ (गा० ओ० सी०)।

उपजाति वृत्त में ही होता है।[1] आर्या छन्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र में बहुत बड़ी मात्रा में हुआ है। नाट्यशास्त्र में छन्द की दृष्टि से पद्य शैली की विविधता भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से ग्रहण की गई है। उपजाति और आर्या छन्दों का विकास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। छन्दों के इन विकसित रूपों के प्रयोग नाट्यशास्त्र के निरन्तर विकसमान स्वरूप के परिचायक हैं।[2]

नाट्यशास्त्र के उत्तरोत्तर विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त गद्य पद्य की विभिन्न शैलियों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि विभिन्न कालों में प्रचलित कई शैलियों का इस ग्रन्थ में समन्वय किया गया है। पाणिनि ने जिन नट-सूत्रों का उल्लेख किया है, सम्भव है मूल रूप में नाट्यशास्त्र उन्हीं नट सूत्रों के समान नाट्य-सूत्र के रूप में प्रचलित रहा हो। परम्परा इसका स्मरण भी सूत्र के रूप में करती आई है।[3] काव्यप्रकाश और नाट्यदर्पण के सूत्र भी कारिकायें है और श्लोकबद्ध हैं न कि गद्य बद्ध।

नाट्यशास्त्र का विकासशील स्वरूप—एस० के० डे महोदय की स्थापना है कि प्रथम अवस्था में नाट्यसूत्र (गद्यबद्ध) के रूप में प्रस्तुत यह महान् कृति विकास की दूसरी अवस्था में व्यास प्रधान भाष्यशैलियों की सहायता से परिवर्द्धित हुई। पुनश्च विकास के इस क्रम में तीसरी अवस्था में छन्दोबद्ध कारिकाओं द्वारा इसका पूर्ण उपबृंहण किया गया तथा आनुवंश्य आर्यायें भी इसी क्रम में नाट्यशास्त्र का अभिन्न अंग बन गयीं। अतएव उनकी दृष्टि में नाट्यशास्त्र का यह स्वरूप किसी एक काल या एक प्रतिभावान् व्यक्ति का सर्जन नहीं अपितु अनेक युगों की बौद्धिक प्रतिभाओं की देन का ऐतिहासिक परिणाम है।[4] उनकी दृष्टि में विकास की ये अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं —

(अ) सिद्धान्त निरूपण के लिए प्रयुक्त गद्यमय सूत्र (मूल नाट्य-सूत्र)।

(आ) कारिकाओं की रचना।

(इ) सूत्रभाष्य शैली में सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन।

(ई) पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत आनुवंश्य श्लोकों का मिश्रण।

यदि यह सिद्धान्त मान्य हो, तो निःसन्देह नाट्यशास्त्र में अनेक प्राचीन शैलियों का एकत्र समन्वय हुआ है। इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, धनुर्वेदशास्त्र और सम्भवतः कामशास्त्र भी सूत्र की इसी प्रारम्भिक अवस्था से कारिका की पद्यमय अवस्था तक विकसित हुए होंगे। परन्तु उनके मूल रूपों का अवशिष्ट चिह्न उन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। नाट्यशास्त्र में विकास की प्रत्येक अवस्था के अवशेष उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से उसके इस स्वरूप का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। परन्तु नाट्यशास्त्र विकास की कल्पित प्रत्येक अवस्था में क्रमशः विकसित हुआ ही हो यह अन्तिम रूप से स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं।

---

१ ना० शा० २०।२६, ४१, ८३, ७७ (गा० ओ० सी०)।

२ एस० के० डे, संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ २५-२७।

३ सूत्रं सूत्रपोऽनेन सूत्रमपि कारिका।
तद् सूत्रमरेदथ या अनु परतात् पठिता श्लोकमपिकारिका। का० भा० भाग १, पृष्ठ २६४।

४ But an examination of these passages will reveal that these different styles do not possibly belong to the same period

—*Sanskrit Poetics* S K De, p 27 28

नाटयशास्त्र का मूल स्वरूप गद्य पद्य विमिश्रित—नाटयशास्त्र मूल रूप म गद्य बद्ध सूत्र शली म था और उत्तरोत्तर कारिका के रूप म विकसित हुआ। इस सिद्धात निरूपण के मूल मे यह धारणा भी सम्भवत काम कर रही है कि सूत्र गद्यात्मक ही होना है, पद्यात्मक नही। अभिनवगुप्त न कारिकायुक्त सम्पूर्ण नाटयशास्त्र को सूत्र माना है तथा अन्य आचार्यों न भी।[१] इस दृष्टि से विचार करने पर एम० के० दे महोदय की विचारधारा अशत स्वीकार्य नही मालूम पडती। नाटयशास्त्र से प्राचीनतर ग्रन्थ शतपथब्राह्मण मे भी गद्य पद्य विमिश्रित शैली का प्रयोग देखा जाता है। अत यह सम्भव है कि नाटयशास्त्र मूलरूप म गद्यात्मक सूत्र रूप म न होकर गद्य पद्य विमिश्रित शली म ही लिखा गया हो।[२] पी० वी० काणे महोदय ने आचार्य अभिनव गुप्त की मान्यता का अनुसरण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कारिकायें भी सूत्रबद्ध हो ह तथा नाटयशास्त्र की रचना मूलरूप म गद्य पद्य विमिश्रित शली म हुई होगी। इस सूत्रमयता के कारण नाटयशास्त्र और नाटय प्रयोग का उल्लेख वेद 'चाक्षुष क्रतु' और नयनोत्सव के रूप म हुआ है।[3]

निष्कर्ष

नाटयशास्त्र म उपलब्ध नाटयोत्पत्ति नाटय प्रयोग एव अगहार आदि की कथाओ से नाटयशास्त्र के क्रमिक विकास का समर्थन होता है। ब्रह्मा ने भरत को जिस नाट्यवेद की शिक्षा दी उसम सगीत और नत्य का योग न था, उसकी शिक्षा उन्ह स्वाति नारद और तण्डु स मिली।[४] अत यह अनुमान करना उचित हो है कि नाटयशास्त्र के मूलरूप का सजन सभवत उन्ही अशो के साथ हुआ होगा जिनका सबध मुख्यत नाटय विद्या से है। इस अवस्था म ६ ७ तथा आठ से सत्ताईस अध्यायो की रचना पहल हुई होगी। अटठाइस से पतीस अध्यायो की रचना दूसरी अवस्था म सगीत के योग से तथा तीसरी अवस्था म नत्य, नाटयोत्पत्ति एव नाटयमण्डप आदि के योग स वतमान नाटयशास्त्र का पूण स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। प्राप्त सामग्रियो पर आधारित यह कल्पना है। परन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि नाटयशास्त्र के वर्तमान स्वरूप का विकास काल क्रम म पुष्ट होता रहा है। अनेक युगो के नाटय कला मनीषियो की प्रतिभा न सभव ह इसे किंचित् किंचित् परिपुष्ट और अभिसिंचित कर यह महान रूप दिया। परन्तु यह भी एक प्रमाणित तथ्य है कि नाटयशास्त्र के वतमान स्वरूप से यदि भास और अश्वघोष पूणतया न भी परिचित रह हो, परन्तु कालिदास स लेकर उत्तरवर्ती भवभूति, दामोदर गुप्त तथा भटटोदभटट आदि न पूणतया उस प्रभाव को स्वीकार किया है। अत नाटयशास्त्र का यह वतमान रूप आठवी स चौथी सदी के पूव ही यह वहत् रूप धारण कर चुका था।

---

१ (क) षट्त्रिंशक भरत सूत्रमिदम् विवृण्वन्। अ० भा० भाग १, पृष्ठ १।
(ख) नृत्तस्य सकर्मकाणां श्रेयमकमुत्त बुधे। दशरूपक पर बहुरूपमिश्र की टीका ७,६१।

२ *History of Sanskrit Poetics* p 16 (P V Kane)

३ (क) नाटय सज्ञमिम वेद सेतिहासम् करोम्यहम्। ना० शा० १।१८ख (गा० ओ० सी०)।
(ख) शांत क्रतु चाक्षुषम्। भा अ० अक १।४।
(ग) महापुरुष प्रशस्त च लोकानां नयनोत्सवम्। ना० शा० ३७।३३ (का० मा०)।

४ ना० शा० १।२३, १। ५, ४।४८ (गा० ओ० सी०)।

५

भरत के पूर्वाचार्य और नाट्यशास्त्र के भाष्यकार

भरत के पूर्व नाट्य एवं अन्य शास्त्रप्रणेता आचार्य थे। इसका प्रमाण तो स्वयं नाट्यशास्त्र ही है। इसकी पुष्टि के लिए सामग्री तीन रूपों में हमें प्राप्त होती है—

(क) आनुवंश्य आर्याओं और श्लोकों के रूप में नाट्यशास्त्र में उद्धृत सन्दर्भ।

(ख) पूर्वाचार्यों और प्राचीन ग्रंथों के नामोल्लेख, तथा

(ग) भरत के शतपुत्रों की नाम गणना (?)।

१ आनुवंश्य आर्यायें—आनुवंश्य आर्यायें और श्लोक तो निश्चित रूप से आचार्य शिष्यों की परम्परा से गृहीत हैं। सम्भव है नट-सूत्रों के रूप में सूत्र और कारिकाओं के संग्रह ग्रंथ भरत से पूर्व भी प्रचलित रहे हों जिनसे ये आर्यायें ली गई हों। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'कृशाश्व और शिलालिन' नामक आचार्यों के नटसूत्रों का उल्लेख इसका समर्थन करता है।[1] लेवी और हिलब्रांट महोदय ने इन आचार्यों के सूत्रों को नाट्य सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। वेबर, कोनो एवं कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह नट सूत्र नृत्य एवं अभिनय विद्या का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रहा होगा।[2] सम्भव है नाट्यशास्त्र की कारिकायें इन्हीं प्राचीन सूत्रों से ली गई हों। पाणिनि के बाद अमरकोष में ही इन आचार्यों का उल्लेख मिलता है अन्यत्र नहीं।[3] भरत के पूर्व नटसूत्रों की परम्परा थी और उसे वैदिक चरणों की सी पवित्रता प्राप्त थी। इसी के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र या नटसूत्रों का अध्ययन होता था। नटसूत्र शैलालिक ऋग्वेद का चरण था। आपस्तंब और श्रौतसूत्र में शैलालिक ब्राह्मण का उल्लेख है। कात्यायन ने इस चरण के अध्येता छात्रों को शैलालि शब्द से सम्बोधित किया है।[4] काशिकाकार ने उक्त सूत्र पर अपनी विवृति में लिखा है कि शिलालिन और कृशाश्व द्वारा चरणों का जो विकास हुआ

---

१ पाराशर्य शिलालिभ्याम् भिक्षुनटसूत्रयो ३।१११।
शैलालिन नटा ४।३, १११ कर्म दकृशाश्वादिनि।

२ संस्कृत ड्रामा ए० बी० कीथ, पृ० २६०।

३ अमरकोष पृ० १६८ ३।

४ आपस्तम्ब एण्ड बह्वृच ब्राह्मण कीथ जे आर० ए० एस० १६१५, पृ० ४६८।

उसे आम्नाय की पवित्रता प्राप्त थी।[1] सम्भव है शिलालिन और कृशाश्व के ये सूत्र बाद में बोधगम्य न रहे हों या नाट्यशास्त्र में मिल गये। पाणिनि के उल्लेख से हमारे समक्ष दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं कि भरत से पूर्व कृशाश्व और शिलालिन नाट्याचार्य थे और उन्हें वैदिक चरणों का सम्मान प्राप्त था। परन्तु पाणिनि के तीन चार सदी बाद ही इस नाट्य विद्या का ऐसा ह्रास हुआ कि पतञ्जलि के काल में नाट्य विद्या के उपाध्याय 'आख्याता' नहीं माने जाने लगे।[2] समाज में नाट्य विद्या के अध्येता और अध्यापकों का स्थान हीन हो गया।[3] कृशाश्व और शिलालिन की परम्परा के नाट्याचार्यों की प्रतिभा का मधुर फल भरत को उत्तराधिकार में प्राप्त था।

२ नाट्यशास्त्र में उल्लिखित भरत के पूर्वाचार्य— आनुवंश्य आर्याओं के रचयिता आचार्यों का हम अनुमान मात्र कर सकते हैं। परन्तु नाट्यशास्त्र में विविध विषयों के विवेचन के क्रम में अनेक आचार्यों के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि भरत के पूर्व ही ये आचार्य नाट्य विद्या का प्रणयन और प्रयोग कर रहे थे। शब्द-लक्षण के प्रसंग में पूर्वाचार्य,[4] गान्धर्व के प्रसंग में स्वाति,[5] छन्द के सम्बन्ध में गुह,[6] ध्रुवा के सम्बन्ध में नारद,[7] अंगहार और करण के सम्बन्ध में तण्डु और नदी[8] तथा मानवीय गुणों के सम्बन्ध में बृहस्पति[9] का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थ में काम-तन्त्र और पुराण[10] का भी नाम है। परन्तु यह काम-तन्त्र वात्स्यायन के कामसूत्र से भिन्न स्वतन्त्र ग्रन्थ था। सम्भव है वे अर्थशास्त्र से परिचित हों परन्तु मर्त्यलोक के किसी आचार्य का नाम स्मरण न करने का आग्रह होने से सुरगुरु बृहस्पति का नामोल्लेख किया। नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त सूत्र भाष्य, कारिका और संग्रह आदि प्रयुक्त सात शब्दों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र से पूर्व सूत्र कारिका, भाष्य और आनुवंश्य आर्याओं के रूप में नाट्यशास्त्र का कोई रूप वर्तमान अवश्य था।[11] परन्तु यह अनुमान का विषय है। सूत्र, संग्रह कारिका या आनुवंश्य आर्याओं के रूप में किसी अन्य नाट्यशास्त्र या शास्त्रों की परिकल्पना की जा सकती है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के किन्हीं प्रणेता आचार्यों के नामोल्लेख का अभाव दूसरी दिशा का ही संकेत करता है, जबकि अन्य कई आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं।

---

१ चरणात् धर्माम्नाययो तद् साहचर्यात् नटशब्दादपि धर्माम्नायेयारव भवति। —काशिकावृत्ति।
२ पातञ्जलि का भाष्य आख्यातोपयोगे सूत्र पर।
३ पाणिनि कालीन भारतवर्ष (वा० अ०) पृ० ३१५, ३३० तथा नाट्यावतार की कथा ना० शा० ३६ (का० सं०)।
४ पूर्वाचार्यैरुक्तम् शब्दानां लक्षण तु नित्यश। ना० शा० १४।२४ (गा० ओ० सी०)।
५ ना० शा० ३३।३ (का० मा०)।
६ ना० शा० १५।११० (का० मा०)।
७ ना० शा० ४।१७ (का० मा०)।
८ ना० शा० ३२।१ (का० मा०)।
९ बृहस्पतिमताच्चैवान् ना० शा० २४।७२ (का० मा०)।
१० ये पुराणे सम्प्रकीर्तिता। ना० शा० २४।४६ (का० मा०)।
कामतन्त्रमनेकधा। ना० शा० २२।१८३ (का० मा०)।
११ श्री के० एम० वर्मा सेवन वर्ड्स इन भरत हाट दे सिग्निफाइ ओरियन्टलिस्ट्स (१९५८)।

३ नाट्याचाय एव भरत पुत्र—भरत ने अपने शतपुत्रा का उल्लेख नाट्योत्पत्ति तथा नाट्यावतार के प्रसग म किया है। भरत के शतपुत्रा ने नाटय प्रयोग किया यह उल्लेख स्वय भरत ने ही किया है। इन शतपुत्रा मे कुछ नाट्याचाय प्रमुख हैं जिनका उल्लेख नाट्याचाय के रूप म ही नही अपितु नाटय प्रयाक्ता और शास्त्र प्रणेता के रूप मे स्वय भरत ने ही किया है।[१] इन भरत पुत्रा म कोहल दत्तिल, अश्मकुटट नखकुटट आदि आचाय के रूप म प्रसिद्ध है।

कोहल—नाट्यशास्त्र म उल्लिखित भरत पुत्रा म कोहल सवाधिक प्रसिद्ध आचाय हैं। नाटयशास्त्र के प्रथम अध्याय के अतिरिक्त अन्तिम ३६ अध्याया म कोहल को स्वय भरत ने यह सम्मान दिया है कि नाटयशास्त्र के सम्बन्ध म शेष विचारा का व कथन करेंगे।[२] नाट्य प्रयोग का गौरव वात्स्य शांडिल्य और धूर्तिल के साथ कोहल को भी दिया।[३] कोहल ने सम्भवत सगीत नत्य और अभिनय के सम्बन्ध म शास्त्र की रचना की थी। उसका प्रभाव आशिक रूप से नाट्यशास्त्र की पाठ परपरा पर भी पडा है। नाट्यशास्त्र ६।१० म नाट्यसग्रहो की जो परिगणना की गई है उसके सम्बन्ध मे अभिनवभारती म महत्त्वपूण विवरण मिलता है। अभिनव गुप्त ने रस, भाव और अभिनय आदि के सम्बन्ध म उदभट और लोल्लट के परस्पर विरोधी मता का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि से नाट्य के ग्यारह अगों का मूल ग्रन्थ म जो उल्लेख हुआ है वह कोहल के मतानुसार न कि भरत के।[४] इसीसे कोहल के महत्त्व की कल्पना की जा सकती है कि मूल नाट्यशास्त्र मे कोहल के मत का समावेश हो गया है। कोहल के विचारो का उल्लेख अभिनवभारती,[५] भावप्रकाशन[६] और नाट्यदपण[७] म रूपका की सख्या एव अन्य प्रसगा मे किया गया है। रूपको की सख्या भरत के बाद जिस रूप म बढी है सम्भवत उस पर भी कोहल का ही प्रभाव है। रसाणव सुधाकर म भी कोहल का उल्लेख आचाय के रूप म हुआ है।[८] दामोदर गुप्त ने कुटटनीमत म भरत के साथ ही कोहल का उल्लेख किया है।[९] बालरामायण म कोहल नाट्याचाय के रूप म प्रस्तुत हो नाटक की प्रस्तावना प्रस्तुत करता है।[१०] रामकृष्णकवि ने कोहल का समय ईस्वी पूव तीसरी सदी म निधारित किया है।[११] कोहल को परवर्ती आचार्यों

---

१ ना० शा० १।२६ ३६ तथा ३६।७१। (का० स०)।

२ शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहल कथयिष्यति। ना० शा० ३६।९८ क०।

३ कोहलादिभिरेवैं वात्स्य शाण्डिल्यधूर्तिलै। ना० शा० ३६।७१ क०।

४ It appears that Kohala s work influenced the redactors of the N S
History of Sanskrit Poetics p 2

५ अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेनैकादशांग वमुच्यते। न तु भरते। अ० भा० भाग २, पृ० २६४
तथा पृ० २६, ५८, १३५, १४६ १५१ १५५, ४०३ ४१६, ४१७, ४३४, ४८३, ४५४।

६ भा० प्र० २०४,२१०, २३६, २४८।

७ तेन कोहलप्रभृतिभिरुक्तानां नाटकादयो न लक्ष्यन्ते। नाट्यदपण, पृ २३ (गा० ओ० सी०)।

८ र० सु० १ ५१।

९ बालरामायण अक ३।११।

१० कुट्टनीमत—८१।

११ भरतकोश रामकृष्ण कवि पृ० २१।

ने इतना गौरव प्रदान किया है कि वे स्वभावत भरत की परपरा के आचार्यों और प्रयोक्ताओ म परिगणित हुए हैं।[1]

दत्तिल—दत्तिल अथवा दतिल कोहल के बाद सर्वाधिक ज्ञात आचार्यों म है। अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती म ध्रुवा के सम्बन्ध मे दत्तिल का मत प्रस्तुत किया है।[2] रसाणवसुधाकर मे कोहल आदि आचार्यों के साथ दत्तिल का उल्लेख भरत-पुत्र के रूप म है।[3] कुट्टनीमत म भी दत्तिल का नामोल्लेख आचार्य के रूप म हुआ है।[4] इस प्रकार दत्तिल नाट्याचार्य अथवा सगीताचार्य थे। रामकृष्ण कवि महोदय ने दत्तिल के 'गाधर्व वेदसार' का उल्लेख किया है।[5] दत्तिल अथवा दतिल दोना एक ही है। परन्तु दत्तक इसकी अपेक्षा कोई भिन्न आचार्य थे। अथवा दतिल ही दत्तक के रूप मे प्रसिद्ध हो गये, निश्चित रूप से कुछ कहा नही जा सकता। कामशास्त्र म इसका उल्लेख है कि पाटलिपुत्र की गणिकाओ के अनुरोध पर कामशास्त्र के वैशिक अध्याय की रचना दत्तक ने ही की।[6] पी० वी० काण महोदय की सूचना के अनुसार भडारकर ओरियटल इन्स्टीच्यूट मे सुरक्षित अभिनव भारती की पाडुलिपि म आतोद्य और ताल के प्रसग मे दत्तिल के के अनेक पद्य उद्धृत हैं।[7] अत दत्तिल का आचार्यत्व तो प्रमाणित हो जाता है। वात्स्य और शाण्डिल्य ये दोना नाम नाट्योत्पत्ति तथा नाट्यावतार के प्रसग म ही मिलते है अन्यत्र नही।[8]

अश्मकुट्ट-नखकुट्ट—इन दोना आचार्यों का उल्लेख नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय म भरत-पुत्र के रूप म हुआ है।[9] नाट्यशास्त्र म इसके अतिरिक्त कोई विवरण नही मिलता। नाटकलक्षण रत्नकोष के विभिन्न प्रसगो मे अश्मकुट्ट का चार बार तथा नखकुट्ट का दो बार उल्लेख हुआ है।[10] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने आमुख म वीथ्यग एव अन्य नाट्यतत्त्वो की योजना के विधान के प्रसग म आचार्य अश्मकुट्ट के ढाई श्लोक उद्धृत किये हैं।[11]

बादरायण और शातकर्णी—नाट्यशास्त्र म बादरायण का उल्लेख भरत-पुत्रो मे हुआ है। नाटकलक्षण रत्नकोष मे बादरायण का उल्लेख दो स्थलो पर हुआ है।[12] शातकर्णी भारतीय शिलालेखो का अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्तित्व है। ईस्वीपूर्व पहली सदी से दूसरी सदी के शिलालेखो म यह नाम बार बार आया है। भरत पुत्रो मे शातकर्णी के स्थान पर शालकर्णी शब्द का प्रयोग मिलता है। सभव है 'त' और 'ल' इन दोना के लिपिगत रूप साम्य के कारण ऐसा हुआ हो। भरत-पुत्र शाल (त) कर्णी और प्राचीन भारतीय शिलालेखो के शातकर्णी के बीच भारतीय दत

---

१ भरतश्च नाट्याचार्य कोहलादय इव नटा —भ० भा० भाग १, पृ० ४७।
२ दत्तिलाचार्येण सविस्तरोक्तमेतत्—भ० भा० भाग १, पृ० २०३।
३ दत्तिलश्च मतगश्च ये चान्ये तत्तनूद्भवा। र० सु० पृ० ८।
४ कुट्टनीमत—८७७ (भरतविशाखिलदत्तिल)।
५ जॉर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द स० ३ पृ० २४।
६ कामसूत्र १, १, २, ६, २, ५५ तथा ६, ३, ४४।
७ हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोएटिक्स, पृ ५७।
८ ना० शा० १।२६ (गा ओ० सी०), वात्स्य शाण्डिल्य धूर्तिलै, ना० शा० ३६।७८ (का० स)।
९ ना० शा० १।३३।
१० नाटक लक्षण रत्नकोष प० ८३ ४२७, २७१६, २७७५, २६०४।
११ साहित्यदर्पण, ६।२३।
१२ ना० शा० १।२८ (गा० ओ० सी०)।

(आ) हस्त प्रचार के पाँच नामों के सम्बन्ध म नाट्यशास्त्र की जिस पाडुलिपि का उपयोग आचाय अभिनवगुप्त ने किया है, वह भट्टोदभटट द्वारा उपयाग मे लायी जाने वाली पाडुलिपि से भिन्न है। पाँच प्रकार के हस्त प्रचार के पाठ मे अन्तर है।[१]

(इ) उदभट द्वारा पाठभेद का एक और भी प्रसग अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया है। समवकार नामक रूपक की परिभाषा म भरत ने जो पाठ स्वीकार किया है उससे उदभट का पाठ भिन्न है।[२]

(ई) उद्भट ने भरत द्वारा निर्धारित चार वत्तियो का खण्डन करके तीन वत्तियो के स्वीकार करने का आग्रह किया है। इसी प्रसग मे अभिनवगुप्त ने यह भी उल्लेख किया है कि शकलीगर्भ ने पाँच वत्तियाँ स्वीकार की हैं, जिनमे चार तो भरत निरूपित है। एक और नया भेद आत्म-सविति की उन्होने कल्पना की है। लोल्लट ने शकलीगभ और उदभट दोनो के मतो का खण्डन किया है। पर अभिनवगुप्त ने इन तीनो आचार्यों के मता का खडन करते हुए चार वत्तियाँ ही स्वीकार की हैं।[३]

(उ) नाट्य प्रयोग म सध्यगा की योजना के सम्बन्ध मे उद्भट का मत है कि जिस क्रम से भरत ने उनकी परिगणना की है उसी क्रम मे उनका प्रयोग नाटय मे होना चाहिए। अभिनव गुप्त ने इस मत का खडन किया है, क्योकि वह तो आगम विरुद्ध मालूम पडता है।[४]

भटटलोल्लट—आचाय भटटलोल्लट, उदभट और शकलीगभ के परवर्ती हैं। अभिनव गुप्त की अभिनव भारती के अनुसार लोल्लट ने उक्त दोना आचार्यों के मतो का खडन किया है। उनका समय ८०० ८४० ई० के मध्य होना चाहिए। अभिनवगुप्त ने नाटयशास्त्र के छठे अध्याय में रस की व्याख्या तथा १२, १३, १८ अध्यायो मे भटटलोल्लट का उल्लेख निम्नलिखित प्रसगो मे किया है—

(अ) भरत के रस-सूत्र की व्याख्या तथा रसो की सख्या के प्रसग मे। भटटलोल्लट की दष्टि से रसो की सख्या आठ या नौ ही नही, बहुत अधिक है। अभिनवगुप्त ने इस मत का खडन भी किया है।[५]

(आ) 'अकच्छेद' के लिए दूर देश की यात्रा को भी आधार माना है। इस सम्बन्ध का श्लोक तीन सस्करणो मे है, परन्तु भट्टलोल्लट ने इसका पाठ स्वीकार नही किया है।[६] इसी अध्याय मे 'अक' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अथ प्रस्तुत करते हुए श्लोको में भटटलोल्लट न 'गूढ' शब्द का पाठ स्वीकार किया है और अभिनव ने 'रूढि' शब्द का।[७]

(इ) अभिनवगुप्त ने नाटिका के सम्बन्ध मे भटटलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हुए उसे

---

१ निर्देशो चैतत् क्रम यस्यत्यासनादिति मौद्भटा। नैतदिति भट्टलोल्लट। अ० भा०, भाग १, पृ० २६४।

२ अ० भा० भाग २, पृ० २७०।

३ —त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। अ० भा० भाग २, पृ० ४५१।

४ अ० भा०, भाग ३, पृ० ४४१।

५ तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्यैतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितम् तदवलेपनपरा मृश्यैरवलम्। अ० भा० भाग १, पृ० २६८।

६ ना० शा० १८।२२ (गा० ओ० सी०), १८।१४ (का० भा०), २०।३० (का० स०), तथा—अतएव तत् भट्टलोल्लटाद्यैर्न पठितमेव। अ० भा० भाग २, पृ० ४२३।

७ भटटलोल्लटाद्या गूढ इति पठति अन्ये तु रोहयत्यथान् इति पठनि। अ० भा० भाग २, पृ० ४१५।

कथा के नायक शूद्रक की-सी परिकल्पना की जा सकती है कि वे समान रूप से नाटयाचाय एव शासक भी रहे हो। नाटक लक्षण रत्नकोष के उल्लेख से उनका आचायत्व तो प्रमाणित हो जाता है।[1]

उपयुक्त कोहल एव दत्तिल आदि साता आचार्यों का उल्लेख भरत ने अपने पुत्र के रूप म किया है तथा इनका आचाय के रूप म अय नाटय, नत्य एव सगीतशास्त्रीय ग्रथो मे उल्लेख है। परतु इसीलिए उह भरत से पूववर्ती मानना कदापि उचित नही है। इन भरत-पुत्रो का आचायत्व तो सिद्ध होता है पूववर्तिता नही।

४ नाटयशास्त्र के भाष्यकार—अनेक काश्मीरी विद्वाना ने नाटयशास्त्र पर भाष्यो की रचना की। नाटयशास्त्र के भाष्य की यह परपरा आठवी से ग्यारहवी सदी तक चलती है। यद्यपि उनम अब एकमात्र उपलब्ध भाष्य आचाय अभिनवगुप्त का नाट्यवेद विवृत्ति या अभिनव भारती है।

अभिनव गुप्त और अभिनव भारती—इस महान् गौरव ग्रथ का प्रकाशन अब पूण हो चुका है। गायकवाड आरियटल सीरीज के अतगत मूल नाटयशास्त्र के साथ अभिनव भारती का चार भागा म प्रकाशन श्री रामकृष्ण कवि के सपादन म हुआ है। मध्य मे ७ ८ तथा पचम अध्याय के अतिम भाग पर टीका का अश उपलब्ध नही है। अभिनव भारती की सब पाडुलिपियाँ सुदूर दक्षिण भारत म मिली। पर उनम से कोई भी पाण्डुलिपि सर्वांगपूण नहीं है।[2] खण्डित होने पर भी अभिनव भारती का महत्त्व असाधारण है। इसी के आधार पर नाटयशास्त्र के भाष्यकार एव अय आचार्यों एव उनके मतमतान्तरा का परिज्ञान होता है। इसकी रचना ११वी सदी के उत्तराद्ध म हुई होगी।

अभिनव भारती म उदभट भटटलोल्लट, शकुक भटटनायक और भटटयत्र आदि अनेक भाष्यकार आचार्यों का उल्लेख सगीत रत्नाकर म भी मिलता है।[3]

उदभट—आचाय उदभट राजतरगिणी कार कल्हण के अनुसार आठवी सदी के काश्मीरी सम्राट जयापीड के सभापति थे।[4] उन्होंने अपने ग्रथ म भरत की आलोचना भी की है। भटटोदभट का उल्लेख अभिनव भारती के छ नौ तथा उन्तीसवें अध्याया मे विभिन्न प्रसगों में मिलता है। प्राय छ-सात स्थलो पर उदभट की आलोचना अभिनवभारती म अभिनवगुप्त ने की है।

(अ) नाटयशास्त्र ६।१० श्लोक पर अभिनव भारती म उदभट के मत का उल्लेख है तथा उनके मत की आलोचना भटटलोल्लट न की है।[5]

---

१ ना० ल० को० १०१ १०२।

२ *History of Sanskrit Poetics* P V Kane, p 48

३ व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशकुका।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपर ॥ सगीत रत्नाकर १।१९।

४ *History of Sanskrit Poetics* p 137

५ विद्वान् दीनारलक्षेणप्रत्यह कृतवेतन । भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तु सभापति ।
राजतरगिणी ४।४९५।

(आ) हस्त प्रचार के पाँच नामो के सम्बन्ध म नाटयशास्त्र की जिस पाडुलिपि का उपयोग आचार्य अभिनवगुप्त ने किया है, वह भटटोद्भटट द्वारा उपयोग मे लायी जाने वाली पाडुलिपि से भिन्न है। पाँच प्रकार के हस्त प्रचार के पाठ म अन्तर है।[१]

(इ) उद्भट द्वारा पाठभेद का एक और भी प्रसग अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया है। समवकार नामक रूपक की परिभाषा म भरत ने जो पाठ स्वीकार किया है, उससे उद्भट का पाठ भिन्न है।[२]

(ई) उदभट ने भरत द्वारा निर्धारित चार वत्तियो का खण्डन करके तीन वृत्तियो के स्वीकार करने का आग्रह किया है। इसी प्रसग म अभिनवगुप्त ने यह भी उल्लेख किया है कि शक्लीगभ ने पाँच वृत्तियाँ स्वीकार की हैं जिनमे चार तो भरत निरूपित हैं। एक और नया भेद आत्म-सविति की उन्होने कल्पना की है। लोल्लट ने शक्लीगभ और उदभट दोनो के मता का खण्डन किया है। पर अभिनवगुप्त ने इन तीना आचार्यों के मतो का खडन करते हुए चार वृत्तियाँ ही स्वीकार की हैं।[3]

(उ) नाटय प्रयोग मे सध्यगो की योजना के सम्बन्ध मे उद्भट का मत है कि जिस क्रम से भरत ने उनकी परिगणना की है उसी क्रम मे उनका प्रयोग नाटय म होना चाहिए। अभिनव गुप्त ने इस मत का खडन किया है, क्योकि वह तो आगम विरुद्ध मालूम पडता है।[४]

भट्टलोल्लट—आचाय भटटलोल्लट, उदभट और शक्लीगभ के परवर्ती हैं। अभिनव गुप्त की अभिनव भारती के अनुसार लोल्लट ने उक्त दोना आचार्यो के मता का खडन किया है। उनका समय ८०० ८४० ई० के मध्य होना चाहिए। अभिनवगुप्त ने नाटयशास्त्र के छठे अध्याय में रस की व्याख्या तथा १२, १३, १८ अध्यायो मे भट्टलोल्लट का उल्लेख निम्नलिखित प्रसगो म किया है—

(अ) भरत के रस-सूत्र की व्याख्या तथा रसों की सख्या के प्रसग मे। भट्टलोल्लट की दष्टि से रसो की सख्या आठ या नौ ही नही, बहुत अधिक है। अभिनवगुप्त ने इस मत का खडन भी किया है।[५]

(आ) 'अकच्छेद' के लिए दूर देश की यात्रा को भी आधार माना है। इस सम्बन्ध का श्लोक तीन सस्करणो मे है, परन्तु भटटलोल्लट ने इसका पाठ स्वीकार नही किया है।[६] इसी अध्याय मे 'अक' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अथ प्रस्तुत करते हुए श्लोका मे भटटलोल्लट ने 'गूढ' शब्द का पाठ स्वीकार किया है और अभिनव ने 'रूढि' शब्द का।[७]

(इ) अभिनवगुप्त ने नाटिका के सम्बन्ध मे भटटलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हुए उसे

---

१ निर्देशो चैतद् क्रमव्यत्यस्यासनादिति भौद्भटा। नैतदिति भट्टलोल्लट। अ० भा०, भाग १, पृ० २६४।

२ अ० भा० भाग २, पृ० २७०।

३ —त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। अ० भा० भाग २, पृ० ४५१।

४ अ० भा०, भाग २, पृ० ४४१।

५ तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्यैतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितम् तदवलेपनपरा मृश्येरयलम्। अ० भा० भाग १, पृ० २६८।

६ ना० शा० १८।२२ (गा० ओ० सी०), १८।१४ (का० मा०), २०।३० (का० स०), तथा—अतएव तत् भट्टलोल्लटाद्यैन पठितमेव। अ० भा० भाग २, पृ० ४२३।

७ भट्टलोल्लटाद्या गूढ इति पठति अन्ये तु रोहयत्यथान् इति पठति। अ० भा० भाग २, पृ० ४१५।

कथा में नायक शूद्रक की-भी परिकल्पना की जा सकती है कि वे समान रूप से नाट्याचार्य एवं शासक भी रहे हों। नाटक-लक्षण रत्नकोष के उल्लेख से उनका आचार्यत्व तो प्रमाणित हो जाता है।[1]

उपर्युक्त कोहल एवं दत्तिल आदि नाना आचार्यों का उल्लेख भरत ने अपने पुत्र के रूप में किया है तथा इनका आचार्य के रूप में अन्य नाट्य, नृत्य एवं संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेख है। परन्तु इसीलिए उन्हें भरत से पूर्ववर्ती मानना कदापि उचित नहीं है। इन भरत-पुत्रों का आचार्यत्व तो सिद्ध होता है, पूर्ववर्तिता नहीं।

४ नाट्यशास्त्र के भाष्यकार—अनेक काश्मीरी विद्वानों ने नाट्यशास्त्र पर भाष्यों की रचना की। नाट्यशास्त्र के भाष्य की यह परंपरा आठवीं से ग्यारहवीं सदी तक चलती है। यद्यपि उनमें अब एकमात्र उपलब्ध भाष्य आचार्य अभिनवगुप्त का नाट्यवेद विवृत्ति या अभिनव भारती है।

अभिनव गुप्त और अभिनव भारती—इस महान् गौरव ग्रन्थ का प्रकाशन अब पूर्ण हो चुका है। गायकवाड ओरियंटल सीरीज में अन्तर्गत मूल नाट्यशास्त्र के साथ अभिनव भारती का चार भागों में प्रकाशन श्री रामकृष्ण कवि के संपादन में हुआ है। मध्य में ७ ८ तथा पंचम अध्याय के अन्तिम भाग पर टीका का अंश उपलब्ध नहीं है। अभिनव भारती की सब पांडुलिपियाँ सुदूर दक्षिण भारत में मिली। पर उनमें से कोई भी पाण्डुलिपि सर्वांगपूर्ण नहीं है।[1] खण्डित होने पर भी अभिनव भारती का महत्त्व असाधारण है। इसी के आधार पर नाट्यशास्त्र के भाष्यकार एवं अन्य आचार्यों एवं उनके मतमतान्तरों का परिज्ञान होता है। इसकी रचना ६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई होगी।

अभिनव भारती में उद्भट, भट्टलोल्लट, शंकुक भट्टनायक और भट्टयन्त्र आदि अनेक भाष्यकार आचार्यों का उल्लेख संगीत रत्नाकर में भी मिलता है।[3]

उद्भट—आचार्य उद्भट राजतरंगिणी-कार कल्हण के अनुसार आठवीं सदी के काश्मीरी सम्राट जयापीड के सभापति थे।[4] उन्होंने अपने ग्रन्थ में भरत की आलोचना भी की है। भट्टोद्भट का उल्लेख अभिनव भारती के छः, नौ तथा उन्तीसवें अध्यायों में विभिन्न प्रसंगों में मिलता है। प्रायः छः-सात स्थलों पर उद्भट की आलोचना अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने की है।

(अ) नाट्यशास्त्र ६।१० श्लोक पर अभिनव भारती में उद्भट के मत का उल्लेख है तथा उनके मत की आलोचना भट्टलोल्लट ने की है।[5]

---

१ ना० ल० को० १०१ १०२।

२ *History of Sanskrit Poetics* P V Kane, p 48

३ व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपरः ॥ संगीत रत्नाकर १।१६।

४ *History of Sanskrit Poetics*, p 137

५ विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः। भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः।
राजतरंगिणी ४।४९५।

(आ) हस्त प्रचार के पांच नामो के सम्बन्ध मे नाट्यशास्त्र की जिस पाडुलिपि का उपयोग आचाय अभिनवगुप्त ने किया है वह भट्टोदभटट द्वारा उपयोग मे लायी जाने वाली पाडुलिपि से भिन्न है। पांच प्रकार के हस्त प्रचार के पाठ म अन्तर है।[1]

(इ) उदभट द्वारा पाठभेद का एक और भी प्रसग अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया है। समवकार नामक रूपक की परिभाषा म भरत ने जो पाठ स्वीकार किया है, उससे उदभट का पाठ भिन्न है।[2]

(ई) उदभट ने भरत द्वारा निर्धारित चार वत्तियो का खण्डन करके तीन वत्तियो के स्वीकार करने का आग्रह किया है। इसी प्रसग मे अभिनवगुप्त ने यह भी उल्लेख किया है कि शक्लीगभ ने पांच वत्तियां स्वीकार की हैं जिनमे चार ता भरत निरूपित हैं। एक और नया भेद आत्म-सविति की उन्होने कल्पना की है। लोल्लट ने शक्लीगभ और उद्भट दोनो के मतो का खण्डन किया है। पर अभिनवगुप्त ने इन तीना आचार्यों के मता का खडन करते हुए चार वत्तियां ही स्वीकार की हैं।[3]

(उ) नाटय प्रयोग मे सध्यगा की योजना के सम्बन्ध मे उदभट का मत है कि जिस क्रम से भरत ने उनकी परिगणना की है उसी क्रम मे उनका प्रयोग नाटय म होना चाहिए। अभिनवगुप्त ने इस मत का खडन किया है, क्योकि वह तो आगम विरुद्ध मालूम पडता है।[4]

भटटलोल्लट—आचाय भटटलोल्लट, उदभट और शक्लीगभ के परवर्ती हैं। अभिनवगुप्त की अभिनव भारती के अनुसार लोल्लट ने उक्त दोनो आचार्यों के मतो का खडन किया है। उनका समय ८०० ८४० ई० के मध्य होना चाहिए। अभिनवगुप्त ने नाटयशास्त्र के छठे अध्याय मे रस की व्यारया तथा १२, १३, १८ अध्यायो मे भटटलोल्लट का उल्लेख निम्नलिखित प्रसगो मे किया है—

(अ) भरत के रस-सूत्र की व्याख्या तथा रसो की सख्या के प्रसग म। भटटलोल्लट की दृष्टि से रसो की सख्या आठ या नौ ही नहीं, बहुत अधिक है। अभिनवगुप्त ने इस मत का खडन भी किया है।[5]

(आ) 'अकच्छेद' के लिए दूर देश की यात्रा को भी आधार माना है। इस सम्बन्ध का श्लोक तीन सस्करणो मे है, परन्तु भटटलोल्लट ने इसका पाठ स्वीकार नही किया है।[6] इसी अध्याय मे 'अक' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अथ प्रस्तुत करते हुए श्लोको मे भटटलोल्लट ने 'गूढ' शब्द का पाठ स्वीकार किया है और अभिनव ने 'रूढि' शब्द का।[7]

(इ) अभिनवगुप्त ने नाटिका के सम्बन्ध मे भटटलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हुए उसे

---

१ निर्देशो चैतत् क्रमव्यस्तस्यासनादिति भौद्भटा । नैतदिति भट्टलोल्लट । अ० भा०, भाग १, पृ० २६४।
२ अ० भा० भाग २, पृ० २७०।
३ —त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। अ० भा० भाग २, पृ० ४८१।
४ अ० भा०, भाग २, पृ० ४४२।
५ तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्यैतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितम् तदवलेपनपरा मरयेत्यलम्। अ० भा० भाग १, पृ० २६८।
६ ना० शा० १८।३२ (गा० ओ० सी०), १८।१४ (का० मा०), २०।३० (का० म०), तथा—अतएव तत् भट्टलोल्लटाद्यैन पठितमेव। अ० भा० भाग २, पृ० ४२३।
७ भटटलोल्लटादयो गूढ इति पठति अन्ये तु रोहयत्ययान् इति पठति। अ० भा० भाग २, पृ० ४१५।

'पम्पना' भी कहा है परन्तु शकुक ने उसे 'अप्टपदा' के रूप म स्वीकार किया है।[१]

अभिनव भारती म अन्य अनेक स्थलो पर भटटलोल्लट के मत का उल्लेख एव खडन मडन की चर्चा से यही सिद्ध हाता है कि नाटयशास्त्र के सब अध्याय अथवा ६, १३ एव २१ अध्यायो पर लोल्लट ने भाष्य अवश्य किया था।

काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र ने भटटलोल्लट के दो श्लोक उद्धत किय हैं।[२] विलक्षणता यह है कि लोल्लट के नाम से ये विचार पद्य म अनुस्यूत हैं जबकि वे रस के आलोचक (गद्य म) थे। माणिक्यचद्र ने काव्य प्रकाश सकेत म लोल्लट का उल्लेख किया है।[३] वी० राघवन के अनुसार लोल्लट अपराजित के पुत्र अपाराजिति' के नाम से भी विख्यात थे, क्योकि 'अपरा जिति के नाम स काव्यमीमासा मे प्रयुक्त एक उद्धरण का हमचन्द्र न उपयोग किया है।[४] रस विवेचन के सदभ म मम्मट ने भी भटटलोल्लट के मत का उल्लेख किया है।[५]

शकुक—आचाय शकुक, उदभट और लोल्लट के परवर्ती थे। क्योकि शकुक द्वारा भटट लोल्लट के मतो की आलाचना अभिनव भारती म अनक बार हुई है, अत इनका समय नवी सदी के प्रथम चरण म हा सकता है। वे नाटयशास्त्र के भाष्यकार थ। आचाय अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती मे इनके मत का उल्लख निम्नलिखित प्रसगो म अनेक बार किया है।

रगपीठ के माप की विवेचना के प्रसग मे ततीय अध्याय,[६] रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए छठे अध्याय,[७] अठारहवें (जी० ओ० सी०) अध्याय मे नाटक की परिभाषा,[८] तथा विमश सधि इसी प्रकार गभ-सधि के विद्रव तथा सामान्याभिनय आदि अनेक प्रसगो म अभिनव भारती म शकुक का उल्लेख हुआ है। अभिनय भेदा की चर्चा करते हुए अभिनव गुप्त ने शकुक द्वारा प्रतिपादित चालीस हजार भेदा का भी सकेत किया है।[९] उपयक्त विवरणों से यही सिद्ध होता है कि द्वितीय अध्याय से उन्तीस तक शकुक न नाटयशास्त्र पर भाष्य किया था।

शकुक कवि—शाङ्गधर जल्हण और वल्लभदव के सूक्ति-सग्रहा म शकुक की कविताएँ उद्धत हैं। शाङ्गधर पद्धति और सूक्ति मुक्तावली म उन्हे वाण के समकालीन सूयशतक के रचयिता मयूर का पुत्र माना गया है। कल्हण न अपनी राजतरगिणी म एक शकुक कवि का

---

१ अ० भा० भाग २, पृ० ४३६।

२ तथा च लोल्लट —यस्तु सरिदद्रिसागरनगतुरगपुरादिवर्णने यत्न ।
कवि शक्ति ख्याति फलो विततधियां नो मत प्रबधेषु ।
यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदा हि रसविरोधिन्य ।
अभिमानमात्र मे वैतद् गड्डरिका प्रवाहो वा।—काव्यानुशासन, पृ० २०७।

३ न वेत्ति यस्य गाभीर्यं गिरितुगोऽपि लोल्लट ।
तत्तस्य रसपाथोधे कथ जानातु शकुक ॥
—काव्यप्रकाश सकेत पृ० १४७ (माणिक्यचन्द्र) मैसूर सस्करण।

४ सम क सेप्ट्स ऑफ अलकार वी० राघवन, पृ० २०७-८।

५ का० प्र० ४, पृ० ८७।

६ शकुकादिभि चोदाहरन् वकाशाभ व आमनस्तमादिवशात्—अ० भा० भाग १, पृ० ८ (द्वि० स०)।

७ अ० भा० भाग १ पृ० २७२ ७३।

८ प्रत्यागोदन्त इति शकुक। —अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४११।

९ ननु यथा भी शकुकेनेक्त चत्वारिंशत् सहस्राणीत्यादि। —अ० भा० भाग २ पृष्ठ ८०६।

भी उल्लेख किया है जिसने 'भुवनाभ्युदय' की रचना की थी।[१]

कल्हण अजितापीड के समकालीन थे। उनका समय ९वीं सदी का प्रथम चरण माना जाता है। नाटयशास्त्र के भाष्यकार और कल्हण वर्णित शंकुक कवि दोनों एक हो तो नवीं सदी इनका समय है।[२] ये नैयायिक थे। काव्यप्रकाश-कार ने भी इनका उल्लेख किया है।[३]

भट्टनायक—भट्टनायक अपने युग के महान् आचार्य थे। उन्होंने सम्पूर्ण नाटयशास्त्र पर भाष्य किया हो इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।[४] ध्वन्यालोक और अभिनव भारती के रचनाकाल के मध्य के वे आचार्य हो सकते हैं। अत उनका समय दसवीं और ग्यारहवीं सदी के मध्य हो सकता है। उनके नाम से प्रचलित ग्रन्थ 'सहृदय दर्पण' एवं अन्यत्र खण्डरूप में उनके उद्धृत विचारों से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उन्होंने ध्वनिकार के ध्वनि सिद्धान्त का खंडन किया था और आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' टीका तथा अभिनव भारती में भट्टनायक के विचारों का भी जोरदार खंडन किया है। अभिनव भारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने मतमतान्तरों के खंडन मंडन के प्रसंग में भट्टनायक के नाम का अनेक बार उल्लेख किया है। नाटयशास्त्र के प्रथम श्लोक 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत[५] तथा उनके ग्रन्थ 'सहृदय-दर्पण'[६] का उल्लेख किया है। रस-सूत्र की व्याख्या,[७] नाटकों के लक्षण[८] एवं सिद्धि विवेचन[९] के क्रम में भट्टनायक के मत का परिचय प्राप्त होता है रस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत के प्रतिपादन के प्रसंग में जिन दो श्लोकों को उद्धृत किया है[१०] वे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन (विवेक) तथा रूय्यक के अलंकार सर्वस्व की विमर्शिनी टीका में भी किंचित् परिवर्तन के साथ उद्धृत हैं।[११] पुनश्च शास्त्र, आख्यान और काव्य की पारस्परिक तुलना करते हुए ध्वन्यालोक लोचन,[१२] अभिनव भारती[१३] तथा

---

१ कल्हण की राजतरंगिणी, पृष्ठ ७०३ ५६।

२ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ५२, पी० वी० काणे संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३८ एस० के० दे।

३ का० प्र० उल्लास ४, पृ० ६०।

४ I am of the opinion that Bhatta Nayaka was not a regular commentator as Udbhatta or Shankuk were
History of Sanskrit Poetics P V Kane, p 224

५ भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना— अ० भा० भाग १, पृ० ५।

६ इति व्याख्यान सहृदय दर्पणे पर्यग्रहीत्—अ० भा० भाग १, पृष्ठ ५।

७ अ० भा० भाग १, पृष्ठ २७८।

८ भट्टनायकेनापि त एव ? शिथिलाभिधाव्यापारप्रधान काव्यमित्युक्त—
अ० भा० भाग २, पृ० २०८।

९ अ० भा० भाग ३, पृष्ठ ३०५, ३०७।

१० अभिधा भावना चान्या तद्भोगी कृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती तत ॥ अ० भा० भाग १, पृ० २७७।
काव्यानुशासन (विवेक) पृ० ९६ ९७। अलंकार सर्वस्व—विमर्शिनी टीका, पृ० ११।

११ शब्द प्राधा यमाश्रित्य तत्र शास्त्र पृथग्विदु। ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३२।

१२ अ० भा० भाग २, पृ० २९८।

१३ ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३२।

काव्यानुशासन म[१] समान रूप से उद्धत है। काव्यप्रकाश के टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी इन श्लोको को उद्धत किया है। व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट तथा उनके टीकाकार ने भट्ट नायक का स्मरण 'हृदय दपणकार' के ही रूप म किया है।[२]

भट्टनायक न सभवत हृदय दपण म ध्वनि की आलोचना के प्रसग मे नाटयशास्त्र म प्रतिपादित नाटयसिद्धा तो की भी आलोचना की। भट्टनायक ने यह स्थापित किया कि रस चवणा ही काव्य की आत्मा है न कि ध्वनि, जसा कि ध्वनिकार मानते हैं। साधारणीकरण के मौलिक सिद्धा त के प्रवतन का भी श्रेय भट्टनायक को ही है। कल्हण की राजतरगिणी म एक और नायकारय भट्टनायक का उल्लेख प्राप्त होता है। परन्तु यह शकर वर्मा (८८३ ६०२) के राज्य काल म थे। अत इन दाना नायका म एकत्व की कल्पना नही की जा सकती।

मातगुप्ताचाय—मातगुप्ताचाय या मातगुप्त भारतीय साहित्य परपरा के विलक्षण व्यक्तित्व हैं। एक ओर चौथी सदी के कालिदास से इनकी एकता की कल्पना की गई है[३] तो दूसरी ओर राजतरगिणीकार कल्हण ने काश्मीर-सम्राट हष विक्रमादित्य का इह समकालीन माना है।[४] राजतरगिणी म प्राप्त कथा के अनुसार मातगुप्त भत मेण्ठ के समकालीन थे तथा पाच वष तक वे काश्मीर के शासक भी थे। जीवन के अन्तिम भाग मे वे सयासी भी हो गये।[५] मातगुप्त और कालिदास की एकता की कल्पना निता त अनतिहासिक और अब विद्वानो के बीच आदरणीय नही रह गई है। राजतरगिणी की कथा म यदि विश्वास किया जाय तो वे हषविक्रमादित्य के समकालीन कवि अथवा नाटय एव सगीतशास्त्र रचयिता एक लाकप्रिय आचाय के रूप म आठवी सदी के पूर्वार्द्ध म अपना महत्त्व प्रतिपादित कर चुके थे।[६] भारतीय साहित्य-ग्रथो एव टीकाओ म मातगुप्त का उल्लेख अनेक प्रसगा म प्राप्त होता है। अभिनव भारती के चतुथ भाग म अभिनवगुप्त न मातगुप्त का उद्धरण वीणा-वादन के पुप्पनामक भेद की व्याख्या तथा अय प्रसगा म प्रस्तुत किया है। प्राचीन ग्रथकारा म शारदा तनय ने भाव प्रकाशन म नाटक की कथावस्तु म उत्पाद्य का महत्त्व बताते हुए उसक समथन म मातगुप्त का मत प्रस्तुत किया है।[७] इनसे भी प्राचीन लेखक सागरनदी ने नाटक लक्षण कोष म अनेक प्रसगा म मातगुप्ताचाय के विचारा का उल्लेख किया है।[८] इस प्रसग म अभिनानशाकुतल के प्रसिद्ध टीकाकार राघवभट्ट ने तो अपनी

---

१ का० अनु०, पृ० ५।

२ सहसायशोभिसर्तु समुधताद्दृष्टदपणाम मधी।
यक्तिविवेक पृ० १४, दर्पणोहृन्यदर्पणारव्यो।
ध्वनिध्वस म थो पि। व्यक्तिविवेक की टीका पृ० ६ (व्यक्तिविवेक व्यारयान)।

३ जे० बी० बी० आर० ए० एस० १८६१, पृ० २०८।
डा० भाउदाजी सस्कृत ड्रामा, ए० बी० कीथ, पृ० २०१।

४ राजतरगिणी क हण—३।१२५ ३२३।

५ वही—३।२६० २६२, ३।३२०।

६ यथोक्त मतृगुप्तेन—पुप्प च कनयत्येको भूय स्पर्शाद् स्वरान्वित। अ० भा० भाग ४, पृ० ४१, तथा १२ २१, ६६।

७ पूर्ववृत्ताश्रयमपि किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च। विधेय नाटकमिति—
मातृगुप्तेन भणितम्, भा० प्र० पृ० २३४ प० २१ २२।

८ ना० ल० को०, पृ० १४ २० २१, २३, ५०।

'अथद्योतनिका' टीका मे भरत एव आदि भरत के मता के समान सूत्रधार गुण, आर्यावित, शौरसेनी नाटकलक्षण, बीज, लक्षण, सेनापति, हसित, पताकास्थानक, कचुकी और परिचारिका आदि पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या के प्रसग म मातगुप्ताचाय के मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये है।[1] राघवभटट की टीका म प्राप्त उद्धरणो से स्वतत्र नाट्यग्रथकार के रूप मे उनकी महत्ता निर्विवाद रूप मे प्रमाणित सी हो जाती है। राजानक कु तल ने तो मातगुप्त के काव्य की सुकुमारता और विचित्रता का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2] इन प्राचीन ग्र थो के उल्लेख के क्रम मे सत्रहवी सदी के सुन्दर मिश्र ने अपने नाटय प्रदीप मे भरतविहित नारी की परिभापा प्रस्तुत करते हुए मातगुप्त का उल्लेख व्याख्याकार के रूप मे किया है। इन प्राप्त विवरणो के अनुसार मातगुप्त आठवी सदी म पूव के कवि एव नाट्याचाय थे। यह सभव है उन्होने नाटय एव सगीत सबधी ग्रन्थ की रचना की हो जिसम भरत के विचारो की भी मीमासा की हो। नाटयशास्त्र के वे भाष्यकार रहे हो इसका कोई निश्चित प्रमाण नही है।[3]

वार्तिककार हृष—हृष या श्रीहृष रचित 'वार्तिक' नाम की कृति नाटयशास्त्र पर अभिनवगुप्त से पूव ही प्रचलित थी। अभिनव भारती म नाटयमडप,[4] नाटय और नत्त का पारस्परिक भेद,[5] और पूवरग[6] आदि के सम्बन्ध मे वार्तिककार हृष के मतो का विवरण उनके पद्यमय वार्तिको के साथ प्रस्तुत किया गया है यद्यपि इनम बहुत से वार्तिक खडित और अस्पष्ट हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वार्तिककार हृष ने सभवत नाटयशास्त्र पर वार्तिक मे भाष्य किया हो। रामकृष्ण कवि की सूचना के अनुसार 'अगहार' पर खडित वार्तिक उपलब्ध हो सका है।[7] परन्तु बी० राघवन् महोदय का यह स्पष्ट मत है कि वार्तिककार हृष ने सपूण नाटयशास्त्र पर भाष्य नही किया। छठे अध्याय के बाद इस वार्तिक का कोई अश उपलब्ध नही है।[8] परन्तु राघवन् महोदय की यह कल्पना स्वीकाय नही है क्योकि अभिनव भारती टीका भी तो नाटयशास्त्र के ७ ८ अध्याय एव पचम अध्याय के अन्तिम अश पर उपलब्ध नहीं है। पर यह कोई आवश्यक नही है कि उस अश पर टीका नही हो। अभिनव भारती के अतिरिक्त भावप्रकाशन मे त्रोटक के प्रसग मे[9] तथा नाटक लक्षण रत्नकोप में श्रीहृष विक्रमनराधिप के रूप

---

१ अ० शा० की टीका अथद्योतनिका —तदुक्त मातृगुप्ताचार्यैं—रसास्तु त्रिविधा पृ० ७।
प्राक् प्रतीचीमुखी (पृ० ८), मख्यात वस्तु विषये (पृ० ६) आदि। निर्णयसागर सस्करण १६११।

२ यथा—मातृगुप्तमा (यूराज) मजरी प्रभृतीनां सौकुमाय वैचित्र्य सवलित परिस्पदीनि काव्यानि समवन्ति। वक्रोक्ति जीवितम् राजानक कुन्तल, पृ० ५२ (१६२३)।

३ तथा—नाटक लक्षण रत्नकोष डिलन तथा वी० राघवन्, पृ० ६० तथा ६५। अमेरिकन फिलॉसिफिकल सोसायटी, फिलिडेल्फिया, १६६०।

४ वार्तिककृतु —अ तनेपथ्यगृह रतभौद्रो पीठकाश्च चत्वार'। अ० भा० भाग १, पृ० ६७।

५ अ० भा० भाग १, पृ० १७२।

६ श्रीहषस्तु रगशब्देन तौयत्रिक ब्रुवन्—अ० भा० भाग १, पृ० २११।

७ A Large fragment of Vartika on Angaharas of about 2000 granthas recently acquired will be published as appendix, N S G O C Vol II, Intro, p XXIII

८ जानल ऑफ ओरियन्टल रिसच मद्रास, जिल्द सख्या ६, पृ० २०५।

६ तथैव त्रोटक भेदो नाटकस्येति हषवाक्। भा० प्र०, पृ० २३८।

म इस भाष्यकार का उल्लेख है।[1] वार्तिककार हष और कनौज के बौद्ध सम्राट हष की एकता की कल्पना डा० शकरन् महोदय ने की है[2] पर वह कल्पना मात्र है।

शक्लीगभ—शक्लीगभ के मत का उल्लेख अभिनव भारती म मिलता है। पचमी नाटयवत्ति के खडन के प्रसग म अभिनवगुप्त ने शक्लीगभ के मत का उल्लेख किया है, क्योकि उद्भट द्वारा प्रतिपादित 'आतमसविति' नामक वत्ति को अभिनवगुप्त स्वीकार नही करते।[3] भटलाल्लट के विचार भी अभिनवगुप्त के ही अनुरूप हैं।[4] अत शक्लीगभ तो उदभट और भटटलोल्लट के मध्य के हैं। रामकृष्ण कवि ने शक्लीगभ और उदभट दोनो को एक ही माना है। परतु इसका कोई उचित कारण नही है। अभिनव भारती मे उदभट का नाम अनेक बार प्रयुक्त हुआ है, यदि वे दोनो एक हो तो शक्लीगभ (उदभट के लिए) यह पृथक नाम स्वीकार करने की आवश्यकता नही मालूम पडती है। अत शकलीगभ नवी सदी के कोई नाटयाचाय थ। उन्होने सपूण नाटयशास्त्र पर भाष्य किया हो इसका कोई निश्चित प्रमाण नही है।

भटटतोत—आचाय अभिनवगुप्त ने उपयुक्त भाष्यकारो एव ग्रथकारो के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के विचारो के खडन मडन के प्रसग म अनेक आचार्यों के नामो का उल्लेख किया है, जिनम भटटतोत, उत्पलदेव भटटयत्र, भटटगोपाल, भागुरि (अप्रकाशित अश), प्रियातिथि, भटटवद्धि, भटटसुमनस, रुद्रक और भटटशकर आदि आचाय मुख्य हैं।[5] इन आचार्यों म भटटतोत उनके नाटय गुरु थ। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती और लोचन टीका[6] तथा नाटय शास्त्र की व्याख्या के प्रसग म भटटतोत का उल्लेख गुरु अथवा उपाध्याय के रूप मे किया है, तथा उनकी गभीर मान्यताएँ भी स्थापित की हैं। निश्चय ही उन मान्यताओ का प्रभाव अभिनवगुप्त की तात्त्विक विचारधारा पर भी पडा है। शान्त को रस रूप मे स्वीकार करना, रस की अनुकरण शीलता का खडन नाटय का रस रूप म प्रतिपादन आदि विचार धाराओ के विवेचन म अभिनव गुप्त की विचारधारा भटटतोत से प्रत्यक्ष रूप स प्रभावित प्रतीत होती है।[7] भटटतोत न काव्य कौतुक नामक महत्त्वपूण ग्रन्थ की रचना की थी। उसम रस एव नाटय विद्या सबधी महत्त्वपूण विषयो का तात्त्विक आकलन किया गया था। अभिनवगुप्त ने लोचन टीका म यह उल्लेख भी किया है कि उन्होने 'काव्य-कौतुक' पर विवरण टीका भी लिखी थी। अभिनव भारती म काव्य कौतुक की तीन पक्तियाँ अभिनवगुप्त ने उद्धत की हैं।[8] दुभाग्य स न तो काव्य-कौतुक' और न उसका अभिनवगुप्त रचित विवरण ही उपलब्ध है। काव्य-कौतुक से काव्यानुशासन म 'इतिहास

---

१ श्रीहषविक्रम नराधिप—नाटक लक्षणरत्नकोष, पृ० १३४।

२ हिस्ट्री ऑफ थिओरी ऑफ रस डॉ० शकरन्—पृ० १३।

३ यच्छक्लीगभंमतानुसारिणो मुख्याद्वौ आत्मसविल्लिक्षणां पचमीं वृत्तिम्—

अ० भा० भाग २, पृ० ४५२।

४ शाक्लेय उद्भट। अ० भा० भाग २, पृ० ४५२ (पाददटिप्पणी)।

५ हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोएटिक्स, पृ० २१६।

६ सन्मित्रोत्र बन्नोऽन्निनाटयवेद तत्त्वार्थमथिजनवाञ्छित सिद्धिहेतो।

अ० भा० भाग १, पृ० १, श्लोक ४ (द्वि० स०)।

७ काव्य वंशिवदे हि प्रयमकल्पसवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्याया।

तथा अ० भा० भाग १, पृ० २६०, ३०६, भाग २, पृ० २६२, भाग ३, पृ० १५३।

८ यदाहु काव्यकौतुके—प्रयोगत्वमनापन्ने—। अ० भा० भाग १, पृ० २६१।

काव्य नहीं होता' इसके समर्थन में तीन पद्य उद्धृत हैं।[1] 'औचित्य विचार चर्चा' में क्षेमेन्द्र तथा काव्यप्रकाश संकेत में माणिक्य ने प्रतिभा की प्रसिद्ध परिभाषा 'प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' भट्टतोत के नाम से ही उद्धृत की है। काव्यानुशासन में यह परिभाषा अज्ञात आचार्य के नाम से उद्धृत है।[2] काव्यकौतुक नाट्यशास्त्र पर लिखा गया भाष्य था इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु अभिनव भारती से इतना तो विदित होता ही है कि भट्टतोत नाट्यशास्त्र के महान् व्याख्याता थे और नाट्यशास्त्र के पाठ भेद की जो परंपरा थी, उसकी एक प्रधान शाखा के समर्थकों और व्याख्याकारों में वे थे। अभिनव भारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने उसी पाठ को प्रश्रय दिया है।[3] यदि अभिनवगुप्त का साहित्य-सर्जना-काल दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी हो तो भट्टतोत का काल दसवीं सदी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। भट्टतोत नाट्यशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष के महान् प्रवर्तकों में थे।[4]

पिछले पृष्ठों में हमने भरत के पूर्ववर्ती अज्ञात आचार्य, नाट्यशास्त्र में उल्लिखित आचार्य तथा नाट्यशास्त्र के भाष्यकारों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस रूपरेखा द्वारा यह हम स्पष्ट रूप से देख पाते हैं कि लगभग ईस्वीपूर्व दो-तीन सदी पूर्व से ही नाट्यशास्त्र की परंपरा भारत में प्रचलित थी और नाट्यशास्त्र के विधिवत् संपादन हो जाने पर उसने जहाँ एक ओर कवियों और नाटककारों, काव्य एवं नाट्यशास्त्रकारों की गहन चिंता धारा को प्रभावित किया वहाँ भारत के महान् प्रतिभाशाली भट्टतोत, उद्भट, भट्टलोल्लट, शंकुक भट्टनायक, श्रीहर्ष, मातृगुप्त, कीर्तिधर और अभिनवगुप्त आदि महान् विचारकों की बौद्धिक चेतना के विकास का केन्द्र भी वह बना रहा है।

---

१ काव्यानुशासन, पृ० ४३२ (तथा चाहभट्टतोत—नानृषिकवि)।
२ प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा।—काव्यानुशासन, पृ० ६।
काव्यप्रकाश संकेत, पृ० ७, तथा औचित्यविचारचर्चा कारिका—३५।
३ पठितोद्देशकमस्तु अस्मदुपाध्याय परंपरागत।—अ० भा० भाग २, पृ० २०८।
४ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स पी० वी० काणे, पृ० २२०।

द्वितीय अध्याय

भारतीय नाट्योत्पत्ति

भारतीय नाट्योत्पत्ति

नाट्योत्पत्ति परपरागत मान्यताएँ

भारतीय नाटयोत्पत्ति के इतिहास के सबध मे विचार करते हुए चारो वेदा, ब्राह्मणग्रन्थ, सूत्र साहित्य, वीर काव्य, प्राचीन शिलालेख, जातक कथाओ, विश्व की विभिन्न जातियो और सप्रदायो की विभिन्न सस्कृतियो सभ्यताओ, पूजा एव उत्सव आदि की विभिन्न परम्पराओ, प्राचीन भवनो, रगमण्डपो और मूर्तियो आदि पर हमारी दृष्टि जाती है। इस सदर्भ म नाटय शास्त्र म प्रतिपादित नाटयोत्पत्ति के वेद एव धममूलक तथा लौकिकतामूलक विचार से लेकर आधुनिक विद्वानो द्वारा प्रतिपादित प्रेतात्मावाद छायानाटयवाद, मूकनाटयवाद तथा पुत्तलिका नत्यवाद आदि विभिन्न विचार और वाद हमारी समीक्षा की परिधि म आते हैं।

नाटयशास्त्र मे उपलब्ध नाटयोत्पत्ति का इतिहास सभवत विश्वसाहित्य मे प्राप्त नाट्य के उदभव का सर्वाधिक प्राचीन विवरण है। ईस्वीपूर्व पाँचवी सदी से दूसरी सदी के मध्य जातीय कला और साहित्य के उदभव का इतना स्पष्ट इतिहास शायद ही किसी अन्य राष्ट्र के जातीय साहित्य म प्रस्तुत किया गया हो।[१] इसम प्राक्दण्डा आयजाति की सभ्यता और सस्कृति एव कला और साहित्य के क्षेत्र म दो भिन्न जातियो के मध्य उभरते हुए सघर्ष का अत्यन्त सजीव एव प्रामाणिक वत्त प्रस्तुत किया गया है। नाटय के विभिन्न अगो—सवाद, अभिनय, गीत और रसादि की उत्पत्ति विभिन्न वेदो से हुई, इसका उल्लेख भी अत्यन्त स्पष्ट रूप स किया गया है। अत इस प्रामाणिक ग्रन्थ के आधार पर पहले हम नाटयोत्पत्ति का इतिहास और विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं तदनन्तर एतत्सम्बन्धी अन्य मतो और वादो की भी समीक्षा करेंगे।

चार वेदों से नाटय का सृजन—*त्रेता युग के मनु ववस्वत युग म इन्द्र आदि दवताओ के* अनुरोध को स्वीकार कर ब्रह्मा न ऋग्वेद से पाठय, यजुर्वेद से अभिनय सामवेद से गीत और

१ प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद हजारीप्रसाद द्विवेदी।

अथर्ववेद से रस ग्रहण[1] कर वेदोपवेद से सम्बन्धित 'नाट्यवेद' की सृष्टि की। भरतमुनि को नाट्यवेद की शिक्षा दी तथा आदेश दिया कि अपने शत पुत्रों के सहयोग से नाट्यवेद का प्रयोग करें। इस क्रम में नाट्य की मातृरूपा भारती आरभटी और सात्वती आदि वृत्तियों का प्रयोग तो वह कर सके। परन्तु स्त्री प्रधान कैशिकी वृत्ति का प्रयोग वे नहीं कर सके, क्योंकि नाट्यप्रयोग के लिए स्त्रियाँ उपलब्ध न थीं। भरत ने भगवान् शिव के नृत्य में सुकुमार शृंगाररस-समृद्ध नृत्य और अंगहार-सम्पन्न कैशिकी का रूप देखा। भरत के निवेदन करने पर ब्रह्मा ने पुनः मन से ही अप्सराओं का सृजन कर उन्हें सौंप दिया। वे नाट्यालंकार में अत्यन्त निपुण थीं। वृत्तियों की पूर्णता के उपरान्त स्वाति जैसे भांडवादक नारदादि जैसे गायकों का भी सहयोग मिला। इस प्रकार चारों वेदों से नाट्य के प्रधान चार अंग, चार वृत्तियाँ और गान-वाद्य आदि की सहायता में नाट्य का प्रयोग आरम्भ हुआ।

नाट्य का प्रयोग—महेन्द्रध्वज का महान् अवसर था। दैत्यदानवों के नाश से उल्लसित देव आनन्द मना रहे थे। महेन्द्र विजयोत्सव के शुभसमारोह में भरत ने 'दैत्यदानवनाशन' नामक नाट्य प्रस्तुत किया। इसमें दैत्यदानवों की पराजय कथा निबद्ध थी। अतः ब्रह्मा आदि देवता तो इस प्रयोग से परितुष्ट हुए और भरत-सुतों को विष्णु आदि ने नाट्य के अनेक उपकरण—ध्वजा, सिंहासन, छत्र, सिद्धि और श्राव्यता, भाव, रस और रूप आदि देकर सम्मानित किया। पर दैत्यदानव तो अपनी पराजय को नाट्यायित देख अत्यन्त क्षुब्ध और क्रुद्ध हुए। और वहीं प्रयोग काल में सब का विध्वंस करने लगे। अभिनेताओं के पाठ्य काय-व्यापार और स्मृति को स्तम्भित कर दिया। नाट्य प्रयोक्ता और सूत्रधार मूर्च्छित हो गए। सभाभवन विघ्नों से भयातुर हो उठा। तब देवराज इन्द्र ने अपनी ध्वजा से उन असुरों पर प्रहार कर उन्हें जर्जर देह कर दिया। तब से इन्द्र की यह ध्वजा रंगमंडप पर 'जर्जर' के नाम से ही विख्यात हो गई और विघ्ननाशक तथा रक्षक शक्ति के प्रतीक के रूप में इसका प्रयोग होने लगा। पर दानवों का प्रकोप कम न हुआ। वे सदा ही भयभीत करते। भरत से दानवों के प्रकोप की बात सुनकर ब्रह्मा ने पुनः विश्वकर्मा को नाट्यमंडप की रचना का आदेश दिया और उन्होंने अविलंब ही सर्वलक्षण-सम्पन्न अतिभव्य और सुन्दर नाट्यवेश्म की रचना कर दी। इस नाट्यमंडप की रक्षा में चन्द्र, सूर्य वरुण इन्द्र, शंकर, ब्रह्मा, विष्णु और स्कन्द आदि देवता भी तत्पर थे। ब्रह्मा ने तदुपरान्त दानवों से अनुरोध किया कि वे क्रोध और विषाद त्याग दें। देवताओं और दानवों के शुभाशुभ विकल्पक कर्म, भाव और वंश की अपेक्षा करके ही इस नाट्यवेद की रचना हुई है। इसमें एकान्ततः देवताओं अथवा दानवों के ही चरित्र का प्रदर्शन नहीं किया गया है अपितु नाट्य में इस विश्व के समस्त भावों का

---

१ वेद में सृष्टि की दो धाराएँ हैं—अग्नि और सोम। दोनों नाना प्रकृति और एक योनि हैं। दोनों के योग से अग्नि सोमात्मक जगत् की सृष्टि हुई। अग्नि की धारा से ऋक् यजु और सोम की धारा से अथर्व की रचना हुई। यह सोम प्रजापति का स्वेद रूप है। शिव के लिंग का स्थाणु रूप आग्नेय है (अग्नेर्वै रुद्रः)। अग्नि और सोम के द्वारा सृष्टि विकसित होती है। वैसे ही नाट्यरूप अग्नि के लिए सोम अपेक्षित है। अग्नि और सोम के समन्वय से सुखदुःखात्मक नाट्य की गति नियमित होती रहती है। नाट्य का सुख सोमरूप है, दुःख अग्निरूप है।—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ मौखिक परिसंवाद के आधार पर।

२ नाट्यशास्त्र १।१२०, २१२५, ४०४५, २०।१।

प्रदशन कराया गया है।[1]

रगपूजा समाप्त कर ब्रह्मा के आदेश से भरत न सवप्रथम 'अमतमथन' नामक सम्पूण नाटय का प्रयोग हिमालय के रजत शृग पर प्रस्तुत किया। जहाँ सुदर लतापरिवष्टित कदराएँ थी, रम्य निझरिणिया का कल-कल नाद हो रहा था और पक्षिया का कलरव मारे दिग्दिगन्त को मधुर और मुखर कर रहा था। यही शिव के आदश म 'त्रिपुरदाह' का भी भरत न प्रयोग किया। इस क्रम म शिव के आदेश म नाटय म तण्डु न पूवरग की शोभावद्धि के लिए ललित अगहारा का भी विधान किया। इसम नत्त गान एव भीण्डवाद्य की योजना की गई। ब्रह्मा का नाट्यवेद म नत्त का भी समन्वय हुआ।[2]

नाटयोत्पत्ति की कथा का विस्तार नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय म भी हुआ है। तदनुसार नहुष (न+हुत) को नाटयावतरण का श्रेय मिलना चाहिए। मनुभूमि पर नहुष के अनुरोध से ही बाधित हो भरत ने अपन अभिशप्त पुत्रा को नाट्यप्रयाग के लिए भेजा। उन्होन मनुष्य लोक म आकर विवाह किया और अपनी सन्ताना के द्वारा नाटय का प्रयोग प्रस्तुत कर लोकमात्र का अनुरजन किया।[3]

नाटय का प्रयोजन—परम्परा के अनुसार वद शूद्रा को नही सुनाया जा सकता। पचम नाटयवेद तो सावर्वणिक है और तीनो लोका का भावानुकीतन रूप है। मनुष्य जीवन के मगल के लिए नाटय म न जाने कितने तत्वा का सकलन होता है। कही धम कही विनाद, कही काम, कही हास्य, कही शम और कही वध का भी प्रदशन इसम हाता है। धार्मिका के लिए धम, कामाप सेवियो के लिए शृगार, दुर्विनीता के लिए सयम विनीता के लिए दमन क्रिया, शूरा और अभिमानिया के लिए उत्साह, दु खपीडिता के लिए धय अर्थोपजीविया के लिए अथ तथा उद्विग्न चित्त को धय प्रदान करता है। नाना प्रकार के भावा और अवस्थाआ से परिपूण लोकवत्त का सजातीय अनुकरण रूप यह नाटय होता है। यह नाटय विश्वजीवन की ऐसी विशाल रगवेदिका है, जिस पर कौन ज्ञान, कौन सी विद्या, कौन सी कला और कौन सा योग या कम है, जिसका नाटय म प्रदशन नही होता।[4]

अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ और नाटयोत्पत्ति

अन्य नाटयशास्त्रीय ग्रन्था मे उपलब्ध नाटयोत्पत्ति का विवरण नितान्त भरतानुसारी है। अभिनय दपण, रसाणव सुधारक, नाटकलक्षण रत्नकोष और भाव प्रकाशन आदि ग्रन्था म[5] उपलब्ध एतत्सबधी विचारो म किसी प्रकार की मौलिकता नही है। भावप्रकाशन की कथा म किंचित् भिन्नता इस अथ म है कि नाट्यवेद के सजन का श्रेय यहाँ शिव को प्राप्त है तथा केवल एक विशिष्ट भरत का उससे सम्बन्ध कल्पित न कर भरतादि से कल्पित किया गया है। मनुभूमि

१ एव प्रयोग प्रारब्ध दैत्यदानवनाशने। ना० शा० १।५४ ६६, ७० ७८ (गा० ओ० सी)।

२ ना शा० ४।१० १८, ४। ६० ६६।

३ ना० शा० ३६।७१ ७२।

४ तन्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगोन तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन् न दृश्यते॥ ना० शा० ११२ ११६।

५ अभिनयदपण पृ० १२, श्लोक ६८ १००, र० सु० १।४८ ४५, ना० ल० को प० १८३, भा० प्र०, पृ ५६, २८७।

पर नाट्यावतरण का श्रेय नहुप क स्थान पर मनु का प्राप्त है। नाट्यशास्त्र म उल्लिखित
'त्रिपुरदाह' के अतिरिक्त 'दशावतारधरा' और कल्याणराम आदि नाटका का उल्लेख है।

नाट्यशास्त्र के कुछ निष्कर्ष

पिछले पृष्ठा म नाट्यशास्त्र म प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की।
इसके विश्लेषण म नाट्य के उद्भव क सम्बन्ध म कई महत्त्वपूर्ण तथ्या का पता चलता है।
वस्तुत आख्यान और इतिहास क आवरण म ढँके हुए विचार तत्त्व नाट्य के उद्भव की गति
हासिक व्याख्या का माग प्रशस्त करते हैं। हम उनम स कुछ महत्त्वपूर्ण विचार बिन्दुआ का प्रस्तुत
करते हैं

(१) नाट्योत्पत्ति क सम्बन्ध की परिकल्पना ब्रह्मा विष्णु शिव और इन्द्र प्रभृति देवताआ स
की गयी है। वस्तुत यह ता भारतीय साहित्य की परम्परागत विशेषता है। देवी
शक्तियो क आशीर्वाद की परिकल्पना के अतिरिक्त दूसरा कोई और महत्त्व नही है।
नि सन्देह शव और वैष्णव सम्प्रदाया का नाट्य क उदभव म योगदान कम नहीं है।

(२) ब्रह्मा न चारो वेदा से सवाद अभिनय गीत और रस जस नाट्यतत्त्वा को ग्रहण कर
'नाट्य' का सजन किया। वस्तुत वेदा म समस्त लौकिक साहित्य के स्रोत के अनुसधान
की प्रवत्ति वतमान रही है। पर भारतीय नाट्य क बीज वेदा म हैं और उनमे नाट्य को
प्रेरणा मिली इस मान्यता का समथन आधुनिक विद्वाना न भी किया है।

(३) नाट्यशास्त्र के अनुसार वेद सावर्णिक नही, परन्तु नाट्यवेद सावर्णिक है। नाट्य की
सावर्णिकता उसकी लौकिकमूलकता की घोषणा करती है। भरत न नाट्यविद्या के
स्रोत क रूप म समान रूप से वेद और लोक की महत्ता की स्थापना की है। नाट्य का
प्राणरस लोक चेतना से स्पदित होता रहता है। उसके मूल म लोकोत्सव प्रेरक शक्ति
के रूप म अपना महत्त्व प्रदर्शित करते हैं जिनम तीनो लोका का भावानुकीर्तन और
जन मन के अनुरजन का भाव वतमान रहता है। 'दैत्यदानवनाशन' का प्रयोग इन्द्र
पूजोत्सव के अवसर पर हुआ। जातीय जीवन म प्रचलित ये महान् उत्सव भी
आंशिक रूप म नाट्योदभव के स्रोत बने रहे हैं। नाट्य की लोकमूलकता की स्थापना
भरत ने की है। इन्द्रध्वजोत्सव सदियो तक शरत्कालीन उत्सव का उत्तर भारत में
केन्द्र रहा है।[१] भारतीय नाटका का विकास भी इसका समथन करता है। अधिकाश
प्राचीन भारतीय नाटक राम और कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित आख्यान और उत्सवा
से प्रेरणा ग्रहण कर परिपल्लवित हुए हैं।

(४) नहुष के अनुरोध पर अभिशप्त भरत-पुत्रा द्वारा मनुभूमि पर नाट्य प्रयोग की कथा
नाट्य की लोकमूलकता तथा उसम आर्येतर शक्तिया के सहयोग की ओर सकेत करती
है। क्योकि नहुष वेदा एव वीरकाव्यो म आर्यजाति की तेजस्विता के प्रतीक इन्द्र के
प्रचण्ड विरोधी रूप मे विख्यात रहे हैं।[२] अत नाट्योत्पत्ति का दायित्व शूद्रावस्था मे

१ महाभारत, आदिपर्व ६३।१७-२०।

२ (न+हुप) नहुष का वणन आयविरोधी के रूप में ऋग्वेद में मिलता है। इन्द्र ने दस्युओं के अतिरिक्त नहुष के दुर्गों को भी नष्ट कर दिया। स नहुषो नहुषोऽभ्यन् सुराब पुरोऽभिनत्॥ ऋक १०।९९।

पनित सामान्य लोकजीवन प्रवृत्तियों से प्रेरित भरता और नहुष जसे इन्द्र (यज्ञ) विरोधियों को भी मिलना चाहिए। इसी आधार पर यह कल्पना की जाती है कि प्राक भारोपीय आर्यों के पास नाटय न थे।

(५) नाटयप्रयोग के क्रम मे कशिकी वत्ति के लिए अप्सराओ के सजन की बात से यह बात सिद्ध हो जाती है कि आरभ स पुरुष पात्र ही नाटय का प्रयोग करते थे, बाद म स्त्री पात्रा का भी प्रवेश भारतीय रगमच पर हुआ।

(६) नाटयमडपो की परिकल्पना और रचना बहुत बाद मे हुई होगी, आरभ म मुक्ताकाशी रगमच होते थे।

भरत प्रतिपादित नाटयोत्पत्ति के इतिहास के विश्लेषण से हम इन निष्कर्षों पर पहुचत है कि (क) नाटय का वदा मे सहायता प्राप्त हुई (ख) लोकोत्सव और ऋतूत्सवा ने मनोरजन और लोकचेतना स अनुप्राणित किया (ग) नाटय के उदभव, विकास और प्रयोग म आर्येतर शक्तियो का भी दायित्व था, (घ) विभिन्न देवताओ की जीवन गाथाओ ने भी प्रेरणा दी (ङ) नाटयप्रयोग म महिलाआ का प्रवश बहुत बाद म हुआ (च) नाटयमडप की रचना बाद म हुई और (छ) गीत, नत्त और नत्य बाद मे नाट्य क अग बने।

नाटयोत्पत्ति की आधुनिक विचारधारा

भारतीय नाटय के उदभव और विकास के सम्ब ध म भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की है। उनम से प्रधान मान्यताआ की समीक्षा कर निश्चित निष्कर्षों पर पहुचने का प्रयास करेंगे। अनेक आधुनिक विद्वान् भरत प्रतिपादित नाटय की देव वेद धम मूलकता का विभिन्न आधारा पर समथन करत हैं तथा दूसरे बहुत से विचारक नाटयोद्भव के स्रोत के रूप म वेद और धम को अगीकार न कर मुख्य रूप से लाक भावना और लोक सस्कारा का महत्त्व प्रतिपादित करते है।

नाटयोदभव के स्रोत वेद और धम—प्राचीन आर्यो न वदा को ईश्वरीय ज्ञान के रूप म समादत किया है। वेद आर्यों के बौद्धिक विकास धम सभ्यता और सस्कृति का पवित्र उदगम है। भरत ने चारो सहिताआ को नाटय का उद्गम स्रोत माना है और लोक-सस्कारो को भी। आधुनिक विद्वानों ने नाटयोद्भव की दृष्टि स वेदो का विश्लेषण कर यह प्रतिपादित किया है कि वेदा म नाटय के बीज वतमान थे, जिनस नाटयरचना म सहायता मिली हागी। नाटय म सवाद या पाठय का बडा महत्त्व है। केवल ऋग्वेद म लगभग पन्द्रह ऐसे सूक्त है जिनम नाटय शली का सवाद उपलब्ध है। इस दष्टि से यम-यमी' पुरुरवा-उवशी, इन्द्र-अदिति वामदेव, इन्द्र इन्द्राणी वृषाकपि, शमा पणिस विश्वामित्र नदी इन्द्र मरुत तथा अगस्त्य लोपामुद्रा सवाद मुख्य हैं।[१] प्रसिद्ध पाश्चात्य मनीषी मक्समूलर महोदय ने[२] सवाद सूक्तों के आधार पर यह कल्पना की है कि इन सवाद सूक्ता को मत्रवाचक दो दलो म बँटकर पाठ किया करते हो और आश्चय नही कि साथ मे अनुकरण भी किया जाता हो। मक्समूलर के विचारो का उपबृहण करते हुए लेवी महोदय

१ ऋ० १०।१०।७, १०।१०।१४, १०।६५।२ ६।१८।५, १०।८६ ६, १०।१८।१०७, ११७६।

२ मेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, भाग ३२, पृ० १८२।

म¹ तो यहाँ तक प्रतिपादित किया कि ऋग्वेद में ऐसी कुमारी बालिकाओं का परिचय है जो सुन्दर वेशभूषा धारण कर अपने प्रेमियों को मुग्ध किया करती थीं। सामवेद के रचना काल में संगीत कला का विकास हो चुका था और संगीत नाट्य का शृंगार है। अथर्ववेद में पुरुषों के नर्तन और गायन का उल्लेख है। पर श्राडर महोदय² ने उन दोनों विद्वानों से भिन्न कल्पना करते हुए यह प्रतिपादित किया कि वैदिक संवाद सृष्टि प्रक्रिया के अनुकरण रूप हैं। विश्व की अति प्राचीन जातियों में मधुनिक नृत्य की भी परंपरा वर्तमान थी। उन नृत्यों में सृष्टि प्रक्रिया की भी अभिव्यक्ति प्रदान की जाती थी। संभवतः वैदिक पुरोहित भी इन संवादों को प्रस्तुत करते हुए नृत्य गीत का प्रयोग करते थे। हर्टेल महोदय की³ मान्यता है कि इन सूक्तों का गायन होता था। सुपर्णाध्याय इस दृष्टि से ध्यातव्य है। संभव है ये गीत-संवाद 'यात्रा' के रूप में अवशिष्ट रह गये हों। परन्तु श्राडर और हर्टेल के मतों से पूर्णतया सहमत होना संभव नहीं मालूम पड़ता। आचारवान् वैदिक पुरोहित यज्ञानुष्ठानों के पावन अवसरों पर मिथुन नृत्य करते हों यह संभव नहीं मालूम पड़ता और सूक्तों का गायन होता था। इसका निश्चित प्रमाण नहीं है।

ओल्डेनबर्ग, पिशल और विंडिश्च प्रभृति विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया कि वैदिक मंत्रों में उपलब्ध गद्य-पद्य का मिश्रित रूप भारतीय नाटक के गद्य पद्यात्मक रूप के विकास का स्रोत है। परन्तु वैदिक साहित्य की विशाल परंपरा में गद्य-पद्य की विमिश्रित शैली के उदाहरण नहीं मिलते। शतपथ ब्राह्मण में शुन शेप तथा पुरुरवा उर्वशी संवाद गद्य पद्य की विमिश्रित शैली के पूर्ण उदाहरण नहीं हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि संस्कृत प्राकृत नाटकों में गद्य अपरिहार्य है और पद्य का प्रयोग तो भावावेश की ही दशा में होता है। ऋग्वेद के संवादों में नाट्य का पाठ्यांश बीजरूप में वर्तमान है। यह मान्यता भरत और भारतीय चिंतन के अनुकूल है।

वैदिक कर्मकाण्ड में नाटकीय तत्त्व—वैदिक ऋषि ऋग्वेद की स्तुति-उपासना के उपरान्त यज्ञों के विशाल समारोहों में सदियों लगे रहे। अश्वमेध, पुरुषमेध, सोमयाग महाव्रात और पौर्णमास याग आदि का विधान आयोजन होता था। इनमें महाव्रात बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें शीतकालीन सूर्य को शक्ति प्रदान करने की कल्पना की गई है। ग्रीष्म और शीत के युद्ध में ग्रीष्म का प्रतिनिधित्व गौरवर्ण के आर्य करते और शीत का कृष्णवर्ण के शूद्र। महाव्रात की इस विधि का नाटक में पात्रों के अनुकरण से बहुत स्पष्ट साम्य है। इस रूप में नाटक की अनुकरणमूलकता के बीज विशृंखल रूप में ही सही इन कर्मकाण्डों में उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद के मंत्रों के पाठ में हस्तसंचालन की विविध विधियों का प्रयोग होता है इन्होंने भी भाव प्रदर्शक अभिनय विधियों के लिए प्रयुक्त हस्तप्रचार के विकास में योग दिया हो।⁴

यजुर्वेद में नाट्य के पात्र और नेपथ्य की सामग्री—यजुर्वेद का तीसवाँ अध्याय नाट्योद्भव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें नाट्य के पात्र, नेपथ्य की विविध सामग्रियों और वाद्ययन्त्रों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। सूत के लिए नृत्य गीत के लिए शलूष, हास्य के अनुकरण के लिए कारि (विदूषक) वामन और कुब्ज आदि से यह वेद सुपरिचित है। गन्धर्व,

१ विन्टरनित्ज पृ० ३०७ (१८६०) जर्नल १।६१।४।
२ संस्कृत ड्रामा कीथ, पृ० १५, संस्कृत ड्रामा कीथ पृ १६।
३ नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा। अथर्व — १२।४१।६ प्र० द्वि०, पृ० ५।
४ संस्कृत ड्रामा कीथ, पृ २४।

अप्सरा, चित्रकारिणी, वीणावादक पाणिघ्न (हाथ से बजाया जाने वाला), तूणवध्म (तबला), तवल (मजीरा), मागध आदि का उल्लेख किया गया है।[1] ये पात्र, ये सारी सामग्रियाँ नाट्य के प्राण और शोभाधायक हैं। हाँ इन सबमें 'नट' शब्द का प्रयोग न होना खटकता है। पर क्या यह संभव नहीं है कि नृत्य नृत्त शब्द से 'नट' शब्द से विकसित हुआ हो। नाट्य के इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि नाट्य विकास की उस सीमारेखा पर था जब उसमें नृत्य, गीत मनोविनोद और अनुकरण आ मिले थे और विदूषक का पूर्वरूप कारि, रैभ, वामन के विभ्रमण रूप में अभी पनप ही रहा था। यजुर्वेद-काल में नाट्य वैदिक परंपराओं से स्वतंत्र रूप धारण करने के महान् प्रयास में संलग्न था।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन और अनुशीलन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। ब्राह्मण काल तक गीत और नृत्य की गणना कला के रूप में होने लगी थी।[2] पारस्कर गृह्यसूत्र में द्विजातियों द्वारा इस कला का प्रयोग निषिद्ध माना गया है।[3] महाव्रत याग में अग्निवेदी के चारों ओर नृत्य एवं गायन करती महिलाएँ इन्द्र से वर्षा और कृषि की समृद्धि के लिए प्रार्थना करती थीं।[4] उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात तो प्रमाणित हो जाती है कि आर्यों की मनीषा पर वैदिक साहित्य का व्यापक एवं अक्षुण्ण प्रभाव था। ऋग्वेद के पाठ्यांश, यजुर्वेद की सस्वर पाठ्यप्रणाली की विभिन्न अभिनयपूर्ण मुद्राएँ और सामवेद की गीतशैली ने शनैः शनैः नाट्यरचना को रूप देने में सहायता दी होगी। यह स्वाभाविक ही है कि वेद में इन सूक्तों तथा लोक जीवन की शाश्वत धारा से प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण कर भारतीय नाट्य किसी-न किसी रूप में बहुत पहले जन्म ले चुका था। वैदिक यज्ञों के समान नाट्य भी 'चाक्षुष क्रतु' ही था, 'नयनोत्सव' था।[5] बल्कि मंत्रों के विपरीत इसमें क्रीडनीयकता की प्रधानता थी, उपदेशपरकता गौण। भारतीय नाट्य सम्भवतः वीरकाव्य की प्रतीक्षा में था, जिनके बिना यह पूर्णता प्राप्त न कर सकता।

नाट्योदभव के अवैदिक स्रोत—बहुत से आधुनिक विद्वानों ने 'नाट्य' की वेद धर्म मूलकता का खण्डन किया है। नाट्यशास्त्र द्वारा नाट्य को पंचमवेद घोषित कर देने मात्र से 'नाट्योदभव' का वह स्रोत नहीं माना जा सकता।[6] यूरोप के नाटकों का उदभव विभिन्न धार्मिक प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ है। ग्रीस के दुःखान्त एवं सुखान्त नाटक धर्ममूलक ही थे। क्रिस्ट का करुणामय बलिदानपूर्ण समस्त जीवन-व्यापार और चर्चों में प्रचलित पूजा पद्धति की विशद प्रक्रिया सब-कुछ नाटकीय है। यूरोप में प्रचलित 'मास' की पद्धति भी इस तथ्य की पुष्टि करती है।[7] अतः यूरोप के नाट्योदभव में धर्म का जो महत्त्व माना जाय, पर भारतीय नाट्य की

---

[1] नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं, नर्माय रेभं, हासाय कारिम्, अक्षादभ्यो कुब्जं प्रमुदे वामनम्।
यजुर्वेद ३०।६, ८, १ १४, २०।

[2] कौशितकी ब्राह्मण २९।५।

[3] पारस्कर गृह्यसूत्र २, ७, ३।

[4] शांखायन आरण्यक, पृ० ७२।

[5] शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। मा० अ० अ० १ ४।

[6] The mere mention of N S as Vth Veda or of the fact that the elements of the drama were taken out of the four Vedas is of no importance *Drama in Sans Lit* p 33, R V Jagirdar

[7] ब्रिटिश ड्रामा, पृ० १५ २०।

उत्पत्ति में वेद और धर्म का यह महत्त्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। यूरोप के विपरीत भारतीय धर्म एवं समाज के क्षेत्र में एकता का नहीं विषमता का भाव था। समाज में कई स्तर थे। आर्यों के पवित्र ग्रंथ वेदों के सुनने का अधिकार निम्न श्रेणी के शूद्रों को नहीं था। नाट्यशास्त्र के अनुसार पंचमवेद नाट्य का सृजन इसीलिए हुआ कि सब वर्ण 'नाट्यामृत' का पान कर सकें।[१] सूत्रधार को छोड़ रजक, चित्रकर, आभरणकृत, माल्यकार, कमकृत आदि प्राय सब नाट्यशिल्पी हैं, समाज की निम्न श्रेणी के हैं।[२] भरत-पुत्रों के अभिशाप, नहुष (न+हुत) द्वारा नाट्यावतरण, भरत पुत्रों द्वारा मनुष्य लोक में नाट्यप्रयोग, महाभाष्य, स्मृति एवं धर्मग्रन्थों में नाट्य शिल्पियों की हीन सामाजिक दशा तथा सूता, शलूषा, रूपाजीवा और जयाजीवा की हीनता आदि के प्राप्त विवरणों की समीक्षा नाट्योद्भव के अवैदिक स्रोतों का भी संकेत करते हैं।[३] भारतीय नाट्य के उद्भव में धर्म और धार्मिक अनुष्ठानों का दायित्व नाममात्र को भी नहीं है। जिन समुदायों ने नाट्य के उद्भव में योग दिया यदि वे अनार्य नहीं थे तो वेद विरोधी अवश्य होंगे। अत नाट्योद्भव का स्रोत धर्मविहीन जीवन की कोई अन्य जीवन्त शाश्वत धारा है न कि वेद और वेदानुशासित धर्मधारा।

प्राचीन वैदिक धर्म लोकधर्म का प्रतिरूप—नाट्य की वेदधर्म विरोधिता और लोकपरकता के सन्दर्भ में उपयुक्त विचार तथ्य से युक्त नहीं मालूम पड़ते। स्वयं भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्य-स्रोत के विवेचन के प्रसंग में वेद से गृहीत नाट्यतत्त्वों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि वेद तथा अध्यात्म की अपेक्षा नाट्य में लोक अधिक प्रमाण माना जाता है।[४] *वेदों का स्रोत के रूप में उल्लेख का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि परंपरावश उनका नाम* स्मरण किया गया है। यह तो इसीसे प्रमाणित हो जाता है कि अनेक आधुनिक विद्वानों ने विभिन्न वेदों में प्राप्त नाट्यतत्त्वों का अनुसंधान कर, उनकी पारस्परिक तुलना कर आंशिक रूप से नाट्योद्भव का उन्हें श्रेय प्रदान किया है। अत वेद के साथ लोकभावना और लोकसंस्कार भी नाट्योद्भव के आधार रहे हैं यह एक स्वीकृत तथ्य है।

प्राचीन भारतीय समाज की विषमता और शूद्रों को वेद के उपयोग से वंचित करने का प्रश्न है आंशिक रूप में यह आक्षेप स्वीकार किया जा सकता है। पर प्राचीन काल में आर्यों में वर्णव्यवस्था का आरंभ सामाजिक संगठन और एकता के सूत्र में पिरोने के लिए ही हुआ था। विभिन्न व्यवसायों की भिन्नता के आधार पर समाज के संरक्षक और पोषक तत्त्वों का संगठन और तदनुकूल वर्गीकरण किया गया था। यजुर्वेद में आर्यों की वर्णव्यवस्था की तुलना मनुष्य के अंगोपांगों से की गई है। मुख, बाहु, जांघ और पाँव आदि प्रमुख अंग परस्पर संगठित होकर शरीर की रचना करते हैं उसी प्रकार चारों वर्ण सम्पूर्ण आर्य समाज के संघटक तत्त्व थे।[५]

वस्तुत प्राचीन काल में वैदिक धर्म भी लोकधर्म के रूप में इस देश में प्रचलित था। सभी

---

१ ना० शा० १ १२।

२ नाट्यशास्त्र ३५।६२।

३ ना० शा० ३५।८४ मनु० ८।३६२, याज्ञवल्क्य २।७०, महाभाष्य

४ लोक सिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभि ॥ ना० शा० २५।११९ २३।

५ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। यजु० ३१।११।

आय सगठित होकर अनार्यों पर आक्रमण करते थे। यह सभव है कि उन अनार्यों अथवा शूद्रा को वेदव्यवहार का अधिकार नहीं रहा हो। पर यह सभव नही मालूम पडता कि आय समुदाय के मध्य वदिक धम के अतिरिक्त कोई आर्येतर धम अधिक लोकप्रिय था और उसकी परपरा और आचार-व्यवहारा ने भारतीय नाटको को प्रेरित किया हो। लगभग चार पाँच हजार वर्षो तक वेदा म प्रतिपादित स्तुति-यज्ञ एव कमकाण्ड आदि आर्यों के विशाल समुदाय म लोकधम के रूप म प्रचलित थ। वैदिकेतर धम यदि कोई रहा भी हो तो आर्यों की उन्नत वदिक सभ्यता के निकट या तो वे टिक न सके या उन्ह ध्वस्त कर दिया गया होगा।

वेदा म प्राचीन आर्यो के लोकाचार, सस्कार और विश्वास जीवित है। इन आर्यो का लोकधम और चिन्तनधारा वदो मे प्रतिपादित है। लोक जीवन की यह सशक्त धारा वेदा से प्रेरणा ग्रहण करती थी और उनका आचार विचार तथा निष्ठाएँ उत्तर वदिक काल के साहित्य को भी प्रभावित करती रही हो तो आश्चय नही।[1] आर्यो क मध्य प्रचलित इतिहास और आख्याना के मूल वद ही थे। वेद इतिहास और आख्यान तथा उस युग म प्रचलित आर्यों के धार्मिक विश्वासो न मिलकर नाटय के उदभव के लिए प्रशस्त माग प्रस्तुत किया। हमारी दृष्टि से वदिक काल म लोकधम और वद इतिहास-आख्याना द्वारा प्रभावित लोक परम्परा इतनी पुष्ट और प्रबल थी कि उसक समक्ष अपेक्षाकृत दुबल और बौद्धिक दृष्टि से हीन अनार्यों की सभ्यता, धम और सस्कृति की धारा भारतीय नाटय के उदभव को प्रभावित करने की सक्षम स्थिति मे नही थी। नाटयशास्त्र म 'त्रिपुरदाह', दत्यदानवनाशन' और 'अमृतमथन' आदि नाटयप्रयोगा का उल्लेख है। इन नाटयो के वत्त प्राक् ऐतिहासिक काल की घटनाओ से सम्बद्ध हैं जब आर्यों अनार्यों के मध्य घोर सघष हो रहा था। आय सभ्यता के इतिहास म वह उत्कष और गौरव का युग था। जब आय जाति पूव और पश्चिम यूरोप म फल गई और दूसरी ओर अपने ज्ञान और शक्ति की उज्ज्वल रश्मियो का प्रसार करत हुए ईरान से भारत तक के विशाल भूभाग को आप्लावित कर दिया। ज्ञान विज्ञान, कला शिल्प तथा सभ्यता और सस्कृति के उत्थान की लहरो म अन्य हीन लोक-परम्पराए कसे टिकती। वे बह गइ, डूब गइ। इसलिए किसी भारतीय कला का स्रोत वेद एव वद प्रभावित अन्य प्राचीन साहित्य मे ही उपलब्ध हो सका। स्वभावत भारतीय नाटय के स्रोत वेद, उत्तरकालीन इतिहास-आख्यान एव लोक-सस्कार एव परम्पराएँ थी। अत नाटयशास्त्र तथा उनसे आधुनिक विद्वानो की यह मान्यता कि वेद, याज्ञिक कमकाण्ड तथा आर्यों का लोकाचार नाटय के उदभव का स्रोत था—तकसम्मत तथा तथ्यपूण है।[2]

नाटय मे धार्मिक और लोकचेतना—भारतीय नाटय के उदभव मे वेद, धम और सम्प्रदाय न समान रूप से योग दिया। पर आर्यों क जन-जीवन की विभिन्न लोक परम्पराओ, लोक-सस्कारो और लोकोत्सवो का भी कम दायित्व नही रहा है। यह नितान्त सत्य है कि भारत धम प्रधान देश है और यहाँ की लोक चेतना सदा धमानुमोदित रही है। वदा और वीरका यो द्वारा लोक जीवन की उस धार्मिक चतना को निरतर बल मिल रहा था। सस्कृत नाटका म प्राकृत भाषा के प्रयोग की विविधता नाटक की लोकपरकता का समथन करती है। विदूषक सस्कृत

१ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० ५२ ५३, विंटरनित्स।

२ The hyms therefore, represent the beginnings of a dramatic art *The Sanskrit Drama*, p 17

नाटका का अत्यत लोकप्रिय पात्र है और लोक भावना का निकटवर्ती भी, पर वह भी नितात धम विच्छिन व्यक्तित्व नही है। उसके सजन की शृखलाएँ महाव्रात्य यज्ञ के ब्राह्मण तथा सोम विक्रेता शूद्र से जुडी हुई हैं।[१] यात्रा रामलीला, होलिको सव और दुर्गापूजोत्सव की परम्पराएँ धम स प्रेरित रही हैं और व नाटय की प्रेरक परिस्थितिया सदा से रही हैं। इनम वष्णव और शाक्त आदि सम्प्रदायो की भक्तिभावना और उदात्त जीवन शक्ति भारतीय नाटय की प्राण शक्ति रही है। उनमे राम और कृष्ण के गरिमामय जीवन स अनुप्राणित सामान्य लोक-जीवन की हृदय भूमि पर अकुरित भाव पुष्पो की धमसुरभित वाणी का गुजन है। होलिकोत्सव के मूल म विष्णु द्रोही हिरण्यकशिपु के नाश पर धम की विजय की कथा का उल्लास है। वस्तुत भारतीय नाटय के उदभव और विकास को लोक चेतना और धार्मिक चेतना दोना ने ही समान रूप से प्रेरणा और गति दी है। ये दोनो ही प्रवत्तिया एक दूसरे की विरोधी नही अपितु पोषक था। 'इन्द्रध्वजोत्सव इसी प्रकार का एक महत्त्वपूण लोको सव था।[२] इस अवसर पर आर्यों के राष्ट्र देवता इन्द्र की शक्ति और ओजस्विता का सोत्साह गायन होता था। यह पव सम्भवत वर्षान्त म शरदोत्सव क रूप मे मनाया जाता था। 'दत्यदानवनाशन का प्रयाग महेन्द्र विजयोत्सव के अवसर पर ही हुआ था। इन्द्रध्वज द्वारा ही प्रथम नाटय प्रयोग के अवसर पर दानवो को इन्द्र ने जजर किया था। इस आधार पर हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया है कि नाटय का प्रथम प्रयोग वहा हुआ होगा जहाँ वासो की अधिकता हो।[३] जजर उत्सव की महत्ता का उल्लेख महाभारत म भी मिलता है।[४] इन्द्रपूजा अभी भी भारत के बहुत स भागो म शक्ति, सौन्दय और उल्लास के प्रतीक के रूप मे मनायी जाती है। इस तरह 'इन्द्रध्वज भारतीय लोकोत्सव का मेरुदण्ड बन गया। जनागमो मे इन्द्रध्वजोत्सव का विवरण मिलता है। हमारा अभिप्राय यही है कि भारतीय लोकोत्सव धर्मानुमोदित थे तथा इन लोकोत्सवो ने भी नाटय की सम्भावनाओ को सुदृढ किया। अत नाटयोदभव म धम का तो महत्त्व है ही, धम प्रेरित लोको सव और लोक परम्पराएँ उसके लिए कम उत्तरदायी नही रह हैं।[५]

भारतीय धर्म सम्प्रदाय और नाटयोत्पत्ति

वदिक साहित्य के उपरान्त भारतीय मनीषियो द्वारा प्रस्तुत विशाल लौकिक साहित्य को विष्णु के अवतार 'राम' और 'कृष्ण' तथा शिव' के विलक्षण व्यक्तित्व ने अपनी जीवन रश्मि स आलोकित किया है। भारत की अध्यात्म एव धमधारा तथा कला चेतना के भी य अखड स्रोत रहे हैं। प्रस्तुत सन्दभ म यह विचारणीय है कि क्या इन व्यक्तित्वा के जीवन स प्रस्तुत विचारधारा एव सम्प्रदायो ने नाटयोदभव म योग दिया ?

१ संस्कृत ड्रामा कीथ, पृ० ८१।

२ अथ ध्वजमहे श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवतते। ना० शा० १।५४ ७४।

३ ओरिजिन ऑफ इण्डियन ड्रामा जनल ऑफ रॉयल बगाल एशियाटिक सोसायटी, बगाल न्यू सीरीज, भाग ८ पृ० ३५१, १९०६।

४ उत्सव कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नरा ।
भूमिरत्नादिभि दानै तदा पूज्या भवन्ति ये।—महाभारत शान्तिपर्व। ६३।१७।२७।

५ प्राचीन काल में प्रचलित इन्द्री मह नामक उत्सवों के मथन से प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र का जन्म हुआ।—भारतीय लोकधर्म वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० १०।

शिव सम्प्रदाय और नाटयोत्पत्ति—नाटय की शोभा के लिए प्रयुक्त 'उद्धत ताण्डव' और 'सुकुमार लास्य' नृत्यों का सम्बन्ध परम्परा से क्रमश शिव और पार्वती से रहा है। नाट्य शास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध वृत्तों से इसका समर्थन होता है।[1] वैदिक काल के परम प्रतापी देवता रुद्र परवर्ती काल में मनुष्य मात्र के सम्मुख शिव के रूप में अर्चना के लक्ष्य बन जाते हैं।[2] शिव नाटय और नृत्य के उद्भव एवं विकास में नटराज के रूप में विख्यात रहे हैं। उनका नृत्य माना सृष्टि चक्र का ही विराट नृत्य है, जिसमें भाण्डवाद्य का कार्य प्रकृति का पुरुष मेघ करता है।[3] कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्र में नाट्याचार्य गणदास ने नाटय विद्या के सम्बन्ध में शिव और पार्वती का स्मरण विशेष रूप से किया है कि अर्द्धनारीश्वर महादेव ने उमा से विवाह करके अपने ही अंग में ताण्डव और लास्य को दो भागों में विभक्त कर दिया।[4] कालिदास के तीनों नाटकों तथा शूद्रक के मृच्छकटिक में शिव की अभ्यर्थना की गई है।[5] अत नाटयोत्पत्ति में शिव के दायित्व के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री तथ्य की ओर संकेत करती है।

शिव का प्राक् आर्य रूप लैंगिक नृत्य—शिव की लिंग पूजा भारत में सदियों से प्रचलित है और उनका रुद्र रूप भी कम लोकप्रिय नहीं रहा है। शिव के इन दो रूपों में से नाटक के उद्भव में किसका योग रहा है यह एक विचारणीय प्रश्न है। यूरोपीय विद्वानों ने ग्रीक और मक्सिको की प्राचीन सभ्यता में प्रचलित लिंगनृत्यों के आधार पर नाटक के उद्भव की परिकल्पना की है।[6] उधर शिव पाशुपत ईश्वर के रूप में सिंधु घाटी में विख्यात थे। हरप्पा और मोहन जोन्दो के प्राचीन अवशेषों से प्राप्त बहुत सी मूर्तियों से शिवलिंग की परंपरा की पुष्टि होती है।[7] ऋग्वेद में आर्य विरोधियों के रूप में शिश्न देवों का वर्णन मिलता है।[8] इन प्राप्त सामग्रियों के आधार पर यह तो सिद्ध हो जाता है कि लिंग पूजा की परम्परा बहुत प्राचीन रही होगी। वह सृष्टि की प्रक्रिया का—विराट पुरुष और प्रकृति के मिलन का—मंगल प्रतीक है। परन्तु क्या शिव का यह रूप नाटयोद्भव में सहायक रहा होगा ?

शिव का नटराज रूप और नाटयोदभव—वैदिक एवं लौकिक साहित्य-स्रष्टा मनीषी

---

१ रेचकैरंगहारैश्चनृत्य त वीक्ष्य शंकरम्।
सुकुमार नृत्यप्रयोगेन नृत्यन्ती चैव पार्वतीम्।
—ना० शा० ४।२४६ ८१ (गा० ओ० सी०)।

२ मधुर लास्यमाख्यात उद्धत ताण्डव विदु। भाव प्रकाशन, पृ० ४५, ८६, २६६।

३ वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ५१६ (बलदेव उपाध्याय) तथा ऋक म० २।३३ ७ शतपथ १।७।१।८।
कुर्वन् मध्या बलिपरहृतां शूलिन श्लाघनीयाम्। पूर्वमेघ २६।

४ मालविकाग्निमित्र अ० १।५।

५ विक्रमोर्वशी अंक १।१, अ० शा० अ० १।१, मृच्छकटिक १।१।

६ संस्कृत ड्रामा कीथ, पृ० १६।
तथा कान्ट्रीब्यूशन्स टु द हिस्ट्री ऑफ दि हिन्दू ड्रामा, पृ० ६। —मदनमोहन घोष।

७ दि शाक्त पीठाज जॉर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी—बंगाल, भाग १४।१, पृ० १०८ १०६ (डी० सी० सरकार) १६४८।

८ न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभि।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं न।
ऋक ७।२१।५, १०।६६।३

सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत साहित्य की रचना कर रहे थे। उनमें प्राग्-आर्य शिव के अभद्र नग्न रूप के समावेश की सम्भावना नहीं की जा सकती। शिव की कल्पनाओं में सृष्टि, स्थिति और संहारकारी रूपों का उल्लेख है न कि लिंग नृत्य का। शिव के प्राक् आर्य रूप लिंग नृत्य से अनुप्राणित नाट्य की अश्लीलता के कारण ही प्राचीन बौद्ध-साहित्य में सामाजिक उत्सवों, नृत्य और गीत का निषेध किया गया है।[१] यह कल्पना संगत नहीं मालूम पड़ती है। वह निषेध तो केवल इसलिए है कि बौद्ध भिक्षु इन सामाजिक उत्सवों में प्रस्तुत शृंगार के सुकुमार दृश्य देखकर साधना और संयम के जीवन से विमुख न होने पायें। अतः शिव के लिंग रूप का नाट्योद्भव में योग रहा हो इसकी सम्भावना नहीं है।[२] यद्यपि प्राचीन जातियों में लिंग पूजा एक धार्मिक वृत्ति का ही प्रतीक थी।[३] परन्तु आर्य ऐसा रहे हों इसके निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। आर्यों ने शिव से सम्बन्धित उन असुसंस्कृत रूपों का त्यागकर ही उन्हें ग्रहण किया होगा। उनका नटराज रूप सृष्टि की आनन्दात्मक प्रक्रिया का प्रतीक है, सृष्टि चक्र आनन्द रूप है, नाट्य भी आनन्द रूप है, रस रूप है।[४] इस रूप में नाट्य के उद्भव में शिव का वर्तमान रूप ही नहीं, प्राक् आर्य रूप भी अंशतः उत्तरदायी हो तो आश्चर्य नहीं।[५] शिव का नाट्य और नृत्य के उद्भव में योगदान एक स्वीकृत सत्य है।

विष्णु के अवतार राम और कृष्ण—विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण बहुत लोकप्रिय रहे हैं। एक की जीवन गाथा रामायण में है तो दूसरे की महाभारत एवं श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में। रामायण एवं महाभारत का गायन एवं पाठ सदियों तक भारत एवं वृहत्तर भारत में होता रहा है। भारतीय नाट्योद्भव में इन दो महापुरुषों के जीवन की हृदयस्पर्शी घटनाओं तथा इन वीर काव्यों के पाठ और गायन को असाधारण श्रेय प्राप्त है।

खिष्टाब्द दो-तीन सदी पूर्व पातंजल के महाभाष्य में[६] 'कंसवध' और 'बलिबंधन' नामक नाटकों से हमारा परिचय प्राप्त होता है। दोनों रूपकों का सम्बन्ध कृष्ण जीवन से है। पतंजलि के अनुसार कंस या बलि का अभिनय करने वाले काले रंग के तथा कृष्ण का रूप धारण करने वाले रक्त वर्ण के होते थे। भास के नाटकों में कृष्ण कथापुरुष तथा वंदना के विषय भी रहे हैं। सदियों से प्रचलित बंगाल की यात्राओं में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला, गोपियों का निःस्वार्थ प्रेम

१ आर्यागसूत्र २।२।१४।

२ *Contributions to the History of Hindu Drama*
—M M Ghosh, p 6

३ Primitive religion seeks with Phallic symbolism Modern religion retains at the imagery and refines the symbol
—*Religion and Psychology* p 15

४ नाट्यात् समुदाय रूपाद्रसा। यदि वा नाट्यमेव रसा।
रस समुदायो हि नाट्यम्। अ० भा० भाग १ पृ० २६०।

५ But whatever may be his actual character in relation to drama the pre Aryan Siva s connection with the origin of dramas seems to rest on more or less solid grounds
—*Contributions to the History of the Hindu Drama* p 7

६ केचिद् कंसभक्ता भवन्ति केचिद् वासुदेव भक्ताः। वर्णा यस्य खलु केचिद् कालमुखा भवन्ति केचिद्रक्त मुखा। —पातंजल महाभाष्य ३।१।२६।

और कृष्ण की वीरता का चित्र नाटकीय शैली मे प्रस्तुत किया जाता रहा है। जयदेव के गीत गोविन्द म इन्ही प्राचीन यात्राओ के परिष्कृत रूप के दर्शन होते हैं। शौरसेनी प्राकृतभाषा का क्षेत्र कृष्ण सप्रदाय का क्षेत्र रहा है इसी प्राकृतभाषा म प्राचीन आभीरा के गीता की मधुर अभिव्यजना हुई, जिसम सवत्र कृष्ण कथा पुरुष रह हैं और यह परपरा व्रजभाषा का यकाल तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती आ रही है। इस प्रकार कृष्ण का मधुर प्रेममय जीवन भक्तिनाटय और काव्य के क्षेत्र म सजन का अखड स्रोत बना रहा है। ऐसी मधुर रसवती जीवनधारा से नाट्य का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। भारत मे प्रचलित होलिकोत्सव की परपरा ब्रिटेन के प्राचीन युग म प्रचलित 'मे पाल' स मिलती जुलती है।[1]

राम की जीवन धारा नाटयोत्पत्ति म सहायक रही है। राम के पाठ और गायन का उल्लेख कर चुके हैं। राम का वीरतापूर्ण दु खमय जीवन वहत्तर भारत म इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि वहा के मन्दिरा म राम जीवन की घटनाएँ चित्रित की गइ और बाद म चलकर रामाधारित तथा अन्य नाटक 'रामनाटक' के रूप मे ही प्रसिद्ध हो गये। भास के[2] राम-नाटका से हम भली भाति परिचित हैं। इनम राम एव अन्य पात्रो के हृदय म व्याप्त वीरता करुणा सौन्दय भावना का अपूर्व उन्मेष हुआ है। रामलीला की परपरा इन्ही प्राचीन राम-नाटका के सभवत अवशेष हैं। एक ओर परिष्कृत बुद्धि के साहित्य-स्रष्टाओ ने नाट्य और काव्य के माध्यम से राम जीवन का कलात्मक अकन किया तो दूसरी ओर भक्तिभाव स प्रेरित लोक परपरा न रामलीला जस लोक नाट्यों को जन्म दिया। अत बौद्ध धम के अवतरण से पूर्व ही रामायण का पाठ और गायन भारतीय नाट्य की पूर्णता का पथ प्रशस्त कर रहा था।

बौद्ध और जन धम के विधि निषेध—बौद्ध और जैन साहित्य म नाट्य प्रयोग के प्रेक्षण सम्बन्धी विधि निषेधो से नाट्य उत्पत्ति की समस्या पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। प्रधान सूत्र, पवज्जा सूत्र, अशोक के गिरिनार शिलालेख तथा उरग जातक म समाज के प्रेक्षण का बहुत स्पष्ट निषेध है।[3] जन धम के प्राचीन ग्रन्थो मे भी गीत को 'विलपित' और नाट्य को 'विडम्बित' रूप म मानकर निषेध किया गया है क्योकि य सारे काय दु खावह हैं। राजप्रश्नीय नामक जैनागम मे प्रेक्षागृह मण्डप तथा उसके लिए अन्य सामग्रिया का बहुत स्पष्ट विवरण मिलता है।[4] यह जना गम भारतीय नाट्य परम्परा स पूर्णतया परिचित था। दूसरी ओर बौद्ध धम के प्रामाणिक ग्रन्थों मे भी नाट्यसगीत और नत्य के प्रति विरोध की वह कठोरता कोमल और शिथिल ही नहीं हो गई है अपितु इन ललितकलाओ के अनुरूप ढलती चली गई है। ललित विस्तर, दिव्यावदान और अवदान शतका म स्वय भगवान् बुद्ध नाट्यगुणानवृत'[5] प्रयोक्ता के रूप म चित्रित किये गये हैं। एक अन्य कथा म नाट्याचार्य बुद्धवेश म और शेष नट भिक्षुवेश म अवतरित होते हैं।[6]

१ सस्कृत ड्रामा कीथ, पृ० ४०-४२, कलकत्ता रिव्यू १९२२ पृ० १६१, १९१३, पृ० १६१, इण्डियन स्टेज पृ० १४। हेमेन्द्रनाथदास गुप्ता।

२ अभिषेक नाटकम् प्रतिमा नाटकम्।

३ न च समाजो कर्तव्यो बहुकम् गिरिनार शिलालेख अशोकस्तम्भ, उरगजातक स० १५४।

४ सव्व विलवियं गीत, सव्व नट्ट विडम्बनम्। उत्तराध्ययन १३।१६, तथा राजप्रश्नीय, पृ० ८७-९०।

५ वीणायां वाद्ये नृत्य गीते—हास्ये लास्ये नाट्ये विडम्बिते सर्वकर्मकलासु बोधिसत्व एव विशिष्यते स्म। ललितविस्तर, पृ० १०८।

६ अवदानशतक, पृ० १८५ ८७।

बौद्धधर्म के इतिहास के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि [illegible] । जहाँ भित्ति चित्र एवं प्रस्तर मूर्तियों के कलात्मक सृजन का प्रश्न है वहाँ नाट्यकला भी अप्रभावित नहीं रही। आरम्भ में नाट्याचार में भाग लेना भिक्षु बौद्ध धर्म के [illegible] रहा हो पर बाद में विरोध का यह बाँध टूटा और अन्य भारतीय संप्रदायों के समान नाट्य मंडल में रुचि लेने लगे। अभी तक के उपलब्ध साहित्य में बौद्ध कवि अश्वघोष का 'शारिपुत्र प्रकरण' प्राचीनतम प्रकरण है।

पौराणिक सामान्य रूप से नाटक, गीत और नृत्य से परिचित थे। महाभारत में नट और शैलूष आदि शब्द । वे आगार पर नाट्यानुभव के सम्बन्ध में किसी विशिष्ट विवरण की कल्पना कीथ[1] महोदय का मान्य नहीं है। परन्तु महाभारत का परिशिष्ट हरिवंश स्पष्ट ही नहीं उसके अंग भंग से सुपरिचित है। उसमें तो रामायण के नाट्यरूपान्तर कौबेर रंभाभिसार तथा छालिक नृत्य के प्रयोग तथा पुरुषाकार में आभूषण प्रयोग का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।[2] कीथ महोदय की दृष्टि में यह विवरण नाट्योत्पत्ति की दृष्टि से उतना प्रामाणिक भले न हो पर यह तो सिद्ध हो जाता है कि महाभारत के रचनाकाल तक नाट्य पूर्णता प्राप्त करने के लिए गतिशील थे। रामायण[3] में तो नाटक, नर्तक, गायक, कुशीलव और वधू नाट्य संघों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। महाभारत की अपेक्षा रामायण में नाटक, उसके प्रयोक्ता तथा अन्य सामग्रियों का विवरण बहुत स्पष्ट रूप में मिलता है। अतः रामायण की रचना से पूर्व ही नाटक का प्रयोग पूर्ण अपना रूप धारण कर रहा था। भारत के शैव वैष्णव बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तथा उनके प्रवर्तकों ने अपनी जीवन-गरिमा द्वारा नाट्यकला को गति और शक्ति दी। इन धर्मों और सम्प्रदायों के मूल में महापुरुषों का वीररसोद्दीप्त दयापूर्ण एवं सौन्दर्य-सुरभित जीवन भारतीय कलाओं के लिए अखण्ड स्रोत बन गया। नाट्यकला भी समृद्ध और प्राणवान् हुई। नाट्यकला के उद्भव और विकास में वीर काव्य, बौद्ध और जैन साहित्य तथा उनकी प्रेरक शक्तियाँ और परिस्थितियाँ समान रूप से उत्तरदायी थीं।[4]

नाट्योत्पत्ति संबंधी अन्य वाद

नाट्योद्भव के विचार के प्रसंग में आधुनिक विद्वानों ने विचार की नयी दिशाओं का भी संकेत किया है। इन विद्वानों ने नाट्य के स्रोत के रूप में पुतली नृत्य छाया नाट्य मूक-अभिनय तथा प्रेतात्मावाद आदि की परिकल्पना की है। यूरोपीय विद्वानों के नाट्योद्भव संबंधी विचारों की समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं।

पुत्तलिका नृत्यवाद—डॉ० पिशेल ने नाट्योद्भव के प्रश्न पर विचार करते हुए यह मत प्रस्तुत किया है कि प्राचीन भारत में प्रचलित पुत्तलिका नृत्य द्वारा ही कालान्तर में नाटकों का उद्भव हुआ होगा। इस दृष्टि से संस्कृत नाटकों का प्रसिद्ध पात्र सूत्रधार पुत्तलिकावाद का बहुत

---

१ संस्कृत ड्रामा कीथ, पृ० २८, विराट् पर्व ७२।२६।
२ हरिवंश, ९१.९७।
३ रामायण १।५.१२, १।७१।३६।
४ दस नाटकानि पेक्साम कुशजातक (५३)।
राजपुत्त अभिसिंचस्व नाटकानि—उदयजातक (४५८)।

का प्रवर्तक सिद्ध हुआ है। सूत्रधार नाटयप्रयोग का सचालक और नियामक होता है और पुत्तलिका नृत्य मे नाचती हुई पुतली का सूत्र उसके ही हाथो मे होता है। वह मनचाहे ढग से उसे नचाता है। नाटय प्रयोग मे सूत्रधार रगमच पर प्रस्तावना के क्रम मे ही आता है, परन्तु उसके बाद नहीं। परन्तु पात्रो के प्रयोग का सारा सूत्र उसी के हाथ मे रहता है। इसी साम्य के आधार पर पिशेल महोदय ने कल्पना की है कि पुत्तलिका नृत्य का सूत्रधार ही नाटको मे सूत्रधार के रूप मे परिणत हो गया।[1]

पुत्तलिका नृत्य की परपरा—पुत्तलिका नृत्य की परपरा प्राचीन भारत मे थी। इसका उल्लेख महाभारत[2] मे मिलता है। कथासरित्सागर की एक कथा के अनुसार पुतली नृत्य के द्वारा राजप्रिया का मनोविनोद करती थी। वह विलक्षण पुतली बोल सकती थी, उड सकती थी, जल और फूल माला भी ला सकती थी।[3] महाकवि राजशेखर की बाल रामायण मे ऐसी पुतली सीता का विवरण मिलता है जो रावण के अनुरोधो का प्रत्युत्तर देती थी। पुतली के मुह मे एक तोता रखा हुआ था। इस पुतली को देखकर रावण को सीता का भ्रम हुआ था। परन्तु पुत्तलिका नृत्य मे नाटय का उदभव हुआ हो, इस कल्पना मे सत्यता और प्रामाणिकता नही मालूम पडती।

पुत्तलिका नृत्य की स्वीकृति का यह अर्थ नही है कि उसको नाटयोदभव का स्रोत माना जाय। नाटय से पुत्तलिका नृत्य की प्राचीनता का कोई प्रमाण नही है। महाभारत मे वर्णित पुत्तलिका नृत्य का विवरण महाभाष्य से प्राचीन न होगा, इसमे सन्देह है। महाभारत मे जहाँ नाट्य का विवरण मिलता है वहाँ नट, शलूष आदि शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। अत महाभारत का उल्लेख पुत्तलिकावाद की सहायता बहुत दूर तक नही करता।

पुत्तली शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ भी महत्वपूर्ण है (पुत्रिका-पुत्तलिका-पुत्तलिआ दुहितृका)। यह प्राकृती शब्द है और सभव है स्वय इसका उद्भव बालक-बालिकाओ के खिलौने के रूप मे हुआ हो और वही से पुतली नृत्य के रूप मे यह परिणत हुआ हो। नाटक के शिल्प से प्रभावित हो बाद मे असुसस्कृत और निम्न स्तर के समाज के लिए जन-पर्वो मे इसका प्रसार हुआ हो।

सूत्रधार की अर्थपरपरा—'सूत्रधार' शब्द के प्रचलित अर्थ के आधार पर जो यह कल्पना की गई है वह इसीलिए कि 'सूत्रधार' शब्द पुत्तलिका नृत्य की परपरा से आया होता तो नटी की तरह इसका भी प्राकृत रूप प्रचलित होना चाहिए था। परन्तु यह मूल सस्कृत में ही है। *सूत्रधार शब्द का प्रयोग महाभारत मे यज्ञ भूमि को नापने वाले व्यक्ति के अर्थ मे हुआ है* जो शिल्पागमवेत्ता भी होता था।[4] मुद्राराक्षस मे[5] सूत्रधार शब्द का प्रयोग भवन निर्माता के अर्थ मे ही हुआ है। प्राचीन काल से ही सूत्रधार का भवन निर्माण से सम्बन्ध था। सभव है, वह यज्ञ

१ सस्कृत ड्रामा कीथ, पृ० ५२।

२ यथादारूमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईरयत्यगमगानि तथा राजन्निमा प्रजा ।। महाभारत वनपर्व ३०।२३।

३ कथासरित्सागर—सदर्भ-कीथ सस्कृत ड्रामा, पृ० ५२।
बालरामायण अक ५ राजशेखर।

४ स्थपति बुद्धि सपन्नो वास्तुविद्या विशारद । महाभारत इत्यब्रवीत सूत्रधार सूतो पौराणिकस्तदा।
आदिपर्व ५१।१५।

५ मुद्राराक्षस, अक २।

भूमि एव अन्य शालाओ को मापता हो, इसीलिए वह सूत्रधार के रूप म प्रसिद्ध हुआ। नाट्यशास्त्र म नाट्य मण्डप की रचना के प्रसग म शुक्ल सूत्र के प्रसारण[1] का उल्लेख हुआ है। महाभारत म 'स्थपति शब्द सूत्रधार के पर्यायवाची शब्द के रूप म व्यवहृत हुआ है। स्थापक और सूत्रधार की जिन समान विशेषताओ का विवरण दिया गया है उनमे वास्तुविद्या का उल्लेख तो नही है पर नाना शिल्प समन्वित वह अवश्य होता है।[2] सभव है नाटको म प्रयुक्त स्थापक शब्द का विकास उसकी स्थपति' वृत्ति से ही हुआ हो। यज्ञशाला और नाट्यशाला दोनो का ही माप बहुत सावधानी और निष्ठा के साथ होता था। अत सूत्रधार शब्द का सबध मूल रूप म वैदिक *कालीन यज्ञो से रहा हो। बाद म नाट्ययज्ञ का वह सूत्रधार बन गया। कीथ महोदय का यह* प्रतिपादन उचित ही मालूम पड़ता है। नाट्य का सूत्रधार पुत्तलिका नृत्य से प्रभावित नही अपितु पुत्तलिका नृत्य का विकास नाट्य के अनुकरण पर समानान्तर हुआ।[3]

सूत और सूत्रधार— महाभारत म प्रयुक्त सूत शब्द के द्वारा एक और विचार को प्रश्रय मिलता है। क्या यह सूत ही सूत्रधार तो नही हो गया? और कुशीलव पारिपार्श्विक? सूत वीरकाव्य म नियमपूर्वक पाठ करता था और कुशीलव गान वाद्य स उसकी सहायता करते थे। कुशीलव को नाट्यशास्त्रकार ने गीतातोद्य कुशल[4] भी कहा है। रामायण का पाठ 'कुशलव' द्वारा हुआ तो वाद्य का प्रयोग भी साथ म हुआ था। यह सभव है कि उत्तरोत्तर परिष्कृत होते होते सूत सूत्रधार और कुशीलव' पारिपार्श्विक हो गया हो। क्योकि कुशीलव सूत के साथ निरतर रहते थे। रामायण और महाभारत म सवादो की सख्या बहुत है। ये सवाद सूत और कुशीलवो द्वारा गतिशील होते है। कथा प्रवाह के मध्य म 'सूत उवाच 'युधिष्ठिर उवाच', 'द्रौपदी उवाच आदि पात्र सकेत रहता है। नाटको की प्रस्तावना के क्रम म सूत्रधार भी कवि एव कथावस्तु आदि का परिचय दिया करता है तथा किस पात्र की क्या भूमिका होगी इसका भी निर्देश करता है। मृच्छकटिक म वह प्राकृत भाषी[5] हो जाता है तथा उत्तररामचरित म उस समय का अयोध्यावासी।[6]

अत यह सभव है कि पुत्तलिका का सूत्रधार नही आय काव्या का उत्तरकालीन सूत' ही 'सूत्रधार' के रूप म विकसित हुआ हो और उसी ने नाट्य प्रयोग का मार्ग प्रशस्त किया हो। जागीरदार महोदय का यह विचार[7] स्वीकार योग्य नही मालूम पडता है कि वैदिक साहित्य की परपरा ने नाट्य उद्भव को प्रश्रय नही दिया। इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है कि

---

१ पुष्यनक्षत्रयोगतु शुक्ल सूत्र प्रसारयेत्। ना० शा० २ ६ (का० स०)।

२ स्थापक प्रविशेत्तत्र सूत्रधार गुणाकृति। वही ५।१६२ (गा० ओ० सी०)।

३ The growth of the dramas doubtless brought with it the use of puppets to imitate it in brief and from the drama came the Vidusaks not vice versa —*Sanskrit Drama* p 53 (Keith)

४ नानातोद्यविधाने प्रयोगयुक्त प्रवाद्यकुशल। ना० शा० ३५।८४।

५ एषो म्हि कार्यवशात् प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी सवृत्त। मृच्छकटिक प्रस्तावना।

६ एषोऽस्मि कार्यवशात् आयोध्यिकस्तदानी तनश्च सवृत्त। उ० रा० प्रस्तावना।

७ Sanskrit drama took its hero from the Suta and the epics that he recited and never never from the religious lore or from the host of Vedic gods —*Drama in Sanskrit Literature*, p 40 (Jagirdar)

वीरकाव्यो का पाठ, उसकी सवाद शली और कथावस्तु का नाटयोदभव म बहुत बडा श्रेय है। पर वेदा के चतुर्विध नाट्याग का महत्त्व स्वीकार न करना तथ्य की उपेक्षा ही करना है। नाट्य के विकास के द्वितीय चरण म वीरकाव्या का योगदान आरभ हुआ। पर प्रथम चरण की यात्रा की मगलमय वेला म वैदिक ऋषियो द्वारा प्रणीत सवाद, यज्ञ और कमकाण्डगत अभिनय, साम के सगीत भी नाटयोदभव के वातावरण का सृजन कर रहे थे। वीरकाव्यकाल के आते आते तो वे स्वय नाटक, नतक आदि स भलीभाँति परिचित हो चुके थे।[1]

छाया नाटयवाद—'छायानाटयवाद का प्रवतन प्रा० ल्यूडस न किया। प्राचीन भारत म छायानाटया का अभिनय होता था, इसका कुछ प्रमाण मिलता है, पातजल महाभाष्य[2] म ग्रथिका के साथ शौभिका के काय-व्यापार स इसका अनुमान किया जाता है। सभवत यह छाया-नाटय का ही सकेत है। पर वह मूक अभिनय का भी तो सकेतक हो सकता है। इन मूक छायाओ को यवनिका के पीछे प्रस्तुत कर उन्ही के माध्यम स कथावस्तु प्रदर्शित होती थी। प्राचीन भारत म नाटयारम्भ के पूव यह शिल्प प्रचलित था और इसीके माध्यम स नाटय का उदभव हुआ। यह ल्यूडस महोदय का विचार है।[3] उत्तररामचरित म सीता छाया का प्रवेश इस दृष्टि से अत्यत महत्त्वपूण है।[4] परतु नाट्यशास्त्र अथवा उसके परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रथो म छाया शैली के नाटय का कोई विवरण अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। रत्नावली नाटिका, प्रबोध चद्रोदय और दशकुमारचरित आदि कृतिया म प्रयुक्त एन्द्रजालिक छायानाटय का सजन है। निश्चय ही य विवरण इतन परवर्ती हैं कि नाटय उत्पत्ति के स्रोत के रूप म इनके स्वीकारन का कोई अथ नही होता।

प्रेतात्मावाद—रिजवे के मतानुसार मृत व्यक्तियो के प्रति उनके सग सम्बधियो के मध्य आदर-सम्मान और प्रशसा का भाव होता है। प्राचीन काल म मृतात्माओ के सम्मान और शाति के लिए कुछ लोग नट बनकर नत्य-गान आदि का अभिनयपूण उत्सव किया करत थे। रिजवे महोदय की कल्पना है कि इन्ही श्मशान-उत्सवा के माध्यम से ग्रीस एव भारत म नाटका का शुभारभ हुआ होगा।[5] परतु सम्पूण भारतीय नाटय-परम्परा म नाटका का अभिनय मृतात्माओ की शाति के लिए किया गया हो ऐसा उल्लेख नही मिलता। सस्कृत नाटका के अभिनय, आरभ से उत्सवों पर्वो और त्योहारा, आनन्द और मागलिक प्रतीक रूप म प्रस्तुत किय जाते थे। अत रिजवे का मत प्राप्त विवरणा के सदभ म स्वीकार याग्य नही है।

निष्कष—भारतीय नाटय के उदभव के सम्बन्ध म भरत प्रतिपादित सिद्धातो म विविध मतमतान्तरा एव वादा की समीक्षा की है। उनसे यह सिद्ध होता है कि वदिक काल म भारतीय नाटय के प्रथम चरण का शुभारम्भ हुआ। नाटय के विभिन्न तत्त्वो के बीज रूप इन वेदा मे उपलब्ध थ। ऋक के सम्वाद यजुष के कमकाण्ड आदि के अभिनय साम से गीत और अथव से

1 नट नतक सघाना गायकाना च गायताम्।
मन कणसुखा वाच शुश्राव जनता तत। अयोध्या कांड ६।१४।
2 पातजल महाभाष्य ३ १ ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्ष कस घातयति प्रत्यक्ष चबलि बधय तीति।
3 सस्कृत ड्रामा पृ० ५३ (कीथ)।
4 उत्तररामचरित, अक ३।
5 सस्कृत ड्रामा कीथ पृ० ५३, तथा ओरिजिन ऑफ ट्रेजेडी ल्यूडस (१९१०)।

प्राण रूप रस सग्रह हुआ और भारतीय नाटय अपने आदि रूप म परिपल्लवित हुआ। भरत के इस सिद्धात का समर्थन कीथ प्रभृति आधुनिक पाश्चात्य मनीषिया ने भी किया।[१] यजुर्वेद का तीसवा अध्याय तो इसका स्पष्ट प्रमाण है कि उसके रचनाकाल तक नाटय पूर्णरूप से भले ही विकसित न हो पाया हो पर नाटय, गीत और नृत्य के प्रयोग के लिए अपेक्षित पात्र और रंग सामग्री बहुत लोकप्रिय हो गई थी। सूत शलूष, कारि, वामन, कुब्ज चित्रकारिणी और रजक आदि पात्र वीणा, तबला और तूणवध्म जसे वाद्यो का बहुत स्पष्ट विवरण उसमे उपलब्ध है।[२] वदिक काल म नाटय के प्रथम चरण का सूत्रपात हुआ।

वैदिक काल के उपरात वदिक देवताओ का प्रभाव मन्द हो चला, विष्णु के अवतार राम और कृष्ण तथा रुद्र के स्थानीय शिव का व्यक्तित्व नये ओज और तेज के साथ समस्त भारत भूमि पर छाता जा रहा था। वेदो के पाठ-गायन की अपेक्षा वीरकाव्यो की ओर जनता की रुचि बढ रही थी। रामायण और महाभारत की ओजस्वी वाणी प्रेम निर्भर कथाओ और पवित्र उदात्त प्रेम की भावना ने समस्त भारतीय चेतना को आलोकित कर दिया। भारतीय नाटय ऋषियो की इस मगलमय कलापूत वाणी का सस्कार लेकर नय आयाम और नूतन आत्मबोध से प्राणवान् हो उठा। उसे कथा भी मिली, सवाद भी मिले और करुणा, प्रेम और वीररसोद्दीप्त व्यक्तित्वो का तेज सौन्दर्य और शील का चरम आदर्श भी। वीरकाव्य नाटयोदभव के विकास का द्वितीय चरण नाटय की परिपूर्णता का मगल चरण था। क्योकि ईस्वीपूर्व पाँचवी छठी सदी की अष्टाध्यायी म नटसूत्र और नाटयाचार्यों का स्पष्ट उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस काल तक नाटयकला शास्त्र का रूप धारण कर चुकी थी भाव विज्ञान की अन्य शाखाओ की भाँति इस पर सूत्रग्रन्थो की रचना हो चुकी थी।[३] पतजलि ने दो नाटको, रगोप जीविया, उनकी रूपाजीवा स्त्रिया तथा नाटयाचार्यों का उल्लेख ही नही बडा स्पष्ट विवरण भी दिया है। पतजलि ने नटो और नाटयाचार्यों की हीन दशा का बडा ही स्पष्ट उल्लेख भी किया है, उनकी दृष्टि से नाटयशास्त्र का अध्यापक आख्याता का सम्मानित पद पाने का अधिकारी नहीं था।[४] पुराणकाल तक आते-आते भारतीय नाटय पूर्णतया विकसित हो चुका था। वीरकाव्यो मे नाटक-नर्तक गायक और अभिनेताओ का जो स्पष्ट विवरण मिलता है वह भारतीय नाटय के भावी मध्याह्न काल की दीप्ति की मानो उदघोषणा थी। हरिवश तो नाटय से परिचित ही नहीं तीन चार अध्यायो म नाटय प्रयोग के पूर्ण विवरण रामायण के नाटय रूपातर और छलिक नृत्य के प्रयोग के कारण भारतीय नाटय के इतिहास के आलेखन का महत्त्वपूर्ण चरण है।[५] श्रीमद भागवत् और मार्कण्डेय पुराणो म नट-नर्तक, गन्धर्वों, सगीत और नाटको के प्रति पूर्ण परिचय की सूचना मिलती है।[६] नाटय की पूर्णता के उपरात ही सभवत भगवान् बुद्ध का अवतरण भारत

१ सस्कृत ड्रामा कीथ पृ० १७।

२ यजुर्वेद, ३०वाँ अध्याय।

३ पाराशर्य शिलालिभ्या भिक्षु नटसूत्रयो। अष्टाध्यायी ४ ३।११०।

४ तद्यथा नटानां स्त्रियो रगगतो यो य पृच्छति कस्य यूयम् इति त त तवेत्याहु। पातजल महाभाष्य ६ अध्याय। तथा आख्यानोपयोगे सूत्र पर भाष्य, पतजलिकालीन भारत पृ० ४६६ ८०४ डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री।

५ हरिवश पुराण ६३-९७।

६ श्रीमद्भागवत स्कन्द १।११।२२, मार्कण्डेय पुराण २०।४।

भूमि पर हुआ, लोकवासनाओ और सुख भोगो के प्रति विराग होने के कारण आरम्भ म अशोक एव बौद्धो ने जो विरोध प्रकट किया हो पर कालान्तर म भगवान बुद्ध का परम कारुणिक व्यक्तित्व नाट्य एव अन्य कलाओ के उदगम का अखण्ड स्रोत बन गया।

आशय यह है कि भारत के महान् गौरवशाली इतिहास की यात्रा मे वेद, धम, लोक सस्करण राम, कृष्ण, शिव और बुद्ध एव महावीर के तेजपूर्ण व्यक्तित्व उनके सम्प्रदायो की उदात्त मान्यताएँ लोकजीवन की विलास लीलाएँ, ऋतूत्सवो और लोकोत्सवो पर परम्पराओ ने सब लोकानुरजनी नाट्य विद्या के उदभव और विकास म योग दिया और हमारे इतिहास म भास अश्वघोष, शूद्रक कालिदास और भवभूति जैसे महान नाटककारो की गौरवशाली नाट्य कृतियो और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र जस आकर कला ग्रथ का प्रणयन हुआ। यद्यपि इस सुदीघ इतिहास म अनगिनत नाट्यकारो और नाट्यवृत्तियो का आविर्भाव हुआ होगा जो अपने अनुसधान की प्रतीक्षा म है। सभव है कालप्रवाह ने उन्ह आत्मसात् कर लिया हो और अनुसधान की पैनी दृष्टि वहा कभी भी पहुच ही न पायी हो।

रूपको के विकास का कालक्रम

नाटक और प्रकरण जस सर्वांगपूर्ण समृद्ध अनकाकी रूपको का विकास सदियो तक विकसित होती हुई नाट्य प्रवृत्ति का परिणाम है। एकाएक ही रूपको के भेद नाटक' और प्रकरण' की रचना सभव नही है। भरत न अपने नाट्यशास्त्र म दस (नाटिका लेकर ग्यारह) रूपक भेदो का विवरण प्रस्तुत किया है। मनमोहन घोष महोदय ने यह कल्पना की है कि एकाकी रूपको स अनेकाकी समृद्ध रूपको के विकास म लगभग बारह सौ वर्षों का समय लगा होगा। उनके विचार से दशरूपक के भेदो म पाच क्रमिक अवस्थाएँ होनी चाहिए। प्रत्यक अवस्था के विकास म लगभग ढाई सौ वर्षो का समय होना चाहिए। शेक्सपियर और इब्सन के नाटको म कालक्रम के अतर को देखकर उन्होने यह अनुमान किया है। अग्रेजी नाटको के विशिष्ट रूपो के विकास म यदि ढाई सौ वर्षों का समय उपयुक्त है तो सस्कृत रूपको के विशिष्ट रूपो के लिए बारह सौ वर्षों का समय उचित मालूम पडता है।[1] रूपको के विकास की रूपरेखा निम्नलिखित है —

(१) एकाकी रूपक—भाण

(२) एकाकी रूपक—वीथी, एक या दो पात्र।

(३) एकाकी रूपक—व्यायोग प्रहसन तथा उत्सृष्टाक, अधिकपात्र।

(४) त्र्यकी रूपक—डिम और महामृग, अधिकपात्र।

(५) पाच से दश अक के रूपक—नाटक और प्रकरण, अधिकपात्र।[2]

नाट्योत्पत्ति के काल निर्धारण क सम्बध म घोष महोदय द्वारा प्रस्तुत इस कृत्रिम प्रक्रिया से यदि हम सहमत न भी हो तो भी इसम तो (प्राप्त प्रमाणो के आधार पर) कोई सदेह नहा रह जाता कि भारतीय नाट्य रामायण काल म प्रयोग का रूप धारण कर चुका था और

१ *Contributions to the History of Hindu Dramas* p 8 M M Ghosh

२ Hence the origin of Indo Aryan dramas probably occurred much before 600 B C when old Indo Aryan was the only language in constant use among the Aryans

—*Contributions to the History of Hindu Dramas*, p 9, M M Ghosh

पाणिनि काल म नाटय रचना और प्रयाग के लिए सूत्र रूप म नाटयशास्त्र उपल ध अवश्य था। अत ईस्वी पूव पाँचवी और छठी सदी म भारतीय नाटय के अस्तित्व की हम कल्पना कर सकत हैं। सभव है ये आरभिक नाटक सस्कृत म ही लिखे गय हा क्याकि पाली और प्राकृत को बुद्ध से पूव शिष्ट साहित्य का सम्मानपूण पद सभवत नहीं मिल पाया था। 'पचरात्र' और 'दूतवाक्य' भास के दो रूपक सस्कृत भाषा म ही लिखे गये, उनम प्राकृत का प्रयोग नहा है।

नाटयोदभव ईस्वी पूव छठी सदी मे—इन प्राप्त सामग्रिया के आधार पर यह ता हम निश्चित रूप से घोषित कर सकते हैं कि ईस्वी पूव पाँचवी सदी स पूव पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना होने तक नाटय ही नहा सूत्र रूप म नाटयशास्त्र की भी रचना हा चुकी थी। किसी कलाप्रवत्ति के स्वरूप एव अय विशेषताआ के निधारण के लिए शास्त्र की रचना क लिए मूल ग्रथा की रचना पहल हा लेता है तब शास्त्र की। पाणिनि म उल्लिखित नट-सूत्रा स कई सदिया पूव ही नाटय रचना और नाटय प्रयोग की परम्परा वतमान रही होगी। इस दृष्टि स वीरकाव्य काल म नाटय अपना रूप धारण कर रहे थे। अनुमान से ईस्वी पूव दसवी सदी वह समय हो सकता है पर तु यदि यह समय माय न भी हो तो छठी सदी म (वीरकाव्य काल म) नाटय तथा उसके अग—गीत और वाद्य का प्रयोग समाजो और उत्सवा म प्रचुरता स होता था। यदि पाचवी छठी सदी म शृगार प्रधान नाटय एव सगीत-कलाएँ नहीं रहती तो अथशास्त्र म नाटय प्रयोग के लिए उपयोगी रगापजीवी पुरुष, रगोपजीविनी गणिकादासिया तथा गीत, वाद्य, पाठय, नत्त और नाटय के उल्लेख का क्या अथ होता।[१] कौटिल्य के काल मे रगोपजीविया के लिए वतन की भी व्यवस्था थी।

अत नाटयोदभव का अनुमानित समय ईस्वी पूव छठी सदी स पहले होना चाहिए। यजुर्वेद म नाटय के पात्र और अय सामग्रियो का उल्लेख उमसे और भी पूव की ओर सकेत करता है। यह सभव है कि नाटय प्रयोक्ताओ म प्रतिभाशाली नाटयाचाय अथवा कवि उन नाटका का प्रयोग करत थे परन्तु परवर्ती नाटको की तरह उनकी रक्षा न हा सकी, और वे हम तक न पहुच सके।

१ गीत वाद्य पाठय नत्त नाटय—गणिकादासी रगोपजीविनीश्च राजमण्डलादाजीव कुर्यात्। गणिका पुत्रान् मुख्यान् निष्पादयेत् सर्वेषामपि रगोपजीविनाम्। —अर्थशास्त्र गणिकाध्यक्ष। २७।

तृतीय अध्याय

नाट्यमडप

१ भरत कल्पित नाटयमडप का स्वरूप

२ भारतीय वाङ्मय मे नाटयमडप

३ यवनिका

४ दृश्यविधान

भरत-कल्पित नाट्यमडप का स्वरूप

नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय मे नाटयमडप का विवेचन है। प्राचीन रगशालाओ के नष्ट हो जाने तथा इस ग्रन्थ मे पाठ के त्रुटिपूण होने से भरत-कल्पित नाटयमण्डप का स्वरूप बहुत स्पष्ट नही है। आचाय अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती म इस सम्बन्ध मे जो मतमतातर प्रस्तुत किये हैं तथा आधुनिक विद्वानों ने इस सम्बन्ध मे जो विचार विमश प्रस्तुत किया है उन सब के विश्लेषण के आधार पर हम भरत-कल्पित नाट्यमडप का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

भरत ने आकार की दष्टि से तीन प्रकार के नाटयमडपा का विधान किया है विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट नाट्यमडप आयताकार, चतुरस्र वर्गाकार और त्र्यस्र त्रिकोण होता है।[1] अणु, रज से हस्त-दण्ड आदि के माध्यम से इन मण्डपो का माप होता है। इन सबका मान भरत ने विधिवद् निर्धारित किया है। अणु सबस छोटा माप है और दण्ड सबसे बडा।[2] चार हस्त का एक दण्ड होता है। उपयुक्त तीन प्रकार के नाटयमडपो म भी ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ आदि भेदा के आधार पर नौ अथवा अट्ठारह भेदों की परिकल्पना की गई है। परन्तु अभिनवगुप्त इतने भेदो का विस्तार प्रयोग की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं मानते। वह केवल सूक्ष्म शास्त्रीय चर्चा का विषय भले ही हो। ये अट्ठारह भेद हस्त और दण्ड को भिन्न मापदण्ड मान लेने पर होते हैं। अन्यथा 'हाथभर का दण्ड' ऐसी कल्पना कर लेने पर नौ प्रकार के ही नाटयमण्डप होते हैं।[3] भरत ने उनम से केवल तीन ही प्रकार के नाटयमण्डपो का विवरण प्रस्तुत किया है।

भरत ने विभिन्न आकार प्रकार के जिन तीन नाट्यमण्डपो का विवरण प्रस्तुत किया है वे तीनों ही मध्यम श्रेणी के हैं। ज्येष्ठ नाट्यमण्डप देवा के लिए उपयोगी होता है। मनुष्या के लिए मध्य नाट्यमडप उपयोगी होता है। ज्येष्ठ नाटयमण्डप के विशाल होने के कारण पात्र द्वारा उच्चरित पाठयाश पात्रो के लिए श्राव्य नही होता और न उसकी भावपूण मुद्राएँ दश्य तथा

१ ना० शा० २।८ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० २।१२ १६ (गा० ओ० सी०)।

३ एव चाष्टादशभेदास्तावष्त्रास्त्र दष्टा । ते चाद्यत्वे यद्यप्यनुपयोगिनस्तथाऽपि सम्प्रदायाविच्छेदार्थं निर्दिष्टा कदाचिदुपयोगो भविष्यतीति । —अ० भा० भाग १, पृ० ४६।

अनुभवगम्य ही हो पाती है। अत विप्रकृष्ट का मध्यम प्रकार का प्रतिपादन किया है। पर कठिनाई है चतुरस्र नाट्यमण्डप को लेकर। उसका मध्यम प्रकार भी (६४×६४) विप्रकृष्ट (६४×३२) के मध्यम प्रकार से बडा ही होगा और भरत ने इससे बडे नाट्यमण्डप की रचना का निषेध किया है। अत यह तो स्पष्ट ही है कि भरत प्रतिपादित तीनो प्रकार के नाट्यमण्डपो का क्षेत्रफल आयताकार मध्यम नाट्यमण्डप से छोटा होगा। भरत के अनुसार ३२×३२ हाथ का चतुरस्र नाट्यमण्डप अवर है, मध्यम नही और यह आयताकार मध्यम नाट्यमण्डप से छोटा भी होता है।[1] आयताकार के मध्यम तथा चतुरस्र के अवर (कनिष्ठ) नाट्यमण्डप का माप निर्धारित किया गया है पर त्र्यस्र या त्रिकोण का नही। अभिनवगुप्त के अनुसार वह आयताकार या वर्गाकार नाट्यमण्डपो के सन्दर्भ म चौंसठ या बत्तीस हाथ का हो सकता है।[2]

विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप—विप्रकृष्ट (आयताकार) मध्यम नाट्यमण्डप मनुष्य के लिए उपयोगी तथा सबसे बडा होता है। यह आयताकार होता है, लम्बाई चौडाई की अपेक्षा दुगुनी होती है। अत लम्बाई तो चौंसठ हाथ और चौडाई ३२ हाथ होती है। भरत के निर्देश के अनुसार इस नाट्यमण्डप की रचना से पूर्व उस निर्धारित भूमि का परिशोधन स्वस्थ बलो द्वारा करना चाहिए कि भूमि म अस्थि कील और कपाल आदि अशुभ पदार्थ वहाँ न रहने पाए। तदनन्तर उजले दृढसूत्र की सहायता से भूमि का माप करना चाहिए। माप इस सतर्कता से हो कि सूत्र टूटने न पाए, ऐसा होना परम्परा के अनुसार नाट्यप्रयोग के लिए अमगलजनक माना जाता था। भरत ने इस आयताकार विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप को दो समान भागो म विभाजित किया है वह आयताकार नाट्यभूमि ३२×३२ हाथ के दो वर्गाकार भूखण्डो म बँट जाती है। अग्रभाग के ३२×३२ हाथ की वर्गाकार भूमि मे प्रेक्षकोपवेशन होता है, तथा शेष ३२×३२ हाथ के पृष्ठभाग म क्रमश रगपीठ रगशीर्ष और नेपथ्यगह के लिए स्थान नियत रहता है। सबसे पीछे १६×३२ हाथ म नेपथ्यगह के लिए स्थान नियत रहता है और शेष आधे भाग मे रगपीठ, रगशीर्ष और मत्तवारणी भी होती है। रगपीठ ही मुख्य रगभूमि है, जिसके दोनो ओर ८×८ हाथ की मत्तवारणी होती है, अत रगपीठ तो १६×८ हाथ के व्यास म फैला होता है और रगपीठ तथा नेपथ्यगह के मध्य ३२×८ के व्यास म रगशीर्ष होता है जहाँ पात्र रगभूमि पर जाने के लिए नेपथ्यगह से आकर प्रस्तुत होते हैं तथा प्राम्पिटग तथा अन्य बहुत से नाट्य व्यापार भी होते हैं जो मुख्य रगभूमि पर प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित नही होते।[3]

रगपीठ रगशीर्ष—विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप म रगपीठ रगशीर्ष तथा मत्तवारणी के सम्बन्ध मे आधुनिक विद्वानो मे बहुत अधिक मतमतान्तर हैं। यह विशेषकर नाट्यशास्त्र के पाठ तथा अभिनवगुप्त की अभिनव भारती के कारण है। वी० राघवन् तथा मन्कद महोदय तो अभिनवगुप्त की परम्परा म रगपीठ और रगशीर्ष की पृथक् स्थिति स्वीकार करते हैं जब कि मनोमोहन घोष तथा सुब्बाराव प्रभृति विद्वान् रगपीठ और रगशीर्ष की पृथक् स्थिति स्वीकार न कर उन्हे पर्यायवाची शब्द के रूप मे प्रतिपादित करते हैं। उनकी दृष्टि से नाट्यमण्डप पर रगपीठ

---

१ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली (१६३२), पृ० ४८३।

२ अ० भा० भाग १, पृ० ७०।

३ ना शा० २।१०-२१, ३३-३४, रगपीठ तत कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रगशीर्षं तु कर्तव्य षड्दारुकसमन्वितम्॥ —ना० शा० २।६८

से भिन्न रगशीष की स्थिति नही है। उनकी दृष्टि से आचार्य अभिनवगुप्त की एतत्सम्बन्धी मान्यता त्रुटिरहित नही है। रगशीष और रगपीठ की वस्तुस्थिति का सम्बन्ध मूलग्रथ के पाठ पर ही निर्भर करना चाहिए। रगपीठ और रगशीष की एकता के समर्थन मे उनके तथा सुब्बाराव के निम्नलिखित तर्क हैं[1] —

(अ) रगमडप की रक्षा के सदर्भ मे नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय म 'रगपीठ' का दो बार प्रयोग हुआ है, रगशीष का नही।[2]

(आ) विभिन्न आकार प्रकार के नाट्यमडपो का विवरण देत हुए भरत ने रगशीष का प्रयोग किया है न कि रगपीठ का।[3]

(इ) आयताकार विप्रकृष्ट मध्य नाट्यमडप म मिट्टी भरने तथा उसके धरातल को सुन्दर एव परिष्कृत बनाने के प्रसग मे रगशीष का तीन बार प्रयोग हुआ है रगपीठ का नही। अत रगपीठ का रगशीष से पथक अस्तित्व नही है।

(इ) त्र्यस्र नाट्यमण्डप के विधान के प्रसग म दो बार रगपीठ शब्द का प्रयोग हुआ है रगशीष का नही।[4]

घोष महोदय तथा सुब्बाराव प्रभति विद्वान् उपयुक्त आधारो पर रगपीठ को रगशीष से पथक नही मानत। उनकी दृष्टि से सपूर्ण रगभूमि मुख्य रूप से तीन ही बार विभाजित होती है। सबसे पीछे एक चौथाई म नेपथ्यगह तथा रगशीष और तीन चौथाई म प्रेक्षकोपवेशन रहता है। सुब्बाराव महोदय तो रगशीष के लिए १६ × ३२ हाथ का स्थान निर्धारित करत हैं और उनकी दृष्टि से रगशीष पर मत्तवारणी के लिए स्थान निधारित नही है। मूलग्रथ के प्रतिकूल यह विचार धारा है।[5]

आचार्य अभिनवगुप्त ने रगशीष और रगपीठ की पथकता का प्रतिपादन किया है।[6] डी० आर० मन्कद वी० राघवन् और आचार्य विश्वेश्वर प्रभति विद्वान् आचार्य अभिनवगुप्त के विचारो के अनुयायी हैं। रगभूमि के सम्बन्ध म आचार्य अभिनवगुप्त न यह कल्पना की है कि रगमडप मानवाकार उत्तान सोया हुआ हो। प्रेक्षकोपवेशन कटि से पाव तक का विस्तत भाग है। रगपीठ कटि के ऊपर वक्षस्थल या पष्ठ का मध्य भाग है। रगपीठ और नेपथ्य के मध्य का रगशीष मानो नाट्यरूपी मानवशरीर का शिरोभाग है। इसी अथ म रगशीष यह नाम भी उपयुक्त होता है। इसका व्यास ८ × ३२ हाथ हो, यह आवश्यक नही है। मध्य म ८ × ८ हाथ वदिका के लिए निर्धारित होता है। शेष मे पात्र विश्राम करते हो तथा प्रभाववृद्धि के अन्य साधन एव उपादान रहत हो। मनक्द महोदय ने अभिनवगुप्त के विचारो के आधार पर रगपीठ और रगशीष की पथकता के समर्थन मे निम्नलिखित तक दिया है[7]—

१ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, पृ० ५६१, १६३२। —म० मो० घोष।
२ ना० शा० २।३४ ३५, २।१००।
३ ना० शा० २।७२ ७५।
४ ना० शा० २।१०२ १३।
५ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, पृ० ५६२, १६३३। म० मो० घोष तथा अभिनव भारती भूमिका, पृ० ४३५, सुब्बाराव, द्वि० स०।
६ ना० शा० २।६८, १२।२ ३, (रगपीठ तच्छिरसोर्मध्ये, अ० भा० भाग १, पृष्ठ २१०।
७ हिन्दू थियेटर डी० आर० मनकद, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली १६३३, पृ० ४८४ ५।

(अ) रंगपीठ और रंगशीर्ष दोनों भिन्न पन्नों का एक ही श्लोक में उल्लेख,

(आ) रंगशीर्ष का विप्रकृष्ट नाट्यमण्डप में उन्नत तथा चतुरस्र में सम होना,

(इ) रंगशीर्ष और रंगपीठ के मध्य यवनिका की स्वीकृति तथा नाट्यमण्डप की मानव शरीर से अनुरूपता।

राघवन् महोदय भी अभिनवगुप्त के विचारों से पूर्णतया सहमत हैं। उन्होंने घोष महोदय की मान्यता का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय के अतिरिक्त प्रथम अध्याय में भी नाट्यमण्डप के अनेक अंगों का उल्लेख है, उसमें रंगपीठ तथा वेदिका का उल्लेख होना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसी वेदिका में अग्नि अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्थापित होती है। यह वेदिका ही रंगशीर्ष है और रंगपीठ के पृष्ठभाग में ८×८ हाथ के वर्गाकार व्यास में यह मानव के शीर्षाकार में उठी हुई है। पूर्वरंग के प्रसंग में यहीं पर रंगपूजा होती है। अतः रंगशीर्ष रंगपीठ से भिन्न है।[१] मन्कद और राघवन् महोदय रंगशीर्ष का व्यास क्रमशः ८×३२ तथा ८×८ हाथ मानते हैं, अन्य बातों में दोनों के विचारों में समानता है।[२] आचार्य विश्वेश्वर ने अभिनव भारती की टीका में[३] मूलग्रन्थ की अस्पष्टता को दूर करने के लिए 'रंगशीर्ष प्रकल्पयत्' इस नवीन पाठ की परिकल्पना की है। 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्' इस न्याय के अनुसार रंगपद से रंगपीठ और शीर्षपद से रंगशीर्ष का ग्रहण होगा। इससे समस्या का समाधान तो हो जाता है, पर अभिनवगुप्त प्राचीन पाठ के आधार पर ही रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथक्ता की कल्पना करते हैं। डा० याज्ञिक और सी० बी० गुप्त प्रभृति विद्वान् रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथक्ता की स्थापना तो करते हैं पर अपने विचारों के समर्थन में उन्होंने कोई तर्क नहीं दिया है।[४]

विद्वानों में रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथक्ता के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराएँ हैं। अभिनवगुप्त की मान्यता के अतिरिक्त मूलग्रन्थ के २।३४-३५ में जो अस्पष्टता हो परन्तु २।६८ में रंगपीठ और रंगशीर्ष इन दोनों का पृथक् उल्लेख दोनों की पृथक्ता का स्पष्ट सूचक है। नाट्य प्रयोग की व्यावहारिकता और उपयोगिता की दृष्टि से भी दोनों की पृथक्ता ही उचित है।[५] रंगपीठ तो मुख्य रंगभूमि है जहाँ पर पात्र अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं। रंगशीर्ष को दो उपयोग है। ८×८ हाथ के व्यास में बनी वेदिका पर रंगपूजा होती है शेष दोनों भागों में नेपथ्य से विभिन्न वेषभूषा से सुसज्जित हो पात्र अपनी भूमिका में प्रस्तुत होने के लिए प्रतीक्षा में रहते हैं। प्रतीक्षा और विश्राम की इस रंगभूमि के प्रसाधन के लिए 'शुद्धादर्शतरमाकार' का विधान किया है। क्योंकि रंगभूमि के इस मनभावन परिवेश में पात्रों की अभिनयकुशलता को मानो और भी प्रेरणा मिलती है। अतः नेपथ्य और रंगपीठ के मध्य ऐसी रमणीय रंगभूमि की कल्पना उचित ही है और भरत के विचारों के अनुरूप भी।

रंगशीर्ष और षड्दारुक की समोजना—रंगशीर्ष के प्रसाधन के लिए षड्दारुक, नेपथ्य

---

१ वेदिका रचयेद् वह्नि। ना० शा० १।८५, ६८, ६६, ७०।

२ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली बी० राघवन्, पृ० ६६१ (१६३३)।

३ हि० अ० भा०, पृ० २६४-५।

४ इण्डियन थियेटर पृ० ४ याज्ञिक तथा इण्डियन थियेटर, पृ० ३४, सी० बी० गुप्त।

५ रंगपीठं ततः कार्यम्, रंगशीर्षं तु कर्त्तव्य। ना० शा० २।६८।

गह की ओर दो द्वार, रगशीष की भूमिका शुद्ध आदशतरम की तरह समतल होना तथा उस भूमि का नाना रगा के रत्ना के जडने का विधान किया है। अभिनव भारती के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पडदारुक के सम्बध मे आचार्यों म परस्पर मतभेद है। प्रथम मत के अनुसार रगशीष के पष्ठभाग म आठ तथा चार हाथ की दूरी पर चार स्तम्भ रहते हैं तथा एक लम्बी शहतीर इन स्तम्भा के ऊपर और नीचे रखी रहती है, इस तरह पडदारुक' की योजना होती है। द्वितीय मत के अनुसार उतने ही स्तभ और काष्ठखड होते हैं पर स्तभ स्थान की दूरी म कुछ अतर की कल्पना की गई है। ततीय मत के अनुसार पडदारुक की कल्पना अत्यन्त समद्ध है। इस मत के अनुसार काष्ठशिल्प की छ विधियो—उह, प्रत्यूह, निय्यूह, सजवन, अनुवध और कुहर का प्रयोग होता है। इन काष्ठा पर कलात्मक लतावध आदि की मनोहर नक्काशी की जाती थी।[1] तीसरा मत काष्ठशिल्प कला की दष्टि से अत्यन्त मूल्यवान् है। राव महोदय न (अभिनव भारती के प्रथम भाग के अन्त म) पडदारुक की भिन्न कल्पना की है, उनके विचार से रगपीठ रगभूमि की निचली सतह है 'रगशीष' उसकी ऊपरी छत। रगशीष म छ काष्ठखण्ड इस प्रकार प्रयुक्त होते है कि वह दृढ हो तथा नाट्य प्रयोग के क्रम मे मारपीट, उठापटक के भयानक प्रदशना मे वह यथावत् रहे तथा उच्चरित पाठय भी पूणतया प्रतिध्वनित हो प्रेक्षका तक पहुच सके। निसन्देह राव महोदय की कल्पना का आधार है आधुनिक भवन निर्माण कला का विकसित विज्ञान तथा अभिनवगुप्त की मान्यता का आधार है प्राचीन भवन निर्माण कला की अपरिमित ज्ञानराशि। दोना ही की दष्टि नाटय की उपयोगिता और सौन्दय के उत्कष की ओर है।

मत्तवारणी—मत्तवारणी के सबध म भरत न यह परिकल्पना की है कि वह रगपीठ के पाश्व मे हो उसी के प्रमाण के अनुरूप हो उसम चार स्तभ हा। वह डेढ हाथ ऊँची हो तथा उन दोनो (ओर की मत्तवारणी) के तुल्य रगमडप (रगपीठ या प्रेक्षकगह) होना चाहिए।[2] इन प्रमाणा के अनुसार उसकी रचना वेदिका के पाश्व म होनी चाहिए। मत्तवारणी के भरत निरूपित विधान मे कई प्रकार की अस्पष्टताएँ हैं। 'रगपीठस्य पार्श्वे' के पाठ के अनुसार यह मत्तवारणी रगपीठ के दोना ओर होती है या एक ही पाश्व मे ! मत्तवारणी डेढ हाथ ऊँची हो पर किससे, यह भी अनिर्णीत सा रह जाता है। क्योकि यदि रगपीठ के दाना ओर हो ता रगपीठ का व्यास १६×८ हाथ न होकर ८×८ हाथ हो जाता है, यदि यह मत्तवारणी वगाकार न होकर रगशीष की वेदिका के पाश्व तक फली हो ता यह आयताकार होती है। इनके सबध म प्राचीन एव आधुनिक विद्वाना मे परस्पर विभिन्न मान्यताएँ हैं। हम उनकी समीक्षा करते हुए कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुचने का प्रयास करेंगे।

विभिन्न आचार्यों की मान्यताएँ—मत्तवारणी शब्द का प्रयोग प्राय कोशग्रथा, साहित्य ग्रथा मे नही मिलता। यह 'मत्तवारण शब्द पुल्लिग है। इसी पुल्लिग शब्द का प्रयोग सुबन्धु और दामोदर गुप्त ने भी किया है। शब्दकल्पद्रुम म इसका अथ वरण्डा' से अभिप्रेत है। आप्टे महोदय के मतानुसार इस शब्द के दो अथ होते है—एक मतगज, दूसरा मत्ता को वारण करने

---

१ अ० भा० भाग १, पृ० ४४४। सुब्बाराव।

२ रगपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी। चतु स्तम्भसमायुक्ता रगपीठ प्रमाणत ॥
अध्यर्धं हस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ॥
उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रगमडपम्। ना० शा० २।६३ ६५।

चारों प्रकार और वीथियों का संकेत।[1] परन्तु ऐसा करना होने पर भी आचार्य अभिनवगुप्त एवं अन्य आचार्यों ने स्त्रीलिंग मत्तवारणी शब्द का भी संदर्भ के अर्थ में प्रयोग किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार मत्तवारणी के दो अर्थ होते हैं। रंगमंडप में रंगपीठ भूमि की तरह नाट्यमंडप के चारों ओर फैली हुई आठ हाथ की जो भूमि है वह मत्तवारणी होती है अथवा रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में ८×८ हाथ के वर्गाकार भाग में फैली समचतुरस्र भूमि मत्तवारणी होती है।[1] द्वितीय मत अभिनवगुप्त को अभिप्रेत मालूम पड़ता है। यद्यपि रंगपीठ ही समस्त नाट्यव्यापार का केन्द्र होता है उसका मत्तवारणी से साथ होना या कोई अंश नहीं है।[3] अतः रंगपीठ के प्रमाण के अनुरूप तथा उसके दोनों पार्श्वों में होती है। परन्तु मत्तवारणी से संबंधित श्लोक में एकवचनान्त 'पार्श्वे' शब्द के प्रयोग के कारण रंगपीठ के सम्मुख मत्तवारणी का विधान किया है और वह रंगपीठ के दोनों ओर का संकेत नहीं अपितु मत्तगजों की श्रेणी' रंगपीठ के सम्मुख शोभा-समृद्धि के लिए अंकित रहता है। यह चित्रित मत्तवारणी दर्शकों के सामने के रूप में चार स्तंभों पर रहती है। मत्तवारणी की यह श्रेणी चार स्तम्भों में बँधी रहती है। यह कल्पना समुचित तो है ही एकवचनान्त 'पार्श्वे' शब्द का समाधान भी हो जाता है।[4] आचार्य विश्वेश्वर ने सम्बद्ध श्लोक में 'पार्श्वे' के स्थान पर 'पार्श्वयोः' और मत्तवारणी के स्थान पर पुल्लिंग द्विवचनान्त मत्तवारणौ का पाठ स्वीकार किया है। पाठ परिवर्तन से मूलपाठ के सौन्दर्य में क्षति पहुँचती है और अभिनवगुप्त के मतानुरूप भी यह नहीं हो पाता।[5]

उपर्युक्त मतों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य अभिनवगुप्त का मत ही व्यावहारिक प्रतीत होता है। एकवचनान्त 'पार्श्वे' शब्द के प्रयोग के कारण जो भ्रम उत्पन्न होता है उसका भी अन्य श्लोक में 'तथा' यह द्विवचनान्त पाठ उपलब्ध होने के कारण दो मत्तवारणियों का स्पष्ट विधान हो जाता है। रंगपीठ के दोनों ओर की यह मत्तवारणी समचतुरस्र होती है ८×८ हाथ के वर्गाकार भूमि में फैली रहती है। यह न तो रंगपीठ के सम्मुख होती है और न आयताकार ही। अतः गुप्त्याराव की 'मत्तगजों की श्रेणी अथवा विश्वेश्वर द्वारा नवीन पाठ की परिकल्पना की आवश्यकता ही नहीं होती। अतः अभिनवगुप्त की मान्यता ही उचित है। डी० आर० मनकड़ वी० राघवन् तथा याज्ञिक महोदय भी इसी मत से सहमत हैं।[6]

मत्तवारणी का स्तर—मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में वर्गाकार भूमि में रहती है, रंगभूमि के यह बाहर नहीं होती। पर उसका स्तर क्या होता है यह मूलपाठ में अस्पष्ट-सा है। स्वभावतः प्राचीन एवं आधुनिक आचार्यों में मतमतान्तर है। मूलपाठ में अस्पष्ट-सा निर्देश है कि वह डेढ़ हाथ ऊँची हो, पर किससे ! रंगपीठ या प्रेक्षकोपवेशन से ? आचार्य अभिनवगुप्त ने इस संबंध में तीन मत उपस्थित किये हैं—रंगपीठ से डेढ़ हाथ ऊँची हो, आधा हाथ ऊँची हो,

---

१ संस्कृत इंग्लिश प्रैक्टिकल डिक्शनरी, पृष्ठ ४१६, मत्तवारणयो वरण्डया वासवदत्ता-सुबन्धु दिव्य धराधरभूमिरिव राजति मदवारणोपेता—कुट्टनीमत।

२ अ० भा० भाग १, पृष्ठ ६०-६५।

३ हिन्दू थियेटर पृष्ठ ४८८।

४ अ० भा० भाग १, पृष्ठ ४४१ (द्वि० सं०)।

५ हि० अ० भा० पृष्ठ ३१२।

६ हिन्दू थियेटर डी० आर० मनकद, पृष्ठ ५०, वी० राघवन् इ० हि० क्वा०, पृष्ठ ६६३ (१९३३)।

रगपीठ और दोनो मत्तवारणिया की ऊँचाई तुल्य हो। घोष महोदय ने तो प्रेक्षकोपवेशन और मत्तवारणी दोनो को समान स्तर का प्रतिपादित किया है और रगपीठ का दोनो की अपेक्षा नीचा। आचार्य विश्वेश्वर ने यहाँ भी अर्थ की सगति के लिए पाठ परिवर्तन स्वीकार किया है। उन्होने नाटयशास्त्र २।६१ में रगमडप के स्थान पर 'रगपीठकम्' तथा अभिनव भारती के रगपीठकम् के स्थान पर 'रगमडप' यह पाठ सशोधित किया है।[१] ऐसा पाठ स्वीकार कर लेने पर दोनो मत्तवारणियो के तुल्य रगपीठ तथा रगमडप की अपेक्षा मत्तवारणी डेढ हाथ ऊँची होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि मत्तवारणी और रगपीठ दोनो का स्तर एक होता है। प्रेक्षकगृह का आसन निम्नस्तर का भी हो सकता है।

चतुरस्र नाटयमडप—भरत के अनुसार चतुरस्र नाटयमडप वर्गाकार ३२ × ३२ हाथ का होता है। इसकी लम्बाई और चौडाई दोनो समान है।[२] इस चतुरस्र समतल भूमि का विभाजन सूत्र के द्वारा होता है। पक्की हुई इटो से भित्ति रचना होती है।[३] उसके उपरान्त इस वर्गाकार चतुरस्र नाटयमडप में चौबीस स्तम्भो की रचना होती है, जो नेपथ्यगृह से प्रेक्षकगृह तक निश्चित दूरी पर रहते हैं। ये स्तम्भ पुत्तलिकाओ से अलकृत रहते हैं। उन पर कमल के पुष्प अकित होते हैं तथा वे इतने दृढ होते हैं कि ऊपर की छत को धारण कर सकें। इस चतुरस्र समतल नाटय-मडप के मध्य आठ हाथ वर्गाकार भूमि का रगपीठ होता है, और उसके दोनो पार्श्वों में १२ × ८ हाथ की आयताकार भूमि में चार स्तम्भो वाली मत्तवारणी सुशोभित रहती है। चतुरस्र का रगशीर्ष सम होता है[४] और विप्रकृष्ट की ही तरह रगपीठ के पृष्ठभाग में चतुरस्र का नेपथ्यगृह ८ × ३२ हाथ में रहता है और प्रेक्षकोपवेशन १२ × ३२ हाथ में। वस्तुत भरत ने रगपीठ को छोड नाटयमडप के किसी अन्य अग-उपाग का माप नही दिया है परन्तु रगपीठ तथा विप्रकृष्ट मध्य नाटयमडप के विवरण के आधार पर अन्य की भी परिकल्पना की जाती है।[५]

त्र्यस्र नाटयमडप—त्र्यस्र नाटयमडप त्रिकोण होता है। चतुरस्र के अनुसार ही इसकी भित्ति एव स्तम्भ रचना होगी। इसका रगपीठ मध्य में होता है और त्रिकोण। इस नाटयमडप में दो द्वार तो रगपीठ के पृष्ठभाग में होते हैं जिससे नेपथ्यगृह से पात्र प्रवेश कर सकें और एक द्वार विप्रकृष्ट और चतुरस्र नाटयमडप की तरह रगपीठ के सम्मुख प्रेक्षकगृह में सामाजिक जन के प्रवेश के लिए होता है। द्वार के विवेचन के प्रसग में ही अभिनवगुप्त ने छ द्वारो का उल्लेख भी किया है। नेपथ्य और रगशीर्ष भी त्रिकोण ही होते हैं।[६] त्र्यस्र नाटयमडप का माप भरत ने नही

---

१ रगपीठापेक्षया (रगमडपापेक्षया) सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्राय (सशोधित पाठ) हि० अ० भा० पृ० ३१८ ६।

२ समन्ततश्च कर्त्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव तु। ना० शा २।८६।

३ बाह्यत सर्वत कार्या भित्ति श्लिष्टेष्टका दृढा। ना० शा० २।८९।

४ अष्टहस्त तु कर्त्तव्य रगपीठ प्रमाणत। चतुरस्र समतल वेदिकासमलकृतम्। ना० शा० २।९८।

५ ना० शा० २।१००।

६ त्र्यस्र त्रिकोण कर्त्तव्य नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभि।
मध्येत्रिकोणमेवास्य रगपीठ तु कारयेत्।
द्वार तेनैव कोणेन कर्त्तव्य तस्य वेश्मन।
द्वितीय चैव कर्त्तव्य रगपीठस्य पृष्ठत।
ना० शा० २।१०२ ३ (गा० ओ० सी०)।

प्रस्तुत किया है। परन्तु अभिनवगुप्त ने अनुमान किया है कि विप्रकृष्ट मध्यम नाटयमडप की तरह इसकी प्रत्येक भुजा ६४ हाथ और चतुरस्र नाटयमडप के समान ३२ हाथ की हो सकती है।[1]

नाटयमडप के कुछ अन्य अग—नाटयमडप के मुख्य भाग रगपीठ और रगशीर्ष के रचना विधान के उपरान्त भरत ने नाटयमडप से सबधित अन्य अगोपागो की रचना का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इन विधियो म भित्ति कर्म, दारु-कर्म, स्तम्भ रचना, द्वार रचना और प्रेक्षको की आसन प्रणाली मुख्य हैं।

भित्ति रचना—नाटयमडप का आधार तो भित्ति ही है। इसी भित्ति म स्तभ, नागदन्त (खूँटी), वातायन तथा द्वार आदि की रचना होती है। भित्ति ऐसी हो जिसम वातायन छोटे हो, पवन मन्द मन्द बहे, वेग से नही। सम्मुख द्वार न हो कि उच्चरित शब्द प्रतिध्वनित नही होने पाए। द्वार और वातायन की रचना द्वारा नाटय प्रयोग अधिकाधिक श्राव्य हो सके, तथा उच्चरित स्वरो को गम्भीर-स्वरता प्राप्त हो।[2] नाटयमडप की भित्ति चारो ओर से श्लिष्ट इटो से बनी हो।[3]

भित्ति प्रसाधन—भरत ने भित्ति प्रसाधन का अत्यन्त कलात्मक और परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। भित्ति रचना के उपरान्त भित्ति-लेप तथा सुधाकर्म (चूना पोतना) करना चाहिए। अभिनवगुप्त के मत से भित्ति लेप का काय शख, बालू और सितुहा आदि के चूडे से होना चाहिए।[4] नाटयमण्डप की भित्ति के चारो ओर से परिमृष्ट तथा अत्यन्त शोभन हो जाने पर चित्र रचना का विधान है। चित्रकर्म म सुन्दर नर-नारी, हरे भरे वक्षो के आलिगन पाश मे बँधी सुकुमार लताएँ तथा मानव-जीवन के भोग विलास की सुकोमल भावनाएँ उन सुन्दर भित्तियो पर अकित हो।[5] भित्तियो के इस प्रसाधन विधान को देखकर मौर्यकाल से गुप्तकाल तक के वभवशाली प्रासादो और वीथियो म पनपती सुकुमार विलास लीलाओ की स्मृति उभर उठती है।

भरत ने विकृष्ट नाटयवेश्म के लिए भित्ति का यह विधान किया है। पर नि सदेह चतुरस्र नाटयमण्डप की भित्ति भी इसी साज सज्जा से निर्मित होती है।

स्तम्भ रचना—भरत ने दृढ नाटय मण्डपो की रचना के लिए भित्तियो के साथ स्तम्भो के स्थापन एव रचना का भी विधान किया है। स्तभ स्थापन की विधि के प्रसग मे चारो वर्णों के स्तभो के मूल म स्वर्ण, रजत ताम्र और लोह आदि धातुओ के रखने का विधान है। विभिन्न नाटय मण्डपो मे कुल कितने स्तभ हो, यह स्पष्ट नही है। भरत न इन स्तभो का विधान चतुरस्र नाटयमण्डप के विवरण के प्रसग म किया है। भरत के अनुसार तो चतुरस्र नाटयमण्डप के लिए केवल २४ स्तभो की आवश्यकता है जिनमे से दस स्तभ तो प्रेक्षागह म 'सोपानाकृति' आसनो

१ उभयानुग्रहाच्च विकृष्टचतुरस्रमानद्वयमेव भवति। अ० भा भाग १ पृष्ठ ७०।

२ तस्मान्निवात कर्तव्य कर्तृभि नाटयमण्डप।
गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति। ना० शा० २।८१ ख, ८२ क (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० २।८६।

४ अ० भा० भाग १, पृ० ६४।

५ भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वत ।
चित्रकर्मणि चालेख्या पुरुषा स्त्रीजनास्तथा।
लताबधाश्च कर्तव्याश्चरित चात्मभोगजम्॥ ना० शा० २।८३-८८क (गा० ओ० सी०)।

के बाहर होगे। शेष छ स्तभ पूर्वस्थापित स्तभो से चार चार हाथ के अन्तर पर दक्षिण और उत्तर की ओर होने चाहिए। इन सोलह स्तभो के अतिरिक्त शेष आठ स्तभो की भी स्थापना करनी चाहिए जिन पर आठ हाथ के स्तभ भी रखे हो।[1]

स्तम्भो की स्थापना और सख्या—आचाय अभिनवगुप्त ने इन स्तम्भो के स्थापन के सम्बन्ध म आचाय शकुक, भट्ट लोल्लट, वार्तिककार तथा भट्टतौत के मतो को प्रस्तुत किया है, क्योकि स्तभ के सम्बन्ध म भरत के विचार पर्याप्त स्पष्ट नही ह। पर इन चारो आचार्यों की स्तम्भ स्थापना-सम्बन्धी मान्यताएँ भी परस्पर विरोधी है और अशत अस्पष्ट भी। शकुक न ३२×३२ हाथ के वर्गाकार नाटयमण्डप को शतरज के फलक की तरह समान आकार के ६४ चतुष्कोणो मे विभाजित किया है। शकुक की कल्पना के अनुसार छ स्तम्भ रगपीठ के पृष्ठभाग तथा ६ अग्रभाग म हैं। शेष बारह प्रेक्षकोपवेशन मे समान दूरी पर रहते हैं।[2] परन्तु भट्टलोल्लट और वार्तिककार की स्तम्भ कल्पना अधिक उपयोगी मालूम पडती है क्योकि ये दोनो आचाय तो चार ही स्तम्भो को प्रेक्षकगह मे स्थान देते है शेष बीस म से छ छ रगपीठ के पष्ठ और अग्रभाग मे तथा छ को नेपथ्यगह म स्थान देत है।[3] प्रेक्षकगह म स्तम्भो की न्यूनता के कारण प्रेक्षको को नाटय प्रयोग देखने म सुविधा होती है। भट्टतौत की दष्टि से तो प्रेक्षकगह म बारह स्तम्भ तथा रगपीठ के पष्ठ एव अग्रभाग म चार चार स्तम्भ तथा शेष चार नेपथ्यगह म स्थापित होत है। अभिनवभारती के त्रुटिपूण पाठ के कारण इन आचार्यो के विचार पर्याप्त स्पष्ट नही हो पाये है। आचाय विश्वेश्वर ने इन त्रुटियो को दूर कर सशोधित पाठ स्वीकार किया है।[4]

स्तम्भों का प्रसाधन—आचाय अभिनवगुप्त न अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है कि ये स्तम्भ परस्पर आठ हाथ की दूरी पर न हो।[5] ये स्तम्भ मडप (छत) तथा शहतीर धारण करने के कारण दृढ तो हो ही पर उन पर पुत्तलिकाओ के मनोहर चित्र भी अकित हो जिसस नाटयमण्डप मे सुन्दरता और सुरुचि का वातावरण हो।[6] यह स्तम्भ विधान तो विशेष रूप से चतुरस्र नाटयमण्डप के लिए है पर विकृष्ट नाटयमण्डप का आकार बडा होन स उसम अधिक स्तम्भो की आवश्यकता होती है। अभिनवगुप्त न यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये २४ स्तभ तो षडदारक पर स्थापित स्तम्भो के अतिरिक्त हैं। अत चतुरस्र म अटठाइस तथा विप्रकृष्ट मे उसमे भी अधिक स्तम्भो की स्थापना होती है। पर त्रिकोण प्रेक्षागह म स्तम्भो की सख्या अपेक्षाकृत कम होती है।[7]

द्वार रचना—भरत न रगशीर्ष क पष्ठ भाग मे स्थित नेपथ्य गह म दो द्वारो का सबसे पहले

---

१ ना० शा० २।६३।

२ अष्टभि भागे सवत क्षेत्र विभजेत् तेन चतुरगफलकवत्।
चतु षष्ठि कोष्ठम् भवति। अ० भा० भाग १, पृ० ६५।

३ अन्येतु 'अष्टो स्तभान् पुनश्च' इति नेपथ्यगहविषयानेतानाहु। अ० भा० भाग १, पृष्ठ ६६।

४ हि० अ० भा० (सशोधित पाठ), पृ० ३६१ ६२, अ० भा० ६७।

५ अ० भा० भाग १, पृ० ६७ तथा हि० अ० भा०, पृ० ३७३।

६ ना० शा० २।६५।

७ विकृष्टे स्तभानामाधिक्यमभ्यनुजानीते (?) अ० भा० भाग १ पृ० ६८।

विधान किया है।[1] ये दोनों द्वार नेपथ्यगृह एवं रगशीर्ष को विभाजित करने वाली भित्ति में बनाए जाते हैं। अतः रगशीर्ष के पृष्ठभाग में नेपथ्यगृह की दीवार में दो द्वारों की कल्पना नितान्त स्पष्ट है। ये दोनों द्वार तो अपरिहार्य हैं। परन्तु यदि रगपीठ और रगशीर्ष पृथक् हैं और दोनों ही किसी यवनिका से नहीं अपितु भित्ति से विभाजित हैं तो नेपथ्यगृह से प्रविष्ट पात्र तो रगशीर्ष पर ही रहते हैं, उनके आने का द्वार रगपीठ के पृष्ठभाग में होना चाहिए कि पात्र रगपीठ पर प्रवेश कर सके। भरत ने पुनः एक स्थल पर द्वार का विधान किया है। यह भी नेपथ्यगृह के सम्बन्ध में ही है। रगपीठ पर प्रवेश के लिए एक द्वार हो तथा जन-समाज के प्रवेश के लिए एक द्वार प्रेक्षागृह में रगपीठ के सम्मुख हो।[2] नाट्यशास्त्र २।९६ में 'द्वार' शब्द एकवचनान्त है। चतुरस्र नाट्यमण्डप में कोण-स्थान तथा रगपीठ के पृष्ठभाग में द्वारों का विधान है।[3] पुनश्च कक्ष्या विभाग में भी भरत ने नेपथ्यगृह की भित्ति में दो द्वारों का विधान किया है।[4] भरत का द्वार विधान कुछ अस्पष्ट-सा होने के कारण अनेक मतान्तरों का कारण बना हुआ है।

नाट्यमण्डप मे तीन द्वार—यदि भरत निरूपित द्वार विधान को यथावत् स्वीकार किया जाय तो तीन द्वारों की परिकल्पना होती है। एक प्रेक्षागृह में जन प्रवेश के लिए तथा दो नेपथ्य गृह में रगपीठ पर आने के लिए। निस्सन्देह नाट्यमण्डप का यह अत्यन्त प्राचीन रूप है, जब यव(म)निका का प्रयोग रगशीर्ष और रगपीठ के मध्य नहीं किया जाता होगा। तीन द्वार की सभावना का सकेत आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में किया भी है। परन्तु यह अविकसित नाट्यमण्डप का सकेत करता है।[5] अभिनवगुप्त ने एकवचनान्त 'द्वार' शब्द को जातिवाचक माना है। इस प्रकार नेपथ्यगृह में दो 'द्वार' की कल्पना नितान्त उपयुक्त मालूम पड़ती है। पर अन्य आचार्यों के मत से तीन द्वार नाट्यमण्डप पर होते हैं।

नाट्यमडप मे चार एव छ द्वार—आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रेक्षक, पात्र एव नाट्य प्रयोग की सुविधा की दृष्टि से रगकर चार द्वारों की परिकल्पना भरत के अनुसार की है। उनके विचार से पात्र प्रवेश के लिए दो द्वार नेपथ्य गृह में, जन प्रवेश के लिए एक द्वार प्रेक्षक-गृह में तथा सूत्रधार एव उसके परिवार के (प्रयोक्ता आदि) के प्रवेश के लिए नेपथ्य गृह के पृष्ठभाग में एक द्वार की रचना होने पर कुल चार द्वार नाट्य गृह में होते हैं।[6] आचार्य अभिनवगुप्त को चार

---

१ कार्यं द्वार द्वयचात्र नेपथ्यगृहकस्य तु। ना० शा० २।९९क (गा० ओ० सी०)।

२ द्वार चैक भवेत्तत्र रगपीठ प्रवेशनम्।
जनप्रवेशन चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्।
रगस्याभिमुख कार्यं द्वितीय द्वारमेव तु॥ ना० शा० २।९६ ९७ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० २।१०३ वही।

४ ना० शा० १३।२ वही।

५ रगपीठस्य यत् पृष्ठ रगशिर तत्र द्वितीयमिति जात्यपेक्षया एकवचनम्।
तेन द्वारद्वयमेव रगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय। चकारेण द्वितीयप्रवेशार्थम्।
जनप्रवेशनद्वार। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति सगृहीत भवति। अ० भा० भाग १, पृ० ६८।

६ जनप्रवेशन च तृतीय द्वार नेपथ्यगृहस्य।
येन भार्यामादाय नटपरिवार प्रविशति।
अन्ये तु द्वारद्वयस्या सामाजिक जन प्रवेशनार्थ एव चतुर्द्वार नाट्यगृहम्।
अ० भा० भाग १, पृ० ६९।

द्वारा की परिकल्पना ही अभीष्ट है। यद्यपि उन्होंने अपने मत के उपरान्त अन्य आचाय के मतानुसार छ द्वारा का भी उल्लेख किया है जिसम दो द्वारो की रचना दोना पार्श्वों म प्रकाश के लिए की जाती है।[1] शेष द्वार पूववत् होते हैं।

डी० आर० मनक्द की परिकल्पना—डी० आर० मनकद महोदय न अन्य सब आचार्यों से भिन्न नाटयमण्डप के लिए पाँच द्वारा की परिकल्पना की है। उन्होंने अभिनवगुप्त के विचारो स सहमत होते हुए नाटयशास्त्र के २।९६ म प्रयुक्त एकवचनान्त द्वार शब्द को राशिवाचक माना है। परन्तु वे दो द्वार नेपथ्यगह म रगपीठ पर पात्र प्रवेश के लिए, दो द्वार मत्तवारणी और रग शीष की विभाजक भित्ति म और एक द्वार जन प्रवेश के लिए प्रेक्षकगह मे स्वीकार करते है। उनके विचार म नाटयमण्डप म यवनिका का प्रयाग स्वीकार करने पर ही पाच द्वारा की परिकल्पना हाती है। परन्तु यवनिका का प्रयोग न भी हाता हा तो रगपीठ और रगशीष के मध्य की भित्ति म इन द्वारो की परिकल्पना की जा सकती है। अभिनवगुप्त की अपेक्षा इनकी कल्पना सवथा भिन्न है।[2]

द्वार सम्बन्धी निषेध—भरत के नाटयशास्त्र के आधार पर ही तीन से छ द्वारा की परिकल्पना की गई है। इस सम्बन्ध म भरत के निषेध भी महत्वपूण है। भरत ने नाटयमण्डप के लिए कुछ द्वारो का निषेध भी किया है। इसका निश्चित उद्देश्य है। सम्मुख द्वार होने से नाट्य मण्डप 'निवात और गभीर धीर शब्दवान' नही हो पाता। फलत पात्रा द्वारा उच्चरित पाठय प्रतिध्वनित नही हो पाते। अतएव भरत न द्वारविद्ध' नाटयमण्डप का निषेध किया है। द्वार के सम्बन्ध म विहित विधि निषेध नाटय प्रयोग की उपयुक्तता को दष्टि मे रखकर प्रस्तुत किये गये है। इन द्वारा के माध्यम से सामाजिक एव पात्रो का प्रवेश तथा अपेक्षित प्रकाश की व्यवस्था होनी थी, परन्तु द्वारा की रचनाशैली ऐसी होती थी कि पात्रा द्वारा उच्चरित वाक्य गुजित भी हा।[3]

दारुशिल्प—नाटयमण्डप की रचना के प्रसग म भरत ने काष्ठ शिल्प के प्रयोग का भी विधान किया है। काष्ठ का प्रयोग दढ़ता और सुन्दरता के लिए नाटयमण्डप के कई महत्वपूण स्थानो पर होता था। स्तभो की रचना, स्तभ-द्वारो पर तोरणा के विधान छता क लिए शहतीर तथा प्रेक्षकोपवेशन की रचना म काष्ठ का प्रयोग होता था।[4] काष्ठ का प्रयाग उपयागी तो होना ही था। परन्तु भरत की दष्टि सौन्दय की ओर थी। अत उन्होंने विविध शलिया मे रचित जालिया, झरोखा और काष्ठ निर्मित वातायना की बडी ही सुन्दर परिकल्पना की है। काष्ठ स्तम्भा तथा शहतीर आदि पर नर-नारी के मनाहर चित्रा, भोग विलास की सुकुमार प्रतिछवियो के अकन का विधान है।[5] उह, प्रत्यूह निर्यूह और सजवन आदि छ काष्ठ विधियो के ललित प्रयोग का निर्देश है। समस्त नाट्यमण्डप, विशेषकर रगपीठ और

१ अन्ये त्वाधद्वार (द्वयमि) वारेन हेतुनाऽ यद्वारद्वय पाश्वस्थित।
कुर्यादालोकसिद्धयथमिति षड्द्वार नाट्यगृहमाचक्षते। अ० भा० भाग १, पृ० ७०।
२ हिन्दू थियेटर डी० आर० मनकद—इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४९१।
३ कोण वा सप्तनिद्वार द्वारविद्ध न कारयेत्। ना० शा० २।८० ८२ (गा० ओ० सी०)।
४ रगशीर्षं तु कर्तव्य दारुकर्म समन्वितम्। वही २।६८ ख।
इष्टकदारुभि कार्यं प्रेक्षकाणा निवेशनम्। वही २।९१।
५ ना० शा० २।७५ ख तथा ७७ ७८।

रंगपीठ की धारा और मत्तवारणी प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त काष्ठ से सुसज्जित रहना चाहिए। नाट्यशास्त्र में दारुकर्म के सम्बन्ध में दिए गये निर्देश बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। भरत-काल के नाट्य मण्डप में काष्ठ का कलात्मक प्रयोग प्रचुरता से होता था।

आसन रचना प्रणाली—नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह की आसन विधि अत्यन्त संक्षिप्त है। स्तम्भ रचना के प्रसंग में ही प्रेक्षकोपवेशन की रचना का विधान प्रस्तुत किया गया है। भरत के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, भट्टतोत तथा वार्तिककार के मतों का भी आकलन किया है।

'सोपानाकृति' आसन प्रणाली—प्रेक्षकोपवेशन में आसनों की रचना स्तम्भों के बाहर होनी चाहिए, जिससे रंगपीठ पर अभिनीत दृश्य बिना बाधा के प्रेक्षक देख सकें। ये ईंट और लकड़ियों के बने हुए हों। परन्तु आसनों की पंक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे से एक हाथ ऊपर उठती हुई हों। आसनों से स्तम्भ सोपानाकृति हों।[1] इस की इस मान्यता का समर्थन भट्टतोत ने भी किया है कि सोपानाकृति उपवेशन में बैठे रहने से प्रेक्षक एक दूसरे का आच्छादन नहीं कर पाते। रंगपीठ पर प्रस्तुत सब दृश्य बड़ी सरलता से देख पाते हैं। भट्टतोत ने 'शैलगुहाकार' और 'द्विभूमि' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में इस आसन रचना विधि का विशेष रूप से व्याख्यान किया है।[2] वार्तिककार का भी मत भट्टतोत के मत से आश्चर्यजनक साम्य रखता है।[3] सम्भव है, वार्तिककार के मत का ही उपबृंहण भट्टतोत ने किया हो। आसन रचना प्रणाली का किंचित् संकेत मत्तवारणी के प्रसंग में भी मिलता है। वहाँ पर प्रयुक्त 'रंगमण्डप' शब्द यदि प्रेक्षकोपवेशन का बोधक हो तो 'मत्तवारणी तथा प्रेक्षकोपवेशन' का स्तर एक हो जाता है। क्योंकि रंगपीठ की ऊँचाई के तुल्य प्रेक्षकोपवेशन का अन्तिम आसन है और मत्तवारणी तथा रंगपीठ का स्तर एक ही है। डी० आर० मनकड़ महोदय ने भी अभिनवगुप्त की इसी मान्यता का समर्थन किया है।[4]

नाट्यमंडपों पर छत—भरत ने नाट्यमंडप के प्रधान अंगोपांगों के विवरण के प्रसंग में 'छत' के सम्बन्ध में मौन ही धारण किया है। ये भारतीय नाट्यगृह छतदार थे या प्राचीन ग्रीक नाट्य-गृहों की तरह ये ऊपर से खुले हुए थे? भरत ने छत का पृथक् विधान तो नहीं किया है परन्तु भित्ति रचना में वातायनों की न्यूनता, मंडप धारण में स्तंभों की दृढ़ता, नाट्य मंडप की धीर शब्दता तथा शैलगुहा के से आकार के नाट्य मंडप की परिकल्पना से नाट्य मंडपों के छत दार होने का समर्थन होता है। यदि नाट्य-मंडप छतदार नहीं होते तो वातायन से प्रकाश आने की कल्पना क्या की जाती। यदि स्तंभों के ऊपर मंडप नहीं होते तो उनके दृढ़ होने का क्या

---

१ स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्।
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः।
रंगपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम्॥ ना० शा० २।९० ख, ९२ क (गा० ओ० सी०)।

२ उपाध्यायास्तु वीप्सागर्भम् व्याचक्षते, द्वे द्वे भूमी यत्र निम्नोन्नत
ततोऽप्युन्नता इति निम्नोन्नतक्रमेण रंगपीठ निकटात् प्रभृतिद्वार—
पर्यन्तं यावद्रंगपीठोत्सेधतुल्या भवन्तीति। एवं हि परस्परानाच्छादनं हि सामाजिकानाम्।
अ० भा० भाग १, पृ० ६४।

३ सोपानाकृति पीठकमत्र विधेयं समं तो रंग।
यत्नानाच्छादनया स्यादालोकस्तु रंगस्य। हि० म० भा० पृ० ३६२।

४ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४८८, १९३२ (संशोधित पाठ)।

भरत के अनुसार नाट्य मडपो के विभिन्न रूप
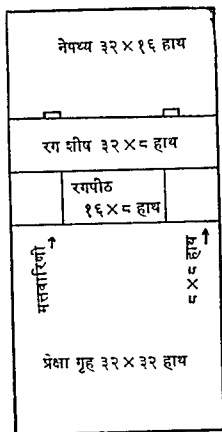
विप्रकृष्ट मध्य नाटय मडप
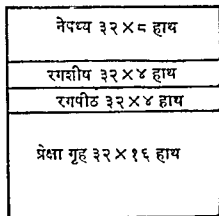
चतुरस्र नाटय मडप
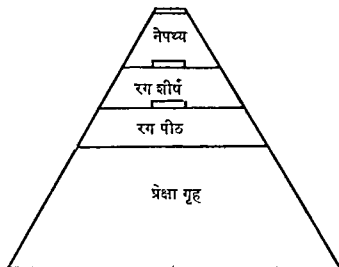
त्रिकोण नाट्य मडप
माप—१ इच=८० हाथ

आधुनिक विद्वानों की दृष्टि से नाट्य मण्डपों के विभिन्न रूप

एम० एम० घोष द्वारा भरत-कल्पित नाट्य-मण्डपों की रूपरेखा
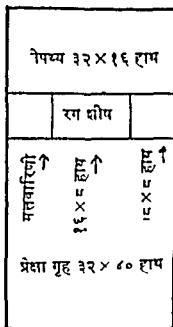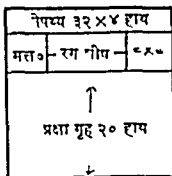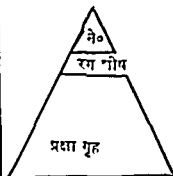
नेपथ्य ३२ × १६ हाथ

रंग शीर्ष

मत्तवारिणी

१६ × ८ हाथ

८ × ८ हाथ

प्रेक्षा गृह ३२ × ४० हाथ

विप्रकृष्ट मध्य नाट्य मण्डप

नेपथ्य ३२ × ४ हाथ

मत्त० — रंग शीर्ष — म०

प्रेक्षा गृह २० हाथ

चतुरस्र नाट्य मण्डप

ने०

रंग शीर्ष

प्रेक्षा गृह

त्रिकोण नाट्य मण्डप

सु० रा० राव द्वारा भरत-कल्पित नाट्य-मण्डपों की रूपरेखा

नेपथ्य ३२ × १६ हाथ

रंग शीर्ष ३२ × १६ हाथ

प्रेक्षागृह ३२ × ३२ हाथ

विप्रकृष्ट मध्य नाट्य मण्डप

नेपथ्य ३२ × ८ हाथ

रंग शीर्ष ३२ × ८ हाथ

प्रेक्षा गृह ३२ × १६ हाथ

चतुरस्र नाट्य मण्डप

ने०

रंगशीर्ष

प्रेक्षा गृह
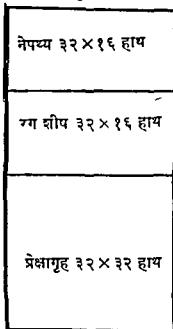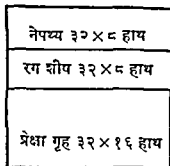
त्रिकोण नाट्य मण्डप

डी० आर० मनकड द्वारा भरत-कल्पित
नाट्यमडप की रूप-रेखा

नेपथ्य ३२×१६ हाथ

रग शीष ३२×८ हाथ

रग पीठ ३२×८ हाथ

प्रेक्षा गृह ३२×३२ हाथ
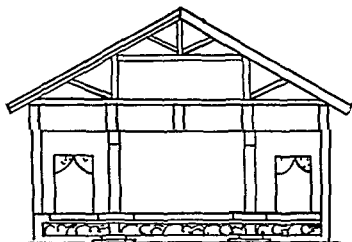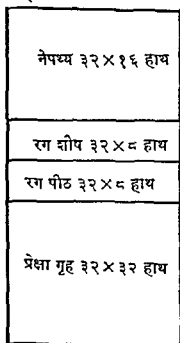
प्रो० सु बाराव द्वारा भरत-कल्पित मत्तवारिणी और
पट्दारुक की एक कल्पनाशाली रूप रखा

अभिनव भारती के अनुसार नाट्य मडपो के विभिन्न रूप
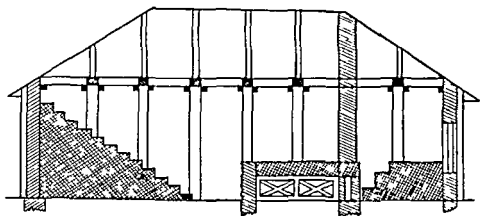
उपाध्यायास्तु वीप्सागम व्याचक्षते। द्वे द्वे भूमि यत्न निम्नोनते ततोऽप्युनता इति निक्रमेण (निम्नोनतक्रमेण) रगपीठनिकटात्प्रभति द्वारपयत यावद्रगपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति। एव हि परस्परानाच्छादन सामाजिकानाम्। शल गुहाकारत्व स्थिरशब्दादित्व च भवति।

अ० भा० प० ६५।

आचाय भटटतौत के अनुसार— द्विभूमि नाट्यमण्डप।

द्वितीय भूमि

नेपथ्य ३२ × १६ हाथ

रग शीष ३२ × १६ हाथ

प्रक्षा गृह ३२ × ३२ हाथ

मत्तवारिणी

८ हाथ

८ × ३२ हाथ
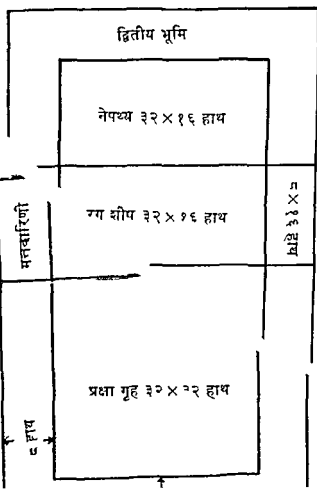
मत्तवारणी बहिर्निगमन प्रमाणेन सवतो द्वितीय भित्ति निवेशेन देवप्रसादाढारिका (देवप्रसादाट्टालिका) प्रदक्षिण सदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ते।

देव मदिरो की प्रदक्षिणा भूमि की तरह मत्तवारिणी की चौडाई के अनुरूप प्रेक्षागह के चारो ओर यह भूमि फली रहती है और उसके मध्य म रग मडप शल-गुहा की तरह मालूम पडता है।

—अ०भा०भाग १, पृ० ६४।

अय होता है ? छत होने पर ही उच्चरित पाठय प्रतिध्वनित होता है। और यदि ऊपर छत न हो तो पवत की गुफा के समान उनका आकार ही कसे होता। अतएव भरत प्रतिपादिन नाटयमडप पर छता की रचना का निश्चित रूप से विधान किया गया है।[१]

'शलगुहाकार' नाटयमडप—पवत-गुफाओ म शब्द प्रतिध्वनित होते हैं, उसीके अनुरूप 'शलगुहाकार' नाटयमडप म उच्चरित पाठय प्रतिध्वनित होते हैं। राव महोदय के मत से 'शैलगुहाकार' और द्विभूमि' शब्दा का प्रयोग भरत ने रगपीठ के ऊपर की छत 'रगशीप' के लिए किया है। रगशीप की ऊपरी छत विपम स्तर है, समस्तर नही। यदि रगशीप समस्तर हो तो आवाज़ टकराकर रगपीठ पर ही चली आएगी। इसीलिए भरत ने विपमस्तर रगशीप की परिकल्पना की है, कि उच्चरित पाठय 'विपमस्तर, द्विभूमि, शैलगुहाकार, 'रगशीप से प्रति ध्वनित हो प्रेक्षकोपवेशन की ओर प्रसारित हो। राव महोदय की यह कल्पना अत्यन्त समृद्ध एव नाट्य प्रयोग की श्रा यता की दृष्टि से विचारपूण है एव मूल्यवान् भी।[२]

द्विभूमि नाटयमडप—अभिनवगुप्त ने नाटय को 'द्विभूमि' के सम्ब ध म अ य आचार्यों की अनेक कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। एक मत के अनुसार रगपीठ के ऊपर और नीचे की भूमि द्विभूमि' होती है। दूसरे मत के अनुसार मतवारणी की चौडाई के अनुरूप नाट्यमडप के चारो ओर देवालयो की प्रदक्षिणा भूमि के समान भित्ति की एक और परिखा घेर दी जाती है। यह रगपीठ के पाश्व मे भी होती है। यही द्विभूमि' होनी है। तीसरे मत के अनुसार रगपीठ के ऊपर एक और मडप की रचना होती है, यही द्विभूमि होती है। चौथे मत के अनुसार भरतप्रयुक्त 'शलगुहाकारोद्विभूमि' इन दो शब्दो का सधि विच्छेद 'शलगुहाकार +अद्विभूमि' इस रूप मे कर दोमजिले नाटयमडप का विरोध किया गया है।[3] भरत प्रयुक्त 'शलगुहाकारोद्विभूमि' के सम्ब ध म अभिनव गुप्त से पूव ही अनक मा यताएँ प्रचलित थी।

आचाय अभिनव गुप्त के उपाध्याय भटटतौत की परिकल्पना विलक्षण तथा आधुनिक प्रेक्षागहो के बहुत अनुरूप है। भटटतौत के मत से 'द्विश द, 'वीप्सागभ' है। नाटयमडप मे रगपीठ के निकट से प्रेक्षकोपवेशन के द्वार तक नीची-ऊँची दो प्रकार की भूमि का क्रमश नीचे से ऊचाई की ओर सीढ़ीनुमा (सोपानाकृति) आसनो की रचना होती है। ये आसन क्रमश रगपीठ की उँचाई के समान हो जाते है। इस द्विभूमि आसन व्यवस्था से सामाजिक परस्पर एक-दूसरे को आच्छादित नही कर पाते। नाटयमडप का भीतरी आकार भी शलगुहा की तरह हो

१ (क) मदवाता यत यनोपेतो निर्वातो धीर शब्दवान्। ना० शा० २।८१, क
(ख) शस्ता मडप धारणे २।६० दृढ़ात्मडपधारणे। २।६८ (ना० शा०)
(ग) कार्य शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमडप। २।८१ ख (ना० शा०)

२ In modern construction language it means simply that the theatre must have a roof and that this roof must be gable roof hipped at ends and not a flat roof

Abhinava Bharati, Vol I p 447, Prof D Suba Rao

३ द्वे भूमी रगपीठस्याधस्तनोपरितनरूपेयेतिकेचित्।
मतवारणी बहिर्निगमन प्रमाणेन सर्वतो द्वितीयमिति निवेशेन
देवप्रसादाट्टालिका प्रदक्षिणा सदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये।
उपरिमडपनिवेशनादित्यपरे। अद्विभूमिरित्येके। अ० भा० भाग १, पृ० ६३ ६४।

जाता है। इस शैली म निर्मित नाटयमडप म उच्चरित स्वर प्रतिध्वनित भी होते हैं।[१]

'शैलगुहाकार' और अद्विभूमि नाटयमडप के सम्बन्ध म प्राचीन एव आधुनिक नाट्याचार्यों की परिकल्पनाएँ आवश्यक हैं और नाटयप्रयोग के लिए नितान्त उपयोगी भी। भरतमुनि एव अभिनवगुप्त निम्नोन्नत आसन विधि, किसी आचार्य की दो-मंजिले नाटयमडप की परिकल्पना तथा सुब्बाराव महोदय की विषम छत प्रणाली सब प्राचीन भारतीय रगमडप की उन्नतिशालिता का सकेत करते हैं। अभिनवगुप्त और राव महोदय द्वारा प्रस्तुत 'शैलगुहाकार' और 'अद्विभूमि' की परिकल्पनाएँ यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु प्रभाव की दृष्टि से एक ही उद्देश्य का समर्थन करती प्रतीत होती हैं, कि नाट्यमडप का आभ्यन्तर आकार ऐसा हो कि उच्चरित शब्द प्रेक्षकोपवेशन तक प्रतिध्वनित हो।[२]

भारतीय वाङ्मय मे नाट्यमडप

नाटयशास्त्र म नाटयमडप का जसा विस्तृत विधान भरत ने प्रस्तुत किया है उसकी तुलना म अन्य ग्रन्थो म प्राप्त नाटयमडप सम्बन्धी विवरण उतना महत्वपूर्ण नहीं है। पर उनका महत्व नाटय के उदभव और विकास की दृष्टि स ही है। वदिक सहिताओ से भावप्रकाशन तक के विविध ग्रन्थो म नाटयमडप क जो वत्त उपलब्ध हैं वे प्राय अनुमान पर ही आधारित हैं। स्वतन्त्र रूप से नाटयमडप का पूर्व विवरण बहुत कम ग्रन्थो म उपलब्ध है। हम यहाँ उनकी सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं।

वदिक और लौकिक साहित्य मे नाटयमडप—यजुर्वेद के तीसवें अध्याय म नाट्य के सूत शलूष, कारी (विदूषक), वामन, चित्रकारिणी आदि अनेक नाटकीय पात्र तथा वीणा, तबला और मजीरा आदि वाद्यो का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण उस प्राचीन वदिक युग म ऐसे नाटय मडप की परिकल्पना कर सकत हैं जहाँ इन पात्रो और विविध नाट्योपयोगी सामग्रियो का एकत्र प्रयोग होता हो।[३] वाल्मीकि रामायण म वधू नाटक सघो और नाटको तथा रगशालाओ का बहुत स्पष्ट उल्लेख है।[४] पातजल महाभाष्य म रगमडप पर नटो की स्त्रियो द्वारा परस्पर परिहास तथा उनकी चारित्रिक दुर्बलता का उपहास प्रस्तुत किया गया है।[५] अर्थशास्त्र और कामशास्त्र

---

१. उपाध्यायास्तु शैलगृहाकारमभ्याचक्षते।
द्वे द्वे भूमी यत्र निम्नोन्नते ततोऽप्युन्नता निम्नो नतकमेण रगपीठनिकटात् प्रभृति द्वारपर्यन्त यावद्र गपीठोत्सेधतुल्या भवति एव हि परस्परानाच्छादन हि सामाजिकानाम्। शैलगुहाकारत्वात् स्थिरशब्दत्व च भवति। अ० भा० भाग १, पृ० ६३ ६४ (द्वि० स०)।

२ तत्रैव शब्दस्य भ्रमणात् अन्योन्य प्रतिश्रुतिक र समारभ सम्पूर्णाच्च
तथा— अ० भा० भाग १, पृ० ६४।
The accoustical property of a Jable roof is to reflect the sound from the stage to the audience in the auditorium and that of the flat roof is to reflect the sound back again to the stage
Abhinava Bharati, p 447, Vol I Prof D Suba Rao, 2nd Edition

३ यजुर्वेद ३०।६, १०, १४, २०, २१।

४ वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड ५।१२, अयोध्याकाण्ड ६।१४।

५ तयानटाना स्त्रियो रगगता यो य पृच्छति कस्य यूयम इति त तव तवेत्याहु। पातजलमहाभाष्य ७।

पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ हैं। इनमे नाटयशाला का स्पष्ट उल्लेख है। अर्थशास्त्र के अध्यक्ष प्रचार अधिकरण मे विहारशालाओ का वर्णन है जिन पर रगोपजीवी अभिनेता नाटय, नर्तन और गायन करते थे। कौटिल्य ने ग्रामों मे प्रेक्षणशालाओ की रचना का निषेध किया है। नाट्यमडप और नाट्यमण्डली इतने सुसगठित थे कि अभिनेताओ को सभवत नियमित वेतन भी मिलता था।[1] कामशास्त्र मे उन प्रेक्षागृहो का उल्लेख है जो सरस्वती मदिर के साथ ही बने होते थे। इनमे कुशीलव समजों (उत्सवो) का आयोजन किया करते थे।[2]

बौद्ध और जैन साहित्य भी नाटयमडप के सम्बन्ध मे नितात मौन नही हैं। आरभिक साहित्य में इस ललित कला के प्रति निषेध का आग्रह चाहे जितना कठोर रहा हो, पर बाद मे बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियो की सुकुमार कलावृत्ति इधर उन्मुख हो चली। अवदान शतक मे रूप यौवन मदमत्ता नर्तकी अपने गान और नृत्य से बोधिसत्व को ही मुग्ध करना चाहती थी। उक्त कथा मे बौद्ध नाटक के प्रयोग का उल्लेख है। बोधिसत्व स्वय नाट्याचार्य तथा अन्य नट बौद्ध पात्रो के रूप में अवतरित होते हैं। इनसे बौद्ध युग मे नाटयमडप के होने की पुष्टि होती है।[3] पर जैन धर्म के राजप्रसेनीय सूत्र मे तो नाटयमडप के स्तभ, अट्टचन्द्राकार तोरण, शालभजिका भित्तिलेप और चित्र रचना आदि का भी विस्तृत विवरण उपलब्ध है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र मे प्रेक्षागृह, नेपथ्य और तिरस्करिणी (यवनिका) का विवरण मिलता है। नाटकान्तगत नाट्य के विवरण के प्रसग मे इन विषयो की स्पष्ट चर्चा हुई है। शाकुन्तल की सगीतशाला मे देवी हसपदिका स्वरसाधना करती है।[4] ये प्रेक्षागृह सगीतशालाएँ तथा चित्रशालाएँ राजभवनो के अग थे। सस्कृत नाटको की प्रस्तावना तथा अन्य प्रसगो मे नाट्यमडप तथा उसके अन्य अगो का उल्लेख अवश्य मिलता है। भवभूति का उत्तररामचरितम् इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नही है। उसमे एक विराट रगमच की कल्पना की गई है, जहाँ 'रामायण नाटक' देखने के लिए देव असुर निमन्त्रित थे, और नाटयप्रयोग की सिद्धि तथा बाधा के निर्णय के लिए रगप्राश्निक भी नियुक्त थे। भवभूति कल्पित प्रेक्षागृह लोकरगमच का निकटवर्ती मालूम पडता है।[6] राजशेखर ने काव्यमीमासा मे सभामण्डप के लिए सोलह स्तभ, चार द्वार, आठ मत्तवारणियो का विधान किया है। सगीत रत्नाकर की तरह यहाँ राजा, कवि और भाषाकवि आदि के लिए अलग-अलग आसन का विधान है।[7]

पुराणों का साक्ष्य—नाटयमडप के सबध मे हरिवश, विष्णुधर्मोत्तर, मत्स्य और अग्नि पुराण मे उल्लेख योग्य सामग्री मिलती है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे दो प्रकार के नाटयमडपो की चर्चा भर की गई है। हरिवश मे नाटय का विस्तृत विवरण उपलब्ध है, छलिक नृत्य, रामनाटको

---

१ अर्थशास्त्र अध्यक्षप्रचार द्वितीय अधिकरण अध्याय १, २।२७।

२ कामसूत्र १।४।२८ ३१।

३ अवदान शतक (कुवलया) ७५वीं कथा।

४ राजप्रसेनीय सूत्र, सूत्र १६, पृ० ८६-८७।

५ तेन हि द्वावपि प्रेक्षागृहे सगीतरचना कृत्वा, मा० अ० अक २।२१। तथा मो वयस्य सगीतशाल भ्यन्तरेऽवधान देहि। अभिज्ञान शाकुन्तल, अक ५।

६ कृतश्च मर्त्यामर्त्यस्य भूतग्रामस्य समुचितस्थानसनिवेशो मया। वत्स लक्ष्मण! अपि स्थिता रगप्राश्निका।

७ सा षोडशभि स्तभै चतुर्भि द्वारैरष्टाभि मत्तवारिणीभिरूपेता स्यात्। काव्यमीमांसा, पृ० १३२।

का प्रयोग और पारितोपिक वितरण आदि का जसा सजीव विवरण मिलता है, उससे बहुत ही समृद्ध नाटयमडप की कल्पना की जा सकती है। मत्स्यपुराण म प्रासाद, नगर निर्माण आदि वस्तु शिल्पो की चर्चा के प्रसग म वास्तुनिर्माण के अटठारह आचार्यों (भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा मय नारद विशालाक्ष, ब्रह्मा, कुमार, नन्दिकेश्वर शौनक, गग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र और बहस्पति) का उल्लेख है। अग्निपुराण म तो प्रासाद, गह नगर आदि की वास्तुकला का विधान करते हुए वेश्याओ, नतकियो और नटो के लिए दक्षिण दिशा म गह निर्माण का विधान है।[1]

कला एव शिल्प ग्रथों का साक्ष्य—शिल्परत्न, मानसार, सगीत रत्नाकर और भावप्रकाशन म नाटयमडप के बहुत ही महत्त्वपूण विवरण उपलब्ध हैं। शिल्परत्न म राजप्रासाद के सम्मुख चार प्रकार के मडपो म नत्य (नाटय) मडप की भी परिगणना हुई है। उस नाटयमडप के लिए नेपथ्यधाम मुख्यरगभूमि, वाद्ययत्रों के रखने के स्थान तथा नाटयभूमि के विभाजन का विधान है।[2] यह विभाजन पूण नही है पर नाटयशास्त्र म वर्णित नाटयमडप का उस पर प्रभाव परिलक्षित होता है। मानसार भवननिर्माण कला का अत्यन्त महत्त्वपूण ग्रन्थ है। नाटयमडप के छोटे स्तभो का विवरण देते हुए उस पर व्यालि और मकरो की प्रतिछवियो के अकन का विधान है।[3] पर नि सदेह यहा नाटयमडप का उपलब्ध बहुत अस्पष्ट है। उसकी अपेक्षा सगीत रत्नाकर म वर्णित नत्यशाला का रूप पर्याप्त स्पष्ट है। रत्नो के स्तभ, वितान और सिंहासन आदि का विधान है। नत्यशाला के लिए वर्णित आसन शली बहुत महत्त्वपूण है जिसमे राजा, मत्री, सेनापति, अन्त - पुर की महिलाओ, रसिक कवि, नागर, विलासी, विलासिनी और अगरक्षक आदि के लिए स्थान निर्धारित है।[4] भावप्रकाशन म उपलब्ध नाटयमडप सबधी विवरण प्राय भरतानुसारी है। वहाँ चतुरस्र और त्र्यस्र नाटयमण्डपो क अतिरिक्त वत्त नामक नय नाटयमण्डप की परिकल्पना की गई है। इस नाटयमण्डप म राजा एव परिजन साथ ही सगीत की योजना करते हैं।[5] चतुरस्र राजा के साथ वारविलासिनी, आमात्य वणिक, सेनापति और सभ्रान्तकुल के मित्र भी दशक होते हैं। पर त्र्यस्र रगमडप म राजमहिषी, ऋत्विक पुरोहित आचाय और अन्त पुर के अन्यजन दशक के रूप म उपस्थित रहते हैं। भावप्रकाशन म वर्णित तीनो प्रकार के नाटयमण्डप राजभवनो के अग हैं न कि स्वतत्र नाटयमडप।

सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं के प्रेक्षागह—नाटयशास्त्र को छोड भारतीय वाङ मय मे प्रेक्षागह का जो भी विवरण मिलता है वह प्राय अस्पष्ट और अपूण है। नाटयोदभव के आरभिक काल मे ये प्रेक्षागृह राजभवनो की छत्रछाया म सगीतशाला और नत्यशालाओ के रूप म पनपे, या यह भी सभव है कि आर्यों की समृद्धि और वैभव के युग म ये रगमडप राजप्रासादो म लोक रगमचो तक छाये थे सवत्र इस सुकुमार परश्रमसाध्यकला का विकास फल फूल रहा था पर कलाविरोधी आततायियो के दुधष आक्रमण के बाद राजप्रासादो की शीतल छाया म

१ विष्णुधर्मोत्तर पुराण २०।४ ७, मत्स्यपुराण, अध्याय २५२ ५७।
अग्निपुराण, अध्याय १०२ १०६।

२ मनुष्य राजधान्यादौ पुरस्य लक्ष्यसयुतम।
सर्व समारोद् नाटयमण्डपेषु यथोचितम् ॥ शिल्परत्न पृ० १९९ २०१, (त्रिवे द्रम् सस्कृत सीरीज)

३ मानसार पी० के० आचार्य, स पूर्ण हिन्दू थियेटर पृ० ४१० डी० आर० मनकड।

४ सगीत रत्नाकर, पृ० १३५ ६१, अनन्त शर्मा सीरीज।

५ भावप्रकाशन, पृ० २६८, प० ५ २०।

सिमटकर रह गये और जब मुसलमानों के प्रचण्ड आक्रमणों ने राजप्रासादों, पुस्तकालयों, मंदिरों, विश्वविद्यालयों को अपनी ध्वंस-लीला का शिकार बनाया तो नाट्यमंडप भी उजड़ गये।[1] इसीलिए नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त जहाँ भी नाट्यमण्डप के विवरण उपलब्ध हैं, वे बहुत ही अस्पष्ट और अधूरे हैं। कालिदास के मेघदूत की एक पंक्ति[2] से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि नागरजन नगर के कोलाहल से दूर शान्त एकान्त पार्वत्य गुफाओं में 'कलाविलास' का आनन्द लेते थे। वह कहीं प्रस्तर मूर्तियों और कहीं भित्तिचित्रों तथा कहीं नाट्यगृहों के रूप में अवशिष्ट हैं। मध्य प्रदेश के सरगुजा राज्य में वर्तमान सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं में प्राप्त प्रेक्षागृह इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व के हैं। प्राचीन नाट्यमंडप का एकमात्र रूप इन्हीं शिलावेश्मों में अब भी सुरक्षित मालूम पड़ता है। इसमें रंगमंडप प्रेक्षकों के लिए आसन तथा मुख्य रंगभूमि और प्रेक्षकोपवेशन के मध्य यवनिका के लिए दोनों दीवारों में दो छिद्र भी बना दिये गये हैं। इससे इतनी ही सूचना मिलती है कि मुख्य रूप से नाट्यमंडपों पर अभिनय नृत्य और गीत का जो भी प्रयोग होता रहा हो, परन्तु राजप्रासादों से लेकर पार्वत्य गुफाओं में भी किसी न किसी रूप में भारतीय नाट्यमंडप फूल फल रहा था और नाट्य एवं नृत्य कला का स्वस्थ विकास हो रहा था।[3] यद्यपि उसकी स्पष्ट रूपरेखा नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र ग्रन्थों के अनुमान पर ही आधारित है, नाट्यशास्त्र का भी विवरण पाठ की त्रुटि और टीकाओं के परस्पर विरोधी होने के कारण सर्वथा भ्रान्तिरहित भी नहीं है।

यवनिका

नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमंडप के विभिन्न अंगों के विवरण सन्दर्भ में भरत 'यवनिका' के सम्बन्ध में मौन ही रहे हैं। पर एक अन्य प्रसंग में 'यवनिका' और 'पटी' शब्दों का प्रयोग किया है इसलिए बहुत से विद्वानों ने कल्पना की है कि या तो पाँचवें और बारहवें अध्यायों की रचना द्वितीय अध्याय के बाद हुई हो या द्वितीय अध्याय की रचना होने तक भारतीय नाट्यमण्डपों पर यवनिका का प्रयोग ही न होता हो।[4] प्रस्तुत सन्दर्भ में उपयुक्त तीनों अध्यायों की रचना के पौर्वापर्य पर विचार नहीं करना चाहते पर इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि नाट्यशास्त्र के रचनाकाल तक भारतीय नाट्यमंडपों पर यवनिका का प्रयोग आरम्भ हो गया था।

नाट्यशास्त्र के पाँचवें और बारहवें अध्यायों में निम्नलिखित सन्दर्भों में 'यवनिका' तथा 'पटी' शब्दों का प्रयोग हुआ है—

१ रंगमंडप पर प्रयोज्य नाट्य में कविनिबद्ध गीतों के अतिरिक्त अन्य गीतों का प्रयोग मुख्य

---

१ क्लास जे० एन० आर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ० १२३ ई० (१९०३-४)।

२ उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि मेघदूत।

३ There is ampee evidence to show that the names Rangabhumi and Natakshalas can not be some sort of architectural structures but well planned well built decorated theatres *Theatre Architecture in Ancient India* V Raghavan, Theatre of Hindus p 156

४ Of coursethis may suggest an earlier character of the contents of the 2nd Adhyaya Hindu I H Q p 498 1932 R D Mankad

रगभूमि पर न कर यवनिका की ओट से करना चाहिए। परन्तु अन्य नृत्य एव पाठ्य का प्रयोग यवनिका को हटाकर करना चाहिए। प्रस्तुत सन्दर्भ मे दो श्लोको मे यवनिका शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है।[1]

२ दूसरे प्रसग मे बारहवें अध्याय मे नाट्यप्रयोग के शुभारम्भ काल मे ध्रुवागान के सम्प्रवृत्त होने पर पट(टी-यवनिका) के आकर्षित होते ही नाना अर्थ और रस के आधारभूत पात्रो के प्रवेश का विधान किया गया है। इस पट की आकर्षण विधि से इस बात का स्पष्ट सकेत मिलता है कि यहाँ पर भरत ने जिन दो श्लोको का उल्लेख किया है वे यवनिका अथवा पटी के प्रयोग का समर्थन करते हैं।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने इन श्लोको पर टिप्पणी करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि यवनिका के अपसारण से पूर्व तन्त्री एव मृदग वाद्यो से युक्त आलाप का प्रयोग तो होना ही चाहिए। परन्तु वह मार्ग तथा रसोपेत भी होना चाहिए। मार्ग से उनका अभिप्राय रगभूमि पर अपेक्षित गृह उद्यान आदि का रमणीय दृश्य विधान है। यवनिका और रगभूमि पर स्थान आदि का सकेत व्यापक दृश्यविधान का अग है। यहाँ यवनिका के अपसारण तथा नानाप्रकार रस सभव पात्र के प्रवेश विधान से इस बात का स्पष्ट सकेत मिलता है कि आधुनिक ड्रॉप कर्टेन की तरह इस यवनिका का प्रयोग मुख्य रगभूमि पर रगपीठ और प्रेक्षकोपवेशन के मध्य किया जाता हो। अन्यत्र एक और भी यवनिका के प्रयोग का उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्वरग के प्रसग मे किया है। उनकी दृष्टि से एक यवनिका रगपीठ और रगशीर्ष के मध्य मे विभाजक भित्ति के रूप मे भी रहती है। इन मूल उद्धरणो और प्राचीन टीकाओं के आधार पर प्राचीन भारतीय नाट्यमडपों पर यवनिका के प्रयोग का समर्थन तो हो जाता है पर वे यवनिकाएँ कितनी और कहाँ पर प्रयुक्त होती हैं यह अनिर्णीत ही रह जाता है।[3]

संस्कृत नाटकों का साक्ष्य—सस्कृत नाटको के साक्ष्य से भी यवनिका के प्रयोग की पुष्टि होती है। भास के अविमारक, शूद्रक के मृच्छकटिक और कालिदास के मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञान शाकुन्तल के सबद्ध प्रसङ्ग बडे ही महत्त्वपूर्ण तथ्यो का प्रतिपादन करते हैं।

अविमारक मे 'बैठा हुआ अविमारक प्रवेश करता है'।[4]

मृच्छकटिक मे 'उत्कण्ठित वसन्तसेना और मदनिका प्रवेश करती हैं'।[5]

अभिज्ञान शाकुन्तल मे आसनस्थ राजा और विदूषक का प्रवेश होता है।[6]

---

१ एतानि तु बहिर्गीतानि अन्तर्यवनिकागतै।
प्रयोक्तृभि प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च॥
तत सर्वैस्तु कुतपै सयुक्तानीह कारयेत्।
विघट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्य कृतानि च॥ ना० शा० ५।११ १२ (गा० ओ० सी०)।

२ ध्रुवायां सम्प्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते।
कार्य प्रवेश पात्राणां नानार्थरससभव॥ ना० शा० १२।३, (गा० ओ० सी०)।

३ अ० भा० भाग १, पृ० १३०, २१०।

४ तत प्रविशत्युपविष्टोऽविमारक, अविमारक पृ० १२१।

५ तत प्रविशति आसनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च। मृच्छकटिक अक ४।

६ तत प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च। अ० शा० अक ५।

आसनस्थ राजा और विदूषक सगीत रचना होने पर प्रवेश करते हैं।[1]

इस निर्देश का कोई अथ तभी होता है जब रगपीठ और प्रेक्षकोपवेशन के मध्य की यवनिका का अपसारण हो और सबद्ध पात्र अकस्मात् प्रेक्षको के समक्ष उपस्थित हो। वास्तव म सस्कृत नाटको मे प्राय सवत्र दृश्य निर्देशो की योजना नाटककारो ने की है।

मालविकाग्निमित्र म तो यवनिका के सबध मे और भी अधिक स्पष्ट निर्देश प्राप्त है। उक्त नाटक के द्वितीय अक म एक छलिक गीति नाट्य की स्पेशल योजना की गई है। इसके प्रयोक्ता आचाय हैं हरदत्त और गणेश, अभिनेत्री है मालविका, दशक हैं सम्राट साम्राज्ञी, विदूषक एव अय दरबारी, नाट्यप्रयोग की उत्तमता की निर्णायिका है तपस्विनी। मालविका अभिनय की साजसज्जा मे प्रस्तुत हो अभी नेपथ्य मे ही है। यवनिका रगपीठ के अग्रभाग पर टगी है। सम्राट् अग्निमित्र की प्रेमाकुल उत्कठित आँखें मालविका के मधुर रूप-दशन के लिए ऐसी अधीर हैं मानो उस तिरस्करिणी को बरबस हटा देंगी।

नेपथ्यपरिगताया दशनसमुत्सुक तस्या ।

सहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम । माल० अ० अक २ ।

इस नाट्य प्रसग से रगपीठ के अग्रभाग मे एक यवनिका के प्रयोग की पुष्टि होती है। यहाँ भी आसनस्थ राजा और विदूषक के प्रवेश का निर्देश है। यह तभी सभव है जब हम रगपीठ के अग्रभाग मे यवनिका की स्थिति स्वीकार करें। यो तो सस्कृत एव प्राकृत के प्राय सभी प्रधान नाटको म यवनिका, पटी, तिरस्करिणी और प्रतिशिरा आदि का उल्लेख मिलता है, पर रत्नावली नाटक के प्रयोग का बडा ही रोचक विवरण दामोदर गुप्त विरचित कुट्टनीमत मे मिलता है और यवनिका के प्रयोग का तो अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। रत्नावली के प्रथम अक की भूमिका वेश्या मजरी रत्नावली है, यहाँ यवनिका को हटाकर वासवदत्ता ऐसी अदा से प्रवेश करती है कि रत्नावली उसका प्रवेश जान भी नही पाती—

अपनीत तिरस्करिणी ततोऽभवन्नपसुतसम चेष्टया।

अविदित रत्नावल्या पूजोचित वस्तुहस्ततयोऽनुगता ।। कुट्टनीमत, ६२० ।

एस० एम० टैगोर महोदय ने भारतीय रगमच पर यवनिका के प्रयोग पर विचार करत हुए प्रतिपादित किया है कि प्राचीन रगमडपो पर यवनिकाएँ काम मे आती थीं। अक-परिवतन के अनुसार दृश्य-परिवतन होने पर सभवत दृश्य के अनुरूप यवनिका परिवतन भी होता था।[2]

उपयुक्त उपलब्ध विवरणो से हम इस निष्कष पर सरलता स पहुच जाते हैं कि प्राचीन भारतीय नाट्य परपरा न केवल यवनिका से ही परिचित थी, अपितु नाटको के प्रयोग काल मे रगमडपों पर सफल प्रयोग एव प्रभावशालिता की दृष्टि से एक से अधिक स्थानो पर उनका प्रयोग भी होता था।[3] दो यवनिकाए प्रधान रूप से काम मे आती थी—एक रगपीठ के अग्रभाग मे, दूसरी नेपथ्यगह और रगशीष के मध्य विभाजक भित्ति के रूप मे रहती थी। भरत ने रग शीष की बडी ही कल्पनापूण सुदर योजना का विधान भी किया है। मुख्य रगभूमि रगपीठ के पृष्ठभाग मे यह रगशीष होता था जहाँ पात्र प्रेक्षको की दृष्टि से ओझल हो, अगले दृश्य मे भाग

१ तत प्रविशति सगीतरचन या कृतायामासनस्थो राजा सवदस्य । मा० अ० अक २ ।

२ The eight principal Rasas of Hindus S M Tagore, पृ० ५८ ५९ ।

३ इण्डियन थियेटर, पृ० ५६, सी० बी० गुप्त।

लेन के लिए प्रस्तुत रहते थे। ग्रथिक या वाचिक आदि इसी यवनिका की ओट से सभवत आज की तरह वाचिक (अभिनय) की प्राम्पटिंग भी करते हो। इसी अथ म पतजलि ने महाभाष्य म ग्रथिक शब्द का प्रयोग भी किया है। पर इन प्रधान दो या तीन यवनिकाओ क अतिरिक्त अय छोटी यवनिकाओ का भी प्रयोग रगमडप पर होता हो तो आश्चय नही। इन यवनिकाओ का प्रयोग अक परिवतन के अनुरूप होता था। सस्कृत नाटका म ऐसे नाटयनिर्देश उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट सूचना मिलती है कभी कभी कुछ पात्र समभ्रम म आकर यवनिका पटी को किंचित् हटाकर रगमच पर प्रवेश कर जाते थे।[1]

नाटयशास्त्र के आधुनिक विद्वान् यवनिका के प्रयोग के सबध म एकमत नही मालूम पडत। मनोमोहन घोष के अनुसार यवनिका का प्रयोग रगपीठ के अतिरिक्त अय स्थानो पर भी होता था। इस यवनिका का प्रयोग अक की परिसमाप्ति और आरभ मे होता हो। नेप दो यवनिकाएँ रगपीठ और नपथ्यगह के मध्य होती थी तथा इनम दो द्वार होते थे। इस प्रकार घोष महोदय के मतानुसार चार यवनिकाओ का प्रयोग प्राचीन रगमडप पर होना था।[2] मनकद महोदय रगपीठ के अग्रभाग म ड्राप कर्टेन की स्थिति को स्वीकार करने के पक्ष मे नही हैं, क्योकि सस्कृत नाटको की परिसमाप्ति म किसी गभीर भावपूण प्राकृतिक दृश्य की योजना होती है न कि किसी चमत्कारपूण नाटकीय घटना की (!) अत मकद महोय की दृष्टि से यवनिका का प्रयोग भारतीय रगमच पर नाटयशास्त्र के द्वितीय अध्याय की रचना के उपरात हुआ होगा।[3] ए० के० कुमारस्वामी महोदय भी ड्रॉप कर्टेन की स्थिति को नही स्वीकारते, परन्तु रगपीठ और नेपथ्य गह के मध्य दो यवनिकाओ का होना उहें स्वीकार है। सभव है ये दोनो यवनिकाएँ छोटी होती हो और इह ही हटाकर जब पात्र प्रवेश करते हो तो ,'पटीक्षेप' या 'अपटीक्षेप' आदि निर्देशा का प्रयोग होता हो।[4] डा० सी० बी० गुप्त तो केवल एक ही यवनिका को स्वीकार करते हैं उनके मत से वह रगपीठ और नेपथ्य अथवा रगशीप के मध्य होती थी।[5] पर गुप्त महोदय के विचार से सहमत होना सभव नही मालूम पडता। रगपीठ और रगशीप अथवा नेपथ्य के मध्य एक यवनिका का प्रयोग तो नितात स्वाभाविक है और अक परिवतन होने पर दृश्यानुरूप पटी परिवतन भी होना हो। डाप कर्टेन का रगपीठ के अग्रभाग म होना अक विभाजन की नितात आवश्यकता है और सस्कृत नाटको के निर्देश के अनुरूप भी है। अत रगपीठ के अग्रभाग रग पीठ-रगशीप अथवा नेपथ्य के मध्य एक अथवा दो दोनो ओर की मत्तवारणियो मे दो छोटी यवनिकाओ को मिलाकर सभव है चार पाँच यवनिकाएँ प्रयुक्त होती हो।

प्राचीन भारतीय रगमडपो पर यवनिका के प्रयोग की पुष्टि न केवल नाटयशास्त्र एव प्राचीन ग्रथो से ही होती है अपितु भग्नावशेष के रूप मे प्राचीन नाटयमडपो के जो रूप उपलब्ध हैं उनके अनुसधान और विश्लेपण से भी इस बात का समथन होना है। इस सदभ मे सरगुजा

---

१ तिरस्करिणीयमदनीय राजानमुपेत्य विक्रमोर्वशी अक २, तत प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा पुरुरवा रथेन सूतश्च वही अक १।

२ नाटयशास्त्र, अग्रेजी अनुवाद पृ० ७७। पादटिप्पणी १०।

३ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली पृ० ४६५, (१९३२)।

४ हिन्दू थियेटर, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४६४ (१९३२)।

५ इण्डियन थियेटर, सी० बी० गुप्त, पृ० ५८।

रियासत की रामगढ गुफाओ की ओर हमारी दष्टि जाती है, जिनम प्राचीन काल के प्रेक्षागह के रूप अभी भी शेष हैं। ब्लाश महोदय ने उन्नीसवी सदी के अस्तकाल मे बडे बलपूवक इन गुफाओ म सदियो से विस्मृत प्रेक्षागृहों का पता लगाया था। इस गुफा मे वतमान प्रेक्षागह म एक छोटा-सा रगमच है जहाँ बैठकर अभिनेता, नतक और गायक आदि मनोरजक कायक्रम प्रस्तुत किया करते थे। रगमच के सम्मुख निम्नोन्नत शैली मे रचित प्रेक्षकोपवेशन है, गुफाआ के दोनो पार्श्वों मे दो छिद्र हैं अनुमान किया जाता है कि इन दोनो छिद्रो मे डडा लगाकर यवनिका टागी जाती थी।[१]

यवनिका के सदभ मे हमारा ध्यान पतजलि द्वारा प्रयुक्त दो विशिष्ट नाटकीय शब्दो की ओर जाता है, वे हैं, शोभनिक और ग्रथिक। शोभनिक सभवत नाट्य प्रयोग के क्रम में मनभावन दृश्यो का रगमच पर अकन करते थे जबकि ग्रथिक या वाचिक आदि पात्र दश्यानुरूप पाठयाशो का वाचन करते थे। यहाँ चित्र रचना का उल्लेख तथा यवनिका की परिकल्पना दोनो ही एक-दूसरे से असबद्ध मालूम नही पडते।[२]

रगमडप की विभाजनपद्धति—प्राचीन रगमडप की विभाजनपद्धति का विश्लेषण करने पर यवनिका के प्रयोग की अनिवायता सिद्ध हो जाती है। रगमडप के आधे भाग मे प्रेक्षकोपवेशन रहता है, शेष आधे भाग म रगपीठ (मुख्य रगभूमि) रगशीष और नेपथ्यगहो की योजना होती है। रगपीठ के अग्रभाग मे यवनिका टँगी रहती है। अपनी साजसज्जा मे प्रस्तुत पात्र यवनिका के हटते हा प्रेक्षको के दष्टिपथ मे प्रवेश करते है। रगपीठ के पृष्ठभाग मे रगशीष है जहाँ अगले दृश्यो को प्रस्तुत करने वाले पात्र प्रतीक्षा करते हैं वाद्य आदि विभिन्न सामग्रियाँ रहती हैं। रगपीठ और रगशीष या तो यवनिका द्वारा विभाजित होते हैं या स्थायी भित्ति रचना द्वारा। दोनो के मध्य भित्ति होने पर दो द्वारो की परिकल्पना की गई है जहाँ भी यवनिका टगी रहती है। रगशीष के पृष्ठभाग मे नेपथ्यगह होता है जहाँ पात्रो की वेशभूषा रूपसज्जा आदि की नेपथ्यज विधियो का प्रयोग होता है। यहाँ नेपथ्यगह के सम्मुख यवनिका अनिवाय रूप से रहती है।[३]

भारतीय रगमण्डपों पर यवनिका का प्रयोग और पाश्चात्य प्रभाव—यवनिका का प्रयोग भारतीय नाट्यपरम्परा मे सम्भवत ग्रीक प्रभाव की देन है विडिश्च प्रभति पाश्चात्य विद्वानो ने कल्पना की थी,[४] उसका सभवत कारण था, 'यवनिका शब्द का स्वरूप विकास। यूनानी तथा अन्य विदेशी आक्रमणकारियो के प्राचीन भारतीय लेखको ने 'यवन' शब्द का प्रयोग किया था। निश्चय ही जब दो भिन्न जातियो और सस्कृतिया के बीच अन्तरावलबन हुआ तो भारतीय एव पाश्चात्य कलाओ की विभिन्न धाराओ का भी सगम हुआ। परन्तु भारतीय और पाश्चात्य कलाओ की दाशनिक भित्ति म सतही अन्तर नही, दोना की दृष्टि और सृष्टि के

१ आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इडिया रिपोर्ट १६०३ ४ पृ० १२३ तथा जे० ए० एस० बर्जेस, इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग ३५ पृ० २६५ ६।

२ ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्ष कम घातयन्ति प्रत्यक्ष च बलिं बधयतीति चित्रेषु कथम्, चित्रे ष्वपि उद्गुर्णनिपातिनाश्च प्रहारा दृश्यन्ते। पातजल महाभाष्य ३।१।२७।

३ ये नेपथ्यगहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते।
तयार्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये काय प्रयोक्तृभि ॥ ना० शा० १३।२ (गा० ओ० सी०)

४ सस्कृत ड्रामा, कीथ, पृष्ठ ६१।

धरातल भी भिन्न हैं। एक सघषमूलक और दु खपयवसायी है तो दूसरी आदशमूलक और सुख पयवसायी है। अत यवनिका के प्रयोग की दृष्टि से भारतीय रगशालाए यूनानी रगशालाओ की ऋणी हो, यह बात कल्पनातीत और भ्रमपूण मालूम पडती है। यही कारण है कि कीथ जैसे विद्वानो ने भी विडिश्च प्रभृति विद्वानो की मान्यताओ का खण्डन किया है।[1] यह भी सभव है कि 'यवनिका पटी' की रचना विदेशी यूनानियो द्वारा बडी शान शौकत से होती हो, इसीलिए यवनिका शब्द का प्रयोग 'पटी' के विशेषण के रूप मे होता हो। सिल्वान लेवी ने यह कल्पना भी की है। यवनिका के अतिरिक्त 'यवनी' शब्द का प्रयोग नाटयग्रन्थो मे मिलता है, जो विदेशी युवतियो का वाचक है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल म सम्राट दुष्यन्त को 'यवनीभि परिवृत' दिखलाया है।[2] जिस समय दो सभ्यताओ का महामिलन हो रहा था, उस राज प्रभाव से कलाकारो का मानसपटल कसे अप्रभावित रहता। जो भी हो यवनिका शब्द के प्रयोग मात्र से यह कल्पना करना सगत नही मालूम पडता कि यवनिका मूल रूप म भारतीय रगमण्डपो की मौलिक प्रसाधन सामग्री नही थी। 'यवन' शब्द के कारण विदेशी प्रभाव की परिकल्पना सगत नही मालूम पडती। भारतीय नाटचपरपरा ने 'यवनिका' का प्रयोग ग्रीको के प्रभाव की छाया म नही किया तो यवनिका की सामग्री का उनसे ग्रहण अथवा ग्रीक कलाकारो द्वारा यवनिका की रचना की बात कल्पनामात्र है।[3]

जवनिका यवनिका और यमनिका—यवनिका के लिए समानान्तर 'जवनिका' और यमनिका—ये दो पद भी प्रचलित हैं। नाटयशास्त्र के विभिन्न सस्करणो म भिन्न भिन्न पाठ उपलब्ध हैं। काव्यमाला सस्करण मे 'जवनिका' काशी सस्करण तथा अभिनव भारती सस्करणो म 'यवनिका' शब्द का प्रयोग किया गया है।[4] नाटयशास्त्र के उपलब्ध किसी सस्करण म 'यवनिका' शब्द का प्रयोग नही मिलता। कुछ सस्कृत नाटको मे 'यमनिका' शब्द का प्रयोग मिलता है। डॉ० एस० के० दे महोदय ने शब्द को समान महत्त्व दिया है। यम' शब्द निरोधवाचक है। यमनिका पात्रो को प्रेक्षका की दष्टि से निरोध कर रखती है, इस दष्टि से वह नाम भी उपयुक्त है। यवनिका शब्द के द्वारा विदेशी प्रभाव की बात भी खण्डित हो जाती है।[5]

यह भी सम्भव है कि यवनिका शब्द का प्राकृत रूपान्तर 'जवनिका शब्द हो। यद्यपि सिद्धान्त कौमुदीकार भट्टोजी दीक्षित ने जवनिका शब्द की व्युत्पत्ति वेगवाचक 'जु' धातु से की है।[6] यह शब्द और उसका अर्थ यवनिका का पर्याय 'तिरस्करिणी' के सन्दभ म भी सवथा उपयुक्त ही मालूम पडता है, क्योकि तिरस्करिणी (पर्दा-पटी) वेग से खींची जाती है। अमर कोष म 'जवनिका' शब्द का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से इसी अथ मे किया गया है। पर 'यवनिका'

---

१ सस्कृत ड्रामा, कीथ पृष्ठ ६१।

२ एष बाणासन हस्ताभि यवनीभि वनपुष्पमालाधारिणीभि परिवृत इत एवागच्छति। अ० शा० अक २।

३ सस्कृत ड्रामा, कीथ, पृष्ठ ३५६।

४ ना० शा० ५।११ १२ (गा० ओ० सी० तथा काशी सस्करण)।

५ 'द कर्टेन इन ऐनसियेंट इण्डियन थियेटर भारतीय विद्या, वोल्यूम ६, १९४८, तथा 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, पृष्ठ ४६४ (१९१२)।

६ पाणिनि १ २ ५० जुचकम्य दन्द्रम्य सगधि ज्वमरचनमपतपद। जुइति सौत्रोधातु गति वेगे च जवन। कृदन्त प्रकरणम् सिद्धान्त कौमुदी।

अथवा 'यमनिका' का उल्लेख नही है। यवनिका शब्द का विकास सम्भवत बन्धनवाचक 'यु' धातु से हुआ है, क्योकि उसके द्वारा नाटकीय दृश्य दृष्टिपथ से ओझल रहते हैं।[1] यो यमनिका शब्द का प्रयोग नाटयशास्त्र के विभिन्न सस्करणो मे भले ही न हुआ हो पर है वह बहुत प्राचीन शब्द। शुक्ल यजुर्वेद मे यमनी शब्द का प्रयोग इसी अथ मे हुआ है और यमनी शब्द से यमनिका का विकास सम्भव है।[2] 'यम' धातु निरोधवाचक है। डी० आर० मन्कद महोदय तो यवनिका की अपेक्षा यमनिका का ही प्रयोग उचित मानते हैं, क्योकि यही मूल शब्द है। यदि जवनिका को यवनिका का प्राकृत रूपान्तर न भी स्वीकार करें तो कोषो मे उल्लिखित अर्थों के सन्दभ मे कोई अन्तर नही मालूम पडता। इस दृष्टि से तीनो शब्दो—यमनिका, यवनिका और जवनिका के स्वरूप और अथ तथा उनकी प्रक्रिया मे कोई अन्तर नही अधिकाधिक साम्य है। 'यवनिका' शब्द नाटय निर्देशो मे विशेष्य के रूप म नही 'पटी' के विशेषण के रूप मे ही प्राय व्यवहृत होता है।[3]

अत यमनिका, यवनिका अथवा जवनिका शब्द के साथ जिन अर्थपरपराओ (वेग से पटी का खीचना या पटी द्वारा नाटकीय दश्य का ओझल रहना) का विकास हुआ है, उस सन्दभ म निश्चित रूप से यवनिका भारतीय नाटयपरपरा तथा नाटयमण्डप की विशिष्ट रचना विधि की नितान्त आवश्यकता है। यूनानियो से ऋण मे प्राप्त की गई नई नाटयसपदा नही है। भारतीय नाटयमण्डपो मे यवनिका का प्रयोग नितान्त मौलिक है। नाटयशास्त्र सस्कृत एव प्राकृत नाटक तथा नाटयशास्त्रीय ग्रथो की टीकाएँ इसी का समथन करती हैं।

दृश्यविधान

दृश्यविधान की प्रवत्ति और परम्परा—कक्ष्याविभाग का सम्बन्ध नाटयमण्डप के दृश्य विधान से है। नाटयमण्डप मे प्रधान रूप से दो प्रकार के दृश्यविधान प्रस्तुत किये जाते हैं। एक दृश्यविधान तो रगमण्डप की साज सज्जा का अग बनकर ही प्रस्तुत होता है और दूसरा नाटय-वत्त के अनुरोध से। भरत ने प्रथम दश्यविधान के सम्बन्ध मे अनेक रमणीय वास्तु विधियो की परिकल्पना की है। रगशीष 'शुद्धादशतल' के समान हो, उसमे वदूय, स्फटिक एव सोने का काम किया गया हो।[4] स्तम्भो पर नाना शिल्प प्रयोजित बारीक नक्काशी हो, अरण्यो मे विचरते पशुओ और आकाश म उडते कपोतो के मनोहर चित्र अकित हो।[5] सब ओर से सुशोभित भित्तिया पर निर्मित चित्रो म, पुरुष, स्त्रीजन, पुष्पित लताएँ तथा नर नारी के आत्मभोगजन्य छवियाँ अकित हो।[6] रमणीय दृश्यविधान रगमच की साज सज्जा को नितान्त मनोहर और नाटयप्रयोग को आकपक बना देता है।

नाटय से इतिवृत्त के अनुरोध से अनेक प्रकार के नयनाभिराम दृश्या की योजना होती

---

१ प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा। अमरकोष प० ११२८, सिद्धान्तकौमुदी धातुपाठ १४८०।

२ शुक्ल यजुर्वेद १४।२२।

३ इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली पृष्ठ ४०४ (१६३२)।

४ शुद्धादशतलाकार रगशीर्ष प्रशस्यते। ना० शा० २।७३क (गा० ओ० सी०)।

५ ना० शा० २।७५ ७८ (गा० ओ० सी०)।

६ चित्रकर्मणि चालेख्या पुरुषा स्त्रीजनास्तथा।
लतावन्धाश्च कर्तव्याश्चरित चात्मभोगजम्। ना० शा० २।८४ख, ८५क।

से निकलते हैं तथा रगमच पर ही कभी-कभी दूरी या निकटता आदि का भी प्रयोग होता है। लोकानुरूप आभ्यन्तर-बाह्य की विधि एव दूरी निकटता आदि का प्रयोग यहाँ सीमित रगमच पर तो कदापि सभव नही है। अत रगमच पर ही उनकी परिकल्पना की गई है।

रगमच के तीन भाग—रगमच पर ही आभ्यन्तर, बाह्य और माध्यम की परिकल्पना की जाती है। जो पात्र पहले से रगमच पर प्रवेश करते हैं, रगमच का वह भाग और वे पात्र भी आभ्यन्तर होते हैं क्योकि वे रगमच के अन्त स्थान म हैं। परन्तु जो पात्र रगमच पर पहले से नही होते, बाद म प्रवेश करते हैं, वे आभ्यन्तर नही, बाह्य होते हैं, और जिस भाग से वे पात्र रगमच पर प्रवेश करते हैं, रगमच का वह भाग माध्यम होता है। इसलिए कि इसी माध्यम या प्रवेश द्वार से रगमच के आभ्यन्तर भाग म पात्र प्रवेश करते हैं। यह प्रवेश-द्वार नेपथ्य गह से सम्बन्धित होता है। रगमच के आभ्यन्तर भाग म स्थित पात्र से मिलने के लिए बाह्य भाग से यदि कोई पात्र आता है तो दक्षिणाभिमुख हो आत्मनिवेदन करता है। रगमच का विधान भरत ने जिस रूप मे किया है उसके यह अनुरूप ही है। मुख्य भाग रगपीठ है, यही आभ्यन्तर होता है, यही पर पात्र नाट्य प्रयोग करते हैं। शेष पश्चिम भाग म रगशीर्ष और नेपथ्य होते हैं रगशीर्ष मे ही वे विश्राम या प्रतीक्षा करते हैं, और इसी मे स्थित नेपथ्यगहाभिमुख दो द्वारो से पात्रो का आवागमन होता है।[1]

कक्ष्याविभाग द्वारा देश, दिशा और दूरी के सकेत—कक्ष्याविभाग द्वारा ही रगमच के किसी भाग म देश का निर्देश कर दूरी या निकटता की कल्पना की जाती है। किसी पात्र ने दूर देश की यात्रा की या निकट देश की इसका भान उसकी गति एव चरण विन्यास से होता है। यदि चरण विन्यास अधिक सख्या मे होते हैं तो अधिक दूरी और इसी प्रकार चरण विन्यास *की गणना के आधार पर ही मध्य दूरी और निकटता का भान होता है और यह सब नाट्यधर्मी* रूढि द्वारा सम्पन्न होता है[2] न कि लोकधर्मी परम्परा के द्वारा। वस्तुत यह भी लोक परम्परा से प्रभावित है। लोक म अधिक दूर की यात्रा करने पर अधिक सख्या म चरण का सचार होता है, कम दूरी म कम। इसी आधार पर इम नियम का विधान होता है।

रगमच पर दिशा का भी सकेत होता है और उसका आधार है नेपथ्य गह और वाद्य यन्त्रो के लिए निर्मित द्वार। जिस ओर द्वार का मुख होना है वही नाट्य प्रयोग मे पूव दिशा होती है। इसी द्वार से पात्रा का आवागमन भी होना है। अत जो पात्र दो द्वारो मे से किसी एक के द्वारा निकलता है उसी द्वार से पुन प्रवेश भी करता है। बाह्य-पात्र का प्रवेश और निष्क्रमण दोना ही एक द्वार से होता है। यही नही यदि आभ्यन्तर का पात्र कायवश उसी के साथ निष्क्रमण करता है तो वह भी उसी द्वार से, जिस द्वार से बाह्य पात्र आता है। एकाकी या किसी अन्य के साथ जब भी वह पात्र प्रवेश करता है तो उसी निर्दिष्ट द्वार से ही।[3] द्वार प्रवेश की इस पद्धति

---

१ ना० शा० १३।८ १० (गा० ओ० सी०),
का० स १४।८ १०, का० मा० १३।८१०।

२ ना० शा० १३।११ १२ (गा० ओ० सी०),
का० स० १४।११ १२, का० मा० १४।११ १२।

३ ना० शा० १२।१३ १४ (गा ओ० सी०),
का० मा० १३।१४ १५, का० स० १४।१४।

का प्रयोग हमे भास के नाटको मे भी प्राप्त होता है। स्वप्नवासवदत्ता के पचम अक मे स्वप्न के रोमाचक दृश्य मे दो द्वारो की परिकल्पना की गई है। एक द्वार से विदूषक प्रावारक (चादर) के लिए बाहर जाता है और दूसरे द्वार से वासवदत्ता और चेटी का प्रवेश होता है। स्वप्नावेश दूर होते ही वासवदत्ता जिस द्वार से आई थी उसी द्वार से वह निष्क्रमण करती है और विदूषक का जिस द्वार से निष्क्रमण हुआ उसीसे प्रवेश भी होता है। अयथा वासवदत्ता और विदूषक एक-दूसरे को देख लेते, जो अभिप्रेत नही था। इस प्रक्रिया से प्रेक्षको को पात्रा से परिचय पाने मे सुविधा होती है।[१] भरत ने यह उल्लेख किया है कि प्रेक्षागृह के बाहर खुले स्थान मे भी नाट्य प्रयोग होता है, उस परिस्थिति मे वाद्य-यत्रा को पीछे कर नाट्य प्रयोक्ता जिस दिशा मे खडे होकर नाट्य प्रयोग करता है वही पूव दिशा मान लेनी चाहिए। यह नाट्यधर्मी परम्परा के अनुसार होता है। वस्तुत ऐसे खुले रगमचों मे तो द्वार भी नही होते। जिस स्थान पर वाद्य भाड आदि रखे रहते हैं, उनके द्वारा ही द्वार और दिशा की कल्पना की जाती हैं।[२]

दिव्यों की आवासभूमि—दिव्य पात्रो की शक्ति की कोई सीमा नही है। वे अपने यान, विमान, आकाशीय माग या मायाबल से पवत, नगर और सागर आदि सब पर बिना किसी विघ्न-बाधा के सचरण करते हैं, परन्तु मनुष्य के किसी प्रयोजन या मानवीय कारणा से छद्मवेश धारण कर नाटका म पात्र के रूप म प्रयुक्त होते है, तो उनका सचरण भूमि पर ही होना चाहिये।[३]

भरत ने दिव्य जातिया और उनके लिए विशिष्ट आवास स्थान पवतो की परिगणना की है। उन्ही पवतो पर उनका निवास-स्थान प्रदर्शित होना चाहिये। यक्ष, गुह्यक और कुबेर के अनुचर आदि के लिए शुभ्र, कलास, गधव और अप्सराओ के लिए हेमकूट, नाग, वासुकि और तक्षक के लिए निषध, तैंतीस प्रकार के अय देवताओ के लिए महामेरु, ब्रह्मर्षि और सिद्धो के लिए वदूय, मणि रजित नील पवत और दैत्यदानव एव पितरो के लिए श्वेत पवत का प्रयोग रगमच पर होना चाहिये। पवतो की रचना पुस्तविधि द्वारा होती है और कक्ष्याविधि के द्वारा रगमच के किसी भाग विशेष मे पवत विशेष की कल्पना की जा सकती है। भरत और अभिनव गुप्त ने यह स्पष्ट कर दिया है कि स्थान आदि के प्रदशन म कथावस्तु से सबधित विशिष्ट स्थान का ही प्रदशन उचित होना है, सबका नही। पुस्तविधि द्वारा स्थान विशेष की रचना आदि हो जाने पर गति प्रचार के द्वारा नाट्याथ का भावन भी होता है।[४]

कक्ष्याविभाग और परवर्ती नाटककार—भरत निरूपित कक्ष्याविभाग का प्रभाव परवर्ती नाटककारा पर भी पडा है। मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुतल, स्वप्नवासवदत्तम् और रत्नावली आदि नाटक विशेष रूप से अध्ययन के योग्य हैं। मृच्छकटिक मे ऐसे अनेक नाट्य प्रसग है जिनम कक्ष्याविधि का प्रयोग कर दूरी, देश तथा स्थान परिवतन आदि का सकेत होता है। प्रथम अक म विट और शकार नायिका वसतसेना का पीछा करते है। बहुत दूर तक सारा दश्य राजपथ

१ स्वप्नवासवदत्तम्, अक ५ का अतिम अश।
२ ना० शा० १३।६८ ६८ (गा० ओ० सी०),
का० स० १४।६४ ६७, का० भा० १३।६० ६३।
३ ना० शा० १३।१८ २० (गा० ओ० सी०), का० भा० १३।१८ २२, का० म० १४।१८ २१।
४ वही १३।२८ ३२ वही वही १३।२२ २७, वही १४।२८ ३२।

पर अभिनीत होता है। भागने और पीछा करने के दृश्य के प्रयोग के लिए तो अत्यधिक स्थान की अपेक्षा होती है पर रगमच पर तो सीमित ही स्थान होता है। अत कक्ष्याविधि द्वारा ही वेश्या का पलायन (पट पादो का सचार) और चारुदत्त के गृह मे प्रवेश आदि का प्रतीकात्मक अभिनय हो सकता है। तृतीय अक म राजपथ पर सचरण करने, विदूषक और चारुदत्त का घर में प्रवेश तथा शर्विलक का चारुदत्त के घर मे सेंध देकर चोरी करना आदि वस्तुविधान असाधारण दृश्य-विधान की अपेक्षा रखते हैं। न्यायाधिकरण म अधिकारी, वादी और प्रतिवादी का आगमन, तदुपरान्त चारुदत्त का वध्य स्थान के लिए प्रस्थान, पुन वसतसेना का अप्रत्याशित आगमन, चिता मे सती होती वधू धूता की रक्षा के लिए चारुदत्त आदि पात्रो का तीव्र गति से सचरण आदि दृश्य प्रयोग की दृष्टि से बडे प्रभावोत्पादक पर जटिल हैं। पुस्तविधि से यदि इनकी रचना भी की जाय तो बहुत बडे रगमच की आवश्यकता होगी। अत कक्ष्याविधि की दृष्टि से ऐसे दृश्यो का कल्पनात्मक प्रयोग भी होता है। वस्तुत मृच्छकटिक[1] मे प्राय प्रत्येक अक म ऐसे दृश्यो का *आयोजन है। पालक के पलायन का दृश्य रोमहर्षक और अत्यन्त उद्वेगपूर्ण है, परन्तु ये सब दृश्य* लोकधर्मी नाट्यपरपरा से भी अभिनीत एव प्रस्तुत होते हैं।

वासवदत्ता के चतुर्थ अक म एक ओर राजा और विदूषक और दूसरी ओर वासवदत्ता, पद्मावती और अन्य सखियाँ वार्तालाप कर रही हैं। राजा और विदूषक इन नारी-जनो की उपस्थिति से अवगत नही हैं। अत उदयन अनजान मे उपस्थित अपनी दोनो पत्नियो के प्रति अपना मनोभाव प्रकट करते हैं जिसका प्रभाव नाटक की भावी घटनाओ पर पडता है।[2] यहाँ कल्पित कक्ष्याविभाग द्वारा ही दृश्यविधान प्रस्तुत किया जा सकता है। अत कक्ष्याविभाग स्थान देश, दूरी, द्वार और माग आदि के प्रदशन के लिए नितात नाट्योपयोगी है। नाटककारो ने इस विधि का प्रयोग कर अपने नाटकों मे प्रभावशालिता का सृजन किया है।[3]

इस कक्ष्याविधि का विवेचन परवर्ती आचार्यों ने नही किया, उसका एक मात्र कारण यह है कि यह तो नितान्त नाट्य प्रयोग का विषय है, नाट्य सिद्धान्त का नही। अत वे इस विषय पर मौन हैं। भरतकोष म आचाय वेणी के मत का आकलन किया गया है, उसम भरत के विचारो का पिष्टपेषण मात्र है कोई नवीनता नही।[4]

समाहार—कथावस्तु के अनुरोध से रगमच पर प्रस्तुत दृश्यविधान अधिकाधिक अनुभवगम्य हो तथा सरलता से प्रयोज्य हो, इस दृष्टि से कक्ष्याविभाग का विधान भरत ने किया

---

१ मृच्छकटिक अक १, ८ तथा ६।

२ स्वप्नवासवदत्तम्, भास अक—४।

३ We find that the stage could be used to represent a place when persons sleep and court scenes are enacted and that it was divided into as may apartments (Kakshyas) as plot required
Indian Theatre, p 45 (C B Gupta, 1954)

४ भरतोक्तप्रकारेण रचिते नाट्यमडपे।
नगराणव शैला॰ स्वर्गा॰ भुवनस्य च ॥
स्थान प्रवेशयोर्वा व्यवस्थापरिकल्पनम्।
यन्नाट्ये क्रियते कक्ष्याविभाग सोऽभिधीयते ॥ भरतकोष पृ॰ ८१०।

है। कक्ष्याविभाग की सारी प्रक्रिया कल्पनात्मक है और यह नाट्यधर्मी विधि से ही सम्पन्न होती है। वस्तुत नाट्यधर्मी विधि भी लोकधम की परपराओ पर ही तो परिपल्लवित होती है, क्योकि लोकधर्मी से भिन्न कोई भी धम नाट्य मे प्रयोज्य नही होता परन्तु लोकगत प्रक्रिया म अधिकाधिक वचित्र्य-सृजन के लिए कवि और नाट्य प्रयोक्ता कल्पना का समावेश कर लेता है। भरत के युग मे रगमच पर प्रयोज्य दश्य विधान की अपनी सीमाएँ थी। कवि-कल्पित सब दृश्य या घटनाएँ यथाय मे प्रयुक्त नही हो सकती थीं। इसीलिए कल्पना के रूप म ही उनका प्रयोग होता था। इस कल्पना के द्वारा ही प्रेक्षक को घटनाओ का बोध और रसो का उद्बोधन होता था। अत कक्ष्याविभाग उस युग के रगमच की आवश्यकता थी। नितान्त कल्पनात्मक विधान मात्र नही।

प्रसाद के नाटको में कल्पित सब दृश्य-योजनाएँ पुस्तविधि द्वारा प्रयुक्त नही हो सकती हैं, कुभा मे जल-प्लावन के दश्य, पात्रो का आवागमन और इसी प्रकार की अनेक दश्य-योजनाएँ नाट्यधर्मी रूढियों के सहारे प्रस्तुत की जा सकती हैं।[1]

---

१ स्कन्दगुप्त अक ३, पृ० १०४,
अक २। पृ० ८७ आदि।

चतुर्थ अध्याय

नाट्य-सिद्धान्त

१ दशरूपक विकल्पन
२ इतिवृत्त विधान
३ पात्र-विधान

महारस महाभोग्यमुदात्तवचनान्वितम् ।
महापुरुषसचार साध्वाचार जनप्रियम् ॥

सुश्लिष्टसधिसयोग सुप्रयोग सुखाश्रयम् ।
मृदु शब्दाभिधान च कवि कुर्यातु नाटकम् ॥

अवस्था या तु लोकस्य सुखदु खसमुद्भवा ।
नानापुरुषसचारा नाटकेऽसौ विधीयते ॥

सवभावै सवरसै सवकमप्रवृत्तिभि ।
नानावस्थान्तरोपेत नाटक सविधीयते ॥

अनेकशिल्पजातानि नैककमक्रियाणि च ।
तान्यशेषाणि रूपाणि कतव्यानि प्रयोक्तृभि ॥

दशरूपक विकल्पन

रूपको का स्वरूप

भारतीय वाङमय म काव्य की प्रधान धाराएँ दृश्य और श्रव्य इन दो भिन्न शास्त्रीय नामो से प्रसिद्ध हैं। श्रव्य काव्य की परिधि म महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतकाव्य, आख्यान एव ऐतिहासिक काव्य आदि की परिगणना होती है। वणना श्रव्य काव्य की प्रधान सपदा है। दृश्य काव्य की परिधि मे उन काव्य रूपो की परिगणना होती है जो नाट्य हो। नाट्य केवल दृश्य ही नही होता, श्रव्य भी होता है। आगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहाय अभिनयो के माध्यम से राम या सीता आदि की अवस्था के अनुकरण[1] या सुख दु खात्मक लौकिक सवेदनाओ के प्रतिफलन[2] आदि के द्वारा नाट्य को रूप प्राप्त होता है। परन्तु नाट्य के द्वारा किसी नायक या नायिका का रूप ही रूपायित नही होता अपितु उसका सपूण जीवन रस आत्मलीनता की स्थिति म आस्वाद्य या अनुभवगम्य होता है। यह रस ही सौन्दय या चरम आनन्द है, जो नाट्य के माध्यम से आस्वाद्य होता है।

नाट्य, नृत्य और नृत्त—नाट्य प्राचीन भारतीय वाङमय का बडा ही लोकप्रिय शिल्प रहा है। इसके द्वारा हमारे जातीय जीवन के सास्कृतिक विकास के सुदीघ इतिहास पर मद मधुर आलोक सदियो से फलता रहा है। वदिक काल के ऋषियो ने 'नाट्य' तो नही पर 'नृत्त' शब्द का प्रयोग किया है।[3] नट शब्द का सभवत सवप्रथम प्रयोग पाणिनि ने नट सूत्रो के सदभ मे किया है।[4] नट-सूत्रो मे नाट्य के नियमो का विधान था (?) नृत्त और नट ये दोनो शब्द नृत्य और अभिनय के बोधक थे, यह भारतीय नाट्यशास्त्र के सदभ-ग्रन्थो से पता चलता है। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक के आरम्भिक दो अको मे नाट्य शब्द का प्रयोग

---

१ अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यम्—द० रू० प्र० १, पृ० ४।

२ योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु'ख समन्वित ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेत नाट्यमित्यभिधीयते ॥ ना० शा० १।११६ (गा० ओ० सी०)।

३ प्राचो अगाम नृत्तये। ऋ० १० म० १८।३, १।३६।२, ८।२४।६, नृत्ताय सूत, यजुष् ३०।६०।

४ अष्टाध्यायी ४।३।११०।

नृत्य और अभिनय दोनो के ही लिए किया है, क्योंकि मालविका ने दुष्प्रयोज्य चतुष्पदी 'छलिक' का अभिनय किया है। इसमें आहार्य अभिनय को छोड़ अन्य आंगिक अभिनय, गीत एवं नृत्य का एक साथ समन्वित प्रयोग हुआ है।[1] वस्तुत नृत्य नाट्य का निकटवर्ती है। परन्तु नृत्य की अपेक्षा नाट्य म सर्वांगपूर्णता रहती है। अभिनय के मूल म नानावस्थात्मक लोकचरित भाव भूमि के रूप में वतमान रहता है। अत नाट्य म नानाविध रसमयता भी रहती है।[2]

नाट्य सुख-दु खात्मक लोकचरित की बहुविधता का सवेदनात्मक प्रतिफलन होने के कारण ही मानव के जीवन-सागर म एक हिलोर, एक लहर उत्पन्न करता है। (नृत्य) नृत्त उस नाट्य का उपकारक मात्र है।

नाट्य और रूपक—यह नाट्य श्रव्य एव दृश्य होता है, इसीलिए रूप या रूपक के नाम से परपरा से प्रसिद्ध रहा है। अभिनवगुप्त के मतानुसार नाट्य शब्द नमनार्थक 'नट' शब्द से व्युत्पन्न होता है। इसम पात्र स्व (अपना) भाव को त्यागकर पर प्रभाव को ग्रहण करता है, रूप धारण करता है, अत यह नाट्य या रूपक होता है।[3] दशरूपककार धनजय ने तो इसकी दृश्यता के कारण ही इसका रूपक होना सिद्ध किया है।[4] जिस प्रकार चक्षु-ग्राह्य लौकिक वस्तुओं को हम रूप की सज्ञा देते हैं उसी प्रकार नाट्य या अभिनय का काव्य रूप तो श्रव्य तथा चक्षु-ग्राह्य भी है। अतएव इस दृश्यता की विशेषता के कारण ही वह 'रूपक' होता है। जिस प्रकार मुख में चन्द्र के आरोप द्वारा एक सौन्दर्य विशेष का अनुभव होता है, उसी प्रकार नट मे राम आदि की अवस्था का आरोप होता है, इसलिए भी इसे 'रूपक' शब्द से अभिहित किया जाता है। इसमे सदेह नही कि रूपक, नाट्य, अभिनय और नाटक भी दृश्य-काव्यो के लिए प्रचलित रहे हैं।[5] नाट्य मे मानवीय सुख-दु खात्मक सवेदनाओ का पुनरुद्भावन होता है और रूपक के द्वारा ही 'नट राम की सुख दु खात्मक सवेदनाओ का अनुभावन करते हैं। इस प्रकार ये दोनो ही शब्द एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। दशरूपक के अनुसार इनका प्रयोग शक, इन्द्र और पुरन्दर की तरह पर्यायवाची शब्द के रूप म होता है। वस्तुत रूप, रूपक, नाट्य और अभिनेय आदि शब्दो का प्रयोग समान अर्थ म दृश्य काव्य के लिए होता है। भरत ने नाट्यशास्त्र मे उन रूपकों का महत्त्वपूर्ण एव मौलिक विवरण प्रस्तुत किया है। अगले पृष्ठो म हम उनका तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

भरतनिरूपित दशरूपक

नाटक—नाटक दशरूपको म प्रधान है। भरत ने नाटक की जैसी व्यापक परिकल्पना नाट्यशास्त्र म प्रस्तुत की है उसके विश्लेषण मे नाटक का अत्यन्त महनीय एव विराट चित्र

---

१ मालविकाग्निमित्र अक १,२।

२ नाट्यशब्दो रसे रसाभिव्यक्तिकारणम्।
चतुर्धाऽभिनयोपेत लक्षणाविचितो बुधै। स० र० भाग ४, पृ० ७।

३ नट नताविति नमनं स्वभाव त्यागेन प्रह्वीभाव लक्षणम्। अ० भा० भाग १, पृ० ८०।

४ रूप दृश्यतयोच्यते। रूपक तत्समारोपात्—द० रू० १।७ तथा धनिक की टीका।

५ द० रू० १।११, भा० द० पृ० २, भा० प्र० २ पृ० २२०। विष्णुपुराण—नाटकाख्यान लक्षणम् १।१७ ५, हरिवंश विष्णु पर्व ६१। ८ ११।

प्रस्तुत होता है।[1] यही कारण है कि भरत द्वारा प्रतिपादित नाटक का यह प्रकृत और महत्तर रूप न केवल नाट्यशास्त्रियो के लिए ही, अपितु नाट्यकारो के लिए भी सदियो तक अनुकरणीय आदर्श बना रहा। भरत की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट है कि नाटक के मूल म मनुष्य मात्र की सुख-दुखात्मक सवेदनाएँ वतमान रहती है। नपति आदि का वत्त और चरित नाना भावो और रसो की पृष्ठभूमि म यहाँ परिपल्लवित होता है, इस रूप मे कि प्रकृत जन के हृदय मे भी उन सुख-दु खात्मक संवेदनाआ की वासनात्मक अनुभूति का पुनरुदबोधन हो, उदात्तीकरण हो। अत भरत की दृष्टि म नाटक सुख दु खात्मक है, रसमय है तथा पुरावत्त एव अनेकविध चरित का पुनरुदभावन भी है।[2]

ख्यातत्रय —नाटक सवलक्षणसपन्न होता है। वस्तु-वत्त, विषय (देश), नायक और रस ये चारो ही प्रख्यात होने चाहिये।[3] नाटक के ये प्रधान अग हैं। इन्ही के आधार पर नाटक का प्रतिष्ठान होता है। वस्तु यदि प्रख्यात एव लोकप्रिय न हो तो दशक के हृदय मे उसके प्रति अनुराग शायद न उत्पन्न हो। अत हमारे जातीय जीवन की परपरा से उत्तराधिकार मे प्राप्त रामायण, महाभारत, पुराण एव अन्य प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर नाटक के वृत्त का विकास होना चाहिये। भास के अनेक नाटक रामायण और महाभारत की कथाओ पर आधारित हैं और दूसरी ओर स्वप्नवासवदत्ता का वस्तु-वत्त रामायण और महाभारत की धार्मिक परपरा स नही अपितु लोकपरपरा के विलुप्त गौरव ग्रन्थ 'बृहत् कथा' की 'उदयन-कथा' के आधार पर परिपल्लवित है।

ख्यातदेश—केवल वस्तु वृत्त ही नही, जिस देश से उसका सबध है वह भी पूण लोकप्रिय हो, जसे प्राचीन काल के मालव, पाचाल, वत्स और मगध आदि राज्य या जनपद। अन्यथा अभिनवगुप्त की दृष्टि से वत्सराज जसे प्रसिद्ध सम्राट के होते हुए भी अप्रसिद्ध देश मे उनके जीवन की घटनाओ के वणन से उसम रस चवणा तो क्या प्रतीति भी न होगी। अत वस्तु-वृत्त की आधारभूमि वह देश या जनपद भी ख्यात हो।[4]

ख्यात नायक—नायक भी प्रख्यात और उदात्त हो। नायक नाटक के केन्द्र में प्राण ज्योति की तरह निवास करता है, उस केन्द्र से ही नाट्य के ज्योति रस का प्रस्रवण होता है। अत उसका प्रसिद्ध होना नितान्त आवश्यक है। प्राय प्रसिद्ध सस्कृत नाटको के नायक ख्यात ही हैं। राम, कृष्ण, उदयन, दुष्यन्त और पुरुरवा आदि सब ख्यात नायक हैं। परम्परा युगों से इनकी कीर्ति-गाथा वहन करती आ रही है।

नायक की उदात्तता—वस्तु देश और नायक इन तीन प्रसिद्धियों के अतिरिक्त नायक के लिए उदात्तता का भी कथन किया गया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से भरत द्वारा प्रयुक्त उदात्त शब्द बडा अथपूण है। नाटक के नायक मे वीररस की योग्यता होनी चाहिए तथा नाटक

---

१ ना० शा० १।१०६ १२०, १८।६ ४४ (गा० ओ० सी०)।

२ नृपतीनां यच्चरित नाना रसभावचेष्टित बहुधा।
सुखदु खोत्पत्तिकृत भवति हि तन्नाटक नाम। ना० शा० १८।१२, ४२ (गा० ओ० सी)।

३ प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्यातोदात्तनायक चैव। ना० शा० १८।१०।

४ तत्र प्रकर्षेण ख्यात वस्तु तथा विषयो मालवपांचालादिर्देशो —
तत्र प्रसिद्धि खडनेन प्रतीति विघातात्। कथा रसचवणाया। अ० भा० भाग २, पृ० ४११।

के नायक केवल धीरोदात्त ही नहीं वे धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त भी होते हैं।[1] संस्कृत के नाटकों के नायक इन विभिन्नताओं से ओत प्रोत भी हैं और उनमें वीररस की योग्यता की भी कल्पना समान रूप से मिलती है। उत्तररामचरित का नायक धीरोदात्त, स्वप्नवासवदत्तम् का धीरललित, वेणीसंहार का धीरोद्धत तथा नागानन्द का नायक धीरप्रशान्त है।

आचार्यों की मान्यताएँ—परवर्ती आचार्यों में नाटक के नायक की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने धीरोदात्त मात्र को ही नाटक का नायक स्वीकार किया है।[2] परन्तु संस्कृत में और भी नाटक हैं जिनमें नायक या तो धीरोद्धत हैं या धीरप्रशान्त एवं धीरललित भी। अतः इन परवर्ती आचार्यों का विचार न तो भरत के अनुरूप है और न संस्कृत नाटकों में चित्रित नायकों के जीवन के अनुरूप ही। सम्भव है, इस भ्रम का प्रचलन भरत के दो श्लोकों[3] के कारण हुआ हो जिनमें उन्होंने देवों को धीरोद्धत राजाओं को धीरललित मन्त्रियों को धीरोदात्त तथा ब्राह्मण एवं वणिकों को प्रशान्तरूप में चित्रण का सामान्य विधान किया है। परन्तु यह तो सामान्य निर्देश है। परन्तु नाटक प्रकरण में नायकों के लिए विशेष निर्देश किया गया है, उसका अधिक महत्त्व है। इसको दृष्टि में न रखने के कारण ही आचार्यों ने दो विभिन्न कल्पनाएँ की हैं। आचार्य धनिक और हेमचन्द्र[4] की विवेचना के कारण भरत के विचारों के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्ति मालूम पड़ती है। वस्तुतः नायक की प्रकृति तो सदा अपरिवर्तित रहती है पर मनोवृत्ति में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। देव या नृप और मन्त्री या वणिक आदि पात्रों की स्थायी प्रकृति तो सदा एक-सी रहती है परन्तु उनकी मनोवृत्ति तो बदलती रहती है। यदि किसी एक नाटक में उनका प्रयोग हो तो उनकी प्रकृति का चित्रण सामान्य निर्देश के अनुसार होता है। भरत के अनुसार यदि इनमें से सब एकाधिक प्रकृति के पात्रों का एकत्र योग रहता है, तो देव पात्र को स्वाभिमान युक्त धीरोद्धत, राजा को कोमल प्रकृति का ललित, सेनापति या अमात्य को धीरोदात्त एवं वणिक या ब्राह्मण को धीरप्रशान्त रूप में प्रस्तुत होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक के नायक को उदात्त गुण सम्पन्न होना चाहिए पर उदात्तशाली होते हुए भी अन्य किसी भी वृत्ति से युक्त हो सकता है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में भरत ने ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं दिया है कि नायक धीरललित या धीरोदात्त ही हो। वह धीरोद्धत और धीरप्रशान्त भी हो सकता है।[5] इन परम्परागत नियमों

---

१ उदात्त इति वीररसयोग्यउक्त। तेन धीरललित धीरप्रशान्त धीरोद्धत धीरोदात्ता चत्वारोऽपि गृह्यन्ते। अ० भा० भाग २, पृ० ४११।

२ प्रख्यातवंशो राजर्षि धीरोदात्त प्रतापवान्। सा० द० ६।६।
दिव्येन वा मानुषेण धीरोदात्तेन संयुतम्। र० सु०, पृ० १३०।

३ देवा धीरोद्धता ज्ञेया स्युर्धीरललिता नृपा।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्ता प्रकीर्तितो।
धीरप्रशान्ताश्च विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा। ना० शा० २४।४ (का० भा० स०)।

४ द० रू० २ प्र० ३ ५ श्लोक पर धनिक की टीका का० अनु० हेमचन्द्र, पृ० ३७० ५।

५ Bharata does not intend that the hero of Nataka should be a Dhirodatta or dhirlalita only Laws and Practices of Sanskrit Drama page 6 (S N Sastri)

का प्रयोगवश उल्लघन भी हो सकता है। महावीरचरित मे परशुराम धीरोद्धत नायक है। भरत के विचारो का समथन रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी किया है। उनकी दृष्टि से धीरललित, धीरोदात्त, धीरोद्धत एव धीरप्रशान्त ये चार प्रकार नपतियो के होते हैं, न कि केवल धीरोदात्त ही होता है।[1]

राजर्षि नायक—नाटक के नायक की कुछ और विशेषताएँ भरत की दृष्टि से विचारणीय हैं। तदनुसार नाटक म नायक राजर्षि हो तथा उसके उच्चवश का चरित वर्णित हो। अभिनव गुप्त ने राजर्षि शब्द पर विचार करते हुए अपना यह मत प्रतिपादित किया है कि नाटक का नायक जीवित राजर्षि नही हो सकता परन्तु किसी अन्य आचाय के मत का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए यह भी उल्लेख किया है कि चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार आदि समसामयिक राजा भी नायक होते हैं। राम के समक्ष नाटयरूप मे रामायण का प्रस्तुत होना प्रसिद्ध है (उत्तररामचरित, अक ७)। नायक को दिव्य पात्र का आश्रय प्राप्त हो। अभिनवगुप्त के अनुसार नाटक म मर्त्य-चरित की तो प्रधानता रहती है पर देव चरित का भी वणन हो सकता है। दिव्य पात्र नाटक के नायक नही हो सकते, वे पताका या प्रकरी आदि के नायक हो सकते हैं। नागानन्द मे करुणामयी भगवती का साक्षात्करण या अप्रत्यक्ष रूप से दुष्यन्त पर इन्द्र का प्रभाव दिव्याश्रयोपेतता ही है। आचाय विश्वनाथ ने दिव्य और दिव्यादिव्य इन दो प्रकार के नायकों की भी कल्पना की है।[2] दिव्य श्रीकृष्ण और दिव्यादिव्य श्री रामचन्द्र हैं। परन्तु ये दोनो पात्र सस्कृत के नाटको मे सवत्र मर्त्य नायक के रूप मे ही वर्णित हैं, दिव्य या दिव्यादिव्य के रूप मे नही। दिव्य पात्र से भरत का आशय है ब्रह्मा विष्णु शिव, इन्द्र, वरुण और कामदेव आदि देवता। ऐसे देवताओ को नायक के रूप मे स्वीकार करने म यह कठिनाई होगी कि मर्त्यचरित न होने के कारण उन सुख-दु खात्मक सवेदनाओ का प्रतिफलन नही होगा। दु ख का उनम अभाव है। नाटय मे दु ख दूर करने के लिए प्रतिकार भी न होगा। अत नाटक का नायक दिव्य नही मर्त्य होता है। नायिका यदि दिव्या हो भी तो उससे विरोध नही होता, क्योकि उवशी के नायक चरित से ही उसके वृत्त का भी आक्षेप हो जाता है।[3]

नाटक मे चार पुरुषाथ—भरत न नाटक की कथावस्तु के लिए नाना विभूति, ऋद्धि एव विलास की भी कल्पना की है। यद्यपि मनुष्य के धम, अथ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का प्रयोग यहाँ अपेक्षित है पर इन दोनो म ऋद्धि (अथ) और विलास (काम) सबके लिए बडे ही प्रिय हैं। अत उनकी बहुलता का चित्रण अपेक्षित है।[4] प्राय सब सस्कृत नाटको म राज्य समृद्धि तथा कौमुदी-महोत्सव या वसन्तोत्सव आदि के विलासपूण चित्रणो का विस्तार है। वस्तुत ऋद्धि और विलास के द्वारा भरत ने एक प्रकार से वीर और शृगाररस की प्रधानता का तो सकेत कर ही दिया है। परन्तु नागानन्द आदि ऐसे नाटक हैं, जिनम आत्मत्याग और करुणा की भी प्रधानता है।

---

१ बयथा स्वभावाश्चत्वार नेतृणां मध्यमोत्तमा । ये तु नाटकस्य नेतार धीरोदात्तमेव प्रतिजानीते, न ते मुनिसमयाध्यवगाहिन । —ना० द० पृ० २६।

२ दिव्योऽथ दिव्यादिव्योवा। दिव्येण मानुषेण वा —र० सु० ३।१३०। सा० द० ६।६।

३ अ० भा० भाग २, पृ० ४१२।

४ ना० शा० १८।१० ११ (गा० ओ० सी०)।

संबंधी विधि निषेधों के क्रम में भरत की दृष्टि सदा प्रयोगात्मक रही है। अतएव नाट्यप्रयोग की दृष्टि से एक और भी महत्त्वपूर्ण भाषा-संबंधी उनका विधान है। नाटक की भाषा मृदुललित पदाढ्य गूढशब्दार्थहीन और जनपद सुखबोध्य होनी चाहिए। अन्यथा क्लिष्ट भाषायुक्त नाटक तो ऐसा ही अशोभन मालूम पड़ता है जैसे कमण्डलधारी संन्यासियों से घिरा वेश्या।[1] अतः भरत की दृष्टि तो अत्यन्त स्पष्ट एवं उपयोगी है। दुर्भाग्यवश संस्कृत के परवर्ती नाटककारों ने भरत के नाट्यसिद्धान्तों की अवहेलना की। फलस्वरूप संस्कृत नाटकों का ह्रास हुआ और वे आभिजात्य वर्ग के आमोद प्रमोद का विषय बनकर रह गये। किसी व्यापक मनोभूमि के अभाव में वे प्रकृत रूप में परिपल्लवित नहीं हो सके।

प्रकरण

प्रकरण रूपक का प्रधान भेद है और नाटक की तरह पूर्ण लक्षण भी। यह कल्पना प्रधान रूपक है। कवि की प्रतिभाशक्ति साध्यफल, वस्तुवृत्त तथा नायक की परिकल्पना स्वतन्त्र रूप से करती है। इस दृष्टि से भरत द्वारा प्रयुक्त औत्पत्तिक, आत्मशक्त्या, अनार्ष, अभूतगुणयुक्त तथा आहार्य आदि शब्द बड़े ही महत्त्व के हैं। आधारभूमि की इन्हीं भिन्नताओं के कारण नाटक से प्रकरण एक भिन्न एवं स्वतन्त्र नाट्य प्रणाली है।

कल्पित कथावस्तु नायक साध्यफल—प्रकरण की कथावस्तु और साध्य, उत्पाद्य होती है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो। बल्कि वह अनार्ष मात्र हो अर्थात् पुराण आदि में उपनिबद्ध कथाओं के आधार पर पल्लवित न हो। परन्तु बृहत् कथा आदि लोकपरम्पराश्रित ग्रन्थों मे उपनिबद्ध कथाओं के आधार पर विकसित हो।[2] अभिनवगुप्त ने इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि न केवल अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों ही से अपितु पूर्व निबद्ध काव्यों से भावों और वस्तु आदि का आहरण करना चाहिए।[3] वस्तुतः प्रकरण सम्बन्धी भरत की विप्रतिपत्ति निषेधात्मक है और स्वीकारात्मक भी। निषेधात्मक 'अनार्ष' के प्रयोग द्वारा रामायण महाभारत आदि का प्रकरण के वृत्त के स्रोत के रूप में निषेध है। सम्भव है भरत से पूर्व नाटक और प्रकरण के स्रोत एक दूसरे से भिन्न नहीं हो पाये हों। भरत ने उनकी 'आर्षता' का स्पष्ट निषेध किया है।[4] यह भी सम्भव है कि नाटक की तरह प्रकरण भी प्रख्यात उत्पाद्य दोनों ही रहे हों, परन्तु भरत ने उनकी नितान्त मौलिकता का

---

१ मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्।
जनपदसुखबोध्यम् युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्। ना० शा० १६।१५२या १४३ (गा० ओ० सी०)।

२ यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तुशरीरं च नायकं चैव।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद्बुधैर्ज्ञेयम्। ना० शा० १८।४८, द० रू० ३।३६ ४२, ना० ल० को०, सा० द० ६।२५३ ४।

३ अ० भा०, भाग २, पृ० ४३०।

४ From this it may be assumed that once there were Prakaranas in which the plot was not wholly original N S Eng Trans —M M Ghosh p 362 363

विधान किया है। यह पूववर्ती कवियो के काव्यो से आहरणीय होने पर 'अभूतगुणयुक्त' होना चाहिए। भरत की दृष्टि से प्रकरण की कथावस्तु उसका साध्यफल कवि-कल्पना की सृष्टि हो। प्राचीन कवियो की आदृत कथा मे प्रकरण रचयिता कल्पना द्वारा रसमयता का सचार करे। अनाप के रसमय बनाने मे श्रद्धालुओ को जुगुप्सा नही होती।

कल्पित नायक और पात्र—प्रकरण का नायक नाटकानुसारी राजा आदि नही होता, अपितु विप्र, अमात्य और साथवाह होते है। उनके नानाविध चरित का प्रयोग कथा सामग्री के रूप मे होना है। अत शृगार के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सामग्री का उपयोग होता है। इनम स कोई भी नायक हो सकता ह।[1] नाटक के उदात्त नायक राम या शिव के समान दिव्य नायका का प्रयोग नही होता और न राज सभोग का ही कोई अवकाश रहता ह। नि सन्देह दिव्य नायक का निषेध तो भरत ने नाटक के लिए भी किया ह। राजा के सम्मान, गौरव और प्रतिष्ठा का चमत्कार प्रकरण मे नही दिखाई देता। क्योकि यहाँ न राजा होते हैं और न उनकी छायानुवर्तिनी गौरव-गरिमा ही रहती ह।[2] राजाश्रित कचुकी आदि राजकीय पात्रो के स्थान पर वेशकला म निपुण विट, श्रेष्ठी और दास आदि पात्रो की प्रधानता रहती है। अभिनवगुप्त ने प्रकरण के लिए विदूषक का महत्त्व स्वीकार नही किया हैं। उनकी दृष्टि से उसका स्थान विट ग्रहण करता हैं।[3] परन्तु 'मृच्छकटिक' प्रकरण के प्रथम अक मे विट और विदूषक दोनो एक साथ ही प्रस्तुत हुए है। पुनश्च दोनो पात्रा की उपयोगिता भिन्न एव स्वतन्त्र ह। दोनो के काय-व्यापार से हास्य रस और व्यग्य का सृजन होता है परन्तु विदूषक नायकानुवर्ती होता है और विट प्राय वेश्यानुवर्ती। अत प्रकरण मे विट और विदूषक का एक साथ ही प्रयोग हो सकता ह।

प्रकरण की नायिका—स्त्री पात्रो म वेश्या प्रधान होती है कदाचित् कुलागना भी। परन्तु सचिव, अमात्य, साथवाह एव पुरोहित जसे विशिष्ट और सम्भ्रान्त पात्रा के मध्य पारिवारिक कथा का क्रम चल रहा हो वहाँ वेश्या की उपस्थिति का निषेध है। यही नही, एक ही दश्य मे वेश्या और कुलस्त्री का एक काल म प्रयोग सवथा निषिद्ध है। 'मृच्छकटिक' म चारुदत्त की कुलवधू धूता का वसन्तसेना से नाटय के अवसान म वधू के रूप मे ही मिलन हो पाता ह।[4] चारुदत्त और वसन्तसेना का मिलन या तो एकान्त उपवन म आयोजित है या रात्रि मे। अभिनवगुप्त के मतानुसार यदि प्रयोजनवश दोना एक ही दश्य म वतमान भी हो, तो दोनो की भाषा और प्रकृति का अन्तर खूब स्पष्ट होना चाहिए। वेश्या की भाषा सस्कृत और कुलागना की शौरसेनी होती ह, तथा कुलागना का आचार विनय प्रधान होता है, वेश्या का उसके विपरीत।[5]

प्रकरण और प्रकृत जीवन का सुख दु खात्मक राग—नाटक की भाँति अक, विष्कभक, सधिया एव वृत्तिया का प्रयोग प्रकरण म किया जाता ह। परन्तु कशिकी की मात्रा यहाँ नाटक की अपेक्षा कम रहती है क्योकि प्रकरण के नायक-नायिका 'अपायशता का अतिक्रमण कर साध्य तक पहुचते है। अत शृगार का पयाप्त अवकाश नाटक की तरह यहा नही ह। यह कोई आव

१ ना० शा० १८।४८ ४६ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० १८।५० ५२।

३ कचुकिस्थाने दास विदूषकस्थाने विट अमात्यस्थाने श्रेष्ठीत्यर्थ । अ० भा०, भाग २, पृ० ४३१।

४ मृच्छकटिकम् अक १०, पृ० २८६ (नि० सागर)।

५ ना० शा० १८ ५१ ५३ (गा० ओ० सी०)।

स्पष्ट नहीं है कि प्रेम-कथा वस्तुविधान का निश्चित आधार हो ही। मृच्छकटिक की राजनीतिक कथा में प्रेमतत्त्व का नितान्त अभाव है। नाटक से प्रकरण कई अर्थों में भिन्न है। नाटक का आधारभूत स्रोत वैदिक साहित्य से पुराण तक सम्भवतः और निश्चित साहित्य रहा होगा, जबकि प्रकरण के लिए स्रोत के रूप में इस उत्तरकालीन साहित्य का सर्वथा निषेध किया गया है। इस प्रकार प्रकरण न केवल स्वरूप, पात्र रचना के आदर्श और उद्देश्य की दृष्टि से ही भिन्न है वे अपने मौलिक तत्त्वों की दृष्टि से भी पृथक् हैं। नाटक आदर्श जीवन का भव्य और उदात्त चित्र है, जबकि प्रकरण प्रकृत जीवन के सामाजिक साम्य-वैषम्य, राग विराग आदि की प्राण शक्ति से उच्छ्वसित है। प्रकरण कल्पना प्रधान तो है पर उसके प्राङ्गण में सुख दुःखात्मक यथार्थ जीवन भूमि की सोंधी गंध है जबकि नाटक में स्वर्गंगा के पुष्पों की या राजप्रासादों के दुर्लभ भाव की भीनी गंध।

परवर्ती आचार्यों की मान्यता—प्रकरण के सम्बन्ध में परवर्ती आचार्यों ने भी पर्याप्त विस्तार के साथ विचार किया है। विचार के प्रसंग में भरत के प्रकरण-सम्बन्धी सिद्धान्त का उपबृंहण करते हुए प्रकरण एवं तत्सम्बन्धी नायिकाओं के अनेक भेदों की परिकल्पना की है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नेता, वस्तु और फल की विभिन्नता के आधार पर सात भेद तथा उन सातों के भी कुलस्त्री, गणिका तथा कुलस्त्री गणिका इन तीन नायिकाओं में से प्रत्येक के आधार पर प्रकरण के २१ भेदों का उल्लेख किया है।[1] वस्तुतः नायिकाओं के इन तीन भेदों के आधार पर प्रकरण के इन तीन भेदों का तो विवरण नाट्यदर्पण, भावप्रकाशन, रसार्णव सुधाकर, नाटक लक्षण कोष साहित्यदर्पण और दशरूपक में समान रूप से मिलता है।[2] शुद्ध प्रकरण में कुलस्त्री नायिका होती है जैसे मालतीमाधव में मालती, धूर्त में गणिका नायिका होती है जैसे तरंगदत्ता और मिश्र या संकीर्ण में कुलस्त्री और गणिका दोनों ही नायिका होती हैं। मृच्छकटिक में धूता और वसन्तसेना दोनों ही नायिका हैं।

प्रकरण में शृंगार की प्रधानता की दृष्टि से आचार्यों में मतभेद है। आचार्य विश्वनाथ और सिंगभूपाल ने प्रकरण में शृंगार की प्रधानता प्रतिपादित की है।[3] परन्तु नाट्यदर्पणकार की दृष्टि से प्रकरण में क्लेशातिशयता के कारण शृंगार को प्रधानता नहीं दी जा सकती। मालती माधव में शृंगार का अतिशय चित्रण नाट्यदर्पणकार की दृष्टि से भरत विरोधी है।[4] इसी संदर्भ में वी० राघवन् महोदय का यह विचार मान्य प्रतीत होता है कि संस्कृत के मृच्छकटिक और मालतीमाधव आदि प्रकरणों में 'आसद' तत्त्व है और इसीलिए भरत एवं अन्य अनेक परवर्ती आचार्यों ने इस रूपक भेद में शृंगार प्रधान कैशिकी का परिवर्जन किया है।[5] 'शारिपुत्त' प्रकरण

---

१ कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विपर्यये।
विटे पत्यौ द्वयं तस्मादेकविंशतिधाप्यदः। ना० द० २।३।

२ र० सु० ३।२१४ २१७, भा० प्र०, पृ० २४१ २४३ ना० ल० को०, पृ० ११६, सा० द० ६।२५३ २५४ द० रू० ३।३६ ४२।

३ रस प्रधान शृंगार। र० सु० ३।२१५ शृंगारोऽङ्गी। सा० द० ६। २५३।

४ वृत्तिचतुष्टयस्यातिक्लेशोऽपि कैशिकी बाहुल्यं न निबन्धनीयम्।
क्लेशस्य प्राचुर्येण शृंगार हास्ययोरल्पत्वात्। यत् पुनर्भवभूतिना मालतीमाधवे कैशिकीबाहुल्यमुप निबद्धं तन्न वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धीति। ना० द० (विवृत्ति) पृ० १०६ (द्वि० स० गा० ओ० सी०)।

५ द सोशल प्ले इन संस्कृत पृ० ५६ (वी० राघवन्)।

के आधार पर उन्होने यह भी सिद्ध किया है कि प्रकरण म धार्मिक तत्वो का भी समावेश होता था। परन्तु बौद्ध धम पर आधारित यह प्रकरण अपवाद ही है। अश्वघोष ने काव्य और नाट्य की रचना बौद्ध धम के विचारो के प्रचार के लिए की थी, न कि स्वतन्त्र रूप से काव्य या नाटय रचना के लिए।[1]

कथावस्तु, साध्यफल और पात्रो की परिकल्पना प्रकरण म उत्पाद्य हो, इस पर सब आचाय सहमत हैं। सबने समान रूप से प्रकरण के तीनों तत्वा की कल्पना प्रधानता पर बल दिया है।[2] पात्र के रूप में विप्र, वणिक, सचिव, विदूषक, विट, धूत, चेट आदि की प्रधानता समान रूप से स्वीकार की है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक प्रबन्ध मे प्रकरण के शुद्ध और शकर नामक दो भेदो का उल्लेख किया है।[3] अन्य कोई नवीनता नही है। प्रकरण के लेखको ने भरत का अनुकरण करते हुए प्रकरण की रचना की। उत्तरवर्ती शास्त्रकारो ने नाटयशास्त्र और प्राप्त प्रकरणों के आधार पर लक्षणो का निर्धारण किया। स्वभावत आचायो के विचारो म किंचित् मतभिन्नता तो है पर किसी नई विचार-पद्धति का आलोक नही।

भरत एव परवर्ती आचार्यों के विचारों के आधार पर प्रकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कष प्राप्त होते हैं—

(क) प्रकरण कल्पना प्रधान रूपक है, अतएव इसका स्रोत लौकिक साहित्य है।

(ख) इसके नायक ख्यात राजा आदि नही, सेनापति, अमात्य और वणिक आदि धीर प्रशान्त होते हैं।

(ग) वेशस्त्री की इसमे प्रधानता होती है पर शिल्प व्यपदेश से कुलागना का प्रवेश भी निषिद्ध नही है।

(घ) नाटक के समान अक विष्कभक, प्रवेशक, सध्यग और नाटयालकारो का प्रयोग होता है।

(ङ) शृगार की योजना तो होती है पर क्लेशायतता के कारण उसकी प्रधानता नही होती।

वस्तुत प्रकरण जीवन की उवर धरती पर खिला एक सुरभित पुष्प है, जिसमे कल्पना का सौन्दय और मनुष्य की सवेदना का सरस सुवास उच्छवसित होता रहता है।

नाटिका

भरत ने दस रूपको के विवेचन की प्रतिज्ञा करके भी नाटिका नामक रूपक का भी प्रतिपादन किया है। 'नाटिका' नाटयशास्त्र का मूल अयवा प्रक्षिप्त अश है इस सम्बन्ध म कुछ निश्चयपूवक नहीं कहा जा सकता। मूल नाट्यशास्त्र में भी कुछ प्रक्षिप्त अश आ मिले हैं यह

---

[1] सौन्दरानन्द १८।६४ प्रायेणालोक्य लोक विषयरतिपर मोक्षात् प्रतिहतम्।
काव्य व्याजेन तत्त्व कथितमिह मया मोक्षपरमिति ॥

[2] यत्रेति वृत्तमुत्पाद्यम् द० सु० ३ ११४, भा० प्र०, पृ० २४२। कविना रसपुष्टि हेतुरनिकावाप्तो विधेय इति, ना० द०, पृ० १०४।

[3] भारतेन्दु नाटकावली में सगहीत 'नाटक' नामक निबन्ध, पृ० २२४।

स्पष्ट रूप से अभिनवगुप्त ने 'नाट्यसंग्रह' के प्रसंग में प्रतिपादित किया है।[१] यदि नाटिका भरत नाट्यशास्त्र का मूल अंश न भी हो तो भी यह अत्यन्त प्राचीन रूपक भेदों में है। दशरूपक, विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाटिका का रूपक अथवा उपरूपकों के अन्तर्गत स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[२]

नाटिका का स्वरूप—नाटक और प्रकरण नामक प्रधान रूपक भेदों के विविध तत्वों के योग से नाटिका की रचना होती है। प्रकरण के समान इसकी कथावस्तु कवि-कल्पित होती है और नायक नाटक के समान प्रख्यात एवं नृपवंशी होता है। अन्तःपुर की नवानुरागपूर्ण संगीत कन्या नायिका होती है। इसमें नारी पात्रों की बहुलता, ललित अभिनय, अंगों का सुसंगठन नृत्य, गीत और पाठ्य की रमणीय योजना और रति संभोग की प्रधानता रहती है। नायक और संगीत कन्या के गुप्त प्रेम के कारण देवी द्वारा क्रोध और राजा द्वारा उसके उपशमन आदि की अनेक रमणीय योजनाएँ होती हैं। पात्र के रूप में नायक देवी, दूती और परिजन आदि का प्रयोग होता है। इसमें चार अंक होते हैं। इस रूपक में शृंगार की प्रधानता होती है।[३]

अन्य आचार्यों के मन्तव्य—भरत ने नाटिका की इतनी स्पष्ट और विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की है कि परवर्ती आचार्यों के लिए नवीन तथ्यों का आकलन करना संभव नहीं था। अतः उन्होंने उन्हीं विचारों का विस्तार किया है। दशरूपक के अनुसार यह संगीत कन्या भी ज्येष्ठ नायिका के समान नृप वंशजा ही होती है पर नितान्त मुग्ध दिव्य और अति मनोहर भी। रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार तो देवी और कन्या दोनों ही नायिकाएँ होती हैं। परन्तु दोनों की प्रख्यातता और अप्रख्यातता के भेद से नाटिका के चार भेद होते हैं। धनंजय, धनिक और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटिका का विवेचन करते हुए 'प्रकरणिका' के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये हैं। धनंजय और धनिक के अनुसार प्रकरणिका का पृथक अस्तित्व नहीं है और रामचन्द्र के अनुसार प्रकरण पृथक अस्तित्व है। उनकी दृष्टि से नाटिका नाटकोन्मुखी है और प्रकरणिका प्रकरणोन्मुखी। सागरनन्दी, शारदातनय और विश्वनाथ ने भरत के अनुसार ही नाटिका को चतुरंकी, शृंगार प्राय और कैशिकी-वृत्ति युक्त माना है। अभिनवगुप्त के अनुसार रतिसंभोग आदि की योजना तो कन्या के लिए होती है और क्रोध, प्रसाद और दंभ आदि की योजना ज्येष्ठ देवी के लिए। हर्ष रचित प्रियदर्शिका और रत्नावली ग्रामेयी (ना० ल० को०) तथा भारतेन्दु रचित चन्द्रावली इसके उदाहरण हैं।[४]

समवकार

समवकार प्रधान रूपकों में है और पात्र, कथावस्तु एवं अन्य नाट्य-व्यापारों के सम्बन्ध में

१ अनेन [illegible] कोहलमते [illegible] न तु भरते। अ० भा० भाग १, पृ० २६५६।
२ एष (नाटिकेयम्) प्रकरणी कार्या। विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६।
३ अनयोश्च बन्धयोगादन्यो भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रितः काव्ये॥
प्रकरण नाटक भेदादुत्पाद्यं वस्तु नायकं नृपतिम्।
अन्तःपुर संगीतक कन्यामधिकृत्य कर्तव्या॥ —ना० शा० १८।५७-६० (गा० ओ० सी०)।
४ ३।४३ का दशरूपक [illegible] ३।२१, ना० ल० को० पृ० [illegible], ना० द० [illegible], अ० द०, पृ० २८१, अ० भा० भाग २ पृ० ४३८।

यह नितान्त विलक्षण है। समवकार की कथावस्तु, पात्र एव साध्यफल के सम्बन्ध मे भरत ने पर्याप्त सूक्ष्मता के साथ विवेचन किया है। इससे प्राचीन रूपको के उद्भव के इतिहास से हमारा परिचय होता है। इस परिप्रेक्ष्य मे समवकार का बडा महत्त्व है।

नायक —समवकार की कथावस्तु का सचयन देव और असुरो के उद्धत जीवन से होता है और इसके पात्र भी देव और असुर होते है। पर वे नाटको के नायक की तरह प्रख्यात और उदात्त भी होते है।[1] भरत ने देवो को यद्यपि उद्धत कहा है परन्तु मूलत उद्धत होने पर भी परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा वे उद्धत, गभीर तथा धीर आदि भी होते है। विष्णु, ब्रह्मा, त्रिपुरारि, और इन्द्र आदि एक दूसरे की अपेक्षा प्रशान्त और उद्धत होते हैं। ब्रह्मा तो प्रशान्त है पर नरसिंह उद्धत है। इस दृष्टि से नाटक के नायक की तरह इनके भी चार भेद तो स्वभावभिन्नता की दृष्टि से होते ही है।[2] धनजय, रामचन्द्र, शारदातनय, सागरनदी तथा शिगभूपाल आदि ने समवकार के नायक को दिव्य ही माना है।[3] परन्तु आचार्य विश्वनाथ उसे मर्त्य भी मानते है।[4] उनके विचार परस्पर विरोधी है। आरम्भ मे उन्होने दानवो को नायक माना, पुन ये मानव नायक कैसे हो सकते हैं? समवकार मे नायको की बहुलता होती है और इनकी सख्या भरत ने बारह बताई है। ये बारह नायक होते है, नायक या प्रतिनायक मिलाकर इनकी सख्या बारह होती है, यह स्पष्ट नही है। परन्तु तीन अको के समवकार मे सभवत प्रत्येक अक मे चार नायक या नायक प्रतिनायको का प्रयोग होता है।[5] या प्रत्येक अक मे बारह नायक होते हैं।

त्रैत का प्रयोग—तीन अको के समवकार मे तीन प्रकार का कपट, तीन प्रकार का उपद्रव और तीन प्रकार का शृगार प्रस्तुत किया जाता है। प्रथम अक का समय मान बारह नाडिका है, द्वितीय अक की चार और तृतीय अक की दो। इस प्रकार अक की अवधि उत्तरोत्तर स्वल्प होती जाती है। एक नाडिका २४ मिनट की होती है।[6]

तीनो अको मे प्रयोज्य कपट, उपद्रव और शृगार के तीनों रूपो का भी व्याख्यान भरत ने किया है। युद्ध, जल, वायु अग्नि हाथी या नगर के अवरोध आदि के कारण उपद्रव होता है। इसी प्रकार कपट भी पर प्रयोजित, कभी देववश और कभी जीवन के सुख-दुःख के आघातो से उत्पन्न होता है। शृगार के भी तीन प्रकार होते हैं, धर्म प्रेरित, अर्थ प्रेरित और काम प्रेरित। धर्म प्रेरित शृगार प्रतिपत्नी का, अर्थ प्रेरित शृगार वेश्या और वेश्याकामी का तथा काम प्रेरित शृगार अहल्या और इन्द्र आदि के समान होता है। तीनो प्रकार के कपट, विद्रव और शृगार मे से एक एक का योग प्रत्येक अक मे होता हैं। इस प्रकार समवकार की कथावस्तु नाटक या प्रकरण की भाँति शृखलाबद्ध नही होती, वह बिखरी हुई होती है। सभवत कथावस्तु की इस 'विकीर्णता' के कारण ही इसका अन्वर्थ नाम समवकार है।[7]

१ ना० शा० १८।६२ ६३ (गा० ओ० सी०)।
२ अ० भा० भाग २, पृ० ४३७।
३ ना द०, पृ० १०६, उदात्त देवदैत्येश द०रू० ३।६२ ६८ भा० प्र० २४८ २५०, र०सु०, पृ०२८८ २६०।
४ नायका द्वादशोदात्ता प्रख्याता देवमानवा। सा० द० ६। २५७, भा० प्र० पृ०, २४८।
५ अ० भा० भाग २, पृ० ४३४।
६ ना० शा० १८।७० ७२ (गा० ओ० सी०)।
७ समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकार। ना० द०, पृ० १०६।
समवतैरवकीर्यन्ते चार्थे त्रिवर्गोपायै पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियन्ते निबध्यन्ते। ना० द०, पृ० १०६।

नानारसाश्रयता—कथावस्तु के आधार पर रस भी परिप्लावित होना है। समवकार म नायक के अनुरूप ही वीर या रौद्र रसा की प्रधानता रहती है। अन्य कोमल रसा का उद्भावन होता है पर वेशण स्थायी होते हैं। भरत ने 'नानारसाश्रयता' का उल्लेख किया है। यहाँ शृगार रस की स्थिति तो है, क्योंकि पारस्परिक सघर्षों के मूल म देवों और दानवा का किसी सुन्दर स्त्री के प्रति आकषण का भी भाव रहता है।[1] परन्तु वह भी क्षण-स्थायी होता है। स्वभावत उसके नर्म' आदि चारों अगों के योग न होने से यहाँ 'कैशिकी' वृत्ति भी नहीं होती। भट्टतोत के अनुसार[2] समवकार म काम की सत्ता तो रहती है परन्तु वह काम दुष्यन्त या राम का नहीं रावण का-सा होता है, अत उसम विलास का रस कहाँ ? और कैशिकी वहीं ही होती है जहाँ काम का कोमल विलास हो। अत इसम भारती, सात्वती और आरभटी के लिए ही अधिक अवकाश रहता है। वीर और रौद्र रसा का तेज और ओज ही ऊर्जस्वित होता है। नाट्यदपणकार के भी विचार इसी परपरा म हैं।[3]

अल्पाक्षर छन्द—छन्दों के रूप म उष्णिक गायत्री आदि कुटिल बध के छन्दो के प्रयोग का विधान भरत ने किया है। सात अक्षरा का उष्णिक् विषम छन्द है और छ अक्षरा की गायत्री अधसम। परन्तु भरत के टीकाकार (?) उदभट का विचार है कि इन छन्दा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि अधिक अक्षर वाले स्रग्धरा आदि छन्दो का प्रयोग करना चाहिये।[4]

अभिनवगुप्त के अनुसार समवकार की विशेषता यह है कि देव यात्रा आदि के दृश्य से श्रद्धालु भक्त इस प्रयोग से अनुगृहीत होते हैं और स्त्री, बालक और मूख विद्रव, कपट तथा शृगार आदि के दृश्या पर मुग्ध होते हैं।[5] इसका काव्यवत्त यद्यपि विकीण रहता है पर काय-व्यापार बड़ा प्रभावशाली रहता है। अत समवकार म आकषण और अनुरजन का योग अत्यन्त मनोमुग्ध कारी होता है। भरत के नाट्यशास्त्र म दूसरी बार प्रयुक्त नाट्य 'अमत मथन समवकार ही था। दशरूपककार धनजय ने भी उसी रूप मे स्वीकार किया है।[6] यह प्रथम सफल नाट्य प्रयोग था। भारतेन्दु न भरत के अनुसार ही तीन अक, बारह नायक तथा देवी कथा स्वीकार की है।[7] उन्ह समवकार का कोई उदाहरण नहीं मिला।

ईहामृग—ईहामृग रूपक के अत्यन्त प्राचीन भेदों म है। इसका उदाहरण उपलब्ध नहीं है। बारहवीं सदी के बाद के कुछ ईहामृगो का उल्लेख मिलता है। वत्सराज रचित 'रुक्मिणीहरण

१ एव कार्यस्तज्ज्ञै नाना रससश्रय समवकार। ना० शा० १८।७२ ७७ (गा० ओ० सी०)।

२ उपाध्यायास्तातु —न काममद्भावमात्रेणैव कैशिकी सभव।
रौद्रप्रकृतीनां तदभावात् विलास प्रधान यद्रूप सा कैशिकी। अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४४१।

३ देव दैत्यानामुद्धतत्वेन शृगारस्य छायामात्रत्वेन निबन्धनादिति। ना० द० पृ० १०६ (गा० ओ० सी०) द्वि० स०।

४ नैव प्रयोज्यानित्युद्भट पठति, स्रग्धरादीन्येव प्रयोज्यानि नाल्पाक्षराणीति स व्याचष्टे।
—अ० भा० भाग २, पृ० ४४१।

५ एव श्रद्धालवो देवताभक्ता तद्देवयात्रादावनेन प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसधान हृदया स्त्रीबाल मूर्खाश्च विद्रवाभिनाहृतहृदया क्रियन्त इत्युक्त समवकार। अ० भा० भाग २, पृ० ४४१।

६ तस्मिन् समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवा।
हृष्टाश्चाभवन् सर्वे कर्मभावानुदर्शनात्॥ ना० शा० ४।४, द० रू० ३।६४।

७ भारतेन्दु नाटकावली पृ० २३४ भाग १।

बारहवी सदी का है। कृष्ण मिश्र का 'वीर विजय' तथा कृष्ण अवधूत का 'सर्वविनोद' नाटक और भी परवर्ती है।[१] रूपको म नाम भी इसका कुछ विलक्षण है। 'ईहा' का इच्छा या अभिलाषा अर्थ होता है।[२] 'मग' शब्द का प्रयोग चारा खोजने वाले पशु के अर्थ म वदिक काल म होता था। ऋग्वेद म हस्तिमृग और अश्वमृग आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है। बाद म मग नामक पशु के लिए यह शब्द रूढ हो गया।[३] नाट्यशास्त्र म प्रतिपादित विषय के विश्लेषण से ऐसा अनुमान किया जाता है कि ईहामग की कथावस्तु 'अलभ्यदिव्य' नायिका के मार्गण को लक्ष्य कर ही विकसित होती है। प्राय सब नाट्यशास्त्रियो ने इस अर्थ बिन्दु को दृष्टि म रखकर ईहामग के अर्थ की कल्पना की है।[४]

अलभ्यदिव्य नारी के लिए सघर्ष—दिव्य स्त्री के लिए दिव्य पुरुष युद्ध करते हैं। दिव्य स्त्री की प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा के आधार पर इस रूपक की कथावस्तु का विकास सुशृखल रीति से होता है। परन्तु वह विप्रत्यय-कारक होता है। उद्धत स्वभाव के पुरुष पात्र तथा स्त्री के रोष के योग से काव्यबध परिपल्लवित होता चलता है। अलभ्य स्त्री की प्राप्ति के कारण शृगार का भाव भी तो रहता ही है परन्तु सक्षोभ, विद्रव, सफेट, स्त्री का भेदन, अपहरण और अवमदन आदि नाट्य व्यापारो के प्रयोग से रूपक मे चमत्कार का सृजन होता है।

वध का शमन—ईहामग मे अलभ्यदिव्य नारी की प्राप्ति के प्रयत्न मे उद्धत प्रकृति के दिव्य पात्रो मे परस्पर सघर्ष का अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण वातावरण तो उत्पन्न हो जाता है। परिणाम स्वरूप एक-दूसरे पुरुष के वध का भयानक क्षण उपस्थित हो जाने पर भी किसी व्याज से वध के शमन का विधान भरत ने किया है।[५]

व्यायोग और ईहामग—व्यायोग और ईहामग एक दूसरे के निकटवर्ती हैं। व्यायोग की तरह ही ईहामग म पात्र उद्धत होते हैं उनकी सख्या बारह होती है। नायक प्रख्यात होता है, और वस्तुवृत्त भी (प्रख्यात होता है) अक एक होता है। वीर और रौद्र रसो से उद्दीप्त होता है, पर समवकार की तरह शृगार का नही, रसाभास का क्षण-स्थायी आविर्भाव अवश्य होता है। वृत्तियाँ आरभटी, भारती और सात्वती आदि मुख्यत वर्तमान रहती हैं।

उत्तरवर्ती आचार्यो की मान्यता—उत्तरवर्ती आचार्यो ने ईहामृग के विवेचन मे भरत का अनुसरण किया है। नाटकलक्षण रत्नकोषकार सागरनदी ने बारह पात्रो के स्थान पर छ, दो प्रधान रसो के स्थान पर छ रसो तथा चार अको का योग प्रतिपादित किया है।[६] परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने ईहामृग के लिए एक ही अक स्वीकार किया है। अन्य किसी आचार्य के मत से एक अथवा छ नायक की भी कल्पना ईहामग के लिए की गई है।[७] वस्तुत ईहामग के अक, रस और नायक की सख्या के सम्बन्ध म आचार्यों मे ऐकमत्य नहीं है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार

१ ना० शा० अ० अनु०, पृ० २६६ पादटिप्पणी तथा इण्डियन ड्रामा स्टेनकोनो, पृ० ११४।

२ आप्टे, पृ० २८३, ईहा प्रधानो मृग।

३ भाषा में ध्वनि परिवर्तन का चमत्कार—भाषा, पृ० १६, वर्ष १ २।

४ नायको मृगवदलभ्या नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीति ईहामग (सा० द० ६।२६०)।

५ ना० शा० १८।७७-८४, द० रू० ३।७२ ७६।

६ कैशिकी वृत्तिहीनोऽत्रतथ्यान्वितो वधोवशीमर्दनम् दिव्यबाला धरणप्रवृत्त युद्ध प्रसिद्ध पुरुष विप्रत्ययककारक षण्णायक षड्रस वस्तुश्च गारयुक्तो नायकसग्रामयुक्त। ना० ल० को०, पृ० ११८।

७ सा० द ६।२६० नाट्यदर्पण, पृ० ११६।२५ २६ भाव प्रकाशन, पृ० २८१।

इसमे चार अक आवश्यक नही है। एक अक भी हो सकता है। नायको की सख्या व बारह मानते हैं। इतिवृत्त ख्यात और आख्यात भी हो सकता है। दिव्य स्त्री के कारण सग्राम होता है। शारदातनय के विचार सागरनदी की परम्परा मे हैं। कशिकी के अतिरिक्त तीनो वृत्तियो और भयानक और बीभत्स को छोड शेष छ रसो का योग होता है। नायको की सख्या चार से छ तक होती है। अक चार होते है। स्त्री के कारण सग्राम की भी योजना होती है। अतएव किंचित् कशिकी का भी प्रयोग होना है। 'कुसुमशेखर' नामक रूपक का ईहामृग के उदाहरण के रूप मे शारदातनय ने उल्लेख किया है। भारतेन्दु के अनुसार ईहामृग मे नारी प्रेम के कारण नायक प्रतिनायक मे युद्ध होता है। नायिका द्वारा युद्धादि कार्य का सम्पादन होता है। अक चार होते है।[1] बाबू श्यामसुन्दरदास ने ईहामृग की परिभाषा दशरूपक के[2] अनुसार ही प्रस्तुत की है। वस्तुवृत्त ख्यात तथा उत्पाद्य दोनो ही हो। अक चार तथा मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सधियो का प्रयोग होना है। नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत देवता या मनुष्य होते हैं। न चाहने वाली दिव्य नारी को प्रतिनायक छिपकर प्रेम करता है। उसी प्रसग मे युद्ध भी होता है। इसमे मरण का सर्वथा निषेध है। भरत ने ईहामृग की कथावस्तु मे अलभ्य परम सुन्दरी नारी के लिए उद्धत देव पात्रो मे सघर्ष तथा वृत्त की सुशृखलता पर बल दिया है।[3] सब आचार्यों ने भरत की परिभाषा का सामान्यतया अनुसरण किया है।

डिम

'डिम' कई दृष्टियो से नाटक का निकटवर्ती रूपक है। 'डिम' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त ने डिम, डिम्ब और विद्रव को पर्यायवाची शब्द के रूप मे स्वीकार किया है।[4] विद्रव के मूल मे उपद्रव तथा उद्धतता का भाव वर्तमान रहता है। डिम्ब शब्द समूहवाचक भी है। देवता, राक्षस यक्ष पिशाच और नाग आदि विविध पात्रो के जमघट के कारण ही 'डिम्ब' यह समूहवाचक नाम 'डिम' के लिए प्रचलित हुआ।

प्रख्यात वृत्त—नाटक के समान डिम मे कथावस्तु, उससे सबधित देश तथा नायक तीनों ही ख्यात होते हैं। नायक मे उन्मत्तता का भाव वर्तमान रहता है। शृगार और हास्य को छोड शेष छ रस इसमे वर्तमान रहते है। शृगार के अभाव के कारण कशिकी वृत्ति को छोड शेष तीनो का प्रयोग होता है। काव्य का इतिवृत्त नाना भावो से सम्पन्न होता है तथा रौद्र रस से दीप्त भी। कथावस्तु के विकास के क्रम मे निर्घात, उल्कापात चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, युद्ध द्वन्द्वयुद्ध, घर्षण तथा उत्तेजना आदि का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त माया इन्द्रजाल और पुस्तविधि का भी प्रचुर योग होता है। डिम नामक रूपक मे देव, भुजगेन्द्र, यक्ष, राक्षस आदि नायक होते हैं।[5] इन नायको की सख्या सोलह होती है। अक चार होते हैं तथा अभिनवगुप्त के

१ भारतेन्दु नाटकावली, परिशिष्ट, पृ० ४२५।

२ दशरूपक ३।७२ ७५, रूपक रहस्य श्यामसुन्दर दास, पृ० १७८।

३ ईहामृगस्तु कार्यं सुसमाहित का यवधरच। १८।८०ख (गा० आ सी०)।

४ डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्याया, तद्योगादय डिम। अन्ये तु ख्यात इति डिम उद्धतनायकास्तेषां भारमनां वृत्तिवर्तेति। अ० भा० भाग २, पृ० ४४३।४।

५ प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव।
षण्मलक्षणयुक्तश्चतुरगो वै डिम कार्यं।

अनुसार चार दिनों की घटनाओं की योजना इसमें होती है।[1]

आचार्यों के मन्तव्य—रामचन्द्र गुणचन्द्र, सागरनन्दिन, शारदातनय, धनंजय, हेमचन्द्र और शिंगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने डिम के विवेचन में भरत का अनुसरण किया है। परन्तु यत्र तत्र विचारों के विस्तार के सन्दर्भ में किंचित् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। आचार्य अभिनवगुप्त और विश्वनाथ की दृष्टि से इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक के प्रयोग का अवकाश नहीं है।[2] परन्तु शारदातनय की दृष्टि से उक्त दोनों का प्रयोग उचित है।[3] रामचन्द्र गुणचन्द्र की दृष्टि से तो डिम में दो ही नहीं, चार रसों का प्रयोग नहीं होता। भरत निरूपित हास्य और शृंगार के अतिरिक्त शान्त और करुण रस का भी निषेध किया गया है।[4] शान्त के करुण हेतुक होने से करुण का निषेध तो स्वयं ही हो जाता है।

डिम के उदाहरण के रूप में नाट्य शास्त्र और दशरूपक में 'त्रिपुरदाह' का उल्लेख है। परन्तु शारदातनय ने तारकोद्धरण और वृत्रोद्धरण तथा सागरनंदी ने भी नरकोद्धरण तथा वृत्रोद्धरण का उल्लेख किया है। काव्यानुशासन में डिम के लिए विद्रोह का भी प्रयोग किया गया है।[5]

भारतेन्दु बाबू ने डिम की बहुत ही संक्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इस रूपक भेद में उपद्रव दर्शन विशेष है। श्यामसुन्दरदास के रूपक रहस्य में दशरूपक के आधार पर परिभाषा प्रस्तुत की गई है जो भरत के नाट्यशास्त्र पर ही आधारित है।[6]

व्यायोग

व्यायोग महत्त्वपूर्ण प्राचीन रूपक भेदों में है। यह डिम के समान और उससे किंचित् भिन्न भी है। भरत की दृष्टि से व्यायोग, यह नाम भी अन्वर्थ है। इसमें बहुत-से पात्रों का एकत्र आकलन होता है।[7] अभिनवगुप्त की दृष्टि से युद्धप्राय इस रूपक भेद में पुरुष पात्र युद्ध का प्रयोग करते हैं, अतएव यह व्यायोग होता है।

व्यायोग का वृत्त और नायक—इसका नायक दिव्य नहीं राजर्षि होता है। परन्तु अभिनवगुप्त राजर्षि को भी नायक मानने के पक्ष में नहीं है। पर प्रख्यात वह अवश्य होता है।

शृंगारहास्यवर्जं शेषैः सर्वैः रसैः समायुक्तः।
दीप्तरसकाव्ययोनिं नानाभावोपसम्पन्नः॥ ना० शा० १८।८४-८८ (गा० ओ० सी०)।

१ तेन दिनचतुष्टय वृत्तमेवात्र प्रयोज्यम्। अ० भा० भाग २, पृ० ४४४।

२ सा० दर्पण ६।२५६, अ० भा० भाग २, पृ० ४४४।

३ भावप्रकाशन, पृ० २४८।

४ शान्तस्य च करुण हेतुकत्वेनोपलक्षत्वात् करुणोऽपि निषिध्यते दुःखप्रकर्षात्मकत्वात्।
नाट्यदर्पण २।२१ तथा उसकी विवृत्ति

५ ना० शा० ४।१० (गा० ओ० सी०) भा० प्र०, पृ० २४- ना० ल० को०, पृ० ११६ हेमचन्द्र काव्यानुशासन, पृ० ३२२।

६ भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४२८ रूपक रहस्य, पृ० १७२ तथा दशरूपक ३ ५७ ५९।

७ बहवश्च तत्र पुरुषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे।
व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यः प्रख्यातनायक शरीरः।
अल्पस्त्रीजन युक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव॥ ना० शा० १८।९०-९२।
तथा – व्यायामे युद्धप्राये नियुद्ध्यन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोग इत्यर्थः।
नियुद्ध बाहु युद्ध संघर्ष शौर्यविद्याकुलरूपादिकृता स्पर्धा॥ अ० भा० भाग २, पृ० ४४५।

है। इस प्रकार शुद्ध प्रहसन विनोद और व्यग्यपूर्ण भी होता है।

प्रहसन मे सामाजिक तत्व—प्रहसन के मूल मे सामाजिकता का भाव भी वर्तमान रहता है। सकीर्ण प्रहसन के अन्तर्गत समाज का वह निम्नस्तरीय वर्ग आता है जो अपने निम्न और नीच कर्मों के लिए समाज म परपरा से प्रसिद्ध है तथा उपहास और परिहास का प्रतीक बने हुए हैं, उनके निम्न आचरण, विकृत अग। चेष्टा और वेशभूषा द्वारा प्रहसन का सृजन होता है। वेश्या, चेट, नपुसक, विट और धूर्त आदि पात्रो की परिगणना इसी सकीर्ण भेद म अन्तर्गत होती है। इसम भी लोकोपचार की प्रधानता होती है। ऐसा ही प्रहसन के भेद हास्य प्रधान होते हैं।[1] प्रहसन के सम्बन्ध म नाट्यदर्पणकार ने भरत के विचार का जिस रूप म विस्तार किया है वह बर्नार्ड शॉ के व्यग्य प्रधान नाटको (फार्स) का निकटवर्ती है, जिसम पाखडियो के छल-छद्म का व्यग्य विनोदपूर्ण उद्घाटन होता है। इस प्रकार प्रहसन व्यग्य विनोद प्रधान रूपक होते हुए भी जीवन म सुधार का सूक्ष्म प्रेरक भी है।[2] भरत ने अक का निर्धारण नहीं किया पर अभिनवगुप्त ने अन्य किसी आचार्य के मत के आधार पर शुद्ध को एकांकी माना है तथा सकीर्ण को अनेकाकी। धनजय और शारदातनय ने इन दो भेदो के अतिरिक्त वैकृत नामक एक तीसरे भेद का उल्लेख किया है। सागरनदी ने दो भेद ही स्वीकार करते हुए मुख और निर्वहण दो सधियो का योग तथा आरभटी वृत्ति का निषेध किया है। शुद्ध प्रहसन का 'शशिविलास' और सकीर्ण का 'भगवदज्जुका' उदाहरण है। प्रहसन म वीथ्यग के योग को लेकर आचार्यों म परस्पर मतभेद है। भरत का अनुसरण करते हुए सब आचार्यों ने वीथ्यग का विधान प्रहसन म किया है परन्तु विश्वनाथ ने उसका निषेध किया है। इन्होंने दो भेदो के दस अगो का उल्लेख विस्तार से किया है।[3]

प्रहसन के दो रूप—प्रहसन के उदाहरण के रूप म दो प्रकार मिलते हैं एक तो स्वतत्र नाट्यग्रथो के रूप म तथा दूसरे नाट्यग्रथो म उपलब्ध विदूषक, विट आदि पात्रो के हास्य सर्जन के रूप म। क्योकि नाटक, प्रकरण और भाण म हास्य का सर्जन प्राय होता ही है। आचार्यों ने लटकमेलक (१२वी सदी), ज्योतिरीश्वर के धूर्त समागम (१५वी सदी) जगदीश्वर के हास्यार्णव, सागर कौमुदी सौरध्रिका, कलिकेलि प्रहसन (भा० प्र०), कदर्प केलि, धूर्तचरितम् तथा नाटकमेलक (सा० द०), भगवदज्जुका[4] आदि प्रहसनो का उल्लेख किया है।

नाट्यदर्पणकार ने प्रहसन का महत्त्व एक और दृष्टि से भी प्रतिपादित किया है कि हास्य प्रदर्शन के द्वारा बालक, स्त्री तथा मूर्खों की रुचि नाटको के प्रति जागृत होती है, जिसम चारो पुरुषार्थों की ओर भी मानव की प्रवृत्ति का उदबोधन होता है। भरत के प्रहसन विधान से उस काल की सामाजिक स्थिति का बडा ही स्पष्ट चित्र सामने उभरता हुआ मालूम पडता है। यही कारण है कि शुद्ध प्रहसन के अतर्गत ब्राह्मण, भागवत्, शक्तापस और शाक्त आदि समाज के

१ ना० शा० १८।१ १ १०६ (गा० ओ० सी०)।

२ प्रहसनेन पाखण्डप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषः न तान् उपसर्पति। नाट्यदर्पण, पृ० १२८ (गा० ओ० सी०)।

३ अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४४६ भावप्रकाशन, पृ० २४७ दशरूपक ३।५४ ५६
नाटक लक्षणरत्नकोष, पृ० १२० १२१
अगी हास्यरसस्तत्र वीथ्यगाना स्थितिर्नवा। सा० द , पृ० ७७६।

४ सस्कृत ड्रामा कीथ, पृष्ठ २६१ ६२।१८१ तथा भगवदज्जुका पृष्ठ १६।

धार्मिक प्रवत्ति के प्रतीक छद्मवेशी पाखडियो के नग्न जीवन के चित्रण का विधान किया है और सकीर्ण मे परपरागत सामाजिक गहणाओ का। प्रहसन मुख्यतया हास्य, विनोद और व्यग्य प्रधान रूपक है पर इसके मूल म सामाजिक दशा के प्रदशन का भाव निहित रहता है। वह विनोदक एव सुधारक भी है।

भारतेन्दु के अनुसार भी यह हास्य रस का खल होता है। इसके नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण आदि होते हैं। इसमे प्राचीन नाटय नियमा के अनुसार एक अक होना चाहिए परतु आधुनिक नियमो के अनुसार दो अक भी हो सकते हैं। उदाहरण के रूप म 'वदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अधेर नगरी' और 'हास्याणव'। श्यामसुन्दरदास ने भी शुद्ध, विकृत और सकर—य तीन भेद स्वीकार किये है। प्रपच, छल और असत् प्रलाप आदि वीथ्यगो का व्यवहार होता है। डॉ० दशरथ ओझा भी उपर्युक्त विचारो और भावनाओ से सहमत हैं।[1]

भाण

भाण के दो रूप—भाण हास्य-अनुरजन प्रधान रूपक है। इसम एक ही पात्र अपने वचन विन्यास तथा आगिक चेष्टा आदि के द्वारा सामाजिको का मनोविनोद करता है। वह एक पात्र की वाणी द्वारा आत्मानुभूति व्यक्त करता है, परतु अप्रविष्ट पात्र के अनुभूत तथ्य को अग विकारो द्वारा अनुभवगम्य बताता है। उसकी शली विलक्षण होती है। क्योकि दूसरो के वचनो को प्रश्न और उत्तर की प्रणाली म आकाश पुरुषा के कथन, अग विकार तथा अन्य प्रकार के अभिनयो द्वारा रगमच पर नाटय रूप म प्रस्तुत करता है। भाण का इतिवत्त मनुष्य-जीवन की नानावस्थाओ से सुसपन्न होता है। पात्र मुख्यत धूत एव विट आदि होते हैं। यह एकाकी और एक नट रूपक होता है। परतु वह एक नट ही कई पात्रो के हृदयो के गूढ रहस्यो, पाखडो, प्रेम की छलनाओ, वैशिक लोक की मायामरीचिकाओ और धूतताओ का साभिनय वणन प्रस्तुत करते हुए हास्य का सजन करता है। इस दृष्टि से भाण के दो रूप होते हैं, एक म आत्मानुभूत का शसन और दूसरे म परस्थ अनुभव का साभिनय वणन होता है। भाण मे वाग व्यापार की प्रधानता होने के कारण भारती वत्ति तो निश्चित रूप से वतमान रहती है।[2]

भाण मे व्यग्य विनोद और शृगार का योग—यह प्रहसन प्रधान है और भारती के अगो म प्रहसन एक अग भी। परन्तु आचार्यों म इस विचार को लेकर मतभेद है कि इसम कैशिकी *वत्ति का प्रयोग होता है या नही। धनजय के अनुसार भारती वृत्ति के अतिरिक्त उसमे वीर* और शृगार का प्रयोग अपेक्षित है तथा दसो लास्याग एव 'मुख तथा 'निवहण' सधियो का योग रहता है।[3] यह एक विलक्षण बात है कि भरत और धनजय ने भाण की प्रहसनता का स्पष्ट उल्लेख नही किया है पर अभिनवगुप्त के अनुसार भाण म 'सविस्मय' की प्रधानता होती है। भाण के अधिकारी मूख होते हैं।[4] सम्भव है भारती वत्ति के उल्लेख मात्र से प्रहसन का उल्लेख

---

१ भारतेन्दु नाटकावली (परिशिष्ट श) ४२६ रूपकरहस्य, पृष्ठ १७१ तथा नाटय समीक्षा पृष्ठ ३०।

२ ना० शा० १८।१०८ ११० (गा० ओ० सी०)।

३ द० रू० ३ ४६ ५१ सूचयेद्वीर शृगारौ।

४ उत्सृष्टिकांक प्रहसनभाणस्तु करुणहास्यविस्मय प्रधानत्वात् रजक रस प्रधाना। ततश्चात्र स्त्रीबाल मूर्खादिरधिकारी। अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४५१।

मानकर भरत ने उल्लेख नहीं किया हो। विश्वनाथ के अनुसार भारती वृत्ति के अतिरिक्त कैशिकी वृत्ति का प्रयोग भाण में अपेक्षित है, क्योंकि विट का वर्णन वेश्याओं की प्रेम-लीला से भी संबंधित अवश्य रहता था।[१] शारदातनय के उद्धरणों के अनुसार कोहल भी भारती वृत्ति और शृंगार के योग का समर्थन करते हैं।[२] नाट्यदर्पणकार ने वीर और शृंगार रसों का समर्थन किया है। और हास्य तो शृंगार का एक प्रकृत अंग है ही।[३]

अन्य आचार्य[४] भाण की लोकानुरंजनकारिता, एक नट, एक अंक तथा धूर्त विट के नायक होने के सम्बन्ध में सहमत हैं। दशरूपक के काल से ही भाण में शृंगार के महत्त्व को आचार्यों ने स्वीकार किया है। उसका कारण है वेश्या आदि के विलास और छल छद्मपूर्ण जीवन का विट या धूर्त आदि के द्वारा अनुरंजनकारी वर्णन। अन्यथा नारी-पात्र की तो स्थिति वहाँ नहीं रहती। इसी बात को दृष्टि में रखकर कैशिकी का विरोध भी किया है। 'पद्मप्राभृतक', 'धूतविट-संवाद', 'उभयाभिसारिका' और 'पदताडितकम्' ये चार भाण बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त वामनभट्ट का शृंगार भूषण, वरदाचार्य का वसंततिलक, रामचन्द्र दीक्षित का शृंगार तिलक और नल्ला कवि का शृंगार सर्वस्व आदि अनेक भाणों का पता चला है।[५] भाण में गीत, वाद्य और नृत्त का भी प्रयोग कालान्तर में होने लगा था, और उसके उस सुकुमार रूप के आधार पर भाणी या भाणिका नामक एक भेद और भी प्रचलित हुआ। सागरनन्दी के अनुसार भाणी या भाणिका में नायिका उदात्त सूक्ष्म नेपथ्य से विभूषित होती है। कैशिकी और भारती वृत्ति प्रधान होती है। भाण का लक्ष्य जहाँ प्रहसन और अनुरंजन है वहाँ समाज के दुर्बल और अश्लील पक्षों का भी चित्रण होता है।[६] यही कारण है कि कालान्तर में रूपक का यह अंग अधिक विकसित नहीं हो सका और न लोकप्रिय ही।

इन आचार्यों की तुलना में भारतेन्दु द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ उतनी स्पष्ट नहीं हैं। भाण एकाकी होता है। 'विषस्य विषमौषधम्' इसका उत्तम उदाहरण है। परिभाषा में भाणान्तर्गत अभिनय क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ दशरूपक की परम्परा में हैं। अतः उसमें वृत्ति, संधि और लास्यांगों के होने का भी उल्लेख है।[७] भाण निश्चित रूप से व्यंग्य विनोद प्रधान रूपक है, जिसमें शृंगार और हास्य की मीठी लहर उठती रहती है।

वीथी

वीथी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूपक है। यह सब रस और लक्षण से सम्पन्न, तेरह अंगों से

---

१ साहित्य दर्पण ६।२५५ और उनकी टीका।

२ भारती वृत्ति भूयिष्ठश्च गारैक रसाश्रयम्।
कोहलादिभिराचार्यैरुक्त भाणस्य लक्षणम्। भा० प्र० २४४ ४६।

३ नाट्यदर्पण पृष्ठ ११२ (द्वि० सं०), गा० ओ० सी०।

४ र० सु०, पृष्ठ २८८ ना० ल० को०, पृष्ठ ११८।

५ शृंगारहाट चतुर्भाणी—वासुदेवशरण अग्रवाल सम्पादित, भूमिका भाग, पृष्ठ ३।

६ भरतकोष, पृ० ४२३ तथा ना० ल० को० पृ० ११८ ११६।

७ भारतेन्दु नाटकावली द्वि० भाग, पृ० ४२४ तथा रूपक रहस्य, पृ० १७०।

समृद्ध होता है। अंक एक होता है और पात्र एक या दो। उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों का योग इसमें होता है। एक पात्र के रहने पर भाण की तरह आकाशभाषित शैली में उत्तर प्रत्युत्तर का ग्रथन होता है और दो पात्रों के रहने पर उक्ति प्रत्युक्ति शैली में नाटकीय कथोपकथन होता है। भरत ने वीथी के उद्घात्यक अवगलित, अवस्यदित, नालिका और असत् प्रलाप आदि तेरह अंगों का उल्लेख किया है। इनमें से कितने भी अंगों का वीथी में प्रयोग हो सकता है।

वीथी का नायक—सब रसों की प्रधानता होने के कारण नायक तीनों प्रकृति के होते है।[1] शंकुक ने अधम प्रकृति के पात्र को नायक के रूप में स्वीकार नहीं किया है। अभिनव गुप्त ने उनके मत का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि अधम होने के कारण ही वह नायक क्यों नहीं होगा।[2] जहाँ हास्य रस आदि की प्रधानता होती है, वहाँ भाण या प्रहसन में अधम ही नायक होता है। नाट्यदर्पणकार ने भी अभिनवगुप्त के विचारों का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि शंकुक की मान्यता स्वीकार कर लेने पर विट के नायक होने की संभावना नहीं रहती।[3]

वीथी का प्रतिपाद्य रस—दशरूपककार के अनुसार वीथी में कैशिकी वृत्ति होती है। शृंगार सूच्य होता है, प्रधान भी। पर अन्य रसों की धारा भी मन्द मन्द तरंगित होती रहती है। दशरूपक के अनुसार ही भावप्रकाशन को वीथी का रसस्पर्शी रूप ही अभिप्रेत है। उनके मत से लास्यांग और वीथ्यंग दोनों का योग वीथी नाट्य में होना चाहिए। शिंगभूपाल ने वीथी की नायिका के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि वह सामान्या हो या परकीया पर वह अनुरागिनी अवश्य हो। वस्तु में वीथी की प्रधानता के कारण कुलपालिका नायिका नहीं हो सकती। सागरनन्दी के अनुसार वीथी में एक या दो नहीं, तीन पात्र हों। उदाहरण के रूप में 'बकुल वीथी' का उल्लेख उन्होंने किया है। भरत द्वारा प्रतिपादित सर्वलक्षणसम्पन्न रसाढ्या वीथी को रामचन्द्र ने 'सर्व स्वामि रसा' कहा है और उसे सब रूपकों का सार माना है। पर शृंगार और हास्य के सूच्य ही होने के कारण कैशिकी वृत्ति हीन भी माना है। धनंजय और शारदातनय इसमें शृंगार की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं।[4]

आचार्यों के मन्तव्य—वीथी के सम्बन्ध में भरत एवं अन्य आचार्यों के मतमतान्तरों के ऊहापोह से हमारे समक्ष दो-तीन महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रकट होते हैं—(क) वीथी भरत की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण रूपक भेद है (ख) यह सब रसा, एक या द्विपात्रहार्य एकांकी रूपक है, (ग) वीथी में वीथ्यंगों के साथ लास्यांगों के प्रयोग के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। भरत मौन हैं। शारदातनय, शिंगभूपाल आदि का सदेह है। भोज की दृष्टि से लास्यांग का भी प्रयोग होना चाहिए। लास्यांग का प्रयोग स्वीकार करने पर यह गीत वाद्य नृत्य प्रधान रूपक भेद हो जाता है भाण की तरह (घ) प्रहसन और भाण में वीथी इस दृष्टि से भिन्न है कि इन दोनों रूपकों के

---

१ ना० शा० १८।१११२ ११३।

२ अ० भा० भाग २, पृ० ४५।

३ ना० द०, पृ० १३३।

४ द० रू० ३।६८-६६, भा० प्र०, पृ० २८१ र० सु०, पृ० २६० ना० ल० को०, पृ० १२१, ना० द०, पृ० १३३।

नायक विदूषक आदि अधम पात्र होते हैं। परन्तु वीथी में उत्तम, मध्यम और अधम तीनों ही नायक हो सकते हैं। (इ) भाण प्रहसन का एकांकी होना अत्यावश्यक नहीं है, पर वीथी एकांकी ही है। उनमें एक-दो रस है, यह सब रसा है। सन्धि की दृष्टि से समानता है, वृत्ति की दृष्टि से विरोध नहीं। वस्तु कल्पित हो और एक या दो पात्रों द्वारा प्रयोग हो इस दृष्टि से ये रूपक भेद वीथी के निकट भी हैं।

कुछ अन्य रूपक

प्रकरणिका—नाटिका की तरह प्रकरणिका का भी उल्लेख कुछ आचार्यों ने रूपक के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप में किया है। नाटयशास्त्र में प्रकरणिका का उल्लेख तो नहीं है परन्तु दशरूपक एवं उसकी अवलोक नामक टीका में प्रकरणिका का खण्डन किया गया है।[1] उससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि प्रकरणिका की परम्परा दशरूपक से पूर्व ही वर्तमान थी। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में नाटिका सम्बन्धी भरत के विधान[2] के आधार पर यह कल्पना की है कि प्रकरणिका का विधान मूलतः नाटयशास्त्र में ही उपलब्ध है।[3] उक्त विधान के अनुसार नाटिका का वस्तु प्रख्यात होता है और प्रकरणिका का अप्रख्यात। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अभिनवगुप्त ने उक्त अंश पर अपनी विवृत्ति नहीं लिखी है। स्वयं अभिनवगुप्त भी प्रकरणिका नामक भेद से परिचित थे। ध्वन्यालोक लोचन[4] तथा अभिनव भारती में[5] प्रकरणिका से अपना परिचय प्रकट किया है। आचार्यों में नाटयदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रूपकों के अन्तर्गत तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उपरूपकों के अन्तर्गत प्रकरणिका का विधिवत् विवेचन किया है। निःसन्देह विष्णुधर्मोत्तरपुराण[6] और वाग्भट्ट का काव्यानुशासन[7] भी प्रकरणिका से अपरिचित नहीं हैं।

प्रकरणिका का स्वरूप—नाटिका के समान प्रकरणिका (प्रकरणी) की भी नाटक एवं प्रकरण के योग से रचना होती है। परन्तु दोनों में यह स्पष्ट अन्तर है कि नाटिका नाटकोन्मुखी होती है प्रकरणिका प्रकरणोन्मुखी। प्रकरणिका के नायक वणिक आदि होते हैं। वेशसम्भोग आदि उन्हीं के अनुरूप होता है। स्त्री-पात्र भी उसी श्रेणी के होते हैं। प्रकरण के समान ही यहाँ दुःखाधिक्य के कारण कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अत्यल्प होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भरत

१ दशरूपक ३।४३।

२ नाटी संज्ञया द्वे काव्ये। एको भेदः प्रख्यातः नाटिकाख्यः।
इतरस्तु अप्रख्यातः प्रकरणिका संज्ञः। सदर्भ—भोजाज शृङ्गार प्रकाश, पृ० ५८६। वी० राघवन्।

३ अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।
प्रख्यास्त्वितरो वा नाटी संज्ञाश्रिते काव्ये। ना० शा० २०।६० ६१ (काशी सं०)।

४ अभिनेयार्थं दशरूपकं नाटिकात्रोटकरासकप्रकरणिकावान्तर प्रपंच सहितम्—अनेक भाषा व्यामिश्र रूपम्, ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १४१।

५ अन्ये तु प्रकरणनाटक भेदात् नाटिकाभिधने—इति प्रकरणिकाऽपि सार्थवाहादिनायकयोगेन कैशिकी प्रधाना लभ्यते इत्याहुः। अ० भा० भाग २ पृ० २४६।

६ एवं (नाटिकावत्) प्रकरणी कार्या चतुरङ्काऽपि सा भवेत्। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३।१७।

७ काव्यानुशासन (वाग्भट्ट) पृ० १८ (का० मा०) एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदित। ना० द० २।८।

किया है।[1] उससे सट्टक की भाषा सम्बन्धी समस्या का कोई समाधान नहीं हो पाता। 'अप्राकृत संस्कृत' प्रयोग के आधार पर विश्वरूप चक्रवर्ती ने यह कल्पना की है कि अपभ्रंश में सट्टक की रचना होती है।[2] शारदातनय सट्टक की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए 'प्रकृष्ट प्राकृतमयी' शब्द का प्रयोग कर भाषा सम्बन्धी सन्देह को दूर करने का प्रयास किया है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि सट्टक की भाषा के सम्बन्ध में अस्पष्टता उस समय विद्यमान थी। एक आचार्य के विचार से राजा द्वारा प्राकृत भाषा के अप्रयोग का विधान है तो दूसरे के विचार से राजा द्वारा मागधी और शौरसेनी भाषा के प्रयोग का। वे सट्टक में प्राकृत भाषा के प्रयोग के समर्थक हैं। सागरनंदी के विचार भी उसी परंपरा में हैं। सट्टक का विभाजन चार अंकों में न कर चार यवनिकांतर शब्द से किया है। यवनिका सट्टक वस्त्र की बनी होती है। अतएव सट्टक यह नाम प्रचलित हो गया हो ऐसी भी कल्पना की जा सकती है।[3]

उपरूपक

उपरूपक का स्वरूप

नाट्यशास्त्र में प्रधान दश (ग्यारह) रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों का किंचित् भी विवरण (प्राप्य) नहीं है। कुछ परवर्ती आचार्यों ने रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों का उल्लेख एवं विवेचन किया है। भारतीय नाट्य तथा नृत्यगीतमिश्रित रागकाव्यों (दृश्य) के प्रयोगात्मक रूपों के विकास एवं इतिहास की दृष्टि से इन रूपकों का बड़ा महत्त्व है। रूपकों के द्वारा प्रेक्षकों के अन्तःकरण में स्थित स्थायी भाव को रस स्थिति में पहुंचा दिया जाता है। उनमें कोई एक रस प्रधान होता है तथा शेष गौण तथा प्रधान का सहायक मात्र होता है। रूपक के द्वारा रस का सम्पूर्णतया आभोग होता है। परन्तु उपरूपक अपेक्षाकृत भाव विशेष को प्रदर्शित करता है। इसमें भावावेश और गीत नृत्य की प्रधानता रहती है। जीवन की संपूर्णता यहाँ अभिव्यक्ति नहीं पाती। कोई एक रमणीय दृश्य खंड गीत नृत्य की पृष्ठभूमि में रागात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। रूपक में कथावस्तु उसके अंग कथोपकथन तथा शील संविधान की पुष्ट एवं संश्लिष्ट योजना होती है। परन्तु उपरूपक में नाट्य के वे सब अंग नितान्त शिथिल होते हैं पर हृदय का कोई मधुर भाव गीत-नृत्य की सहायता से अत्यन्त आकर्षक रूप में प्रस्तुत होता है।

उपरूपकों की परंपरा—उपरूपकों की परंपरा का आरंभ भरत के बाद ही हुआ। संभवतः गीत-नृत्य प्रधान रागात्मक उपरूपकों को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय आचार्य कोहल को ही है। उन्हीं के आधार पर अभिनवगुप्त ने डोम्बिका भाण प्रस्थान, भाणिका, शिद्गक (शिल्पक) रामाक्रीड हल्लीसक और रासक इन आठ प्रकार के नृत्तात्मक रागकाव्यों का उल्लेख एवं संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत किया है।[4] दशरूपक की अवलोक टीका में भाण के समान यथालिखित

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० १६० (गा० ओ० सी०) द्वि० म० का व्यानुशासन हेमचन्द्र, पृ० ३३५
काव्यानुशासन वाग्भट्ट, पृ० १८ (का० मा०)

२ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली भाग ७, पृ० १७१ २।

३ अङ्क स्थानीय विन्यस्त चतुर्यवनिका तरा—भाव प्रकाशन, पृ० २४४ तथा २६६ ना० ल० को० प० ३१६६ ३२०१।

४ तथा तत्र प्रयोगेण रागैश्चापि विवेचितम्।
नाना रस मुनिवाक्यस्थ काव्यमिति स्मृतम् ॥ (कोहल) अ० भा० भाग १, पृ० १८१ ८२।

है। दिव्य और मर्त्य जीवन से सम्बन्धित कथावस्तु की योजना इसमें होती है। विदूषक के कारण यह भी शृंगार प्रधान रूपक है। विक्रमोर्वशीय पाँच अंकों का त्रोटक है।[१] अभिनवगुप्त ने त्रोटक का उल्लेख किया है।[२] शारदातनय द्वारा उद्धृत नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार (?) कोहल की इस परिभाषा के अनुसार त्रोटक सात्त्विक भाव प्रधान है।[३] इस त्रोटक में विदूषक की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। विक्रमोर्वशीय में विदूषक वर्तमान है। अतः यह उसका उदाहरण नहीं माना जा सकता। शारदातनय ने इस संबंध में भी प्राचीन अश्मकुट्ट, मातृगुप्त और बादरायण के मतों का उल्लेख किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अंक में विदूषक तथा दिव्यमानुष पात्रों का संयोग कवि प्रस्तुत करते हैं।[४] पर बहुत से आचार्य विक्रमोर्वशी को त्रोटक का उदाहरण नहीं स्वीकार करते। 'मेनका नहुष' में नौ, '[illegible]' में आठ और 'स्तम्भितरम्भक' में सात अंक हैं और विदूषक भी नहीं है।

(३) गोष्ठी एकांकी कैशिकी-वृत्तियुक्त तथा गर्भ और अवमर्श सन्धि से शून्य होती है। इसमें दस पुरुष और पाँच छः स्त्रियों का पात्र के रूप में प्रयोग होता है। शारदातनय के अनुसार इसमें काम शृंगार के प्रभाव की अधिकता होती है। परन्तु भोज के अनुसार कृष्ण द्वारा असुरों के वधादि का भाव प्रस्तुत किया जाता है।[५] भाव प्रकाशन में भोज के शृंगारप्रकाश में वर्णित परिभाषा के अतिरिक्त अन्य परिभाषाओं का भी उल्लेख है और परस्पर विरोधी हैं। नाट्यदर्पण और काव्यानुशासन की परिभाषाएँ भोज की परिभाषा की परम्परा में हैं। (४) नाट्यरासक — नाट्यरासक लोकप्रिय एकांकी रूपक है। इसमें ताल और लय का प्रयोग प्रचुरता से होता है। नायक उदात्त होता है तथा उपनायक पीठमर्द। इसमें हास्य की प्रधानता तो रहती है पर शृंगार रस की मधुर धारा भी मन्द-मन्द प्रवाहित होती रहती है। नारी वासकसज्जा होती है। मुख और निर्वहण सन्धियों का योग होता है। दसों लास्यांग इसमें वर्तमान रहते हैं।[६] भोज के अनुसार नाट्यरासक नृत्य प्रधान उपरूपक है। इसका प्रयोग नायिकाओं द्वारा होता है। पहले दो नर्तकियाँ प्रवेश करती हैं और रंगमंच पर पुष्पांजलि का विसर्जन करती हुई नृत्य प्रस्तुत कर लौट जाती हैं। पुनः नर्तकियों का दल आता है और नृत्य एवं गीत-वाद्य का क्रम चलता है। वसन्तोत्सव से सम्बन्धित होने के कारण इसे चर्चरी भी कहते हैं।[७] संभव है, नाट्यरासक यह नाम इसीलिए पड़ा कि इस नाट्यरासक में नृत्य की अपेक्षा कथावस्तु का ग्रथन तथा अभिनय का प्रयोग विशेष होने लगा। नृत्य की अपेक्षा नाट्य की मात्रा इसमें अधिक है अतः यह नाट्यरासक के रूप में विकसित हुआ और नाटकादि की तरह सामाजिक को सश्लिष्ट रसास्वादन कराने में समर्थ है।

---

१ साहित्य दर्पण ३।२८७।

२ अ० भा०, भाग १।

३ तद्वच्छ्रोटकं भेदो नाटकस्येति कोहलः। भावप्रकाशन, पृ० २४८ तथा द टेक्स्ट्स कोटेड इन अभिनव भारती, वी० राघवन—द जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास–६।२०४-७।

४ सा० द० ६।२८३ ना० ल० को०, पृ० १२६ भा० प्र०, पृ० २५६ नाट्यदर्पण पृ० २१४ काव्यानुशासन हेमचन्द्र, पृ० ४४६।

५ आहाश्मकुट्टः—दिव्यमानुषसंयोगोऽप्यङ्केऽङ्के विदूषकः। ना० ल० को०, पृ० ११४-११५।

६ सा० द० ६।२८८ ना० द०, पृ० १६३-६४ भा० प्र० २६४-५।

७ भोज शृंगारप्रकाश भाग २, पृ० ४२५-६ अ० भा० भाग १, पृ० १८१।

समाज के सब वर्गों में इन नाट्य रासकों के द्वारा भक्ति और शृंगार का भाव प्रवाहित हुआ।[1]

(५) रासक—रासक एकाकी उपरूपक है। पात्र पाँच होते हैं। भारती और कैशिकी वृत्तियों का प्रयोग होता है। भाषाएँ विभिन्न होती हैं। सूत्रधार नहीं होता। वीथ्यंग, नृत्य एवं गीतकलाओं का प्रयोग होता है। नायिका ख्यात होती है और नायक मूर्ख। उत्तरोत्तर उदात्त भावों का प्रकाशन होता चला है। परन्तु यह मुख्यतया नृत्य प्रधान रूपक होकर भावप्रदर्शन का कार्य संपन्न करता रहा है।[2] 'मनकाहित' इसका उदाहरण है। भोज ने रासक का विशेष विवरण दिया है। उनके अनुसार रासक और हल्लीस में बहुत समता है। हल्लीसक में एक कृष्ण के चारों ओर अनेक गोपिकाएँ रास नृत्य रचती हैं। परन्तु रासक में प्रत्येक गोपिका के साथ कृष्ण रास नृत्य रचते हैं। रास में स्त्री पुरुष अथवा केवल स्त्री के सरस भावपूर्ण नृत्य की प्रधानता है।[3] इसमें नर्तक्रिया की ही प्रधानता रहती है। भोज के मत के संदर्भ में ही अभिनव गुप्त का भी मत विचारणीय है। उन्होंने रासक को अनेक नर्तकी-योज्य माना है।[4] रासक मसृण और उद्धत भी होता है परन्तु यह नृत्य प्रधान और भाव प्रवण होता है।[5]

(६) प्रस्थान—यह नाम ही अभिनवगुप्त एवं भोज की दृष्टि से अन्वर्थ है, क्योंकि इसमें प्रियतम के प्रवासगमन का भाव अनुबद्ध रहता है। इसमें प्रवास विप्रलंभ का भाव रहता है। प्रथमानुराग और शृंगार की स्थितियाँ भी प्रस्तुत की जाती हैं। इसमें दो अंक होते हैं। दास नायक होता है और विट उपनायक। दासी नायिका होती है। धनिक के अनुसार प्रस्थानक एक नृत्य-रूपक है। इसमें वीररस का भी अंत में प्रयोग होता है। अतः यह सुकुमार और उद्धत भी होता है। शारदातनय के अनुसार शृंगारतिलक इसका उदाहरण है।[6] (७) उल्लाप्य—उल्लाप्य एकांकी अथवा तीन अंकों का उपरूपक है। इसका नायक उदात्त और वस्तु दिव्य होता है। इसमें हास्य शृंगार और करुण रसों का समन्वय होता है। यवनिका के भीतर से ही कथावस्तु के अनुरूप मनोहर गीत की योजना होती रहती है। शिल्पक के २७ अंगों तथा अवमर्श संधि को छोड़ अन्य संधियों का यहाँ प्रयोग होता है। शारदातनय के अनुसार 'देवी महादेव' और 'उदात्त कुंजर' इसके उदाहरण हैं।[7] (८) काव्य—अभिनवगुप्त के मतानुसार यह राग काव्य है। गीत नृत्य प्रधान उपरूपक है यह। आरंभ से अंत तक एक पात्र द्वारा एक कथा का शृंखलाबद्ध ग्रथन इसमें होता है। काव्य का गायन एक राग में होता है, लय और ताल भी अपरिवर्तित रहते हैं। फलतः रस भी प्रायः एक ही रहता है। राग-काव्य की यह परिभाषा भोज के 'विशुद्ध काव्य' की

१ नाट्य समीक्षा, पृ० ३५ ३६ (दशरथ ओझा)।

२ सा० द० ६।२६०, ना० ल० को० पृ० १३१, द० रू० १।८ पर अवलोक।

३ तदिद हल्लीसकमेव तालबंधविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते। सरस्वती कंठाभरण, पृ० २६४।

४ अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्ठि युगलाद् रासकं मसृणोद्धतम्। अ० भा० भाग १, पृ० १८१।

५ नाट्य समीक्षा पृ० ३४ (डॉ० दशरथ ओझा)।

६ सा० द० ६।२८६, ना० ल० को० पृ० १३१ दशरूपक पर धनिक की टीका १।८ भोज शृंगार प्रकाश पृ० ५४३।
गजाग्नीनां गति तुल्यां कृत्वा प्रवसनं तथा।
अल्पाविद्धं सुमसृणं तत्प्रस्थानं प्रचक्षते। अ० भा० भाग १, पृ० १८३।

७ सा० द० ६।२८७, भा० प्र०, पृ० २६६।

परिभाषा का निकटवर्ती है। बाहल और भोज के अनुसार जिसम राग और काव्य परिवर्तित होता रहता है वह 'चित्रकाव्य' होता है। गीतगोविन्द इसी तरह का चित्रकाव्य है। दन्तकथा के अनुसार गीतगोविन्द को जयदेव की पत्नी ने स्वय अभिनय के माध्यम स प्रस्तुत किया था। भागवता की भजन परपरा म उसे अभी भी अभिनय रूप म प्रस्तुत किया जाता है। अभिनवगुप्त न अभिनीयमान राग काव्य के दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—मारीचवध और राघवविजय। दोनों ही रामकथा पर आधारित हैं। मारीचवध म ककुभ और राघवविजय म ठक्कराग का प्रयोग होता है। आरभटी वत्ति को छोड शेष वृत्तियाँ तथा गभ और अवमश को छोड शेष सधियों का यहाँ प्रयोग होता है। खण्डमात्रा द्विपादिका और भग्नताल आदि गीतो से यह अलकृत रहता है। भावप्रकाशन के अनुसार 'गौड विजय' और 'सुग्रीव केलन' इसके उदाहरण हैं।[1]

(९) श्रीगदित—श्रीगदित यह नाम भी अन्वथ है। श्री के समान ही विरहिनी नायिका अपने नारायण से प्रियतम की प्रशसा करती है। इसम प्रशसा निन्दा और आक्रोश का समन्वय होता है। भोज का श्रीगदित और अभिनवगुप्त (कोहल आदि का) के पिन्गक एक-दूसरे के निकटवर्ती हैं। श्रीगदित म भी विरहिनी नायिका अपने पति के प्रति आक्रोश प्रकट करती है। भावप्रकाशन क अनुसार इसका उदाहरण 'रामानन्द' है। विश्वनाथ के मत स यह एकाकी रूपक है। नायक नायिका और वस्तु प्रख्यात होते हैं। गभ विमश सधियो को छोड शेष सधियो का प्रयोग होता है। भारती वत्ति की बहुलता होती है। सागरनदी के मत से विरहिनी नायिका करुण भाव स यहाँ गायन करती है।[2]

(१०) सलापक—स (स) ल्लापक तीन या चार अको का उपरूपक है। नायक पाखडी होता है। कथावस्तु ख्यात, उत्पाद्य अथवा मिश्र भी होती है। कभी-कभी श्रृगार और हास्य रसो का प्रयोग नही भी हाता है। विश्वनाथ क अनुसार करुण भी नही होता। फलत कैशिकी और भारती वत्तियो का प्रयोग नहा होता। परन्तु नगर-अवरोध, सग्राम तथा प्रवचना आदि उपद्रवो क प्रयोग के कारण अन्य दोना वत्तियाँ हाती हैं। प्रतिमुख का छाड शेष चारा सधियो का भी प्रयोग होता है।[3] (११) शिल्पक—शिल्पक चार अक और चार वत्तिया वाला उपरूपक है। नत्य आदि शिल्प की प्रधानता होती है। इसम हास्य रस नही होता पर सागरनन्दी के अनुसार यह 'सवरस पूजित' होता है। नायक ब्राह्मण और उपनायक अनुदात्त प्रकृति का होता है। श्मशान *आदि के वणन की प्रधानता होती है। उत्कण्ठा, सशय तक, ताप, उद्वेग, आलस्य अनुकम्पा और* आनन्द आदि २७ अगा का भी प्रयोग इसम होता है।[4] (१२) डोम्बी—डोम्बी एकाकी उपरूपक है। इसम नायिका उदात्त होती है। नायिका के प्रति नायक (राजा) की छल-अनुरागपूर्ण मनोभावना की कोमल अभिव्यजना होती है। अतएव कशिकी और भारती वत्तियो का प्रयोग

१ लयान्तरप्रयोगेन रागैश्चापि विवेचितम्।
नानारस सुनिर्वाह्यकथ का यमिति स्मृतम्। भा० मा भाग १, पृ० १८२ सा० द० ६।२८८
द० रू० १।८ धनिक की टीका भा० प्र० पृ० २६२ ३ भोजाज श्रृगारप्रकाश वी० राघवन, पृ ५४६।
२ भोजाज श्रृगार प्रकाश पृ० ५४६ अ० भा० भाग १, पृ० १८१ सा० द० ६।२९२, यत्र स्त्री करुणमासीना पठति। ना० ल० को०, पृ० १३१ भा० प्र०, पृ० २५८।
३ भा० प्र० पृ०, २५६ सा० द० ६ २६१।
४ भा० प्र०, पृ० २५७ वही ६।२६३ ना० ल० को०, पृ० १२६ द० रू० १।८ धनिक की टीका।

होना है। दसा लास्यागो का इसम सन्निवेश होता है। 'कामदत्ता' इसका उदाहरण है।[1] (१३) प्रक्षणक—एक विलक्षण उपरूपक है। इसके द्वारा कामदहन' जसी कथाओ को ललित और लयान्वित नत्त क माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। यह उत्तर भारत मे प्रचलित होलिको त्सव की परम्परा का है। भावप्रकाशन म प्राप्त परिभाषा तो अस्पष्ट सी है, उसम नतक की परिभाषा दी गई है। इसम सूत्रधार, विष्कभक और प्रवेशक नहीं होत। नायक उत्तम और मध्यम भी होते हैं। नान्दी और प्ररोचना का प्रयोग नेपथ्य से होता है। द्वन्द्व-युद्ध का भी प्रयाग होता है। विपत्ति और अनुचिन्ता की प्रबलता होती है।[2] 'वालि वध' इसका उदाहरण है।

(१४) दुर्मल्लिका—दुर्मल्लिका म चार अक होते हैं। प्रथम अक की तीन नाडिका म विट अपनी क्रीडा प्रस्तुत करता है। पाँच नाडिका के द्वितीय अक म विदूषक हास्य का सृजन करता है। छ नाडिका के तृतीय अक मे पीठमद और दस नाडिका के अन्तिम चतुथ अक म नायक का नाटय होता है। कशिकी और भारती वत्तिया तथा गभ सधि को छोड शेष सधियो का प्रयाग होता है। भोज के अनुसार दूती चौयरति तथा युवा और युवती के अनुराग रहस्य को प्रकट करती है। शारदातनय की परिभाषा भोज स प्रभावित है। अभिनव भारती म कोई परि भाषा उपलब्ध नही है। नाटयदपण ने इसे दुर्मिलित शब्द स अभिहित किया है।[3] विन्दुमती इसका उदाहरण है। (१५) विलासिका—विलासिका शृगार बहुल, एकाकी और दसो लास्यागो से युक्त होती है। पात्र के रूप म विदूषक, विट तथा पीठमद का इसम प्रयाग होता ह। पर नायक नही होता। गभ विमश सन्धियो को छाड शेष सन्धियो का प्रयाग होता है। वस्तु-वत्त स्वल्प और नेपथ्य सुन्दर होता है।[4] अभिनव भारती मे इसका उल्लेख नही है।

(१६) हल्लीश—हल्लीश नत्य प्रधान उपरूपक है गीत का भी किंचित् प्रयोग होता है। यह नत्य मडलाकार होता है, मध्य म कृष्ण के समान नायक को चारो ओर से घेरकर गोपिका-सी नतकियाँ नाचती और गाती रहती हैं। अभिनवगुप्त और भाज की परिभाषाएँ एक दूसरे की अनुवर्ती ह। हल्लीश और सस्कृत नाटय का रासक' गुजरात के गर्बा नत्य का समा नान्तर नत्य रूपक है। दोना आचार्यों की परिभाषाओ म इसकी नत्यरूपकता पर प्रकाश पडता है। पर इसमे किस प्रकार की सगीत रचना होती ह यह स्पष्ट नही है। यह एकाकी रूपक है। सात-आठ स्त्रियाँ पात्र के रूप म नत्य करती हैं। पुरुष पात्र एक ही होता है और वह शौरसेनी का प्रयोग करता है। मुख और निवहण सन्धियो का प्रयोग होता है। भावप्रकाशन के अनुसार वह खण्ड-ताल लयान्वित होता है। इसम ललित और दक्षिण आदि पाँच नायक तक होते हैं। केलिरैवत' इसका उदाहरण है।[5]

---

१ भा० प्र०, पृ० २४७ ४८ अ० भा० भाग १, पृ० १८३।

२ भा० प्र , पृ० २६४ सा द०, पृ० ६।२८६ ना० ल० को०, पृ० १३३। रथ्या समाजचत्वर सुरालयादौ प्रवत्यते बहुभि । पात्रविशेषै यत्, तत् प्रेक्षणक कामदहनादि। ना० द०, पृ० १६१।

३ ना० ल० को०, पृ० १३२ ३३, ना० द०, पृ० १९१ (गा० ओ० सी० द्वि० स०), सा० द० ६।२६३। भा० प्र० २६७।

४ सा० द० ६ २६४।

५ मण्डलनतुयन्नृत्य (स्त्रीणां) हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्यात् गोपस्त्रीणा यथा हरि ॥
अ० भा० भाग १, पृ० १८१, भोजाज शृगार प्रकाश, पृ० ५५५, भा० प्र०, पृ० २६७।

(१७) भाण—भाण का विवरण अभिनवगुप्त, भोज, शारदातनय, सागरनन्दी तथा विश्वनाथ ने भी प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भाण में नर्तकी नृसिंहावतार और वामावतार की वर्णना का प्रयोग करती है। अतः यह उद्धनाग प्रवर्तित होता है। भोज के अनुसार यह गीत नृत्य प्रधान है, परन्तु मध्य में गायक कुछ गद्यांश भी जोड़ता चलता है। इसमें उद्धत, ललित और ललितोद्धत नृत्य का प्रयोग होता है। भाण में कठिन-से-कठिन अभिनय-वस्तु का भी प्रयोग होता है। भाण के मूल में हरि, हर, सूर्य, भवानी और स्कन्द की अभ्यर्थना का भाव रहता है। उद्धत करणप्राय तथा स्त्री रहित होता है। परन्तु सुकुमार प्रयोग होने पर यही भाणिका के रूप में परिवर्तित होता है, और इसमें स्त्री पात्रों का प्रयोग होता है।[१]

(१८) भाणिका—भाणिका एकांकी नृत्य रूपक है। इसका विकास भी भाण नामक दशरूपक भेद के आधार पर हुआ है। इसमें वस्तु विन्यास की सुन्दरता तथा ललित करणों का प्रयोग होता है। उछल-कूद जैसे उद्धत करणों का यहाँ प्रयोग नहीं होता। यह स्त्री प्रयोज्य ता होती ही है गाथा का गायन भी उन्हीं के द्वारा होता है। गायन के मध्य में सम्यजनों के उत्साह के लिए भाण की तरह ही विविध वचनों का उपन्यास भी होता चलता है। शृंगार प्रधान होने के कारण कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है तथा वचन विन्यास के कारण भारती वृत्ति का भी। नायिका उदात्त होती है, नायक मंद श्रेणी का। भावप्रकाशन के अनुसार उपन्यास, विन्यास विबोध आदि सात अंगों का यहाँ भी प्रयोग होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भाणिका में भी कृष्ण के बाल-जीवन नृसिंहावतार और वराहावतार की कथाएँ अनुबद्ध रहती है। सागरनन्दी के अनुसार भाणी में शृंगार की प्रधानता रहती है। दसों लास्यांग होते हैं। 'वीणावती' इसका उदाहरण है। यह एकांकी, विट, विदूषक और पीठमर्द उपशोभित होती है।[२]

दशरूपक और उपरूपक का भाण

नृत्य रूपक भाण में गीत नृत्य के अतिरिक्त गद्यात्मक वचनविन्यास भी रहता है। यहाँ हरिहर तथा कार्तिकेय आदि देवताओं को लक्ष्य कर लयान्वित स्तुति की जाती है। दशरूपक का भेद 'भाण' तो शृंगार प्रधान, व्यंग्य विनोदपूर्ण रूपक है जिसमें विट आदि धूर्त पात्र होते हैं तथा इसमें गीत नृत्य की रचना न होकर वेश्या और उसके प्रेमियों की कथा अनुबद्ध होती है।

(१९) मल्लिका—उपर्युक्त रूपकों के अतिरिक्त मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक शम्या द्विपदी, छलिक और नर्तनक आदि उपरूपकों का भी आचार्यों ने उल्लेख किया है। *मल्लिका शृंगार प्रधान तथा कैशिकी वृत्तियुक्त रूपक है।* अंक एक या दो होते हैं विदूषक और विट इसमें वर्तमान रहते हैं। 'मणिकुल्या' इसका उदाहरण है। कल्पवल्ली में हास्य और शृंगार रस का योग रहता है। नायक उदात्त, उपनायक पीठमर्द होता है। वासकसज्जा अभिसारिका नायिका होती है। तीन लय और दसों लास्य इसमें होते हैं तथा मुख प्रतिमुख एवं निर्वहण सन्धियाँ वर्तमान रहती हैं। माणिक्य वल्लिका' इसका उदाहरण है। पारिजातक लता' एकांकी, मुख निर्वहण सन्धियुक्त होती है। इसमें वीर एवं शृंगार रसों की प्रधानता रहती है। विदूषक की क्रीडा और परिहास से यह मनोहर होती है। गंगातरंगिका इसका उदाहरण है।[३]

१ अ० भा० भाग १, पृ० १८१ भा० प्र०, पृ० २५८ ६० ।

२ अ० भा० भाग १, पृ० १८१ भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० ५५३ ५४ ना० ल० को०, पृ० १३१ ३२ सा० द० ६।२६६ । ३ भा० प्र०, पृ० २६७-८ ।

(२०)शम्या—शम्या शब्द का प्रयोग स्वय भरत ने किया है। तालसहित (बाएँ) सत्य, हस्त और पाद का सचालन 'शम्या' के नाम से अभिहित होता है।[१] शम्या शब्द का प्रयोग समय-सकेतक छोटी यष्टि के लिए भी होता है। वाल्मीकि रामायण म नत्य प्रयोग-काल म समय का निर्धारण करने वाले व्यक्तियो के लिए 'शम्या' का प्रयोग हुआ है।[२] सम्भव है यह इस प्रकार के 'नृत्य रूपक का सकेतक है जिसम रगीन यष्टियो के प्रहार के द्वारा लयताल का सूचक प्रहार होता हो।

(२१) द्विपदी—द्विपदी का उल्लेख भामह ने भी किया ह।[3] द्विपदी गीत और गति लय का बोधक शब्द है। द्विपदी गीत के आधार पर ही सम्भवत द्विपदी नत्य भी प्रचलित हो सका। ऐसी परम्परा रही है। कन्नड के प्राचीन नाटक 'यक्षगान' का नाम तदन्तगत सगीत के आधार पर ही है। द्विपदी शब्द का प्रयोग गति विधान के लिए भी होता है। गति प्रचार पात्र की मानसिक अवस्था के अनुरूप होता है। तीव्र या मन्द गति द्वारा रस विशेष का सकेत होता है। मालती माधव के टीकाकार जगद्धर के अनुसार द्विपदिका का प्रयोग करुण, विप्रलम्भ, चिन्ता और व्याधि मे होता है।[४] इस प्रकार लय, सगीत और गीत से नत्य तक द्विपदी का प्रयोग होता है। सगीत रत्नाकर मे द्विपदी का उल्लेख गीत रचना के रूप म किया गया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार द्विपदी आदि छन्द भेद हैं। अस्तु द्विपदी का सम्बन्ध गीत और नत्य से है और यह भी गीत नृत्य प्रधान उपरूपक था। (२२) छलिक—छलिक तो शृगार वीर प्रधान उपरूपक होता है। इसमे ताण्डव और लास्य दोनो का योग होता है। हरिवश मे छालिक्य नृत्य की विस्तत कथा मिलती है जिसके अनुसार बलराम रेवती और कृष्ण रुक्मिणी तथा अन्य युवा-युवतियो ने नत्य-गीत वाद्य का समन्वित रूप प्रस्तुत किया। इसमे नारद ने वीणा, कृष्ण ने वशी और अजुन ने हल्लीसक बजाया था। अप्सराओ ने मदग बजाये। छलिक का उल्लेख कालिदास ने भी किया है, जिसम गीत-नत्य का सम्मिलित प्रयोग हुआ है। प्रद्युम्न प्रभावती विवाह के प्रसग म रामायण के अभिनय का उल्लेख है। (वारागनाओ) ने देव-गाधार छलिक का गान किया, तदनन्तर नादी का प्रयोग हुआ। इससे यह सूचित होता है कि छलिक पूवरग का अग था और इसमे गीत नत्य की प्रधानता रहती थी।[५]

उपसहार

रूपक के भेदो के विकास मे नाटक-प्रकरण का महत्त्व

पिछले पष्ठो म रूपको और उपरूपको का विवेचन तथा आचार्यों के मतमतान्तरों का दिग्दशन किया गया है। दस (बारह) रूपकों और बाइस उपरूपको की परिगणना से हमारे

---

१ ना० शा० ३१।३८ ३६ (का० स०)।

२ वा रामायण अ० ६१ ४८। शम्या स्त्री युगकीलक, अमरकोष २।१४ शम्या तु मत्स्योपान सततलकरपादयो। ना शा० ३१।१२ १४।

३ भामह काव्यालकार।

४ मालती माधव जगद्धर की टीका, ना० द०, पृ० १६१।

५ ततस्तु देवगांधार छालिक्य श्रवणामृत। भैमरित्रय प्रजगिरे मन श्रोत्रसुखावहम् ॥
हरिवश, विष्णुपर्व, अध्याय ८८ ८६, ६३ (चित्रशाला प्रेस), मालविकाग्निमित्र, अक १।

समक्ष कई महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। भास से पूर्व ही रूपक के विविध रूपों की रचना आरंभ हो गई थी क्योंकि स्वयं भास ने एकांकी, डिम, समवकार, व्यायोग आदि रूपकों की रचना की। रूपकों के अन्तर्गत भी कई भेद हैं, जिनके उदाहरण स्वतन्त्र रूप में नहीं मिलते और उनके आंतरिक संगठन देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि उन सबको सर्वलक्षणसंपन्न नाटक से प्रेरणा मिलती रही है। संभव है, नाटक की रचना ही सबसे पहले आरंभ हुई हो, यद्यपि मनमोहन घोष एकांकी को सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं।[1] कालान्तर में कुछ-कुछ विशेषताओं को लेकर नाटक, प्रकरण और व्यायोग, आदि का विकास हुआ। उदाहरण के रूप में नाटिका और प्रकरणी दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि नाटक के समान नाटिका का नेता राजा होता है और प्रकरणी का नेता प्रकरण के समान सार्थवाह आदि। इन दोनों ने पूर्ण लक्षण रूपकों में भेद विस्तार में योग दिया।

विशुद्ध नाटय की गणना रूपक के रूप में—संभव है ये उपरूपक के भेद भरत के समय भी प्रचलित हों और भरत ने जान-बूझकर ही उनकी पृथक् परिगणना या रूपकों में अन्तर्भाव नहीं किया क्योंकि दशरूपक के टीकाकार धनंजय तथा अभिनवगुप्त के मत से वे तो गीत-नृत्य प्रधान रूपक थे नाट्य प्रधान नहीं।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने तो इन उपरूपकों को गेय श्रेणी में ही रखा हो। कोहल ने एक और भी विभाजन-मार्ग और देशी के नाम से प्रस्तुत किया।[3] उस विभाजन के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल से ही रूपकों की साहित्यिक और लोक-परंपराएँ प्रचलित थीं। साहित्यिक परंपरा के नाटय 'रूपक' के रूप में समृद्ध हुए और लोकपरंपरा के गीत नृत्य प्रधान उपरूपक के रूप में विख्यात हुए।

रूपकों पर अभिजात्य संस्कार और कला का प्रभाव—*रूपकों पर अभिजात्य संस्कार और कला का प्रभाव है। वे परिष्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा कलादृष्टि से परिपूर्ण हैं।* पर जिनमें आभिजात्य संस्कार नहीं पनप सके और कला की दृष्टि से परिपूर्ण नहीं थे वे देशी बने रहे। इनके द्वारा कुछ गीत नृत्तों या नृत्यों का प्रयोग करके मनोरंजन करने का हलका-सा प्रयास भर होता था। रूपकों के ही भेदों—नाटक और प्रकरण में सुख दुःखात्मक जीवन की जैसी मनोमुग्धकारिणी संवेदना सौन्दर्य की जैसी सजीव सृष्टि और जीवन के ओज और उदात्तता का जैसा प्रतिफलन होता है, वह अन्य रूपकों में नहीं। भावों की विराटता, विचारों की समृद्धि, आनन्द और हास्य का वैसा समन्वित प्रभाव अन्य रूपकों या उपरूपकों में कहाँ है? वे प्रायः एकांगी हैं। किन्हीं में रौद्र या वीर की प्रधानता है तो किन्हीं में शृंगार या हास्य की। अतः भेद की परंपरा का आरंभ *संभव है, भरत से पूर्व ही हुआ हो और भास के काल तक तो वह बहुत स्पष्ट हो चुका था।*

भेदों के मूल में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण—रूपकों में जो परस्पर भेद है वह केवल स्वरूप शैली और विषय की भिन्नता को ही लेकर नहीं। वस्तुतः हमें इस प्रश्न पर थोड़ा और गहराई से विचार करना चाहिए। रूपकों के भेदों में उस युग की सामाजिक मनोदशा का बड़ा स्पष्ट संकेत मिलता है। वे हमारी तत्कालीन सामाजिक और मानसिक स्थितियों के

---

१ कन्ट्रीब्यूशन टु दी हिस्ट्री ऑफ हिन्दू ड्रामा, पृ० ६।

२ द० रू० १।८ पर अवलोक टीका अ० भा० भाग १, पृ० ६ (भूमिका रा० कृ० कवि) अ० को०, पृ० ८१७, ८६७।

३ का० अनु०, पृ० ४११।

बोलते प्रतिरूप (रेकार्डेड) हैं। नाटक प्रकरण की सी मान्यता भाण प्रहसन को कभी प्राप्त नहीं हुई। स्वयं नाटक जैसी मान्यता प्रकरण को भी नहीं मिली। भारतीय समाज में उच्चवर्ग को जो आदर और सम्मान प्राप्त था, उस सभ्रान्तता और सुरुचि का अधिकार कला के इन क्षेत्रों पर असाधारण था, जबकि रूपक के अन्य रूप जन समाज के जीवन की प्रतिछाया के बोलते प्रतिरूप थे। अतः रूपकों के विभाजन के मूल में जीवन की नाना परिस्थितियों, मनोवृत्तियों तथा उच्च सामाजिक स्तरों का भी महत्व है। जीवन की इस विविधता और भिन्नता ने ही तो रूपकों के भेदों में रस शैली और स्वरूप की दृष्टि में उनमें पृथकता का आधार प्रस्तुत किया है। इस व्यापक विचार भूमि में वस्तु के सुनियोजन, यथावसर चमत्कारपूर्ण कल्पना का योग कहीं गीत वाद्य की प्रमुखता कहीं जीवन रस की मसृणता या दीप्तता कहीं राम की उदात्तता, भीम की उद्धतता कहीं उदयन की धीरललितता और कहीं नागानन्द की धीरप्रशान्तता के दर्शन होते हैं।

रूपकों के भेद आर्यों की चिंतन समृद्धि के प्रतीक—रूपक और उपरूपकों के प्राप्त भेदों का शास्त्रीय विवेचन कई और भी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। आर्यों की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं की सृजन क्षमता कैसी थी इसका भी परिचय हमें प्राप्त होता है। मौलिक नाट्य रचयिता नाट्य प्रधान और गीत नृत्य प्रधान रूपकों की सृजना कर रहे थे। दूसरी ओर विवेचक उनकी गहन मीमांसा करके उनके सामान्य और विशेष नाट्यतत्वों का गहन अध्ययन कर तर्क सम्मत विभाजन और वर्गीकरण कर रहे थे। उस काल के भारतीय आन्तरिक और बाह्य संघर्षों में भी कला और चिन्तन की जैसी उत्कृष्ट और मूल्यवान् सजीव सृष्टि दे गए वह साधारण उपलब्धि नहीं है।[1]

भेदों का आधार भरत की विचारधारा—भरत ने रूपकों का जो विकल्पन और वर्गीकरण किया वह परवर्ती सब आचार्यों के लिए आधार बना रहा। विभाजन का कोई नया आधार किसी भी आचार्य ने नहीं प्रस्तुत किया। कोहल का मार्ग और देशी या सुबन्धु का भास्वर और ललित आदि भेद लोकप्रिय नहीं हो सके। पुनश्च, जिन कुछ नवीन भेदों की परिकल्पना भी की गई उनका भी आधार भरत की ही विवेचन प्रणाली थी। प्रायः जितने भी आचार्य थे उन्होंने रूपकों के भेद विस्तार का भी खंडन किया। परन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि ऐसे मनीषी थे जिन्होंने नवीन भेदों को प्रश्रय दिया क्योंकि नाटिका या प्रकरणिका आदि में भी अपार शक्ति और सौंदर्य का उन्मेष था। पर इस प्रकार की शास्त्रीय विवेचना का शिलान्यास भरत ने ही किया उसी पर शास्त्रीय परंपरा का विकास हुआ।

---

१ ड्रामेटिक सिस्टम ऑफ दि हिन्दूज, विल्सन, थियेटर ऑफ दि हिन्दूज सङ्कलित, पृ० १७ १८।

२

इतिवृत्त-विधान

नाट्य शरीर की अनेकरूपता

इतिवृत्त, नेता और रस—नाटय के तीन प्रधान तत्त्व हैं। इतिवृत्त नाटय का शरीर है और रस उसकी आत्मा। नाटय के आत्मा रूप रस और चरित्र का स्वरूप इसी इतिवृत्त की क्रियात्मकता म उदित होता है। यह नाटय शरीर वागात्मक होता है। मानव शरीर की रचना म अस्थि सधियो के समान नाटय के शरीर रूप इतिवृत्त की रचना म भी पच सधियो का महत्त्व असाधारण है। नाटय के इतिवृत्त की दो शाखाएँ हैं—आधिकारिक और प्रासगिक।

आधिकारिक इतिवृत्त फलो मुख होता है। ज्ञान इच्छा और क्रिया आदि के द्वारा जिस काय व्यापार का अवसान फल प्राप्ति के रूप म होता है, वही आधिकारिक होता है क्योंकि इस वत्त का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नेता (नायक) से होता है। समस्त काय व्यापार का फल भोक्ता वही होता है। इसीलिए यह वत्त आधिकारिक होता है। आधिकारिक वत्त के अतिरिक्त अन्य वत्त आनुषगिक होते हैं, ये उसके उपकारक होते हैं फलाभिमुख होने म सहायता देते हैं। रामकथा म सीता प्रत्यावर्तन की कथा आधिकारिक और सुग्रीव का प्रयत्न प्रासगिक है।[1]

वस्तुत कोई भी इतिवृत्त नाट्य म मूलत न तो आधिकारिक होता है न प्रासगिक ही। उस यह द्वित्व रूप तो कवि-कल्पना द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु कवि भी इसके लिए नितान्त स्वतत्र नहीं है कि इच्छानुसार आधिकारिक और प्रासगिक इतिवृत्तो की कल्पना करे। फलोत्कर्ष की कल्पना औचित्यपूर्वक होनी है। धीरललित या धीरोदात्त प्रकृति के नेताओं के लिए जैसा साध्य या फल उचित होगा उसी के उत्कर्ष का निबधन उचित है। पुनश्च, प्रासगिक कथा की योजना सर्वत्र आवश्यक भी नहीं है। फलसिद्धि म नेता यदि सहायता की अपेक्षा करता है तब प्रासगिक इतिवृत्त की योजना होती है।[2]

यह प्रासगिक इतिवृत्त विस्तार की दृष्टि दो अचलो म फल जाती है—पताका और प्रकरी।

---

१ ना० शा० १६।२५ द रू० १।१२ सा० द० ६।४३ ना० द० १।१०, पृ० २७ (द्वि० स) ना० ल० को०, पृ० २२४, भा० प्र० २०१, र० सु० ३ १६।

२ कवियत्फलमुत्कर्षेण विवक्षति तत्प्रधान फलम् तथा—कविरपि न स्वेच्छया फलस्योत्कर्षं निबद्ध महति, किन्त्वौचित्येन। यस्यधीरोदात्तस्यैव फलमुचित तस्यैवोत्कर्षे निबधनीय। अ० भा० भाग ३, पृ० ४।

पताका कथा का विस्तार वस्तुवृत्त के बहुत से क्षेत्रो मे होता चलता है। आधिकारिक कथा का वह उपकारक तो होती है पर उसका स्वय भी महत्त्व होना है। सुग्रीव और विभीषण राम के उपकारक होने पर भी स्वय भी उपद्दत हैं। प्रकरी का विस्तार स्वल्प हाता है और वह मुख्यतया पराथ होती है। वेणीसहार या स्कदगुप्त म चक्रपालित आदि का महत्त्व पराथ ही है। पताका स्थाक के चार प्रकार चमत्कारातिशयता, काव्यवध की श्लिष्टता तथा काव्यवस्तु के अस्फुट सकेत आदि की दृष्टि से होते हैं, यद्यपि धनजय एक ही स्वीकार करते है।

वस्तुवत्त का यह विभाजन नेता तथा अय पात्रा के पुरुषाथ साधक नाटयव्यापार पर आधारित है। धीरललित या धीरोदात्त आदि पात्र अपनी प्रकृति के अनुसार त्रिवग साधन मे प्रवत्त होते हैं और उनकी प्रकृति के अनुरूप फलोत्कप की कल्पना की जाती है और आवश्यकतानुसार सहायक प्रासगिक वस्तुवत्ति की भी। वस्तुवत्त के विभाजन के अय कई आधार हैं। वस्तुवत्त की कल्पना सामथ्य और उसके प्रयोग की विविध शलियाँ भी विभाजन के अय आधारा को प्रस्तुत करती हैं।

आधिकारिक और प्रासगिक वत्त के सदभ म हम कवि की कल्पना के महत्त्व का उल्लेख कर चुके है। भरत ने नाटक और प्रकरण के विवेचन के प्रसग म प्रख्यात और उत्पाद्य कथाआ का विवरण प्रस्तुत किया है। अत नाटय का इतिवत्त इतिहास और पुराणो क आधार पर परिपल्लवित होता है तो वह प्रख्यात होता है और उन आप ग्रथो का आधार छोड लोक-परपरा एव कल्पना शक्ति के आधार पर इतिवत्त परिपल्लवित होता है तो वह उत्पाद्य।[1] वह कथावस्तु दशरूपक के अनुसार दिव्य और मत्य कथा क योग स मिश्र भी होती है जिसमे कुछ अश प्रख्यात भी होता है, कुछ उत्पाद्य भी।[2]

अवस्थाएँ—इतिवत्त के केद्र मे प्राप्य साध्यफल के रूप म पुरुषाथ-साधन वतमान रहता है। तीन पुरुषार्थों मे से एक या अनक की योजना हो सकती है। रूपक के आरम्भ म यह अल्परूप म सकेतित होता है, पर बाद म वही अनेक रूप मे परिपल्लवित होना है। साध्य फल की प्राप्ति के लिए नायक जिस काय-व्यापार का प्रसार करता है, क्रमश उसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं प्रारम्भ, प्रयत्न प्राप्ति की सभावना, नियतफल की प्राप्ति तथा फलयोग।[3]

(१) प्रारभ—महान् फलयोग के प्रतिनायक (अथवा अमात्य या नायिका आदि) के मन म बीज के रूप म उत्सुकता का निबधन होता है। कथा का वही अश फलारभ या आरभ होता है। (२) प्रयत्न—फलप्राप्ति दृष्टि म न रहने पर भी इतिवत्त मे फलयोग के लिए उत्सुकता प्रदशन तथा तदनुरूप प्रयत्न की आकाक्षा हो तो प्रयत्न प्रेरित वह कथाश 'प्रयत्न' होता है। (३) प्राप्ति सभावना—उपाय मात्र के उपलब्ध होने से विशिष्ट फल की प्राप्ति की किंचित कल्पना की जाती है, परन्तु विघ्न की आशका बनी रहती है, तो 'प्राप्ति-सभावना नामक अवस्था होती है। (४) नियताप्ति—प्रतिबधको के विध्वस के उपरान्त पूर्वोपात्त मुख्य उपाय से नियन्त्रित काय-व्यापार फल की आर अग्रसर होता है तो यह नियताप्ति नामक अवस्था होती है।

---

१ ना० शा० १० ४८ द० रू० १।१५ १६।

२ मिश्र च सकराताभ्या दिव्यमत्यादिभेदत । द० रू० १।१०।

३ ना० शा० १९।९ १३ द० रू० १।१८ २२क सा० द० ६।५५ ५९ ना० द० १।३५ ३६ ना० ल० को०, पृ० ६६ ६६ भा० प्र०, पृ० २०६ प्र० रू०, पृ० १०५ ६ र० सु० ३ २४ २६।

(५) फलयोग—जिस इतिवृत्त मे नायक को अभिप्रेत समग्र क्रियाफल की प्राप्ति हो, तो वही अवस्था 'फलयोग' की होती है।

इतिवृत्त की पाँचो अवस्थाओ का आनुपूर्व विकास केवल नायक को ही लक्ष्य कर नही होना चाहिए। इतिवृत्त मे अन्य पात्र—सचिव और नायिका आदि की अवस्था नायकानुगामिनी ही होती है। अत कार्यव्यापार की पाँचों अवस्थाओ का विकास समग्र रूप म होना चाहिए। यद्यपि ये अवस्थाएँ काल और स्वभाव की दृष्टि स भिन्न तो होती हैं परन्तु निश्चित फल को दृष्टि म रखकर एक भाव स सबद्ध हो इनका विन्यास होता है। यह पारस्परिक समागम फल का हेतु हो जाता है। नाट्य के इतिवृत्त का आरभ आधिकारिक कथावस्तु से ही होना चाहिए, क्योंकि वह बीज रूप नाट्य-व्यापार ही फल रूप म विकसित होता है।[1]

अर्थ प्रकृतियाँ

पुरुषार्थ साधक इतिवृत्त की पाँच अवस्थाओ की भाँति, उसकी पाँच अर्थ प्रकृतियाँ भी होती हैं। अर्थ प्रकृतियाँ अभिनवगुप्त की दृष्टि से फल के साधन या उपाय हैं। दशरूपककार और साहित्यदर्पणकार के शब्दो मे प्रयोजन सिद्धि के हेतु हैं। अवस्था का सम्बन्ध प्रधानतया नायक की मानसिक दशा तथा कथा के विकास क्रम से है और अर्थ प्रकृतियो का सम्बन्ध कथावस्तु के उपादान-कारणो से। अवस्थामूलक भेद का विकास मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है और उपायमूलक अर्थ प्रकृति के भेदो का इतिवृत्त की शारीरिक रचना पर। अत अवस्थामूलक और उपायमूलक दोनो भेदो द्वारा इतिवृत्त की आन्तरिक और बाह्य प्रवृत्तियो का समन्वय होता है।[2]

उपायमूलक अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज बिन्दु पताका, प्रकरी और कार्य।

(१) बीज—बीज' इतिवृत्त का वह आरभिक अश है, जो किसी गभीर प्रयोजन सवदना के बिना घटता है पर उस 'घटना बीज' का वपन होने पर वह उत्तरोत्तर फैलता चलता है और फल रूप म समाप्त होता है। लोक मे स्वल्पाकार बीज फल-रूप म परिणत होता है नाट्य कथा का आरभिक अश भी उसी लौकिक बीज की तरह होता है और आधिकारिक कथा से सर्वथा सबधित। (२) 'बिन्दु'—बिन्दु कथा का वह महत्त्वपूर्ण अश है, जो नाट्य के इतिवृत्त के अवसानकाल तक रहता है। भले ही इतिवृत्त या आवश्यकतावश प्रयोजन का विच्छेद भी क्यो न हो जाए। परन्तु वस्तु-बध की समाप्ति तक वह वर्तमान रहता है। धनजय, रामचन्द्र गुणचन्द्र और अभिनवगुप्त ने विषय का विवेचन किया है। नायक तो फलानुसधान उपाय म प्रवृत्त रहता है, उसके सतत प्रयत्नों का विस्तार जल तल पर छितराते तेल बिन्दु की तरह होता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रयोजन के अनुसधान के लिए समस्त प्रयत्नो का विस्तार नायक द्वारा ही हो। सचिव आदि के द्वारा भी अनुसधान के प्रयत्न होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार 'बीज' और बिन्दु मे अन्तर यह है कि बीज मुख-सधि को प्रवृत्त कर अपना उन्मेष करता है, बिन्दु मुखसधि के अनन्तर। यही दोनों की विशेषता है। दोनो ही समस्त इतिवृत्त मे व्याप्त रहते हैं।[3]

बिन्दु के स्वरूप के सबध मे आचार्यों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। नाटकलक्षण कोषकार

---

१ ना० शा० १६।१४ १५ अ० भा० भाग २, पृ० ६।

२ द० रू० का चौखभा सस्करण, पृ० १४ १८ पर पाद टिप्पणी।

३ ना० शा० १६ २२ ३ ना० द० १ २६ सा० द० ४७-८ द० रू० २।१७ द्वे अपितु समस्तेतिवृत्ते व्यापके। अ० भा०, पृ० ९ भाग २।

के अनुसार नाट्याय का प्रत्येक अक म अवमान या उत्साह द्वारा परिकीतन किया जाता है, वही बिन्दु है। राघवाभ्युदय म कक्यी का, वेणीसहार मे द्रौपदी के कचाकपण का, नागानद मे जीमूत वाहन के उत्साह का और तापस वत्सराज के प्रत्येक अक म वासवदत्ता के प्रेम के अनुसधान का वणन सवत्र बार-बार आवृत्त होता है। आवृत्ति का यह क्रम समाप्ति-काल तक चलता है, यही 'बिन्दु' है। शिगभूपाल के विचार से जिस प्रकार जल की बूदो को वृक्षा के मूल मे अभिषेक करने से फलागम होता है, उसी प्रकार यदा कदा बिन्दुपात से नाट्य कथा का विकास होता चलता है।[1]

(३ ४) पताका और प्रकरी—'पताका' शब्द कथावस्तु के विकास की दृष्टि स बडा महत्त्वपूण है। प्राचीन काल मे भी युद्ध और विजय यात्रा के प्रसग म गगनचुबी ध्वज दडा पर पताकाएँ फहरायी जाती थी। सपूण सेना का द्योतन उसी एकवर्तिनी सेना द्वारा होता था। इसी प्रकार पताका एक देश वर्तिनी होकर भी समस्त इतिवत्त का प्रकाशन करती है।[2] कण का चरित इसी प्रकार का है। पताका पराथ, प्रधान का उपकारक होकर भी प्रधानवत् होती है। भाव प्रकाश की दृष्टि से पताका कथा आधिकारिक कथा के साथ साथ चलती है। परन्तु शिगभूपाल, विश्वनाथ और रामचद्र गुणचद्र इसका प्रयोग अत्यावश्यक नही मानते।[3] प्रकरी आनुषगिक कथा होती है कथा के किसी प्रदेश म ही उसका उपयोग होता है, यह प्रधानवत् कल्पित नही होती, क्योंकि नितात पराथ और उपकारक होती है। यत्र तत्र बिखरे हुए फूलो की-सी शोभा का कारण होती है। रामकथा मे शबरी की कथा प्रकरी ही है। यदि इन दोनो आनुषगिक कथाओ का प्रयोग नहीं होता तो बिन्दु का ही विस्तार होता है।

(५) काय—काय अथप्रकृति का पाँचवाँ अग है। आधिकारिक वस्तु का प्रयोग प्रधान-नायक, पताका-नायक और प्रकरी नायक आदि के द्वारा होता है। उस प्रयोग के सहायक के रूप म अय अचेतन सामग्रियो का भी प्रयोग होता है। त्रिवग साधक यह समस्त नाट्य व्यापार 'काय' होता है। रसाणव सुधाकर के अनुसार यह काय यदि त्रिवग में से किसी एक ही को साध्य रूप म ग्रहण करता है तो 'शुद्ध' होता है और यदि अनेक साध्य होते हैं तो 'मिश्र'।[4]

अर्थ-प्रकृति की प्रधानता

सब अथ प्रकृतिया का सवत्र प्रयाग प्रारभादि अवस्था की तरह नही होता। नायक का जिस अथ प्रकृति से जितना अधिक प्रयोजन होता है वही अथ प्रकृति प्रधान होती है। दूसरी अथ प्रकृतिया वतमान होने पर भी अविद्यमान सी होती है। जिस प्रकार पताका और प्रकरी म पराक्रमशाली पात्रो के रहते हुए भी प्रधान नायक की ही मुख्यता रहती है, न कि पताका-नायक या प्रकरी नायक की, उसी प्रकार अथ प्रकृतियो म जो सर्वाधिक प्रयोजन सिद्धि का कारण बनती है वही प्रधान होती है।[5]

१ ना० ल० को०, पृष्ठ १७३ १८५।
जलबिन्दुर्यथा सिचस्तरुमूल फलाय हि। तथैवाय मुहु क्षिप्तो बिंदुरित्यभिधीयते।

२ ना० ल० को०, पृष्ठ १८६।

३ भा० प्र०, पृष्ठ २०५।५ ना० द०, पृष्ठ ४३ सा० द० ६।४६ ५१, र० सु० ३।११२ ११९।

४ ना० शा० १६।२६ (गा० ओ० सी०) द० रू० १।७६, ना० द० १।३३क, सा० द० ६।८३, र० सु० ३।१७, प्र० रू० १०७।३, ना० ल० को० प० २०६ २१३, भा० प्र०, पृष्ठ २०८।१७ २२।

५ ना० शा० १६।२७ (गा० ओ० सी०)।

अर्थ-प्रकृतियों का विभाजन

सब अथ प्रकृतियाँ सवत्र वतमान नहीं रहती परन्तु बीज, बिन्दु और काय, ये तीन अथ प्रकृतियो मे मुख्य हैं। अत वे तो निश्चित रूप से वतमान रहती हैं। नाटयदर्पणकार की दृष्टि से केवल बीज बिन्दु ही सवव्यापी होते हैं, काय नहीं। पताका, प्रकरी और काय म से एक, दो या तीन के प्रयोग होने पर एक मुख्य अर्थ प्रकृति होती है शेष गौण होती हैं। नाट्य दर्पणकार ने जिस प्रकार अथ प्रकृतिया के दो वर्गों की कल्पना की है उसी प्रकार उसके क्रम म विपयय का भी उन्होंने विधान किया है। भरत का क्रम है बीज, बिन्दु पताका, प्रकरी और काय। परन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार 'बिन्दु' का स्थान चौथा है दूसरा नहीं। उनके विभाजन और परिगणना का एक और भी आधार है। वे साध्य के उपाय भूत समस्त अथ प्रकृतियो को चेतन और अचेतन दो श्रेणियों मे विभाजित करते हैं। चेतन और अचेतन दोनों के ही दो भेद हैं—मुख्य और गौण। चेतन श्रेणी का मुख्य भेद है बिन्दु क्योंकि यह कार्यानुसधान रूप है। गौण के भी दो भेद हैं—स्वाथ सिद्धि परक और पराथ सिद्धि-परक। पताका स्वाथ सिद्धि-परक है और प्रकरी पराथ सिद्धि-परक। अचेतन का मुख्य भेद है बीज। वह सबका (काय) मूल होता है और गौण होता है काय। अभिनवगुप्त ने इसी शली से भरत के विचारो का व्याख्यान किया है। इस प्रकार बीज और बिन्दु 'चेतनाचेतन' रूप अथ प्रकृतियाँ तो प्रधान होती हैं और शेष पताका, प्रकरी और काय गौण।[१]

पताका म एक सधि या अनेक सधियों की योजना की जाती है। प्रधान कथा-वस्तु के अनुयायी होने के कारण वह 'अनुसधि' कही जाती है। भटटलोल्लट के अनुसार पतानायक से सबधित इतिवत्त भाग' पराथ साधक होता है। अत वह अनुसधि है। पताका गभ सधि या विमश सधि तक रहती है क्योंकि उसकी योजना प्रधान कथावस्तु के लिए होती है अपने लिए नही।[२] नाटकलक्षण कोष मे मातृगुप्ताचाय के उद्धत अवतरण मे किसी अन्य आचाय के द्वारा पच साध्य का उल्लेख किया गया है—साधक, साधन, साध्य सिद्धि और सभोग।[३]

नाट्य-शरीर की पच सधिया

भरत ने नाटय के शरीर रूप इतिवत्त के लिए पाँच अवस्थाओ और पाँच अथ प्रकृतियो के योग से पाँच सधिया की भी कल्पना की है। पाँचा सधियाँ प्रारभ आदि अवस्था की तरह इतिवृत्त रूप नाटय शरीर के अभिन्न अग हैं। वे अनिवाय रूप से इतिवत्त की विभिन्न दशाओ मे प्रयोज्य हैं। पच सधिया के प्रयोग के सम्बन्ध म सब आचार्यों म ऐकमत्य है। परन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे भरत और परवर्ती आचार्यों मे मत भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। भरत के अनुसार सधियों के द्वारा विभिन्न अवस्थाओ के काय व्यापारो का योग होना है। "अभिनेय रूपक म नायक आदि के द्वारा प्रारभ आदि अवस्थाओं के उपयोग के लिए जितनी भी उपयोगी अथ (नाटय) राशि है वही सधि' होती है।"[४] ये अर्थावयव परस्पर जुटते हैं इसीलिए इन्हें सधि

१ ना० द० पृष्ठ १।२८ (द्वि० स०), अ० भा भाग ३, पृष्ठ १२।

२ ना० शा० १९।२८, अ० भा० भाग २ पृष्ठ १६ १७।

३ ना० ल० को० प० ४७० ४७१।

४ समुच्चयपदे पचानां सवत्रावस्थ भाविस्व धोतितम्।
नायकस्य स्वमुखेन परद्वारेणवाया प्रारभावस्था प्रथमा व्याख्याता तदुपयोगी यावानर्थराशि स

शब्द से अभिहित किया जाता है। इसी अर्थराशि के अवान्तर भाग 'उपाय' आदि सध्यग होते हैं। अभिनवगुप्त ने सधि का यही सामान्य रूप प्रस्तुत किया है।

अवस्थाओ और अर्थ प्रकृतियो का योग

सधि के सबध मे धनजय ने भरत की अपेक्षा भिन्न विचार परपरा प्रस्तुत की है। उनके विचार से पाँच अवस्थाए और पाँच अर्थ प्रकृतियाँ क्रमश एक-दूसरे से मिलती हैं, तो सधि होती है। सधि मे एक ओर कथाशो का सम्बन्ध अर्थ प्रकृति के रूप मे कार्य से होता है, दूसरी ओर अवस्था के रूप मे फलयोग से। इन दोनो ही 'कार्य' और 'फलयोग' के सम्बद्ध होने पर सधि होती है।[1] दशरूपक के अनुसार सधियो की रचना निम्नलिखित रूप मे होती है

अवस्था		अर्थप्रकृति		सधि
प्रारम्भ	+	बीज	=	मुखसधि
प्रयत्न	+	बिन्दु	=	प्रतिमुखसधि
प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भसधि
नियताप्ति	+	प्रकरी	=	विमर्श सधि
फलागम	+	कार्य	=	निर्वहण सधि

आचार्य विश्वनाथ, शारदातनय, शिंगभूपाल आदि सबने धनजय का ही अनुसरण करते हुए इतिवृत्त की अवस्था और अर्थ प्रकृति के प्रत्येक अग के सयोग से सधि की रचना के सिद्धान्त की पुष्टि की। परन्तु यह मान्यता सर्वथा निर्दोष नही है।

धनजय और आचार्य विश्वनाथ आदि का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर इतिवृत्त के व्यावहारिक प्रयोग मे बडी कठिनाई उपस्थित होती है। इनके अनुसार विमर्श या अवमर्श सधि की रचना प्रकरी और नियताप्ति के योग से होती है। परन्तु प्रकरी आनुषगिक कथा है। प्रधान कथा के उपकार के लिए गर्भसधि मे कही रही कल्पित की गई है। राम-कथा की शबरी कथा 'प्रकरी कथा' है और उसका प्रसार 'पताका-कथा' (सुग्रीव कथा) तक होता है। वहाँ गर्भसधि ही चलती रहती है। अत अवस्थाओ और अर्थ प्रकृतियो के यथासख्य योग का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण मालूम पडता है।

आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यता

भरत और अभिनवगुप्त का ही विचार समीचीन मालूम पडता है कि सधियाँ बीज के विकास की विभिन्न अवस्थाओ के प्रतीक हैं। कभी बीज अकुरित होता है, कभी बाधाओ मे छिप जाता है, कभी पुन प्रकट होता है। अन्तत फलरूप मे परिणत होता है। उसी प्रकार नाट्य व्यापार के रूप मे नायक से सबधित मुख्य साध्य प्रयत्न प्रेरित हो साध्याभिमुख होता है। बाधाएँ उपस्थित होती हैं। प्राप्यफल अदृश्य सा भी हो जाता है। उत्थान, पतन, जय पराजय के विभिन्न

मुखसधि । तस्यार्थराशेरवान्तरभागा युपक्षेपादीनि सध्यगानि । तेनार्थावयवा सधीयमाना परस्परमगैश्च सधय तानि सगात्या निरुक्ता । अ० भा० भाग ३, पृष्ठ २३ ।

१ अन्तरैकार्थसबध सधिरेकान्वये सति । द० रू० १।२२ २३, सा० द० २०७।६ १०, र० सु० ३।२६ ना० द० ६।७४ ।

जीवन-व्यापारों के क्रम में अन्ततः नायक को अपना साध्य फल प्राप्त होता है। इस रूप में कथा के अनेक अंगों का, विभिन्न अवस्थाओं का योग होता है, यह सन्धि होती है। ऐसा मत स्वीकार कर लेने पर कोई कठिनाई नहीं रहती और भरतानुकूल भी यह मन्तव्य निर्धारित हो जाता है। निःसन्देह इस मत के अनुसार अर्थ प्रकृतियों का महत्त्व न्यून हो जाता है, क्योंकि भरत, अभिनव गुप्त और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी यह प्रतिपादित किया है कि अर्थ प्रकृतियों में सबका योग सर्वत्र हो ही कोई आवश्यक नहीं है। पताका और प्रकरी आनुषंगिक कथाएँ के अंग हैं। अतः इनका प्रयोग कवि की अपेक्षा पर निर्भर करता है। ऐसे भी नाटक हैं, जिनमें पताका या प्रकरी का प्रयोग नहीं मिलता तथा उनके क्रम में भी विपर्यय सम्भव है यह हम प्रतिपादन कर चुके हैं।[1]

वस्तुतः इन सन्धियों के द्वारा नाट्य में निबन्धनीय इतिवृत्त का अवस्था भेद से पाँच भागों में विभाजन होता है और प्रत्येक सन्धि के बारह और तेरह अंग हैं। इन अंगों के योग से सन्धि होती है। प्रासंगिक वृत्त की सन्धियाँ मुख्य कथावस्तु की अनुयायी होती हैं। अतः 'अनुसन्धि' ही कही जाती है।[2] भरत ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि नियमतः तो रूपकों में पाँचों सन्धियों का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु कारणवश हीन-सन्धि रूपकों की भी रचना होती है। डिम और समवकार में चार सन्धियाँ होती हैं। व्यायोग और ईहामृग में तीन ही सन्धियाँ होती हैं। वीथ्यंग और भाण में दो ही सन्धियाँ होती हैं। पूर्ण सन्धि नहीं होती है, जहाँ बहुफल वक्तव्य का आरम्भ होता है। परन्तु प्रासंगिक इतिवृत्त में यह नियम प्रयुक्त नहीं होता। वहाँ भी पूर्ण-सन्धि नहीं होती, क्योंकि वह तो पराश्रय होती है, वहाँ प्रधान कथावस्तु का अविरोधी वृत्त कल्पित होना चाहिए। सागरनन्दी के अनुसार भी सन्धि तो कथाओं का परस्पर संघटन है।

नाट्य शरीर की पंचसन्धियाँ

(१) मुख सन्धि—मुख सन्धि में नाना अर्थ और रस के योग से बीज की उत्पत्ति होती है। शरीर में मुख की प्रधानता है, उसी प्रकार प्रारम्भ में ही बीज के उत्पन्न होने से शरीर में मुख के समान नाट्य शरीर की यह सन्धि 'मुख-सन्धि' के रूप में प्रसिद्ध है। अभिनय रूपक के आरम्भ में उसके उपयोग का जो भी वृत्त रसास्वाद के साथ उत्पन्न होता है वह सब 'मुख-सन्धि' होती है।[3] मुख सन्धि में प्रधान वृत्त का फल हेतु बीज रूप में प्रस्तुत होता है।

भरत एवं अन्य आचार्यों ने मुख्य रूप से मुख-सन्धि का यही रूप प्रस्तुत किया है पर किंचित् भिन्न रूप में अन्य आचार्यों के भी मत प्राप्य हैं। सागरनन्दी ने तीन आचार्यों का मत प्रस्तुत किया है। प्रथम मत भरतानुसारी है। परन्तु द्वितीय मत के अनुसार बीज और बिन्दु दोनों के ही साहचर्यवश मुख सन्धि में (आख्यात) में योजना होती है। एक अन्य आचार्य ने केवल बीज का ही कीर्तन मुख सन्धि में आवश्यक माना है परन्तु श्लेष या छाया के माध्यम से।[4] विक्रमोर्वशी के प्रथम अंक में सुनियोजित मुख-सन्धि का परिचय मिलता है। पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम का बीज नाना अर्थ रस से परिपुष्ट हो उत्पन्न होता है।

---

१ ना० द० १।१० तथा उस पर विवृत्ति, पृ० २७ २८ अ० भा० भाग ३, पृ० २४ २५।

२ ना० द० १ ३७ पर विवृत्ति, पृ० ४८ (द्वि स०), ना० ल० को० प० ५४० ५४५।

३ यत्र बीजसमुत्पत्तिः नानार्थ रस सम्भवा। काव्य शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्। ना० शा० १६।३६, अ० भा० भाग ३, पृ० २३।

४ ना० ल० को० प० ५४८ ५५०, द० रू० १।२४ ख, सा० द० ६।६३।

(२) प्रतिमुख सधि—प्रतिमुख सधि मे उत्पन्न बीज रूप इतिवृत्त का उदघाटन तो होता है, पर वह 'दृष्ट' और 'नष्ट' की अवस्था मे रहता है। फलाभिमुख बीज का उदघाटन एक दशा विशेष है। अनुकूल वातावरण मे वह बीज रूप इतिवृत्त उदघाटित होना सा दृश्य मालूम पडता है परन्तु विरोधी के (कारण प्रतिनायक आदि) प्रभाव से 'नष्ट होता'-सा मालूम पडता है, जसे अकुरित बीज पाशुपिहित हो। वेणीसहार मे इसका बडा सुदर उदाहरण उपलब्ध होता है। भीष्मवध से पाण्डवाभ्युदय रूपी 'बीज-वक्ष' के 'अकुर' का उदघाटन दृश्य तो होता है पर अभिमन्यु के वध से वह 'नष्ट' हुआ-सा लगता है। आचाय अभिनवगुप्त ने प्रतिमुख सधि के विश्लेषण के प्रसग म अन्य कई मता का उल्लेख किया है। (क) कायवश दृष्ट और कारणवश नष्ट-सा लगता है। (ख) नायक वृत्त म बीजाकुर दृश्य होता है पर प्रतिनायक वृत्त म नष्ट-सा लगता है। (ग) उपादेय म दृश्य होता है, हेय म नष्ट। ये विचार अभिनवगुप्त के अनुरूप नही हैं। वस्तुत प्रतिमुख म दृष्टता की ही प्रधानता है, नष्टता तो अवमश का अग है। दृष्ट-नष्टता' तो प्रतिमुख सधि की अवस्था की अनिवाय विकासशील अवस्था है। भूमि म (मुख मे) न्यस्त बीज की तरह वह कभी उद्घटित होता है, कभी कारणवश तिरोहित भी होता है।[१] पुरुरवा के प्रति उवशी के प्रथम अनुराग के उदबोधन द्वारा प्रेम बीज का उदघाटन होता है परन्तु लक्ष्मी स्वयवर' नाटक के अभिनय के लिए इसका देवलोक के लिए प्रस्थान करना पांशुपिहित बीज की तरह है।

(३) गर्भसधि—उत्पत्ति और उद्घाटन की दोनो विशिष्ट दशाओ से व्यापृत बीज जहा फलोत्पन्नता के लिए अभिमुख होता है, वहाँ गभसधि होती है।[२] गभ-सधि के स्पष्टीकरण के लिए परिभाषा म तीन विशिष्ट अथ-गर्भित पदो का भरत ने प्रयोग किया है, वे है, प्राप्ति, अप्राप्ति और पुन अन्वेषण। यहाँ नायक विषयक प्राप्ति होता है अप्राप्ति का सम्बन्ध प्रतिनायक से होता है और इसी को लेकर अन्वेषण होता है। रत्नावली के तृतीय अक म वत्सराज की फल प्राप्ति मे वासवदत्ता द्वारा विघ्न उपस्थित होता है, किन्तु सागरिका और विदूषक की योजनाआ से राजा को फल प्राप्ति की आशा हो जाती है फिर विघ्न उपस्थित होता है और फलहेतु के उपायो का पुन अन्वेषण होता है। अन्वेषण की व्यजना राजा के इन वचना से होती है— मित्र अब वासव दत्ता के मनाने के अलावा और कोई उपाय नही रह गया है।' अभिनवगुप्त के अनुसार अप्राप्ति का आशिक भाव भी गभसधि मे अवश्य वतमान रहना चाहिए। अन्यथा सभावनात्मक प्राप्ति समव का प्रयोग कसे होगा। अप्राप्ति होने से ही तो अन्वेषण के समावनात्मक उपायो का अन्वेषण होता है। धनजय की दृष्टि से भी प्राप्ति-सभावना रूप तृतीय अवस्था अवश्य होती है। पर पताका भी हो यह आवश्यक नही है।[३]

(४) विमश (या अविमश) सधि—विमश शब्द विचार या चिन्तन-वाचक है।

१ बीजस्योद्घाटन यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित्। मुख यस्तस्य सवत्र तद्वै प्रतिमुख स्मृतम्॥ तथा—तस्मादयमत्राथ —बीजस्योद्घाटन तावत् फलानुगुणो दशाविशष तद्दृष्टमपि विराधिसनिधेर्नष्टमिव, पांसुना पिहितस्येव बीजस्याङ्कुररूपमुद्घाटनम्। अ० भा० भाग २, पृ० २४।

२ उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरव वा। पुनश्चान्वेषण यत्र स गर्भ इतिसज्ञित'। ना० शा० १९।४१।

३ अप्राप्त्यशस्याभावस्यभावी अन्यथा समावनात्मा प्राप्तिसभव कथ निश्चय एव स्यात् अ० भा० भाग ३, पृ० २६। पताकास्यान्नवा—द० रू० १।३६।

भरतोत्तर आचार्यों म 'विमश' के लिए 'अविमर्श' शब्द भी प्रचलित है। 'विमश-अवमर्श' इन दो भिन्न शब्दो का प्रयोग अभिनवगुप्त के पूर्व ही आरम हुआ था। धनजय ने अवमश शब्द का ही प्रयोग किया है। जहाँ लोभ, व्यसन (विपत्ति) और विलोभन (साम) म फल प्राप्ति के विषय म चिन्तन या पर्यालोचन किया जाए, परन्तु बीज रूप फलहेतु का मर्यादा तो गभ-सधि के काल म ही प्रकट (निभिन्न) हो जाता है, वहाँ अवमश सधि होती है।[1] अभिज्ञानशाकुन्तल के पचम अक म दुर्वासा के शाप से विमोहित राजा द्वारा शकुन्तला के परित्याग क बाद उसके अन्तर्हित होने पर, तथा षष्ठ अक म 'अगुलीय' की प्राप्ति स शकुन्तला की स्मृति हो जाती है दुर्वासा क शाप से उत्पन्न विघ्न 'विमश' है। इस सधि के सबध म कई प्रकार की तकनाएँ विचारणीय हैं। पहले प्राप्ति-सभावना म दृढ़ विश्वास हो (गभ निभिन्न बीजाय) पुन सशय हो, यह उचित नही मालूम पडता है, क्योकि नैयायिको की दृष्टि म सशय और निणय के मध्य तर्क रहता है। परन्तु विमश सधि नियत फल प्राप्ति की अवस्था स व्याप्त रहती है। फल की नियताप्ति और सन्देह दोनो एक साथ कैसे हो सकते हैं? परन्तु विचार करने पर सशय की विद्यमानता उचित नही मालूम पडती है। जिस प्रकार तक के बाद भी हेत्वन्तरवश बाधा और छल क अपाकरण म सशय हो जाता है क्या नही होता? अवश्य होता है। अभिनेय रूपक म भी निमित्त-बल से कहीं से सभावित भी फल जब बलवान् कारणो के द्वारा जनक और विघातक दोनो के समान-बल होने पर क्या सदेह उत्पन्न नही होता? तुल्यबल विरोध की स्थिति म मनुष्य का पौरुष फल प्राप्ति के लिए पूण वेग से उठता है। इसीलिए तक के बाद सशय और तब निणय होता है।

पौरुष के साधक प्रशसा के भाजन होते हैं। प्राणो के सदेह रहने पर अनेक पौरुषशील पुरुषो का उद्धार सभावना के बिना भी हो जाता है। प्रयत्न अथवा विधुर प्रयत्न के कारण जो विपत्ति होती है उससे प्रेरित हो नाश पर भी विजय पाने की उत्कट अभिलाषा का जागरण और उद्यम की प्रचडता का उदबोधन होता है। इसीलिए फल की प्राप्ति नियत हो जाती है। श्रेय काय विघ्न-बहुलता से व्याप्त होते है। विघ्न के अपसारण के लिए नायक अपने उद्योग सूत्र का स्वाभिमानपूवक प्रसार करता है। सागरिका-बधन होने पर भी महामाया द्वारा प्रयुक्त इन्द्रजाल की घटना का उपनिबन्धन नियताप्ति की दिशा म उठाया गया एक दृढ़ चरण है।[2]

दूसरे आचार्यों के मत से 'अवमश' शब्द विघ्नवाचक शब्द है। गभ सधि काल म फलहेतु बीज का जो उदभेदन हुआ वह क्रोध लोभ और व्यसन के कारण विघ्न युक्त होता है। इस विघ्न के सम्बन्ध म विराम या विचार होता है। यही अवमशता है। उदभट की दृष्टि से अन्वेषण भूमि की 'अवमृष्टि' ही अवमश है। सागरनदी और अभिनवगुप्त ने इस सधि के सम्बन्ध म अन्य कई आचार्यों के मतो का आकलन किया है। एक आचाय के अनुसार प्रकीण अथ जात (इतिवृत्त) के सम्बन्ध मे जहाँ सोचा विचारा जाता है और शत्रु की बहुत अधिक हानि होती है अथवा सपन्न रूप काय के सम्बन्ध म मन म सन्देह उत्पन्न हो तव विमश होता है।[3]

वस्तुत विमश' और 'अवमश' दोनो म कोई महत्त्वपूण अन्तर नही है। विमश के

---

१ गभनिर्भिन्न बीजार्थो विलोभन कृतोऽथवा। क्रोधव्य बसनोवापि स विमर्श इति स्मृत। (ना० शा० १६।४२), द० रू० १।४३।

२ भ० मा० भाग ३, पृ० २८ २६, तथा रत्नावली, अक ४।

३ ना० ल० को०, पृ० ७७६ ८० भ० मा० भाग ३, पृ० २७।

अनुसार गर्भ में निभिन्न फल-हेतु बीज के मार्ग में विलोमन और व्यसन आदि के कारण विघ्न होने पर विचार या चिंतन होता है और अन्वेषण के लिए उचित प्रयत्न भी। अवमर्श में भी फलाभिमुख कार्य व्यापार में विघ्न उपस्थित होने पर विचार या चिन्तन होता ही है।

प्राप्ति संभावना के उपरान्त संशय की अवस्था की कल्पना की जाती है और संशय रूप विघ्न के उपस्थित होने पर पात्र अपने पौरुष का प्रयोग करता है, केवल मूक चिंतन ही नहीं। अतः रूपक में यह स्थल पात्र के शील निरूपण की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इसी में विघ्न विघात के लिए उसके हृदय में उत्साह की सहस्र धाराएं फूट पड़ती हैं। परिणामतः निर्वहण में रसपेशलता और भी बढ़ जाती है। नाट्यदर्पणकार की दृष्टि से विघ्नों से ताडित होने पर ही महात्मा जन यत्नशील होते हैं। विघ्नों से घिरे रहने पर भी वे फल की ओर से विमुख नहीं होते। इसलिए इस संधि में विघ्न हेतुओं का निबंधन आवश्यक है।[1]

(५) निर्वहण-संधि—मुखादि संधि और बीज-सहित प्रारंभ आदि अवस्थाओं तथा नाना प्रकार के सुख दुःखात्मक भावों का चमत्कारपूर्ण रीति से एकत्र समानयन हो, फलनिष्पत्ति में सुनियोजित हो, तब निर्वहण-संधि होती है। यह संधि फलयोगावस्था से व्याप्त रहती है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने निर्वहण के व्याख्यान में अन्य कई आचार्यों के मतव्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मुखसंधि में 'अवलम्ब्यमानता' के कारण आद्य प्रधानभूत जो उपाय हैं, वे महातेजस्वी फलसंपत्ति में सहायक होते हैं। इस संधि की परिभाषा में 'समानयन' शब्द का प्रयोग अर्थगर्भित है। विभिन्न संधियों की अवस्था के विकास क्रम में जो बिखरे हुए कथांश के सूत्र होते हैं, उन सबका समाहार यहाँ चमत्कारपूर्ण रीति से होता है।[3] भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' (छठा अंक) में वासवदत्ता का आनयन होता ही है परन्तु चमत्कार के लिए एक ओर महामंत्री यौगन्धरायण और दूसरी ओर वासवदत्ता की धात्री भी वासवदत्ता के अभिज्ञान के लिए प्रस्तुत रहती हैं। वासवदत्ता और उदयन की मिलन-मंगल-वेला में उज्जैनी और वत्सदेश की बिखरी हुई शक्तियों का समानयन होता है पर अत्यन्त चमत्कारपूर्ण रसपेशल रूप में। प्रसादकृत चन्द्रगुप्त के अंतिम दो दृश्यों में नंद का मंत्री राक्षस आत्मसमर्पण करता है, ग्रीक सम्राट सिल्यूकस अपनी पराजय ही नहीं स्वीकार करता अपितु अपनी पुत्री कार्नेलिया को भी अर्पित करता है। इस प्रकार विरोधी शक्तियाँ भी चन्द्रगुप्त के अनुकूल हो समाहृत होती हैं। ध्रुवस्वामिनी के तृतीय अंक के अंतिम दृश्य भी इसी शैली में नियोजित हैं। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का केवल मिलन ही नहीं होता, अपितु पुरोहित द्वारा रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी के संबंध-त्याग की घोषणा होती है और रामगुप्त के अन्त की भी।

अतः निर्वहण संधि में फलनिष्पत्ति अपने चरम रूप में प्रस्तुत होती है।

संधियों के अंग

नाट्य के शरीर रूप इतिवृत्त में अवस्थाओं और संधियों का असाधारण महत्त्व है

१ ना० द० विवृति, पृ० ५० (द्वि० सं०)।

२ समानयनमर्थानां मुखाद्यानां सबीजिनाम्। नाना भावोत्तराणां यद् भवेन्निर्वहणं तु तत्। (ना० शा० १६।४३) ना० शा० १६।४३, द० रू० १।४८ ख—४६ क।

३ अ० भा०, भाग ४, पृ० १६।

परन्तु उन सन्धियो के अग भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। भरत ने इस सम्बन्ध म महत्त्वपूर्ण विचारो का आकलन किया है। अगहीन मनुष्य म जसे कायक्षमता नही रहती वस ही अगहीन रूपक (काव्य) म प्रयोग की क्षमता नही होती। काव्य उदात्त और गुणशाली ही क्यो न हो, परन्तु अपेक्षित स्थलो पर सन्धियो के विविध अगो का सयोग (प्रयोग) न होने के कारण वह प्रयोग हीन-कोटि का होता है और उससे सज्जनो के मन का अनुरजन नही होता। नाटय या काव्य हीनाथ भी हो, परन्तु विविध अगों से विभूषित हो, तो प्रयोग की दीप्तिता के कारण (उसके द्वारा) शोभा का प्रसार होता है। इसीलिए भरत का स्पष्ट मत है कि सन्धि प्रदेशो मे रसानुकूल अगो की योजना करनी चाहिए।[1]

सध्यगों के प्रयोजन—भरत ने अगो के निम्नलिखित छ प्रयोजनो का उल्लेख किया है—(क) रसास्वादकृत अभीष्ट प्रयोजन की रचना, (ख) इतिवत्त का उत्तरोत्तर विकास (अनुपक्षय), (ग) इतिवत्त की परस्पर अनुरजनात्मकता (राग प्राप्ति), (घ) गुह्य कथाशो का प्रच्छादन, (ङ) बार बार सुनी हुई कथावस्तु का अग प्रयोग के माध्यम से अदभुत रूप मे प्रयोग, (च) अतिशय उपयोगी प्रकाश्य कथाश का प्रकाशन।[2]

इन अगो के द्वारा कथा मे चमत्कार और अनुरजनात्मकता का योग होता है। गुह्य कथाशो का आच्छादन और उपयोगी का प्रकाशन, प्रत्येक प्रधान या पताका कथा तथा इतिवृत्त की परस्पर अनुरजनात्मकता से नि सन्देह इतिवत्त अत्यन्त रसमय रूप म प्रस्तुत होता है। यही कारण है कि भरत ने सध्यगो के प्रयोग को बहुत प्रश्रय दिया है।

सध्यगों की सख्या—प्रत्येक सन्धि के कुछ निश्चित अग हैं, उन्ही अगो के द्वारा उस सन्धि की रचना होती है, भरत ने सन्धियो के लिए निर्दिष्ट अगो का नामकरण और परिभाषा प्रस्तुत की है।

मुखसन्धि के अग—मुखसन्धि के बारह अग हैं उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उदभेद करण और भेद। इसम नाना प्रकार के अथ रस को उत्पन्न करने के लिए बीज की समुत्पत्ति होती है। (१) 'उपक्षेप' के द्वारा काव्याथ रूप बीज का वपन होता है। प्रस्तावना उपक्षेप क अन्तगत नही है, क्योकि वह रूपक का अग नही है तथा उसमे नटवत्त की व्याप्तता के कारण इतिवत्त व्याप्त नही हो पाता। अत उपक्षेप के द्वारा काव्याथ तथा प्रधान रस रूप बीज का सक्षेप म उपक्षेपण किया जाता है। (२) 'परिकर' मे उत्पन्न अथ का किंचित् विस्तार होता है। (३) 'परिन्यास' मे किंचित् विस्तृत होते हुए काव्याथ का न्यास प्रेक्षक के हृदय म होता है।[3]

(४) 'विलोभन' मे गुण की स्तुति रहती है। यह स्तुति ही विलोभन का कारण है।

---

१ अगहीनोनरो यदवन्नैवारम्भक्षमो भवेत्।
अगहीन तथा काव्य न प्रयोगक्षम भवेत्।
उदात्तमपि यत काव्य स्यादगै परिवर्जितम्।
हीनत्वाद्धि प्रयोगस्य न सतां रजयेन्मन।
काव्य यदपि हीनार्थं सम्यगगै समन्वितम्।
दीप्तत्वात प्रयोगस्य शोभामेति न सशय। ना० शा० १९।८३ ५६ (गा० ओ० सी०)

२ ना० शा० १९।८० ५२ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० १९।३६, ५७, ७० (गा० ओ० सी०)।

अभिनवगुप्त के अनुसार उपक्षेप से विलोभन तक के चार अग मुखसधि म आवश्यक हैं, और भरत निर्दिष्ट क्रम से ही।[1] (५) 'युक्ति' द्वारा अर्थों का सप्रधारण या प्रकाश्य अथ का प्रकाशन होता है।[2] (६) 'प्राप्ति' के द्वारा सुखदायक वस्तु की प्राप्ति या मुख के प्रयोजन का उपसहार होता है। मनमोहन घोष ने 'सुखाय' के स्थान पर 'मुखाय' शब्द को परिभाषा मे स्वीकार किया है। परन्तु अन्य आचार्यों ने 'मुखाय' शब्द का ही पाठ स्वीकार किया है। उनके विचार से प्राप्ति या प्रापण ऐसा अग है जहाँ सुख या सुख के हेतुओं का अन्वेषण होता है।[3]

(७) 'समाधान' मे बीज रूपी काव्यार्थ का उपगमन होता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से प्रधान नायक की अनुगतता होने से काव्यार्थ का आधात होना है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की कल्पना है कि समाधान' के द्वारा बीज का उपन्पेपण विचित्र शैली मे पुन प्रस्तुत किया जाता है। 'समाधान' शब्द का अथ विस्तार करते हुए भरत ने 'उपगम', सागरनन्दी, विश्वनाथ और धनजय ने 'आगम, रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'पुनन्यास' और शिंगभूपाल ने 'पुनराधान' इस प्रकार का अथ विस्तार किया है। परन्तु इन भिन्न अथ परम्पराओं म मौलिक अन्तर नही है, क्योकि अभिनवगुप्त के अनुसार नायक की अनुगतता से बीज का पुनरुपगमन होता है और अन्य आचार्यों द्वारा बीज का व्यवस्थापन।[4] (८) 'विधान' द्वारा सुख दु ख पर आधारित नाट्यार्थ का विधान होता है। सब नाट्याचार्यों म विधान के स्वरूप के सम्बन्ध मे ऐकमत्य है।[5] (९) 'परिभावना म जिज्ञासा की अतिशयता से मिश्रित आश्चय का भाव उत्पन्न होता है।[6]

(१०) 'उद्भेद' मे काव्यार्थ रूपी बीज प्ररोह की अवस्था मे होता है। 'उद्भेद' शब्द के प्रयोग के कारण परवर्ती आचार्यों म परस्पर बहुत मतभेद मालूम पडता है। भरत द्वारा 'बीजार्थ का प्ररोह' यह स्पष्ट कर देने पर भी इन आचार्यों ने इसको 'उदघाटन' शब्द के द्वारा स्पष्ट किया है। 'उद्घाटन' प्रतिमुख सधि का एक अग भी है। बीज की प्ररोहावस्था और उदघाटनावस्था दोनो विकास की दो भिन्न दशाओ के सूचक है। प्ररोह उदघाटन से पूर्व की अवस्था है। कुछ आचार्यों की दृष्टि से उदभेद द्वारा गूढार्थ का प्रकाशन होता है न कि बीज का प्ररोह मात्र।[7] (११) 'करण' मे प्रस्तुत वस्तु का आरम्भ किया जाता है। नाटयदपणकार ने करण के स्थान पर 'कारण शब्द का प्रयोग किया है।[8] (१२) भेद' के द्वारा बीज की फलोत्पत्ति म बाधा रूप शत्रुओ के सधान का भेदन होता है। दशरूपक के अनुसार पात्र का बीज के प्रति प्रोत्साहन ही भेद' होता है। नाटयदर्पण के अनुसार 'भेदन' के अनेक रूप हैं। भेदन के द्वारा अक के अन्त म पात्रो का निष्क्रमण होता है तथा शत्रुओं के सधान का भेदन भी। आचार्यों मे भेदन के सम्बन्ध में

---

१ ना० शा० १९।७१क (गा० ओ० सी०), अ० भा० भाग ३, पृष्ठ ३८, द० रू० १।२७, सा० द० ३।४२।

२ ना० शा० १९।७१ख (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० अ० अ०, पृष्ठ ३९० पादटिप्पणी।

४ अ० भा० भाग ५, पृ० ३९, ना० ल० को० प० ५९-९९, सा० द० ६।७४, द० रू० १।२८, ना० द० १।५८ (गा० ओ० सो०, द्वि० स०)।

५ अ० भा० भाग ३, पृ० ४०, ना० द० १।४३, (गा० ओ० सी०, द्वि० स०)।

६ ना० शा० १९।७३ख (गा० ओ० सी०)।

७ ना० शा० १९।७४क, सा० द० ६।७८ र० सु० ३।३७, द० रू० १।२९।

८ ना० शा० १९।७४ख, ना० द० १।४४।

अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं।[1]

प्रतिमुख सन्धि के अंग

इस संधि में वस्तु रूप बीज का किंचित् उद्घाटन तो होता है, पर भूमिस्थित बीज की तरह नष्ट सा भी होता मालूम पड़ता है। भीष्म-वध से बीज दृष्ट होता है और अभिमन्यु के वध से नष्ट।[2]

प्रतिमुख संधि के तेरह अंग हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, तापन, नर्म नर्मद्युति, प्रगमण निरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार।[3]

(१) विलास में रति (प्रेम) सुख के लिए इच्छा प्रकट की जाती है। रति नामक भाव के कारणभूत भोग के विषय प्रमदा या पुरुष के लिए परस्पर इच्छा होती है। जिस रूपक का साध्य काम रूपी फल हो वहीं पर प्रतिमुख में विलास नामक अंग की भावना होती है। परन्तु रति रूप की भावना उचित स्थान पर अपेक्षित है। वेणीसंहार में दुर्योधन भानुमती के मध्य विलास की भावना रसानुकूल नहीं है क्योंकि वेणी संहार नाटक का साध्य 'काम' (शृंगार) नहीं, वीर रस है। ध्वन्यालोककार ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि संधि और सन्ध्यंग का संगठन रस वध को दृष्टि में रखकर होना चाहिए।[4] (२) परिसर्प—दृष्ट अथवा नष्ट काव्यार्थ का अनुसरण या अनुसंधान होने पर यह परिसर्प नामक सन्ध्यंग होता है। इसके द्वारा प्रकृत काव्यार्थ का प्रसार होता है। अन्य आचार्यों की अपेक्षा विश्वनाथ ने 'दृष्ट-नष्ट' के स्थान पर 'ईष्ट नष्ट' का अनुसरण या पाठ स्वीकार कर व्याख्या की है। नाट्यदर्पणकार ने परिसर्प को प्रतिमुख संधि का तीसरा अंग माना है तथा उनके विचार से यह प्रतिमुख संधि के उन अंगो में है जिसका प्रयोग अत्यावश्यक है, शेष आठ ऐच्छिक है। यह विभाजन अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत नहीं किया गया है।[5]

(३) विधूत—आरम्भ (आदि) में किए गए अनुनय का अस्वीकार ही विधूत होता है। अभिनवगुप्त ने भरत प्रयुक्त आदि शब्द के आधार पर यह कल्पना की है कि आदि में अनुनय पूर्ण वचनों का अस्वीकार होता है पर पुनः स्वीकार भी होता है। अन्य आचार्यों को पुनः स्वीकार' की कल्पना अभिप्रेत नहीं है तथा विधूत' का अर्थ भरत के अपरिग्रह की अपेक्षा अरति (न+रति) अर्थ स्वीकार किया है। अरति तो दुःख या खेद वाचक है। परन्तु खेदवाचक 'रति' एक पृथक सन्ध्यंग ही है। परवर्ती विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने तो 'अरति और 'अस्वीकार' दोनों का ही अन्तर्भाव 'विधूत' में किया है। वस्तुतः अर्थधारा की यह भिन्नता नाट्यशास्त्र के पाठभेदों के कारण भी प्रचलित हो गई। विधूत का अरति अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि अरति

---

१ ना० शा० १६।७४ख अ० भा० भाग ३, पृ० ४१ र० सु० ३।२७ हिं० ना० द०, पृष्ठ २१७ द० रू० १।३० ।

२ ना० शा० १६।५६ १० (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० १६।५६ ६० (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० १६।७६ क, अ० भा० भाग ३, पृ० ४२ द० रू० १।१२; भा० प्र०, पृ० २०६ ।

५ ना० शा० १६।७६ ख; सा० द० ६।८३; ना० द० १।४७ पुष्पादीनि पुन पञ्चावश्य प्रतिमुखमर्थो भवग्न्येव ।

वाचक 'रोध' पृथक अग है ही।[१]

(४) तापन—अपाय (विघ्न) दशन होने पर 'तापन' नामक सध्यग होता है। प्रकाशित नाटयशास्त्र को छोड कुछ अय सस्करणा म 'तापन' के स्थान पर 'शमन' का प्रयोग मिलता है। फलत दशरूपक एव कुछ अय ग्रथो म 'तापन' के स्थान पर 'शमन' या 'शम' नामक अग का उल्लेख है। शम' नामक अग द्वारा 'अरति का शमन' होता है। इस प्रकार दोना की अर्थधारा एक-दूसरे के विपरीत है। आचाय विश्वनाथ ने 'तापन' पाठ स्वीकार करते हुए 'उपाय का अदशन' यह व्याख्या की है। सागरनदी ने 'अपाय दशन के' रूप म उसके अथ का व्याख्यान किया है। अभिनवगुप्त, सागरनदी और विश्वनाथ तापन की परम्परा के समथक हैं और धनजय, रामचद्र गुणचद्र एव शिंगभूपाल आदि शमन या सात्वन की परम्परा में, जिसम अपाय का दशन या अपाय का शमन हाता है। यह विचार भिन्नता नाटयशास्त्र के पाठ के कारण ही है।[२] (५) नम—मनोरजन और विनोद के लिए जहाँ हास्य का प्रयोग होता है, वहाँ हास्य नम नामक अग होता है।[३]

(६) नमद्युति—जिस हास्य-वचन की योजना दोष प्रच्छादन के लिए की जाए वह नमद्युति नामक अग होता है। इस अग के द्वारा एक ओर हास्य दूसरी ओर दोष प्रच्छादन ये दोना ही काय सपन्न होते हैं। परन्तु आचाय विश्वनाथ शारदातनय तथा धनजय ने 'परिहास वचन से उत्पन्न आनन्द की स्थिति' को 'नमद्युति' के रूप म स्वीकार किया है। इन आचार्यों की दृष्टि से नम और नमद्युति म अन्तर बहुत कम रहता है। शिंगभूपाल ने दोष के स्थान पर क्रोध प्रच्छादन का विचार कल्पित किया है। हास्य का सृजन क्रोध के अपह्नव के लिए होता है। नाटय दपणकार ने दोष प्रच्छादन तथा हास्य से उत्पन्न आनन्द दोनो अथ-परम्पराओ का उल्लेख किया है।[४] (७) प्रगयण—प्रश्न और उत्तर की शैली म जहाँ पात्रा के मध्य वचन विन्यास होता है वहाँ प्रगयण' होता है। काव्यमाला सस्करण म प्रगयण के स्थान पर 'प्रशमन' पाठ स्वीकार किया गया है परन्तु अथ म कोई अन्तर नही। दशरूपक म प्रगमन पाठ तो है पर परस्पर उत्तरोत्तर वाक्य विन्यास को ही प्रगमन स्वीकार किया है।[५] (८) निरोध—विपत्ति की प्राप्ति होने पर 'निरोध' नामक अग होता है। निरोध के स्थान पर विरोध और 'रोध' आदि भी पाठ अन्य नाटयशास्त्रीय ग्रन्थो म प्राप्य हैं। यह निरोध ईष्ट साध्य की बाधा से होता है।[६] (९) पयुपासन—क्रुद्ध व्यक्ति के अनुनय की प्रक्रिया 'पर्युपासन' के नाम से सबोधित होती है। पयुपासन और विधूत एक दूसरे के निकटवर्ती हैं परन्तु इसमे अनुनय का ही विधान है पर विधूत

---

१ ना० शा० १९।७७क, अ० भा० भाग ३, पृ० ४३ सा० द० ६।८१ र० सु० ३।४३ द० रू० १।३३ (विधूतस्यादरति)।

२ ना० शा० १९।७७ख अ० भा० भाग ३ पृ० ४३ ना० ल० को० पं० ६६१ सा० द० ६।८५, द० रू० १।३३ ना० द० १।४८ख र० सु० ३।४४।

३ ना० शा० १९।७८क, ना० द० १।४९।

४ ना० शा० १९।७७ख र० सु० ३ ४६ सा० द० ६ ८७ द० रू० १।३३, भा० प्र०, पृ० २०९, ना० द० १।४९।

५ ना० शा० १९।७९क, का० भा० ७७क, द० रू० १।३४क।

६ ना० शा० १९।७९ख।

म उस अनुनय को स्वीकार करने का भी विधान है।[1]

(१०) पुष्प—अनुरागपूर्ण वचन का विन्यास जहाँ होता है वहाँ 'पुष्प' नामक अंग होता है। पुष्प नाम अन्वर्थ है। जिस प्रकार पुष्प (प्रेम) विकासशील होता है उससे सौरभ फैलता रहता है, उसी प्रकार जिन अनुरागपूर्ण वचनों से प्रेम की मान्यता छा जाती है, ऐसे वाक्य पुष्प की तरह विरामप्रद होते हैं। (११) वज्र—जहाँ वज्र से निष्ठुर वाक्यों का प्रयोग किया जाय वह 'वज्र' नामक अंग होता है। ऐसे वाक्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार स्वयं प्रकाश होते हैं, पूर्व वाक्य एवं किए हुए पूर्व कार्य का विश्वास होता है। (१२) उपन्यास—किसी कार्य के लिए कोई युक्ति प्रस्तुत होती है तो वह 'उपन्यास' नामक अंग होता है। विश्वनाथ और शारदातनय के अनुसार प्रसन्नता प्रतिपादक वाक्य उपन्यास होता है। भोज ने इसे अंग के रूप मे स्वीकार ही नहीं किया है। (१३) वर्ण संहार—जहाँ पात्रों का सम्मिलन हो, वह वर्णसंहार होता है। अभिनवगुप्त और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने वर्ण का अर्थ नायक, प्रतिनायक, सहायक पात्र किया है। परन्तु विश्वनाथ एवं धनंजय आदि अन्य आचार्यों की परम्परा में 'वर्णित अर्थ का तिरस्कार तथा ब्राह्मण आदि वर्ण चतुष्टय का सम्मिलन' यह कल्पित किया है, परन्तु संहार तो वध से ही हो जाता है।[2]

गर्भ सन्धि के अंग

गर्भ सन्धि के निम्नलिखित तेरह अंग हैं—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, आक्षिप्ति, तोटक, अधिबल, उद्वेग और विद्रव। भरत निरूपित अंगों की परिभाषा, स्वरूप, क्रम और नाम की तुलना में परवर्ती आचार्यों ने किंचित् परिवर्तन प्रस्तुत किया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने तो इनमें से आक्षेप, अधिबल, मार्ग, असत्याहरण और त्रोटक को प्रधान माना है तथा संग्रह, रूप, अनुमान और प्रार्थना आदि आठ अंगों को गौण। इस सन्धि में बीज रूप वस्तु का उद्भेद तो होता है पर पुनः नष्ट-सा हो जाने पर अन्वेषण किया जाता है।[3]

(१) अभूताहरण—कपट पर आधारित वचन विन्यास होने पर अभूताहरण या असत्याहरण होता है।[4] (२) मार्ग—तत्त्वार्थ का कथन होने पर मार्ग नामक सन्ध्यंग होता है। परन्तु मनमोहन घोष महोदय ने मार्ग का संकेत (इंडिकेशन) शब्द से परिभाषित किया है। उनकी दृष्टि से 'मार्ग' में वक्ता या पात्र अपनी वास्तविक इच्छा प्रकट करता है। मार्ग शब्द अनुसंधान या अन्वेषणपरक भी होता है। अतः इसमें तत्त्वार्थ या परमार्थ का अनुसंधान भी आवश्यक ही है।[5] (३) रूप—विचित्र अर्थ (प्राप्ति) की सम्भावना होने से जहाँ परस्पर विरोधी तर्कजाल की रचना की जाती है तो 'रूप' नामक सन्ध्यंग होता है। अन्य परवर्ती ग्रंथों में परिभाषा का यही रूप प्रतिपादित है। परन्तु काव्यमाला संस्करण में केवल 'चित्रार्थ समवाय' को ही रूप माना है

---

१ ना० शा० १९।८०क।

२ ना० शा० १९।८०ख–८२ द० रू० १।३८ सा० द० ६।९३ ९५ भा० प्र०, पृ० २०९, ना० द० १।४९क अ० भा० भाग १, पृ० ४७।१।९५।

३ ना० शा० १९।९१ख ९२ तथा १९।४१ (गा० ओ० सी०) द० रू० १।३६, ना० द० १।५१ ५२।

४ ना० शा० १९।८२ ख (गा० ओ० सी०) सा० द० ६।९६, द० रू० १।३८।

५ ना० शा० १०।८३ क, ना० शा० अ० अनु०, पृ० ३६२, द० रू० १।३८ख।

न कि 'तर्क' को भी।[1]

(४) उदाहरण—अतिशयता या उत्कर्ष-युक्त वाक्य की योजना 'उदाहरण' नामक अंग में होती है। (५) क्रम नामक अंग में भाव-तत्त्व की उपलब्धि होती है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से इस अंग में भाव्यमान अर्थ की परिकल्पना की जाती है। (६) संग्रह—शान्त, मधुर वचन और दान की उक्ति का 'संग्रह' इस अंग में होता है। (७) अनुमान जहाँ किन्हीं हेतुओं के आधार पर नायकादि के द्वारा तर्क किया जाय वहाँ अनुमान नामक अंग होता है। यहाँ लिंगरूप हेतु के आधार पर अविनाभूत लिंगी का अनुमान होता है। यहाँ लिंगी के सम्बन्ध में निश्चयता रहती है सन्देह या वितर्क नहीं। अतः मुखसंधि के ऊह रूप 'युक्ति' तथा प्रतिमुख सन्धि के वितर्क प्रधान 'रूप' से भी भिन्न है। (८) प्रार्थना—रति हर्ष आदि की जहाँ याचना की जाती है अथवा साध्य फल के लिए प्रकर्षता से अभ्यर्थना हो। नाट्यदर्पण के अनुसार प्रार्थना को सन्ध्यंग के रूप में बहुत से आचार्य स्वीकार नहीं करते। दशरूपक, रसार्णव सुधाकर, भावप्रकाशन में इसका उल्लेख नहीं है। (९) आक्षिप्ति—हृदय में स्थित किसी गुप्त अभिप्राय के निमित्तवश प्रकट होने पर 'आक्षिप्ति' नामक अंग होता है। काव्यमाला संस्करण में क्षिप्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से अन्तःप्रतिष्ठापित अभिप्राय का बहिर्वमण होता है, क्योंकि वह रहस्य गोपनीय नहीं होता। आचार्य ने आक्षेप, उत्क्षिप्त और क्षिप्ति आदि का प्रयोग किया है।[2]

(१०) त्रोटक—आवेशपूर्ण वाक्य का प्रयोग होने पर त्रोटक होता है। त्रोटक शब्द अन्वर्थ है। हर्ष, क्रोध आदि के आवेगपूर्ण वचनों से हृदय का भिन्न हो जाना स्वाभाविक है। (११) अधिबल—कपट आचरण के द्वारा दूसरे कपटी को पराजित करने पर 'अधिबल' नामक अंग होता है। एक की वंचना क्रिया दूसरे की वंचना क्रिया को अपने बुद्धि-बल से पराजित करती है। दशरूपककार ने अधिबल को त्रोटक का अन्यथा भाव के रूप में स्वीकार किया है। त्रोटक में आवेगवचन का विन्यास होता है पर अधिबल तो स्वतन्त्र अंग है, अर्थविचार की दृष्टि से भिन्न भी। (१२) उद्वेग—शत्रु, दस्यु और राजा के कारण भय होने पर उद्वेग होता है। (१३) विद्रव—शंका, भय और त्रास के कारण उद्विग्नता होने पर 'विद्रव' नामक अंग होता है। नाट्यशास्त्र के कुछ संस्करणों में 'विद्रव' के स्थान पर 'संभ्रम' का भी उल्लेख है। दशरूपककार ने 'संभ्रम' शब्द को ही स्वीकार किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'विद्रव' और 'संभ्रम' का अन्तर स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि से उपनत भय उद्वेग होता है और उस भय की संभावना में 'विद्रव' होता है।[3]

विमर्श सन्धि (अवमर्श)

विमर्श सन्धि के अंगों की संख्या के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में एक-सा उल्लेख नहीं मिलता है। गायकवाड ओरियण्टल सीरीज संस्करण के अनुसार उनकी

१ ना० शा० १९।८३ख, द० रू० १।३६ क, सा० द० ६।९८, ना० ल० को० ७३५।

२ ना० शा० १९।८४-८६, द० रू० १।३९-४०, सा० द० ६।९९-१०२, ना० ल० को० ७४०-४६, भा० प्र०, पृ० २११, ना० द० १।५३-५४।

३ ना० शा० १।८७-८८क, ना० द० १।५४-५५, द० रू० १।४१-४२, सा० द० ६।१०५-१०८, ना० ल० को० ७५५, ७५८, ७६६, ७६६ भा० प्र०, पृ० २११।

सख्या पन्द्रह हो जाती है। काव्यमाला सस्करण म तेरह, पर पाद टिप्पणी म सोलह अगो का उल्लेख है। काशी सस्करण म ६३ अग हैं। पर सब सस्करणो म संधियो का उपसंहार करते हुए ६४ अगो का स्पष्ट उल्लेख है। अभिनव भारती मे ६४ का ही समर्थन किया है। मुख में १२, प्रतिमुख मे १३, गभसधि म १३, विमश म १२ और निर्वहण म १४। इस प्रकार कुल ६४ हा अग होते हैं। इस सन्धि मे क्रोध, व्यसन या विलोभन-वश फल प्राप्ति के विषय म पर्यालोचन किया जाता है तथा गभसधि के द्वारा बीज का प्रस्फुटन होता है।[1]

(१) अपवाद (दोषो का प्रख्यापन),

(२) सफेट में रोषपूर्ण भाषण या भेद भाषण,

(३) द्रव मे पूज्यजन के तिरस्कार का भाव होता है।

किन्ही ग्रथो मे द्रव के स्थान पर विद्रव और अभिद्रव का भी प्रयोग है। विद्रव का भाव होता है ताडन, वध और बधन आदि। नामभिन्नता के साथ सन्धि की दो भिन्न अथ-परम्पराएँ भी प्रचलित हैं। एक के अनुसार पूज्यजन के तिरस्कार का भाव सूचित होता है और दूसरी परम्परा के अनुसार वध-बन्धन आदि का सूचन होता है।[2]

(४) 'शक्ति'—नामक अग म कुपित व्यक्ति के क्रोध का शमन या प्रसादन होता है। प्रसादन शक्ति के कारण ही इस अग का नाम 'शक्ति' है। दशरूपक के अनुसार विरोधी घटना का प्रशमन होता है और साहित्य दपण के अनुसार विरोधी व्यक्ति के क्रोध का प्रशमन होता है। काव्यमाला सस्करण म 'विरोध शमन' के स्थान पर 'विरोधोपशम' पाठ ही स्वीकार किया गया है। (५) व्यवसाय—अगीकृत अथ के कारणो की प्राप्ति की सम्भावना होने पर व्यवसाय नामक अग होता है। परन्तु दूसरी एक और परम्परा के अनुसार आत्मशक्ति का आविष्करण ही व्यवसाय होता है। दशरूपक के प्रसिद्ध विदेशी अनुवादक हॉस ने इसी अथधारा को स्वीकार किया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने दोनो परम्पराओ का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि आरम शक्ति का आविष्कार तो 'सरम्भ' नामक सध्यग से सूचित होता है। उन्होंने किसी अन्य आचाय के मत को उद्धत करते हुए इस अग को स्वीकार योग्य नही भी माना है। (६) प्रसग—प्रसग म गुरुजना का कीतन होता है, पर एक नाटयशास्त्रीय परम्परा के अनुसार अप्रस्तुत अथ का कथन ही प्रसग होता है। (७) द्युति—तिरस्कार या अपमानपूण वाक्यो के प्रयोग होने पर यह अग होता है।[3]

(८) खेद—मानसिक और कायिक चेष्टाआ के कारण श्रान्ति का भाव जहाँ उत्पन्न होता है तो यह अश होता है। दशरूपक और रसाणव सुधाकर म खेद को स्वीकार नही किया गया है। परन्तु साहित्यदपण, नाटयदपण आदि ग्रन्थो मे खेद का उल्लेख है। (९) प्रतिषेध—ईप्सित अथ का निषेध होने पर यह अग होता है इसका निषेध के रूप मे भी आचार्यों ने उल्लेख किया है। खेद के समान ही दशरूपक रसाणव सुधाकर और भावप्रकाशन म उल्लेख नही है।

---

१ ना० शा० १९।९२ ख ९५ क, (गा० ओ० सी०), का० मा० ९२ ९३क का० स० २१।९५ ९६ख।

२ ना० शा० १९।८८ख ९० क, द० रू० १।४८ख, ना० ल० को० ८०१ ८१४ सा० द० ६।११० ११२ ना० द० १।५७ख ५८क भा० प्र०, पृ० २११।

३ ना० शा० १९।९०-९२क द० रू० १।४५ ४६ ना० द० १।६७ ६६ सा० द० ६।११२, ११६, ११४ ना० ल० को प० ८२६

(१०) विरोध—काय मे विघ्न उपस्थित होने पर यह अग होता है। विरोध की एक और परिभाषा भी मिलती है, का० मा० सस्करण के अनुसार उत्तेजनात्मक वचनो द्वारा घात प्रतिघात होने पर विरोध होता है। इन्ही दो अथ धाराओ के आधार पर नाटय शास्त्रीय ग्रन्थो म विभिन्न परिभाषाएँ दिखाई देती हैं। (११) आदान—बीज और फल की समीपता होने पर यह अग होता है।[1]

(१२) छादन—किसी विशेष उद्देश्य से अपमानकृत वाक्य की योजना होने पर छादन सादन या छलन नामक अग होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार अवमानकृत वाक्य की योजना होन पर अपमान रूपी कलक अपवादित हो जाता है। अत छादन नाम अन्वथ भी है। मनमोहन घोष महोदय ने छादन के स्थान पर सादन पाठ स्वीकार किया है पर परिभाषा के रूप म कोई अन्तर नहीं है। नाटयदपणकार ने अपनी विवृत्ति मे 'छादन' के सम्बन्ध मे प्रचलित अनेक मत मतांतरा का सकलन किया है। शब्द प्रयोग की दृष्टि से छादन, सादन और छलन ये तीन शब्द प्रयुक्त हैं और अथधारा की दृष्टि से अवमान-सहन किसी प्रयोजन से, अपमान-भाजन या मोहन रूप छलन ये तीन अथ स्वरूप प्रचलित हैं। मूल रूप से तीनो अथ धाराएँ भरतानुसारी हैं। (१३) प्ररोचना—इस अग मे उपसहार का सकेत किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार निर्वाह्य अर्थ का सकेत होता है। विश्वनाथ और शारदातनय आदि आचाय निवहण सधि मे होने वाली भावी कार्य सिद्धि का सकेत ही प्ररोचना को मानते हैं। (१४-१५) युक्ति और विचलना—इन दो अगों का उल्लेख गायकवाड ओरिएटल सीरीज, सस्करण के प्रक्षिप्त पाठ मे हैं, का० मा० और काशी सस्करणो मे नही है। अभिनवगुप्त ने युक्ति पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए बताया है कि आचार्यों मे परपरा से ही सध्यगा के सबध मे मतभेद रहा है, किसी ने बारह और किसी ने तेरह अग माने हैं।[2]

निवहण सधि

निवहण सधि के निम्नलिखित तेरह अग हैं—सधि, निरोध, ग्रथन, निणय, परिभाषा, धुति, आनन्द समय, शुश्रूषा, उपगूहन, पूववाक्य, काव्यसहार और प्रशस्ति। पच अवस्था और पच अथ प्रकृति रूप सुखदु खात्मक इतिवत्त का रसात्मक रूप म फल निष्पत्ति के लिए समानयन होने पर निवहण सधि होती है।[3]

(१) सधि—इस अग मे मुखसधि मे उपक्षिप्त बीज का पुन उपगमन होता है। सागरनदी ने सधि के स्थान पर अथ का उल्लेख किया है। अथ द्वारा प्रधान अथ के उपक्षेप की कल्पना की है। (२) निरोध—युक्तिपूवक काय या फल का अन्वेषण ही निरोध होता है। निरोध के लिए विबोध और विरोध आदि शब्द भी प्रचलित हैं। दशरूपक म 'विबोध' और प्रतापरुद्र यशो भूषण मे 'निरोध' का उल्लेख होने पर दोनो के विचार-तत्त्व मे कोई अन्तर नही है। नाटकलक्षण

१ ना० शा० १६।६२ ६४क ना० द० १।५६क सा० द० ६।११७ १६, द० रू० १।४६ न० ल० को० ८३८।४४।

२ ना० शा० १६।६४ ६६ द० रू० १।४६ सा० द० १।१२० १२६ ना० द० १।५८, ना० ल० को० ८४६ ५२ भ० भा० भाग ३, पृ० ५५ ५६।

३ ना० शा० १६।६५ख ६७ख (गा० ओ० सी०) का० मा० १६।६४ ६५, का० स० २१।६७ख, ६६क।

कोष में अनुयोग का प्रयोग इसी अंग के लिए है। (३) प्रथन—म काय या फल का उपन्यास होता है। जिस काय-व्यापार के द्वारा फलयोग का कथन सभव हो इसीलिए यह अन्वर्थ नाम प्रचलित है। (४) निणय—इस अंग म प्रमाण सिद्ध वस्तु का कथन होता है। नाट्यदपणकार ने मूल विचार का विस्तार करते हुए अज्ञात या सदेहयुक्त व्यक्ति के लिए अनुभूत अथ के कथन को ही निणय माना है। (५) परिभाषण—निंदासूचक वचन विन्यास इस अग म होता है। दशरूपक और भावप्रकाशन के अनुसार परस्पर वार्तालाप होने पर परिभाषण होता है। (६) द्युति—(धृति, दृति), प्राप्त क्रोधादि अथ का प्रशमन होने पर द्युति नामक अग होता है। द्युति के समानान्तर धृति पाठ का उल्लेख काव्यमाला सस्करण म है, दशरूपक म दृति पाठ है। परन्तु तीनो भिन्न शब्दो के अथतत्त्व म कोई अन्तर नही है। (७) आनद—इस अग म प्रार्थित अथ की प्राप्ति होती है।[१]

(८) समय—इस अग म दु ख के दूर होने का भाव वतमान रहता है। समय के लिए शम का भी प्रयोग कई आचार्यों ने किया है। शम का भाव है दु ख शमन या दु खापगम। (९) शुश्रूषा—शुश्रूषा आदि से उपसपन्न प्रसन्नता ही प्रसाद होता है। नाट्यदपणकार ने प्रसाद के स्थान पर 'उपास्ति' शब्द का प्रयोग किया है, दूसरे को प्रसन्न करने वाला सेवा आदि व्यापार ही 'उपास्ति' होता है। (१०) उपगूहन—इस अग मे अदभुत अथ की प्राप्ति की योजना होती है। (११) भाषण—सामदान आदि सपन्न अथ ही भाषण होता है। सामदान आदि शब्दो का प्रयोग परिभाषा म उपलाक्षणिक है। सुखान्त नाटका के अन्त मे प्रियवचन मात्र-सामदान ही होते हैं। (१२) पूव वाक्य—इस अग मे फल का उपदशन होता है। धनिक ने पूवभाव शब्द स्वीकार करते हुए काय-दशन उसका अथ किया है। (१३) काव्यसहार—नाटक के अन्त म वर प्रदान की समाप्ति होने पर 'काव्य-सहार' नामक अग होता है। फल प्रदशन के उपरान्त नाटक के समाप्ति-काल म कोई श्रेष्ठ पात्र 'किं ते भूय उपकरोमि' यह कहता हुआ वर प्रदान के लिए प्रस्तुत होता है। (१४) प्रशस्ति—राजा और देश आदि की कल्याण-कामना का भाव प्रशस्ति मे निहित रहता है।[२]

सध्यग के अतिरिक्त सध्यन्तर

उपयुक्त चौंसठ अगो के अतिरिक्त २१ सध्यन्तरो का उल्लेख नाट्यशास्त्र के (गा० ओ० सी०, और का० मा०) *सस्करणों में किया गया है वे निम्नलिखित हैं* साम, दाम, भेद, दण्ड, प्रदान, वध, प्रत्युत्पन्नमतित्व गोत्र-स्खलन, साहस भय, ह्री माया, क्रोध, ओज, सवरण, भ्रान्ति हेत्वाधारण दूत लेख, स्वप्न चित्र और मद। इन इक्कीस सध्यतरो मे से कुछ का अन्तर्भाव व्यभिचारी भावो मे हो जाता है तथा कुछ तो कथावस्तु के विविध अग हैं। दशरूपक और साहित्य दपण में इनका पृथक उल्लेख नही है, नाट्यदपणकार ने इनका उल्लेख करके भी अगो के अन्तगत

१ ना० शा० १९.६७-१००ख द० रू० १।५१ ८३ ना० ल० को० ८९१ ७२ सा० द० ६।११४ २६ ना० द० १ ११५।

२ ना० शा० १९।१०१ १०४क ना० द० १।६४ द० रू० १।५२ ५३ पर धनिक की टीका सा० द० ६। ११५ ३६, भ० मा० भाग १, पृ० ५६१

अन्तर्भाव होने से इनकी परिगणना करना अनावश्यक माना है।[1]

लास्यांग

भरत ने दस लास्यांगो का भी उल्लेख और व्याख्यान किया है। ये लास्यांग भी भाण की तरह एक-पात्र-हाय होते हैं, पूर्व रग के अतिरिक्त अभिनेय रूप मे भी योजना होती है

(१) गेयपद मे अभिनयरहित गायन, (२) स्थितपाठ्य मे वियोगिनी द्वारा रसोपयोगी प्राकृत भाषा मे पाठ, (३) आसीन मे अभिनयरहित हो चिन्ता शोक समन्वित पाठ, (४) पुष्प गण्डिका म पुष्पमाला की तरह गीत नृत्य की योजना (५) प्रच्छेदक मे जल क्रीडा होने पर जल मे, प्रसाधन करते हुए दर्पण मे, पानगोष्ठी के अवसर पर पान-पात्र म और चन्द्रातप म प्रिय के प्रति बिम्ब के आलिंगन का चित्रण, (६) त्रिमूढक म समवृत्त अलकृत पुरुष भावाढ्य नाट्य, (७) द्विमूढक म श्लिष्ट भाव रसोपेतता, (८) उत्तमोत्तम म अनक रसो का पर्यवसान, (९) भाविक म काम पीडित विरहिणी द्वारा प्रिय के स्वप्न म दर्शन होने पर भाव प्रदर्शन और (१०) चित्रपद म मदनानल सतप्ता वियोगिनी का (स्वप्न म) प्रिय को लक्ष्य कर अभिनय होता है।[2]

सध्यगो की योजना और रसपेशलता

पच सन्धियो के चौंसठ अगों का उल्लेख तो भरत ने किया है और यह समझकर कि नाट्य प्रयोग मे चमत्कार और रसपेशलता का सृजन इनके माध्यम से होता है। भरत बडे यथार्थ-वादी नाट्य शास्त्री थे, अत अगो की योजना के प्रसग म नाट्य के मूल उद्देश्य रस की कल्पना उनके चिन्तन-मार्ग का प्रकाश-स्तम्भ की तरह निर्धारण करती है। अत विभिन्न सन्धियो मे अगो की योजना रस की अपेक्षा से होनी चाहिए, उसकी उपेक्षा करके नही। अगो की योजना तो रस-सृजन का साधन मात्र है। यदि कोई अग अपेक्षित रस भाव के अनुकूल न हो तो उसकी योजना कदापि नही करनी चाहिए। दूसरी ओर किसी सधि के कुछ अगो का दो-तीन बार भी प्रयोग हो सकता है यदि उसके द्वारा रसपेशलता का प्रसार हो।[3] भरत की इस विचार धारा का प्रभाव उत्तरवर्ती नाटकारो पर भी पडा है। रत्नावली म प्रतिमुख सन्धि के 'विलास' नामक अग का बार बार प्रयोग करके शृगार रस को उद्दीप्त किया है। वेणीसहार नाटक मे 'सफेट' और 'विद्रव' नामक अगों के बार-बार प्रयोग मे वीर और रौद्र रस को उद्दीप्त किया गया है। परन्तु मूल ग्रन्थ मे 'द्विस्त्रि' शब्द का प्रयोग करके अतिशय प्रयोग भी वर्जित किया है।

कवि वाणी मे साधारणता-प्राणता

सधियो के अगो की योजना कार्य और अवस्थाओ के सदर्भ मे ही होती है। सध्यतर उपयोगी हैं, परन्तु उनका अन्तर्भाव तो सध्यग, व्यभिचारी भाव तथा कथावस्तु म ही हो जाता

---

१ ना शा० १६।१०७-१०६ (गा० ओ० सी०)। एषु च केषांचित् सामान्याभिनयस्वप्नभग रूपत्वात् केषांचित्मत्यादीनां व्यभिचारी रूपत्वात् न पृथक् लक्षणं प्रयाम । ना० द० पृष्ठ १०२।

२ ना० शा० १६।११६ १३८ (गा० ओ० सी०)।

३ कविभि कायकुशलै रसभावमपेक्ष्य तु।
सनिवेश्यानि कान्यचितु द्विस्त्रियोगेन वा पुन ॥ ना० शा० १६।१०४ १०६।

है। पर लास्यांगो के प्रयोग के सम्बन्ध म अभिनवगुप्त ने विस्तार से विचार किया है और अपने उपाध्याय भट्टतौत के विचारों का आकलन भी। भट्टतौत के अनुसार लास्यांगो का भी एकमात्र प्रयोजन है नाटय प्रयोग म रसपेशलता का सचार। अलकार, गुण, वत्ति, सधि आदि आनद-दायक गुणो के एक-दूसरे के अनुकूलतापूवक योग होने से झटिति रस की व्यजना होती है। सरल वध-युक्त वत्तो और स्निग्ध पदो द्वारा सहृदय के मम का स्पश होता है। इस प्रकार की उत्तम काव्य-सामग्री काव्य मे निबद्ध होने तथा अत्यधिक रसपोषक तत्त्वो से समद्ध होने पर रस का पोषण-अभिवधण करती है। इस ससार से नाट्य-लोक का आविर्भाव उस पोषणता ही के लिए तो हुआ। लोकोत्तर सभार से युक्त होने पर ही कवि वाणी रस का आविर्भाव करती है, क्योकि उसम साधारणता का प्राण रस उच्छवसित होता रहता है।[1]

इतिवृत्त विभाजन के कुछ अन्य आधार

भरत ने नाट्य के शरीर रूप इतिवत्त का बहुत ही तर्क-सम्मत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कथावस्तु की स्रोतमूलक, अवस्थामूलक उपायमूलक तथा अगमूलक विवेचना मुख्यत भरत एव अन्य आचार्यों के आधार पर हमने प्रस्तुत की है। यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि भरत का विवेचन ही मूलत परवर्ती आचार्यों के भी विवेचन के लिए आधार बना रहा। इन आचार्यों ने कथावस्तु के विभिन्न विभाजनो और अगो के सम्बन्ध मे कही भी मौलिकता का सकेत नही किया है। यत्र-तत्र सध्यगो के नामो और उनकी परिभाषाओ म जो भी किंचित् अन्तर दृष्टि गोचर होता है और वह भी नाटयशास्त्र के विभिन्न प्रचलित सस्करणो के प्रभाव के कारण ही। अत भरत का नाटयशास्त्र नाटय के इतिवत्त, उदभव और विकास की दृष्टि से आकर ग्रन्थ है।

नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इतिवृत्त का विभाजन

अथ प्रकृतियाँ सध्यग और लास्याग आदि तो इतिवत्त के अनिवाय कथाश हैं जिनके ही द्वारा उसकी सुसगठित और रस भावपूण रचना होती है। परन्तु रगमच पर प्रयोग की दृष्टि से कथावस्तु का एक और भी महत्त्वपूण विभाजन भरत ने प्रस्तुत किया है। सम्पूण कथा अकों मे विभाजित की जाती है। नाटक और प्रकरण मे पाच से दस अक तक होते हैं।[2] अन्य रूपक भेदो के लिए भी अको की सख्या नियत है। पर कथा के कुछ ऐसे भी अश होते हैं जो अको के द्वारा प्रयोज्य नही होते, उनकी सूचना विभिन्न शैलियो म न्शको का दी जाती है। नाटयशास्त्र के अनुसार कथा के दो खण्ड होते हैं। कथावस्तु का सरस उचित और आवश्यक अश तो अको के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है परन्तु प्रयोग की दृष्टि स नीरस और अनुचित अश विभिन्न अर्थोपक्षेपको के माध्यम से। दशरूपककार ने उसे ही 'सूच्य' और दृश्य शब्दो मे अभिहित किया है। सूच्य के द्वारा नीरस और अनुचित घटनाओ का सूचन होता है और दृश्य द्वारा रगमच पर प्रयोज्य वत्त को प्रस्तुत किया जाता है।[3] नाटय दपणकार ने आधिकारिक और प्रासगिक कथाओ

---

१ अ० भा० भाग ३, पृष्ठ ७८ (भट्टतौत)।

२ प्रकरण नाटक विषये पचाद्यादशपरा भवन्त्यके। ना० शा० १८।२६क (गा० ओ० सी०)।

३ नीरसोऽनुचितस्तत्र सस्सूच्यो वस्तुविस्तर।
दृश्यस्तु मधुरोदात्त रसभाव निरन्तर। द० रू० १।५६ ५७।

के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य और उपेक्ष्य। सूच्य और प्रयोज्य तो पुराने भेद ही हैं, अभ्यूह्य एवं उपेक्ष्य नये और उपयोगी हैं। अभ्यूह्य के द्वारा देशान्तर प्राप्ति आदि की कल्पना की जाती है और उपेक्ष्य के द्वारा कथा के जुगुप्सित भाग की। स्पष्ट है कि अकान्तगत प्रयोज्य कथाश के अतिरिक्त अन्य सबका सूचन सूच्य तथा अवच्छेद के द्वारा होता है।[१]

अक का स्वरूप—भरत की दृष्टि में 'अक' रूढ़ि शब्द है। भावों और रसो के योग से अकान्तगत इतिवृत्त उत्तरोत्तर अकुरित होता चलता है। इसमे नाना प्रकार के विधानो का भी योग होता है, इसीलिए यह 'अक' होता है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टलोल्लट की दृष्टि से अक यदृच्छा शब्द है यह भावो और रसो से गूढ और व्याप्त होता है।[२] उन्होने 'रूढ़ि' के स्थान पर 'गूढ' पाठ स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि मे अक शब्द चिह्नायक है, चिह्न के द्वारा एक वस्तु का दूसरी वस्तु से पृथक्करण होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे अक के द्वारा अभिनय नाट्य रूपक का अन्य अभिनेय काव्यो से पृथक्करण होता है। अभिनेय काव्य का अक-युक्त विशिष्ट अश रस भाव से परिपुष्ट होता है। अतएव वही अक होता है। सूच्य या उपक्षेपण नही।[3]

अक म नाटय का इतिवृत्त अशत ही समाप्त होता है, कार्य-योग से बिन्दु का तो विस्तार होता रहता है। नायक, प्रतिनायक और सहायक पात्रो का सुख-दुःखात्मक चरित यहाँ प्रयोज्य होता है। पात्रो के चरित्र की इस विविधता के कारण ही अक अनेक रस से समृद्ध होता है। क्रोध, प्रमाद, शोक, शाप, उत्सर्ग और विवाह आदि की हर्षोद्वेगकारी घटनाएँ दृश्य रूप म प्रयोज्य होती हैं। एक ही अक मे इतिवृत्त के अनेक रूपो का प्रयोग होता है। आवश्यक तो होते हैं पर परस्पर विरोधी नही। भरत ने इस प्रसग को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि अधिक घटनाओ के आकलन से मुख्य इतिवृत्त म परस्पर विरोधिता आ जाती है। अत अत्यावश्यक परस्पर सबद्ध एव अनुरजनात्मक वृत्त की ही योजना और प्रयोग अपेक्षित है।[४] अधिक घटनाओ

---

१ नीरसानुचित सूच्य प्रयोज्य तद्विपर्यय ।
ऊह्य तदविनाभूत, उपेक्ष्य तु जुगुप्सितम् । ना० द० २।१२।

२ अवस्थोपेत कार्य प्रसमीक्ष्य बिन्दुविस्तारात् ।
अङ्क इति रूढिशब्दो रसैश्च रोहयाथान् ।
नानाविधान युक्तो यस्मात्तस्माद् भवेद ङ्क ॥ ना० शा० १८।१३ १४ (गा० ओ० सी०)।
भावैश्च रसैश्च गूढश्च न व्याप्तोऽर्थोऽङ्कशब्देन ।
यादृच्छिकेनोच्येत इति भट्टलोल्लटाद्या गूढ' इति पाठ व्याचख्यिरे ॥ अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४१५।
वस्तव्योऽङ्क सोऽपि गुणान्वित नाट्यतत्त्वज्ञै ।

३ ना० ल० को० प० २९५ ३००, ना० द० १।१८, भा० प्र० २१६।

४ यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति सहार ।
किंचिन्दवलग्नबिंदु स, अक इति सदावगन्त य ।
ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरित सम्भोग ।
नानावस्थोपेत कार्यस्त्वङ्कोऽविकृष्टस्तु ।
नायक देवी गुरुजन पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्
नैकरसान्तर विहितो ह्यक इति स वेदितव्यस्त । ना० शा० १८।१६, २० (गा० ओ० सी०)।

है। पर लास्यांगों के प्रयोग के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने विस्तार से विचार किया है और अपने उपाध्याय भट्टतौत के विचारों का आकलन भी। भट्टतौत के अनुसार लास्यांगों का भी एकमात्र प्रयोजन है नाट्य प्रयोग में रसपेशलता का संचार। अलंकार, गुण, वृत्ति संधि आदि आनंद-दायक गुणों के एक-दूसरे के अनुकूलतापूर्वक योग होने से झटिति रस की व्यंजना होती है। सरल बंध युक्त वृत्तों और स्निग्ध पदों द्वारा सहृदय के मर्म का स्पर्श होता है। इस प्रकार की उत्तम काव्य-सामग्री काव्य में निबद्ध होने तथा अत्यधिक रसपोषक तत्त्वों से समृद्ध होने पर रस का पोषण-अभिवर्षण करती है। इस संसार से नाट्य लोक का आविर्भाव उस पोषणता ही के लिए तो हुआ। लोकोत्तर संभार से युक्त होने पर ही कवि वाणी रस का आविर्भाव करती है, क्योंकि उसमें साधारणता का प्राण रस उच्छ्वसित होता रहता है।[1]

इतिवृत्त विभाजन के कुछ अन्य आधार

भरत ने नाट्य के शरीर रूप इतिवृत्त का बहुत ही तर्क-सम्मत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कथावस्तु की स्रोतमूलक, अवस्थामूलक उपायमूलक तथा अंगमूलक विवेचना मुख्यतः भरत एवं अन्य आचार्यों के आधार पर हमने प्रस्तुत की है। यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि भरत का विवेचन ही मूलतः परवर्ती आचार्यों के भी विवेचन के लिए आधार बना रहा। इन आचार्यों ने कथावस्तु के विभिन्न विभाजनों और अंगों के सम्बन्ध में कहीं भी मौलिकता का संकेत नहीं किया है। यत्र-तत्र सध्यंगों के नामों और उनकी परिभाषाओं में जो भी किंचित् अन्तर दृष्टिगोचर होता है और वह भी नाट्यशास्त्र के विभिन्न प्रचलित संस्करणों के प्रभाव के कारण ही। अतः भरत का नाट्यशास्त्र नाट्य के इतिवृत्त, उद्भव और विकास की दृष्टि से आकर ग्रन्थ है।

नाट्य प्रयोग की दृष्टि से इतिवृत्त का विभाजन

अर्थ प्रकृतियाँ, सध्यंग और लास्यांग आदि तो इतिवृत्त के अनिवार्य कथांश हैं जिनके ही द्वारा उसकी सुसंगठित और रस भावपूर्ण रचना होती है। परन्तु रंगमंच पर प्रयोग की दृष्टि से कथावस्तु का एक और भी महत्त्वपूर्ण विभाजन भरत ने प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण कथा अंकों में विभाजित की जाती है। नाटक और प्रकरण में पाँच से दस अंक तक होते हैं।[2] अन्य रूपक भेदों के लिए भी अंकों की संख्या नियत है। पर कथा के कुछ ऐसे भी अंश होते हैं जो अंकों के द्वारा प्रयोज्य नहीं होते, उनकी सूचना विभिन्न शैलियों में दर्शकों को दी जाती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार कथा के दो खण्ड होते हैं। कथावस्तु का सरस उचित और आवश्यक अंश तो अंकों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है परन्तु प्रयोग की दृष्टि से नीरस और अनुचित अंश विभिन्न अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से। दशरूपककार ने उसे ही 'सूच्य' और 'दृश्य' शब्दों से अभिहित किया है। सूच्य के द्वारा नीरस और अनुचित घटनाओं का सूचन होता है और दृश्य द्वारा रंगमंच पर प्रयोज्य वृत्त को प्रस्तुत किया जाता है।[3] नाट्य दर्पणकार ने आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं

---

१ अ० भा० भाग ३, पृष्ठ ७८ (भट्टतौत)।

२ प्रकरण नाटक विषये पंचाद्याः दशपरा भवन्त्येके। ना० शा० १८।२६क (गा० ओ० सी०)।

३ नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्त रसभाव निरन्तरः। द० रू० १।५६-५७।

के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य और उपेक्ष्य। सूच्य और प्रयोज्य तो पुराने भेद ही हैं अभ्यूह्य एवं उपेक्ष्य नये और उपयोगी हैं। अभ्यूह्य के द्वारा देशान्तर प्राप्ति आदि की कल्पना की जाती है और उपेक्ष्य के द्वारा कथा के जुगुप्सित भाग की। स्पष्ट है कि अंकान्तगत प्रयोज्य कथांश के अतिरिक्त अन्य सबका सूचन सूच्य तथा अर्थच्छेद के द्वारा होता है।[1]

अंक का स्वरूप—भरत की दृष्टि में 'अंक' रूढ़ि शब्द है। भावों और रसों के योग से अंकान्तगत इतिवृत्त उत्तरोत्तर अंकुरित होता चलता है। इसमें नाना प्रकार के विधानों का भी योग होता है इसीलिए यह 'अंक' होता है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टलोल्लट की दृष्टि में अंक यदृच्छा शब्द है, यह भावों और रसों से गूढ़ और व्याप्त होता है।[2] उन्होंने 'रूढ़ि' के स्थान पर गूढ़ पाठ स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से अंक शब्द चिह्नार्थक है, चिह्न के द्वारा एक वस्तु का दूसरी वस्तु से पृथक्करण होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अंक के द्वारा अभिनय नाट्य रूपक का अन्य अभिनेय काव्यों से पृथक्करण होता है। अभिनेय काव्य का अंक-युक्त विशिष्ट अंश रस भाव से परिपुष्ट होता है। अतएव वही अंक होता है। सूच्य या उपक्षेपण नहीं।[3]

अंक में नाट्य का इतिवृत्त अंशतः ही समाप्त होता है, कार्य-योग से बिन्दु का तो विस्तार होता रहता है। नायक, प्रतिनायक और सहायक पात्रों का सुख-दुःखात्मक चरित यहाँ प्रधान होता है। पात्रों के चरित्र की इस विविधता के कारण ही अंक अनेक रस से समृद्ध होता है। क्रोध, प्रसाद, शोक, शाप, उत्सर्ग और विवाह आदि की हर्षोद्वेगकारी घटनाएँ दृश्य रूप में प्रयोज्य होती हैं। एक ही अंक में इतिवृत्त के अनेक रूपों का प्रयोग होता है। आवश्यकता होते हैं पर परस्पर विरोधी नहीं। भरत ने इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि अधिक घटनाओं के आकलन से मुख्य इतिवृत्त में परस्पर विरोधिता आ जाती है। अतः अत्यावश्यक परस्पर संबद्ध एवं अनुरंजनात्मक वस्तु की ही योजना और प्रयोग अपेक्षित है।[4] अधिक घटनाओं

---

१ नीरसानुचित सूच्यं, प्रयोज्यं तद्विपर्ययं।
ऊह्यं तदविनाभूतं, उपेक्ष्यं तु जुगुप्सितम्। ना० द० १।२१।

२ अवस्थोपेतं काव्य प्रसमीक्ष्य बिन्दुविस्तारात्।
अंक इति रूढ़िशब्दो रसैश्च रोहयाथान्।
नानाविधान युक्तो यस्मात्तस्माद् भवेद् क ॥ ना० शा० १८।१३, १४ (गा० ओ० सी०)।
भावैश्च रसैश्च गूढ़यन्न व्याप्तोऽर्थोऽनेकशब्देन।
यादृच्छिकेनोच्येत इति भट्टलोल्लटाद्या 'गूढ़' इति पाठं व्याचचिरे॥ अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४११।
कर्तव्योऽङ्क सोऽपि गुणान्वित नाट्यतत्त्वज्ञै।

३ ना० ल० को० प० २९५ ३००, ना० द० १।१८, भा० प्र० २१६।

४ यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहार।
किंचिदवलग्नबिन्दु स, अंक इति सदावगन्तव्य।
ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरित सम्भोग।
नानावस्थोपेत कार्यस्त्वंकोऽविकृष्टस्तु।
नायकदेवीगुरुजन पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्
नैकरसान्तर विहितो ह्यंक इति स वेदितव्यस्तु। ना० शा० १८।१९, २० (गा० ओ० सी०)।

के आकलन से अंक विकृष्ट (लम्बा) हो जाता है और लम्बे अंक प्रयोक्ता और प्रेक्षक जनों के लिए खेदजनक होते हैं।[१]

अंक में प्रयुक्त घटना की समय-सीमा

अंक में कितने दिनों की घटना नाट्य में प्रयोज्य हो, यह एक जटिल प्रश्न है। प्रयोग एवं नाट्य सिद्धान्त की दृष्टि से भरत का मत नितान्त स्पष्ट है। अंक-बीज को लक्ष्य कर एक दिवस प्रवृत्त घटना का प्रयोग करना चाहिए, जो नाट्य प्रयोग के आवश्यक कार्यों का विरोधी न हो। एक अंक में बहुत से कार्यों की योजना करनी पड़ती है। क्षण, याम और मुहूर्त के लक्षण से युक्त दिवस की अवस्था का परिज्ञान कर पृथक्-पृथक् कार्य का अंकों में विभाजन अपेक्षित होता है। यदि एक अंक में दिवसावसान तक भी कार्य परिसमाप्त नहीं हो तो अवच्छेद करके प्रवेशक के द्वारा शेष वस्तुवृत्त प्रयोज्य होता है। अंक की परिसमाप्ति में पात्र का निष्क्रमण तो होना है परन्तु वह बीजार्थ को रसपुष्ट ही करता है।[२] अभिनवगुप्त की दृष्टि से पात्र का निष्क्रमण तो यवनिका के तिरोधान द्वारा सम्पन्न होता है, उसका यह निष्क्रमण भी प्रयोजनानुसारी और विशिष्ट रस सम्पत्ति से विभूषित होता है।[३] वस्तुतः समग्र इतिवृत्त का अंक-गत विभाजन कार्य को दृष्टि में रखकर ही होता है। अंकों में विभाजित कथावस्तु के लिए समय का निर्धारण भी अपेक्षित होता है। सागरनंदी ने अंक के लिए काल की सीमा के सम्बन्ध में एक दिवस प्रवृत्त, अर्द्ध दिवस प्रवृत्त एवं दिवस और रात्रि प्रवृत्त घटनाओं का विधान कर भरत के ही विचारों के स्पष्ट प्रभाव की सूचना दी है।[४] भरत की दृष्टि का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि शास्त्रीय दृष्टि से एक अंक में एक दिवस से अधिक की घटना के प्रयोग के पक्ष में वे नहीं थे। भरत ने वर्ष भर से अधिक की घटना के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया है। पात्र का अंक में प्रवेश सहेतुक होता है और निष्क्रमण भी नाट्यार्थ के अनुरोध पर ही होता है।[५]

अवच्छेद—अंक के विभाजन के लिए भरत ने कई प्रयोग-सम्मत आधार प्रस्तुत किये हैं। दिवसावसान तक यदि एक अंक में उत्पन्न होने योग्य वृत्त न हो तो अवच्छेद करके प्रवेशक के द्वारा शेष कार्य को पूरा करना चाहिए। सम्पूर्ण वृत्त का विभिन्न अंकों में विभाजन अपेक्षित है। यदि दूर देश की यात्रा अभिप्रेत हो तो उसका भी संकेत अवच्छेद अथवा प्रवेशक के द्वारा सम्भव हो पाता है। यदि मास या वर्ष का अन्तर प्रकट करना हो तो वह भी अवच्छेद द्वारा ही सम्भव है। परन्तु भरत का यह स्पष्ट मत है कि अवच्छेद के द्वारा एक वर्ष से लम्बी अवधि का सूचन नहीं

---

१ अविकृष्ट इत्दीर्घं । दीर्घो हि प्रयोक्तप्रेक्षकाणां खेदाय स्यात् । अ० भा० भाग २ पृ० ४१८ ।

२ एकदिवसप्रवृत्त कार्यस्त्वङ्कोऽर्थं बीजमधिकृत्य ।
आवश्यक कार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु ।
ज्ञात्वा दिवसावस्थां क्षणयाममुहूर्तलक्षणोपेताम् ।
विभजेत् सर्वमशेष पृथक पृथक कार्यमङ्केषु । ना० शा० १८।२१, २५, २६ (गा० ओ० सी०) ।

३ उपायभूत कार्यं प्रयोजनानुसारि विशिष्ट रससम्पदोपेत विधाय तत्परिसमाप्तौ यवनिकया तिरोधान रूप निष्क्रमण दर्शनीयम् । अ० भा० भाग २, पृ० ४२० ।

४ ना० ल० को०, पृ १३ पं० २९५ ३०२ ।

५ वही, पं० ३०२ ३ ।

होना चाहिए।[1] वस्तुत भरत द्वारा एक वर्ष की सीमा औपचारिक है, क्योंकि रामायण एव महाभारत की कथाओ में चौदह और बारह वर्षों का समय लगता है अत यत्ननिष्पाद्य कार्यों का विभाजन आवश्यक है। लोक मे घटित वृत्त यहाँ जितने वर्षों म प्रस्तुत होता है उसकी परिगणना उसी के अनुरूप होती है। शेष वर्ष अविद्यमान से हो जाते हैं।[2] मारीच का वध और सुग्रीव के राज्याभिषेक के द्वारा कई वर्षों का सकेत हो जाता है। अतएव सहस्र वर्षों की कथा भी थोडे-से वर्षों के माध्यम से प्रकट की जाती है। यह सब कार्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।[3] इसी दृष्टि से उत्तररामचरित मे प्रथम एव द्वितीय अक तथा शाकुन्तल के पचम और सप्तम अक का अन्तर वर्षों का है और उचित है।

अक मे पात्रों की उपस्थिति—नाटक और प्रकरण के प्रत्येक अक म नायक की उपस्थिति सामान्यतया अपेक्षित है। अकान्तगत कथाश रगमच पर प्रयोज्य होता है और वह दृश्य होता है। दशरूपक और भावप्रकाशन म स्पष्ट उल्लेख है कि दृश्य इतिवृत्त का प्रयोग अको के द्वारा होता है।[4]

भरत ने अक की परिभाषा, स्वरूप, प्रतिपाद्य तथा उसकी अवधि का विचार कर अर्थोपक्षेपकों के सम्बन्ध मे विचार किया है। दृश्य काव्य के अन्य अनेक भेदो या उसके प्रस्तुत करने की स्वगत' आदि पद्धतियो का विवरण इस प्रसग मे प्रस्तुत न कर चित्राभिनय के अन्तगत किया है। क्योंकि स्वगत, प्रकाश, नियत-श्राव्य अश्राव्य आदि विधिया अभिनय के प्रसग मे विशेष रूप से प्रयोज्य होती हैं। नि सन्देह इन विधिया के द्वारा भी इतिवृत्त अशत विकसित होता है। अत परवर्ती आचार्यों ने इन सब विधियो की परिगणना दृश्य इतिवृत्त के अन्तगत ही की है।

दृश्य-भेद

इतिवृत्त का दृश्य अश ही प्रधान अश है। उसके भेद दो हैं—श्राव्य और अश्राव्य। श्राव्य भी दो प्रकार का होता है—सवश्राव्य और नियतश्राव्य। सवश्राव्य को प्रकाश शब्द से भी सबोधित किया जाता है उसे प्रेक्षक सुनते हैं परन्तु नियतश्राव्य नट निहित इतिवृत्त का अश है। नियतश्राव्य का अश ही सीमित व्यक्तियो के लिए श्राव्य होता है नियत श्राव्य का भी जनान्तिक और अपवारित इन दो विधिया द्वारा प्रयोज्य है। जनान्तिक के द्वारा किसी पूव वृत्त का सूचन एव पात्र दूसरे पात्र के कानो म कहकर करता है, इसम त्रिपताका नाम की हस्तमुद्रा का भी प्रयोग होता है। अपवारित मे किसी गोपन रहस्य का उदघाटन होता है, उसका सम्बन्ध पात्र से अन्य से तथा प्रत्यक्ष एव परोक्ष से रहता है। अश्राव्य तो स्वगत या आत्मगत कथा का

१ अकच्छेद कृत्वा मासकृत वर्षसचितवाऽपि।
तत्सर्वं कर्तव्य वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥
य कश्चित् कार्यवशादागच्छति पुरुष प्रकृष्टमध्वानम्।
तत्राप्यकच्छेद कर्तव्य पूर्ववत्तज्ज्ञै। ना० शा० १८।३१ ३२ (गा० ओ० सी०)।

२ कार्यग्रहण ह्येतदर्थं मुनिना कृतम्। यत्र हि यत्ननिष्पाद्य सचित तत्रैव वर्षं गण्यते। वर्षान्तराणि तु तत्र विद्यमाना यपि अविद्यमानकल्पानि। अ० भा० भाग २, पृ० ४२३।

३ तदेतद् बहुकाल प्रयोज्य नाके विधेयेमित्यथ। ना० ल० को०, पृ० १३।

४ दृश्यमकै प्रदर्शयेद १।६३क, द० रू०। भा० प्र०, पृ० २१६, प० १४।

अश है जिसका प्रयोग पात्र एकाकी भी करता है और दूसरे की उपस्थिति मे भी ।[1] स्वप्नवासवदत्ता के प्रथम अक मे ऐसे ही स्वगत की योजना की गई है, जिसमे अन्य पात्र भी उपस्थित हैं। परन्तु तीसरे अक की कथावस्तु मे पर्याप्त समय तक एकाकी ही वासवदत्ता स्वगत भाषण करती है। इनके अतिरिक्त आकाशभाषित के द्वारा भी कथाश को प्रस्तुत किया जाता है। अत कथा का कुछ अश उसमे भी वतमान रहता ही है। कथा का अधिक भाग सवश्राव्य शली मे ही विकसित होता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि जनान्तिक और अपवारित या आकाशभाषित आदि प्रयोग की नाट्यधर्मी विधिया हैं, अन्यथा लोकाचार म उनकी उपयुक्तता सिद्ध नही हो सकती।

अर्थोपक्षेपक

भरत ने अक के अतिरिक्त पाच अर्थोपक्षेपको का भी उल्लेख किया है। इन्ही के माध्यम से कथा मे शृखलाबद्धता आती है। कथा का यह सूच्य अश नीरस या अनुचित होने के कारण अक के माध्यम से दश्य रूप मे प्रयोज्य नही होता। सूच्य अर्थोपक्षेपण की निम्नलिखित पाच प्रणालिया है—विष्कभक, प्रवेशक, चूलिका अकावतार और अकमुख।[2]

विष्कभक—विष्कभक का प्रयोग पुरोहित, अमात्य और कचुकी आदि मध्यम कोटि के पात्रा द्वारा होता है। नाटक की मुख-सधि म ही इसका प्रयोग होता है। चारायण के अनुसार इसका प्रयोग नाटक और प्रकरण दाना मे होता है तथा विष्कभक प्रवेश के स्थानीय ही होता है। पात्रभेद से विष्कभक के दो भेद होते हैं—शुद्ध और सकीण। शुद्ध विष्कभक म केवल मध्यम पात्र होते हैं अतएव भाषा सस्कृत होती है या शौरसेनी प्राकृत। परन्तु सकीण म मध्यम और अधम दोनो प्रकार क पात्रों का प्रयोग होने से स्वभावत उनकी भाषा भी सस्कृत प्राकृत मिश्रित हाती है। प्राकृत भी बहुत नीचे स्तर की। धनजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार विष्कभक म अतीत और भावी घटनाओ का सूचन होता है।[3] विष्कभक का प्रयोग अक के आदि म आमुख के बाद अथवा प्रथम अक के आरभ म होता है। कोहल के अनुसार प्रथम अक के आदि म प्रयोग उचित होता है। यह दो अका के मध्य क कथासूत्र की शृखला है परन्तु इसका प्रयोग दो अका के मध्य भी देखा गया है। शकुन्तला नाटक म ततीय अक के उपरान्त और चतुथ अक से पूव। परन्तु अक के मध्य या अवसान म इसका प्रयोग नही होता। नाट्यदपणकार ने इसे अक-सघायक माना है।[4] अत विष्कभक इतिवत्त के रूप म, अतीत की एक शृखला के रूप मे और दो अका की कथा की शृखला क रूप म प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग निश्चित रूप से अक के आरम्भ म ही होना है।

प्रवेशक—प्रवेशक का प्रयोग नीच पात्रा के द्वारा प्राय प्राकृत भाषा म होता है। प्राकृत भी मागधी और आभीरी आदि कोटि की होती है। मातगुप्त, सागरनन्दी और शारदातनय के

१ ना० शा० २१।८४ १४, द० रू० १।६३ ६७, भा० प्र०, पृ० २१६ २२० ।

२ ना० शा० १६ ११० (गा० ओ० सी०) द० रू० १।५८, ना० द० १।२२ पर विवति पृ० ३३ ।

३ ना० शा० १६।१११ ११२ (गा० ओ० सी०)। द० रू० १।५६ ६ क, ना० ल० को—आह चारायण प्रकरण न टकयोर्विष्कभक इति पृ १६ ना० द० १।२४।

४ अकस्यादौ प्रथमेऽङ्के आमुखानन्तरम्, अन्तेषु पुनरारम्भे इति तावत् सर्वे समामनन्ति कोहल पुनरेन प्रथमाङ्क एवेच्छति। ना० द० १।२४ पर विवृति, पृ० ३४।

मत से संस्कृत भाषा का प्रयोग हो सकता है यदि विट या ब्राह्मण पात्र हो। नीच पात्रों के द्वा प्रयोज्य होने के कारण उदात्तवचनों का विन्यास इसमें नहीं होता। नाटक और प्रकरण दोनों ही इसका प्रयोग होता है। बिन्दु आदि का सक्षेपार्थ लक्ष्य कर दो अकों के मध्य में इसका प्रयो होता है। प्रवेशक की योजना कई उद्देश्यों से होती है। इसके द्वारा समय उदयास्त, रस परिवर्त अक का आरभ और कार्य आदि का भी सकेत होता है। सेतुबध आदि घटनाओं का सम्बन्ध बा सम्यक पात्रों से हो, दृश्य रूप में जिनकी अवतारणा सभव नहीं हो, उन सबकी योजना प्रवेश के द्वारा होती है। दीर्घकालव्यापी घटनाओं का भी सूचन सक्षिप्त रूप में प्रवेशक के द्वारा होत है। युद्ध राज्य भ्रश, मरण और वध आदि के दृश्य अक में अभिनेय नहीं हैं। अत उनका प्रयोग प्रवेशक द्वारा ही होना उचित होता है।[1]

अभिनव भारती में अन्य आचार्यों के मतों के विश्लेषण से यह अनुमान किया जा सकत है कि रगमच पर ऐसे दृश्यों की अवतारणा के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में मतैक्य नहीं था इन आचार्यों के मतानुसार व्याधिज और अभिघातज मरण के दृश्य रगमच पर ही प्रस्तुत कि जा सकते हैं। अभिनवगुप्त का मत इन आचार्यों के नितान्त प्रतिकूल है, वे मरण या वध के दृश्य को इसीलिए नहीं प्रस्तुत करना चाहते, क्योंकि दृश्य रूप में प्रस्तुत होने पर सामाजिकों के हृद मे विरसता उत्पन्न होती है और नाट्य रस में बाधा भी।[2] नायक के वध का सूचन तो प्रवेश में भी निषिद्ध है। अक में दिवसावसान तक कार्य समाप्त न हो सके तथा प्रयोग बहुलता कारण अक में कथांश की समाप्ति न होती हो, तो इन सबका प्रवेशक के द्वारा ही सूचन होन चाहिए। क्योंकि अक के विकृष्ट होने से उसका प्रयोग खेदजनक होता है अत प्रवेशक क सबसे बड़ी विशेषता है परिमित वागात्मकता और प्रयोजन है लम्बी घटनाओं का सक्षेप सूचन जिससे कि प्रेक्षकों का उत्साह नाट्य प्रयोग के प्रति बना ही रहे। प्रवेशक का प्रस्तुतीकर गद्य-पद्य दोनों के द्वारा किया जाता है। सागरनदी ने अन्य आचार्यों की अपेक्षा प्रवेशक क विस्तारपूर्वक विचार किया है। परन्तु वह सारी विचारधारा नाट्यशास्त्र के अठारहवें औ उन्नीसवें अध्यायों में प्रतिपादित विचारों का ही उपबृहण है।[3]

चूलिका—चूलिका घटनाओं के सूचन की एक विशिष्ट विधि है। परन्तु अर्थोपक्षेपण क अन्य चारों विधियों से यह भिन्न है क्योंकि इसका सूचन रगमच पर नहीं होता अपितु यवनिक के भीतर से होता है। चूलिका के द्वारा अर्थ का निवदन ही होता है। सूचना देने वाले पात्र भ निम्नकोटि के सूत, मागध और नदी आदि होते हैं। विष्कभक और प्रवेशक की योजना तो द अकों के मध्य होती है या अक के आरम्भ में (विष्कभक) परन्तु चूलिका का प्रयोग अक मध्य में होता है। शिंगभूपाल ने चूलिका के एक और भेद खण्ड चूलिका की कल्पना की है दोन में ही पात्रों के बहिर्गमन और निष्क्रमण का अवसर नहीं होता, अत अक के आरभ में ही प्रयुक होती है।[4]

१ ना० शा० १६।१९४ (गा० ओ० सी०), ना० द० १।२८, द० रू० १।०७।६१क, सा० द ६।२८।

२ अ० भा० भाग २, पृ० ४२७।

३ ना० ल० को० प० ३०५ ३६०।

४ ना० शा० १६।११३, (गा० ओ० सी), द० रू० १।६१ ख, ना० ल० को० ४३७-३६, सा० द० ६।३६ भा० प्र०, पृ० २१७ प० १७, र० सु० ३।१८२ १८४।

अश है जिसका प्रयोग पात्र एकाकी भी करता है और दूसरे की उपस्थिति मे भी ।[1] स्वप्नवासवदत्ता के प्रथम अक मे ऐसे ही स्वगत की योजना की गई है, जिसमे अन्य पात्र भी उपस्थित हैं। परन्तु तीसरे अक की कथावस्तु मे पर्याप्त समय तक एकाकी ही वासवदत्ता स्वगत भाषण करती है । इनके अतिरिक्त आकाशभाषित के द्वारा भी कथाश को प्रस्तुत किया जाता है । अत कथा का कुछ अश उसमे भी वतमान रहता ही है । कथा का अधिक भाग सवश्राव्य शली म ही विकसित होता है । परन्तु यह स्मरणीय है कि जनान्तिक और अपवारित या आकाशभाषित आदि प्रयोग की नाट्यधर्मी विधिया हैं, अन्यथा लोकाचार मे उनकी उपयुक्तता सिद्ध नही हो सकती ।

अर्थोपक्षेपक

भरत ने अक के अतिरिक्त पाच अर्थोपक्षेपकों का भी उल्लेख किया है । इन्हीं के माध्यम से कथा मे शृखलाबद्धता आती है । कथा का यह सूच्य अश नीरस या अनुचित होने के कारण अक के माध्यम से दृश्य रूप मे प्रयोज्य नही होता । सूच्य अर्थोपक्षेपण की निम्नलिखित पाँच प्रणालियाँ हैं—विष्कभक, प्रवेशक चूलिका, अकावतार और अकमुख ।[2]

विष्कभक—विष्कभक का प्रयोग पुरोहित अमात्य और कचुकी आदि मध्यम कोटि के पात्रों द्वारा होता है । नाटक की मुख-सधि मे ही इसका प्रयोग होता है । चारायण के अनुसार इसका प्रयोग नाटक और प्रकरण दोनो म होता है तथा विष्कभक प्रवेश के स्थानीय ही होता है । पात्रभेद स विष्कभक के दो भेद होते हैं—शुद्ध और सकीर्ण । शुद्ध विष्कभक म केवल मध्यम पात्र होते हैं अतएव भाषा सस्कृत होती है या शौरसेनी प्राकृत । परतु सकीर्ण म मध्यम और अधम दोना प्रकार के पात्रो का प्रयोग होने से स्वभावत उनकी भाषा भी सस्कृत प्राकृत मिश्रित होती है । प्राकृत भी बहुत नीचे स्तर की । धनजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार विष्कभक म अतीत और भावी घटनाओ का सूचन होता है ।[3] विष्कभक का प्रयोग अक के आदि म, आमुख के बाद अथवा प्रथम अक के आरभ म होता है । कोहल के अनुसार प्रथम अक के आदि म प्रयोग उचित होता है । यह दो अको के मध्य के कथासूत्र की शृखला है परन्तु इसका प्रयोग दो अको के मध्य भी देखा गया है । शकुन्तला नाटक मे तृतीय अक के उपरान्त और चतुथ अक म पूव । परन्तु अक के मध्य या अवसान म इसका प्रयोग नही होता । नाट्यदर्पणकार ने इसे अक-सधायक माना है ।[4] अत विष्कभक इतिवृत्त के रूप म, अतीत की एक शृखला के रूप म और दो अको की कथा की शृखला के रूप म प्रयुक्त होता है । इसका प्रयोग निश्चित रूप स अक के आरम्भ म ही होता है ।

प्रवेशक—प्रवेशक का प्रयोग नीच पात्रो के द्वारा प्राय प्राकृत भाषा म होता है । प्राकृत भी मागधी और आभीरी आदि जाति की होती है । भ्रातगुप्त, सागरनन्दी और शारदातनय के

---

१ ना० शा० २८।-- १४, द० रू० १।६३ ६७, भा० प्र०, पृ० २१६ २२० ।

२ ना० शा १६ ११० (गा० ओ० सी०) द० रू० १।५८, ना० द० १।२२ पर विवृत्ति पृ० ३३ ।

३ ना० शा० १८।११ ११७ (गा० ओ० सी०) । द० रू० १।५६ ६ क, ना० ल० को—यदाह नारायण प्रकरण नाटकयोर्विष्कभक इति पृ० १६ ना० द० १।२४ ।

४ कथान्तिके प्रथमेऽङ्के च मुखानन्तरम्, अङ्केषु पुनरारम्भे इति यावत् सर्वे समामनन्ति कोहल पुनरेन प्रथमाङ्क एवेच्छति । ना० द० १।२४ पर विवृत्ति, पृ० ३४ ।

आदि का प्रभाव मन पर आनन्दात्मक हो। भट्टतौत ने भरत के इस दृष्टिकोण को स्पष्ट प्रकट किया है। लक्षण, अलकार, गुण, दोष, शब्द वृत्तिया और सध्यग आदि एक दूसरे से अनुकूलता पूर्वक सम्मिलित हो रसौन्य की ओर गतिशील होते हैं। वस्तु विकास की परिणति रसाभेष मे ही होती है।[१]

---

१ एव प्रकार यत्किंचित् वस्तजात (कथार्पितम्)
अनूनाधिकसामग्री परिणामोऽभिषद्रसम्। (भटटतौत)
इति सम्भावनाप्राणतया हि यल्लोके सम्भा यने परमाधम् तत्—
वस्तनो लोकोत्तरत्वेनैव समारेण युक्ता कवि वाणी हठान्‍व रसमयी
भवति साधारणता प्राणत्वादिति तत्र तात्पर्यम्। (अभिनव गुप्त)

—अ० भा० भाग २, पृ० ७८।

अंकावतार—एक अंक के समाप्त होते-होते ही (विच्छेद हुए बिना ही) दूसरे अंक की कथावस्तु का संकेत हो जाता है, मानो दूसरे अंक का उस सूचना के द्वारा अवतरण हो जाता है। इस अंकावतार में बीजांश (की युक्ति) की योजना रहती है।[१] मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक के समाप्त होने से पूर्व ही द्वितीय अंक में मालविका द्वारा गीत-नृत्य प्रधान प्रयोग छलिक नाट्य का संकेत दे दिया गया है। अंकावतार का प्रयोग अंक से बाहर नहीं, अंक में ही होता है, जैसाकि विष्कम्भक या प्रवेशक का होता है। अतः अर्थोपक्षेपण के भेद के रूप में इसका कोई औचित्य नहीं मालूम पड़ता। कोहल ने अंकमुख, अंकावतार और चूलिका की परिगणना अंक के भेद के अंतर्गत की है, अर्थोपक्षेपण में नहीं।[२]

अंकमुख—अंकमुख में समस्त कथा के सारे रूप का सूचन किया जाता है। इसकी योजना प्रायः अंक के आरम्भ में होती है। भरत नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में विभिन्न परिभाषाएँ हैं। परन्तु सबमें भावी कथावस्तु के श्लिष्ट रूप में उपक्षेपण का भाव प्रतिपादन किया गया है। प्रयोक्ता पात्र स्त्री या पुरुष भी हो सकते हैं। धनंजय की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। उनके अनुसार छूटे हुए अर्थ (वस्तु) सूत्र का सूचन होता है। वस्तुतः अंकास्य और अंकावतार की परिभाषाएं बहुत स्पष्ट नहीं हैं। उन्होंने भरत का अनुसरण नहीं किया है।[३]

पाँचों अर्थोपक्षेपकों में विष्कम्भक और प्रवेशक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, इन दोनों के माध्यम से दीर्घकाल व्यापी घटनाओं का सूचन होता है। इनकी विशेषता होती है परिमित वागात्मकता। इनके अतिरिक्त शेष तीन उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं उनसे भविष्य की घटनाओं का सूचन होता है उत्तरोत्तर उनकी अवधि न्यून होती जाती है। कुमार स्वामी के अनुसार अंकास्य और अंकावतार की योजना अंक में ही होती है। विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग अंकों के बाहर होता है और चूलिका का प्रयोग अंक में ही होता है परन्तु यवनिका के भीतर से ही।[४]

समाहार

भरत द्वारा समस्त कथावस्तु का स्रोतगत, अवस्थागत, उपायगत और अंगगत विभाजन भरत की विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिचायक है। कथावस्तु के समीचीन संगठन के लिए पंच संधियों और ६४ संध्यंगों संध्यंतरों और लास्यांगों की परिकल्पना से भरत का वस्तु विधान नितान्त शास्त्र सम्मत हो जाता है क्योंकि लोक-जीवन तथा व्यक्ति के भाव लोक में घटनाओं की जैसी क्रिया प्रतिक्रिया होती है, उनका ही समानीकरण करके कथावस्तु का यह रूप भरत ने प्रस्तुत किया है। मूलतः इस प्रकार की कथा वस्तु की परिकल्पना का उद्देश्य है कि कल्पित पात्रों के चरित्र का समुचित विकास हो और वह रसात्मक भी हो। चरित्र की उदात्तता या लालित्य

---

१ ना० शा० १६।११५ (गा० ओ० सी०) द० रू० १।६२ख, ना० द० १।२७क, भा० प्र०, पृ० २१८ सा० द० ६।४० र० सु० ३।१६१ख १६२ प्र० रू०, पृ० ११६।

२ त्रियाकोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्कमुखेन वा।
अनया त्वाप्यया अङ्कस्य त्रैविध्यमुच्यते।
अ० भा० भाग २, पृ० ४१७ पर कोहल के नाम पर उद्धृत पंक्तियाँ।

३ ना० शा० १६।११६ (गा० ओ० सी०) ना० ल० को० प० ४०६, भा० प्र० ३१७, ना० द० १।२६, सा० द० ६।४१, द० रू० १।६३।

४ रत्नापण, पृ० ११६।६ ११।

(तन्त्र) का भी प्रभाव है और 'काम' मनुष्य जीवन की माध्य कामा भी तो है। पुरुषार्थ-सा
मे प्रवृत्त नायक सम्भवत सबसे अधिक काम भाव से ही प्रभावित रहता है। इस सत्य की पु
उन्होंने विस्तार से की है। तदनन्तर शील, स्वभाव और प्रकृति आदि के आधार पर पात्रो
वर्गीकरण किया है। भरत ने यह स्वीकार किया है कि स्त्रियों और पुरुषों की प्रकृति विचित्र अ
विविधताशाली होती है। पर उनमे से प्रत्येक की कल्पना और उल्लेख सम्भव नही है। अ
सामान्य रूप से उनका वर्गीकरण किया गया है और नि सन्देह वे तर्क-सम्मत एव उस युग
जीवन के अनुरूप भी हैं।[1]

मानव चरित्र मे काम भाव की प्रबलता—पात्रों के जीवन स्वरूप का जसी कल्प
नाट्यशास्त्र म की गई है और उसका प्रकृत रूप सस्कृत नाटको मे जसा प्रस्तुत किया गया
उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रृगार और वीर ये जीवन के प्रधान रूप हैं जिनकी
आचार्यों और कवियो की दृष्टि रही है। यो वीरता अथमूलक और धममूलक भी होती है,
अधिकतर (नाटको मे) उसमे काममूलकता का भाव ही वतमान है। सब भावो के मूल म क
भाव वतमान रहता है। वही काम इच्छा गुण-सम्पन्न होने पर अनगिनत रूपो मे कल्पित ह
है।[2] क्योकि मानवीय इच्छा की कोई सीमा रेखा नही है। यो सामान्य रूप से लोक जीवन
धमकाम अथकाम और मोक्षकाम ये तीन रूप दिखाई देते हैं। परन्तु नाट्य में पात्र के रूप म
नारी का जीवन जहाँ प्रस्तुत होता है, वहा काम की प्रबलता रहती है। अन्य कामो से
(श्रृगार) काम की पर्याप्त भिन्नता है। कामरूप इच्छा तो समान रूप से सुख के साधन
प्रत्यक्ष रूप से सुख की प्राप्ति के लिए होती है। पर धम और अथ तो स्वय सुखरूप नही है
सुख के साधन है। साक्षात् धम के द्वारा अप्रत्यक्ष स्वग (कामना) के लिए अनन्त सुख साध
का उपाजन होता है। मोक्ष का सम्बन्ध बाह्य साधन से नही, आत्मिक विकास से है और
परमानन्द विश्रान्ति रूप होने के कारण सुखात्मक ही है। पर वह आनन्द परम दुलभ है,
लोक हृदय-सवेद्य नही है। स्त्री पुरुष का सयोग तो साक्षत् सुख का साधन होता है। अत
सुख-साधन के लिए मनुष्य (प्राणी) मात्र म सहज इच्छा रहती है। उसी अथ मे जीवन
अन्य वत्तियो की अपेक्षा काम-वत्ति का प्रभाव मनुष्य पर सर्वाधिक रहता है। उस विशुद्ध का
भाव से सारा लोक (अथ) अनुरजित रहता है और धम भी। रामकथा के प्रतिनायक रावण
नाश के मूल मे सीता प्रत्याया की ही कामप्रेरणा है। कामदक का यह कथन नितान्त उचित
कि नारी का नाम ही आह्लादक है। इसीलिए स्त्री-पुरुष के काम भाव के प्रदशन से नाट्य
लोक हृदय-सवेद्यता का सचार होता है।[3]

भरत-कल्पित पात्रों का जीवन ऐहिकतामूलक—पात्रों के जीवन का जो स्वरूप भ
ने प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही ऐहिकतामूलक है। उनके चरित्र की कल्पनाओ, साहि

---

१ स्त्रीणां पुसा च यद्यपि विचित्रा स्वभावास्तथापि प्रतिपदमशक्यकलना इति प्रकृतित्रयेण ते
शक्यसग्रहा इति प्रकृतित्रय वक्तव्यम्। अ० भा० भाग ३, पृ० २४८।

२ प्रायेण सर्वभावानां कामन्निष्पत्तिरिष्यते।
सवेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा परिकल्पित ॥ —ना० शा० २४।९५ ९६ (गा० ओ० सी०)।

३ तेन च सर्वोऽर्थोनुरज्यते। स्त्रीति नामापि सह्लादीति (कामदक स० ४।५२), तथापि तत्स्पृष्टे लो
परोऽप्यर्थो हृदयसवादादयत्नेनैव हृदयगमत्वमभ्युपगच्छति। —अ० भा० भाग ३, पृ० १८६।

३

पात्र-विधान

पात्र विधान की पृष्ठभूमि

नाट्य मे पात्र का विशेष महत्त्व है। पात्र के शील-स्वभाव आचार विचार, आहार व्यवहार और अवस्था एव प्रकृति की विभिन्नता एव विविधता की पृष्ठभूमि मे कथावस्तु परिपल्लवित होती है। देश, काल और परिस्थिति के आलोक मे मानव का जीवन पुष्प विकसित होता है। उसका सौरभ और रस तो उसी पात्र मे छलकता है, तभी वह नाट्य रस आस्वाद्य होता है। रूप और रस की रगभूमि मे ये पात्र ही (नायक नायिका आदि) तो होते हैं जो उस प्राण देते हैं गति देते हैं। भास के उन्यन और वासवदत्ता कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला तथा भवभूति के राम और सीता का कवि-कल्पित जीवन केवल कवि की कला दृष्टि की ही सृष्टि नही है उस पर समग्र जातीय जीवन की सामाजिक धार्मिक और सास्कृतिक चेतना का भी प्रभाव है।

इसलिए नाट्य मे पात्र (नायक नायिका आदि) का महत्त्व असाधारण है। उसको प्रस्तुत करने की कला भी असाधारण होती है। इसी महत्त्व को दृष्टि म रखकर भरत ने नाट्य शास्त्र म पात्र विधान की व्यापक परिकल्पना की है। यह विधान समान रूप से कल्पनाशील कवि, प्रयोक्ता और प्रेक्षक के लिए उपयोगी है। परवर्ती आचार्यों न भी पात्र विधान के सदभ म भरत क ही विचारो का उपव हण किया या भेद विस्तार के लिए नवीन नामा की परिगणना की है, परन्तु उनके भेद विस्तार म भरत की सी मौलिक चितन धारा का परिचय नही प्राप्त होता।

पात्र जीवन की शाश्वत धारा के प्रतीक—भरत ने पात्र विधान (नायक-नायिका आदि विवेचन) को बहुत महत्त्व दिया है और उसके विचार की पीठिका भी बहुत ही व्यापक है। उनके विश्लेषण मे एसा अनुभव होता है कि भारत जस विशाल राष्ट्र के विभिन्न अचलो म रहने वाला नाना रूप रग वेशभूषा, शील स्वभाव आचार-व्यवहार और अवस्था एव प्रतीक की दृष्टि म विभिन्न और विविध नर नारी क लोक-जीवन को देखा-परखा था। यही कारण है कि उपयुक्त विषय का विश्लेषण करते हुए नायक एव नायिका आदि क वर्गीकरण के लिए कई आधारों की कल्पना की है। भरत द्वारा प्रतिपादित नायक-नायिका विवेचन पर कामशास्त्र

(तत्र) का भी प्रभाव है और 'काम' मनुष्य जीवन की मादक ऊष्मा भी तो है। पुरुषार्थ-साधन मे प्रवृत्त नायक सम्भवत सबसे अधिक काम भाव से ही प्रभावित रहता है। इस सत्य की पुष्टि उन्होंने विस्तार से की है। तदनन्तर शील, स्वभाव और प्रकृति आदि के आधार पर पात्रो का वर्गीकरण किया है। भरत ने यह स्वीकार किया है कि स्त्रियों और पुरुषो की प्रकृति विचित्र और विविधताशाली होती है। पर उनम से प्रत्येक की कल्पना और उल्लेख सम्भव नही है। अत सामान्य रूप से उनका वर्गीकरण किया गया है और नि सन्देह वे तर्क-सम्मत एव उस युग के जीवन के अनुरूप भी हैं।[1]

मानव चरित्र मे काम भाव की प्रबलता—पात्रो के जीवन-स्वरूप की जसी कल्पना नाटयशास्त्र में की गई है और उसका प्रकृत रूप सस्कृत नाटको मे जैसा प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शृगार और वीर ये जीवन के प्रधान रूप है, जिनकी ओर आचार्यों और कवियो की दृष्टि रही है। यो वीरता अर्थमूलक और धर्ममूलक भी होती है पर अधिकतर (नाटको मे) उसमे काममूलकता का भाव ही वर्तमान है। सब भावो के मूल मे काम भाव वर्तमान रहता है। वही काम इच्छा गुण सम्पन्न होने पर अनगिनत रूपो में कल्पित होता है।[2] क्योंकि मानवीय इच्छा की कोई सीमा रेखा नही है। यो सामान्य रूप से लोक जीवन मे धर्मकाम, अर्थकाम और मोक्षकाम ये तीन रूप दिखाई देते हैं। परन्तु नाट्य में पात्र के रूप म नर नारी का जीवन जहा प्रस्तुत होता है, वहा काम की प्रबलता रहती है। अन्य कामो से इस (शृगार) काम की पर्याप्त भिन्नता है। कामरूप इच्छा तो समान रूप से सुख के साधन या प्रत्यक्ष रूप से सुख की प्राप्ति के लिए होती है। पर धर्म और अर्थ तो स्वय सुखरूप नही हैं वे सुख के साधन हैं। साक्षात् धर्म के द्वारा अप्रत्यक्ष स्वर्ग (कामना) के लिए अनन्त सुख साधनो का उपार्जन होता है। मोक्ष का सम्बन्ध बाह्य साधन से नही, आत्मिक विकास से है, और वह परमानन्द विश्रान्ति रूप होने के कारण सुखात्मक ही है। पर वह आनन्द परम दुर्लभ है, अत लोक हृदय-सवेद्य नही है। स्त्री पुरुष का सयोग तो साक्षात् सुख का साधन होता है। अत उस सुख-साधन के लिए मनुष्य (प्राणी) मात्र मे सहज इच्छा रहती है। उसी अर्थ म जीवन की अन्य वृत्तियो की अपेक्षा काम-वृत्ति का प्रभाव मनुष्य पर सर्वाधिक रहता है। उस विशुद्ध काम भाव स सारा लोक (अर्थ) अनुरजित रहता है और धर्म भी। रामकथा के प्रतिनायक रावण के नाश के मूल म सीता प्रत्यायन की ही कामप्रेरणा है। कामदक का यह कथन नितान्त उचित है कि नारी का नाम ही आह्लादक है। इसीलिए स्त्री-पुरुष के काम भाव के प्रदर्शन से नाट्य मे लोक हृदय-सवेद्यता का सचार होता है।[3]

भरत-कल्पित पात्रों का जीवन ऐहिकतामूलक—पात्रो के जीवन का जो स्वरूप भरत ने प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही ऐहिकतामूलक है। उनके चरित्र की कल्पनाओ, सात्विक

---

१ स्त्रीणां पुसा च यद्यपि विचित्रा स्वभावास्तथापि प्रतिपदमशक्यकलना इति प्रकृतित्रयेण ते सर्वे शक्यसग्रहा इति प्रकृतित्रय वक्तव्यम्। अ० भा० भाग ३, पृ० २४८।

२ प्रायेण सर्वभावाना कामनिष्पत्तिरिष्यते।
सचेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा परिकल्पित ॥ —ना० शा० २२।६५ ६६ (गा० ओ० सी०)।

३ तेन च सर्वोऽर्थोऽनुरज्यते। स्त्रीति नामापि सह्लादीति (कामदक स० ४।५२), तथापि तत्स्पृष्टे लोको परोऽप्यर्थो हृदयसवादादयत्नेनैव हृदयगमत्वमभ्युपगच्छति। —अ० भा० भाग ३, पृ० १८६।

विभूतियां, महनीय उदात्ताओं के मूल में सात्त्विक और सौन्दर्य की प्रेरणा सदा वर्तमान रही है। इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध में भरत की चिन्ता धारा की तुलना फ्रायड के काममूलक सिद्धान्तों से की जा सकती है। भरत ने मनुष्य जीवन में काम भाव की प्रधानता प्रतिपादित की है और स्त्रियों को उस परम आराध्य सुख का मूल माना है। मनोवैज्ञानिक विचार-चेताओं की दृष्टि से जीवन की समस्त प्रवृत्तियों के मूल में कामसुख की उपलब्धि और उसकी तृष्णा ही है।[1]

चरित्र रचना में लौकिक सुख-दुःख का मधुर रस—नाटक में प्रधान इतिवृत्त होता है और इतिवृत्त का एक मुख्य फल होता है। उस फल के भोग की संज्ञा 'अधिकार' है। अतएव फल का भोक्ता अधिकारी नाटक का प्रधान पात्र अथवा नायक होता है। क्योंकि नाटक की समस्त घटनाओं का अवसान फल के रूप में उसी में होता है, वही बीज बिन्दु आदि से समन्वित नाटक के नाटय का अन्त करता है, धर्म, काम, अर्थ रूप फल का भागी होता है।[2] सीता प्रत्यायन में न जाने कितनी प्रधान और अवान्तर घटनाओं की परिकल्पना की गई है, परन्तु सीता के प्रत्यायन रूप फल का भोक्ता तो राम ही है। वस्तुतः यह न केवल नाटय की विकासमूलक अवस्थाओं और उपायमूलक अर्थप्रकृतियों का ही केन्द्र हो जाता है अपितु यह नाटय के प्रधान रसों का भी स्रोत हो जाता है। नायक नाटय का वह केन्द्र बिन्दु है, जहां से जीवन की किरणों का आलोक फूटता है जिसमें वीरता का दर्पित तेज भी होता है तो प्रभात का मंद मधुर आलोक भी और चन्द्र किरणों की उर्मिलस्निग्ध ज्योत्स्ना भी। इन्द्रधनुष की सतरंगी सुख-दुःख समिश्रित छवि उसमें आलोकित होती है। भरत ने अपनी कल्पना के नायक और नायिका एवं सहायक पात्रों के जीवन की विविधता और विभिन्नताओं में से राजा, अमात्य, देवी, वेश्या, श्रेष्ठी और विदूषक आदि ऐसे सामान्य रूपों को प्रस्तुत किया है, जो अंग संगठन, रूप रंग, शील-स्वभाव आचरण की शुद्धता एवं अपनी प्रकृति आदि की दृष्टि से समाज में प्रतीक बन चुके हैं। उनका प्रचलित रूप लोक हृदय-संवेद्यता प्राप्त कर चुका है, क्योंकि नाटय में तो जीवन का वह प्रकृत रूप ही हृदय ग्राही और उपयोगी होगा जो लोक-हृदय-संवेद्य हो। जिस प्रकार कथावस्तु और रस के लिए लोक हृदय-संवेद्यता अत्यावश्यक है, उसी प्रकार प्रधान पात्र एवं अन्य पात्रों के चरित्र का भी तो वस्तु और रस के सांचे से ही सर्जन होता है। निःसन्देह इस सर्जन के मूल में एक आदर्श का भाव अवश्य वर्तमान रहता है। प्रधान पात्र का चरित्र उदात्त और धीर हो, अनुकरणीय हो तथा जिसका पर्यवसान दुःख में नहीं सुख में हो।[3]

आर्यों ने जीवन में मुख्यतः आनन्द की ही परिकल्पना की। इसीलिए नाटय के केन्द्र में

---

१ भूयिष्ठमेव लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा।
सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च ताः पुनः। ना० शा० २२।९७ (गा० ओ० सी०)।
तथा—We reckon as belonging to 'sexual all expressions of tender feeling, which spring from the source of primitive sexual feelings Collected Lectures Vol II p 299

२ बीजबिन्द्वादिसंवलितस्य नाटकस्य नाटयमन्तं नयतीति नायकः।
स एव धर्मकामार्थफलभाग् भवति। ना० ल० को० प० २५० २६०।

३ स्वच्छन्दः स्वादुरसाधारो वस्तुच्छायामनोहरः।
सेव्यः सुवर्णनिधिवद् नाटययमार्गस्य नायकः। र० सु० १।५६९

स्थित प्रधान पात्र जीवन के आनन्द रस से ही अनुप्राणित रहता है। दुःख हैं, पर उन पर विजय पाता हुआ वह सुख और आनन्द की ओर बढता है। इसी आनन्द के अनुसंधान की मंगल यात्रा मे जीवन के चरण चिह्न चरित्र के रूप मे अंकित होते हैं। भरत ने जीवन की विराट विभूतियो को देखकर, परखकर नाट्य के विभिन्न पात्रो के लिए जीवन का एक सामान्य रूप प्रस्तुत किया है, जिसमे सुख भी है दुःख भी है, पाप भी है, पुण्य भी है, धर्म है और अधर्म भी। पर अन्ततः जीवन की परम उपलब्धि लोकोत्तर सुख की उपलब्धि है वह धर्म काम हो, अर्थ-काम हो, यदि शुद्ध काम हो पर काम का—आनन्द का—भाव वर्तमान रहता है। इसी पृष्ठभूमि मे हमे भरत के पात्र विधान का विश्लेषण करना चाहिए। भरत द्वारा कल्पित नायका के स्वरूप पर निश्चित रूप से वदिक काल से वीर काव्य काल तक के इन्द्र और वृत्र, कार्त्तिकेय और तारकासुर शिव और मय, राम और रावण तथा कृष्ण और कंस, अर्जुन और दुर्योधन जैसे महान् व्यक्तित्वो का प्रभाव पडा है।[1]

पात्रो के भेद

नायक-नायिका और अन्य पात्र उतने ही प्रकार के हो सकते हैं जितने कि मनुष्य के विविध प्रकार हैं। परन्तु उनकी क्या कोई सीमा है? मनुष्य की चित्तवृत्ति परस्पर इतनी भिन्न है, और कभी-कभी इतनी समान भी कि उसके आधार पर कोई वर्गीकरण बहुत कठिन है। पर भरत ने उनकी मुख्य विशेषताओ का आकलन कर वर्गीकरण के कुछ आधारो को प्रस्तुत किया है। उनके अन्तर्गत नायक नायिकाओ की प्रधान विशेषताओ और उनके आधार पर उनके पृथक रूपो की स्थापना की है। परन्तु नायक-नायिकाओ के गुणाधारित वर्गीकरण से पूर्व मूलतः जीवन की प्रकृति को आधार मानकर नर एवं नारी का तीन भागो मे वर्गीकरण किया है, उसमे सब पात्रो का अन्तर्भाव होता है।

पुरुष-नारी पात्रों की त्रिविध प्रकृति—पुरुषो और स्त्रियो की तीन प्रकार की प्रकृति होती है, उत्तम, मध्यम और अधम। जितेन्द्रियता, ज्ञान, नानाशिल्पो मे कुशलता, दाक्षिण्य, नाना शास्त्रो मे सम्पन्नता, गंभीरता, उदारता, धीरता और त्याग के गुणो से सम्पन्न होने पर उत्तम प्रकृति होती है। लोक व्यवहार मे चतुरता, शिल्प और शास्त्र मे व्युत्पन्नता विज्ञान एवं मधुरता से युक्त होने पर मध्यम प्रकृति होती है। रूखी वाणी दुःशीलता, पिशुनता, मित्रद्रोह अकृतज्ञता आलस्य नारियो के प्रति चंचलता, कलह प्रियता, पाप, पर द्रव्यापहारिता और क्रोध का भाव होने पर अधम प्रकृति होती है।[2]

कोमल हृदय, स्मित भाषिणी, अनिष्ठुर, गुणवर्णन मे निपुण, सलज्ज, विनयशील, मधुर, रूपवती गुण-सम्पन्न गभीर धीर स्त्री उत्तम प्रकृति की होती है। मध्यम प्रकृति की नारी उत्तम प्रकृति की नारी से गुणो में किंचित् ही न्यून होती है पर दोष उसमे अत्यल्प होते हैं। अधम प्रकृति की नारी अधम पुरुषो की प्रकृति के समान ही होती है।[3]

---

१ रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमै।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रिय। बा० रा० २।२६-४४, अ० १।२१ २६।

२ ना० शा० २४।२ ७, (गा० ओ० सी०), काशी सं० ३४।२ ८।

३ ना० शा० २४।८ १२ (गा० ओ० सी०)।

मिश्र प्रकृति—स्त्री और पुरुष की तीन श्रेणियाँ शील के आधार पर होती हैं। नृप, अमात्य, शकार, कुमारी, गणिका आदि उन विभिन्न प्रकृतियों के आधार पर होते हैं। नाट्य में ऐसे भी पात्र होते हैं जिन पात्रों की प्रकृति उतनी स्पष्ट नहीं होती। ये संकीर्ण पात्रों की कोटि में आते हैं। संकीर्ण पात्रों में अभिनवगुप्त की दृष्टि से कभी अधम प्रकृति के पात्रों की परिगणना होती है और कभी उत्तम मध्यम प्रकृति के पात्रों की भी। पुरुषों में नपुंसक और नारियों में प्रेष्या अधम ही हैं। इसी प्रकार विट, शकार और चेटी आदि अधम प्रकृति के ही पात्र हैं। पर कभी कभी उनकी समृद्धिशालिता के कारण उनकी प्रकृति में अस्थायी रूप में उत्तम मध्यम प्रकृति की भी झलक मिल जाती है।[1]

नायक के प्रधान चार प्रकार—भरत ने नर-नारी की विविध प्रकृतियों का विश्लेषण कर, उनकी तीन सामान्य प्रकृतियों का निर्धारण किया है। परवर्ती आचार्यों ने उन मानवीय गुण-गरिमाओं का उल्लेख भिन्न शैली में किया है। विश्वनाथ, धनंजय, प्रतापरुद्र और सागर नंदी आदि ने नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख किया है। ये उल्लिखित गुण भरत द्वारा उत्तम मध्यम प्रकृति के पुरुषों के निर्दिष्ट गुण परंपरा से ही गृहीत हैं। शिंगभूपाल, वाग्भट्ट और धनंजय ने उस संख्या में परिवृद्धि की है।[2] परन्तु विश्वनाथ और विद्यानाथ ने उन सब गुणों का समाहार करके नायक के इन गुणों का उल्लेख किया है

नायक त्यागी, यशस्वी, कुलीन, बुद्धिमान, रूपवान, युवा, उत्साही, दक्ष, प्रजानुरागी, तेजस्वी, चतुर और शीलवान हो।

हमारा अभिप्राय इतना ही है कि नायक के सामान्य गुणों के निर्धारण में इन आचार्यों ने प्रकृति की विशेषताओं के अंतर्गत गुण नामावली से ही प्रेरणा ग्रहण की है क्योंकि पुरुषों की उत्तम मध्यम प्रकृतियों के अंतर्गत भरत ने १८ विशेषताओं का उल्लेख किया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा शिंगभूपाल ने भरत की इन तीन प्रकृतियों का उल्लेख भी किया है।

भरत ने प्रधान नायक के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि पात्रों में प्रधान नायक वही होता है जो नाट्य के सब पात्रों के व्यसन और अभ्युदय की तुलना में सर्वाधिक व्यसन और अभ्युदय का भागी होता है। सुग्रीव और विभीषण भी समान रूप से व्यसन और अभ्युदय प्राप्त करते हैं परन्तु इन दोनों पात्रों के व्यसनाभ्युदय राम के व्यसनाभ्युदय की तुलना में उतने उत्कर्षशाली नहीं हैं। अतः प्रधान नायक राम ही हैं सुग्रीव और विभीषण नहीं।[3]

उपर्युक्त मानवीय प्रकृतियों के अंतर्गत शीलाश्रित चार प्रकार के नायकों की परिकल्पना भरत ने की है। नायकों के सम्बन्ध में शीलाश्रित यह वर्गीकरण परवर्ती आचार्यों द्वारा भी उसी रूप में प्रतिपादित किया गया है। नायिका भेद की तरह नायक भेद में संख्या विस्तार की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। चारों प्रकार के नायकों के स्वरूप निर्धारण में प्रकृत्यंतर्गत गुणनामावली

---

१ ना० शा० २४।१३ १४।

२ द० रू० २।१०२, सा० द० ३।३८, ना० द० ४।६, प्र० रू० १।११ १२, वाग्भट्ट का काव्यानुशासन, पृ० ६२।

३ व्यसनी प्राप्य दुःखं वा युज्यते ऽभ्युदयेन य।
तथा पुरुषमाहुस्त प्रधान नायकं बुधा। ना० शा० २४।२१ख २२क (गा० ओ० सी०)।

से ही इनको परिपुष्ट किया गया है। शीलाश्रित नायकों के चार प्रकार निम्नलिखित हैं
धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त।[1]

नायक में धीरता की अनिवार्यता—विविध प्रकार के नायक अपने शील और प्रकृति के आधार पर उदात्त ललित, प्रशान्त और उद्धत होते हैं। पर वे धीर अवश्य होते हैं। चारों प्रकार के नायकों की सामान्य गरिमा 'धीरता' ही है। भरत ने चार प्रकार के नायकों के लिए उनकी सामाजिक स्थिति तथा स्वभाव आदि के आधार पर निर्धारित किया है कि राजा धीर ललित, देव धीरोद्धत, सेनापति और अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वणिक धीरप्रशान्त हो। यद्यपि ये चारों भी अपने वर्ग में एक-दूसरे की अपेक्षा उदात्त, ललित, शान्त और उद्धत होते ही हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नृप में उदात्तता होगी ही नहीं या दिव्य नायक में लालित्य नहीं होगा। वर्ग विशेष के नायक के जीवन की प्रधान सम्पत्ति को दृष्टि में रखकर यह सामान्य निर्देश प्रस्तुत किया है। विशेष रूप से उल्लेख करते हुए तो नाटक के नायक को 'उदात्त शब्द' से परिभाषित किया है और *नियमानुसार नाटक का नायक ऋद्धि और विलास आदि गुणों से* युक्त 'राजर्षि' ही होना है। जनक और दशरथ पुत्र राम तो धीरोदात्त नायक हैं। वस्तुत सब नायकों के लिए सामान्य गुण-सम्पत्ति तो धीरता में ही निहित है। कोई भी नायक, ललित, उदात्त और प्रशान्त आदि शील-सम्पदाओं में से किसी एक से विभूषित हो सकता है, पर प्रत्येक नायक का धीर होना नितान्त आवश्यक है। यह धीरता ही पात्र को नायक पद की मर्यादा से विभूषित करती है।[2]

परवर्ती आचार्यों के अनुसार उपर्युक्त चार प्रकार के नायकों के क्रमश निम्नलिखित स्वरूप हैं

(१) धीरललित—कलाप्रिय सुखी, कोमल प्रकृति तथा चिंता रहित पात्र धीरललित होता है। शारदातनय की दृष्टि से यह विलासी, भोग रसिक तथा रतिप्रिय होता है, जैसे रत्नावली का उदयन नितान्त शृंगारी कला प्रिय और धीरललित नायक है।

(२) धीरशान्त—नायक की महाप्रणता, गम्भीरता, क्षमाशीलता और लालित्य आदि गौरवशाली गुणगरिमाओं से 'धीरशान्त' अलकृत होता है। रामचन्द्र के अनुसार धीरशान्त निरभिमानी कृपालु विनयी और न्यायपरायण होता है।

(३) धीरोदात्त—महाप्राण, अतिगम्भीर, क्षमाशाली, स्थिर, अभिमान के भाव गुप्त रखने वाला, दृढव्रती धीरोदात्त *नायक होता है। विद्यानाथ की दृष्टि में वह कृपावान्* भी होता है।

(४) धीरोद्धत—दर्पद्वेष से भरा, मायाछद्मपरायण, अहकारी, भयकर, घमडी चचल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघी पात्र धीरोद्धत' नायक होता है। विद्यानाथ की दृष्टि में वह इन्द्रजाली भी होता है। अच्युतराय ने उद्धत को नायक का चौथा भेद स्वीकार ही नहीं किया है।[3]

---

१ ना० शा० २४।१६ १८ (गा० ओ० सी०)।

२ नहि जनक प्रभृतीना रामादीनामपि वा धीरललितत्वम्। यदाह—धीरोदात्त जयति चरित राम नाम्नश्च विष्णो। अ० भा० भाग २ पृ० ४१४।

३ भा० प्र०, पृ० ६२, ना० द० १।८ ६, द० रू० २।४४ ४८, सा० द० ३।३७ ४०।

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ भरत द्वारा प्रस्तुत तीन प्रकृतियो की परिभाषा के विचार तत्त्वो से प्रभावित ही नही हैं, उन्ही का आकलन किंचित् परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ किया गया है। धीरोदात्त, धीरललित और धीरप्रशान्त नायको पर उत्तम मध्यम तथा धीरोद्धत पर अधम प्रकृति की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

नायक-भेद का एक और आधार

नायक प्राय दिव्य, राजा या उच्चवंश के होते हैं, प्राचीन काल मे ऐसे सम्भ्रान्त एव कुलीन परिवारो म प्राय बहुविवाह की भी प्रथा थी। नाटय के नाटक वध पत्नी के अतिरिक्त अन्य नारियो से भी शृगार भाव रखते थे। उनकी काम प्रवृत्ति के आधार पर शृगारी नायको की चार श्रेणियो का सकेत शास्त्रीय ग्रन्थो म मिलता है। वे निम्नलिखित हैं

अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ।

१ अनुकूल नायक वह है जो किसी अन्य नायिका के प्रति आसक्त नही रहता, उसकी एक ही नायिका होती है। जसे राम की सीता।

२ दक्षिण नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका के प्रति सदय रहता है और दूसरी नायिकाओ से अनुराग होने पर भी पूर्वा के प्रति उदासीनता नही प्रदर्शित करता।

३ शठ नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका का लुक छिपकर अहित करता रहता है और नवीन नायिका से गुप्त प्रेम-व्यापार चलाता रहता है।

४ धृष्ठ नायक अपनी ज्येष्ठा प्रेयसी की जानकारी म अपनी नवीन प्रेयसी के साथ मिलन का मधुर व्यापार करता है और अगो पर मिलन के चिह्नो को देखकर भी लज्जित नही होता।[1]

विश्वनाथ के अनुसार ये चारो भेद उपर्युक्त चारो भेदो म मे प्रत्येक के होते हैं। इस प्रकार नवीन आचार्यों की दृष्टि से ये सोलह भेद हो जाते हैं। इन सोलह नायको मे से प्रत्येक के ज्येष्ठ मध्य और कनिष्ठ ये तीन भेद गुणोत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर होते हैं और कुल भेद अड़तालीस होते हैं।[2]

भरत का प्रभाव—वस्तुत आचार्यों द्वारा कल्पित ये चार भेद मौलिक नही हैं। भरत ने नाटयशास्त्र के सामान्याभिनय तथा वशिक अध्यायो म स्त्री पुरुष के सम्बन्धो की व्याख्या करते हुए इन भेदो के लिए आधार ही नही प्रस्तुत किया था अपितु विशिष्ट सन्दर्भ म अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ का प्रयोग भी किया है। इस प्रयोग का विधान इस प्रसग मे है कि प्रेमी प्रेमिकाओ के साथ अपना प्रेम भाव (सच्चा प्रेम भाव शठता का भाव तथा धृष्ठता आदि का भाव) जिस रूप म प्रदर्शित करते हैं नायिकाएँ नायको के लिए उनके आचार व्यवहार के अनुरूप ही सम्बोधनो का प्रयोग करती हैं। सच्चे प्रेम निभर नायक के लिए निम्नलिखित सम्बोधनो का विधान है

प्रिय, कान्त, विनीत नाथ, स्वामी जीवित और नन्दन। पर नायक के अनुचित व्यवहार के कारण क्रोध मे नायिका द्वारा अत्यन्त रोषावेशपूर्ण सम्बोधन का विधान है

---

१ द० रू० २।६ ७ सा० द० ३।४१ ४५, प्र० रू० ३६, काव्य प्रकरण। भा० प्र० पृ० ९३।

२ एव षोडशधाभिन्ना ज्येष्ठादित्रयसयुता।
 एतेऽष्टचत्वारिंशत् स्यु नायका कविकल्पिता॥ भा० प्र० पृ० ९३, सा० द० ३।४१, ४२

दु शील, दुराचार, शठ, वाम, विकत्थन, निलज्ज, और निष्ठुर।

'अनुकूल' और दक्षिण नायको के भेद के लिए प्रिय, कान्त, नाथ तथा विनीत मे पर्याप्त आधार है। क्योकि प्रिय विप्रिय काय नही करता, अनुचित भाषण नही करता। अत 'अनुकूल' के निकट है। नाथ, विनीत, कान्त आदि दक्षिण के निकट है क्योकि इनमे ज्येष्ठा प्रेयसी के प्रसादन का बहुत स्पष्ट भाव वतमान रहता है। भरत का 'शठ' मधुरभाषी तो होता है पर व्यवहार म वह स्त्री का अहित ही करता है। वह परवर्ती आचार्यों क शठ का आधार है। धृष्ट मे भरत ने वाम, विकत्थन और निलज्ज आदि अनेक सम्बोधनो के भावो का स्पष्ट विन्यास है।[1]

इन सम्बोधनो ने निश्चित रूप से परवर्ती नायक भेदो के लिए आधारभूमि का काय किया। परन्तु सभव है, प्रेरणा का स्रोत वशिक अध्याय भी हो। वशिक अध्याय म कामतत्र को दृष्टि मे रखकर स्त्रिया के साथ पुरुषो के विभिन्न व्यवहारो की शास्त्रीय मीमासा कर पुरुषा के पाच भेदा की परिकल्पना की गई है—

चतुर—दु ख क्लेश सहने वाला, प्रणय-कोप के प्रसादन म कुशल होता है। उत्तम—मधुर, त्यागी विरागी तथा नारी के अपमान को सहन नही करता। मध्यम—नारी के किंचित् रोष को देखकर भी विरक्त हो जाता है, समय पर दान देता है। अधम—मित्रा द्वारा निषेध करने पर और नारी द्वारा अपमानित होने पर भी वह उसके प्रेम मे आकुल रहता है। सप्रवृत्त—भय और क्रोध की चिन्ता न करने वाला, काम तत्र मे निलज्ज होता है।[2]

नायक-भेदो पर सामाजिक चेतना का प्रभाव

इन पाँच भेदा का भी प्रभाव इन आचार्यों की कल्पना-वृद्धि पर अवश्य पडा है। सभवत बाद मे कल्पित अन्य तीन भेदो ने, पति, उपपति और वशिक के लिए भी आधार प्रस्तुत किया हो। पति के रूप मे नायक के भेदा का आख्यान तो हुआ ही है। 'उपपति वह होता है जिसे किसी अन्य की पत्नी का प्रेम भी प्राप्त होता है और 'वशिक' वेशविद्या म कुशल, अत्यन्त रसिक, कला प्रेमी नायक होता है [विट की परम्परा का। वस्तुत ये विस्तत भेद तो उस युग की सामाजिक चेतना के प्रतीक हैं। आय-जीवन के आदश को त्याग विलास लोलुपता के पक म फँसी जाति के कदथ जीवन की प्रतिछवि इन भेदो म झलकती है। भरत ने इन भेदा के लिए निश्चित आधार प्रस्तुत किया था।[3] परवर्ती आचार्यों ने उनका आकलन कर शास्त्रीय रूप दिया।

अन्य प्रधान पुरुष पात्र

आचार्यों की मान्यता—उपयुक्त नायक भेदो के अतिरिक्त नायका के प्रधान गौण भाव को दृष्टि म रखकर भोज धनजय, विश्वनाथ और शिगभूपाल आदि आचार्यों ने भी नायको की कई विशिष्ट श्रेणियो का निर्धारण किया है। नाट्य के मुख्य फल का अधिकारी तो नायक होता ही है। परन्तु नाट्य म अन्य बहुत से प्रधान पात्र होते हैं, उनम कुछ तो नायक के सहायक होते हैं

१ वाचैव मधुरोयस्तु कमणा नोपपादक ।
योषित किंचिदप्यर्थं सशठ परिभाष्यते। (आदि) ना० शा० २२।२१४ २१६, २०१ २०६।

२ ना० शा० २३ ५२ ६२ (गा० ओ० सी०)।

३ र० सु० १।८३, ८५ ८८, तथा उज्ज्वलनीलमणि, पृ० (१ १५) तथा ना० शा० २३। २८।

और कुछ विरागी भी। आज की दृष्टि से उनके चार भेदों की परिकल्पना की जा सकती है—

नायक उपनायक, अनुनायक और प्रतिनायक।

नायक तो कथा शरीर म सवत्र व्याप्त रहता है। उपनायक—नायक के समान ही पूज्य और उत्कृष्ट होता है पर उस नप आदि का पद नही मिल पाता। अनुनायक—नायक से किंचित् न्यून होता है और कथा शरीर म विशेष उपयोगी होता है। यह अनुनायक दशरूपक के पताका नायक के तुल्य होता है जो मुख्य नायक का भक्त हो, उसके सब कार्यों म योग देता है—जस रामकथा म सुग्रीव। प्रतिनायक—मुख्य नायक की योजनाओ का प्रतिरोधी होता है, उसम भी नायक के तुल्य उत्साह प्रताप और अभिमान के भाव होते हैं जसे रामकथा का रावण।

वस्तुत अनुनायक और प्रतिनायक की सख्या निर्धारित नहीं रहती है। रामकथा म सुग्रीव और विभीषण य दो अनुनायक हैं पर (महावीरचरित म) परशुराम और रावण दो प्रतिनायक भी। दशरूपक तथा नाट्यदपण म पताका नायक, गौण नायक और प्रतिकूल नायको का उल्लेख बहुत स्पष्ट रूप स किया गया है।[1]

भरत की मान्यता

परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत नायक उपनायक और अनुनायक आदि भेदो की परिकल्पना का आधार भरत द्वारा प्रतिपादित बाह्य पुरुषो का विस्तृत वर्गीकरण है। पात्रो के स्वरूप निर्धारण एव वर्गीकरण के प्रसग मे आठ प्रकार के प्रधान पात्रो का उल्लेख तथा लक्षण प्रस्तुत किया है। (युव) राजा, सेनापति, पुरोहित मन्त्री, सचिव प्राडविवाक तथा कुमाराधिकृत। इनके अतिरिक्त भी बहुत से सहायक पात्र प्रधान नायक के होते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल म पुरोहित मन्त्री सेनापति पात्र के रूप म है और मच्छकटिक म प्राडविवाक।

(युव) राजा—इनमे सर्वाधिक गुण सपन्न होना है वह बलवान् बुद्धि सपन्न सत्यवादी, जितेन्द्रिय चतुर प्रगल्भ धतिशाली दूरदर्शी, महाउत्साही, कृतज्ञ, प्रियभाषी, शूर अप्रमत्त, काय कुशल अनुरागवान् अव्यसनी, धर्मज्ञ तथा नीतिज्ञ होता है।[2] अभिनवगुप्त ने मूल ग्रन्थ म प्रयुक्त नप और राजा को युवराज का वाचक माना है। यह युवराज भोज के उपनायक के समान ही है।[3] पुरोहित और मन्त्री—कुलीन, बुद्धि-सपन्न नाना शास्त्रो के विद्वान् स्नेहशील, अप्रमत्त लोभरहित विनीत, पवित्र और धार्मिक होते हैं। सचिव—बुद्धिमान् नीति सपन्न आलस्य रहित पर-दोष दशन-चतुर अथशास्त्र-कुशल कुलीन और देशकाल ज्ञाता होता है। प्राड विवाक—व्यवहार और अथतत्व का ज्ञाता, बहुश्रुत, कार्याकार्य विवेकी धार्मिक, धीर, क्षमाशील क्रोधरहित और समदर्शी होता है। कुमाराधिकृत—स्नेहशील, क्षमाशील, विनीत निपुण, तटस्थ नयन ऊहापोह विलक्षण और सब शास्त्रो म सम्पन्न होते हैं।[4] सेनापति—शीलवान्

१ तत्र कथाशरीरव्यापी यथोक्तगुणयुक्तो नायक। नायकाभ्यर्हणीय सम न इष्टो वा अनवाप्तद उपनायक। नायकात् किंचिदून कथाशरीरे विशेषोपयोगवाननुनायक। नायकप्रतिकूलवृत्ति तद् वदेशावद्रतापाभिमानार्थ साहसादिगुणोत्कर्षी धीरोद्धतप्राय प्रतिनायक। तथा—

द रू २।८-६ ना० द० ४ १३, ना० द० ३।४७ भोज (भरतकोष, पृ० ३२७), र सु० १ १०।

२ ना० शा० २४।७६-८०क (गा ओ० सी०)।

३ युवराजोऽत्र राजशब्देनोक्त (अ० भा० भाग ३, पृ २८६)।

४ ना शा० २४।८०ख ८७ (गा० ओ० सी०)।

सत्य-सपन्न, प्रियभाषी, आलस्यहीन, देशकाल का ज्ञाता अनुरक्त और कुलीन होना है।[1]

सहायक पात्र—ये पात्र अपने व्यक्तित्व और सस्कार के कारण प्रधान पात्रो की श्रेणी मे होते हैं तथा पुरुषार्थ-साधन म प्रवृत्त प्रधान नायक को भिन्न भिन्न रूप म सहयोग देते हैं। परन्तु राजा अथवा नायक के सहायक अन्य मुख्य पात्र भी होते हैं। उनम विदूषक, विट और शकार आदि का बडा महत्त्व है। भारतीय नाटको म विदूषक का प्रयोग प्राय सवत्र किया गया है। उसके माध्यम से मनोविनोद तो होता ही है पर शृगार प्रधान नाटको म प्रेमी प्रेमिकाओ के मिलन व्यापार म वह बडा सहायक भी सिद्ध होता है। भरत ने ऐसे मध्यम और अधम श्रेणी के कुछ महत्त्वपूर्ण पात्रो का उल्लेख किया है। धीरललित आदि विभिन्न नायको के सदभ म भिन्न प्रकार के विदूषको का विधान किया है। भरत की दृष्टि से धीरोद्धत दिव्य नायक के लिए लिंगी (ऋषि), धीरललित राजा के लिए राजजीवी धीरोदात्त सेनापति के लिए वीर, द्विज और धीरप्रशान्त ब्राह्मण के लिए शिष्य।[2] ये विदूषक वियोग-काल म नायक का मनोविनोद करते हैं तथा तरह-तरह की सुरुचिपूर्ण कथाओ के सुनाने म बडे दक्ष होते हैं। विदूषक के अतिरिक्त शकार, विट, चेट आदि पात्र भी नाटय म प्रयोज्य होते हैं। इनकी प्रकृति प्राय अधम होती है परन्तु सौभाग्य और सस्कारवश कभी-कभी इनम भी उत्तम मध्यम भावो का प्रसार हो जाता है।

विदूषक—वामन दन्तुर कुब्ज, विकृतानन खल्वाट, पिंगलाक्ष होता है और जाति से द्विज। चार प्रकार के नायको के विदूषक भी भिन्न रूप रग और आकृति के होते हैं। विट—रूपवान्, उज्ज्वलवेश, मेधावी वेश्योपचार कुशल, मधुर, दक्षिण कवि और चतुर होता है।[3]

शकार—उज्ज्वल वस्त्र आभरण सम्पन्न, अकारण क्रुद्ध और प्रसन्न होने वाला मगध भाषा भाषी, अनेक विकारो से युक्त और अधम प्रकृति का होता है।[4] चेट—कलाप्रिय, वाचाल, विरूप गधसेवी, मान्य-अमान्य।

नाट्यशास्त्र एव परवर्ती आचार्यों क विचारो के निरूपण स दो बातें हमारे समक्ष बहुत स्पष्ट हो जाती हैं। य परवर्ती आचाय अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए भेदो का अधिक विस्तार करते थे इन भेदो म भी चिन्तन की दृष्टि से किसी मौलिक कल्पना के लिए अवकाश नहीं मालूम पडता है। यह तो हमने विस्तार से प्रतिपादित किया ही है कि इन भेदो का भी आधार नाट्यशास्त्र के निरूपण मे स्वय वतमान है। भेद के उन बीजो को ही आचार्यों ने परिपल्लवित कर शास्त्रीय रूप दिया।

नायको के अलकार

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रधान पुरुष पात्रो की सात्विक विभूतिया भी होती है जिनसे उनका व्यक्तित्व निरन्तर प्रतिभासित होता रहता है जसे सूय के साथ उसकी किरणो का आलोक। वे निम्नलिखित है[5]—

---

१ २४।६६ ६७ (का० मा०)।
२ ना० शा० २४।१६ २०क, (गा ओ० सी०)।
३ ना० शा० २४।१०१ १०३ (का० मा०)।
४ ना० शा० २४।१०२ १०४ (का० मा०)।
५ ना० शा० २२।३३ ४१।

(१) शोभा म दक्षता, शूरता, उत्साह, नीच कार्यों के प्रति घृणा और उत्तम गुणों के प्रति स्पर्धा की प्रवृत्ति रहती है। (२) विलास म धीर सचारिणी दृष्टि, दृढ़ आचरण और स्मितपूवक आलाप की प्रवृत्ति रहती है। (३) माधुय मे अभ्यास के बल पर विपत्तियो की दशा मे पात्र की इन्द्रियाँ शान्त और सुव्यवस्थित रहती हैं। (४) स्थय म धम, अथ, काम क साधन म प्रवत्त होने पर व्यसन के होने पर भी दृढता का भाव रहता है। (५) गांभीय म गम्भीरता के प्रभाव स हष, क्रोध, भय आदि की स्थिति म आकृति पर उसका चिह्न नही रहता है। (६) ललित म हृदय के आवेग से उत्पन्न, विकार रहित स्वभाव से उत्पन्न शृगार की चेष्टा की प्रधानता रहती है। (७) औदाय म दान, दूसरे का त्राण, प्रिय भाषण की प्रवृत्ति रहती है। (८) तेज म शत्रु के द्वारा अपमान और तिरस्कार को प्राणो की बलि देकर भी न सहने की क्षमता होती है। वस्तुत पुरुष पात्रों की यह सात्विक विभूति ही नायक के चरित्र निमाण का पृष्ठाधार है।

शूरता, दक्षता, माधुय उदारता गम्भीरता और तेज के द्वारा ही चरित्र म वह चमत्कार और रस आता है कि वह एक ओर आनन्ददायक होता है तो दूसरी ओर अनुकरणीय भी हो जाता है। भरत ने उन्ही चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न पात्रो का विभाजन और वर्गीकरण किया है जो अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक नाटयोपयुक्त है।

नारी पात्र

नायिका नाटय की प्राण वाहिनी धारा है, जिसमे जीवन का ममस्पर्शी मधुर रस लह राता रहता है। इस जीवन रस के पान के लिए ही नायक प्राण तक विसजन करने को प्रस्तुत रहता है। कवि अपनी काव्य-कला के चरम सौन्दय की कोमल सुकुमार सृष्टि करता है और प्रयोक्ता अपनी नाटय कला के परम उत्कष को रूपायित करता है। नाट्याचाय भरत मुनि ने नारी को सुख का मूल, काम भाव का आलबन और काम को सब भावो का स्रोत मानकर प्रस्तुत विषय का विचार जितने विस्तार से किया है उतनी ही सूक्ष्मता से भी।[1] वस्तुत भरत स लेकर विश्वनाथ तक के प्राचीन आचार्यों की विवेचना का यह अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। नारी सुख की मूल, त्रिभुवन का आधार और त्रैलोक्यरूपा के रूप मे शवागमो म प्रशसित रही है। इस सदभ मे भरत द्वारा नारी के महत्त्व की स्वीकृति नितान्त उचित है।[2]

नायिका भेद का आधार—आचार्यों ने नायिका भेद के विवेचन के लिए कई प्रकार क आधारो को स्वीकार किया है और उन आधार भूमिया पर विविध भेदो का विस्तार किया है। नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा आचरण की पवित्रता या अपवित्रता काम दशा की विभिन्न अवस्था, वय की विशेषता अग रचना और विभिन्न प्रकृतियाँ आधार भूमि क रूप म प्रस्तुत की गई हैं। भरत ने इनम कुछ आधारो को स्वीकार कर नायिका भेद का विवेचन किया है। फलत उसमे अनावश्यक विस्तार नही है क्योंकि उनकी दृष्टि नाटयोपयोगी नायिका की ओर थी परवर्ती

---

1 सवस्यैव हि लोकस्य सुखदुखनिवहण।
भूयिष्ठ दृश्यते काम स सुख व्यसनेश्वपि। ना० शा० २२।९७ (गा० ओ० सी०)।

2 नारी त्रैलोक्य जननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी। शक्ति सगम तत्र, नारायण खड १३ ४४

आचार्यों की तरह रसोपयोगी नायिकाओं की ओर नहीं।

भरत के नायिका भेद की विचार भूमि—भरत ने नायिका भेद के लिए चार आधार स्वीकार किए हैं। उनमें स्थूल और सूक्ष्म विचार-तत्त्वों का समन्वय है। नारी के अंग-सौंदर्य के अतिरिक्त उसके शील सौजन्य, आचरण की पवित्रता, जीवन की प्रकृति तथा अवस्था को विशेष महत्त्व दिया गया है। नायिका भेद के निम्नलिखित कुछ आधार हैं—

(१) प्रकृति भेद—उत्तमा, मध्यमा आदि (तीन)।
(२) आचरण की शुद्धता अथवा अशुद्धता—बाह्या, आभ्यंतरा आदि (तीन)।
(३) सामाजिक प्रतिष्ठा—दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री, गणिका (चार)।
(४) कामदशा की अवस्था—वासकसज्जा आदि (आठ)।
(५) शील—ललिता, उदात्ता, निभृता आदि (चार)।
(६) अंग रचना और अन्त प्रवृत्ति—दिव्य सत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा आदि (बाईस)।

भरत के आधारों पर ध्यान देने से यह तथ्य नितांत स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने विचार का आधार मुख्यतः नारी की काम प्रवृत्ति, शालीनता, सौजन्य सामाजिक प्रतिष्ठा और कठोरता आदि को बनाया था। अतः उनका विचार व्यापक है। उसमें विविध रूप रंग और स्वभाव की नारियों का समावेश होता है।

सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार—नायक भेदों की चर्चा के उपरांत भरत ने नाट्योपयोगी नायिकाओं का बड़ा ही उत्तम विवेचन किया है। रूपक के विभिन्न भेदों में जिस प्रकार नायक विभिन्न वर्ग और सामाजिक स्तर के होते हैं, उसी प्रकार नाटक, प्रकरण भाण और प्रहसन आदि में विभिन्न वर्ग और सामाजिक स्तर की नायिकाएँ होती हैं। अतः उनको दृष्टि में रखकर यह भेद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नायिकाओं के निम्नलिखित चार भेद हैं—

दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका।

दिव्या, विक्रमोर्वशी की उर्वशी है, नृपपत्नी वासवदत्ता है, कुलस्त्री मालती माधव की मालती है और गणिका है मृच्छकटिक की वसंतसेना।

इन भेदों के नामकरण से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का बोध हो जाता है। पुनश्च इन चारों नायिकाओं की प्रकृति भिन्न भिन्न होती है इसलिए इन चारों के भी ललिता उदात्ता धीरा और निभृता आदि चार भेद हैं। दिव्या और नृपपत्नी तो उपर्युक्त चारों गुणों से सुशोभित होती हैं। परंतु कुलांगना तो उदात्त और निभृत ही होती है। गणिका और शिल्पकारिका तो ललित और उदात्त होती है। गुणों के क्रम से दिव्य और नृप पत्नी समान है। उनमें चारों गुण वर्तमान हैं और शेष में केवल दो दो ही। भरत ने पाँचवें भेद में शिल्पकारिका का भी उल्लेख किया है और वह भी गणिका के ही तुल्य होती है। शिल्पकारिका का अन्यत्र नारियों के स्वभाव आदि के वर्णन के प्रसंग में विवरण मिलता है। सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर भरत के अनुसार नायिका भेद का यह रेखा चित्र अंकित किया जा सकता है[1]—

[1] ना० शा० २४।२४ २६क (गा० ओ० सी०)।
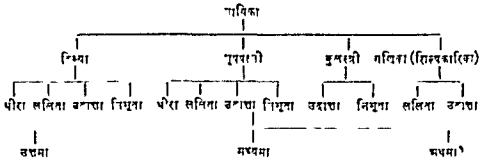
भरत का यह भेद विशिष्ट आधार भूमि पर है निराधार नहीं। हमने आरम्भ में यह संकेत किया है कि सामाजिक प्रतिष्ठा और स्तर के आधार पर उन्होंने जो भेद प्रस्तुत किया परवर्ती नाटयकार उससे प्रभावित हुए। कालिदास के नाटकों की नायिकाएँ दिव्या और नृपपत्नी हैं, शूद्रक की गणिका है तथा भवभूति की कुलांगना। यह भेद नाट्य प्रयोग की दृष्टि में रखकर भरत ने प्रस्तुत किया परन्तु इस व्यापक विचार को दृष्टि में न रखने के कारण ही एम० एन० शास्त्री महोदय ने भरत के भेदों को ऐच्छिक और सिद्धान्तहीन कहा है।[2] वस्तुत परवर्ती आचार्यों के नायिका भेद के लिए तो भरत ने ही आधार प्रस्तुत किया तथा दोनों की दृष्टि में भी तो बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर था। भरत ने नाट्य को प्रश्रय देकर विभाजन किया और उन आचार्यों ने रस को।

आचरण की शुद्धता या अशुद्धता का आधार

भरत ने नाट्य धर्म के सन्दर्भ में दो प्रकार के कामोपभोग का उल्लेख किया है—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यंतर उपभोग की चर्चा नाटक में होती है। बाह्य कामोपभोग वेश्यागत होता है। अतः उसका प्रयोग प्रकरण में होता है। स्त्रियों के नाना प्रकार के सत्व से उत्पन्न तीन प्रकार की आचरण प्रकृति दिखाई देती है तथा उसीके अनुसार उनका नामकरण भी भरत ने किया है बाह्या, आभ्यंतरा और बाह्याभ्यंतरा। कुलीन अंगना आभ्यंतरा होती है, बाह्या वेश्या होती है और इन दोनों की मिश्र प्रकृति से निर्मित बाह्याभ्यंतरा यद्यपि वेश्यांगना ही होती है पर उसका आचरण नितान्त पवित्र होता है। इन तीन प्रकार की नारियों में से वेश्या का प्रवेश अन्तःपुर में नहीं होता। अन्तःपुर में कुलांगना या दिव्या का ही प्रवेश सम्भव है। पुरूरवा के अन्तःपुर में दिव्या उर्वशी का प्रवेश विहित है।[3] यह काम समुत्पत्ति रूप सौन्दर्य के श्रवण दर्शन तथा अंग की लीलापूर्ण चेष्टाओं से होती है। सीता के रूप श्रवण से रावण में और शकुन्तला के रूप-दर्शन से दुष्यन्त में काम भाव उत्पन्न हुआ।[4]

---

१ भरत की दृष्टि में नायिका भेद की संख्या मूल रूप में चार है और ललिता, धीरा आदि भेद में उनकी संख्या बारह हो जाती है और ये प्रत्येक उत्तम, मध्यम, अधम भेद में तीन तीन होने पर छत्तीस हो जाती हैं।

२ The division seems to be primary and purely arbitrary inasmuch as it does not admit of any basic principle of division adopted by latter Canonists —*Laws of Sanskrit Dramas* p 211

३ ना० शा० २२।१४६ १२४ (गा० ओ सी)।

४ इह काममुत्पत्तिनाना भावसमुद्भवा।
स्त्रीणां वा पुरुषाणां उत्तमाधममध्यमा।

अन्त पुर मे नाटयोपयोगी अन्य नारी पात्र

राजोपचार म प्रयुक्त नारियो का विस्तत विवरण भरत ने इस प्रसग म प्रस्तुत किया है। नायिका के अतिरिक्त, राजाओ की अन्य पत्नियाँ भी होती हैं उनकी मर्यादा भिन्न भिन्न होती है। इसीलिए उनके नाम भी भिन्न हैं। महादेवी, स्वामिनी और स्थापिता आदि भिन्न पद और मर्यादा की प्रतीक हैं। इनके अतिरिक्त मध्य और निम्नश्रेणी की अनेक महिलाओ की नामावली भरत ने प्रस्तुत की है, जो अन्त पुर के भोग विलासमय, कलापूर्ण जीवन म लालित्य और सौन्दर्य के वातावरण का सृजन करती हैं। भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया अनुचारिका परिचारिका, सचारिका, महत्तरी, प्रतिहारी, कुमारी, स्थविरा और आयुक्तिका[1] आदि इसी प्रकार की नारी-पात्र हैं। इन मध्यम तथा अधम श्रेणी की नारियो का प्रयोग परवर्ती नाटक कारो ने अपने नाटको म किया है। प्रतिहारी, वृद्धाधात्री और तापसी आदि का प्रयोग भास के स्वप्नवासवदत्तम् म है। मालविकाग्निमित्र (द्वितीय अक) म परिव्राजिका ही अभिनय की उत्कृष्टता की निर्णायिका है।[2] उपयुक्त अठारह आभ्यतर नारी पात्रो म गणिका की परिगणना नही की गई है क्योकि वह सामान्यतया सुशील नही होती। अतएव उसका प्रवेश अन्त पुर म निषिद्ध है।

कामदशा पर आधारित भेद—सामान्य अभिनय के प्रसग म विविध कामदशाओ का वर्णन करते हुए भरत ने अवस्था भेद से आठ प्रकार की नायिकाओ का उल्लेख किया है। नायक या पुरुष प्रेमी के प्रेम, विरह भाव, उपेक्षा, अनादर और त्याग आदि के आधार पर इन आठ भेदों की परिकल्पना भरत ने की है। मेरी दृष्टि से ये आठो ही भेद प्रतिक्रियात्मक हैं। परवर्ती आचार्यों म इन्हे बडी लोकप्रियता भी प्राप्त हुई। भरत ने तो विशुद्ध नाटय प्रयोग की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया, विशेषकर श्रृगार प्रधान रूपको के लिए। परन्तु बाद के आचार्यों ने इन भेदो को स्वीकार कर उपबृहण तो किया पर कामजर्जर सामन्ती जीवन की कामक्षुधा की तृप्ति के लिए ही। भरत द्वारा प्रतिपादित कामावस्था पर आधारित आठ प्रकार की नायिकाएँ—

(१) वासकसज्जा—रति सभोग की लालसा से प्रेरित आनन्दपूर्वक अपना मडन करती है। (२) विरहोत्कठिता—अनागत प्रिय के दुख से पीडित होती है। (३) स्वाधीन-भर्तृका—जिसके सौन्दर्य और रति रस पर मुग्ध हो पति निरतर उसी का निकटवर्ती बना रहता है वह स्वाधीन भर्तृका होती है। (४) कलहातरिता—ईर्ष्या या कलह के कारण विदेश गया पति लौटता नही, अमर्ष के आवेश मे पडी स्त्री कलहातरिता होती है। (५) खडिता—अन्य स्त्री म आसक्त होने के कारण जिसके प्रिय के नही आने से वह दुखी पीडित खडिता होती है। (६) विप्रलब्धा—जिसका प्रिय दूती भेजकर समय और स्थान निर्धारित कर भी मिलन के लिए नही आ पाता वह विप्रलब्धा होती है। (७) प्रोषितभर्तृका—अन्य आवश्यक

श्रवणाद् दर्शनाद्रूपादगलीलाविचेष्टितै ।
मधुरैश्च समालाप काम समुपजायते। ना० शा० २२।१८७।१८८ (गा० ओ० सी०)।

[1] ना० शा० २४।३१ ८४ (गा० ओ० सी०)।

[2] स्वप्नवासवदत्तम् भास, अक ६ मालविकाग्निमित्र, अक १।

कार्यों मे व्यस्त रहने के कारण जिसका पति विदेश म रहता है और उसकी पत्नी विरह म उन्मन जीवन बिताती है।[१] (८) अभिसारिका—प्रबल काम भाव के कारण लज्जा त्यागकर जो स्त्री स्वय प्रिय के साथ अभिसार करती है। स्वाधीनभर्तृका म प्रिय प्रिया के पास मँडराता रहता है, पर यहाँ तो अभिसारिका स्वय पति का अनुगमन करती है। आचार्यों ने कुलजा, परांगना, वेश्या और प्रेष्याभिसारिका आदि भेदों का उल्लेख किया है।[२] वेशभूषा की दृष्टि स उसके दो भेद होते हैं—शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका। शुक्लाभिसारिका चाँदनी रात म स्वच्छ वसन धारण कर प्रियतम के निकट अभिसार करने जाती है और कृष्णाभिसारिका ज्योत्स्ना विहीन रात्रि मे नील वस्त्रा मे। ये आभरण धारण नहीं करती।

नायकों के तीन अन्य भेद—भरत ने कामदशा की विभिन्न अवस्थाओ के भेद से आठ प्रकार की नायिकाओ का विवरण प्रस्तुत करत हुए तीन प्रकार की नायिकाओ का उल्लेख किया है—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या। नि सन्देह ये तीनो ही दिव्या और नृपपत्नी इन दो उपयुक्त भेदा से भिन्न हैं उपयुक्त आठ प्रकार की कामदशाओ के प्रदशन म इन्हा नायिकाओं का प्रयोग करना चाहिए यह भरत का स्पष्ट मत है।[३] हमारे विचार स भरत के यही तीन भेद परवर्ती आचार्यों के लिए ग्राह्य हुए। इन्ही तीन नायिकाओ के आधार पर स्वीया अन्या और साधारणी इन मूल भेदो के आधार पर तीन सौ चौरासी नायिका भेदो का उपबृहण किया।

मनोदशा का आधार—भरत ने नर नारी के प्रेमोपचार के आधार पर नायिका भेद का एक और भी विवरण दिया है। यह भेद मुख्यत नारी की मनोदशा पर आधारित है। मनुष्य की मनोदशा तो अपरिसीम है, पर उनम से कुछ का निर्धारण भरत ने किया है और विस्तार के साथ उसका स्वरूप भी प्रतिपादित किया है। वे निम्नलिखित हैं—

मदनातुरा, अनुरक्ता विरक्ता, चतुरा लुब्धा मानिनी और पण्डिता आदि।

मदनातुरा एकान्त म लीला करती है अनुरक्ता प्रिय की प्रशसा सुनती है, उसके सुख म सुखी और दु ख म दु खी होती है तथा प्रिय के लिए क्लेश सहती है। विरक्ता अति उपकार करने पर भी तुष्ट नही होती अकारण क्रुद्ध होती है। चतुरा चतुरता से लुब्धा अर्थ प्रदान से पण्डिता कला ज्ञान स मानिनी मनाने से वश वर्तिनी होती है। भरत ने केवल आरभ की तीन की ही परिभाषा दी है।[४]

अन्त प्रकृति का आधार—सब नारियो के लिए सामान्य रूप से तीन प्रकार के भेदा की परिकल्पना भरत ने की है—उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीना भेदा का सकेत भरत ने सामान्य अभिनय, वशिक अध्याय और नायक नायिका की प्रकृति के विवचन के प्रसग म किया

---

१ ना शा० २ ।२११ १६, र० सु० १।१२५ १३२ ३४, ना० द० ४।२३ २६, ना० ल० को० २५२५ २५८१, द० रू० २।२४ २७ सा० द० ३।८७ ९६, भा० प्र० ९८।३ ६, २२ पक्ति।

२ ना० द० ४।२६, ना० ल० को० २५७२ ८, र० सु० १।१३४ १४७, भा० प्र०, १००।१, सा० द० ३।८६ ९२ द० रू २।१७, प्र० रू० १।८४, ना० शा० २३।२२०, अ० भा० भाग ३, पृ० २०६, उज्ज्वल नीलमणि पृ० १३८।

३ वेश्याया कुलजायाश्च प्रेष्यायाश्च प्रयोक्तभि ।
एभिभाव विशेषैस्तु कत यमभिसारणम् ॥ ना० शा० २२।२२९ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० २२।१६६ १४४ (गा० ओ० सी०)।

है। वस्तुत यह विवेचन एक ओर तो सामान्य नारी का है और दूसरी ओर नायिका का भी।

अग-रचना और मन -सौष्ठव पर विश्वप्रकृति का प्रभाव

भरत ने नारी की अग रचना, मन सौष्ठव और उसके आकर्षक रूप विन्यास एव विलक्षण स्वभाव का विवेचन बहुत विस्तार से किया है। उनकी स्वतत्र स्थापना है कि नारी प्रकृति नितान्त स्वतन्त्र नही है। उस पर इस विराट् प्रकृति के, अन्य प्राणियो के रूप रग और स्वभाव आदि का भी प्रभाव पडता है, और उनके प्रभाव योग से नारी को पूणता प्राप्त होती है। इसी लिए कोई मृग सी सुकुमार और चचल बडे नेत्रो वाली होती है, कोई गौ की तरह पितृ देवाचन रता, सत्यता और पवित्रता की धारा म धुली हुई तथा निरतर क्लेश सहने वाली, कोई गन्धर्व कन्या सी गीत वाद्य और नत्य म रत, स्निग्ध नयन, स्निग्ध केश और स्निग्ध त्वचा वाली होती है, कोई देवागना सी नीरोग, दीप्ति शोभित, अल्पाहारप्रिया, गध पुष्परता और परम रमणीय होती है कोई मानवी धम, काम और अथ मे निरत, चतुर क्षमाशील, सतुलित अगवाली, कृतज्ञ अहकाररहित मित्रप्रिया, सुशीला होती है और कोई वानर की सी अल्पतनु, प्रसन्न, पिंगलरोम वाली, छद्मप्रिया, प्रगल्भ, चपल, तीक्ष्ण, बाग-बगीचो की सर करने वाली, किंचित् उपकार को भी बहुत मानने वाली और हठपूवक रति करने वाली होती है।[1]

भरत की यह स्थापना विलक्षण है और विचारोत्तेजक भी। उन्होने मनुष्य, पशु पक्षी देवागनाओ और गन्धर्व कन्याओ की शरीर रचना और मन प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन कर मानव योनि मे नारियो के विभिन्न रूप-रग, आकार और स्वभाव के आधार पर सामान्य रूप से बाईस प्रकार की नारियो का उल्लेख किया है। वे सत्व या प्रकृति भेद से नानाशील होती हैं। उनके सत्व या प्रकृति के अनुसार ही उनके उपसेवन का विधान है। स्त्रियों के स्वभावानुसार अत्यल्प व्यवहार होने पर भी वे अधिक सुखदायक होती हैं और स्वभाव का ध्यान न रखकर बहुत सा भी किया गया उपचार दु खदायक ही होता है।[2] नारी प्रकृति और अग रचना के सम्बन्ध मे भरत की यह विप्रतिपत्ति नितान्त मौलिक है। मनोवज्ञानिको और प्राणि-शास्त्रियो के लिए अनुसधान का विषय है कि नारी के शरीर और मन की सूक्ष्म ग्रन्थियों म मानवीय, दैवी और पशु प्रकृतियो का क्या योग है?

सत्वभेद, आचार व्यवहार भेद, सामाजिक प्रतिष्ठा भेद आदि के आधार पर नारियो और नायिकाओ का विवचन करते हुए तीन भेदो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। नारी सामान्य रूप से उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार की होती है—

---

१ स्वल्पोदरी भग्ननासा तनुजघा वनप्रिया।
चलद्विस्तीर्ण नयना चपला शीघ्रगामिनी
दिवात्रासपरा नित्यगीतवाद्यरतिप्रिया
निवासस्थिरचित्ता च मृगसत्वा प्रकीर्तिता।
पितृदेवार्चनरता सत्यशौचगुरुप्रिया
स्थिरा परिक्लेशसहा गवा सत्व समाश्रिता। ना० शा० २२।१०२ १४३।

२ ना० शा० २२।१४५ १४६ (गा० ओ० सी)।
उपचारो यथा सत्व स्त्रीणामल्पोऽपि हर्षद। महानप्ययथायुक्तो नैव तुष्टिकरो भवेत्॥

उत्तमा नारी—प्रिय के समान अप्रिय प्रसग होने पर भी अप्रियवचन नही बोलती, वह बहुत देर तक रोषयुक्त नही रहती, कलानुशल होती है। शील, शोभा और कुल की उच्चता के कारण पुरुषो की कामना का लक्ष्य होती है। कामतत्र मे कुशल, उदार, रूपवती, ईर्ष्यारहित हो बातचीत करनेवाली, कायकाल की विशेषज्ञ यह परम रमणीय नारी होती है।[१]

मध्यमा नारी—पुरुषो की अभिलषित तथा उनकी कामना करने वाली, कामोपचार म कुशल प्रतिपक्षियो से ईर्ष्या करने वाली, क्षीण क्रोध वाली, अभिमानिनी और क्षणभर म प्रसन्न होने वाली मध्यम श्रेणी की नारी होती है।[२]

अधमा नारी—बिना अवसर के क्रोध करने वाली, दुष्टशीला, अतिमानिनी, चचल, कठोर और देर तक क्रोध करने वाली अधम श्रेणी की नारी होती है।[३]

नायिकाओ के तीन भेद उत्तमता मध्यमता और अधमता की दृष्टि से भी होते हैं। यह हम नायक भेद के प्रसग म आरम्भ म ही प्रस्तुत कर चुके है। भरत ने उस प्रसग म उत्तम नारी के गुणो का तो उल्लेख किया है पर मध्यम और अधम के नहीं, वह इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।[४]

भरत का नायिका भेद विवेचन कई विचार भूमियो पर आधारित है यह पिछले पृष्ठो म प्रतिपालित किया गया है। परन्तु नाटय प्रयोग की दृष्टि से दिव्या, नृप पत्नी, कुलजा और गणिका ये चार ही भेद प्रशस्त हैं। उन्ही के ललित और धीर आदि भेदो का आख्यान भी भरत ने किया है। शेष भेदो का सबध नारी के अगसगठन, शरीर प्रकृति, मनोवृत्ति तथा स्वभाव की उत्तमता, मध्यमता तथा कामदशा आदि पर आधारित है। इन भेदो का विवेचन नाटयशास्त्र और प्रयोग दोनो ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती नाटककारो और आचार्यों ने अपने नाटको म नायिका के रूपरग, स्वभाव शील और आचरण की परिकल्पना भरत के अनुसार ही की।

भरत निरूपित नायिका भेद पर उनसे पूर्व किसी प्रचलित परम्परा का प्रभाव था, यह नितान्त स्पष्ट है क्योकि प्रस्तुत विषय के प्रतिपादन के प्रसग म भरत ने कामतत्र का उल्लेख कई बार किया है।[५]

परवर्ती आचार्यों का नायिका-भेद

नायिका भेद का विचार धनजय, शारदातनय, रामचन्द्र गुणचन्द्र शिगभूपाल और विश्वनाथ आदि भरत के परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र को छोड शेष सब आचार्यों की एतत्सबधी विचार प्रणाली सामान्य रूप से एक-सी है। विस्तार म जाने पर किंचित् अतर दृष्टिगोचर होता है। दशरूपककार ने नववयोमुग्धा' और काममुग्धा आदि भेदो की परिकल्पना की है तो साहित्यदर्पणकार ने 'प्रथमावतीर्ण मदन विकारा' और 'प्रथमावतीर्ण यौवन' आदि नवीन भेदो का आख्यान किया है। परन्तु स्वीया, अन्या और साधारणी इन तीन प्रधान

१ ना० शा० २३।३६ ३८ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० २३।४० ४१ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० २३।४१ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० २४।८ १२।

५ अभ्यन्तरेण मध्यक कामतत्र समुत्थितम्। ना० शा० २२।२०२।

भेदो के सबध मे आचार्यों मे ऐकमत्य है। नवीन आचार्यों की दृष्टि मे नायिका भेद की कुछ नयी विचारभूमियाँ ये हैं—

(१) पति के प्रेमानुसार — ज्येष्ठा, कनिष्ठा।
(२) वय के अनुसार — मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा।
(३) मान के अनुसार — धीरा, अधीरा, धीराधीरा।
(४) मनोदशा के अनुसार — अन्यसुरति दु खिता, गर्विता।
(५) अवस्था के अनुसार — प्रोषितपतिका आदि।
(६) प्रकृति या गुण के अनुसार — उत्तमा, मध्यमा और अधमा आदि।
(७) आचरण क अनुसार — स्वीया, अ या आदि।

नायिका भेद का आधार—भेदा के अ य आधारो की भी परिकल्पना की जा सकती है, परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत कुछ मामा य आधारा का निर्धारण किया गया है। इसमे सदेह नही है कि इन सब भेदा के मूल मे परवर्ती कामशास्त्र का प्रभाव भी है। स्वय भरत ने भी नायक नायिका भे के विवेचन के प्रसग मे कामतत्र का प्रभाव स्वीकार किया है।[1] भरत और इन पर वर्ती आचार्यों की आधार भूमिया पर विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम पडता है कि मूलत उनके प्रेरणा-स्रोत तो भरत ही थे। इन आचार्यों ने एक महत्तर काय अवश्य किया है कि भरत के नाटय शास्त्र म कुछ भेद किंचित् अस्पष्ट मे थे और यत्र तत्र बिखरे थे उनका सकलन और स्तरीकरण करके शास्त्रीय एव व्यवस्थित रूप दिया। यह काय दशरूपककार ने ही प्रारभ किया और परवर्ती आचार्यों ने उनका अनुसरण करते हुए यत्र-तत्र परिवतन और परिवद्धन भी किया। परवर्ती आचार्यों द्वारा सुविचारित नायिका भे की अधोलिखित रूप रखा अकित की जा सकती है[2]
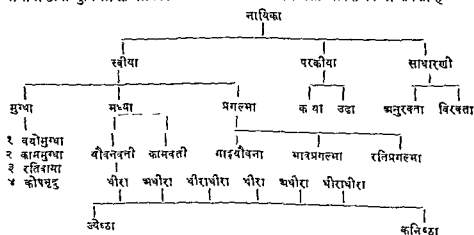
आ वाय धनजय उपयुक्त भेदों के अतिरिक्त मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के नौ भेद और मानते हैं। विश्वनाथ ने मुग्धा, मध्या प्रगल्भा के १६ भेदा की कल्पना की है। विश्वनाथ के अनुसार मुग्धा, मध्या प्रगल्भा के निम्नलिखित भेद हैं

---

१ ना शा० २२।६५ (गा० ओ० सी०)।
२ द० रू० २।१५ २७, सा० द० ३।६८ ९६, भा० प्र०, पृ० ९५ ९६, ना० ल० को० २५१९।

प्रेम का कारण है कि देवियों के प्रति आदरभाव या प्रियतमाओं का भय। पर यह सारा प्रेम व्यापार प्रच्छन्न ही होता है।[1] इस प्रच्छन्न प्रेम और उनकी प्रच्छन्न कामिनियों का भरत ने नायिकाओं की कोटि में नहीं रखा, इसीलिए परकीया को नायिका की मर्यादा भरत ने नहीं दी है। परकीया को यह सामाजिक प्रतिष्ठा भी भरत के काल में प्राप्त नहीं हुई थी और बाद में भी वह स्वीया का स्थान नहीं ग्रहण कर सकी। यही कारण है कि दशरूपककार धनंजय ने परकीया का तो उल्लेख किया परन्तु विवाहित परकीया का नाट्य की नायिका के रूप में निषेध भी कर दिया।[2] इसका स्पष्ट आशय है कि धनंजय के काल तक भी परकीया को नायिका का मर्यादापूर्ण सम्मान प्राप्त नहीं हो सका था। परन्तु समाज में सच्चरित्रता का मापदण्ड उत्तरोत्तर शिथिल होता गया और अन्तःपुरों में विलासिता और कामवासना को प्रश्रय मिलता गया। नायिकाओं में स्वीया के साथ परकीया ने भी अपने चरण दृढ़ कर लिये। नायिका भेद सम्बन्धी उत्तरकालीन साहित्य में उसका स्थान अक्षुण्ण हो गया। परन्तु यह भी एक निश्चित तथ्य है कि किसी भी उच्च कोटि के प्राचीन भारतीय नाटक में परकीया को नायिका का स्थान प्राप्त नहीं हुआ, विशेषकर ऊढ़ा को। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने से पूर्व की परंपरा की उपेक्षा करके नायिका भेद में परकीया का उल्लेख नहीं किया।[3] इसमें सन्देह नहीं कि राजाओं और सामन्तों के अन्तःपुरों में गुप्तकाल के पूर्व से ही इन मधुर प्राण परकीया रमणियों का प्रवेश हो गया था। भास के उदयन[4] और कालिदास के यक्ष के द्वारा[5] अपनी प्रेयसियों के अतिरिक्त अपने परिजन के प्रति प्रच्छन्न प्रेम भाव प्रदर्शित करने का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः भरत द्वारा प्रच्छन्न कामी के प्रसंग में पर नारी प्रेम तथा संस्कृत नाटकों में ऐसे नारी पात्रों की कोमल सुकुमार छाया से हम परिचित हैं।[6] वह सदियों से अपने मर्यादित पद के लिए संघर्ष करती रही है। परंतु उन सद्धर्मानुयायी आचार्यों ने उसे सामाजिक उच्चता का वह स्थान सदियों तक नहीं दिया जब तक साहित्य में जीवन का तेज जीवित रहा। पर उसके मंद पड़ते ही आठवीं-नवीं सदी के बाद उसके प्रशस्तचरण काव्य और नाट्य में दृढ़ हो गये और वह केवल व्यवहार और प्रयोग में ही प्रच्छन्न होकर राजाओं की कामुकता को उत्तेजित नहीं करती रही अपितु शास्त्र में उसने अपना एक निश्चित स्थान बना लिया और वह नायिका हुई।

साधारणी (वेश्या)—साधारणी का नामोल्लेख नितान्त मौलिक नहीं है। भरत ने इस भेद को स्वीकार किया है और वेश्या की परंपरा रामायण काल के पूर्व से ही प्रचलित

---

१ प्रच्छन्नकामितं यत्तु तद्वै रतिकरं भवेत्।
यद्वामाभिनिवेशित्वं यतश्च विनिवार्यते।
दुर्लभत्वं च यन्नार्याः सा कामस्य परा रतिः। २२।२०६-७, अ० भ० भाग ३ पृ० २०६।

२ नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित्। द० रू० २।२० ख।

३ नाट्यदर्पण ४।१६।

४ राजा—किं विरचिका स्मरसि?
वासवदत्ता—आः, अपेहि इहापि विरचिका स्मरसि। स्वप्नवासवदत्ता, अंक ५।

५ त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्। उत्तरमेघ ४७।

६ ना० शा० २२।२०५-२०८, द० रू० २।२१, र० सु० १।११०-११२, ना० द० (रागिण्येवा प्रहसने) ४।२०, सा० द० ३।८४-८५।

थी।[1] हरिवंश मे भी वेश्याओ का उल्लेख है। साधारणी वेश्या होती है और प्रकरण मे नायिका होती है। नाट्यदर्पणकार ने साधारणी के स्थान पर 'पण्यकामिनी' का उल्लेख किया है और शिंग भूपाल ने 'अनुरक्ता' और 'विरक्ता' इन दो भेदों का भी उल्लेख किया है। क्योंकि विरक्ता का प्रयोग शृगार रस के आवर्जन म कदापि नही हो सकता अत वह प्रहसन की तो नायिका हो सकती है पर प्रकरण की नही। प्रकरण की नायिका यदि वेश्या हो तो उसका अनुरागिनी होना अत्यावश्यक है। अनुरागवती वेश्या के रहने पर ही दरिद्र चारुदत्त और मृच्छकटिक म शृगार की रस-तरगिनी मद मद प्रवाहित होती है, अन्यथा दु ख-क्लेश प्रधान प्रकरण म रसमयता का आविर्भाव कैसे होगा यदि नायिका (वेश्या) विरक्त हो। नायिका के रूप म दिव्या वेश्या का प्रयोग होता है पर वहा भी अनुराग होना अत्यावश्यक है[2] विक्रमोवशी म उवशी वश्या है पर दिव्या भी। अतएव नाटक की नायिका है। अत गुणशाली नायक के प्रति वेश्या के हृदय म प्रेमानुबध की योजना होनी ही चाहिये। रुद्रट ने अनुरागवती वेश्याओ का स्थान काम-तृप्ति की दृष्टि से कुलस्त्री और परागना से भी उत्कृष्ट माना है क्योंकि वे काम का सवस्व होती है।[3]

साधारणी या वेश्या के अनुरक्ता और विरक्ता इन दो भेदो का उल्लेख दो रूपो म नाट्य शास्त्र म प्राप्त होता है। आचरण के मापदड की दृष्टि म भरत ने 'आभ्यन्तरानायिका' के अतिरिक्त बाह्या और बाह्याभ्यन्तरा दो भेदो का भी उल्लेख किया है। बाह्या तो वेश्या होती है पर बाह्याभ्यन्तरा वेश्या होकर भी कृतशौचा नारी होती है, अर्थात् एक ही प्रियतम को अपना प्रेम सवस्व अर्पित करती है।[4] यह 'बाह्याभ्यन्तरा ही' शिंगभूपाल की 'अनुरक्ता' की निकटवर्ती है और बाह्या तो विरक्ता वेश्या हो सकती है। अन्यत्र वशिक अध्याय म भी पुरुष द्वारा विभिन्न प्रकार की नारियो के प्रसादन के प्रसग म 'अनुरक्ता' और 'विरक्ता' भेदो का स्पष्ट उल्लेख है।[5]

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों का नायिका भेद—नायिका भेद के सदर्भ मे हमारा ध्यान इन परवर्ती आचार्यों के अतिरिक्त ब्रज भाषा के कवियो और आचार्यों की ओर जाता है जिन्होंने अपनी प्रतिभा और शक्ति का उपयोग नायिकाओ के विस्तृत भेदो की परिकल्पना म किया। इन आचार्यों द्वारा निरूपित नायिका भेद विस्तृत और सुव्यवस्थित तो मालूम पडता है पर नितान्त मौलिक नही है। जिस प्रकार भरत के परवर्ती आचार्यों ने भरत के नायिका भेद के आधार पर मुग्धा मध्या और प्रगल्भा आदि अनेक भेदो का विस्तार किया उसी प्रकार इन आचार्यों ने संस्कृत के परवर्ती आलकारिको से प्रेरणा ग्रहण करके भेदो का और भी विस्तार किया।[6] केशव और देव

---

१ सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलकृता। वा० रामायण, अ० ३।१७ १८।
तथा गणिकाना सहस्राणि नि सृतानि नराधिप।
कुमार्यै सह वार्ष्णेयै रूपवद्भिः स्वलकृतै। हरिवंश विष्णुपर्व ८८।७६।

२ गणिका क्वापि दिव्या ना० द० ४।२०, र० सु० सा चेन दिव्यानाग्के—१।११२।

३ इ या कुलस्त्रीषु परनायकस्य नि शङ्कलित परागनासु।
वेश्यासु चैतद्द्वितीय प्ररूढं सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य॥ र० मु०, पृ० ३० (रुद्रट)।

४ ना० शा० २२।१८२ १८४।   ५ वही २३।१६ २६।

६ 'हिन्दी का नायिका भेद सस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के कवियों ने किया ही क्या? पर यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि स ही अधिक मान्य है—निरूपण की दृष्टि से नहीं।' रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ १४७ ५०, डॉ० नगेन्द्र।

ने मुग्धा के निम्नलिखित चार भेद कल्पित किए

१ नववधू २ नवयौवना, ३ नवल अनगा, ४ लज्जाप्राय रति । परन्तु आचाय विश्वनाथ ने मुग्धा के प्रथमावतीण यौवन आदि जो चार भेद कल्पित किए य उन्ही के दूसरे रूप हैं। शब्दो का किंचित् अन्तर है अथतत्व तो एक ही है। मुग्धा का एक और भी विभाजन हिन्दी के आचार्यों के बीच बहुत लोकप्रिय हुआ।
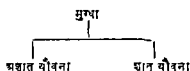
वस्तुत ये भेद प्रभेद नितान्त मौलिक नही हैं। रस मजरी के रचयिता भानुदत्त ने इन सब भेद-प्रभेदा का विस्तार से उल्लेख किया है। मध्या के भी आरूढ यौवना (केशव), रूढ यौवना (देव) प्रादुभूत मनोभवा, प्रगल्भवचना और सुरति विचित्रा आदि भेद किए हैं पर वे भी आचाय विश्वनाथ के प्ररूढयौवना प्ररूढत्स्मरा तथा इषत् प्रगल्भवचना के ही दूसरे रूप हैं।

वस्तुत इन भेदो का मूल स्रोत भरत द्वारा निरूपित यौवन के चार भेदा का ही परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है। 'प्रथम यौवन' म उरु, गण्ड, जघन, अधर, स्तन ककश और रति मनोज्ञ होते हैं। इन गुणों से युक्त नारी 'नव यौवना' होती है। द्वितीय यौवन म अग-अग उभर उठते हैं। पयोधर पीत मध्यम नत यह काम का सार रूप होता है। क्रोध और ईर्ष्या से भरी होती है। तृतीय यौवन म सब शोभा से सपन्न हो, रति-सभोग म दक्ष और प्रगल्भा नारी होती है। चतुथ यौवन म नारी पुरुष की सगति तो चाहती है परन्तु अगा का लावण्य धूमिल हो जाता है। अतएव यह यौवन शृगार का शत्रु होता है।[1] परकीया नायिका के मूलत दो ही भेद थे, पर बाद म तो गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, मुदिता, कुलटा और अनुशयना आदि अनेक भेद किय गए। इन आचार्यों के भेदोपभेद के विस्तार का महत्त्व शास्त्रीय दष्टि से ही था। पर उससे भी अधिक उस युग की सामाजिक और सामन्ती परिवेश म नारी का जीवन जिस रूप मे शृखलाबद्ध होता जा रहा था उसका स्पष्ट परिचय भी मिलता है न कि महत्त्वपूण मौलिक शास्त्रीय चिन्तनधारा का।[2]

भरत का प्रभाव

उपयुक्त विवेचन से हम इसी निष्कष पर पहुचते हैं कि भरत ने नायिकाओ का विवेचन वगगत, जातिगत स्वभावगत चारित्र्यगत, अवस्थागत भेदा के आधार पर किया। वह विचार की दष्टि से तो नितान्त मौलिक है और समाज विज्ञान की दष्टि से भी। चूकि 'नाटय लोक जीवन का सजीव सक्रिय प्रतिरूप था, अत नाट्य मे नर नारी के जीवन के उन रूपो का वितरण विभिन्न दष्टिकोणा से होना स्वाभाविक था। भरत के बाद सदियों तक उतनी व्यापक और सर्वांगीण दष्टि से नाटयशास्त्र की रचना नही हुई। उपलब्ध ग्रथो म नायिका भेद की वृद्धि

---

१ सर्वासां नारीणां यौवनभेदा स्मृताश्च चत्वार ।
नेपथ्यरूपचेष्टागुणेन शृगारमासाद्य। ना० शा० २३।४२ ५२ (गा० ओ० सी०)।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २३७—रामचन्द्र शुक्ल।

ी गई है। लगता है, भरत और धनजय के मध्यकाल की श्रृखला काल प्रवाह मे विलीन गई। क्योंकि भरत की दष्टि मे नायिकाओ की सख्या इतनी अधिक नही है। परवर्ती चार्यों और भरत की दृष्टि मे एक महत्त्वपूर्ण मौलिक अ तर है। परवर्ती आचार्यों ने नायिका : का विस्तार करते हुए उसकी नाटयोपयोगिता को दष्टि म नही रखा। उनकी दष्टि ाभिनिवेशिनी थी। पर भरत ने ऐसी नायिकाओ का वर्गीकरण और विभाजन विशेष रूप किया, जिनका प्रयोग नाटय म हो सके। परवर्ती परपरा ने यह सिद्ध भी कर दिया है कि रत द्वारा प्रवर्तित प्रधान नायिका भेदा के आधार पर ही कवियो ने नारी को रूपरग ही नही या उसम भरतानुमोदित भावना की सुकुमारता और चारित्रिक विभूतियो स उसके प्राणो मे दक सौरभ भी भर दिया। कालिदास की शकु तला, शूद्रक की वसतसेना और हष की रत्नावली भरत की कल्पना मे सदियो पूव जन्म ले लिया था उसी को इन रस सिद्ध कवियो ने साकार र प्राणो का मधुर गुजन भी दिया।

नायिकाओ के अलकार—पुरुषो की भाति ही नायिकाओ के अलकार होते हैं। इन लकारो के द्वारा नारियो के विविध भावो और सुकुमार भाव भगिमा आदि का प्रेषण भी होता और अनिवचनीय सौन्दय का सृजन भी। ये अलकार भाव रस के आधार होत हैं। सात्त्विक ाव मनुष्य मात्र के मन मे सवेदन के रूप म व्याप्त हैं। परन्तु वह देहाश्रित है देह के माध्यम से न सात्त्विक भावो की अभिव्यक्ति होती है। इन सात्त्विक विभूतियो के दशन उत्तम स्त्री पुरुषो ा होते हैं। स्त्रियो की उत्तमता के दशन अगो मे सुकुमारता और लालित्य, मन मे कोमलता ौर प्राणो मे मधुरता और रममयता के रूप म होते हैं। परन्तु पुरुष की उत्तमता तो उसकी ीरता उदात्तता, दढता और साहस मे निहित है। स्त्री और पुरुष की शरीर रचना और मन कृति दोनो ही भिन्न भिन्न हैं। स्त्री की जीवन प्रकृति के अनुरूप ही भरत ने उन बीस अलकारो ी परिकल्पना की है जो उसके जीवन के अन्तर और बाह्य को सौन्दय सुकुमारता सलज्जता ावित्रता और स्नेहशीलता की उज्ज्वलता से विभासित करत रहते हैं। सीता और वासवदत्ता के जीवन के चारो ओर वही महिमाशाली पवित्र ज्योति प्रतिभासित होती है। ये अलकार केवल शरीर की शोभा नही, वे प्राणो का मधुर गुजन हैं नारी के शील का परिष्कृत परिनिष्ठित रूप।[1]

नायिकाओ के अलकार की तीन श्रेणियाँ हैं आगिक, अयत्नज और स्वाभाविक।

नारियो के आगिक विकार यौवन वयस म अधिक बढ जाते हैं। इनकी सख्या तीन है—भाव, हाव हेला।

भाव—सत्त्व की आन्तरिक वत्ति है, उसकी अभिव्यक्ति देह के माध्यम से होता है, वह देहात्मक ही होता है। सत्त्व से भाव उत्पन्न होता है भाव से हाव और हाव से हेला। य तीनो ही क्रमश विकसित होते हैं और आन्तरिक सत्त्व के ही विविध रूप हैं। सत्त्व की अभिव्यक्ति नर नारी के सदभ म भावो के द्वारा ही होती है। दशरूपककार के अनुसार निर्विकारात्मक सत्त्व से भाव का प्रथम स्फुरण होता है।[2]

हाव—हाव भाव से ही उत्पन्न होता है और इस अवस्था म नारी आलापोन्मुख नही

१ अलकारास्तु नाटयज्ञैर्ज्ञेया भावरसाश्रया।
यौवनेऽभ्यधिका स्त्रीणा विकारा वक्त्रगात्रजा ॥ ना० शा० २२।४।

२ ना० शा० २२।८, ना० द० ४।२८८, द० रू० २।३३, सा० द० ३।१०१ र० सु०।

होती उसके रस भरे नयनो और भौंहो से प्रेम भाव मे मधुर विकार उत्पन्न होते हैं। प्रेम भाव शब्दो द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता, देह विकार उसे रूप देते हैं।[1]

हेला—हाव से ही उत्पन्न होता है, पर यहाँ शृगार रस रूप म विकसित हो जाता है। हिल शब्द का अभिप्राय होता है भावकरण। हेला चित्त की ऐसी स्थिति होती है जब शृगार रस अत्यन्त तीव्र हो जाता है। हृदय म भाव का प्रसार अत्यन्त वेग से होता है उसी के अनुरूप अग पर विकार की भी लहरें उभर उठती हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार हेला तीव्रता का वाचक है। और भरत ने भाव के तीव्र प्रसार के अथ म ही इस शब्द का प्रयोग किया।[2]

स्वभावज अलकार—वस्तुत सत्व के इन तीन रूपो के द्वारा मनुष्य के भावलोक की प्राण-कलिका— रति' का उदबोधन होता है। रतिप्रबोध के उपरान्त उठने वाली मन्दिर भाव लहरियाँ नारी के लिए परम उत्सव का विषय होती हैं। वे ही लोकोत्तर अलकार के रूप म भरत द्वारा वर्णित हैं। स्त्रियो के स्वभावज अलकार दस होते है[3] —

(१) लीला—प्रियतम की अनुकृति ही लीला होती है। शिष्ट, वचन सुकुमार भाव भगिमा और मोहक वेश विन्यास द्वारा सपन्न होती है। (२) विलास—प्रियतम के उपस्थित होते ही नारी के हाथ पाँव, भौंह उठना बठना और गति आदि म सामूहिक भाव से अनिवचनीय लास्य परिलक्षित होता है। (३) विच्छित्ति—माल्य, आच्छादन भूपण, आलपन आदि का असावधानी से प्रयोग (न्यास) करने पर अधिक शोभा का प्रसार होता है। (४) विभ्रम—वाचिक, आगिक और आहाय अभिनयो के क्रम मे मद राग, एव हप की अतिशयता के कारण नारी विपरीत आचरण करती है, हाथ से ग्रहण करने के बदले पाँव से ग्रहण करना, रसना को कठ म न्यास करना आदि विपरीत आचरण प्रेम के सौभाग्य गव के सूचक होते ह।

(५) किलकिंचित—आनन्द की अतिशयता के कारण भय हप गव, दुख रुदन, आदि अनेक भावो का एक साथ सम्मिश्रण हो जाता है। (६) मोटटायित—प्रियतम की कथा मात्र सुनने या दशन होन पर प्रियतमा प्रियतम की भावनाओ म वसुध हो खो जाती है। (७) कुट्टमित—प्रियतम के द्वारा केश उरोज और अधर आदि के स्पश से स्त्री मे हप एव आवेग उत्पन्न होता है। यह अग स्पश या पीडन दुखदायक होने पर आनन्दोत्तेजक होता है। (८) विब्बोक—अभिलपित प्रेम के प्राप्त होने पर सौदय एव प्रेम के अभिमान के मद मे उपेक्षा का प्रदशन करन पर विब्बोक होता है। (९) ललित—नारी द्वारा अग उपाग का सचालन भाव भगिमाओ का प्रदशन अत्यन्त सुकुमारता से होन से शृगारोद्दीपक होने के कारण वह ललित होता है। इसम सातिशय विलास का वणन होता है। (१०) विहृत—प्रीतियुक्त वाक्यो का किसी व्याज या स्वभाववश अवसर पर भी न प्रयोग करने पर विहृत होता है।

नारी के अयत्नज (१) शोभा—रूप यौवन, लावण्य एव विलास से अग-सौदय समृद्ध मालूम हो तो शोभा' होती है। (२) कान्ति—वही शोभा काम विकार युक्त होने पर और भी अधिक छविमयी हो जाती है तो कान्ति। (३) दीप्ति—काम भाव का अतिशय प्रसार होन पर वह सौन्दय और भी दीप्त हो उठता है तो दीप्ति। (४) माधुय—क्रोध आदि के दीप्त होने पर

---

१ ना० शा० २२।१०, द० रू० २।३४४, मा० द० ३।१०४।

२ ना० शा० २२।११ द० रू० २।३४ख मा० द० ३।१०५।

३ वही २२।१४ २५, वही २ ३८ ४१, वही ३।११२ १२०, मा० द० ४।३१ ३५क।

भी रति क्रीडा आदि की भांति चेष्टाओ की सुकुमारता और रमणीयता होने पर 'माधुर्य' होता है। (५) धैर्य—चचलता और अभिमान रहित होने पर चित्तवत्ति धैर्य युक्त होती है तो धैर्य। (६) प्रागल्भ्य—सब काम कलाओ का निर्भीक प्रयोग ही 'प्रागल्भ्य' होता है। (७) औदार्य—ईर्ष्या और क्रोध आदि की उत्तेजनापूर्ण दशाओ म भी पुरुष के वचनो के प्रति अनुदीरणा होने पर औदार्य होता है।[1]

इन अयत्नज अलकारो का प्रयोग सुकुमार ललित प्रयोग म होता है। विलास और ललित को छोड दीप्त (वीर) मे भी इनका प्रयोग होता है। सागरनदी मातृगुप्त और साहित्यदर्पणकार ने इन बीस के अतिरिक्त स्वभावज अलकारो के अन्तर्गत और भी आठ अलकारो की परिगणना की है। मद (यौवन आभूषण-जनितगर्व), विकृत (लज्जावश उचित अवसर पर भी न बोलना), तपन (प्रियवियोग मे पीडा का अनुभव), मौग्ध्य (प्रिय की उपस्थिति म प्रतीत वस्तु के सम्बन्ध म अज्ञात होकर पूछना), विक्षेप (प्रिय के निकट अर्द्धवेश धारण, व्यर्थ इधर उधर देखना), कुतूहल (रम्य वस्तु के देखने पर उत्सुकता), हसित (यौवन के आवेग से अनावश्यक हँसना), चकित (पति के निकट भय और घबराहट प्रकट करना), और केलि (प्रिय के साथ केलि क्रीडा)।[2] परन्तु इनमे से कई तो अनुभाव रूप है और वे प्रेम की विभिन्न दशाओ का सकेत करते हैं न कि नारी के जीवन की प्रवृत्ति के रूप है। आचार्य अभिनवगुप्त ने बीस ही सख्या स्वीकार की है। उनकी दृष्टि से कुछ आचार्यों द्वारा मद विकृत आदि की नायिकाओ के अलकारो के रूप म परिगणना भरत विरोधी है।[3]

समाहार—भरत ने पात्र विधान के प्रसग म मुख्य रूप से नाटयोपयोगी पुरुष एव नारी पात्रो का ही विवरण प्रस्तुत किया है। उस युग म राज परिवारो और जन समाज म जीवन जिस रूप म प्रवाहित हो रहा था उसका प्रभाव भरत के पात्र विधान पर निश्चित रूप से पडा है। नारी पात्रो के भेद विस्तार पर विचार करते हुए यह सिद्ध हो जाता है कि भरत की विचार दृष्टि पर कामतत्र का प्रभाव (नितान्त स्पष्ट) है। मनुष्य के जीवन म अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा काम की प्रधानता का भरत ने प्रतिपादन किया है। यह उचित भी है क्योकि यह काम तो स्वय सुख रूप ही है। मनुष्य जीवन म काम की महत्ता की स्वीकृति और तदनुरूप प्रतिपादन भरत की यथार्थवादी दृष्टि का परिचायक है। काम की इस प्रधानता का प्रतिपादन अन्य शास्त्रो म भी किया गया है।[4] परन्तु भरत ने नायक एव नायिकाओ के जितने प्रकार के भेदो का उल्लेख किया है उनसे उनके जीवन की बहुविधता का भी परिचय मिलता है। इसी आधार पर यह स्वीकार करना चाहिये कि भरत नाटय के चरित्रो को लोकोत्तर ही नही लौकिकता की सोधी मिटटी

---

१ ना० शा० २२।२६ ३१ द० रू० २।३८, सा० द० ३।१६६ १९२, ना० द० ४।२५ ३७क।

२ सा० द० ३।११२ १३०।

३ एतावत् एवैत इत्यत्र नियमो विवक्षित । तेन माध्यमदभाव विकृत परितपलादीनामपि शास्त्राचार्य राहुलादिभिरभिधान विरुद्ध मित्यल बहुना। अ० भा० भाग ३, पृ० १६४।
'राहुल-आदि' शब्द से अभिनवगुप्त का आशय है परवर्ती सागरनदी मातृगुप्त आदि आचार्य। अ० भा० भाग ३ पृ० १६४ पर रामकृष्ण कवि की पादटिप्पणी के आधार पर।

४ न च नारी सम सौख्य न च नारी समा गति ।
न च नारी सदृश भाग्य न भूतो न भविष्यति।—शक्ति सगम तत्र १२।४६।

पर भी पनपता हुआ देखना चाहते थे। यही कारण है कि पात्र विधान के प्रसग म प्रधान पात्रो के अतिरिक्त अनेक प्रकार के नाटयोपयोगी पात्रा की परिकल्पना की गई है। परन्तु इसका आशय यह नही कि पात्र विधान के प्रसग म इनके समग्र कोई महत्तर आदश था ही नहीं। भरत की लोकवादी दृष्टि भी नायकों क माध्यम से ऐसे महत्तर चरित्र सजना की कल्पना कर रही थी, जैसे चरित्र रामायण और महाभारत मे कभी कवि-कल्पित हुए थे। अत भरत की दृष्टि पात्र विधान करत हुए यथार्थवादी तो है परन्तु उस पर महत्तर आदश की बहुरगी प्रभा भी लोकात्मक सौन्दय और आदश का समन्वय करती है।

भरतनिरूपित नायक और नायिका भेद का विवेचन यथार्थ और आदश का सगम है। पर उसके मूल मे मनुष्य की अग रचना, अन्य प्रकृति और मानसिक प्रतिक्रियाओ का सूक्ष्म विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। भरत की यह देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पात्र के विविध चरित्र के माध्यम से कथावस्तु का विकास होता है। वस्तुत कथावस्तु और चरित्र दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। महनीय चारित्रिक विशेषताओ से ही कथावस्तु मे गति आती है, प्राण का सचार होना है।[१] इन दोनों के योग से रस का चरम आनन्द आस्वाद्य होता है। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि परवर्ती आचार्यों के नायिका भेद की परिकल्पना रसाभिनिवेशिनी है नाट्योन्मुखी नही पर भरत का पात्र विधान सवथा नाट्योपयोगी है। अतएव उनका पात्र विधान नाट्योपयोगी ही नही शास्त्रीय विचार विवेचन का विषय भी है। भरत ने इसीलिए उन्हीं नायिकाओ, नारी पात्रो और पुरुष पात्रो का विवरण दिया है जो नितान्त नाट्योपयोगी हैं और जिनके जीवन स्रोत से नाट्य का वृक्ष उत्तरोत्तर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है।

---

१ नाट्यकला, पृ० ४० ४१ (डा० रघुवश)।

पाँचवाँ अध्याय

नाट्य के रस और भाव

नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते।

ना० शा० ६ अ० ।

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ।।

ना० शा० ६ ३७ ।

ततो वृक्ष स्थानीय काव्य ।
तत्र पुष्पादि स्थानीयोऽभिनयादिनट व्यापार ।
तत्र फलस्थानीय सामाजिक रसास्वाद ।
तेन रसमयमेव विश्वम् ।

अ० भा० भाग १, पृ० २६४ (द्वि० स०) ।

नाट्यसमुदायरूपाद्रसा ।
यदि वा नाट्यमेव रसा ।
रससमुदायो हि नाट्यम् ।
नाट्य एव च रसा ।
काव्येऽपि नाट्यायमान एव रस ।

(भट्टतोत) अ० भा० भाग १, पृ० २९० (द्वि० स०) ।

\ चर्व्यमाणतैक प्राणो विभावादि जीविता विधि
पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण पुर इव परिस्फुरन्
हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीण मिवालिंगन्
अन्यत् सवमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादभिवानुभावयन्
अलौकिक चमत्कारकारी श्रृंगारादिको रस ।

—ना० प्र० ४, उल्लास ४ ।

५

नाट्य-रस

रस-दृष्टि का विकास

रस भारतीय साहित्य विद्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। भरत ने नाट्य मे लक्षण, गुण दोष और अलकार आदि की परिकल्पना रसोदबोधन के ही लिए की है। वाचिक अभिनय के इन अगो के द्वारा रसोदबोधन होता है तथा आगिक एव आहार्य आदि अभिनय वाक्यार्थ की ही व्यजना करते हैं।[१] नाट्यशास्त्र के विश्लेषण से स्पष्ट ही हो जाता है कि भरत ने नाट्य रस के सदर्भ म ही रस सिद्धात का प्रतिपादन किया है। वे रस के आदि प्रतिष्ठाता आचार्य परम्परा से माने जाते हैं परन्तु उनके पूर्व से ही रस की शास्त्रीय परम्परा प्रचलित थी। क्योकि नाट्य शास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्यायो मे रस और भाव का विवेचन करते हुए अपने विचारो के समर्थन म अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आनुवश्य आर्यायें और कारिकायें भरत ने उद्धृत की हैं। एक स्थल पर तो उन्होने रस शास्त्र पर रचित एक ग्रथ के नाम का भी उल्लेख किया है।[२] अत यह स्वीकार करना चाहिए कि नाट्य रस के विवेचन की परम्परा भरत से पूर्व ही, अविकसित रूप मे ही सही, पर वर्तमान थी। आचार्य शिष्यो की सनातन परम्परा म प्रवहमान इन विचार-पुष्पो का भरत ने आकलन और चयन कर उन्हे शास्त्र सम्मत और व्यवस्थित रूप दिया।[३]

परवर्ती आचार्य—भरत के परवर्ती आचार्यों ने नाट्यरस की शास्त्रीय परम्परा का

---

१ लक्षणालकृति गुणा दोष शब्दप्रवृत्तय ।
वृत्तिसध्यगसरभ सभारो य कवे किल ॥
अन्यो यस्यानुकूल्येन सभूयैव समुत्थिते ।
झटित्येव रसा यत्र व्यज्य ते ह्लादभि गुणा (य) ॥ अ गोन, अ० भा० भाग ३, पृ० ७८ ।

२ अत्रार्ये रसविचार मुखे । ना० शा० (का० मा०) पृ ६७ ।

३ अनुवशे भवौ शिष्याचार्य परपरासु वर्तमानौ श्लोकार्यौ वृत्ति विशेषा । अ० भा० भाग १, पृ० २६७
(द्वि० स०)

प्रसार और विवेचन किया। इन आचार्यों में नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टोद्भट्ट, भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि उल्लेख योग्य हैं। आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनव भारती के माध्यम से भरत के रस सिद्धान्त पर इन आचार्यों के मूल्यवान् विचारों से हमारा परिचय होता है। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र की परपरा का अनुसरण करते हुए धनजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनन्दी, शारदातनय और शिगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की और नाट्य रस का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों के काल तक नाट्य रस से पृथक् एव स्वतन्त्र रूप में रस सिद्धान्त ने अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया था। आनन्दवर्द्धनाचार्य भोज, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने रस सिद्धान्त का उस रूप में महत्त्व प्रतिपादित किया था। इन आचार्यों की विचार-सरणि भरत के नाट्य रस की परिकल्पना से इस बात में भिन्न है कि इनकी रस-दृष्टि नाट्योन्मुखी नहीं काव्योन्मुखी है। परिणामत काव्यप्रकाशकार मम्मट से रसगगाधरकार महापडित जगन्नाथ राज आदि तक अन्य आचार्यों ने काव्यरस (सिद्धान्त) का उपबृंहण किया न कि नाट्यरस का। जिस नाट्य से रसोन्मेष होता है, वह नाट्य इन आचार्यों के लिए विवेच्य विषय नहीं रहा। यद्यपि इन आचार्यों ने भी भरत के मूल रस सिद्धान्त को ही अपने विचारों के आधार के रूप में स्वीकार किया। परन्तु उनके रस सबधी विचार एक दूसरे से भिन्न थे।[1] भरत की दृष्टि में यह नाट्यरस नाट्यरचना के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई काव्यार्थ ही प्रवृत्त नहीं होता।[2]

भरत की व्यापक नाट्य दृष्टि—भरत ने नाट्यशास्त्र में अनेक प्रसगों में नाट्य की परिभाषा, स्वरूप प्रयोजन उपादान एव उद्देश्य आदि का विस्तार से विचार किया है। उनके विश्लेषण से नाट्य का स्वरूप प्रतिभासित होता है तथा भरत के व्यापक दृष्टिकोण का परिचय भी प्राप्त होता है। नाट्य की व्यापकता, मानव जीवन की सुख-दुखात्मक सवेदना, अनुरजकता, पुरुषार्थ साधन की क्षमता, उपदेशपरकता, व्यक्तित्व का विलयीकरण, रसानुभूति और सौन्दर्य बोध आदि न जाने जीवन के कितने रूपों का समाहार भरत ने नाट्य में किया है।[3]

त्रिगुणात्मिका प्रकृति और नाट्यरस—इस त्रिगुणात्मक लोक में मनुष्य स्वभाव के न जाने कितने रूप हैं। सुख दुख के प्रभाव से जीवन की अवस्थाएँ भी विविध और विलक्षण होती हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवेश में मनुष्य जीवन सुख दुख के सूक्ष्म सूत्रों से बुनकर प्रतिक्षण विकसित होता चलता है, उसकी प्रजा में यह सुख दुखात्मक सवेदना निरन्तर होती रहती है। आगिक आदि अभिनयों के द्वारा वह सुख दुखात्मक सवेदना अभिनीत होने पर नाट्य एव आस्वाद्य होती है। नाट्य में नट सुख दुखात्मक स्वभाव को त्याग कर कविनिबद्ध 'पर प्रभाव या सवेदना को आत्मस्थ कर आगिक आदि अभिनयों के द्वारा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। नट स्व भाव' का नमन कर पर प्रभाव की चेतना-सवेदना में 'स्व' को विलीन

[1] The oldest known exponent of this system is Bharata from whom spring all later systems and theories such as we know then and whom even Anandbardhan himself in applying the ras theory to Poetics names as his original authority
—Sanskrit Poetics p 19 (S K De)

[2] न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। ना० शा० अ० ६।

[3] ना० शा० १।१०८ ११६ (गा० ओ० सी०) १६।१४४ १४२ ... प्र० ना० ० ७८६ २६०।

कर देता है। इसीलिए वह 'नट' होता है और उसके आंगिक आदि अभिनय एवं गीत वाद्य आदि भाव 'नाट्य' हो जाते हैं।[१] नाट्य में न केवल नट ही स्वभाव का त्याग कर संवेदना की अभिव्यक्ति करता है अपितु कवि की वाणी भी स्वभाव का त्याग कर लोकोत्तर संवेदना की साधारणता के प्राण रस का प्रतिष्ठान करती है और उसी प्रभाव से सामाजिक के हृदय की आत्म-संवेदना के स्वर कवि वाणी और नट के अभिनय में एकाकार हो जाते हैं। नाट्य की इस एकाकारता से ही लोकोत्तर संवेदना के महाभोग महारस का उदय होता है, यह महारस, परमानन्द स्वरूप, विलक्षण, अचिन्त्यकारक और अनिर्वचनीय होता है।[२]

नाट्य (रस) अनुभावन नहीं अनुकीर्तन

नाट्य भरत की दृष्टि में समस्त लोक का अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्तन है अनुभावन नहीं। अनुभावन द्वारा पदार्थ के प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले विशेष स्वरूप का ग्रहण होता है और अनुकीर्तन से नाट्य के अलौकिक व्यापार द्वारा विभावादि की विशेषता को दूर कर साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है। अनुभावन का प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्ध है। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है उसका अनुभावन या प्रत्यक्षीकरण भी नहीं होता। दुष्यन्त और शकुन्तला आदि प्रत्यक्षीकरण के लक्ष्य नहीं हो सकते। उनका अनुभावन भी नहीं हो सकता। अतएव भरत ने अनुभावन का निषेध और भावानुकीर्तन का विधान किया है।[३] अनुकीर्तन के द्वारा दुष्यन्त और शकुन्तला आदि विशिष्ट व्यक्तित्व अथवा सामान्य विभावादि का ग्रहण न होकर उनके साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है। उनके साधारणीकृत होने पर ही प्रेक्षक का भी नट के अनुव्यवसाय से तादात्म्य होता है। अनुव्यवसाय रूप अनुकीर्तन होने से प्रेक्षक की प्रज्ञा में दुष्यन्त शकुन्तला के साथ तादात्म्य भाव की स्थापना होती है। इसी अभिन्नता या तादात्म्य प्रतीति के कारण उसके हृदय में रसानुभूति या सौन्दर्य का उद्बोधन होता है।

नाट्यरस और साधारणीकरण

तीन लोकों के भावानुकीर्तन रूप नाट्य के लिए साधारणीकरण नितान्त अनिवार्य है। यदि साधारणीकरण न हो तो सामाजिक कवि एवं लोकाचार की दृष्टि से यह नाट्य व्यापार संभव ही नहीं है। विभावादि के विशिष्ट व्यक्तित्व से उदासीन होने के कारण सामाजिक को न तो तादात्म्य होगा और न उस अवस्था में रसानुभूति ही होगी। कवि की दृष्टि से भी व्यक्ति विशेष के प्रणय-अनुराग के चित्रण में अनौचित्य दोष की आशंका हो जाती है। लौकिक दृष्टि से विशिष्ट विभावादि का अनुभावन या नट-व्यापार तो नितान्त लौकिक होता है। लौकिक रूप में किसी को लज्जा किसी को संकोच और किसी को भय या क्रोध भी हो सकता है। पर रसास्वाद नहीं, वह तो साधारणीकरण के द्वारा तादात्म्य होने पर ही होगा।[४] विभावादि का विशिष्ट

---

१ ना० शा० १६।१४४, १४६ एतच्च समस्त नाट्याङ्गोप लक्षण प्रयु यत इति नटैर्नीयते चेतिसामाजिकैस्तेनोभयोरपि नमनमुक्तमिति सभावनाकृतमौचित्यम्। अ० भा० भाग ३, पृ० ८०८१।

२ महारस महाभोग्यमुदात्तवचनान्वितम्। ना० शा० १६।१४०।

३ नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। ना० शा० १।१०७ (गा० ओ० सी०)।

४ साधारणीकरण डा० नगेन्द्र पृ० १७, 'आलोचना' जुलाई ६४।

व्यक्ति के रूप मे प्रतीति होना सम्भव नही है, क्योकि वे तो वर्तमान नही हैं। विशिष्ट पदार्थ तो अपनी उपस्थिति द्वारा ही अपना कार्य सपादन करते है। पर विभावादि की उपस्थिति की कल्पना भी नही की जा सकती है। अत सामाजिक कवि और लोकाचार की दृष्टि से भी विभावादि विशिष्ट व्यक्तित्व का साधारणीकृत रूप ही नाट्य होता है न कि विभावादि विशिष्ट व्यक्तित्व, उसी अवस्था म साधारणीकृत विभावादि के साथ सामाजिक का तादात्म्य होता है। तादात्म्य म रस का आस्वाद रहता है, तादात्म्य की प्रतीति ही 'नाट्य' या 'भावानुकीर्तन' है।

नाट्य रस और अनुकृति—नाट्य की अनुकरण मूलकता के सम्बन्ध म भारतीय आचार्यों म मत मता तर परिलक्षित होता है। अधिकतर आचार्यों न नाट्य को 'अवस्थानुकृतिमूलक' या 'अनुकृतिमूलक शब्दो के द्वारा परिभाषित किया है। इसका आधार भी इन्ह नाट्यशास्त्र म सभवत मिला हो। भरत ने नाट्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'लोकवृत्तानुकरण', 'लोकवृत्तानुकरण तथा 'पूर्ववृत्तानुचरित' आदि अनुकृतिवाचक शब्दों का प्रयोग किया है।[१] पाश्चात्य नाट्य प्रणाली की मीमासा पद्धति म अनुकृति को विशेष रूप से महत्त्व प्रदान किया गया है। अरस्तू न अपने काव्यशास्त्र मे 'कलामात्र की अनुकृति मूलकता प्रतिपादित की है। नाट्य भी एक कला है अत यह भी एक अनुकृति प्रधान कला है। पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टियो म बहुत बडा अन्तर है। भारतीय आचार्य 'अवस्था की अनुकृति' को नाट्य मानते हैं और अरस्तू महोदय 'कार्य व्यापार' मात्र को। एक का ध्यान अनुकार्य की आतरिक वृत्तियो की ओर है तो दूसरे का ध्यान बाह्य वृत्तियो की ओर।[२] भारतीय आचार्य नाट्य को लोक प्रचलित 'अनुकृति के सामान्य स्वाग आदि अर्थ म नहा ग्रहण करते। भरत एव अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग नाट्य की विशिष्ट विचार-परम्परा और निराली अभिव्यक्ति पद्धति को दृष्टि म रखकर किया है।

अनुकरण की उपहासमूलकता—लोक म अनुकरण शब्द तो सदृशता या समान-दर्शन परक है। निम्न श्रेणी के भाड आदि दूसरों के अनुकरण या स्वाँग (नक्ल) आदि प्रस्तुत कर उपहास का सर्जन करते हैं। इस उपहास के द्वारा पात्रो म दु ख क्रोध और खेद भी होता है। इस उपहास-मूलक अनुकरण और नाट्य के अनुकरण म परिणाम की दृष्टि से बहुत कम साम्य है। यही कारण है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्य की ऐसी अनुकृतिमूलकता का खण्डन किया है।[३] नाट्य आनन्दमूलक है और उसके प्रस्तोता भी परिष्कृत रुचि के नट होते हैं, अनुकरण तो उपहासमूलक होता है और निम्न श्रेणी के भाँड या स्वाँग करने वालो के द्वारा किया जाता है। भरत ने भी अनुकरण को उपहासास्पद माना है। अत 'नाट्य' लोक प्रचलित 'अनुकरण' तो

१ लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेत मया कृतम्। ना० शा० १।११२, १६।४५।

२ (a) Epic poetry tragedy comedy dythramties as also for the most part the music of the flute and of the lyre in the most general view of them imitation Poetics, p 5

(b) Drama is a copy of life a mirror of custom a reflection of truth Cicero Natyasastra Eng Trans M M Ghosh, p 43

(c) A B Keith Sanskrit Dramas, p 355

३ तदिदमनु कीर्तनमनुव्यवसाय विशेषो नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम्—अ० भा० भाग १, पृ० ३६।

निश्चित रूप से नही है। भरत ने इन विशिष्ट शब्दो का प्रयोग नाट्य की व्यापक आधारभूमि को स्पष्ट करने के लिए किया है। सामान्य अनुकृति का प्रयोग होने पर तो भरतो को दानवो के क्रोध और देवो और ऋषियो के अभिशाप का भाजन बनना पडा।[1]

चित्तवृत्तियों का अनुकरण—विभावादि विशिष्ट व्यक्तियो का अनुकरण नही होता। परन्तु रति, क्रोध हर्ष और शोक आदि रसमूलक चित्तवृत्तियो का भी अनुकरण सभव नही है। नट के हर्ष और शोक आदि भाव दुष्यन्त आदि विभावो के हर्ष और शोक से सर्वथा भिन्न है, सदृश नही। अत नट विभावादि (दुष्यन्त, शकुन्तला) के हर्ष शोक का अनुकरण नही कर सकता। यदि वह अपने हर्ष और शोकादि को प्रस्तुत करता है तो वह तो वास्तविक हो जाता है। विभावादि अनुकार्य का अनुकरण नही होता। अत प्रेक्षक के अन्तर मे रस का जो अभिस्रवण होता है वह सजातीय के अनुकरण से उसके अन्तर का भी साधारणीकरण हो जाता है। राम रूप नट और उसम तादात्म्य का आविर्भाव हो जाता है नाट्य के प्रभाव से।[2]

सजातीय और सदृश अनुकरण

आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्य सम्बन्धी उदात्त विचारो को स्पष्ट करते हुए 'सजातीय अनुकरण' का समर्थन और सदृश अनुकरण का खण्डन किया है। दोनो ही शब्द दार्शनिक पृष्ठभूमि पर परिपल्लवित हुए है। न्यायदर्शन के अनुसार जाति नित्य रूप से अनेक व्यक्तियो मे समवेत रहती है। मनुष्य व्यक्ति के रूप मे तो नष्ट होता रहता है परन्तु जाति रूप म मनुष्यत्व नित्य है। सब मे, सब कालो म जाति की सत्ता वर्तमान रहती है।[3] इस व्यापक आधार पर ही विभाव आदि की हर्ष शोक आदि रसमूलक चित्तवृत्तियो मे हर्षत्व और शोकत्व जाति थी और आज के नट या पात्र, जिन हर्ष और शोक आदि भावो को प्रकट कर रहे हैं, इनमे भी हर्षत्व और शोकत्व जाति के रूप वर्तमान हैं। अत अतीत के दुष्यन्त और शकुन्तला आदि विभावो का हर्ष और शोक तथा नट या पात्र द्वारा प्रस्तुत वर्तमान हर्ष और शोक आदि म समान जातीयता का एक ही सूत्र गूँथा हुआ है। जाति की समानता की दृष्टि से प्रेक्षक के हृदय मे सुख दुःख की जाति समान ही है अतएव साधारणीकरण होता है। इस सजातीय अनुकरण के द्वारा नाट्य रस का आविर्भाव होता है।[4] सदृश अनुकरण के मूल म समान दर्शन का भाव विद्यमान रहता है। पर यह तो विद्यमान पदार्थों या विशिष्ट व्यक्तियो मे सभव है। पर विद्यमान और अविद्यमान पदार्थों म इसकी सभावना नही है। दुष्यन्त और शकुन्तला रूप विभावादि तो अविद्य

---

१ परन्तेऽननुकरणाद्धाम समुपजायते।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथान्या सुरैर्जिता।
मा तावदभो द्विजा युक्तमिदमस्मद्विडम्बनम्॥ ना० शा० ७।१०, १।८७, ३६।३३।

२ अ० भा० भाग १ पृ० ३६ ३७ (द्वि० स०)।

३ गोत्वाद् गोमिद्धिवत् तन्न सिद्धे। अ० ५।१ १०, न्यायदर्शन। अ० १।१० ७०।

४ अनुकार इति किं सदृश करणम्। तत्कस्य? न तावद्रामादे तस्याननुकार्यत्वात्। एतेन प्रमदादि विभावानामनुकरण पराकृतम्। न चित्तवृत्तीना शोक क्रोधादिरूपाणाम्। न हि नटो रामसदृश स्वात्मन शोक करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावैवानुकारत्वात्। न चा यद् वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृश स्यात्। अनुभावांस्तु करोति। किं तु सजातीयानेव। न त तत्सदृशान्। अ० भा० भाग १, पृ० ३७ (द्वि० स०)।

मान है और यह विभाव है। ये विभावादि साधारणीकृत भी हैं, साधारणीकृत में सादृश्य कैसा? सादृश्य सजातीय में नहीं, विजातीय में होता है। चन्द्र और सुन्दर आनन तथा कामिनी के सुदीर्घ सरल नयन हरिणी के नैनों से सादृश्यता की कल्पना की जाती है।

नाट्यरस की श्रेष्ठता—काव्य तथा आख्यान आदि से नाट्य श्रेष्ठतम है, क्योंकि यह 'प्रतिभासाक्षात्कार कल्प' है, लोक का प्रतिबिम्ब रूप है। बिम्बभूत मुखादि का दर्पण में प्रतिबिम्ब होता है। लोक में सामान्य नित्य हुए शुभाशुभ विशेषक अर्थ का नाट्य में प्रतिभास स्फार होता है, अतः साक्षात्कार के तुल्य होता है। कथा या आख्यान में यद्यपि सजातीय भावों का साधारणीकरण होता है पर काव्य या नाट्य की समकक्षता न होने के कारण चित्तवृत्ति में प्रेक्षक की सी तन्मयता का आविर्भाव नहीं होता। गुणालंकार मनोहर लोकोत्तर रस प्राण से आच्छादित शब्दार्थ शरीर रूप काव्य में चित्तवृत्ति तो निमग्न हो जाती है। परन्तु गद्य का प्रत्यक्ष सा साक्षात्कार का आनन्द नहीं आता। नाट्य में तो प्रेक्षक को प्रत्यक्ष साक्षात्कार का आनन्द आता है। गीत वाद्य और नृत्य आदि के प्रयोग से वातावरण में मनोहरता आती है। पात्र उपयुक्त वेशभूषा धारण कर साधारणीकृत विभाव आदि की सजातीय संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। कवि निबद्ध यह शब्दात्मक अभिव्यक्ति प्रेक्षक के स्वच्छ दर्पण से हृदय में प्रतिफलित होती है। साधारणीकरण की प्रक्रिया से शकुन्तला आदि की सजातीय संवेदनाओं में प्रेक्षक के हर्ष और दुःख आदि का तादात्म्य हो जाता है। वह रसाविष्ट या दुःखाविष्ट हो जाता है। आत्मविलयन की यह स्थिति ही नाट्य है, रस है।[1]

अभिनवगुप्त की दृष्टि से लौकिक सुख दुःख भाव के सदृश उनके संस्कारों से अनुप्राणित समुदाय रूप अर्थ नाट्य होता है। अभिनय भी उस नाट्य का एक भाग है। अभिनय या नाट्य साक्षात्कार सदृश होता है। अतः काव्य या आख्यान की अपेक्षा इस शब्दात्मक नाट्य में जो वास्तविक प्रत्यक्ष का सा आनन्द मिलता है वह अन्यत्र कहाँ। यह नाट्य ही तादात्म्य प्रतीति है और तादात्म्य प्रतीति वह महारस, वह महासुख है जो प्रेक्षकों को आनन्द रस में निमग्न कर देता है।

नाट्य-रस की आस्वाद्यता

रस का अर्थ—रस के आदिप्रणेता और व्याख्याता भरत ही माने जाते हैं। उन्होंने रस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नाट्य के संदर्भ में किया है। निःसंदेह रस का प्रेरणा-स्रोत वेद एवं अन्य प्राचीन साहित्य रहा होगा। नाट्य के प्रधान चार तत्वों के अनुसंधान के प्रसंग में अथर्ववेद से रस तत्व के ग्रहण का उल्लेख भरत ने किया है।[1] रस आनन्दस्वरूप है इस प्रकार का विवरण उपनिषदों में मिलता है। रस के आनन्दात्मक होने के कारण परब्रह्म परमेश्वर या आत्मा का भी रस रूप में ही ऋषियों ने उल्लेख किया है।[3] आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से रस रूप में

---

१ सामाजिक योऽनुव्यवसायोत्र घने सुखदुःखाकार तत्तच्चित्तवृत्ति रूपरूषित निजसंविदानन्दप्रकाशमय, अतएव विचित्रो रसनास्वादन चमत्कार चर्वण निर्वेश भोगाद्यपरपर्याय, तत्र यदवभासते वस्तु त नाट्यम्—अ० भा० भाग १, पृ० ३७।

२ रसानाथर्वणादपि। ना० शा० १।१७ (गा० ओ० सी०)।

३ रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली—७।

आनन्दमय ज्ञान-स्वरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है आत्मा आनन्द रूप है और रस भी आस्वाद्यता के कारण आनन्द स्वरूप है।

लोक प्रचलित व्यवहार की दृष्टि से 'रस' शब्द मधुर आदि षडस, पारद, विषय, सार, जल, मस्वार, क्वाथ, अभिनिवेश और देहधातु के सार के रूप में प्रसिद्ध है अन्यत्र नहीं। परन्तु शृंगार आदि में प्रयुक्त होने वाले इस 'रस' शब्द का क्या अभिप्राय है? इस शंका का समाधान करते हुए भरत ने रस की आस्वाद्यता का विधान किया है। विषय को स्पष्ट करते हुए भरत ने एक लौकिक उदाहरण इस प्रकार दिया है। संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न का भोक्ता पुरुष रसों का आस्वादन करता है। इस अन्नरस का आस्वादयिता 'सुमना' होता है क्योंकि अन्नरस का उसने आस्वादन किया। उसी भाँति नाना प्रकार के विभाव, अनुभाव रूप भावों, अभिनयों द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्विक (मानस) युक्त स्थायी भावों को सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि (रस) प्राप्त करते हैं। ये आस्वादयिता सुमना (सहृदय) कहे जाते हैं।[2]

रसास्वादन मानस व्यापार—भरत ने रस की आस्वाद्यता के विवेचन के प्रसंग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य का संकेत किया है। लौकिक रस का आस्वादन तो विभिन्न इन्द्रियों से होता है, परन्तु नाटय रस का आस्वादन तो मन से ही होता है। वह मानस व्यापार है रसना का नहीं। वह रागात्मक चित्तवृत्ति का रस रूप परिणाम है। यह रस नाट्य-समुदाय से ही आविर्भूत होता है। अतः नाटय में रस निहित है। नाटयायमान (दृश्य) काव्य जैसा रस पेशल होता है वैसा श्रव्य नहीं, क्योंकि नाटय होने से उसमें साक्षात्कार कल्पना का आविर्भाव होता है। साक्षात्कार में जो आनन्द है वह परोक्ष में नहीं।[3]

रसानंद की तीन श्रेणियाँ—रस की आस्वाद्यता का आनन्द ब्रह्म रस के तुल्य है। मुक्ति मार्ग के साधक भी दुःख से अत्यन्त निवृत्ति (आनन्द की प्रेरणा) से आलोकित होकर उस मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं। मनुष्य की मूलवृत्ति ही आनन्दात्मक है। यद्यपि अपनी सुरुचि, संस्कार, और प्रवृत्ति के अनुसार कोई रसनाव्यापार के द्वारा उपलभ्य आनंद की ओर प्रयत्नशील होते हैं, तो कोई मानस व्यापार द्वारा प्राप्य नाटय रस की ओर प्रवृत्त होते हैं और कोई आत्ममुक्ति द्वारा प्राप्य ब्रह्मरस में निमग्न होते हैं। तीनों ही रसानंद में आत्म विसर्जन का भाव समान रूप से वर्तमान रहता है। विषयी रसनाव्यापार द्वारा कामोपभोग काल में आत्मविस्मृत सा हो जाता है नाटय रस के उदय काल में सहृदय साधारणीकृत विभावादि के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है यह तादात्म्य ही आत्मलीनता है। निर्विकल्प सुख का साधक भी अहं का त्याग करके ही ब्रह्मरस में लीन होता है। अतः यह आस्वाद्यता ही नाटय रस का प्राण है, निस्सदेह इस प्राण का आधान साधारणीकरण या आत्म विसर्जन द्वारा ही होता है।

---

1 अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। अ० भा० भाग १, पृ० २९०।

2 भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मा नाटय रसाः स्मृताः। ना० शा० ६.३३।

3 नाटयसमुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाटयमेव रसाः। रससमुदायो हि नाटयम्। नाटय एव च रसाः। काव्येऽपि नाटयायमान एव रसः। का याथ विषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः। अ० भा० भाग १, पृ० २९०। (द्वि० स०)।

नाट्यरस की आस्वादयोग्यता

नाट्यरस की आस्वाद्यता के साथ ही उसकी आस्वादयोग्यता की समस्या भी उठती है। नाट्य के साथ अनुकार्य, कवि, काव्य, प्रयोक्ता, और प्रेक्षक य सब सम्बन्धित हैं। परन्तु नाट्य-प्रयोग से प्रयोक्ता और प्रेक्षक ही विशेष रूप से सम्बन्धित है। क्योंकि प्रयोक्ता नाट्य का प्रयत्न पूर्वक प्रयोग करता है और प्रेक्षक उस समय प्रयोग का आस्वादन करता है। भरत का विचार तो इस सम्बन्ध म नितान्त स्पष्ट है कि नाट्यरस का आस्वादक प्रेक्षक ही है। नाना भावो म अभिव्यञ्जित और वाचिक आगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय से समृद्ध स्थायी भाव को रस रूप मे आस्वादन सुमनस प्रेक्षक ही ग्रहण करत है और लोकोत्तर आनन्द म लीन हो जात हैं। उनकी दृष्टि से रस के रसास्वादन होने की सभावना नही मालूम पडती है।[1] परन्तु परवर्ती आचार्यों म इस सम्बन्ध मे एकमत्य नही है। भट्टलोल्लट न भरत सूत्र की व्याख्या करत हुए अनुकार्य राम आदि तथा अनुकर्ता नट म भी रस का आस्वादन स्वीकार किया है।[2] अभिनव गुप्त न प्रेक्षक मे ही रसास्वाद की योग्यता का प्रतिपादन करते हुए पात्र म उसका सवथा निषेध किया है। उनकी दृष्टि से पात्र या नट रस का आस्वादन नही करत। देश काल और प्रमाता आदि के भेद से रस नियमित नही होता। नट मे रस के आस्वादन का उपाय मात्र रहता है। इसीलिए नट को पात्र भी कहत है। पात्र मे मद्य के आस्वादन की क्षमता नहीं होती वह तो मद्यप म होती है। पात्र तो मद्यप के मद्य पान का माध्यम मात्र है उसी प्रकार नाट्य का पात्र भी कवि कल्पित रस के आस्वादन का प्रेक्षक के लिए एक माध्यम मात्र है। अतएव वह पात्र है। पात्र का रसास्वादन अथवा रसपान का उपाय मात्र होता है।[3]

नाट्यरस का आस्वादक पात्र या प्रेक्षक— परवर्ती आचार्यों म धनजय ने भट्टलोल्लट द्वारा प्रतिपादित नट की आस्वादयोग्यता का ही समर्थन किया है। दशरूपककार धनजय और टीकाकार धनिक के मत स नतक म काव्यार्थ की भावना, रस क आस्वाद का निषेध नही हो सकता। पर धनिक नतक को उसी स्थिति म आस्वाद योग्य मानते हैं जब नतक भी सामाजिक की तरह सहृदय हो। वह सामाजिक के दृष्टिकोण स ही रसास्वाद कर सकता है। अत नतक म रसास्वाद की योग्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए उसकी सामाजिक वत्ति को अपरिहार्य बताकर भरत और अभिनवगुप्त के सिद्धान्त से किंचित् ही भिन्नता रहने दी है। यद्यपि भरत ने पात्र और नतक आदि की जो परिभाषाए दी हैं उसके अनुसार वह इतना कला समृद्ध होता था कि उसम रसास्वाद की योग्यता मानना उचित ही है। बिना सहृदयता के वैसा भावपूर्ण अभिनय वे कसे प्रस्तुत करते।[4]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ न नतक को आस्वादक तो नही माना है परन्तु काव्यार्थ भावना की क्षमता उसमे हो तो वह सामाजिक की तरह रसास्वादक भी हो सकता है। इन्होने

---

१ आस्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। ना० शा० भाग १, पृ० २८८ (गा० ओ० सी०)।

२ (मुख्यया वृत्त्या रामादौ) अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्। अ० भा० भाग १ पृ० २७२।

३ अतएव च नटे न रस । नटे तर्हि किम्? आस्वादनोपाय। अतएव पात्रमित्युच्यते। नहि पात्रे मद्यास्वाद अपितु तदुपाय । अ० भा० भाग १, पृ० २९१।

४ द० रू० ४।४७ तथा धनिक का टीका।

एक ओर भरत और अभिनवगुप्त की परम्परा का समर्थन किया है तो दूसरी ओर धनंजय और धनिक का भी।[१]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पात्र में रसास्वाद की योग्यता का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि से जिस प्रकार वेश्याएँ धन के लोभ में दूसरे के लिए रति का प्रसार करती हुई स्वयं भी परम रति का अनुभव करती हैं या गायक श्रोताओं के लिए गायन प्रस्तुत करता हुआ स्वयं भी गायन का आनन्दानुभव करता है, इसी प्रकार पात्र भी राम-सीता आदि विभावों को प्रस्तुत करते हुए तन्मयता प्राप्त कर लेता है। अतः उसमें भी रसास्वाद की योग्यता रहती है।[२]

वस्तुतः रस की पात्रता प्रेक्षक के अतिरिक्त मूल अनुकार्य (राम आदि) कवि पात्र और प्रेक्षक में सामान्य रूप से है, परन्तु रसास्वाद की योग्यता तो मुख्य रूप से प्रेक्षक में ही है। कवि का तो रसमय होना नितान्त उचित है। उसी की रसमयता (कल्पना) से काव्य या नाट्य में रसमयता का आविर्भाव होता है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार कवि के रसमय (शृंगारी) होने पर सारा विश्व रसमय प्रतीत होता है और उसके वीतराग होने पर सारा विश्व नीरस प्रतीत होता है।[३] भोज ने अपने शृंगार प्रकाश में रसास्वाद की पात्रता के सम्बन्ध में बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। उनके अनुसार रस की स्थिति चेतन प्राणियों में होती है, काव्य के शब्दार्थमय शरीर के अचेतन होने के कारण उसमें सक्रिय रस की स्थिति की परिकल्पना नहीं की जा सकती। लौकिक रूप में, अनुकार्य पात्रों में रस भाव रूप में वर्तमान रहता है। कवि और नट में किसी प्रकार रस की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।[४] स्वयं अभिनवगुप्त ने एकमात्र प्रेक्षक में ही रसास्वाद की योग्यता का दृढ़ता से प्रतिपादन करते हुए भी कवि को सामाजिक के तुल्य स्वीकार किया है।[५]

अनुकार्य में रस और सामाजिक में रसाभास

प्रेक्षक की आस्वाद योग्यता के सम्बन्ध में आचार्यों में एकमत्य है क्योंकि नाट्य का अभिनय प्रेक्षक के लिए होता है और उसके रसरूप फल का भावता एकमात्र प्रेक्षक या सामाजिक ही है। अन्य रसाधान कवि और प्रयोक्ता आदि रसास्वाद के उपाय ही हैं। दशरूपक के टीकाकार बहुरूप मिश्र द्वारा उल्लिखित किसी आचार्य ने तो मूल रूप से रस की स्थिति अनुकार्य राम आदि में प्रतिपादित की है और सामाजिक में केवल रसाभास की कल्पना की है।[६] उनकी यह कल्पना

---

१ ना० द० ३।१८ १६।

२ ना० प्र०, पृ० १४२।

३ शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥ ध्वन्यालोक ३।४३।

४ शृंगार प्र०, पृ० ४४४।

५ अ० भा० भाग १ पृ० २६५।

६ कश्चित्तु रामादिगत एव रसः काव्यप्रतिपाद्य, सामाजिकगतस्तु रसाभास इति प्रतिजानीते। तत्तु वयं न मन्यामहे।

—द० रू० पर बहुरूपमिश्र की टीका, भोजकृत शृंगार प्रकाश (वी० राघवन्), पृ० ४८२ पर पाण्डुलिपि से उद्धृत।

लिया जा सकता है क्योंकि मूल अनुराग पात्र लौकिक सम्बन्धों से रहित रहता है और साधारणीकरण के अभाव में परस्पर एक-दूसरे के प्रति विशेष भाव का अनुभव नहीं करता। अनुराग दुष्यन्त के लिए तो एक मात्र कण्व पुत्री शकुन्तला (असाधारणीकृत रूप में) आलम्बन है किन्तु साधारणीकृत स्त्री मात्र। जबकि प्रेक्षक के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत दुष्यन्त शकुन्तला रूपधारी पात्र सामान्य नर नारी के रूप में, जिनके सम्बन्धों को त्यागकर सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द की सृष्टि करते हैं।

समाहार—भरत एवं अन्य आचार्यों की आस्वाद योग्यता सम्बन्धी विचारों की मीमांसा से महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त करते हैं। सुख दुःखात्मक जीवन रस का प्रवाह अनुराग का स्पर्श करता हुआ प्रेक्षक में आकर विलीन हो जाता है। रस यात्रा के मार्ग में पहले कवि अपनी समृद्ध कल्पना से नट आदि अपने भावपूर्ण अभिनय से उसको प्रेक्षक के निकट और रूप में प्रस्तुत करने के लिए बल देते हैं। प्रेक्षक साधारणीकृत सहृदयता के कारण मुख्यतः पात्र के माध्यम से रस का आस्वाद ग्रहण करता है। निःसंदेह भरत और अभिनवगुप्त ने भी रसास्वाद प्रेक्षक के लिए बौद्धिक प्रतिभा, संस्कार, काव्यानुशीलन और सहृदयता आदि को अत्यावश्यक माना है।[1]

वस्तुतः भरत और अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त कि 'सुमनस प्रेक्षक ही रसास्वादयिता होता है' संगत भी मालूम पड़ता है क्योंकि नाट्य का प्रयोग तो सुमनस प्रेक्षक के लिए ही होता है। इस दृष्टि से यह प्रसिद्ध पंक्ति यहीं उपयुक्त प्रतीत होती है कि कवि तो काव्य की रचना करता है और रस का आस्वादयिता तो समीक्षक होता है।[2] आनन्दवर्द्धनाचार्य की दृष्टि से भी प्रेक्षक का प्राश्निक का सुमन होना अत्यावश्यक है। सुमन प्रेक्षक ही रसास्वादयिता हो सकता है।[3]

नट नाट्य-कला में जो रसिक और सहृदय हो वही कवि निबद्ध विभाव आदि को भावपूर्ण रूप में रसोद्रेक के लिए प्रस्तुत कर सकता है। ऐसे नट या पात्र में रसास्वाद की योग्यता न होना आपाततः उचित नहीं मालूम पड़ता है। परन्तु विचारणीय यह है कि पात्र या नट काव्यार्थ भावना से युक्त होने पर भी नाट्य प्रयोग का, वास्तव में प्रेक्षक तो नहीं होता नाट्य प्रदर्शन का दर्शन कर ही तो प्रेक्षक को रसास्वाद होता है पर वह तो प्रदर्शन का अंग है निरपेक्ष प्रेक्षक नहीं। उसका आनन्द काव्य पाठ के स्तर का हो सकता है। यदि साहित्यदर्पण के अनुसार वह काव्यार्थ का भावन करता हुआ सामाजिक पद पर प्रतिष्ठित हो सके, तो प्रेक्षक और पात्र के रसास्वाद के स्वरूप में महान् अन्तर होगा। व्यापक रूप में रस की सत्ता तो सर्वत्र रहती है।[4] अतः रस की मादक स्निग्धधारा कवि, काव्य, पात्र और प्रेक्षक को समान रूप से प्रभावित करती रहती है। कवि निबद्ध कल्पना और पात्र द्वारा प्रस्तुत अनुभाव आदि के माध्यम से प्रेक्षक जो स्वाद लेता है उस रस की सत्ता इन दोनों के प्राणों को भी रसावेश से आकुल अवश्य करती है। प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायी भाव आनन्द के रूप में रस ही परिणत होते हैं जैसे प्रकाशमान सूर्य संसार को अपनी सौम्य किरणों से जाग्रत कर चेतना का उदबोधन करता है। उसी प्रकार कवि की प्रतिभा भी रस का प्रकाश करती है और पात्र का सरस अभिनय

---

१ ना० शा० २७.६२-६३ (गा० ओ० सी०)।

२ कवि करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।

३ ध्वन्यालोक—शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।

४ सा० द० ३।१८-१९।

भी उसके भावों का उदबोधन। अत प्रेक्षक म आस्वादयोग्यता तो है, पर कवि और पात्र मे रसोदय की क्षमता स्वीकार करनी चाहिए।

रस सुखात्मक या दु खात्मक

नाटय रस की सुखात्मकता या दु खात्मकता भारतीय साहित्य मनीषियो के लिए एक मौलिक चिन्तन का विषय रहा है। भरत से लेकर विश्वनाथ तक सब आचार्यों ने अपने विभिन्न मतमतान्तरो का आकलन किया है। सामान्य रूप से रस तो आनन्दमूलक जीवन-तत्त्व के रूप मे प्रचलित है। परन्तु साहित्य विधा मे सुचिन्तित विचारधाराएँ इस सम्बन्ध मे परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। धनजय और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों न नाटय रस की आनन्दमूलकता का प्रतिपादन किया है तो रामचन्द्र गुणचन्द्र ने कुछ रसा का सुखात्मक और कुछ को दु खात्मक माना है। आचाय अभिनवगुप्त ने रस को सुख दु खात्मक मानत हुए भी सामाजिक की दष्टि से रस को हपफलपयवसायी रूप म स्वीकार किया है। रस सिद्धान्त के प्रवत्तक आचाय भरत के श्लोको और व्याख्याओ मे ही इस विचार विभिन्नता के बीज हमे अकुरित होते मालूम पडते हैं।

नाटय-रस सुखात्मक

भरत ने नाटय प्रयोजन तथा रस विश्लेषण के सदभ म इस विषय का विवेचन विशेष रूप से किया है। नाटय विनोदकारक और रजना प्रधान है। नाटय की विविधता का प्रतिपादन करते हुए उसके लिए सवत्र सुखदायक एव हित कारक विशेषणा का प्रयोग किया है। उससे उनकी 'हप पयवसायी' दष्टि का ही समथन हाता है। नाटय हितोपदश-जनन, धतिक्रीडासुखादिकृत् दु ख शोक एव श्रम पीडित के लिए विश्रान्तिजनक, धम्य, यशस्य, हितदायक, बुद्धिवद्धन और लोकोपदेशजनक होता है।[1] यही नही नाटय को महारस, महाभोग और उदात्तवचनान्वित' जस आनन्द रसपूण विशेषणो से विभूषित किया है।[2] इन विशेषणो से नाटय रस के स्वरूप के सम्बन्ध मे भरत के सुखमूलक दष्टिकोण का परिचय प्राप्त हाता है। परन्तु दोना अध्यायो म दो महत्त्वपूण श्लोको मे नाटय रस क सुख दु खात्मक स्वरूप का सकेत भी होता है। भरत की दष्टि मे लोक का सुख-दु खसमन्वित स्वभाव, अगादि अभिनयों से उपेत होने पर 'नाटय होता है।[3] नाटय की सुख दु खसमन्वितता के आधार पर नाटय रस उभयात्मक भी होता है ऐसा स्पष्ट आभास हाता है। रसाध्याय म भी भरत ने प्रेक्षक द्वारा हर्षादि के प्राप्त करने का भी उल्लेख किया है। 'हप का स्पष्ट निर्देश है। पर 'आदि शब्द के द्वारा शोकादिदु खपरक भावो का भी अन्तर्भाव भरत ने किया है, ऐसी कल्पना आचार्यों न की है।[4] भरत नाटय को सुख दु खात्मक, नानावस्थान्त

---

१ ना० शा० १।१११ ११६।

२ ना० शा० १६।१४०।

३ सोऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित
सोंगाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते। ना० शा १।११६ तथा १६।१४२, १४४।

४ प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। ना० शा० भाग १, पृ० २८६। तथा
अन्ये तु आदिशब्देन शोकादीनामत्र सग्रह। स च न युक्त। सामाजिकानां हि हर्षैकफल हि नाटयम्। तथात्वे निमित्ताभावात् तत्परिहार प्रसगाच्चेति मन्यमाना 'हर्षांश्चाधिगच्छन्ति' इति पठन्ति। अ० भा० भाग १, पृ० २८६।

दात्मक लोक-जीवन का अनुकीर्तन या प्रतिफलन मानते हैं, अत नाट्य रस का स्वरूप सुख दु खात्मक हो यह स्वाभाविक भी है।

उभयात्मक

आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के विचारों का उपबृंहण करते हुए नाट्य रस को सुख दु खात्मक माना है। उनकी दृष्टि से आठो (या नवो) रसो म शृगार, हास्य, वीर तथा अद्भुत सुख प्रधान हैं परन्तु उनमे भी दु ख का किंचित् अश अवश्य ही मिला रहता है। रौद्र, भयानक, करुण एव बीभत्स दु ख प्रधान रस हैं परन्तु इनम सुखात्मकता गौण रूप म वतमान रहती है। इसी प्रसग म अभिनवगुप्त ने यह भी प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त चार दु ख प्रधान रसो म अन्यो की अपेक्षा करुण रस म दु ख का आवेग अत्यन्त प्रबल होता है, अत वह नितान्त दु खात्मक होता है, क्योकि अभीष्ट विषय का नाश तो दु खात्मक होता ही है पर उसके साथ पूर्वानुभूत सुख की स्मृति और भी दारुण और ममवेधक होती है।[१] फलत रौद्र, भयानक और बीभत्स इन तीनो की अपेक्षा करुण रस कहा अधिक दु खात्मक होता है। नाटयशास्त्र के प्रथम अध्याय म नाटय (रस) की निरूपण पद्धति का आधार जीवन की 'सुख दु ख उभयात्मकता' है, क्योकि भरत ने नाटय को जीवन के सुख दु खात्मक रूप का सजातीय अनुकरण माना है। लोक जीवन म सुख-दु ख की उभयात्मक सवेदना होती ही है। अत अभिनवगुप्त की यह मान्यता भी नितान्त उचित ही है कि सब रस सुख प्रधान होकर भी दु खात्मक हैं और दु खात्मक होकर भी सुखात्मक हैं। केवल 'शान्त' नामक नवम रस को उन्होने नितान्त सुखात्मक माना है क्योकि घनीभूत दु ख सचय के स्मरण से प्रेरित वैराग्य के कारण सुख-बहुलता का आविर्भाव होता है। आनन्द बहुलता की दृष्टि से अभिनवगुप्त के मतानुसार शान्त ही रसराज है। यद्यपि परवर्ती कई आचार्यो ने न तो शान्त नामक नवम रस को ही स्वीकार किया और न एकमात्र 'शान्त' को ही सुखात्मक रस माना।[२]

रसो के वर्गीकरण का आधार

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का एतत्सम्बन्धी मत अभिनवगुप्त के प्रथम मत की ही परम्परा म उभयात्मक है। परन्तु किंचित् अन्तर भी है। अभिनवगुप्त के आरम्भिक मत के अनुसार रस उभयात्मक हैं उनम कुछ सुख प्रधान, कुछ दु ख प्रधान हैं। परन्तु सबम सुख दु ख का भाव अशत वतमान रहता ही है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रसों की सवथा दो भिन्न श्रेणिया निर्धारित कर दी हैं। उनके द्वारा स्वीकृत नौ रसो म शृगार, हास्य वीर, अद्भुत और शान्त तो सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र भयानक और बीभत्स दु खात्मक हैं। प्रथम पाँच रस 'इष्ट विभावादि' तथा अन्तिम चार अनिष्ट विभावादि पर आधारित होने के कारण क्रमश सुखात्मक और दु खात्मक भी

---

१ स च सुख-दु ख रूपेण विचित्रेण भवनुगतो न तु तदेकात्मा। तथा हि कामिनश्चाभीष्ट विषयनाशज आक्रन्द सुखस्मरणानुविद्ध सर्वोऽपि दु खैक शोक। अ० भा० भाग १ पृ० ४१ (द्वि० स०)।

२ (क) एव ते नवैव रसा, अ० भा० भाग १, पृ० ३४१ (द्वि० स०)।
(ख) शममपि केचित् प्राहु पुष्टि नाट्येषु नैतस्य। द० रू० ४।३५।

होते है।[1]

कवि की प्रतिभा एव पात्र की अभिनय-कुशलता से मुग्ध सुमनस दु खात्मक करुण आदि रस मे भी परम आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी आनन्द स्वाद के लोभ से प्रेक्षक उसमे प्रवृत्त होते हैं। कवि तो सुख दु खात्मक लोक के अनुरूप राम सीता आदि विभावो का चरित्र ग्रथन करते हुए सुख दु खात्मक रसानुविद्ध काव्य या नाटय की रचना करते हैं। उन कृतियो मे प्रकृतभाव मे सुख-दु ख के तत्व वर्तमान रहते हैं। प्रेक्षक मे उन दोनो का ही उदबोधन होता है न कि केवल आनन्द का ही। सीताहरण, हरिश्चन्द्र का चाण्डाल के यहा दास्यभाव, शय्या विलाप, लक्ष्मण का शक्तिवेध और रति या अज के विलाप आदि के करुण प्रसगो को नाटय रूप मे देखकर किस सहृदय को सुख का स्वाद मिलेगा? साधारणीकृत विभावादि के दु खात्मक भावो का अनुकरण दु खात्मक ही है। अनुकरण के क्रम मे यदि वे दु खात्मक दृश्य भी सुखात्मक हो जाएँ तो क्या वह अनुकरण (?) उचित हो सकेगा? इष्ट आदि के विनाश मे करुणा का जो अभिनय होता है तो उसमे आस्वाद्यता दु ख की ही है। दु खी व्यक्ति दु ख की चर्चा से सुख मानता है और प्रेम चर्चा से उदासीन।

आचार्यों के मत-मतान्तर

वामन, शृगार प्रकाश के रचयिता भोज, रुद्रभट्ट और हरिपाल देव आदि ने भी रस को सुख दु ख उभयात्मक माना है। सुख दु खात्मक जीवन की अनुरूपता के कारण रस भी इनकी दृष्टि मे उभयात्मक ही है। इन आचार्यों ने रामचन्द्र गुणचन्द्र की परम्परा मे नाटय के प्रति यथार्थवादी दृष्टि का प्रतिपादन किया है।[2]

आचार्य धनिक, विश्वनाथ, भट्टनायक, विप्रदास, कुभ और मधुसूदन सरस्वती आदि ने रस की सुखात्मकता का ही प्रतिपादन किया है। इनकी दृष्टि मे रस ब्रह्मानन्द सहोदर है। रस दशा मे प्रेक्षक की सब वृत्तियाँ एकाकार हो आनन्द मे विलीन हो जाती है। आचार्य विश्वनाथ एव धनिक की दृष्टि से करुण आदि भी सुखात्मक रस हैं। यदि इनमे भी लौकिक दु ख ही होता तो कौन प्रेक्षक दु खात्मक नाट्य की ओर प्रवृत्त होता! लोकव्यवहार मे दु खद घटनाओ से दु ख और सुखद घटनाओं से सुख उत्पन्न होता है। पर नाटय या काव्य का लोक तो विलक्षण है। नाटय मे अभिनीत सुख दु खात्मक प्रसग आनन्द और सौंदर्य का ही उदबोधन करते हैं। अन्यथा सीताहरण और शय्या विलाप आदि की ओर प्रेक्षक की प्रवृत्ति कैसे होती! करुण प्रसगो मे प्रेक्षक के नयनो मे जो आसू छलकते हैं, वह तो उसके चित्त की द्रवणशीलता के कारण। यह अश्रु-

---

१ सुखदु खात्मको रस। ना द० ३।७।
करुण रौद्र बीभत्स भयानका चत्वारो दु खात्मन।
यत् पुन सर्वं रसाना सुखात्मकत्व तत् प्रतीतबाधितम्। ना द०, पृ० १४१ ४३ (द्वि० स०)।

२ (क) मतिनो दु खकारी च विप्रलभो प्रियावह। सगीत सुधाकर—हरिपालदेव।
सदर्भ स्रोत—नम्बर ऑफ रसाज—वी राघवन, पृ० १४८।
(ख) रसस्य सुखदु खात्मकतया तदुभय लक्षणत्वेन उपपद्यते। रसकलिका, पृ० ८१ ५५ (रुद्रट) सदर्भ स्रोत भोजाज शृ प्र० ४८३।
(ग) करुणा प्रेक्षणीये तु सप्लव सुखदु खयो। वामन हिन्दी काव्यसूत्र, पृ० १२२।
(घ) रसादिसुखदु खावस्थारूपा। भोज का शृङ्गार प्रकाश—भाग २, पृ० ३६६।

मोचन भी आनन्दात्मक ही है।[1] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार बुद्धि निष्ठ होने पर वे सुख दुःखादि के हेतु होते हैं पर बौद्धनिष्ठभाव केवल सुखात्मक होता है।[2] मधुसूदन सरस्वती के विचार में रस की सुखमयता का प्रतिपादन तो है भावों की सात्विकता के कारण। पर उनमें सुख मय भावों में रजस्, तमस के मिश्रण से सुख दुःख का तारतम्य होता है। अतएव सब रसों में तुल्य सुखानुभव नहीं होता।[3] इनका विचार नाट्यदर्पण की परम्परा में है। अरस्तू के दुःख रेचनवाद के मूल में अंशतः यही भावना वर्तमान है। दुःखजनक दृश्यों के देखने से प्रेक्षक के हृदय के दुःख का विनोदन होता है उदात्तीकरण होता है।[4] रस दशा में परत्व ममत्व का भेद विगलित हो जाता है और साधारणीकृत विभावादि के माध्यम से रस का पूर्ण आस्वाद होता है। यह आस्वाद ही परम ज्योतिर्मय आनन्द है जब अन्य सब प्रकार के ज्ञान तिरोहित हो जाते हैं। परम आनन्द रूप रस ही की एकमात्र सत्ता रहती है। सामाजिक के द्वारा चर्व्यमाण चमत्कारपूर्ण अलौकिक रसानन्द ब्रह्म रूप है, इसमें दुःख का अंश कहाँ ?[5]

रस सिद्धान्त पर प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव

भारतीय दर्शन की पीठिका में भी रस की आनन्दात्मकता की व्याख्या होनी चाहिए। यह सारी सृष्टि देव की आनन्दमूलक मानसी सृष्टि है आनन्द की प्रेरणा से ही भूत मात्र की सृष्टि हो रही है। सारे दर्शन दुःख की अत्यन्त निवृत्ति रूप मुक्ति या आनन्द पथ का संकेत करते हैं। विशेषकर भरत और अभिनवगुप्त द्वारा कल्पित रस की आनन्दात्मकता पर प्रत्यभिज्ञादर्शन का स्पष्ट प्रभाव मालूम पड़ता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार सृष्टि के छत्तीस तत्त्व हैं जिनमें चौबीस सांख्य के तथा शिव और शक्ति आदि बारह तत्त्व प्रत्यभिज्ञादर्शन के और भी हैं। नाट्य शास्त्र में ३६ ही अध्याय हैं और अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के प्रत्येक अध्याय में शिव की एक शक्ति का स्मरण किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार माया से पुरुष तक के सात तत्त्वों के माध्यम से जीवात्मा इस रसमय विश्व को स्वकीय समझ उपभोग करता है, जो वास्तव में प्रकृति की सृष्टि है और परिणाम में अमृत्य। नाट्य के द्वारा अभिव्यक्त रसानुभूति की भी प्रक्रिया यही है। प्रेक्षक साधारणीकृत विभावादि (अवास्तविक) के साथ तादात्म्य की प्रतीति करता है और इस प्रतीति द्वारा ही उसके शुद्ध हृदय दर्पण में आनन्द रूप आत्म तत्त्व का प्रकाश होता है।[6]

१ करुणादौ अपि रसे जायते यत् परमं सुखम् (सा० द० ३।३ १३)।
स्वादः काव्यार्थसंभेदात् आत्मानन्दसमुद्भवः (द० रू० ४।४३ तथा धनिक की टीका पृ० ६८ (नि० सा०)।

२ बौद्धनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः। भक्ति रसायन २ ५।

३ सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंशमिश्रणात् तारतम्यं अवगन्तव्य।—तथा
अतो न सर्वेषु रसेषु तारतम्यसुखानुभवः। भक्तिरसायन, पृ० २२।

४ Aristotle s Art of Poetry p 32 33, W Hamilton Fyce London, 1948

५ परिच्छेद विवर्जितं सामाजिकैः चर्व्यमाणं चमत्कारात्मकं परं।
आनन्द ब्रह्मरूप रसरूपं। विप्रदास—भ० को०, पृ० ५३०।

६ The authors of the works on Rasa, music and dramaturgy have adopted the same Pratyabhijnya System of philosophy in explaining the process of aesthetic experience, enjoyed by spectators while witnessing dramatic performances K S Ramswami Sastri, Abhi Bharati (Intro), p 18

रसज्ञ व आनन्द—लौकिक दृष्टि से दु खजनक दृश्य भी नाटय म कैसे आनन्ददायी होते हैं अभिनवगुप्त ने इसकी बडी उत्तम परिकल्पना की है। रसज्ञ व आनन्द के लिए यह आवश्यक है कि रसोपलब्धि की सारी प्रक्रिया विघ्न रहित हो। उसका समस्त वातावरण प्रभावशाली और हृदय को आनन्द रस म निमग्न करने वाला हो। इसीलिए विरोधमूलक दु खजनक स्थितियो म भी रसमयता का आविर्भाव होता है। यो सामान्य स्थिति म दु खोत्पादक दृश्यो के परिवेश म सामाजिक को सुख अनुभव हो, यह स्वाभाविक तो नही मालूम पडता। परन्तु, एक बात है, बाधक विघ्नो के अभाव म सामाजिक जब उस करुणरस समृद्ध नाटय म तन्मय हो जाता है तो उसी तन्मयता के कारण आनन्द रस का प्रस्रवण सामाजिक की चेतना भूमि पर होता है। अत स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वाद रूप ज्ञान के आनन्दमय होने से सब रस आनन्दस्वरूप होते हैं। केवल शोकानुभूति के आस्वादन मे भी उसके निर्विघ्न विश्रान्तिरूप होने से लोक मे कोमल हृदय नारियो का भी हृदय की विश्रान्ति प्राप्त होती है। विश्रान्ति सुख है, अविश्रान्ति दु ख।[1]

रस के आनन्द स्वरूप की मूल भूमि—भारतीय नाटको मे सुखान्तता का निर्वाह तथा नाटयशास्त्र म अति क्लेशजनक दृश्यो के परिवर्जन का इस सदर्भ म बहुत महत्त्व है। यूरोप की नाटय परपरा दु खपर्यवसायी भावना से आन्दोलित रही है।[2] विश्व के दो गोलार्द्धों म नाटय के प्रति दृष्टिकोण का जो व्यापक और मौलिक अन्तर है उसके मूल मे जीवन दृष्टि का भी कम अन्तर नही है। वदिक काल से लेकर बाणभट्ट तक आर्य मनीषियो की वाणी आनन्द प्रेरित रही है। वदिक ऋषियो द्वारा जीवन की मधुमयता का गान आनन्द निर्भर शत शत शरद् वसन्तो की मगलमयी कल्पनाएँ जीवन के आनन्द रूप का सकेतक हैं।[3] फलत जीवन के प्रतिरूप नाटय की आनन्दमूलकता तो एक स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। चिन्तन की इस आनन्दमूलक धारा को भारत की परम रमणीय प्राकृतिक विभूति से मातृवत्सला सत्ता के रूप म पोषण और सरक्षण प्राप्त होता था।[4] अत नाटय के फलरूप मे आनन्द की कल्पना करना भारतीय चितनधारा और उसके प्राकृतिक परिवेश के अनुकूल है।

नाटय रस के सम्बन्ध मे भरत की कल्पना आर्यों की आनन्दमूलक चिन्तन धारा, आर्यावर्त की प्राकृतिक विभूति की ममता और आनन्द की शीतल छाया म पनपी। आर्यों के

---

१ तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधाना। स्व संवित् चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात् तथा हि एकघन शोकसंवित् चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् (सुखस्य) अविश्रान्तिरूपतैव दु खम्। तत एव कापिलै दु खस्य चाचल्यमेव प्राणत्वेनोक्त रजोवृत्तिता वदद्भि इति आनन्दरूपता सर्वरसानाम्। किन्तूपरञ्जकविषयवशात्तेषामपि कटुतिक्तता स्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव॥ अ० भा०, भाग १, पृ० २-२ (द्वि० स०)।

२ Whenever the tragic deed however is done with in the family—when murder or the like is done or meditated by brother on brother, by son on father, by mother on son or son on mother These are the situations the poet should seek after —Aristotles Art of Poetry, p 36 38

३ यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते। तत्र मामभृत कृधि। ऋग्वेद। ९।११३ ११।

४ (क) देवस्य पश्य काव्य न ममार न जीर्यति। साम। ४।४।३।
(ख) माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या। साम० १२।१।१२।

तरिक और बाह्य जीवन प्रवृत्तियों के अनुरूप ही प्रधान रूप से नाट्य रस सुखात्मक है, यह
पना आविर्भूत हुई है। परन्तु जीवन की अनुरूपता के कारण उसमें किंचित् दुःख का अनुवेधन
रहता है। नाट्यरस के रूप में आनन्दमय ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है, दुःख
व तो तिरोहित सा हो जाता है।

स निष्पत्ति

भरत ने रसाध्याय में रस निष्पत्ति का विवेचन सूत्र एवं भाष्य दोनों ही शैलियों में किया
। उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से रस की निष्पत्ति होती है।[1]
मानस रसास्वाद की तुलना भरत ने लौकिक रसना-आस्वाद से की है। नाना प्रकार के गुण
दि व्यंजनों से उपसिक्त सुसंस्कृत अन्न का भोक्ता पुरुष रस का आस्वादन करता है तदनुरूप
विभाव तथा व्यभिचारीभाव रूप नाना भावों तथा अनुभाव रूप अभिनयों से सम्बद्ध स्थायी
वों को सहृदय पुरुष या प्रेक्षक मन से आस्वादन करते हैं। यह आस्वाद ही नाट्यरस है, परम
नन्द स्वरूप है।

रस निष्पत्ति सम्बन्धी भरत सूत्र की व्याख्या भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभि
वगुप्त प्रभृति आचार्यों ने अपने अपने भिन्न दृष्टिकोण के संदर्भ में प्रस्तुत की है। रसनिष्पत्ति
ी प्रक्रिया और उसका जो स्वरूप इन आचार्यों ने निर्धारित किया, तदनुसार रसनिष्पत्ति संबंधी
मान्यताएँ उत्पत्तिवाद या भावोपचयवाद, अनुमितिवाद या अनुकरणवाद, भुक्तिवाद तथा
अभिव्यक्तिवाद के रूप में परम्परा से प्रसिद्ध हैं। अभिनव भारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने
अभिव्यक्तिवाद की स्थापना के क्रम में सब वादों का खंडन किया है।

भट्टलोल्लट का स्थायीभावोपचयवाद—भट्टलोल्लट की रस निष्पत्ति सम्बन्धी मान्यता
के मूल में तीन विचार बिन्दुओं का आकलन किया गया है—(१) स्थायी भावोचय, (२) कारण
कार्य भाव द्वारा रसोत्पत्ति तथा (३) रस की स्थिति केवल अनुकार्य एवं अनुकर्ता में ही।

विभाव-अनुभाव आदि से उपचित स्थायी भाव ही रस रूप में उत्पन्न होता है। परन्तु
वही स्थायी भाव यदि विभाव आदि से उपचित या पुष्ट न हो तो वह रस न होकर स्थायी भाव
ही रहता है। अतः स्थायी भाव का यदि विभावादि से संयोग होता है तभी रस उत्पन्न होता
है। स्थायी भाव और रस की निष्पत्ति का सम्बन्ध कारण कार्य भाव की तरह है। स्थायी रति
आदि चित्तवृत्तियों के रस रूप में उत्पन्न होने के कारण हैं विभावादि और कटाक्ष आदि अनुभाव
या रसजन्य कार्य है। घटरूप कार्य के लिए मिट्टी और दण्ड आदि जिस प्रकार कारण होते हैं
उसी प्रकार स्थायी भाव के रस रूप में उत्पन्न होने में विभाव आदि भी कारण हैं। अतः लौकिक
कारण कार्य भाव के समान विभावादि के संयोग से स्थायी भाव रस रूप में उत्पन्न होता है।
कुछ प्राचीन आचार्य भट्टलोल्लट के इस तर्क से सहमत प्रतीत होते हैं।[2]

यह स्थायी भाव रूप रस भट्टलोल्लट की दृष्टि से मुख्य रूप से तो अनुकार्य राम आदि में

---

१ विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० ६, पृ० २७२ (गा० ओ० सी०)।

२ विभावादिभिः संयोगात्स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावाः चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकायाः उत्पत्तौ कारणम्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। अ० भा० भाग १, पृ० २७२। तथा—रतिः शृंगारतां गता रूपबाहुल्यात् कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः। २।३।८१-८२ (काव्यादर्श)।

ही रहता है परन्तु राम आदि की अनुरूपता की प्रतीति के कारण गौण रूप से नट में भी रहता है। सामाजिक में रस प्रतीति के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट नितान्त मौन है। परन्तु कई आचार्यों की दृष्टि में भट्टलोल्लट द्वारा प्रयुक्त नट उपलक्षण है, उसके द्वारा सामाजिक का भी ग्रहण होता है क्योंकि सामाजिक को तो रस का अनुभव होता ही है। पर यह आनन्दानुभव भ्रान्ति पर ही आधारित होता है। भ्रान्ति के कारण सामाजिक को नट में राम के रूप की प्रतीति होती है, अर्थात् प्रेक्षक नट में राम का आरोप करता है। इसीलिए भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त आरोपवाद के रूप में भी प्रसिद्ध है।[1]

भट्टलोल्लट की त्रुटियाँ— स्थायी भावों का उपचय या परिपुष्टि ही रस है' भट्ट लोल्लट के इस विचार में त्रुटियों की संभावना आचार्य शंकुक को मालूम पड़ी। विभावादि के योग से रत्यादि स्थायी भावों का जो 'साक्षात्कारात्मक' ज्ञान होता है, वह तो रस ही है, स्थायी भाव नहीं। अत स्थायी भाव और रस तो एक दूसरे से भिन्न हैं। विभावादि के योग से पूर्व जो रत्यादि स्थायी भाव हैं उन्हें तो 'रस' नहीं स्वीकार किया जा सकता। उस स्थायी भाव का ज्ञान शब्दों के द्वारा वाच्य है रस की तरह साक्षात्कारात्मक नहीं है वह तो परोक्ष है। अत विभावादि के योग से पूर्व स्थायी भाव' शब्द वाच्य परोक्ष ज्ञान है और विभावादि के योग होने पर स्थायी भाव जो रस-रूप में परिणत होता है वह तो साक्षात्कारात्मक ज्ञान है, तथा शब्द-वाच्य नहीं, अभिनेय है। अत स्थायीभाव रस रूप नहीं है। यदि रस की स्थिति पहले ही स्वीकार कर लें तो भरत को रस निष्पत्ति के सिद्धान्त के प्रवचन की क्या आवश्यकता थी! स्थायी भाव ही को रस मान लेने में अन्य कई त्रुटियाँ और भी आ जाती हैं। स्थायी भावों में मात्रा का भेद होता है और तदनुरूप रस में भी मंदता और तीव्रता स्वीकार करनी होगी। पुनश्च 'स्थायीभाव के उपचय के सिद्धान्त का शोकादि में विरोध होता है। शोक में तो आरम्भ में तीव्रता रहती है और उत्तरोत्तर अपचय होता जाता है। तब शोक के उपचय के बिना करुण रस की उत्पत्ति कैसे होगी? इन दोषों को दृष्टि में रखकर आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए 'अनुकरणवाद' और अनुमितिवाद' की स्थापना की।[2]

शंकुक का अनुकरण और अनुमितिवाद

आचार्य शंकुक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन 'रसानुकरणवाद' तथा अनुमितिवाद' के आधार पर किया है। उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के योग से रस का अनुमान होता है, अनुकरण होता है। अनुक्रियमाण रति ही शृंगाररस के रूप में परिवर्तित होती है।[3] वह स्थायी भाव रूप कारण से उत्पन्न नहीं होता। रति आदि शब्दों से वाच्य स्थायी भाव का ज्ञान परोक्षात्मक होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। परन्तु उसी का वाचिक और आंगिक अभिनयों से परिपुष्ट ज्ञान साक्षात्कारात्मक होता है। रत्यादि का यह अभिनय अनुकरणात्मक है। इस अनुक्रियमाणता से ही रत्यादि स्थायी भाव रस रूप में अनुमित होते हैं। अत शंकुक की दृष्टि से 'अनुक्रियमाण स्थायी भाव' ही रस है। अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायी भाव की रसमयता

---

१ काव्य प्रकाश की टीका—झल्लीकर पृ० ८८। (भ० ओ० रो० इ०, पूना)।

२ अ० भा० भाग १, पृ० २७३।

३ तेन रतिरनुक्रियमाणा शृंगार इति तदात्मकत्व तत् प्रभवत्वंचयुक्तम्। अ० भा० भाग १ पृ० २७३।

प्रतिपादित करने के लिए शंकुक ने अनुमान की कल्पना की। जिस प्रकार पर्वत में धुएँ के दर्शन से नैयायिक अग्नि का अनुमान करते हैं उसी प्रकार पात्र में राम आदि के अनुभाव आदि को देखकर वहाँ रस की सत्ता का अनुमान प्रेक्षक करते हैं। अतः विभाव आदि तो अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य।

भट्टलोल्लट की उत्पादक उत्पाद्य कल्पना के स्थान पर शंकुक ने अनुमापक और अनुमाप्य सम्बन्ध की परिकल्पना की। लोकप्रचलित सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य आदि ज्ञानों से विलक्षण चित्रतुरगादि न्याय के आधार पर अनुमान के लिए शंकुक ने मार्ग प्रशस्त किया। राम और दुष्यन्त आदि 'अनुकार्य' का अनुकर्ता' नट तो चित्र तुरग की तरह अवास्तविक है परन्तु चित्र तुरग को देखकर तुरग का ज्ञान होता है वैसे ही नट की वेशभूषा एवं अभिनय के प्रभाव के कारण सामाजिक अपनी वासना और वस्तु सौन्दर्य के बल से अवास्तविक अनुकर्ता नट को ही राम या दुष्यन्त के रूप में अनुमान कर लेता है। उसी रूप में रस का अनुमान हो जाता है। शंकुक की दृष्टि भी नितान्त स्पष्ट है कि वास्तविक रति तो दुष्यन्त और रामादि में ही है परन्तु नट में उसकी अनुकरणात्मकता के कारण वह अनुक्रियमाण स्थायीभाव रस-रूप में अनुमित होता है।[1] शंकुक का भी सिद्धान्त अनुकरण और अनुमिति पर आधारित होने के कारण त्रुटिरहित नहीं है। अतः शंकुक के दोनों मतों का भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने खण्डन किया है।

अनुकरणवाद का खण्डन

अनुकरण का प्रमाण—अनुक्रियमाण स्थायी भाव रस है, यह शंकुक का अनुकरणमूलक सिद्धान्त न तो सामाजिक की दृष्टि से न पात्र की दृष्टि से और न भरत के प्रतिपादित सिद्धान्त की ही दृष्टि से आदरणीय प्रतीत होता है। सामाजिक की दृष्टि से स्थायी भाव के अनुकरण को रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी वस्तु के प्रामाणिक होने पर ही वह रस या अन्य वस्तु का अनुकरण है यह कहा जा सकता है। सुरापान का अनुकरण करता हुआ पात्र दुग्धपान करता है। यह प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के कारण इसमें अनुकरण की बात में तथ्य है। परन्तु नट में ऐसी कोई प्रत्यक्ष या प्रामाणिक बात नहीं दिखलाई देती। नट का शरीर या उसके शरीर पर स्थित मुकुट, दृश्यमान रोमांच, गदगद भाव, भुजाक्षेप और भ्रूक्षेप और कटाक्षादि का अनुकरण माना जाय, तो ये तो इन्द्रिय ग्राह्य हैं और रति आदि स्थायी भाव मनो-ग्राह्य। दोनों के आधार भी भिन्न भिन्न हैं। प्रतिशीर्षकादि के आधार शरीर हैं और स्थायी भाव का आधार है आत्मा। अतः पात्र में पाई जाने वाली जिन बातों का अनुकरण-रूप मानकर रस रूप में शंकुक ने प्रतिपादित किया है वे रस के योग्य नहीं मालूम पड़ते। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनुकरण तो सदृशतामूलक है। मुख्य (अनुकार्य) और अमुख्य (अनुकर्ता) दोनों के देखने पर ही अनुकरण की प्रतीति होती है। परन्तु राम-गत (मुख्य) रति को प्रेक्षकों में से किसी ने नहीं देखा है। अतः पात्र राम की रतिभाव का अनुकरण करता है और यह अनुक्रियमाण रतिभाव

---

[1] तस्माद् हेतुभिः विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायीभावो मुख्यरामादिगत स्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। अ० भा० भाग १, पृ० २७२।

रस रूप मे अनुमाप्य होता है विचार का आधार ही खडित हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण के अभाव म अनुकाय का ता अनुकरण ही नही हो सकता। यह अनुध्रियमाण रतिभाव ही रस रूप म अनुमाप्य होता है विचार का यह आधार ही खडित हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण के अभाव मे अनुकाय का तो अनुकरण ही नही हो सकता।[1]

भट्टनायक का त्रिविध व्यापार रस का आभोग

अनुध्रियमाण रति भाव शृगार रस रूप मे परिणत होता है', इस सिद्धा त का खण्डन कर भट्टनायक ने अपने मत का जो उपब हण किया है उसके दो रूप हैं विध्यात्मक और निषेधात्मक। विध्यात्मक के अ तगत तीन मौलिक व्यापारो की कल्पना की गई है जिन (व्यापारो) के द्वारा रस का भोग होता है। निषेध के अ तगत रस की प्रतीति उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति इन तीनो का ही निषेध किया गया है। इनकी दृष्टि से रस की प्रतीति, उत्पत्ति अथवा अभि यक्ति परगत अर्थात् पात्र निष्ठ मानी जाय तो उससे प्रेक्षक को क्या रसास्वाद मिलेगा ? अत परगत प्रतीति उत्पत्ति और अभिव्यक्ति को स्वीकार करने का कोई अर्थ ही नही होता। यदि स्वगत अर्थात् प्रेक्षक निष्ठ प्रतीति उत्पत्ति और अभि यक्ति स्वीकार करें तो करुण रस क प्रसग मे प्रेक्षक का हृदय भी शोक विगलित होने लगेगा। अत भट्टनायक ने परगत अर्थात् पात्रगत स्वगत अर्थात् प्रेक्षक निष्ठ रस की उत्पत्ति, प्रतीति और अभिव्यक्ति का वजन कर दिया। परगत स्वीकार करने से सामाजिक को कोई रसानुभूति नही होती और स्वगत रस की प्रतीति आदि स्वीकार करने पर दु ख प्रधान रसो मे प्रेक्षक के शोकाप्लावित होने की आशका होती है। अत भट्टनायक ने तीनों उपयुक्त मतो का खण्डन कर रसानुभूति के लिए तीन व्यापारो की परिकल्पना की।

भट्टनायक की नवीन परिकल्पना

शब्द मे अभिधाशक्ति तो होती है उसी के द्वारा वाच्याथ का ज्ञान हम होता है। परन्तु नाट्य प्रयोग एव काव्य मे भट्टनायक की दृष्टि से भावकत्व और भोजकत्व ये दो व्यापार और भी होते हैं। भावकत्व या भावना व्यापार द्वारा सामाजिक के हृदय में साधारणीकृत राम और सीता रूप विभावादि का आविर्भाव होता है। उनके रति आदि भाव भी साधारणीकृत होकर सामाजिक के रतिभाव से तादात्म्य प्राप्त करते हैं। दोष रहित गुणालकार सहित काव्य के अभिनेता पात्र के माध्यम से देशकाल और प्रमाता भेद रहित सीताराम और उनके रति आदि सुख दु खात्मक भावो मे सामाजिक स्वय विलीन होता है। उसका ममत्व परत्व आदि भेद विचार इसी व्यापार द्वारा विलीन हो जाता है और इसी भावकत्व या भावना व्यापार के परिणामस्वरूप भोग का आविर्भाव होता है। रस का आस्वादन होता है। रसास्वादन की इस दशा म सामाजिक की चेतना मे रजस-तमस की अपेक्षा सत्त्व का प्रकाश, आन द और विश्रान्तिमयता का आविर्भाव होता है। आन द की यह स्थिति मनुष्य की चेतना के चरम आन द का रूप है, अत ब्रह्म रस का

---

१ भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभि यज्यते। स्वगतेन हि प्रतीतौ करुणे दु खित्व स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेर्विभावत्वात्। स्वकान्ता स्मृत्यसवे नात्। अ० भा० भाग १, पृ० २७२।

सहोदर है। भट्टनायक के विचार का यही निष्कर्ष है।[1]

*अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोग की परिकल्पना के द्वारा भट्टनायक ने रस-*शास्त्र की विवेचना के क्षेत्र मे नितान्त और मौलिक विचार की सृष्टि की। उनकी इस मौलिकदन का स्वय आचार्य अभिनवगुप्त ने भी यथावत् स्वीकार कर लिया। उन्हे मुख्यत आपत्ति है अभिधा, भावना और भोग व्यापारो के स्वीकार करने म। अत उन्होने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित तीनो व्यापारो का खण्डन किया है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यजनावाद

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का खण्डन करते हुए अपना अभिव्यजनावादी नामक मत स्थापित किया। सवप्रथम उन्होने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित अभिधा भावना और भोग नामक व्यापारो के प्रामाणिक न होने के कारण उनका खण्डन किया क्योकि किसी अन्य आचार्य ने रसाभोग के लिए इन विशिष्ट प्रक्रियाओ को पृथक रूप से स्वीकार नही किया। पुनश्च उत्पत्ति प्रतीति और अभिव्यक्ति इन तीनो का भट्टनायक द्वारा खण्डन भी अभिनवगुप्त की दृष्टि से नितान्त दोषपूर्ण है क्योकि ससार मे ऐसी कौन वस्तु है जिसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नही होती है। अत रस की या तो उत्पत्ति होती है या अभिव्यक्ति, और उस स्थिति मे उसकी प्रतीति भी अवश्य ही होती है। भट्टनायक ने यह स्वीकार भी किया है कि रस की प्रतीति 'भोग' रूप ही है (प्रतीतिरिति तस्य भोगीकरणम्)। नि सदेह भट्टनायक द्वारा कल्पित भावना का अथ उन्हें स्वीकार है क्योकि काव्य के द्वारा रस का भावन होता है। परन्तु वह तो व्यजना व्यापार द्वारा ही सभव है। भोग तो साक्षात्कारात्मक प्रतीति का विषय और आस्वादन रूप अनुभूत रस ही काव्य का प्रयोजन होता है। साधारणीकरण के माध्यम से आविर्भूत सुख दु खात्मक सवेदन या अनुभूति व्यग्य का विषय है। यह सवेदन ही रस है महाभोग है।

रसानुभूति का काल

भट्टलोल्लट और शकुक ने क्रमश स्थायीभाव के उपचय और अनुकरण को रस रूप म स्वीकार किया था। अत दोनों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया कि रस स्थायी भाव से विलक्षण है, स्थायी भाव नहीं। स्थायी भाव व्यक्त या अव्यक्त रूप म मनुष्य मात्र के हृदयों म वासना रूप म सदा वतमान रहते हैं। कोई मनुष्य एसा नही है जिसके हृदय म उत्साह, रति, शोक या क्रोध आदि चित्तवृत्तियां वतमान न रहती हो। परन्तु विभावादि के योग से उनकी अभिव्यक्ति होती है अन्यथा अव्यक्त रहती है। अत अव्यक्त

---

[1] अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नरः॥ अ० भा० भाग १ पृ० २७६।

[2] [illegible] रतिरस्ति। [illegible] विशेषा [illegible] न स्थितो न च [illegible] न [illegible]। [illegible] एव रस। अ० भा० भाग १, पृ० २७०।

या व्यक्त दशा म व मनुष्य मे वतमान रहत है। पर रस की सत्ता न तो रस प्रतीति के पूव रहती है न रस प्रतीति के उपरान्त ही। इसका प्राण तो चव्यमाणता ही है। चव्यमाणता से ही यह अभिव्यक्त होता है और चवणाकाल तक ही विद्यमान रहता है। यह दीप के प्रकाश म दृश्यमान घट पटादि की तरह पहले से सिद्ध नही है। अत यह रस चवणा या आस्वादन काल तक ही रहता है, जबकि स्थायी भाव तो चवणा क अतिरिक्त काल म भी वतमान रहत हैं। अत स्थायी भाव का उपचय या अनुकरण रूप रस नही अपितु उससे विलक्षण है।[1]

रसानुभूति और काम-भाव

नाट्य प्रयोग के क्रम म साधारणीकरण के माध्यम से प्रेक्षक की सवेदना भूमि पर रस का अभिस्रवण होता है। रस की इस आनन्दमयता के मूल मे सावभौम काम भाव की सत्ता वतमान रहती है। भरत की दृष्टि म सब मानवीय भावो की निष्पत्ति काम स ही होती है।[2] भरत प्रयुक्त यह काम भाव मानवीय सकल्प का भी वाचक है मात्र शृगार का सकेतक नही।[3] इसी व्यापक दृष्टिकोण के कारण भरत ने धम-काम, अथ काम, शृगार काम और मोक्ष काम आदि शब्दो का प्रयोग किया है। नि सन्देह स्त्री एव पुरुष का रति भाव तो सर्वोत्तम काम भाव है क्योकि यह स्वय सुख स्वरूप है और धम और अथ आदि की कामना सुख साधन के लिए होती है। अतएव स्त्री पुरुष के काम भाव के लिए शृगार शब्द का प्रयोग होता है। क्योकि शृगार मे भोक्ता के आनन्द का आवेग शृग (प्रकष) पर आरूढ हो जाता है।[4] भोज न रस का विवेचन करते हुए इसी व्यापक अथ मे काम शृगार और रति आदि शब्दो का प्रयोग किया है।[5] उनकी दृष्टि स मनुष्य की आत्मा म स्थित अहकार या अभिमान ही शृगार होता है। यह जन्म जन्मान्तरो के अनुभव और वासना से उत्पन्न होता है। यह शृगार सब रसो और भावो का प्रवतक है। काम भाव की प्रधानता की यह विचारधारा प्राचीन भारतीय चिन्तनधारा से पुष्ट होती आ रही है।[6] आधुनिक मनोविश्लेषणवादियो की कामभाव सम्बन्धी विचारधारा भरत और भोज की प्रति स्पर्धिनी है।[7] उनकी दृष्टि से भी काम भाव समस्त मानवीय भावो का स्रोत है। नाट्य प्रयोग म प्रेक्षक को मन सकल्पात्मक आत्म साक्षात्कार का परम सुख प्राप्त होता है।

---

१ अलौकिक निर्विघ्न सवेदनात्मक चवणागोचरता नीतोऽथ चव्यमाणैक सारो, न तु सिद्धस्वभाव तात्कालिक एव न तु चवणातिरिक्त कालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रस। अ० भा० भाग १, पृ० ८४।

२ ना० शा० २३।६०६२ का० भा०।

३ काम सर्वमय पु सा स्वसकल्प समुद्भव। शिवपुराण।

४ येन शृगम् रीयत शृगारोदिनाम् आत्मगुण सपदाम् उत्कर्ष बीजम्। शृ० प्र०

५ भावान्तरेभ्य सर्वेभ्य रतिभाव प्रयुज्यते। शृ० प्र० भाग ३, पृ० ३३।

६ (क) काम तदग्रे समवततादि—मनसोरेत प्रथमम् यदासीत्। ऋग्वेद १०।१२९ ४।
(ख) श्रेय पुष्पफलम् काष्ठात् कामो धर्मार्थयो वर।
कामोधर्मार्थयोयोनि कामश्चाथतदात्मक। महाभारत शान्ति पर्व।

७ After all there is only one real emotion and that is love Most other feelings are love sickened Envy and jelously are both jaundied love Personality, M B Greenbi, p 257

रसानुभूति की विलक्षणता

इस रस की विलक्षणता यह है कि लोक में प्रचलित कारक हेतु और ज्ञापक हेतुओं की तरह विभावादि की स्थिति नहीं है। कारक हेतु के अनुसार बीज अंकुर का कारक हेतु है। परन्तु बीज का ज्ञान किसी को हो या नहीं बीज अंकुर को उत्पन्न करेगा ही। उसमें किसी अन्य का जानने की आवश्यकता नहीं। परन्तु विभावादि के जाने बिना सामाजिक के हृदय में रस की उत्पत्ति नहीं होती। अतः कारकहेतु जैसे लौकिक नियमों से यह रसचर्वणा संचालित नहीं होता। ज्ञापक हेतु अनुसार तेल की सत्ता तिल में पहले से रहती तो है पर अदृश्य ही। तिल को पेरने से तेल की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् कारण में कार्य की सत्ता तो रहती है परन्तु वह अभिव्यक्त होने पर दृश्यमान होती है। अतः ऐसे सांसारिक पदार्थों को ज्ञाप्य कहते हैं। विभावादि ज्ञापक हेतु भी नहीं है, क्योंकि रस तो विभावादि के योग से ही आस्वाद्य होता है और रसचर्वणा में पूर्व या पश्चात् उसकी स्थिति नहीं रहती। अतः लोकप्रचलित कारक और ज्ञापक हेतुओं से यह भिन्न है। यद्यपि संसार की सब वस्तुएँ कार्य या ज्ञाप्य हैं पर रस न तो कार्य है न ज्ञाप्य ही। यही इसकी अलौकिकता[1] है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इसकी विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि शरबत या पान में विविध प्रकार की स्वादु सामग्रियों के मिश्रण से जो अद्भुत रसास्वाद प्रतीत होता है वह तो न मिर्च का स्वाद है न गुड़ का ही। वह उनकी विशिष्ट रसमयता में सर्वथा भिन्न और नवीन रस है। यह नूतनता, विलक्षणता ही रस चर्वणा की अलौकिकता है। इसका प्राण रस्यमानता ही है। भरत सूत्र में रस निष्पत्ति का जो उल्लेख है, वह रस की निष्पत्ति के कथन के लिए नहीं, अपितु रसता के द्वारा वह निष्पत्ति होती है, रसना (आस्वाद) इसका आधार है और रसना द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। इसलिए औपचारिक रूप में रस निष्पत्ति का कथन भरत ने किया है।[2]

अतः यह आस्वादन या रस प्रतीति कारक और ज्ञापक हेतुओं का व्यापार न होने के कारण अलौकिक तो है पर स्वसंवेदनात्मक होने से सूर्य की तरह वह सत्य है, अप्रामाणिक नहीं है। आस्वाद तो प्रतीति रूप ही है, किन्तु लौकिक प्रत्यक्षादि बोध रूप प्रमाणों से सर्वथा भिन्न है क्योंकि नाट्य के विभावादि जो उपाय हैं वे निर्विघ्नकत्व होने के कारण नितान्त विलक्षण है। विभावादि के संयोग से रसना या आस्वादन की प्रतीति होती है, अतएव उस प्रकार की प्रतीति का विषयभूत लोकोत्तर अर्थ आस्वाद्य होने से रस होता है।

भाव और रसोदय

स्थायीभाव रसत्व का पद

रसोदय के लिए विभाव की अपेक्षा होती है। भरत की दृष्टि से विभाव विज्ञान विशेष ज्ञानार्थक विशिष्ट शब्द है, अर्थात् कारण एवं हेत्वर्थक है। आंगिक, वाचिक और सात्विक आदि

---

१ अ० भा० भाग १ पृ० २८४ ८, का० प्र० ४।६२ ६५ (५ श्लो० १०)।

२ तत्रविभावादि संयोगाद्रसना यतोनिष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्य सूत्रस्य। अ० भा० भाग १, पृ० २९५।

अभिनया से युक्त स्थायी और व्यभिचारी भावा का ज्ञान विभाव आदि के माध्यम से होता है। इन अभिनयो के द्वारा जिस आस्वाद्यमान का याथ (रस) का भावन होता है, य ही अनुभाव होते हैं। विभाव और अनुभाव आदि के द्वारा कवि कल्पित भावो का भावन या आस्वादन हाता है। इन्ही के द्वारा सामाजिक के हृदय म गधवत् भाव व्याप्त हा जाता है।[१]

काव्याथ पर आधारित विभाव-अनुभाव आदि से व्यजित उनचास भावा के सामान्य गुणयोग (साधारणीकरण) के द्वारा प्रेक्षक के हृदय म रसोदय होता है। परन्तु इनम स्थायी भावों को ही रसत्व का पद मिलता है, शेष को नही। यद्यपि पाणि, पाद, उदर एव अन्य अङ्ग प्रत्यङ्गो की दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं, परन्तु कुलशील, विद्या और शिल्प आदि की विलक्षणता के कारण उनमे कुछ राजपद की मर्यादा पात ह, अन्य परिजन के रूप म उसके अनुचर होत हैं। रस लोक म भी स्थायी भाव प्रधान चित्तवत्ति होने के कारण राजपद भोगते हैं तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव उसी क उपाश्रित हो उपकारक होते है। प्रधानता क कारण स्थायी भावो को ही रसत्व का सम्मान प्राप्त होता है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने स्थायी भाव के गौण एव प्रधानता के सम्बन्ध मे प्रतिपादित किया है कि रति आदि स्थायी भाव भिन्न रसों म व्यभिचारी भाव तथा अनुभाव रूप भी हो सक्ते हैं क्योकि अन्य रसो म य तो आगन्तुक होत हैं। आगन्तुक स्थायी भाव म प्रधानता नही रहती। अपन रसा से भिन्न रस म सहचारी रूप स पापक हात पर व्यभिचारी भाव और अनुभाव रूप म स्थित रहत हैं। परन्तु व्यभिचारी भावा को स्थायी भाव का पद कभी नहीं मिलता। रसत्व का पद तो स्थायी भाव को ही मिलता है।[२]

भावो से रस या रसो से भाव

भाव और रस के सम्बन्ध मे सम्भवत भरत से पूव ही आचार्यों मे मत मतान्तर थे। पर भरतोत्तर आचार्यों म यह मतभिन्नता और भी स्पष्ट होती गई है। इन विचारो के विश्लेषण स तीन प्रधान मन्तव्य विचारणीय लगते हैं—

(१) क्या भावा से रसा की अभिनिवृत्ति होती है?

(२) क्या रसो से भावा की अभिनिवृत्ति होती है?

(३) क्या रस और भाव दोना ही एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं?

भावो से रस की अभिनिवृत्ति होती है, इस मत क समथन मे भरत का मत अत्यन्त स्पष्ट है पर अन्य मतो के समथन की सामग्री भी नाट्यशास्त्र म मिलती है। रस विवेचन के आरम्भ म उन्होने प्रतिपादित किया है कि कोई काव्याथ बिना रस के प्रवत्त नही होता तथा कोई भाव न तो रसहीन है और न कोई रस भावहीन है। इन विचारो स परवर्ती आचार्यों म पर्याप्त भ्रम का प्रसार हुआ है।

भट्टलोल्लट और शकुक प्रथम एव द्वितीय पक्षो के समथक है। भट्टलोल्लट तो 'भावा के उपचय' को ही रस मानते हैं और शकुक की दृष्टि से अनुकर्ता पात्र के माध्यम से अनुकाय रामादि के रत्यादि भावो की प्रतीति सामाजिक को होती है। तीसरे मत के समथन म नितान्त परिपुष्ट कल्पना की गई है कि भाव और रस एक-दूसरे के उपकारक हैं। भावहीन रस और रसहीन भाव

१ यदि वा भावयन्ति आस्वादन कुर्वन्ति हृदय व्याप्नुवन्ति। अ० भा० भाग १, पृ० ३४३।

२ ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३४६ (गा० ओ० सी०), हि० ना० द०, पृ० ३३०।

और शृंगार के बाद नियमतः (विच्छेद होने पर) करुण ही होता है। सीता के प्रति राम का करुण भाव, वासवदत्ता के जल मरने का शोकजनक समाचार सुनने पर उदयन का विलाप और काम दहन के उपरांत रति का प्रणय प्रलाप रूप करुण रस के मूल में शृंगार की उद्दाम शक्ति है। इसी प्रकार वीर से भयानक की भी उत्पत्ति देखी जाती है। कर्ण की उपस्थिति में ही जब अर्जुन ने उसके पुत्र का निर्मम वध कर दिया तो सारा जगत् ही मानो भयभीत हो गया। अतएव भरत द्वारा प्रयुक्त 'वीराच्चैव भयानकः' में च शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है। वीरता के द्वारा शत्रु के हृदय में दो ही भाव उत्पन्न होते हैं भयानकता के या भय के। वीर तो भयानक रस से आप्लावित हो जाता है और शत्रु पर जबर्दस्त प्रहार करता है, पर कायर तो भयभीत हो ही जाता है। अतः वीरता में उत्साह प्राणवत् है, अन्यथा वीरता द्वारा शत्रुनिष्ठ भयोत्पादन के अतिरिक्त कोई फल नहीं रह जायगा। परन्तु वीरता के दोनों ही परिणाम लोक में देखे जाते हैं। अतः अभिनवगुप्त के अनुसार भयानक रस की उत्पत्ति में वीरता का प्राणरूप उत्साह कारण अवश्य होता है।

(४) तुल्य विभावादि के होने से रसान्तर की सम्भावना रूप हेतु—दो रसों के विभावादि के एकसा होने से भी एक रस से दूसरा रस उत्पन्न होता है। बीभत्स के विभाव हैं रुधिर आदि। परन्तु ये ही भयानक के भी विभाव हैं। अतः समान विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी भाव होने से बीभत्स रस से ही भयानक रस की उत्पत्ति होती है।

वस्तुतः शृंगार, वीर आदि के चार प्रधान रसों से हास्य, करुण आदि की उत्पत्ति की जो कल्पना भरत ने की है वे चारों ही धर्म अर्थ काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय से व्याप्त रहते हैं। वे चार रस सौन्दर्यातिशय के जनक रूप हैं।

रसों में शान्त रस [1]

रसों से रसों की उत्पत्ति का सिद्धान्त भरत ने प्रतिपादित किया पर वे रस आठ हैं या नौ इस सम्बन्ध में भरत निरूपित मान्यता के सम्बन्ध में उनके व्याख्याकारों और परवर्ती आचार्यों में परस्पर मतमतांतर है। नाट्यशास्त्र के उपलब्ध दो संस्करणों में 'शान्त' का नवम रस के रूप में उल्लेख किया गया है, पर काशी संस्करण में शान्त को अस्वीकार कर आठ ही रसों का प्रतिपादन किया गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आचार्यों की दृष्टिभिन्नता के अनुसार नाट्यशास्त्र के दो प्रकार के पाठ अभिनवगुप्त से पूर्व ही प्रचलित थे। यही कारण है कि उन्होंने शान्त रस विरोधी भट्टलोल्लट के मत का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि से शान्त रस का खण्डन करने वाले आचार्य ही आठ रस मानते हैं।[1] अन्यथा अन्य आचार्यों की परम्परा से प्राप्त नाट्यशास्त्र के संस्करणों में शान्त रस के स्थायी भाव शम का उल्लेख कैसे होता। नाट्यशास्त्र के प्रचलित विभिन्न पाठों के आधार पर एक ओर आचार्य अभिनवगुप्त, रामचन्द्र गुणचन्द्र शार्ङ्गदेव, अग्निपुराणकार शारदातनय एवं विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने शान्त को नौवां रस मानकर प्रतिपादन किया है[2] पर भट्टलोल्लट की परम्परा से प्रभावित धनंजय धनिक और मम्मट प्रभृति

---

[1] एतावन्त एव रसा इत्युक्तं पूर्वं तेन सत्येऽपि पार्षदे प्रसिद्ध्या, एतावता प्रयोज्यत्व यद् भट्टलोल्लटेन निरूपित तन्निराकरणायामृश्यत्वम्। अ० भा० भाग १, पृ० २६८।

[2] ना० द० ४।६ सा० द० ३।२८७-८८, अ० पु० अ० ३३९, भा० प्र०, पृ० १३५६।

आचाय आठ ही रस स्वीकारते हैं[1], विशेषकर नाटको के लिए।

इसम स देह नही कि भट्टलोल्लट और धनजय क पूव ही शा त रस को रसो म स्थान प्राप्त हो गया था। पर तु शा त के मुखदु खातीत मोक्ष रूप तथा नाटय के सुखदु खात्मक सवेदन रूप होन मे आचार्यों की एक परम्परा न इसी आधार पर रसो क अ तगत उसकी परिगणना का विरोध किया। दशरूपक के टीकाकार धनजय ने नागानद नाटक म शा तरस की स्थिति का खडन किया है। उनकी दृष्टि स इस नाटक मे न तो शा तरस है और न नाटक क नायक जीमूत वाहन मे शान्त रस के नायक होने की क्षमता ही है। एक ओर तो वह मलयवती के अनुराग म रँगा है और दूसरी ओर वह विद्याधर चक्रवर्तित्व भी प्राप्त करना चाहता है। य पुरुषाथ साधक काम नाएँ शमभाव के नितात विपरीत हैं। नागान द म शा त क स्थान पर वीर रस की सत्ता यदि स्वीकार कर ली जाए तो कोई विरोध भी नही होता। मलयवती के प्रति प्रेमभाव और विद्याधर पद की प्राप्ति दोना ही काम एव अथमूलक मानवीय प्रवत्तिया के रूप होते हैं, जिनका अस्तित्व वीर रस मे होता है। इन आचार्यों की दृष्टि से शात तो सुख दु ख और राग द्वेष आदि मानवीय प्रवत्तिया से रहित आध्यात्मिक मन स्थिति है, वह सुख दु खात्मक 'नाट्य' का रस कसे स्वीकार किया जा सकता है। यही कारण है कि उसके स्थायीभाव क रूप म प्रचलित 'शम' और निर्वेद को भी स्वीकार नही किया है। राग द्वेपविहीन शम या निर्वेद रूप विभावादि का अभिनय सम्भव नही है।[2]

शान्त रस के समथक आचार्यों की दृष्टि से चार पुरुपार्थों म मोक्ष भी है। जिस प्रकार कामादि पुरुपार्थों के अनुरूप रति आदि चित्तवत्तियाँ कवियो की ममस्पर्शी वाणी और अनुकर्ता पात्रो के भावपूण अभिनयो के द्वारा सहृदयो के लिए आस्वाद्य हो शृगारादि रस के रूप मे उदभूत होती हैं उसी प्रकार मोक्ष रूप परम पुरुषाथ की साधक 'शम' या निर्वेद' नामक चित्तवत्ति भी कवि और पात्र के प्रभावशाली व्यापारो द्वारा आस्वाद्यता प्राप्त कर रसत्व की मर्यादा पाती है। अतएव लोक व्यवहार एव शास्त्र के अनुसार शान्त रस की स्थिति स्वाभाविक है। यदि नाटय सप्तद्वीपानुकरण या लोकवत्तानुचरित है तो मोक्ष रूप पुरुपाथ का साधन इस लोक म अनेक महा पुरुप करते हैं। जीवन की वह भी परम उत्कपशाली चेतना है वत्ति है उसका तदनुरूप अभिनय क्यो नहीं हो सकता।[3]

शम ही शान्त रस का स्थायी भाव है तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद नही निर्वेद तो शोक प्रवाह का प्रसार रूप विशिष्ट चित्तवत्ति है शोक रागमूलक होता है पर तत्त्वज्ञान का प्रवत्तक वैराग्य या शम तो राग का प्रध्वस रूप है। राग के प्रध्वस होने पर ही आत्मा म तत्त्वज्ञान का प्रकाश होता है और मोहरूपी तमिस्रा विगलित हो जाती है और परमान द परम सुख का उदय होता है। अत शम' ही शान्त का स्थायी भाव है न कि पानक रस के समान सब स्थायी भाव मिलकर समष्टि रूप से विलक्षण शान्तरस के स्थायी भाव होते हैं और न रति आदि म से कोई एक ही शान्त रस का स्थायी भाव हो सकता है। हास क्रोध और भयानक आदि चित्तवत्तियो म परस्पर

---

१ शममपि केचित् प्राहु पुष्टि नाट्येषु नैतस्य। द० रू०, ना० प्र० ४। ६, ४७।

२ दशरूपक ४।

३ ना० शा० भ० ६ पृ० ३३३ (गा० ओ० सी०), इह तावद्धर्मादि त्रिवर्गमिव मोक्षोऽपि पुरुषाथ। तथा मोक्षाभिधान परमपुरुषार्थोचित। चित्तवत्ति किमिति रसत्व नानीयत इति। अ० भा० भाग १, पृ० ३३३।

विरोध होगा तथा प्रत्येक व्यक्ति म भिन्न भिन्न स्थायी भाव स्वीकार करने पर तो शान्त रस के अनन्त भेद होने लगेंगे। मोक्षरूप पुरुषार्थ का साधन तो तत्त्वज्ञान ही है। अत शान्त रस के लिए तत्त्वज्ञान रूप आत्मा ही स्थायी भाव है। इन्द्रिय सन्निकर्ष से भिन्न आत्मा का ज्ञान तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान है। उस अदेह आत्मा का ज्ञान ही शान्त रस का स्थायी भाव हो सकता है। अत ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप विषयोपभोग रूप दुःख से निवृत्त आत्मा शान्त रस म स्थायी भाव रूप है। आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की एक परम्परा के अनुसार शान्त को नौवाँ रस इसी रूप म प्रतिपादित किया है।[1]

भरत ने तो आठ या नौ तक ही रसो को स्वीकार किया है पर रसो की सख्या बढ़ाने की प्रवृत्ति परवर्ती आचार्यों म परिलक्षित होती है। भोज ने तो परम्परागत आठ रसो के अतिरिक्त शान्त, प्रेयान् उद्धत और ऊर्जस्वी इन चार रसो का उल्लेख किया है। शान्त की प्रकृति शम प्रेयान की स्नेह प्रकृति, उद्धत की गर्व प्रकृति और ओजस्वी की अहकार प्रकृति होती है। शृगार आदि की तरह इनके भी विभाव अनुभाव और सचारी भाव होते हैं। भरत के विपरीत रुद्रट की तरह भोज तेतीस व्यभिचारी तथा आठ सात्त्विक भावो को रसत्व की मर्यादा देने का समर्थन करते हैं, क्योकि इनम भी रसनीयता की शक्ति है।[2]

आचार्यों ने किसी रस की प्रधानता के प्रतिपादन के लिए शृगार या करुण एक ही रस को रसराज माना हो या मनुष्य की विभिन्न चित्तवृत्तियो का समानीकरण या स्तरीकरण कर भरत की तरह आठ या नौ रसो का उपबृहण किया और बाद म भक्ति रस या मधुर रस या प्रेयान् और ओजस्वी रस की ही कल्पना क्यो न की हो, पर भरत प्रतिपादित अष्ट या नव रस तथा मूल चार रसो से अन्य रसो के उद्भव का सिद्धान्त मानव की मनोवृत्तियो और अन्तश्चेतना की विकासमान प्रक्रिया के नितात अनुरूप है।

स्वीकृत रस

रसो की सख्या के सम्बन्ध म आचार्यों म जो भी मतमतान्तर हो परन्तु आठ (नौ) रसो को तो सब आचार्य स्वीकार करते हैं। यहाँ हम उन रसो, उनके विभावादि विषय, अनुभाव और भाव की परिगणना सूत्र रूप म प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) शृगार—शृगार रस का उद्भव रति नामक स्थायी भाव से होता है। यह विभाव, अनुभाव और सचारी भावों स सम्पन्न होता है। उत्तम स्वभाव के अनुरक्त युवा और युवतियो का रति भाव आस्वाद्य योग्य होता है। सीता रामादि उत्तम प्रकृति के अनुकार्यों का रति भाव सामाजिक के हृदय म भी आस्वाद्य होता है क्योकि अनुकार्य और प्रेक्षक दोनो के सुसस्कारात्मक भावो के साधारणीकरण के द्वारा तादात्म्य की प्रतीति होती है। यह तादात्म्य प्रतीति ही रस के द्वार को उन्मुक्त कर देती है। सभोग और विप्रलभ शृगार रस की दो अवस्थाएँ हैं, भेद नही। सभोग शृगार सुन्दर ऋतु माल्य अनुलेपन अलकार,-इष्टजन, गीत आदि प्रिय विषय भव्य भवन,

---

१ अ० भा० भाग १, पृ० ३३६।

२ न चाष्टावेवेति नियम । यत शान्त, प्रेयास उद्धत ऊर्जस्वित च केचिद्रसमाचक्षते। भोजान शृगार प्रकाश, जिल्द २, पृ० ४६८ तथा—त्रयस्त्रिशन्मि भावा प्रयान्ति च रसयितिम्।

शृगार तिलक १।१४ रुद्रभट्ट।

रमणीय उपवन, गमन, श्रवण, दशन, जल क्रीडा और अन्य लीला आदि विभावो से उत्पन्न होता है। परन्तु ये बाह्य विभाव न रहे तो भी रूपको मे सभोग शृगार नायक की ज्ञान समृद्धि के कारण उत्पन्न हो ही जाता है। यही कारण है कि भरत ने विभाव आलबन और उद्दीपन आदि का कृत्रिम भेद नही किया है। नयनो का चातुर्य भ्रूक्षेप, कटाक्ष सचार, ललित मधुर अगहारो के द्वारा सभोग शृगार के अनुभावो का अभिनय होता है। बिना अनुभाव और अभिनय के नाट्य मे चमत्कार और रस का सृजन नही होता, वह तो वर्णनात्मक काव्य मात्र रह जाता है। अत नाट्य म अनुभाव का बडा महत्त्व है।[1] इसीलिए काव्य मे वह चमत्कार नही होता तो नाट्य म वहाँ चवणा का नितान्त अभाव रहता है। आलस्य उग्रता और जुगुप्सा को छोड शेष तीस सचारी भाव इसमे रहते हैं। विप्रलभ शृगार मे निर्वेद ग्लानि शका असूया, श्रम, चिन्ता उत्सुकता, निद्रा स्वप्न विबोध और व्याधि आदि अनुभावो का प्रयोग अपेक्षित है। विप्रलभ शृगार मे व्याप्त विछोह आदि म प्रणय का भाव ही छिपा रहता है, रति के विलाप और उदयन के शोकोद्गार प्रेम परिप्लावित हैं। कामशास्त्र म शृगार की दश दशाओ का उल्लेख है उसमे बहुत सी दशाएँ दु खपरक भी हैं। करुण और शृगार विप्रलभ मे अन्तर यही है कि करुण तो निरपेक्ष होता है मत बधुजन के लिए प्रदर्शित शोक मे किसी प्रकार की अपेक्षा नही रह जाती, नितान्त उदासी और निराशा से जीवन दु खमय हो जाता है। परन्तु विप्रलभ मे तो आशा का बधन वियुक्त प्रेमी के प्रेम को परिपुष्ट करता रहता है।[2] शृगार भी वाक्य वेश और क्रिया भेद से तीन प्रकार का होता है।

(२) हास्य—हास्य रस हास स्थायी भावात्मक है। दूसरे के विकृत वेश, अलकार, निलज्जता, लालचीपन असगत भाषण और अगो की विकृति रूप विभाव आदि के प्रदशन के द्वारा यह उत्पन्न होता है।[3] ओष्ठ, नासिका और कपोलो का स्पदन, आखो को खोलना और बन्द करना आदि अनेक अनुभावो के द्वारा अभिनेय होता है। अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा और स्वप्न आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद होते है। सामाजिक जब हास्य के विभावादि के बिना देखे ही दूसरो को हँसते देख हँसता है तो आत्मस्थ हास्य होता है पर तु गम्भीर स्वभाव के कारण विभावादि को देख लेने पर हास्य के उदित न होने पर दूसरे को हँसते देख किंचित् मुस्कराता है तो परस्थ हास्य होता है।[4] वस्तुत हास्य काष्ठस्थित अग्नि के समान सक्रमणशील होता है दूसरो को हँसते देख सामाजिक हँस पडते हैं। स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित ये छ भेद होते हैं। उत्तम प्रकृति के नर नारियो म स्मित और हसित, मध्यम मे विहसित और उपहसित तथा नीच श्रेणी के नर नारियो म अपहसित और अतिहसित के रूप दिखाई पडते हैं। अग, वाक्य तथा वेष रचना के आधार पर तीन प्रकार का होता है।

---

१ ना० शा० भाग १, पृ० ३०० ३१० (गा० ओ० सी०)।

२ करुणस्तु शापक्लेशविनिपात —समुत्थोनिरपेक्षभाव ।
औत्सुक्य चिन्तासमुत्थ सापेक्षभावो विप्रलम्भकृत । अ० भा० भाग १, पृ० ३६६।

३ विपरीतालकारै विकृताचाराभिधानवेशैश्च ।
विकृतैरगविकारैर्हसतीति रस स्मृतो हास्य । ना० शा० ६।४९ ६१ (गा० ओ० सी०)। द० रू० ४।७८ ७७ ना० द० ४।१२ १३, सा० द० ३।२१६।

४ एव हास स्वभावत सक्रमशील इति काष्ठभूयिष्ठता। अ० भा० भाग १, पृ० ३१५।

(३) करुण रस—करुण रस शोक नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है। शापक्लेश में पतित प्रियजन के वियोग विभवनाश, वधन, वध, देशनिर्वासन, अग्नि आदि में जलकर मरना और विपत्ति में पड़ना आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है। अश्रुपात, शोक प्रलाप मुख सूखना, विवर्णता, अंगों की शिथिलता लम्बी साँसें भरना और स्मृति-लोप आदि अनुभावों से अभिनय होता है। निर्वेद ग्लानि चिन्ता उत्सुकता, आवेग, भ्रम, मोह भय विषाद दीनता, व्याधि, उन्माद त्रास जड़ता, आलस्य, मरण स्तंभ, कंपन, विवर्णता, अश्रु और स्वरभेद आदि ये करुण रस के व्यभिचारी भाव होते हैं।[1] भरत ने करुण और शृंगार को स्थायी भाव प्रभव तथा अन्य रसों को स्थायीभावात्मक शब्द से परिभाषित किया है। स्थायीभाव प्रभव का अभिप्राय है स्थायीभाव से उत्पन्न तथा स्थायीभावात्मक का अभिप्राय है स्थायीभाव रूप ही अर्थात् स्थायी भाव से रस रूप में परिवर्तन किंचित् ही होता है। दोनों में अन्तर यह है कि हास्यादि रसों के स्थायीभाव सजातीय हासात्मक प्रतीति को ही उत्पन्न करते हैं परन्तु शृंगार और करुण सजातीय प्रतीति को उत्पन्न नहीं करते। शृंगार रस का स्थायी भाव रति है उससे जो रस प्रतीति होती है वह रति रूप नहीं अपितु सुख रूप है इसी प्रकार शोक से करुण रस की जो प्रतीति होती है वह शोक रूप नहीं दुःख रूप है। इस प्रकार शोक तथा रति दोनों ही चरमानुभूति रूप सुख दुःख की प्रतीति कराते हैं यह प्रतीति विजातीय है हास्य आदि की प्रतीति सजातीय है। दूसरा भेद का कारण और भी है शृंगार और करुण के विभावादि काव्य या नाटक में ही रस प्रतीति के कारण होते हैं लोक में नहीं। लोक में प्रेमी और प्रेमिकाओं की रति को देखकर लज्जा का अनुभव होता है आनन्द का नहीं परन्तु काव्य और नाटक में वही आनन्द का विषय बन जाता है। अतः इनके विभावादि भी अलौकिक हैं। परन्तु हास्य आदि के विभावादि लोक और काव्य नाटक में एक से हैं दोनों स्थलों पर विकृत वेष आदि से हास्य उत्पन्न होता ही है।[2] धर्म नाश अर्थ नाश और बन्धु नाश से उत्पन्न करुण के तीन भेद होते हैं।

(४) रौद्र रस—राक्षस, दानव और उद्धत प्रकृति के मनुष्यों के आश्रित युद्धजन्य क्रोध रूप स्थायीभावात्मक रौद्र रस होता है। यह क्रोध, आधर्षण, अधिक्षेप अनृतभाषण, आघात, कठोरवाणी, अभिद्रोह और ईर्ष्या आदि उद्दीपन विभावों से उत्पन्न होता है। इसमें ताडन, पीडन, छेदन प्रहरण, आहरण, शस्त्र सम्पात और रुधिर प्रवाह करना आदि कार्य विशेष रूप से दिखाई देते हैं। लाल आँखें टेढ़ी भौंहें दाँत और होठों को भींचना, कपोलों का फड़कना तलहथियों को मीसना आदि अनुभावों से अभिनय होता है।[3] अंग, वेश तथा वाक्य भेद से तीन प्रकार का होता है।

(५) वीर रस—उत्तम प्रकृति और उत्साहात्मक वीर रस होता है। इसकी उत्पत्ति भ्रमादि के अभाव, निश्चय, नय इन्द्रिया पर विजय, सेना पराक्रम, शक्ति प्रताप और प्रभाव आदि विभावों से होती है। स्थिरता धीरता, शूरता, त्याग और निपुणता आदि अनुभावों से अभिनय होता है। धृति मति, गर्व, आवेग, उग्रता क्रोध स्मृति और रोमांच आदि संचारी भाव

---

[1] इष्टजन दर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वाऽपि।
एभिर्भाव विशेषैः करुणो रसो समवति। ना० शा० ६।६२ ६३।

[2] अ० भा० भाग १ पृ ३१७।

[3] ना० शा० ६।६४ ६६ द० रू० ४।७८, सा० द० ३।२२२, ना० द० ३।१८।

हैं। दान, धम और युद्ध मे वीरता के प्रदशन से दानवीर, धमवीर और युद्धवीर ये तीन भेद होते हैं।[1]

(६) भयानक रस—भयानक रस भय स्थायीभाव रूप होता है। वह विकृत शब्द, पिशाच आदि सत्त्वो के देखने से, शृगार उल्लू आदि से, भय, उद्वेग शून्यघर, अरण्य निवास, स्वजनो के वध या बधन देखने से या सुनने से उत्पन्न होता है। हाथ पर कापना नयनो की चचलता, शरीर म रोमाच, मुख का फक पडना, और स्वर भेद आदि अनुभावो से अभिनय होता है। स्तभ स्वेद गदगद, रोमाच कपन, स्वर-भेद, शका, मोह, दीनता, आवेग, जडता चपलता, त्रास, मृगी (अपस्मार) और मरण आदि सचारी भाव हैं। कृत्रिम भय, चोर के साहसिक कम स तथा स्वभाव स स्त्रियो और बालको मे भय उत्पन्न होने से भयानक रस भी तीन प्रकार का होता है।[2]

(७) बीभत्स रस—जुगुप्सा स्थायीभाव रूप बीभत्स रस होता है। असुदर अप्रिय, अपवित्र एव अनिष्ट वस्तुओ के देखने सुनने और उद्वेजन आदि रूप विभावो स उत्पन्न होता है। सब अगो के सकोचन उल्लेखन, थूकना और शरीर का धुनना आदि अनुभावो स अभिनेय होता है। अपस्मार जी मिचलाना वमन आदि आवेग, मूर्च्छा, रोग और मरण आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।[3] बीभत्स रस भी रुधिर और विष्ठा आदि घृणोत्पादक दृश्यो के देखने से दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध। भट्टतौत की दृष्टि से य दोनो प्रकार के बीभत्स रस अशुद्ध ही है। बीभत्स का शुद्ध रूप वह है जब ध्यानस्थ योगी को अपने शरीर से ही घृणा हो जाती है वह मोक्ष साधक है, अत बीभत्स भी मोक्ष का साधक होता है।

(८) अदभुत—विस्मय स्थायीभाव रूप अद्भुत रस होता है। दिव्यजनो के दशन, अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति उपवन देवकुल आदि म जाना, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल की सभावना आदि विभावो से यह रस उत्पन्न होता है। आखो का फैलना, निनिमेषभाव से देखना, रोमाच अश्रु, स्वेद, हष, धन्यवाद दान निरतर हाहाकार करना, हाथ मुह अँगुली एव वस्त्र का घुमाना आदि अनुभावो से अभिनेय होता है। स्तभ, अश्रु स्वेद, गदगद रोमाच आवेग, सभ्रम (घबराहट), अत्यधिक हष, चपलता, उन्माद, धृति और जडता आदि अदभुत रस के सचारी है। दिव्य और आनदज भेद से दो प्रकार का होता है।[4]

(९) शान्त रस—शम स्थायीभाव रूप मोक्ष का प्रवर्तक शान्त रस होता है। वह तत्त्व ज्ञान, वैराग्य, हृदय शुद्धि आदि विभावो स उत्पन्न होता है। यम नियम, अध्यात्मध्यान, धारणा, उपासना सब प्राणियो पर दया, सन्यास धारण आदि अनुभावो स अभिनय होता है। निर्वेद, स्मृति, धृति पवित्रता स्तम्भ और रोमाच आदि व्यभिचारी भाव हैं। शान्त रस म दु ख रहता है न सुख, न द्वेष रहता है और न ईर्ष्या सब प्राणियो के प्रति एकसा भाव रहता है। शृगार आदि सब रसो के रति आदि भाव इसके विकार रूप हैं और शान्त रस प्रकृति रूप है। शान्त रूप प्रकृति से रति

---

१ ना० शा० ६।६७ ६८, सा० द० ३।२२४, द० रू० ४।७२, ना० द० ३।१६।
२ ना० शा० ६।६९ ७०, सा० द० ३।२२८, ना० द० ३।१७ द० रू० ४।८०।
३ ना० शा० ६।७३ ७४, द० रू० ४।७३, ना० द० ३।१८ सा० द० ३।२२६।
४ भ० भा० भाग १, पृ० ३३१, द० रू० ४, ना० द० ३।१९, सा० द० ३।२२९।

आदि विकार रूप उत्प न होते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं।[१]

निष्कर्ष

भरत की रस परिकल्पना नाट्यो मुखी है, वे नाट्य के लिए इन रसों का उपयोग करते है। यद्यपि मनुष्य की विभिन्न मनोदशाएँ और (विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेप आदि) पुरुषार्थ (धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष भी) आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा नाट्य होने पर ही रस रूप में आस्वाद्य होते हैं। अत व्यापक दृष्टि से विचार करने पर तो नाट्य और रस एक बिन्दु पर मिलने वाले अभिन्नेपक ही तत्त्व हैं। नाट्यायमान भावदशा ही रस होती है नाट्य ही रस होता है।[२] यह नाट्य या रस आनन्द रूप ही है। इसे ही भोज[३] ने अहंकार शृंगार और अबर क्राव[४] ने आत्मिक यथार्थता के नाम से अभिहित किया है। जहाँ जिस केन्द्र में मनुष्य की आत्मा की दीप्ति प्रज्वलित होती रहती है और सात्त्विकता के आवेग से आनन्द की ज्योति रश्मियाँ प्रस्फुटित होती हैं।[५] वस्तुत भरत का भाव यही है कि रस अथवा नाट्य के द्वारा मनुष्य की संवेदनाओं का पुनरुद्भावन होता है। प्रतिफलन होता है, इसीसे रूप में रस्यता और जीवन का चरम सौन्दर्य और प्रकाश विकीर्ण होता है। क्योंकि इस सौन्दर्य बोध में मनुष्य आत्मदर्शन करता है (आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति) रसानन्द आत्मदर्शन का ही चरम सुख है।

---

१ न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नाप्यमत्सर। समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः। ना भावा विकारा रत्याद्या शान्तस्तु प्रकृतिर्मत। विकारः प्रकृतेर्जात शान्तस्तु प्रकृतिर्मत। ना० शा० ४ पृ० ३३३ ५ (गा० ओ० सी०)। ना० द० ३ २०, सा० द० ३।२२८।

२ रसस्तु ।द् हि नाट्यम्। ना य एव च रसा। का येऽपि नाट्यायमान एव रस। अ० भा० भाग १, पृ० २६०।

३ का मनित गुणविशेषमहङ्कारस्य
शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोने। शृंगार प्रकाश १ (भोज शृंगार प्रकाश १।३)

4 This is the layer of flame which is the closest we can get to the central fire to the will to live on whatever you like to call it And an impression of this profound emotional reality is what art must convev —Abercrombie

५ [illegible]
[illegible] पुनर्विष्ट [illegible] ।
[illegible] स्पष्ट [illegible]
[illegible] । १० प्र० ३।६

भाव

भाव का स्वरूप और उसकी व्यापकता

नाट्य का साध्य है रस और भाव उसका साधन। भाव इस भौतिक जगत् की व्यापक सत्ता है वह चित्तवृत्ति के रूप मे प्राणिमात्र मे वैसे ही व्याप्त है जैसे पार्थिव तत्त्व में गंध। परन्तु इस लोक की उत्तमोत्तम सृष्टि मनुष्य म वह अत्यंत उत्कृष्ट रूप मे वर्तमान है। भावो से ही मनुष्य सचालित होता है। वस्तुत बिना भाव के मनुष्य ही नही, सृष्टि की प्रक्रिया की कल्पना भी सभव नही है। भरत ने भाव की इस व्यापक सत्ता का ही विचार कर नाट्य के प्रसग मे उसके शास्त्रीय रूप का विवेचन किया है क्योकि नाट्य नाना भावोपसपन्न तथा नानावस्थातरात्मक तथा तीनो लोको का 'भावानुकीर्तन' है।[1]

भाव और भावन

भरत ने भाव के सबध म विचार करते हुए पहले यह प्रश्न उठाया कि भाव' यह शब्द चित्तवृत्ति के लिए क्यो प्रचलित है? इस मूल प्रश्न का समाधान उन्होने दो प्रकार से किया है। हृदय म चित्तवृत्ति के रूप म स्थित होने के कारण ये भाव कहे जाते हैं, अथवा वाचिक आंगिक और सात्त्विक भावो से युक्त काव्यार्थों को ये भावित करते है। इस भावन-व्यापार के कारण ही ये भाव होते हैं। भाव शब्द व्याप्ति बोधक है और सबमे व्याप्त होने के कारण भी वह भाव होता है।[2] नाट्य प्रयोग के प्रसग म कवि प्रयोक्ता और प्रेक्षक तीनो म ही भाव व्याप्त है। कवि लोकचरित की उद्भावना करता है, इस उद्भावना म वह अपने कल्पित भावो को देशकाल के

१ त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्।
नाना भावोपसपन्न नानावस्थान्तरात्मकम्। ना० शा० १।१०७, ११२ (गा० ओ० सी०)।

२ किं भवन्तीति भावा किं वा भावयन्तीति भावा।
उच्यते वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति।
भू इति करणे धातुस्तथा च भावित वासित कृतमित्यर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्ध। अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।

ना० शा०, पृ० ३४२ ४ (गा० ओ० सी०)।

विभेदों से मुक्त साधारणीकृत रूप में काव्य कौशल द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए उसे हृदय संवेद्य (आस्वाद्य) बनाता है। अभिनेता आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं मुखराग आदि अभिनयों से सम्पन्न कर कवि कल्पित भावों का ही भावन करता है, परन्तु साधारणीकृत भावन व्यापार के द्वारा वह प्रेक्षक की चित्तवृत्ति का भावन करता है, परिव्याप्त करता है। इस भावन-व्यापार के द्वारा ही प्रेक्षक के हृदय में रसानुभूति होती है। इस भावन व्यापार के कारण ही वे भाव के रूप में अभिहित होते हैं।[1]

अभिनेता कवि-कल्पित भावों का अभिनय करते हुए प्रेक्षक की चित्तवृत्ति का भावन (व्याप्ति) करता है। यह चित्तवृत्ति वासना के रूप में व्यक्ति में वर्तमान रहती है, अभिनय द्वारा भावन होने पर रस रूप में प्रतीति योग्य हो जाती है। भाव की रस रूप में प्रतीति होती है भावन व्यापार द्वारा। अतः भरत की दृष्टि में 'भाव' मात्र स्थायी चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु रसानुभव की समस्त प्रक्रिया का वह स्रोत भी है। उनके विचार से विभाव (आलंबन रूप नायक नायिका एवं उद्दीपन रूप प्रकृति-सुन्दरता आदि) मात्र रस प्रतीति के ही कारण नहीं होते अपितु अभिनय के माध्यम से स्थायी भावों को भी प्रतीति-योग्य बनाते हैं अतएव वे 'विभाव' के रूप में प्रसिद्ध हैं।[2]

अनुभाव

अभिनय की दृष्टि से अनुभाव का भी विशिष्ट प्रयोग होता है। प्रेक्षक द्वारा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों की चेष्टाओं का अनुभावन प्रेक्षक के हृदय में होने के कारण यह 'अनुभाव' होता है। आलम्बन विभाव के प्रति आश्रय में जिन भावों की अभिव्यक्ति अभिनय द्वारा होती है उनका भावन, साक्षात्करण या प्रतीति इन्हीं अनुभावों द्वारा होती है। ये 'अनुभाव' वाचिक आंगिक और सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत अनेक चेष्टाएँ और व्यापार ही हैं। अनुभाव के सम्बन्ध में भरत की यही दृष्टि है। परवर्ती आचार्यों ने अनुभाव का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है। जो भावों के पश्चात् होते हैं अतएव वे 'अनुभाव' हैं। स्थायी भावों के कार्य के रूप उत्पन्न होते हैं अनुभावों के द्वारा ही स्थायी भावों का भावन होता है।[3] परन्तु इन आचार्यों का विचार तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि अभिनय के क्रम में वे भावों के साथ ही व्यक्त और तिरोहित होते हैं। भाव तथा अनुभाव में पूर्व पश्चात् या कारण कार्य की स्थिति प्रत्यक्ष में भले ही जान पड़े परन्तु वह वास्तविक नहीं है।

---

[1] विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इतिसंज्ञित।
वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भ वयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७ २ २।

[2] एवं ते विभावानुभावसंयुक्ता इति यास्यन्ते अतोऽर्थेषु भावानां सिद्धिर्भवति।
ना० शा० ७, पृ० ३४८।

[3] वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्ग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ ना० शा० ७।५ (गा० ओ० सी०), नाट्यदर्पण ३।४४, सा० द० ६।

भाव विभाव और अनुभाव के सयुक्त रूप

विभाव और अनुभाव से युक्त भाव है। दोनो का भाव से अनिवार्य सम्बन्ध है। इन्ही विभाव और अनुभाव आदि से भावों की उत्पत्ति होती है (प्रेक्षक के हृदय में)। परन्तु यह अभिनय में होता है, प्रकृत जीवन में नही। विभाव अनुभाव और भावो के पारस्परिक सम्बन्ध की परिकल्पना द्वारा भरत ने अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृत जगत् के भाव कलात्मक स्तर पर किस प्रकार आस्वादन योग्य हो सकते हैं। भरत ने विभाव एव अनुभाव को लोक-समिद्ध माना है। अत नाट्य प्रदर्शन मे भी आलबन एव उद्दीपन विभाव कपोलो का स्पदन या अन्तस भावो का प्रदर्शन तथा नयनोन्मीलन आदि अनुभाव लोकानुसारी होते हैं।

भावो का सामान्य गुणयोग

भरत ने इन उनचास भावो को काव्य रस की अभिव्यक्ति का कारण माना है। सामान्य गुण के योग से इन्ही भावो से प्रेक्षक के हृदय में रसोदय होता है। सामान्य गुण योग शब्द का प्रयोग भरत के तात्त्विक चिन्तन का प्रतीक है। भट्टनायक एव अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित साधारणीकरण का मूल सिद्धान्त 'सामान्य गुणयोग' की कल्पना में बीज रूप में अन्तर्निहित है। इसी सिद्धान्त के द्वारा विशिष्ट एव व्यक्ति परक भावो को साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है तभी रसोदय होता है। यदि उन व्यक्तिपरक भावो का साधारणीकरण' न हो तो रस प्रतीति होगी ही नही।[1] शुष्क काष्ठ में आग्नेय तत्त्व तो वर्तमान है पर वह अग्नि तभी प्रज्वलित होती है जब बाहर से अग्नि का सपर्क होता है। प्रेक्षक के हृदय में भाव वर्तमान रहते हैं परन्तु नाट्यार्थ (विभाव, अनुभाव आदि का सयुक्त रूप) का भावन उसकी हृदय सवेदना को स्पर्श करता है। ये भाव ही उसके हृदय में रसोद्रेक के रूप में भावित या व्याप्त हो जाते हैं। काष्ठ को प्रदीप्त करने के लिए बाहर की आग अपेक्षित है उसी प्रकार प्रेक्षक या भावक के हृदय के भावो को रसोद्दीप्त करने के लिए नाट्य वस्तु के भाव को अभिव्यक्त करने वाला अभिनय भी। अभिनय बाह्य भावाग्नि है उसीसे प्रेक्षक के अन्तर की भावाग्नि रस रूप में उद्दीप्त हो उठती है।[2]

नाट्य प्रयोग के प्रसग में विभिन्न अभिनयो के माध्यम से लौकिक भावो के कवि-कल्पित अनुभव को नाट्यायित (रूपायित) किया जाता है, भरत की दृष्टि में भाव वह है। नाट्यार्थ (वस्तु), कविकल्पित साधारणीकृत भाव और प्रेक्षको की रस प्रतीति के भावित करने के अर्थ में भाव शब्द का प्रयोग भरत ने किया है। इस सम्बन्ध में भरत द्वारा उद्धृत श्लोक बडे महत्त्व के हैं उनके द्वारा उन्होने भाव सम्बन्धी अपने विचारो की परिपुष्टि की है। उन तीनो श्लोको में उन्होने रस प्रतीति के उद्देश्य से भाव' की रेखा पर साधारणीकरण के माध्यम से 'कवि', प्रयोक्ता' और प्रेक्षक रस त्रिक के एकत्व की कल्पना की है। कवि लोक चरित का साधारणीकृत उद्भावन करता है अभिनेता कवि के हृदयस्थित भावो का अभिव्यक्त करते हुए प्रेक्षक की चित्तवृत्ति (भाव) का भावन कर रसोदय को रूप देता है। इस भाव रूप साधन से रस रूप

---

१ एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा [निष्पद्यन्ते] । ना० शा० ७, पृ० ३४८।

२ योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भव ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना। ना० शा० ७।७।

होता है।[1] (८) विस्मय नामक स्थायी भाव माया इन्द्रजाल, मनुष्य के असाधारण कर्म, चित्र एवं लेप आदि कलाओं की अतिशयता रूप विभावों से उत्पन्न होता है। नयनों का विस्तार, अनिमेष दृष्टि भ्रूक्षेप, रोमांच, शिर के कंपन और धन्यवाद आदि अनुभावों से अभिनय होता है।[2]

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भावों की संख्या तेतीस है। भरत ने इस शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ निरुक्त की शैली में प्रस्तुत किया है। 'वि' और 'अभि' ये दो उपसर्ग हैं तथा 'चर' गत्यर्थक धातु है। इन तीनों के योग से व्यभिचारी शब्द व्युत्पन्न होता है। जो भाव विविध प्रकार से रसाभिमुख होकर संचरण करते हैं भावों को रसों में युक्त करते हैं वे ही व्यभिचारी या संचारी होते हैं। वाचिक, आंगिक और सात्त्विक भावों से युक्त हो नाट्य प्रयोग में स्थायी भावों को व्यभिचारी भाव रस रूप में प्रतीति योग्य बनाते हैं। भरत की दृष्टि से ये व्यभिचारी भाव स्थायी भावों को रस रूप में व्यक्त करते हैं और यह प्रक्रिया नाट्य प्रयोग में ही प्रयुक्त होती है।[3]

(१) निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव दरिद्रता, रोग, अपमान, तिरस्कार, आक्रोश, क्रोध ताडन प्रियजन के वियोग और तत्त्वज्ञान आदि विभावों से उत्पन्न होता है। यह भाव स्त्री एवं नीच प्रकृति के लोगों के रुदन निःश्वास लम्बी श्वास तथा सम्प्रधारण आदि अनुभावों से अभिनय है। (२) ग्लानि नामक व्यभिचारी भाव वमन रेचन रोग तप नियम उपवास मन का सन्ताप अतिशय कामभाव, मद्यसेवन राह की थकावट, क्षुधा पिपासा निद्रा भंग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वचन में दुर्बलता नयन कपोलों की कान्तिहीनता कपोलों की क्षीणता, उदर की कृशता, पदविक्षेप की मन्दता, कम्पन, अनुत्साह गात्र की तनुता, विवर्णता और स्वरभंग आदि अनुभावों से अभिनय है। (३) शंका नामक व्यभिचारी भाव स्त्री एवं नीच जनों में उत्पन्न होता है। चोरी में पकड़ा, राजा के अपराध और पापाचरण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। बार बार देखने सकुचित होना, मुंह सूखना जिह्वा परिलेहन (चाटना) मुख का रंग विवर्ण होने स्वर भंग कम्पन, ओष्ठ सूखना तथा कण्ठावरोध आदि अनुभावों से शंका का अभिनय होता है।[4] (४) असूया नामक व्यभिचारी भाव अनेक अपराध द्वेष दूसरों के ऐश्वर्य सौभाग्य मेधा, विद्या तथा लीला, आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सभा में दोष कथन गुण की निन्दा, ईर्ष्यापूर्वक देखने, नीचे मुख करने, भौंह चढाने, अवहेलना और तिरस्कार आदि अनुभावों से अभिनय होता है। (५) मद नामक व्यभिचारी भाव मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है। यह तरुण मध्य और अवकृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है। इसके पाँच विभाव होते हैं जिनके द्वारा इसका अभिनय सम्पन्न होता है। कोई मत्त होकर गाता है कोई रोता है, और कोई हँसता है, कोई कठोर वचन बोलता है कोई सोता है। उत्तम प्रकृति के लोग सोते हैं, मध्यम प्रकृति के गाते हैं अधम प्रकृति के लोग रोते हैं। उत्तम प्रकृति के पात्र मत्त हो स्मित वचन, मधुर

---

१ ना० शा० ७ २६।

२ वही, ७ २७।

३ विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान् नयन्तीति व्यभिचारिणः। ना० शा० ७।२६८ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० ७ २८ ३१, ३३ ३५, द० रू० ४।७-१०, भा० प्र० ३।१४-, १६०, १७१ ना० द० ३।१२८

राग, पुलकित बदन, कुछ-कुछ असंयत वचन, सुकुमार और उद्धत गति का प्रदर्शन 'तरुण मद' में करते हैं। मध्यम प्रकृति के पात्रों के पैरों की लड़खड़ाहट, नयनों के आघूर्णन (चंचल) शिथिल बाहुओं का आकुल विक्षेप तथा कुटिल और अस्थिर चाल का प्रदर्शन करते हैं। अधम प्रकृति के पात्र स्मृति के नाश, अवरुद्ध गति, छींक, हिचकी, कफ आदि की बीभत्सता, जीभ के भारीपन और जड़ता तथा थूकने आदि से अपने मद का प्रदर्शन करते हैं। रंगपीठ पर मदपान करते हुए पात्र के अभिनय में वृद्धि और पीकर प्रवेश करने पर उसके अभिनय को मदक्षय का भाव प्रदर्शित होना चाहिये। (६) श्रम नामक व्यभिचारी भाव दूर की यात्रा और व्यायाम-सेवन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शरीर दबाने और मालिश करने, निःश्वास, जम्हाई, मन्द पदोत्क्षेप, आँख मुंह सिकोड़ने और सीत्कार आदि अनुभावों के अभिनेय हैं।[1] (७) आलस्य नामक व्यभिचारी भाव खेद, रोग, गर्भ, स्वभाव, श्रम तथा अघान आदि विभावों से स्त्रियों तथा नीच स्वभाव के लोगों में उत्पन्न होता है। सब प्रकार के कार्यों में अरुचि, शयन, आसन, निद्रा और तन्द्रा में रहने आदि अनुभावों के द्वारा यह अभिनेय होता है।[2] (८) दैन्य नामक व्यभिचारी भाव दुर्गति और मनस्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। धैर्य, शिर की पीड़ा, शरीर की प्रयुक्तता, अन्यमनस्कता आदि अनुभावों से अभिनय होता है। (९) चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव ऐश्वर्य नाश, इष्ट द्रव्य के अपहरण और दारिद्र्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निःश्वास, उच्छ्वास, सन्ताप, ध्यान, नीचे मुखकर चिन्ता तथा शरीर की क्षीणता आदि अनुभावों से यह अभिनय होता है। (१०) मोह नामक व्यभिचारी भाव दैवी एवं अन्य विपत्ति, रोग, भय और पुराने वैर आदि के स्मरण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निश्चेतता, भ्रमण, पतन, लड़खड़ाहट और न देखने आदि अनुभावों से अभिनय होता है। (११) स्मृति (नामक व्यभिचारी भाव) सुख दुःखकृत भावों का अनुस्मरण ही तो स्मृति है। स्वास्थ्य, रात्रि के पिछले प्रहर में निद्राभंग, सदृश-दर्शन, उदाहरण, चिन्ता तथा अभ्यास आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शिर में कम्पन, अवलोकन, भौंहों के चढ़ने आदि से अभिनेय है। (१२) धृति नामक व्यभिचारी भाव शूरता, विज्ञान, श्रुति, विभव, पवित्रता, आचार, आचरण, गुरुभक्ति, मनोरथ अर्थ की विशेष प्राप्ति तथा क्रीड़ा आदि विभावों से उत्पन्न होता है। प्राप्त विषयों के उपभोग तथा प्राप्ति, अतीत के नष्ट विषयों के सम्बन्ध में चिन्ता के अभाव से अभिनय होता है।[3] (१३) व्रीडा नामक व्यभिचारी भाव अनुचित कार्यात्मक होता है। गुरुजनों के प्रति अनुचित आचरण, अपमान, प्रतिज्ञा के निर्वाह न होने और पश्चात्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मुंह छिपाकर या नीचा कर चिन्तन, धरती पर लिखने, वस्त्रों तथा अँगूठियों के छूने और नाखून को कतरने आदि अनुभावों से अभिनेय है। (१४) चपलता नामक व्यभिचारी भाव राग, द्वेष, डाह, अमर्ष, ईर्ष्या तथा प्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वाणी में कठोरता, भर्त्सना, वध, बन्धन, प्रहार और ताडन आदि अनुभावों से अभिनेय है। (१५) हर्ष नामक व्यभिचारी भाव मनोरथ, लाभ, प्रियजन समागम, मन का सन्तोष, देवता, गुरु, राजा और स्वामी की प्रसन्नता, भोजन,

---

१ ना० शा० ७।३६ ४७, द० रू० ४।१२, १७, २१, सा० द० ३।१४४ १४६, भा० प्र०, पृ० २४८।
२ ना० शा० ७।४८ ५५, द० रू० ४।१४ १६, सा० द० ३।१४५, १६०, १६५, १७०।
३ ना० शा० ७।५६ ६५, द० रू० ३।१६, २४, ३३, १४ सा० द० ३।१४६, १७२ ७८, १७८, ना० द० ३।१२४०।

इन आत्मगत, परगत और मध्यस्थ व्यभिचारी भावो का देश, काल, अवस्था की अनुरूपता के सदर्भ म उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के स्त्री पुरुषो द्वारा प्रयोगवश इनका उपयोग विहित है। अत व्यभिचारी भावो का प्रदर्शन भिन्न भिन्न परिस्थितियो म भिन्न भिन्न रूपो म हो सकता है।[1]

सात्विक भाव और रसोदय

सात्विक भावो का प्रकाशन सफल अभिनय की विशिष्ट सम्पन्न है। यह सत्व मन से उत्पन्न होता है। अतएव सात्विक रूप म यह प्रसिद्ध है। सात्विक भावो की उत्पत्ति मन की एकाग्रता स होती है। अन्य भावो के अनुरूप रोमाच, कप, अश्रुपात और स्वरभग आदि का प्रदर्शन अग प्रत्यग द्वारा होता है, जो मन की एकाग्रता के बिना सभव नही है। नाट्य प्रयोग म लोकचरित का अनुकरण होता है। इसलिए सत्व का प्रयोग नाट्य मे विशेष रूप स अभीष्ट है। नाट्यधर्मी के अनुरोध स जिन सुख दु खात्मक भावो का प्रदर्शन होता है वे सात्विक भावो से विभूषित होने चाहिये कि वे भाव (प्रकृत रूप म) तद्वत् प्रतीत हो। शोक म अश्रु हर्ष म पुलक और विस्मय भाव क प्रदर्शन में स्तम्भ आदि के प्रयोग होने पर वे नाट्य म यथार्थ रूप मे गृहीत हो रस का सचार करते हैं। पात्र का सुख-दु ख तो अपना है, परन्तु प्रयोग-काल म वह मन की इस एकाग्रता (सत्व) के कारण प्रयोज्य पात्र के सुख दु ख को अपना सुख-दु ख मान लेता है। प्रभाव के कारण प्रयोग-काल म सुखी पात्र की आँखो से अश्रु गिरते हैं और दु खी पात्र के नयन हर्ष से उत्फुल्ल और कपोल स्फुरित होते रहते हैं। यदि इन सात्विक चिह्नो का भावानुरूप प्रदर्शन न हो तो नाट्य मे उनका अभिनय उचित रूप स न होने के कारण रस रूप मे भाव आस्वाद्य नही होता। वस्तुत नट न तो सुखी रहता है और न दु खी वह तो सुख-दु खात्मक भावो का प्रदर्शन प्रयोग के अनुरोध से करता है, और वह सत्व द्वारा अधिक मात्रा म पुष्ट हो रसाभिमुख होता है।[2]

सत्व मे नाट्य की प्रतिष्ठा

सात्विक भावो की इस महत्ता को दृष्टि मे रखकर ही भरत ने सामान्याभिनय के प्रसग म आगिक और वाचिक अभिनयो की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। वाचिक और आगिक अभिनयो का प्रदर्शन तो बाह्य चेष्टाओ द्वारा भी सभव है परन्तु सात्विक अभिनय नितान्त प्रयत्न साध्य है। वह अभिनय तो मन की एकाग्रता मे ही रूपायित हो पाता है, इसीलिए परिणाम रूप मे अभिनय तो सत्व म ही प्रतिष्ठित है। जिस अभिनय म सत्व की अतिरिक्तता है, वह अभिनय ही उत्तम होता है, जिसमे अन्य अभिनयो की तुलना म सत्व समानता की मात्रा

---

१ ना० शा० ७, पृष्ठ २७४ (गा० ओ० सी०)।

२ सत्वहिनाम मनप्रभवम्। तच्च समाहित मनस्त्वादुच्यते। मनस समाधौ सत्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च यो मौ स्वभावो रोमाचाश्रुवैवर्ण्यादि लक्षणोयथा भावोपगतै स न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्यस्वभावानुकरणत्वाच्चनाट्यस्य सत्वमीप्सितम्। एतन्वास्य सत्व यत दु खितेन सुखितेन वाश्र रोमांचौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्विका भावा इत्यभिव्याख्याता। ना० शा ७।३७८।

म होता है वह मध्यम और जिस अभिनय म सत्त्व हो ही नही वह अधम कोटि का अभिनय होता है।[1]

अभिनवगुप्त और शकुक की मान्यताएँ

अभिनवगुप्त की विचार दृष्टि इस सम्बन्ध म नितान्त स्पष्ट है कि नाटय रसमय होता है। रस का अन्तरग सात्त्विक ही है। इसका अभिनय बिना विशिष्ट प्रयत्न के सिद्ध नही होता। सात्त्विक के पूर्ण याग होने पर नाटय प्रयोग प्रशस्य होता है। अन्य अभिनया की अपेक्षा न्यून होने पर अभिनय क्रिया अपूर्ण हो जाती है। परन्तु सात्त्विक के अभाव म तो अभिनय क्रिया का उन्मीलन ही नही होता। अभिनय के द्वारा प्रयोक्ता तो चित्तवृत्ति को साक्षात्कार के रूप मे प्रस्तुत करता है। नाटय की प्राणस्वरूपा यह साक्षात्कार कल्पना स्तम्भ, स्वेद और रोमाच आदि के भावानुरूप प्रदर्शन द्वारा ही आती है।[2]

सवेदन भूमि मे चित्त वृत्ति का सक्रमण

सत्त्व तो मन सभूत भाव है और वह अव्यक्त है। भाव की प्रकपता के चिह्न रूप स्वेद रोमाच आदि ही देह के सहारे उसे स्थापित करते है। अव्यक्त भावो की व्यक्तता इन्ही के द्वारा मिलती है। शकुक न भरत की इस मान्यता का समर्थन करत हुए यह प्रतिपादित किया है कि राम आदि अनुकाय-गत भावाश्रित सत्त्व तो अव्यक्त रहता है वह रोमाच और अश्रु आदि के द्वारा ही प्रतीत होता है। सत्त्व मन सभूत होन पर भी उपकार की दृष्टि से देहात्मक ही है। देह के माध्यम स ही उन मन सभूत भावो की व्यक्तता प्राप्त होती है।[3] अनुकर्ता पात्र की चित्तवत्ति अनुकाय की सुखदु खात्मक भावना से आच्छादित होने पर सवदन भूमि म सचरण करती हुई देह म भी व्याप्त हो जाती है वही सत्त्व है। धम, रोमाच और अश्रु आदि उस सत्त्व के ही गुण हैं। इन्ही सात्त्विक गुणो क द्वारा प्रेक्षक अनुकायगत भावा को अपनी सवेदनाभूमि मे अनुभव करता है और तब रस प्रतीति होती है।[4]

---

१ तत्र कार्यं प्रयत्नस्तु सत्वे नाट्य प्रतिष्ठितम्।
सत्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्वो भवे मध्यो सत्वहीनोऽधम स्मृत। ना० शा० २२।२

२ रसमय हि नाट्य रसे चा तरग सात्विकस्तस्मात् स एवाभ्यर्हित।—सत्वे च नाट्य प्रतिष्ठितम्। सत्व च मन समाधानम्। तस्माद्भूयसा प्रयत्नेन न बिना न सिद्धयतीति।—सात्विकाभावे अभिनय क्रिया न मापि नो मीलति। अभिनयन हि नितवृत्ति साधारणतापत्ति भाएमानात्कार कल्पताध्यवसाय सपादनमिति। अ० भा० भाग ३ पृ० १४६।०।

३ श्री शकुकादयस्त्य नयति—कस्मात् पुन सत्त्व प्रयत्नातिशयमपेक्षते। उच्यते—रामाद्यनुकार्यगत भावास्तस्य तद्भावना प्रकर्षज रोमाचादिसपादक यत् आन्तर नाट्यस्य सत्व तदव्यक्त अस्फुट केवल रोमाचादिभि गमकत्वाद् गुणभूत विशेष अ यथा हि सुखाद्यभावे कुत एवामुक्त इत्यहेतुक स्यात्।
अ० भा०, भाग ३, पृ० १८०।

४ तत एव उत्पाद्यमान वान् अश्रु प्रभृतयोऽपि भावा भावसूचनात्मकविकाररूपत्वात् च अनुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्। द० रू० ४।४ पर धनिक की टीका, नाटयदर्पण ३।४५ का अवतरण।

सात्त्विक भाव अनुभाव भी

नाट्य प्रयोग की दृष्टि से अश्रु, रोमांच आदि का जो विशिष्ट महत्त्व है वह हम प्रतिपादित कर चुके हैं। वस्तुतः इन सात्त्विक भावों में अनुभावत्व भी है। ये अनुभावों की तरह ही आश्रय के विकार हैं, फिर भी सात्त्विक भावों की पृथक् सत्ता भी मानी जाती है क्योंकि ये भाव के सूचक हैं। परन्तु ये विकार रूप भी हैं इसलिए अनुभाव भी हैं। इस प्रकार अश्रु और रोमांच आदि एक ओर सात्त्विक भाव दूसरी ओर अनुभाव इन दो रूपों से युक्त होते हैं। रामचन्द्र ने अश्रु आदि का उल्लेख स्थायी एवं व्यभिचारी भावों के कार्य मूल अनुभाव के रूप में किया है।[1]

सात्त्विक भावों की संख्या और स्वरूप

भरत ने निम्नलिखित आठ सात्त्विक भावों की परिगणना एवं विवेचना की है—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। भरत से पूर्व भी सात्त्विक एवं अन्य भावों के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों की शास्त्रीय परम्परा वर्तमान थी, उसी परम्परा से उन्होंने सात्त्विक भावों की व्याख्या के लिए महत्त्वपूर्ण आर्याएँ और श्लोक उद्धृत किए हैं। निःसन्देह नाट्य के भावलोक और उनके यथास्थान प्रयोग के सम्बन्ध में इन श्लोकों में सात्त्विक विचारों का आकलन किया गया है। नाट्य प्रयोग की दृष्टि से वे बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं।

सात्त्विक प्रतीकों की भाव-सामग्री

हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद तथा रोष से स्तम्भ; क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, घात, व्यायाम, क्लान्ति और गर्मी तथा संपीडन से स्वेद; शीत, भय, हर्ष, रोष, स्पर्श, बुढ़ापा एवं रोग से कम्प; आनन्द, अमर्ष, धूम, अंजन, जम्हाई, भय, शोक, निर्निमेष देखने, शीत तथा रोग से अश्रु; शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लान्ति और ताप से वैवर्ण्य (मुख का रंग उड़ना), स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग से रोमांच तथा श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, चोट और मोह आदि से प्रलय उत्पन्न होता है।[2]

सात्त्विक भावों का विनियोग (अभिनय)

रसों तथा भावों के अनुभावक इन सात्त्विक भावों का विनियोग या अभिनय किन अव्यक्त भाव-दशाओं को व्यक्तता देने के लिए होगा इसका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधान भरत ने प्रस्तुत किया है। सात्त्विक भावों के विनियोग के विश्लेषण से भरत की सूक्ष्म नाट्य-दृष्टि का पता चलता है। हम उन्हें प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) स्तम्भ—निःसंज्ञ, निष्कंप, स्थिर, शून्य एवं जड़आकृति तथा शरीर को कड़ा करके स्तम्भ का अभिनय होता है। (२) स्वेद—पंखा झलने (ग्रहण) तथा स्वेद के हटाने तथा वायु की अभिलाषा द्वारा स्वेद का अभिनय होता है। (३) रोमांच—बार बार शरीर के कंटकित होने, रोओं के खड़े होने तथा शरीर के स्पर्श से रोमांच का अभिनय होता है। (४) स्वरभेद—स्वर के

---

१ इह चित्तवृत्तिरिव संवेदनभूमौ सक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति। सैव च सत्त्वमित्युच्यते।

हि० ना० भाग २, पृ० १६२।

२ ना० शा० ७।६४-६६ (गा० ओ० सी०)।

भेद तथा कठस्वर के गद्गद होने से स्वरभेद का अभिनय होता है। (५) वेपथु—काँपने स्फुरित होने तथा थरथराहट से वेपथु का अभिनय होता है। (६) ववण्य—नाडिया के पीडन से मुख का रग फीका करके ववण्य का अभिनय होता है। यह अभिनय प्रयत्न साध्य है। (७) अश्रु—कुशल प्रयोक्ता द्वारा आँसुओ के पोछने, नयनो मे आँसुओ के छलकने तथा बार बार अश्रुकणो के गिरने से अश्रु का अभिनय होता है। (८) प्रलय—निश्चेष्टता, निष्कपता, श्वास सचालन की अस्पष्टता तथा भूमि पर गिरने से प्रलय का अभिनय होता है।[1]

सत्त्व नाट्य की प्राणविभूति

भरत की दृष्टि मे नाटय रस के सन्दभ में सत्त्व का असाधारण महत्त्व है। इसीलिए सत्त्वातिरिक्त अभिनय को ज्येष्ठ और सत्त्वहीन को वे अभिनय मानते ही नही। इस प्रसग मे उनका विचार ध्यातव्य है। वे सत्त्वप्रयोजित अथ (नाटयवस्तु) को ही प्रयोग मानते हैं। उनकी दृष्टि से प्रयोग का अथ है सात्त्विक भावा द्वारा विषयवस्तु को व्यजित करना। वैसा होने पर ही नाटय प्रयोग रूप मे परिगणित होता है। ये सात्त्विक भाव अनेक प्रकार के अभिनयो पर आश्रित होते हैं। व सब रसो म वतमान रहते हैं तथा इनका प्रयोग होने पर प्रेक्षक के हृदय म रस का उदय होता है। यद्यपि स्थायी भाव सब भावा मे प्रधान होते हैं परतु सत्त्व की अतिरिक्तता के साथ प्रयुक्त होने पर रस रूप म आविर्भूत होते हैं।[2] कोई भी काव्य (नाट्य) एक रसज नही होता, उसमे अनक भावो कृतियो और प्रवृत्तियो का सयोजन होता है। परतु इन सब विविधताओ के मध्य भी प्राण सूत्र सा एक स्थायी भाव वतमान रहता है। प्रयत्नपूवक उन सबके यथोचित सयोजन से ही रसत्व का आविर्भाव होता है। काव्य या नाटय म नाना भाव, एव अथ स सम्पन्न स्थायी सात्त्विक एव व्यभिचारी भावो को माला मे पिरोये हुए पुष्पो की तरह आयोजित करना चाहिये।[3]

भरत के चिन्तन की मौलिकता

भरत ने भावो की परिगणना और नाटय प्रयोग मे उनके विनियोग के सम्बन्ध म जिन विचार-सूत्रो का ग्रथन किया है वे बडे महत्त्वपूण हैं। मनुष्य का भाव-लोक तो अनन्त है। भरत ने उनम से कुछ सामान्य या प्रधान भावा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। सुख दु ख की विभिन्न दशाओ म मनुष्य की मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ कैसी और किन रूपो म होती हैं उनका यथावत अध्ययन कर नाट्य प्रयोग के लिए उन्ह यहाँ भरत ने प्रस्तुत किया है। मानव स्वभाव का भरत ने कितना गहन अध्ययन और चिन्तन किया था, यह देखकर

१ ना० शा० ७।१०० १०७ (गा० ओ० सी०)।

२ सत्त्व प्रयोजितो ह्यर्थो प्रयोगोऽत्र विराजते।
येस्त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनय सश्रिता।
रसेष्वेतेषु सर्वे ते ज्ञेया नाटय प्रयोक्तृभि
तथा नहि एक रसज काव्य नैक भावैक वृत्तिकम्।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्त हि प्रयत्नत ॥ ना० शा० ७, पृ० ३७६ (गा० ओ० सी०)।

३ न ना भावार्थ सपन्ना स्थायी सत्त्वाभिचारिण।
पुष्पावकीर्णा कर्तव्या काव्येषु हि रसा बुधै। ना० शा० ७।१२०

आश्रय होता है। मनुष्य युग-युग की विभिन्न परिस्थितियों में सदियों से अपनी मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता रहा है। देश और राष्ट्र बदलते रहे, परन्तु युग युग की संवेदन भूमि आज भी वही है। भरत ने नाट्यशास्त्र में मनुष्य की उसी संवेदन भूमि के अन्तर रस का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करने का विराट् प्रयास किया है। यह संवेदन भूमि नाट्य की प्राण शक्ति है। भरत का भाव सम्बन्धी समस्त विवेचन नितान्त मौलिक एवं परवर्ती आचार्यों के लिए उपजीव्य रहा है। नाट्य की भाव भूमि का इतना वैज्ञानिक और तर्क सम्मत विवेचन शायद ही किसी अन्य भाषा के नाट्य या काव्यशास्त्र में इतने प्राचीन काल में हुआ हो।[1]

---

१ हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स—(काणे) पृ० २३।

छठा अध्याय

अभिनय विज्ञान

१ वाचिक अभिनय

वाचिक अभिनय

शब्द और छ दविधान

वाचिक अभिनय की व्यापकता

आगिक, सात्त्विक और आहार्य आदि अभिनय विधिया वाचिक अभिनय या वाक्यार्थ की ही व्यजना करती हैं। यह नाट्य का शरीर और सवप्रधान अभिनय है। वास्तव मे वाणी तो सब का मूल है, इसी के आधार पर अ य अभिनय चित्रवत् परिपल्लवित होते हैं। मनुष्य के मनोभावो की अभि यक्ति सात्त्विकादि अ य अभिनयों द्वारा भी होती है पर उ हे पूणता और साथकता प्राप्त होती है वाचिक अभिनय द्वारा ही। अनएव भरत ने वाचिक अभिनय के अ तगत शब्द छ द लक्षण अलकार गुण दोष, भाषा एव पाठय शैली का तात्त्विक निरूपण किया है।[१]

शब्दविधान

भरत ने सवप्रथम वाचिक अभिनय के शब्द रूप का शास्त्रीय विवचन करते हुए अकारादि चौ ह स्वर 'क' मे 'ह' तक व्यञ्जन वण, स्थान प्रयत्न, घोप-अघोप, वण, नामाख्यात, उपसग प्रत्यय तथा सधि समास आदि श दशास्त्र के प्रधान विपयो का प्रतिपादन एव अनेक महत्त्वपूण सबद्ध श दों की व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है।[२] इससे यह सिद्ध होता है कि भरत से पूव शब्दविद्या के वज्ञानिक अध्ययन की परपरा प्रचलित थी। शब्दविधान के अनुकूल पद रचना होने पर पदबध होता है। पदबध ही काव्य या नाटय होता है। शब्द शास्त्र की सीमा जहाँ समाप्त होती है छन्द का वहीं मगलारभ होता है।

पदबध की दो शलियाँ

प्राचीन भारतीय नाटय एव काव्य म सस्कृत एव विभि न प्राकृत भाषाओं का प्रयोग

१ वाचि यत्नस्तु कर्त य नाट्यस्यैषा तनु स्मृता।
अग नेपथ्य सत्त्वानि वाक्यार्थं यजयति हि॥ ना० शा० १४।२। का० मा०।

२ ना० शा० १४।६ ३२ का० मा०।

हुआ है। उसमे पद्य की दो शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—चूर्ण (गद्य) और निबद्ध पद (पद्य)। चूर्ण पदों में अर्थ की अपेक्षा से परिमित या प्रचुर अक्षरयुक्त पदों की योजना होती है तो निबद्ध पद या पद्य में गुरुलघुयुक्त अक्षरों तथा मात्राओं की संख्या नियत रहती है। पद्य यह संज्ञा अन्वर्थ है क्योंकि उसके चरणों में लयात्मकता वर्तमान रहती है। पर चूर्ण या गद्य तो पठनीय मात्र होता है। नाट्य के संवाद प्रायः गद्य में परन्तु मनोरागों और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति पद्य में भी होती है। सहृदय व्यक्ति के हृदय में संवेदना की विवृति लयात्मक रचना द्वारा सुचारुता से संपन्न होती है। वस्तुतः यह लयात्मकता तो सृष्टि की प्रक्रिया में ही वर्तमान है। विश्व के सृजन धारण और प्रलय में लय है। सूर्य चन्द्र और सृष्टि के अन्य ग्रह नक्षत्रों में भी यह लय है जिस लय से वाणी में उल्लास, माधुर्य और विकास मुखरित हो उठता है। भरत का यह कथन उचित ही है कि कोई छन्द न तो शब्दहीन है और न कोई शब्द छन्दहीन ही। शब्द और छन्द का योग नाट्य का उद्योतक होता है। नाना वृत्तों से निष्पन्न यह लयात्मकता ही नाट्य का मोहक तत्व है।

गद्य की दो शैलियाँ जाति और वृत्त

नाट्यशास्त्र में 'जाति' और वृत्त नामक दो छन्द शैलियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। जाति छन्द अक्षर-मात्राओं पर आधारित होता है। उसका प्रत्येक पाद सम ही हो यह नियम नहीं है। उसमें लघु अक्षर मात्रा एक संख्या और गुरु अक्षर मात्रा दो संख्या के रूप में परिगणित होती है। जाति छन्दों में 'आर्या' का प्रयोग गीतिकाव्य और नाट्य में बहुत लोकप्रिय रहा है। भरत और पिंगल दोनों ने ही आर्या के पथ्या विपुला चपला, मुखचपला और जघनचपला ये पाँच भेद परिकल्पित किये हैं।[1] आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत किसी प्राचीन आचार्य के मतानुसार जातिवृत्तों के पूर्वापर गण की परिगणना के अनुसार इस छन्द के सहस्रों भेद हो जाते हैं।[2] मात्राओं के भेद से जाति छन्द के गीति और उपगीति ये दो भेद होते हैं। गीति ही प्राकृत में उदगाथा के रूप में प्रसिद्ध है।[3]

वर्णिक छन्द

वर्णिक छन्दों में जाति छन्दों के विपरीत अक्षरों (गुरु और लघु) की संख्या तथा पौर्वापर्य क्रम नियत रहता है। स्वरों के आरोह और अवरोह के संदर्भ में वर्णिक वृत्तों का विकास त्रिकों के आधार पर हुआ है। प्रत्येक गण में लघु या गुरु तीन वर्ण होते हैं तथा प्रत्येक छन्द में दो या उससे अधिक निर्धारित गण होते है। इस प्रकार भरत ने आठ गणों की परिकल्पना की है—[4]

मगण (।। गुरुपूर्व), भगण (ऽ।।-गुरुत्रय) जगण (।ऽ। गुरुमध्य), सगण (।।ऽ अन्तगुरु), रगण (ऽ।ऽ-लघुमध्य) नगण (ऽऽ। अन्तलघु), यगण (।ऽऽ-लघुपूर्व), नगण (।।। लघुत्रय)। भरत

---

१ ना० शा० १५।१६६ २२७।

२ अ० भा० भाग २, पृ० २६२।

३ प्राकृत पिंगल, पृ० ६।

४ ना० शा० १५।८२-११३।

ने गुरु और लघु अक्षरो के लिए 'गल' प्रतीक का विधान किया है। 'ग' गुरु का और 'ल' लघु का बोधक है। उसी के आधार पर अक्षरो की सख्या निर्धारित होती है। अक्षरो की सख्या हीन या अधिक न होने पर छन्द सपद होता है। छन्द मे त्रिकों का समन्वय—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वर के तार, मध्य और मन्द्र तथा अक्षर परिगणना की दृष्टि से सम विषम और अर्धसम मे दृष्टिगोचर होता है।[1]

छन्दो की सख्या

भरत ने वदिक एव लौकिक छन्दो का वर्गीकरण तीन प्रधान गणो मे किया है—दिव्य-गण, दिव्येतरगण तथा दिव्यमानुष गण। दिव्य छन्दो के अन्तगत गायत्री अनुष्टुप और बृहती आदि सात छन्दो के त्रिक प्रस्तार, दिव्यतरगणा के अन्तगत अनिजगती, शक्वरी, अष्टि और अत्यष्टि आदि तथा दिव्यमानुष के अन्तगत कृति प्रकृति, अकृति आदि गणो के त्रिक प्रस्तार एव अक्षर सख्या आदि का स्पष्ट निर्धारण हुआ है। दिव्यगण मे अनुष्टुप का प्रयोग रामायण महाभारत एव अन्य ग्रथो मे प्रचुरता से हुआ। दिव्यतर श्रेणी के सभी छन्द लोक प्रचलित है। दिव्य मानुष श्रेणी के छन्द बहुत कम प्रचलित हैं। भरत एव अभिनवगुप्त के छन्द विवेचन के अनुसार वत्तो के भेद अनगिनत हो जाते हैं।

वृत्तों के विभिन्न वर्ग

इन विभिन्न वत्तों की परिगणना मुख्य वर्गो के अन्तगत भरत ने की है। गायत्री दिव्य वर्ग का छन्द है और अनुष्टुप भी। गायत्री के प्रत्यक चरण मे छ अक्षर होते हैं और अनुष्टुप के प्रत्यक चरण मे आठ। दिव्य वर्ग के अन्तगत गायत्री और अनुष्टुप आदि प्रधान छन्दो से अनकानेक लौकिक छन्द विकसित हुए। तनुमध्या, मकरशीर्षा, मालिनी और मालती (गायत्री), सिह लीला, मत्तचेष्टित विद्युन्माला, चित्तविलसित (अनुष्टुप) तथा दोधक, त्रोटक, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, रथोद्धता और शालिनी (त्रिष्टुप) आदि छन्द प्रचलित हैं। दोहा' दोधक ही विकसित रूप है। मूल वदिक छन्द ही है।[2] घोष महोदय तो इस छन्द को ईस्वीपूर्व छठी सदी का मानते हैं।[3] भरत का छन्दविवेचन बहुत विस्तृत और व्यापक है। लौकिक काव्य काल मे प्रचलित तोटक, वशस्थ, हरिणीप्लुत (द्रुतविलबित) अप्रेयया (भुजगप्रयात) शिखरिणी मदाक्रान्ता, शार्दूल विक्रीडित आदि सभी छन्दो का स्रोत प्राचीन वैदिक छन्दो मे उपलब्ध होता है।[4]

छन्दों के ललित नाम

भरत निरूपित छन्दो के नाम ललित एव कलात्मक हैं। उनके विश्लेषण से यह प्रमाणित होता है कि भरत-काल मे छन्दशास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था और छन्दशास्त्र प्रणेताओ पर काव्यकला की लालित्यपूर्ण दृष्टि का प्रभाव पूर्ण रूप से छाया था। अन्यथा इन्द्र

---

१ षड्विंशतिश्च वृत्तानामित्य चानतमुच्यते। अ० भा० भाग २, पृ० ४१।

२ ना० शा० १८।२ १०, छन्दसूत्र ६।२, १८।१७-२७, वृत्तरत्नाकर ३।२१ वाणीभूषण २।७६।

३ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, पृ० ७२४।१६२१।

४ ध्वन्यालोक १।५, छन्दसूत्र ६।१०, वृत्तरत्नाकर ३।३३ ३५।

वजा उपेन्द्रवजा विद्युल्लेखा (आकाशीय प्रकृति), सिंहलेखा हरिणीप्लुत, गजविलसित अश्वललित, शार्दूलविक्रीडित भ्रमरमालिका, मयूरसारिणी, भुजगविजृम्भित, क्रौंचपाद (पशु पक्षी प्रकृति) मालती मालिनी कुमुद विभा, कुवलयमाला (पुष्पप्रकृति), तनुमध्या, कामदत्ता, प्रहर्षिणी, स्रग्धरा सुवदना और श्रीधरा (नारी की कोमल सुदर प्रकृति) आदि विभिन्न छदों पर नामों की ये मोहन रग विभा कसे छाती।[1]

गायत्री से उत्कृति तक के विविध छदों का त्रिक प्रस्तार अक्षर निर्धारण, वर्ग एव गण आदि के सम्बन्ध म सारी विवेचना स्पष्ट एव पर्याप्त विस्तृत है। जो छद कभी वदिक ऋषियों की तप पूत वाणी को मधुमयता प्रदान करते थे, सहस्रों वर्षों बाद भी किंचित् स्वरूप-परिवतन कर वे छन्द रससिद्ध कवियों, नाटककारों और लोकगीत के गायकों के माध्यम से गगोत्री की भाँति अपनी निर्बाध यात्रा पर गतिमान् हैं।

छदों की रसानुकूलता

छदों के विवरण के सदभ म उनकी रसानुकूलता पर बल देते हुए यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि कौन वृत्त किस रस के लिए उचित है। आचाय अभिनवगुप्त की दृष्टि से छन्द हमारे चित्त परिस्पन्द सवेदना के प्रतिरूप हैं।[2] नाट्याथ रसानुकूल छदों के योग से समृद्ध होता है। शृगार रस के लिए आर्या जसा मृदु वृत्त और वीर रौद्र तथा अदभुत रसों मे लघु अक्षराश्रित छन्द भावाभिव्यक्ति के लिए सवथा उपयोगी होते हैं।[3] यों परपरा से भी शिखरिणी मनुष्य के प्रेम, आनन्द और उल्लास मदाक्रान्ता प्रेमी की विरहोत्कठा और शार्दूलविक्रीडित वीरता और ओजस्विता को रूपायित करने म पूण सक्षम माना जाता रहा है। भरत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि छन्द सरचना करते हुए उदार मधुर शब्द नाट्याथ को वसे ही दीप्त करते हैं जसे कमल फूलों से सरोवर शोभित होता है।[4]

भरत का नाट्यशास्त्र छन्दशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ तो नहीं है। परन्तु उन्होंने नाट्याथ के उद्योतक कुछ छदों की परिभाषा और उदाहरण देकर उस शास्त्र का व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने न केवल छन्दों का प्रतिपादन और उनकी रसानुकूलता का व्याख्यान किया अपितु विभिन्न प्रकार के शृगार प्रधान नाटक-प्रकरण और करुणविप्रलभ प्रधान रूपकों की दृष्टि म रखकर छन्दों की उपयुक्तता का विधान किया। लक्ष्य है नाट्याथ की समृद्धि और नाद-सौदय द्वारा सहृदय के हृदय म पूण रसोद्बोधन।

भरत न जिस युग म छन्द विधान किया था भारतीय नाट्यकला के गौरव का वह प्रखर मध्याह्न था। भरत सदियों तक नाट्यकारों और नाट्यशास्त्रियों की ही सृजन शक्ति और चिंतन पद्धति पर ही नहीं छाए रहे अपितु छन्दशास्त्र की परवर्ती परपराओं पर उनका अक्षुण्ण प्रभाव बना रहा। देश के सांस्कृतिक और राजनीतिक विघटन तथा मुस्लिम मतांधता ने इस कला को तजी

---

१ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर पृ० १३, एस० के० दे, इण्डियन कल्चर पृ० २७४, डी० सी० सरकार।

२ छन्द एव भवन्त्यष्ट शास्त्रे हास्ये वा यथायोग संवेदनरसान्वता धर्म्यं...रसचर्वणतो विभागो वृत्तानां मन्तव्य। अ० भा० भाग २, पृ० १४६।

३ ना० शा० १६।११३ ११०।

४ ना० शा० १६।१२१ १२७-२८।

से ह्रासोन्मुख होने के लिए विवश कर दिया। पुनरुद्धार के मंगल प्रभात का जब उदय हुआ तो भरत की नाट्यचिंतन परम्परा से हम सर्वथा अपरिचित नहीं बहुत दूर जा चुके थे। गत पांच दशकों में इब्सन और शॉ के नाट्य की नूतन पाश्चात्य शैली ने हमारी आज की नाट्य परंपरा को बड़े वेग और गहराई से प्रभावित किया है। उस अनुकरण की बाढ़ में आधुनिक भारतीय नाट्य से 'गीतितत्त्व' का बहिष्कार और तिरस्कार और जीवन की अनुरूपता के नाम पर गद्य हावी हो गया है। मानो जीवन की संवेदना और पीड़ा में गद्य ही हो, कवित्व की उष्मा और माधुर्य नहीं। पर अब जब बाढ़ उतरी है तो ऐतिहासिक और गीतिनाट्यों में 'गीतितत्त्व' का स्वागत हो रहा है और अन्य नाट्यविधाओं में भी संवेदना की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना के सहारे गीतितत्त्व की कोमल स्निग्ध छाया पसरती जा रही है। छन्द पुराने हों या नवीन पर यदि उनके माध्यम से मनुष्य की मनोवेदना अधिक हृदयग्राही और प्रांजल हो अभिव्यक्ति पाये, उसमें जीवन की उष्मा और माधुर्य का स्पर्श अधिक प्रभावशाली हो[1] तो निःसंदेह आज के इस कुण्ठाग्रस्त और तापतप्त जीवन में भी काव्य और नाट्यरचना के क्षेत्र में छन्द की संभावनाएँ महान् हैं।

लक्षण-विधान

लक्षण की परंपरा और पाठ भिन्नता

लक्षण प्राचीन भारतीय नाट्य एवं काव्य के महत्त्वपूर्ण अंग थे। नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में लक्षण की दो पाठ-परंपराएँ उपलब्ध हैं। काशी संस्करण में लक्षण अनुष्टुप छन्द में वर्णित हैं तो काव्यमाला और गायकवाड संस्करणों में उपजाति वृत्त में। इन दोनों में सत्रह समान हैं शेष एक दूसरे से भिन्न।[2] आचार्य अभिनवगुप्त ने उपजातिवृत्त में परिगणित लक्षणों को प्रामाणिक माना है तथा अनुष्टुप् छन्द में परिगणित शेष लक्षणों का उपजातिवृत्त में परिगणित लक्षणों में अन्तर्भाव किया है।[3] उपजातिवृत्त की परंपरा भट्टतोत से अभिनवगुप्त को प्राप्त हुई। धनंजय, कीर्तिधर और सर्वेश्वर प्रभृति आचार्यों ने उपजातिवृत्त तो शिंगभूपाल और विश्वनाथ ने अनुष्टुप परंपरा का अनुसरण किया। भोज ने दोनों परंपराओं का समन्वय कर चौंसठ लक्षणों का उल्लेख किया तो सागरनंदी तथा विश्वनाथ ने लक्षणों के अतिरिक्त तैंतीस नाट्यालंकारों की भी परिकल्पना की।[4] लक्षण की पाठ परंपरा में भिन्नता का समारम्भ भरत शिष्य कोटल द्वारा तथा नाट्यालंकार की परिगणना का प्रवर्तन मातृगुप्ताचार्य द्वारा हुआ।[5]

ये 'लक्षण अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वशाली काव्यांग थे। परन्तु कालान्तर में अलंकार एवं गुण पद्धति के विकास के कारण लक्षण पद्धति उत्तरोत्तर धूमिल पड़ती गई। स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने यह स्वीकार किया कि गुण, अलंकार रीति और वृत्ति आदि जिस

---

१ John Crusoe Ransom, Poems and Essays (New York Vintage Books 1955, p 156-57)

२ ना० शा० १६।५ ३६ (गा० ओ० सी०), काशी संस्करण, १७ ६ ४२।

३ अ० भा० भाग २, पृ० २०८ तथा पृ० २६४ पर रामकृष्ण कवि की पादटिप्पणी।

४ ना० ल० को० पं० १०३४ १८४०, सा० द० ६।२७।

५ अ० शा० पर राघव भट्ट की टीका, पृ० २०।

प्रकार प्रसिद्ध काव्यमार्ग हैं उस तरह लक्षण नहीं।[1] फिर भी भोज, शारदातनय, शिंगभूपाल, विश्वनाथ और राघव भट्ट प्रभृति आदि आचार्यों ने नाट्यलक्षण एवं नाट्यालंकार का विवरण प्रस्तुत किया है, उससे इसके महत्त्व का अनुमान किया जा सकता है।

भरत परिगणित लक्षण

अभिनवगुप्त की पाठ परंपरा के अनुसार निम्नलिखित छत्तीस लक्षण परिगणित हैं—भूषण, अक्षर संहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद अतिशय, सहेतु सारूप्य मिथ्याध्यवसाय सिद्धि पदोच्चय, आक्रन्द मनोरथ, आख्यान याञ्चा, प्रतिषेध, पृच्छा दृष्टान्त निर्भासन, संशय आशी प्रियोक्ति, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्तपन, अर्थानुवृत्ति उपपत्ति युक्ति, कार्य, अनुनीति और परिदेवन। इन लक्षणों से अन्वित काव्यबंध की रचना उचित होती है।[2]

लक्षणों की नामावली से ही यह स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के प्रभातकाल में लक्षण कितना व्यापक काव्याङ्ग था। उपजाति छन्द में परिगणित लक्षण नाट्य के संध्यंगों के सर्वथा अनुरूप हैं (प्रोत्साहन आख्यान, प्रतिबंध, क्षमा पश्चात्तपन अनुनय आदि) तो अन्य अनेक लक्षण अलंकारानुवर्ती हैं (संशय दृष्टान्त निदर्शन लेश और अर्थापत्ति आदि) और किंचित परिवर्तन के साथ अलंकारों के रूप में विकसित हुए। गुणानुवाद से प्रशंसा प्रशंसोपमा अतिशय से अतिशयोक्ति मनोरथ से अप्रस्तुत प्रशंसा मिथ्याध्यवसाय से अपह्नुति सिद्धि से तुल्ययोगिता तुल्य तर्क से रूपक और उपमा आदि अलंकारों का भाव साम्य है। भट्टतौत ने लक्षण अलंकारों के उद्भव विकास पर यह मत प्रकट किया है कि लक्षणों के बल से ही अलंकारों में वैचित्र्य का आविर्भाव होता है।[3] अभिनवगुप्त ने भी यह प्रतिपादित किया है कि कुछ लक्षण उक्तिवैचित्र्य रूप और अलंकार के अनुग्राहक होते हैं।[4] इससे यह प्रमाणित होता है कि लक्षणों का द्विविध व्यापक व्यक्तित्व था एक ओर वे नाट्य के संध्यंग रूप थे तो दूसरी ओर अलंकारानुवर्ती। दोनों रूपों में काव्य के अपृथक सिद्ध काव्यशोभाधायक महत्त्वपूर्ण का योग के रूप में प्रतिष्ठा पा रहे थे।

लक्षण और परवर्ती आचार्यों की मान्यताएँ

आचार्य भरत ने छत्तीस लक्षणों की परिभाषा प्रस्तुत की। उनकी शिष्य परंपरा एवं अन्य आचार्यों ने उन लक्षणों के स्वरूप का व्याख्यान किया। आचार्य अभिनवगुप्त ने उन समस्त मतों में से दस का आकलन किया। उन मतों का सार निम्नलिखित है[5]—

(क) लक्षण काव्य शरीर है। इसके द्वारा कथा शरीर में वैचित्र्य का आविर्भाव होना

---

१ तत्र गुणालंकार रीतिवृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धो मार्ग लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि।
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　अ० भा० भाग २, पृ० २६४।

२ ना० शा० १६।१२२।

३ संस्कृत पोएटिक्स, भाग २, पृ० ४८।

४ उपाध्यायमत तु लक्षणबलात् अलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। अ० भा० भाग २, पृ० ३११।

५ अ० भा० भाग २, पृ० २६५-६७।

है। ये लक्षण गुण और अलकार के बिना ही अपने सौभाग्य से शोभते है। यह अलकार के समान सौन्दर्याधायक तत्त्व है। यह काव्य शरीर की निसग (अपृथक सिद्ध) सुन्दरता है और पृथक सिद्ध अलकार कृत्रिम सुन्दरता। लक्षण अलकार की निरपेक्षता से सौन्दय का प्रसार करते हैं।

(ख) नाटयकथा के सध्यग रूप अश ही लक्षण हैं। लक्षण का सबध नाटकादि के इतिवत्त से है, काव्यमात्र से नही।

(ग) अभिधा का त्रिविध व्यापार (शब्द व्यापार, अभिधातृ व्यापार प्रतिपाद्य व्यापार) ही लक्षण का विषय होता है। कवि किसी विशिष्ट विचार और कल्पना को दृष्टि म रखकर काव्य की रचना करता है। वहाँ चित्तवत्त्यात्मक रस को लक्षित कर उन रसो को योग्य विभाव आदि के द्वारा वचित्र्य का सम्पादक यह त्रिविध अभिधा यापार लक्षण शब्द से अभिहित होता है। नारी के स्तनो के लिए पीवरता (मोटाई) सौदयाधायक लक्षण है पर मध्यभाग क लिए पीवरता तो कुलक्षण है। रसोचित विभावादि की यजना करने पर अभिधीयमान वस्तु शोभाधायक लक्षण के रूप म प्रयुक्त होती है। अयथा रसोचित न होने पर वही कुलक्षण हो जाती है।

लक्षण का व्यापक एव मौलिक स्वरूप

आचाय अभिनवगुप्त के मतानुसार इस शास्त्रीय 'लक्षण शब्द का लोकप्रचलित अथ से तादात्म्य है। लोक म पद्मरेखा आदि के अकित शुभचिह्नो से महापुरुष की महत्ता और सौभाग्य का सकेत मिलता है। शरीर से अपृथक ये लक्षण रत्ननिर्मित आभूषणो की अपक्षा अधिक महत्त्वशाली होते है क्योकि ये लक्षण तो अगभूत हैं और व आभूषण बाह्य अगो के शोभाधायक मात्र। काव्य और नाटय का यह लक्षण' कमल और ध्वज चिह्नो के अनुरूप नितात अगभूत है, शोभाधायक अलकारों के समान बाह्य उपादान मात्र नही। य अलकार और गुण की अपेक्षा किए बिना ही आत्मसौदय से प्रतिभासित होते हैं। किसी अय उपादान की अपक्षा किए बिना ही नाटय और काव्य मे शब्द और अथ का स्निग्ध ममस्पश होता है एक निसग सुन्दरता उद्भूत और अनुभूत होती है उस सौन्दय का हेतु रूप धम ही लक्षण होता है।[1]

यह लक्षण काव्य एव नाटय की आधार भूमि है भित्ति है। भित्ति भवन का आधार है। भवन निर्माण का समस्त सौन्दय तथा नाना वर्णों की मनोहर चित्र रचना उसी पर परिपल्लवित होती है। वह भवन अपनी उपयोगिता के कारण न केवल सुखदायक आवासमात्र ही होता है अपितु हृदय की कलात्मक वत्ति का अभिव्यक्ति रूप भी होता है सौन्दय-यजना का माध्यम भी होता है। काव्य और नाटय भी विशाल एव मनोहर अट्टालिका सदृश है। शब्द और छन्दविधान भूमि सदृश है। वत्त का समाश्रय ही क्षेत्र का परिग्रह है और लक्षणो की योजना भित्तिस्वरूप है। अलकार और गुण का निदेशन मनोहर चित्र रचना के तुल्य है। इसी चित्र-रचना द्वारा सौंदय का प्रकृत बोध होता है। अतएव लक्षण का महत्त्व समस्त काव्यागो से कही अधिक व्यापक एव मौलिक है।

समस्त अर्थालकारो के बीजभूत चमत्कारप्राण कथा शरीर को मनोहरता प्रदान करन

---

१ काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चिन् स्निग्ध स्पर्शोऽथ शब्दयो ।
य श्लेषादि गुण व्यक्ति दन स्याल्लक्षणस्थित । अ० भा० भाग २, पृष्ठ २९६।

वाले वक्रोक्ति रूप लक्षण शब्द से व्यवहृत होते हैं। लक्षण गुण और अलंकार की महिमा की अपेक्षा किये बिना ही काव्य की गरिमा का प्रसार करते हैं। अलकार रत्नाभरण के तुल्य है जिनके बिना पर अपने सहज सौन्दर्य से मनुष्य प्रतिभासित होता है। लक्षणरहित पुरुष सुन्दर नहीं कहा जाता। उसी प्रकार लक्षणरहित कथाशरीर गुण एव अलकारो स उज्ज्वल रहने पर भी नीरसता के कारण प्रौढ़ काव्य की गरिमा का सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। कथाशरीर म समृद्ध काव्यो मे ही लक्षण की महिमा समृद्ध होती है, मुक्तकादि खण्ड-काव्यो म नहीं, क्योकि भरत ने 'काव्यबधो' का षट्त्रिंशत् लक्षणान्वित विधान कर मुक्तक काव्य का निषेध कर दिया है ?[१] वास्तव मे लक्षण तो असख्येय हैं पर उनम अत्यधिक उपयोगी छत्तीस का ही भरत ने व्याख्यान किया। आचार्य अभिनवगुप्त ने उनकी गम्भीर मीमासा तथा खण्डन मण्डन कर एक दूसरे म अन्तर्भाव किया। अभिनवगुप्त की व्याख्या आचार्य भट्टतोत आदि महान काव्यमनीषियो की मौलिक समीक्षा पद्धति का परिचायक है, जिसम किसी युग म लक्षणो का महत्व समस्त काव्यागो म अत्यन्त उत्कर्षशाली था। वे कथाशरीर, काव्यशरीर के अपृथक अग और गुणालकारो के आधार के रूप में स्वीकृत थे। इस प्रकार लक्षणो ने समान रूप स नाट्य एव काव्य दोनो क्षेत्रो तक अपनी प्रभाव परिधि का विस्तार किया।[२]

लक्षणों का उत्तरोत्तर ह्रास

भरत कोहल, भट्टतोत और अभिनवगुप्त द्वारा 'लक्षण' का शास्त्रीय विवेचन व्यापक काव्याग के रूप मे किया गया। परन्तु काव्यशास्त्र के विकास क क्रम मे अलकार गुण और रीति आदि काव्यमार्गों के स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन की परपरा पुष्ट होती गयी, लक्षणो का वेग स ह्रास होने लगा। अलकारवादियों मे जयदेव ने दस लक्षणो का विवेचन करते हुए यह स्वीकार किया कि लक्षण अनन्त हैं पर अलकरानुवर्ती भी हैं।[3] भोज और शारदातनय न नाट्य क चौंसठ सध्यगो की तुलना म चौंसठ नाट्य लक्षणो की कल्पना की तो आचार्य विश्वनाथ और सागर नन्दी ने नाट्य लक्षण[४] और नाट्यालकार, दो पृथक काव्यागो का विवेचन करते हुए प्रतिपादित

---

१ काव्यबधास्तु कर्तव्या षट्त्रिंशत् लक्षणान्विता। ना० शा० १५।२२२।

२ It had its day when it loomed large in the field eclipsing Alankaras which were poor in number But gradually Laksana died in Alankar Sastra Some concepts of Alankar Sastra, p 2, V Raghavan

३ चन्द्रालोक तृतीय मयूख १।११।

४ भोज का शृङ्गार प्रकाश भाव प्रकाशन, पृ० २२४।

(क) अनुष्टुप् छन्द में वर्णित लक्षण—'भूषण', 'अक्षरसघात', 'शोभा 'उदाहरण', 'हेतु' सशय दृष्टान्त', 'प्राप्ति अभिप्राय', निदर्शन, 'निरुक्त', 'सिद्धि', विशेषण, गुणातिपात, 'अतिशय', तुल्य तर्क, 'पदोच्चय, दृष्ट उपदिष्ट, विचार, तद्विपर्यय, भ्रश (सयुत शारदातनय), 'अनुनय', माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति प्रसिद्धि, पृच्छा', 'सारूप्य', मनोरथ', लेश क्षोभ, 'गुण कीर्तन', अनुक्तसिद्धि, 'प्रियवचन'। रेखाङ्कित लक्षण उपजाति और अनुष्टुप में परिगणित समान हैं।

(ख) अभिमान (सारूप्य या सादृश्य) प्रोत्साहन (प्रियवचन), मिथ्याध्यवसाय (विचार और विपर्यय), आक्रन्द (तुल्य तर्क) आख्यानम् (गुणाख्यानम्), याचा (दाक्षिण्यम्), प्रतिषेध (लेश), निर्भासन

क्रिया कि गुण, अलकार, भाव और सन्धि मे उनका अन्तर्भाव हो सकता है। परम्परा निर्वाह तथा नाटय मे उपयोगिता के कारण उनका उल्लेख किया। आचाय धनजय सदियो पूव लक्षणो की अनुपयोगिता स्वीकार कर चुके थे।[1] परवर्ती काव्य एव नाटय शास्त्रियो न यदि लक्षणो एव नाटयालकारो का उल्लेख भी किया तो वह परम्परा निर्वाह मात्र है। किसी युग मे 'लक्षण' का व्यापक महत्त्व नाटय एव काव्य दोनो के लिए समान रूप से आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुआ पर काव्य शास्त्र के उत्तरोत्तर विकास के साथ लक्षणो का ह्रास भी हुआ और कालान्तर म लक्षण पद्धति सदा के लिए विलुप्त हो गई। यद्यपि भरत ने[2] लक्षण का विधान करते हुए निश्चित रूप से काव्य एव नाटय कथा के विराट क्षेत्र की परिकल्पना की तथा रसवादी भट्टतोत एव अभिनवगुप्त ने लक्षणो का तात्त्विक निरूपण किया। पर ह्रास की गति उत्तरोत्तर उन्मुख होती गयी।

अलकार

नाटयशास्त्र म भरत न 'लक्षणो' के उपरान्त अलकारो की विवेचना की है। लक्षणो की सख्या जहा छत्तीस है और भिन्न पाठ परम्पराएँ प्रचलित हैं वहाँ अलकार कुल चार ही परिगणित हैं तथा पाठभेद की कोई परम्परा नही है। नाटयशास्त्र के रचनाकाल म लक्षण पद्धति की तुलना मे अलकार पद्धति शशवावस्था म थी।[3] बाद म भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और रुय्यक आदि आचार्यो ने अलकार पद्धति को इतना व्यवस्थित और व्यापक शास्त्रीय रूप दिया कि लक्षण पद्धति काव्यशास्त्र से सवथा लुप्त हो गई। काव्यशास्त्र के अग के रूप मे अलकार शास्त्र के प्रथम प्रणता आचाय तो भरत ही थे।

अलकारो का उत्तरोत्तर विकास लक्षणो का दायित्व

भरत निरूपित अलकारो की विवेचना के सदभ म हमारा ध्यान लक्षणो की ओर जाता है। भरत ने इन लक्षणो से अलकार की पृथकता का प्रतिपादन तो नही किया परन्तु इनकी तुलना

(माला), आशी (निदशन), कष्ट (गर्हणम्), क्षमा (विशेषण) पश्चात्तापन (विचार), अथानुवृत्ति (अनुनय), उपपत्ति (उपदिष्ट), युक्ति (अभिप्राय), कार्य (अर्थापत्ति), अनुनीति (प्रसिद्धि), परिदेवन (अनुक्त सिद्धि, क्षोभ)। 'कोष्ठान्तगत लक्षणों का अन्तर्भाव अभिनवगुप्त ने उपजाति वृत्त में परिगणित लक्षणों म किया है।

(ग) भोजकल्पित नवीन लक्षण'—स्पृहा, परिवादन, उद्यम, छलोक्ति, काकु उन्माद, परिहास, विकत्थन, यदृच्छायोग वैषम्य, प्रतिज्ञान प्रवृत्ति—कुल बारह। (घ) शारदातनय कल्पित नवीन लक्षण—नय अभिज्ञान उद्देश, नीति अर्थविशेषण, निवेदन, परिहार आश्रय प्रहर्ष, उक्ति चेत्र—कुल ग्यारह। नीति से प्रहर्ष तक सा० द० नाट्यालकार के रूप म परिगणित हैं। (ङ) विश्वनाथ और सागरनदी द्वारा परिगणित नवीन नाट्यालकार गव आशसा, विसर्प, उल्लेख, उत्तेजन, साहाय्य उत्कीर्तन—कुल सात। भरत, भोज और शारदातनय द्वारा इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

१ लक्षणसन्ध्यग का यानि सालकारेषु तेषु हर्षोत्साहेषु अन्तर्भावान्न कीर्तिता दशरूपक ४।

२ Bharat himself seems to be conscious of this double personality of his laksanas Some Concept of Alankar Sastra, page 14

३ Concept of Alankar Sastra p 40 V Raghavan

त्मक अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि में अलंकार की अपेक्षा लक्षण व्यापक काव्यांग थे। लक्षण काव्य शरीर है, उसकी निजी सुन्दरता है। अलंकार की अपेक्षा किये बिना वह काव्य सौन्दर्य का साधक होता है। परन्तु काव्य अलंकार युक्त होने पर बिना लक्षण के सुशोभित नहीं होता। लक्षण काव्य शरीर के सामुद्रिक लक्षणों की तरह अंगभूत हैं और अलंकार रमणी के उज्ज्वल रत्नहारों के समान बाह्य शोभाधायक अंग हैं। रत्नहारों से सुन्दर रमणी के सुकुमार अंग सौन्दर्य मण्डित होते हैं, तदनुरूप लक्षण विभूषित काव्य या नाट्य शरीर के अंग प्रत्यंग को अलंकार और भी दीप्त करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया है कि अलंकारों द्वारा काव्य शरीर में जो शोभा का प्रसार होता है वह लक्षण की महिमा से ही।[1] वास्तव में इन लक्षणों में से कुछ तो अलंकारानुवर्ती हैं कुछ नाट्यकथानुवर्ती। उनमें से आशी, संशय, दृष्टान्त निदर्शन अर्थापत्ति हेतु और साम्य आदि अनेक लक्षण स्वतन्त्र रूप से अलंकार हो गये तथा अनेक ने अलंकारों के विकास में योग दिया। भामह से रुद्रट तक विकसित अलंकार पद्धति के विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भरत निरूपित लक्षणों ने अलंकारशास्त्र के व्यापक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।[2]

अलंकार की व्यापक शक्ति

भरत ने केवल चार अलंकारों का निरूपण किया था। पर भामह से अप्पय दीक्षित तक उनकी संख्या शताधिक हो गई। अलंकारों के उत्तरोत्तर विकास से भारतीय काव्यशास्त्र पर उसके व्यापक प्रभाव का समर्थन होता है। जहाँ परवर्ती कुछ आचार्यों ने अलंकारों की संख्या में वृद्धि की कल्पना में ही अपनी प्रतिभा का परिचय दिया वहाँ गम्भीर तत्त्वान्वेषी आचार्यों ने अलंकार को शास्त्र का व्यवस्थित रूप देकर काव्य की व्यापक शक्ति के रूप में उसे प्रतिष्ठा प्रदान की। दण्डी महिमभट्ट और वामन की दृष्टि में सौन्दर्य मात्र अलंकार है। वह शब्द, अर्थ या अभिव्यक्ति शैली का ही सौन्दर्य क्यों न हो! कवि के लिए अनुभूति या वस्तु ही नहीं उस अनुभूति को अभिव्यंजना प्रदान करने वाली शैली का भी महत्त्व है, जिससे वह अनुभूति प्रभावशाली और प्रीतिकर हो।[3] यह क्षमता अलंकार के व्यापक विधान से आती है। यह कविता को सवजन हृदय सवेद्य सहज सुन्दर रूप देती है। इसी रूप में ऐसा व्यापक सौन्दर्याधायक अलंकार काव्य की आत्मा रूप रस का समवाय सम्बन्ध से उपकारक होता है। यह कटक केयूर के समान बहिरंग प्रसाधन सामग्री नहीं अपितु सामान्याभिनय के अन्तर्गत परिगणित हाव भाव आदि की तरह आत्मकला के रूप में कविता का शृंगार करता है। आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्त ने प्रतिपादित किया है कि ऐसे रसाक्षिप्त अलंकार अस्थायी रूप से रसात्मकता प्राप्त कर लेते हैं जैसे बाल क्रीडा का नायक तत्क्षण राजा होता है। भरत काल में अलंकारों के सम्बन्ध में यह गम्भीर तत्त्वान्वेषी दृष्टि तो नहीं थी, परन्तु बीज रूप में सम्भवत अलंकार की व्यापक शक्ति से

---

१ अभिनव भारती भाग २ पृ० २९७, ३१७।

२ भोजराज शृंगार प्रकाश, पृ० ३५२ (वी० राघवन्), द्वितीय संस्करण।

३ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (दण्डी) सौन्दर्यमलंकार (वामन) चारुत्वमलंकार व्यक्तिविवेक पृ० ४, यावन्तो हृद्यावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तो लंकाराः। रुद्रट काव्यालंकार सार संग्रह पर नेमि साधु की व्याख्या, पृ० १४६।

वे परिचित अवश्य थे। अलकार विवेचना के अन्त में इस सत्य का सकेत उन्होंने किया है कि 'अथ क्रियापेक्षी लक्षणो (अलकारो मे भी) काव्य की रचना करनी चाहिये'। अर्थक्रिया से उनका सकेत काव्य के रस रूप काव्य आत्मा की ओर ही है। पर इसमे भी सन्देह नही कि अन्य अनेक आचार्यों ने अलकार पद्धति का विकास 'रस' से स्वतन्त्र रूप मे किया, जिसमे सवेदनाओ और मनोवृत्तियो के उद्भावन की अपेक्षा चमत्कार और असाधारणप्राणता को विशेष प्रश्रय दिया गया।[1]

भरत-निरूपित अलकार

भरत ने चार अलकारो की विवेचना की है जिनमे तीन—उपमा, रूपक और दीपक तो अर्थालकार है और यमक शब्दालकार। भरतकाल मे शब्दालकार और अर्थालकार की भिन्न परम्पराएँ तो विकसित नही हुई थी। हाँ, भामह द्वारा प्रस्तुत अलकारो की सूची के प्रसग मे इन दो भिन्न परम्पराओ का सकेत मिलता है जो निश्चय ही भरत की उत्तरकालीन हैं।[2]

उपमा—काव्य बधो मे गुण और आकृति के सादृश्य के आधार पर जो कुछ उपमित होता है भरत की दृष्टि से वही उपमालकार होता है। यह सादृश्य दो भिन्न वस्तुओ मे ही होता है। रमणी का मधुर स्निग्ध आनन और ज्योत्स्ना मण्डित चन्द्र दो भिन्न वस्तुओ मे आह्लादकता का सूत्र समान रूप से वर्तमान है। इस उपमा का विस्तार विषय की दृष्टि से प्रधान रूप से पाँच रूपो मे होता है—प्रशसा मे प्रशसोपमा निन्दा मे निन्दोपमा कल्पना मे कल्पितोपमा, सादृश्य मे सदृशोपमा और किंचित् सादृश्य मे किंचित् सदृशोपमा। भरत ने इन उपमाओ के शृगार रसपूर्ण उदाहरण दिये हैं।[3] परवर्ती भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और रुय्यक आदि ने सादृश्य के सूक्ष्म कल्पना-तरग रगो की छायाओ के आधार पर अनेक मौलिक अलकारो की कल्पना की उनसे भरत अपरिचित हैं।[4] उपमा अलकार के उद्भव का इतिहास तो यास्क के निरुक्त से पूर्व वैदिक मन्त्रो से आरम्भ होता है (मातेव पुत्र प्रमना उपस्थे, अथर्वकाण्ड २।२८, वाचमिव वक्तरि भुवनष्ठा, अ० काण्ड १ १)। परन्तु भरत ने सर्वप्रथम उसे शास्त्रीय रूप देकर प्रधान भेदो का निर्धारण किया और उसके आधार पर अनेक अलकार विकसित हुए। सन्देह भ्रान्तिमान अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशसा, अपह्नुति, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि उपमालकार के ही विस्तार हैं।[5] अप्पय दीक्षित ने उपमालकार की बडी रमणीय कल्पना की है—उपमा रूपी एक नाटक स्त्री काव्य रग मे विभिन्न भूमिकाओ मे अवतरण करती हुई विद्वानो के चित्त का अनुरजन करती है।[6] उपमालकार कालिदास की प्राञ्जल सवेदनशील अभिव्यक्ति शैली का आधार रहा है। भारतीय कविता के सौन्दर्य सृजन मे उपमालकार ने महत्वपूर्ण योग

१ अलकारा नराधि हि निरूप्यमाण दुर्घटना यपि रसममाहित चेतस प्रतिभानवत कवे अहपूर्विकया परापतन्ति। ध्वन्यालोक पृ० ८६-८७।

२ काव्यालकार—भामह, १ १५।

३ ना० शा० १६।४१ ४१ (गा० ओ० सी०)।

४ काव्यालकार २।३७, भामह काव्यादर्श २।३० ३१, दण्डी काव्यालकार सूत्र वृत्ति ४ २।२ वामन।

५ अ० भा० भाग २, पृ० ३२१।

६ उपमैका शैलूषी सप्राप्ता चित्रभूमिका भेदात्।
रजयति काव्यरगे नृत्यन्ती तद्विदा चेत। कुवलयानन्द चित्रमीमासा।

प्रदान किया है। ऋग्वेद काल से आज तक शब्दालंकारिक अभिव्यक्ति की उनकी शैली व्यापक रूप से प्रभावित करती आयी है।

दीपक और रूपक का विवेचन भरत ने उपमा की तरह न कर अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है। रूपक में विविध सादृश्य और 'अवयवों' की गुणता का कथन किया गया है। भरत ने परवर्ती समस्त देश विवर्ती और एकदेश विवर्ती नामक भेदों का आधार प्रस्तुत कर दिया है। दीपक में एक अर्थ के द्वारा अनेक अर्थों का प्रकाशन दीपक की भाँति होता है। भरत ने इन दोनों अलंकारों के भेदों का कथन नहीं किया है। संभव है उपमा के बाद इनका उल्लेख हुआ हो।[1]

यमक अलंकार के विस्तृत विवेचन द्वारा शब्दालंकार का मानो शिलान्यास ही भरत ने किया। पादान्तयमक, काञ्चीयमक, समुद्गयमक, विक्रान्तयमक, चक्रवालयमक, सन्दष्टयमक, पादादियमक, आम्रेडितयमक, चतुर्व्यवसितयमक और मालायमक ये दस भेद सोदाहरण परिगणित हैं। काव्य या नाट्य के वाक्य विन्यास में नाद-सौन्दर्य के लिए कभी पाद का आरम्भ, कभी अन्त और कभी चारों पादों की आवृत्ति होने पर यमक होता है।[2] भामह ने इनमें परस्पर अन्तर्भाव कर केवल पाँच 'यमक' ही स्वीकार किए हैं। भरत प्रतिपादित भेदों ने दण्डी, अग्निपुराण, भामह, भट्टि आदि आचार्यों द्वारा कल्पित भेदों के लिए आधार प्रस्तुत किया।[3] प्राचीन आलंकारिकों में केवल उद्भट ने ही यमक को स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः यमक अलंकार प्राचीन काल से काव्य में बहुत लोकप्रिय रहा है। वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड के पाँचवें सर्ग में 'यमक' का कुशल प्रयोग किया गया है।[4] द्वितीय शताब्दी में लिखित रुद्रदामन के शिलालेख पर उसका पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।[5] कालिदास ने रघुवंश के नवम सर्ग में अपनी यमक प्रियता का परिचय दिया है। उनका पदानुसरण करते हुए भारवि और माघ ने यमक प्रयोग में अपनी विदग्धता का परिचय दिया। रीतिकालीन हिन्दी कवियों के लिए नाद-सौन्दर्य और चमत्कारप्रियता की दृष्टि से यमक अत्यन्त लोकप्रिय अलंकार बना रहा। इस अलंकार का विकास नाद-सौन्दर्य सर्जक काव्यतत्त्व के रूप में अनेक रूपों में हुआ। लाटानुप्रास और अन्त्यानुप्रास का विकास इसी से हुआ।[6] नाद-सौन्दर्य द्वारा काव्य के अलंकरण की यह प्रवृत्ति कालिदासोत्तर भारतीय कविता में विशेष रूप से पल्लवित हुई। इस प्रवृत्ति के विरोध में आचार्य आनन्दवर्द्धन इस बहिरंग सौन्दर्य प्रवृत्ति को रसानुवर्ती नहीं मानते तथा आचार्य मम्मट यमक को इक्षुदण्ड की ग्रंथि की तरह रसानुभूति का विच्छेदक मानते हैं।[7] काव्य के सौन्दर्यबोधक उपादानों की समीक्षा ज्यों-ज्यों तात्त्विक होती गयी शब्दालंकार का महत्त्व क्षीण होता गया।

---

१ नाट्यशास्त्र १६।४३-५८ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० १६।५९-८६ (गा० ओ० सी०)।

३ का० अ० २।१०, भामह, भट्टिकाव्य १०।२-३, काव्यादर्श ३।१-७८, दण्डी अग्निपुराण ३४१।१२-१७।

४ वा० रा० सुन्दरकाण्ड ५।५६।

५ पारस धारस विभाग, रुद्रदामन् का शिलालेख, पृ० ३।

६ म० भा० भाग २, पृ० ३२६।

७ ध्वन्यालोक २।१६, का० प्रकाश, पृ० ४०४ तथा हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, एस० के० दे, पृ० ७।

उपसंहार

परवर्ती काल में शब्दालंकार और अर्थालंकार की दो भिन्न परम्पराएँ विकसित हुईं। नाट्यशास्त्र में वह परम्परा स्पष्ट नहीं है। भरत द्वारा यमक के व्याख्यान के प्रसंग में 'शब्दाभ्यास' के प्रयोग द्वारा इन दो भिन्न परम्पराओं का बीजवपन कर दिया था। शब्द और अर्थ के आधार पर अलंकारों के विभाजन की परम्परा का आरम्भ भामह के बाद दण्डी ने किया। निःसन्देह इन चार अलंकारों के विवेचन में परवर्ती अनेकानेक शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की सम्भावनाएँ वर्तमान थीं। भरत ने इन चार अलंकारों का विवेचन नाट्यलक्षणों तथा नाट्यालंकारों से पृथक् किया था। नाट्यशास्त्र की परम्परा के नाटक लक्षण रत्नकोष, दशरूपक, नाट्यदर्पण, रसार्णव सुधाकर और भावप्रकाशन आदि ग्रंथों में काव्यशोभाविधायक इन अलंकारों का उल्लेख तक नहीं है। सागरनन्दी ने तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि काव्यशोभाविधायक अलंकार और नाट्यालंकार एक दूसरे से पृथक् हैं। उपमा आदि अलंकार काव्यशोभा और नाट्यालंकार नाट्यशोभा के अनुबंधी हैं।[1] नाट्यशास्त्र नाट्यविधा का ग्रंथ होकर भी अलंकारशास्त्र का महान् उपजीव्य ग्रंथ है। अलंकारशास्त्र के उद्भव और विकास में इन प्रमुख चार अलंकारों के अतिरिक्त छत्तीस लक्षणों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। भरत ने मूल रूप से चार अलंकारों के विवेचन द्वारा जिस काव्यमार्ग का शिलान्यास किया, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, रुय्यक, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने अपनी प्रतिभा के योग से उसे पूर्णतया विकसित किया।

दोष-विधान

दोषों की परम्परा

आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय के अन्तर्गत दस काव्य दोषों का विवेचन शास्त्रीय पद्धति में किया। इससे यह सिद्ध होता है कि भरत के पूर्व से ही दोषों की प्राचीन परम्परा वर्तमान थी। इस सन्दर्भ में हमारा ध्यान गौतम के न्यायसूत्र, अर्थशास्त्र, महाभारत और जैनागम आदि की ओर जाता है। इनमें जिन सामान्य दोषों का विवेचन है उन्हीं के आधार पर काव्य दोषों का निर्धारण हुआ। काव्य दोषों के उद्भव और विकास के इतिहास में भरत ही काव्य दोष के प्रथम प्रवर्तक हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसके बहुविध स्वरूपों का विस्तार किया।

गौतम का न्यायसूत्र

गौतम के न्यायसूत्र में शब्द प्रमाण के प्रसंग में अनृत, व्याघात और पुनरुक्त तथा निग्रह स्थान के सन्दर्भ में अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक और पुनरुक्त नामक दोषों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'व्याघात' भामह और दण्डी तथा 'एकार्थ' तो इन दोनों तथा भरत द्वारा भी स्वीकृत है। निग्रह स्थान के पाँचों दोष भरत द्वारा स्वीकृत हैं, तथा भामह दण्डी ने भी कुछ परिवर्तन कर प्रतिपादन किया है। न्यायसूत्र में 'पुनरुक्त' और 'व्याघात' नामक दोषों की

---

१ उपमादय एव काव्यशोभानुबन्धिनोऽलंकाराः कथिताः। नाटक लक्षण रत्नकोष, पृ० १७८६ तथा अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ६५, वी० राघवन्।

अनित्यता का कथन कर परवर्ती काव्यशास्त्र में प्रतिपादित शब्द की अनित्यता के महत्वपूर्ण सिद्धान्त का बीजवपन किया।[1]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अकान्ति, व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द और संप्लव ये पाँच शासन लेख और रचना के सन्दर्भ में उल्लिखित हैं। कान्ति और मन्त्र का सम्बन्ध लगाया गया है। शेष दोषों का उल्लेख किंचित् नाम एवं स्वरूप परिवर्तन के साथ भरत एवं परवर्ती काव्यशास्त्र में मिलता है।[2]

महाभारत और जैनागम

महाभारत के शान्तिपर्व में सुलभाजनक संवाद में अपार्थ, भिन्नार्थ, न्यायविरुद्ध, अश्लक्षण, संदिग्ध, अनृत, न्यून, अहेतुक, कष्टशब्द, संक्षेप और निराकरण आदि अनेक दोषों का उल्लेख है। भरत के न्यायादपेत, गूढार्थ और भिन्नार्थ आदि दोष न्यायविरुद्ध और संदिग्ध आदि के निकटवर्ती हैं।[3] अनुयोगद्वार नामक जैनागम में बत्तीस दोषरहित जो वाक्य को 'सूत्र' माना है। इन बत्तीस दोषों में कुछ आचार सम्बन्धी कुछ तर्क सम्बन्धी और कुछ साहित्य सम्बन्धी हैं। जैनागम के प्रधान साहित्यिक दोष निम्नलिखित हैं—अनृत, निरर्थक, पुनरुक्त, व्याहत, क्रमभिन्न, वचनविहीन, विभक्तिभिन्न[4], लिंगभिन्न, यतिदोष, उपमारूपक दोष, छविदोष और पदार्थ दोष। इन सभी दोषों का भरत एवं अन्य काव्यशास्त्रियों ने उल्लेख किया है। छविदोष और उपमारूपक आदि दोषों का उल्लेख जैनाचार्यों की समीक्षात्मक साहित्यिक दृष्टि का स्पष्ट संकेत करते हैं।

भरतनिरूपित दोषों का स्वरूप

भरत ने निम्नलिखित दस दोषों का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में किया है—

गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसंधि, पदच्युत।

गूढार्थ' पर्याप्त स्पष्ट है, भरत ने 'पर्याय' शब्द द्वारा इसकी व्याख्या की है। संभव है इसी आधार पर पर्यायोक्ति अलंकार का विकास हुआ हो, जिसमें शब्दों का अर्थ अत्यन्त गूढ होता है। भरत की दृष्टि से नाट्य प्रयोग में गूढार्थता बाधक होती है। यही कारण है भरत ने गूढशब्दार्थहीनता का स्पष्ट विधान किया है। भामह ने भी 'गूढशब्दाभिधान' नामक दोष का उल्लेख किया है। अर्थान्तर दोष का सम्बन्ध रचनान्तर्गत प्रतिपाद्य विषय और रस से है। वर्ण्य वस्तु का औचित्य इन दोनों के सन्दर्भ में ही निर्धारित होता है। अवर्ण्य का वर्णन ही अर्थान्तर होता है। महिमभट्ट ने इस व्यापक दोष को दृष्टि में रखकर अवाच्यवचन और वाच्यअवचन

---

१ गौतम का न्यायसूत्र २।१।५७ ५८ ५।२।
२ अर्थशास्त्र ५।२।१०।
३ महाभारत शान्तिपर्व अ० ३२०।८७ ९०।
४ अनुयोगद्वार सूत्र, पृ० २४२।

आदि दोषा का उल्लेख किया है। अर्थहीन का सम्बन्ध अर्थ की असम्बद्धता या बहुलता से है। भामह और दण्डी ने इसे ही अपार्थ दोष माना है। भिन्नार्थ म या तो अविवक्षित अर्थ का कथन होता है या ग्राम्य शब्द का प्रयोग होता है। भोज ने पदन्दोष के अन्तगत विरुद्ध अभिहित के रूप म इसका उल्लेख किया है। एकार्थ दोष पुनरुक्त का पर्याय मात्र है, भामह और दण्डी ने भी इसका उल्लेख किया है। अभिप्लुतार्थ दोष स्पष्ट नही है। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रत्येक पाद म अर्थ समाप्त होने पर यह दोष होता है। वी० राघवन् के अनुसार 'सशय' की परम्परा का यह दोष है।

न्याया(द)पत दोष लोक परम्परा का विरोध होने पर होता है। भामह ने इसके मूल भाव के आधार पर देश, काल कला, न्याय आगम विरोधी तथा प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तहीन दोष की कल्पना की है। वामन ने 'विद्याविरुद्ध' और 'लोकविरुद्ध' तथा भोज ने विरुद्ध' नामक दोष का विधान किया है। विषम नामक दोष का सम्बन्ध वृत्त के अनुचित प्रयोग से है और विसधि का दोष पूर्ण सधियो से। शब्दच्युत दोष बहुत व्यापक है। उचित शब्दो के प्रयोग न होने से विवक्षित भावो के प्रकाशन न होने पर यह दोष होता है। इसके अन्तगत अनुचित शब्दो तथा व्याकरण सम्बन्धी दूषित प्रयोगो का अन्तर्भाव होता है। ऐसे प्रयोग रस और अर्थ की दृष्टि से अपशब्द ही होते हैं।[1] कुन्तक की दृष्टि से अन्य अर्थों के रहने पर भी विवक्षित अर्थ का वाचक होने पर ही वह शब्द होता है और अर्थ तो सहृदय के हृदय म आह्लाद के स्पन्दन से ही सुन्दर होता है। शब्द म समस्त उचित काव्य सामग्री का अभिधान होता है। तदनुरूप शब्द का प्रयोग न होने पर अशब्द योजना होती है और शब्दच्युत दोष होता है। यद्यपि भामह और दण्डी इसे व्याकरण सम्बन्धी दोष मानते हैं, पर परवर्ती काल म इसका विस्तार अर्थदोष की दृष्टि से बहुत व्यापक हो गया है।[2]

कुछ अन्य दोष

नाट्य सिद्धि के प्रसङ्ग मे भरत ने कुछ स्थूल दोषो का पुन उल्लेख किया है। वे निम्न लिखित हैं—पुनरुक्त, असमास, विभक्ति विसधि, अपार्थ, त्रिलिंगज, प्रत्यक्ष परोक्ष समोह, छन्दोवृत्त त्याग गुरुलघुसकर और यति भेद। पुनरुक्त और अपार्थ तो एकार्थ और व्यर्थान्तर के पर्याय हैं। विसधि की परिगणना पुन की गई है। शेष सभी दोषो को व्याकरण और छन्द सबधी दोषा मे पृथक पृथक परिगणित कर सकते हैं। असमास, विभक्ति, विसधि, त्रिलिंगज प्रत्यक्ष-परोक्ष समोह (काल) व्याकरण सम्बन्धी दोष हैं। छन्दोवृत्तत्याग, गुरुलघुसकर और यतिभेद ये तीनो ही दोष छन्द-सम्बन्धी सभी दोषा का अन्तर्भाव कर लेते हैं।[3]

भरत के दोष विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द का साधु प्रयोग, अर्थ की रमोचित योजना और छन्द का रसानुवर्ती विधान होने पर ही काव्य रचना निर्दोष हो सकती है। निर्दोष काव्य में ही गुणाधान और अलकार का प्रयोग सभव है। भरतकाल मे दोषों का शब्द और अर्थ

---

१ ना० शा० १६।८८ ६४, भामह काव्यालकार १।४८, सरस्वती कठाभरण १।११।

२ वक्रोक्तिजीवितम्।

३ ना० शा० २७ ३० ३२ का० स०।

म विभाजन तो नहीं हुआ था पर दोषों की परिगणना से इस विभाजन की अस्पष्ट संभावना परिलक्षित होती है।[1]

दोष का उत्तरोत्तर विकास और स्वरूप

भरत ने गुणों के व्याख्यान के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण विचार का प्रतिपादन किया है कि दोष विपर्यस्त होने पर गुण होते हैं। पर गुणों का पृथक प्रतिपादन करते हुए यह निर्धारित नहीं किया कि कौन गुण किस दोष का विपर्यय है? दण्डी, भामह, वामन और भोज ने[2] दोष गुण विपर्यय के सिद्धान्त का उपबृंहण कर यह निर्धारित किया कि कौन दोष किस गुण का विपर्यय है। दण्डी के अनुसार गुणों की समृद्धि तो वैदर्भी में परिलक्षित होती है उनके विपर्यय तो गौडी में प्राप्त होते हैं।

दण्डी के अनुसार

गुण	तद्विपर्यय
श्लेष	शैथिल्य
प्रसाद	अनतिरूढ
माधुर्य	ग्राम्यता (शब्द अर्थ)
सुकुमारता	निष्ठुरता दीप्तत्व कृच्छ्रोद्यत्व।
अर्थव्यक्ति	नेयार्थ
कान्ति	अत्युक्ति

भोज के अनुसार

गुण	विपर्यय	
श्लेष	शैथिल्य	शब्दप्रधान विपर्यय
समता	विषमता	
सौकुमार्य	कठोरता	अर्थप्रधान विपर्यय
प्रसाद	अप्रसाद	
कान्ति	ग्राम्यत्व	
ओज	असमासत्व	उभयप्रधान विपर्यय
माधुर्य—	अनिर्व्यूढत्व	
औदार्य—	अलंकार	

दोष और आचार्यों की सूक्ष्म चिन्तन पद्धति

इस विपर्ययवाद के मूल में 'निर्दोषता ही सौन्दर्य है' 'दोषाभाव ही गुण है' जैसे विचार विदुओं की प्रेरणा काम करती है। क्योंकि दोष तो तुरत ही लक्षित होता है और गुण प्रयास द्वारा। दण्डी का यह कथन नितान्त उचित है कि काव्य में किंचित् भी दोष की अवहेलना न करनी चाहिए। सुन्दर तन भी कुष्ठ के जरा-से दाग से अशोभन मालूम होता है।[3] 'दोषहान और विपर्ययवाद' की मूल विचारधारा से ही दोषों की अनित्यता का सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में विवेचना का महत्त्वपूर्ण विषय बना रहा।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने दोषों का व्याख्यान करते हुए इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया कि परिवेश विशेष में दुरुक्त भी शोभन होता है, जैसे माला में नीलपलाश सुन्दर मालूम पड़ता है। सुन्दर आधार रहने पर असाधु भी मनोहर लगता है। कामिनी के विशाल चंचल नयनों में मलिन अंजन भी प्रीतिकर मालूम पड़ता है। 'आपाण्डु गण्ड' में आपाण्डु शब्द

१ एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। ना० शा० १७।९५ का० स०।

२ का० आ० १।४१-४५, ३।७३३ का० अ० सू० २।२, भोजराज शृंगार प्रकाश, पृ० २३७।

३ दोषहान गुणादान अलंकार योग रसावियोगश्च भवति। भोजराज शृंगार प्रकाश, पृ० २७८। का० अ० सू० २।१।३ का० प्र० २।२।, तदल्पमपि नोपेक्ष्य काव्ये दुष्टं कथंचन। का० आ०।

के बल से 'गण्ड' जसा शब्द भी सुन्दर प्रतीत होता है।[1] दण्डी ने इसका विस्तार करते हुए प्रतिपादित किया कि अवस्था भेद से 'विरुद्धार्था भारती' भी अभिमत होती है। ध्वनिकार आनन्दवद्धनाचाय ने विवक्षित अथ की अप्रतीति को ही दोष का आधार मानकर, श्रुतिदुष्ट, अथदुष्ट और कल्पनादुष्ट आदि दोषो को कवल ध्वन्यात्मक शृंगार के लिए हेय प्रतिपादित किया। अन्यत्र रौद्र और वीर आदि म वे गुण होते ह। ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित 'दोषो की अनित्यता' का आचाय मम्मट न और भी विस्तार किया[2]। उनकी दृष्टि स वक्ता, प्रतिपाद्य, विषय, प्रकरण, वाच्य और व्यग्य आदि की महिमा स दोष भी गुण होता है, कही वह न गुण होता है न दोष ही। आचार्यों म केवल अग्निपुराणकार ने ही दोष विपयय के सिद्धान्त का स्पष्ट विरोध किया कि दोषाभाव हा गुण होता है'। उनकी दृष्टि से गूढाथ आदि दस दोष श्लेष आदि दस गुणो स परस्पर सबद्ध नही हैं। अन्यथा भामह, दण्डी, भोज, आनन्दवद्धन, मम्मट और महिमभट्ट प्रभृति आचार्यों ने दोषहान' दोषराहित्य, दोष विपययवाद तथा दोषो की अनित्यता के सिद्धान्त का उपबृहण किया। इन आचार्यों की दृष्टि से परिस्थितिवश दोष भी गुण हो जाते हैं। भरत द्वारा प्रतिपादित दोषविपयय के सिद्धान्त को महिमभट्ट ने विशेष रूप से परिपल्लवित किया और अनौचित्य को ही प्रधान दोष माना। महिमभट्ट दोष निरूपण क महान् प्रवतक म थे। उनके अनौचित्य का आधार भरत के न्यायापेत जसे व्यापक दोषो म उपलब्ध होता है।

उपसहार

भरत निरूपित दोषो के वर्गीकरण और निरूपण ने परवर्ती आचार्यों को 'दोषहान', गुण-विपयय' तथा दोषो की अनित्यता तथा अनौचित्य जसे विचारो के उपबृहण की प्रेरणा दी। भरत ने अलकार-दोष की परिकल्पना नही की क्योकि उनके काल म अलकारो की सख्या सीमित थी। अन्यथा दोष-सम्बन्धी सभी विचारतत्त्व मूल रूप म उपलब्ध हैं। आचाय विश्वनाथ ने अदोषत्व' का निषेध कर कोई मौलिक चिन्तन नही प्रस्तुत किया था, क्योकि भरत न स्पष्ट रूप से सवथा निर्दोषिता का निषेध कर दिया था।[3]

गुण-विधान

गुण की परम्परा

काव्यगुणो का शास्त्रीय रीति से विवेचन भरत ने ही सभवत सवप्रथम आरम्भ किया था। पर भरत के पूव भी प्राचीन भारतीय ग्रथो म अनेक साहित्यिक गुणो का उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि स रामायण, महाभारत, अथशास्त्र और जनागम जसे उपजीव्य ग्रन्थ विशेष रूप से उपादेय हैं। रामायण के आरम्भ मे रामकथा वणन के सदभ म 'उदार' और 'मधुर' तथा किष्किधा काण्ड म राम द्वारा हनुमान की वाणी की प्रशसा म 'असदिग्ध', 'अविस्तर', 'सस्कार

१ का० अ० (भामह) सन्निवेश विशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नील पलाशमाबद्धमन्तराल स्रजामिव।

२ वक्तृ प्रतिपाद्य व्यग्य वाच्य प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुण। का० प्र० ७।५६।

३ सर्वथा निर्दोषस्य एकान्त सभवात् सा० द० ७।३२ नाट्य प्रकृतौ दोषानात्य(त्य)र्थतो भाषा। ना० शा० २७।४७।

क्रम सप न तथा हृदयहारी' गुणो का विशेषण के रूप मे प्रयोग हुआ है। 'विस्तार' और सदेह व' दोष के रूप म अलकार शास्त्र मे परिगणित है। 'सस्कार क्रम सप नता' का अभाव ही भरत का शब्दच्युत दोष है। 'उदार और 'मधुर' गुणो का उल्लेख भरत एव अ य आचार्यों ने किया है।[१] महाभारत मे 'विचित्रपदत्व', 'श्रुतिसुख', 'मधुर' और 'अथवत्' आदि गुणो का उल्लेख है।[२] अथशास्त्र म 'अथक्रम', सबध', 'परिपूणता', 'माधुरी', 'उदारता' और 'स्पष्टत्व' आदि लेख सपत् रूप गुणो का वणन मिलता है।[3] औदाय और मधुर गुणो की परिभाषाए भरत के नाटयशास्त्र की परम्परा मे है। प्रसिद्ध जैनागम अनुयोग द्वार सूत्र मे निर्दोष', सारवत्', हेतुमत्' अलकृत', 'उपनीत', सोपचार', मित' और मधुर' ये आठ गुण परिगणित हैं।[४] एक अ य जैनागम राजप्रश्नीय म सत्य वचन क पतीस अतिशेषा म 'सस्कारवत्व' (शब्दशुद्धि) 'उदात्तत्व (उदात्त गुण) 'उपचारोपेतत्व' आदि शब्दगुण तथा 'महाथ' (उच्च विचारयुक्त), 'अव्याहृत, पौर्वापय', 'असदिग्ध देशकाल युत (देशकालाविरोधी) अतिस्निग्ध मधुर', उदार' (अत्युच्चाथ प्रतिपादक) तथा ओजस्वी' आदि आय गुण प्रधान हैं। भरत निरूपित का य गुणो से इनकी भावना का साम्य है।[५]

सस्कृत के प्राचीन कवियो—अश्वघोष, कालिदास भारवि यशोवर्मा, भट्टि और माघ की महान् काव्य कृतिया तथा गिरिनार जसे प्राचीन अभिलेखो म स्फुट, लघु चित्र मधुर, का त और उ गर आदि गुणो का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जो भरत निरूपित गुणो की परपरा मे हैं।[६] पर तु काव्य गुणा के शास्त्रीय विवेचन की परम्परा म विकास के चरण गतिमान् होत मालूम पडते हैं। वामन, आनदवद्धन अभिनवगुप्त और मम्मट की प्रतिभा की प्रेरणा से। वामन द्वारा '*शब्दाथ मे गुणविभाजन की परपरा का एक ओर प्रवतन हुआ तो दूसरी ओर आचाय* आन दवद्धन द्वारा रसाश्रित गुण सिद्धा त की कल्पना मूर्तिमान् हुई। दोनो परम्पराओ के विचार-तत्त्व भरत निरूपित काव्य-गुणो मे वतमान थे। नाटयप्रयोग (वाचिक अभिनय) की दृष्टि मे रखकर प्रवत्त यह गुणसिद्धान्त काव्यशास्त्र की दो प्रधान परपराओ (रीतिवादी और रसवादी) को प्रभावित करने मे समथ हुआ।

दोषाभाव और गुण

भरत ने दस गुणा का व्याख्यान करत हुए गुणा को दोषो के विपयय के रूप म प्रतिपादित

---

१ ना० शा० १।२।४२ ४३, ४।२।३२ ३३ (मद्दो गीतस्य माधुयम्, अविरलरमसदिग्धम्)

२ महाभारत आदिपर्व—तन्त्राख्यान विशिष्ट विचित्रपद पवयु २४।१ वचन मधुर मधुसूदन, ६२५२ २००।५६।

३ अथक्रम सबध परिपूणता माधुर्य औदार्य स्प० त्वमिति लेख सपत्, अर्थशास्त्र १०।८०-८१।

४ अनुयोगद्वार सूत्र हेमच द्र सूरि विरचित वृत्ति, पृ० २४३।

५ श्री राजप्रश्नीय सूत्र मलयगिरीया वृत्ति पृ० स० १२।

६ (क) महाक्षत्रप रुद्रदामन का प्रस्तराभिलेख।
(ख) बुद्धचरित १।५६, ५।७८, ७।५०।
(ग) किरातार्जुनीयम् २।२७, १४।४१।
(घ) शिशुपाल वधम् १२।१५।
(ङ) रामाभ्युदय (यशोवर्मा) भोजाय शृगार प्रकाश पृ० २६१ वी० राघवन्।

किया है।[1] भरत की इस मान्यता का समर्थन दण्डी भोज, वामन, महिमभट्ट, आनन्दवर्द्धन, मम्मट और आचार्य विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियो ने किया। इस मान्यता का विकास 'विपर्ययवाद' तथा 'दोषो की अनित्यता' के रूप मे हुआ।[2] यद्यपि अग्निपुराणकार ने 'दोषाभाव रूप गुण' की मान्यता का स्पष्ट विरोध किया, क्योकि माधुर्य और औदार्य गुणो के अभाव रूप दोष भरत निरूपित दोषो म उपलब्ध नही होते।[3] सम्भवत भरत का आशय यह है कि नितान्त दोषाभाव होन पर ही निर्दोष सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। निर्दोषता ता स्वय सौन्दर्य है। 'दोषाभाव' या दोषहान पर बल देने का आशय जक्रोवि क शब्दो म यही है कि दोष तो अनायास प्रकट होता है और गुण दर्शन ता प्रयास साध्य है।[4] भोज, मम्मट और हेमचन्द्र प्रभृति आचार्यों ने 'दोषहान' और 'अदोषता' का उल्लेख कर इस मान्यता का महत्त्व और भी बढा दिया है, अन्यथा दस दोष, दस गुणो के ही विपर्यय कदापि नही हैं।

भरत-निरूपित गुण

भरत ने निम्नलिखित दस गुणो की परिगणना एव विवेचना की है—श्लेष समाधि, माधुर्य ओज, पद सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।

(१) श्लेष—अभिलषित अर्थपरम्पराओ से जहा पद सम्बद्ध हो या गहन अर्थधाराएँ जहाँ पद म आश्लिष्ट हो वहा श्लेष होता है। अभिनवगुप्त ने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष अलकारो का उद्भव स्रोत इसे माना है जिस पर वामन निरूपित शब्दार्थ गुण' की प्रतिपादन शैली का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[5]

(२) प्रसाद गुण म शब्दार्थ का सयोग सुखदायक होता है अर्थ स्फटिक की तरह स्वय प्रतिभासित होता है। वामन और अभिनवगुप्त न अर्थगुण का 'अर्थ विमलता' के रूप मे परिभाषित किया। कुवलयानन्द ने सम्भवत इसी प्रसाद गुण सम्पन्नता के आधार पर 'मुद्रा' अलकार की परिकल्पना की। प्रसाद गुण रसवादी आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रधान तीन गुणो म एक है।[6] समता नामक गुण मे न तो अधिक असमस्त पद, न व्यर्थाभिधायी पद और न दुर्बोध पद ही होते हैं। काशी सस्करण के अनुसार यह गुण ता गुण और अलकारो के समुचित योग होने पर होता है क्योकि हेमचन्द्र की दृष्टि स भी भिन्नाधिकरण गुण और अलकार एक दूसरे को विभूषित नही करते। वामन ने तो समता को 'वृत्ति' म अन्तर्भाव किया है।[7] समाधि गुण इष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए उपमालकार का प्रयोग अथवा कवि की प्रतिभा के योग से प्रयुक्त पद या वाक्य से विशिष्ट अर्थान्तर का भी बोध होन पर होता है। वामन के प्रभाव मे ही अभिनवगुप्त

---

१ गुणविपर्ययादेषा माधुर्योदार्यलक्षणा। ना० शा० १६।९५ (गा० ओ० सी०)।

२ काव्यानुशासन २।११, काव्यप्रकाशन ३।१, भोजराज शृगार प्रकाश, पृ० २६४।

३ न च वाच्य गुणो दोषाभाव एव। अग्निपुराण ३४६।२।

४ हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोयटिक्स, पृ० १२, पी० वी० काणे।

५ ना० शा० १६।९७२ (गा० ओ० सी०) का० स० १७।९७ ९८, अ० भा० भाग २, पृ० ३३४ ५ का० अ० सू० ३।१ १०।

६ ना० शा० १६।९९, का० अ०, पृ० २७६, कुवलयानन्द ७३।, का० अ० सू० ३।२ ३।

७ ना० शा० १६।१०० (गा० ओ० सी०), का० अ०, पृ० २७८, का० मा० १।४७, का० अ० सू० ३।५।

क्रम सपन्न तथा 'हृदयहारी' गुणों का विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। 'विस्तार' और संदेह' दोष के रूप में अलंकार शास्त्र में परिगणित हैं। 'संस्कार क्रम सपन्नता' का अभाव ही भरत का शब्दच्युत दोष है। 'उदार' और 'मधुर' गुणों का उल्लेख भरत एवं अन्य आचार्यों ने किया है।[1] महाभारत में 'विचित्रपदत्व', 'श्रुतिसुख', मधुर' और 'अर्थवत्' आदि गुणों का उल्लेख है।[2] अर्थशास्त्र में 'अर्थक्रम', संबंध, 'परिपूर्णता', 'माधुरी', 'उदारता' और 'स्पष्टत्व' आदि लेख संपत् रूप गुणों का वर्णन मिलता है।[3] औदार्य और मधुर गुणों की परिभाषाएँ भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा में हैं। प्रसिद्ध जैनागम अनुयोग द्वार सूत्र में निर्दोष', 'सारवत्', हेतुमत्' 'अलंकृत' 'उपनीत', 'सोपचार', मित और मधुर' ये आठ गुण परिगणित हैं।[4] एवं अन्य जैनागम राजप्रश्नीय में सत्य वचन के पैंतीस अतिशयों में 'संस्कारवत्व' (शब्दशुद्धि), 'उदात्तत्व' (उदात्त गुण), 'उपचारोपेतत्व आदि शब्दगुण तथा 'महार्थ (उच्च विचारयुक्त), 'अव्याहत, पौर्वापर्य', 'असंदिग्ध, देशकाल युत (देशकालाविरोधी), 'अतिस्निग्ध मधुर', उदार' (अत्युच्चार्थ प्रतिपादक) तथा 'ओजस्वी' आदि अर्थ गुण प्रधान हैं। भरत निरूपित काव्य गुणों से इनकी भावना का साम्य है।[5]

संस्कृत के प्राचीन कवियों—अश्वघोष, कालिदास भारवि, यशोवर्मा, भट्टि और माघ की महान् काव्य कृतियों तथा गिरिनार जैसे प्राचीन अभिलेखों में स्फुट, लघु चित्र मधुर कान्त और उदार आदि गुणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जो भरत निरूपित गुणों की परंपरा में हैं।[6] परन्तु काव्य गुणों के शास्त्रीय विवेचन की परम्परा में विकास के चरण गतिमान् होते मालूम पड़ते हैं। वामन, आनन्दवर्द्धन अभिनवगुप्त और मम्मट की प्रतिभा की प्रेरणा से। वामन द्वारा शब्दार्थ' में गुणविभाजन की परंपरा का एक ओर प्रवर्तन हुआ तो दूसरी ओर आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा रसाश्रित गुण सिद्धान्त की कल्पना मूर्तिमान् हुई। दोनों परम्पराओं के विचार तत्त्व भरत निरूपित काव्य-गुणों में वर्तमान थे। नाट्यप्रयोग (वाचिक अभिनय) की दृष्टि में रखकर प्रवृत्त यह गुणसिद्धान्त काव्यशास्त्र की दो प्रधान परंपराओं (रीतिवादी और रसवादी) को प्रभावित करने में समर्थ हुआ।

दोषाभाव और गुण

भरत ने दस गुणों का व्याख्यान करते हुए गुणों को दोषों के विपर्यय के रूप में प्रतिपादित

---

१ वा० रा० १।२।४२ ४३, ४।३।३२ ३३ (अहो गीतस्य माधुर्यम् अविस्तरमसंदिग्धम्)

२ महाभारत आदिपर्व—तत्राख्यान विशिष्ट विचित्रपद पर्वणः २४।१ वचन मधुर मधुसूदन, ६३।५२ २००।८६।

३ अर्थक्रम संबंध परिपूर्णता माधुर्य औदार्य स्पष्टत्वमिति लेख संपत्, अर्थशास्त्र १०।८०-८१।

४ अनुयोगद्वार सूत्र हेमचन्द्र सूरि विरचित वृत्ति, पृ० २४३।

५ श्री राजप्रश्नीय सूत्र मलयगिरीया वृत्ति पृ० सं० १२।

६ (क) महाक्षत्रप रुद्रदामन का प्रस्तराभिलेख।
(ख) बुद्धचरित १।५६, ५।७८, ७।५०।
(ग) किरातार्जुनीयम् २।२७, १४।४३।
(घ) शिशुपाल वधम् १२।३५।
(ङ) रामाभ्युदय (यशोवर्मा) भोजराज शृंगार प्रकाश, पृ० २६१ वी० राघवन्।

किया है।[1] भरत की इस मा‍यता का समथन दण्डी, भाज, वामन, महिमभट्ट, आनन्द वद्धन, मम्मट और आचाय विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियों ने किया। इस मा‍यता का विकास विपययवाद' तथा 'दोषों की अनित्यता' के रूप म हुआ।[2] यद्यपि अग्निपुराणकार ने 'दोषाभाव रूप गुण' की मा‍यता का स्पष्ट विरोध किया क्योंकि माधुय और औदाय गुणों के अभाव रूप ‍ोष भरत निरूपित दोषों म उपल‍ध नहीं होते।[3] सम्भवत भरत का आशय यह है कि नितान्त दोषाभाव होने पर ही नि‍र्दोष सौ‍दय का आविर्भाव होता है। निर्दोषता ता स्वय सौ‍दय है। 'दोषाभाव या दोषहान पर बल देने का आशय जकोवि के श‍ब्दों म यही है कि दोष तो अनायास प्रकट होता है और गुण दशन तो प्रयास साध्य है।[4] भोज, मम्मट और हेमच‍न्द्र प्रभृति आचार्यों न 'दोषहान और 'अदोषता' का उल्लेख कर इस मा‍यता का महत्व और भी बढा दिया है अ‍यथा दस दोष, दस गुणों के ही विपयय कदापि नहीं हैं।

भरत-निरूपित गुण

भरत ने निम्नलिखित दस गुणों की परिगणना एव विवेचना की है—श्लेष, समाधि, माधुय, ओज, पद सौकुमाय, अथव्यक्ति, उदारता और का‍ति।

(१) श्लेष—अभिलषित अथपरम्पराओं से जहा पद सम्बद्ध हों या गहन अथधाराएँ जहाँ पद म आश्लिष्ट हों वहा श्लेष होता है। अभिनवगुप्त ने शब्दश्लेष और अथश्लेष अलकारों का उद्भव स्रोत इसे माना है, जिस पर वामन निरूपित शब्दाथ गुण' की प्रतिपादन शली का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[5]

(२) प्रसाद गुण म शब्दाथ का सयोग सुखदायक होता है अथ स्फटिक की तरह स्वय प्रतिभासित होता है। वामन और अभिनवगुप्त ने अथगुण को 'अथ विमलता' के रूप मे परि भाषित किया। कुवलयानन्द ने सम्भवत इसी प्रसाद गुण सम्प‍नता के आधार पर 'मुद्रा' अलकार की परिकल्पना की। प्रसाद गुण रसवादी आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रधान तीन गुणों म एक है।[6] समता नामक गुण म न तो अधिक असमस्त पद, न व्यर्थाभिधायी पद और न दुर्बोध पद ही होते हैं। काशी सस्करण के अनुसार यह गुण तो गुण और अलकारों के समुचित योग होन पर होता है, क्योंकि हेमच‍न्द्र की दृष्टि से भी भि‍नाधिकरण गुण और अलकार एक दूसरे को विभूषित ‍‍हीं करत। वामन ने तो समता को 'वृत्ति' म अन्तर्भाव किया है।[7] समाधि गुण इष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए उपमालकार का प्रयोग अथवा कवि की प्रतिभा के योग से प्रयुक्त पद या वाक्य से विशिष्ट अर्था‍तर का भी बोध होन पर होता है। वामन क प्रभाव मे ही अभिनवगुप्त

---

१ गुणविपर्ययात्‍ेषा माधुर्योदार्यलक्षणा। ना० शा० १६।९५ (गा० ओ० सी०)।

२ काव्यानुशासन १।११, काव्यप्रकाशन ३।१।, भोजराज शृ गार प्रकाश, पृ० २६४।

३ न च वाच्य गुणो दोषाभाव एव। अग्निपुराण ३४६।२।

४ हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोएटिक्स, पृ० १२, पी० वी० काणे।

५ ना० शा० १६।९७२ (गा० ओ० सी०) का० स० १७।९७ ६८, अ० भा० भाग २, पृ० ३३४ ५ का० अ० सू० ३।१ १०।

६ ना० शा० १६।९६, का० अ०, पृ० २७६, कुवलयान द ७३।, का० अ० सू० ३।२ ३।

७ ना० शा० १६।१०० (गा० ओ० सी०), का० अ०, पृ० २७८, का० भा० १।४७, का० अ० सू० ३।५।

ने इसे शब्द गुण के रूप में स्वीकार किया है।[१] माधुर्य में वाक्य की पुनः पुनः आवृत्ति होने पर भी मधुरता पूर्ववत् बनी रहती है। माधुर्य गुण अत्यन्त लोकप्रिय गुणों में है। मम्मट एवं आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत तीन गुणों में एक है। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से यह अर्थगुण है।[२]

ओज समासबहुल, विचित्र एवं उदार अर्थयुक्त तथा परस्पर अपेक्षित अर्थों से अनुगत रचना ओज गुण सम्पन्न होती है। काशी संस्करण के अनुसार हीन वस्तु होने पर शब्दार्थ की समृद्धता से उदात्त अर्थ प्रतिभासित होने पर ओजगुण होता है। आचार्य हेमचन्द्र इसी परिभाषा के समर्थक हैं पर वे ओज को गुण नहीं प्रकृत कविकर्म मानते हैं। वी० राघवन् के मतानुसार काशी संस्करण में सानु के स्थान पर काकु शब्द का पाठ स्वीकार करने पर काकु स्वर का बोधक होता है जिसका नाट्य प्रयोग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अभिनवगुप्त के मत से यह अर्थगुण है।[३] सौकुमार्य सुखपूर्वक उच्चारण योग्य सुश्लिष्ट सन्धियुक्त तथा कोमलता से अनुप्राणित होने पर कोई रचना सुकुमार होती है। अतएव जड के लिए देवाना प्रिय और मन के लिए 'यशःशेष' सुकुमार भावव्यंजक शब्दों का प्रयोग उचित माना जाता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से सुकुमारता शब्द और अर्थ दोनों की होती है जिस पर वामन की गुण दृष्टि का प्रभाव है। दण्डी और हेमचन्द्र के मतानुसार सौकुमार्य शब्दगुण ही है।[४] अर्थव्यक्ति में अर्थ स्पष्ट होता है। नाट्य या काव्य व्यापार में सुप्रसिद्ध तथा लोकधर्म व्यवस्थित अभिधा का प्रयोग होने से सद्यः अर्थव्यक्ति होती है। दूसरी परिभाषा के अनुसार भाव और वस्तु का अभिनय ही अर्थव्यक्ति है। पात्र द्वारा वास्तविक प्रयोग के पूर्व ही मनोबल के योग से प्रेक्षक के हृदय में अभिनीत होने वाली वस्तु का आभास हो जाता है। यह प्रसाद गुण का निकटवर्ती है। प्रसाद में सद्यः अर्थ प्रकट हो जाता है और अर्थव्यक्ति में मन समस्त नाट्य व्यापार में अनुप्रविष्ट कर जाता है। वामन के अनुसार इस गुण में 'वस्तु का ज्ञान' शब्द प्रयोग के पूर्व ही हो जाता है। यह अर्थगुण है क्योंकि अभिव्यक्ति तो वस्तु या अर्थ की ही होती है। दण्डी एवं अन्य आचार्य जाति या स्वभावोक्ति अलंकार का निकटवर्ती मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने प्रसाद गुण में इसका अन्तर्भाव कर लिया है।[५] उदार (या उदात्त) दिव्य एवं विविध भावों से विभूषित तथा शृंगार एवं अद्भुत रसों से समाविष्ट होने पर रचना 'उदार' गुण-सम्पन्न होती है अथवा अनेक विशिष्ट अर्थों, सौष्ठवों से उपेत रचना 'उदात्त' गुणयुक्त होती है (काशी संस्करण)। प्रथम परिभाषा का उदात्तालंकार से साम्य है तथा दूसरी का रूपक के प्रथम भेद नाटक से। दण्डी के अनुसार जिस उक्ति के प्रयोग होने पर उत्कर्षशाली गुण प्रतीत हो, तो उदात्त गुण होता है। यह गुण काव्य का प्राण है। भोज, हेमचन्द्र अग्निपुराणकार और वामन आदि आचार्य काशी संस्करण के 'उदात्त' की परिभाषा के

१ ना० शा० १६।१०२ अ० भा० भाग २ पृ० ३३५ का० प्र० ८।३ ६४, का० अ० सूत्र० ३।१।
२ ना० शा० १६।१०३, का० प्र० ८।८९, काव्यप्रकाश ८।६८, ध्वन्यालोक २।७-८।
३ ना० शा० १६।१०४, (गा० ओ० सी०) (मनुस्वरी का० सं० १७।१०३) का० प्र०, पृ० २७४, भोज का शृंगारप्रकाश, पृ० २६८, अ० भा० भाग २, पृ० २४०।
४ ना० शा० १६।१०७ (गा० ओ० सी०), का० अ० सू० ३।३।११, का० प्र०, पृ० २-३।
५ ना० शा० १६।१०८ (गा० ओ० सी०) का० सं० १७।१०४ का० अ० सू० ३।२।१३ का० भा० १।७३, २-८, का० द०, पृ० ४-२, सा० द० १०।९३।

समर्थक हैं। वामन ने इसे शब्द गुण मानकर ओज में अन्तर्भाव कर लिया है। उनकी दृष्टि से अग्राम्यत्व ही 'उदारता' है। अग्राम्यत्वदोष का अभाव रूप है न कि स्वतन्त्र गुण।[1] 'कान्ति' में शब्द-बन्ध का ऐसा प्रयोग होता है कि मन और श्रोत्र दोनों ही आह्लादित हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण 'लीला' आदि चेष्टालंकार से सुन्दर होती है। इसमें शब्द एवं अर्थगुण दोनों का समन्वय होता है। दण्डी की दृष्टि से लोकसीमा का अनतिक्रमण ही कान्ति गुण है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से यही वामन का 'दीप्तरसत्व' है।[2]

भरत निरूपित गुणों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन गुणों के व्याख्यान के सन्दर्भ में उनकी चिन्तनधारा समान रूप से काव्य एवं नाट्य प्रयोगोन्मुखी रही है तथा शब्दगुण और अर्थगुण की विभाजक रेखा का अस्पष्ट संकेत भी इन परिभाषाओं में प्राप्त होता है। सौकुमार्य और अर्थव्यक्ति नामक गुणों की परिभाषाओं में 'प्रयोज्य' और 'प्रयोग' का उल्लेख उनकी नाट्योन्मुखी चिन्तनधारा का संकेत करता है तो समता, श्लेष और उदारता आदि गुण काव्योन्मुखी प्रवृत्ति का। श्लेष में शब्द और अर्थ की श्लिष्टता समता में अलंकार और गुणों की परस्पर उपकारकता और उदार में नाटक की परिभाषा का विचार सूत्र रूप में अनुस्यूत है। दस गुणों में कुछ तो अर्थगुण, कुछ शब्दगुण और कुछ उभयात्मक हैं तथा कुछ नितान्त काव्य गुण। भरत ने शब्द एवं अर्थगुण की विभाजक रेखा निर्धारित नहीं की है उनके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा के आधार पर यह वर्गीकरण सम्भव है। आचार्य अभिनवगुप्त ने वामन के आधार पर यह प्रयास किया है।[3]

गुण सिद्धान्त की दो विकसित परम्पराएँ

भरत के परवर्ती काल में गुण सिद्धान्त की दो विकसित परम्पराओं से हमारा परिचय होता है। एक के मौलिक प्रवर्तक वामन हैं, दूसरे के आनन्दवर्द्धन। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकारते हुए गुण को उसके अंग के रूप में प्रतिपादित किया और आनन्दवर्द्धनाचार्य ने रस को काव्य और नाट्य की आत्मा मानकर रसाश्रित गुण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भरत गुण विवेचन की इस विकसित परम्परा से परिचित नहीं जान पड़ते।

वामन के गुण सम्बन्धी सिद्धान्त

वामन से पूर्व ही भामह ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक तीन गुणों का उल्लेख कर चुके थे। दण्डी से वामन के पूर्व तक की आचार्य परम्परा में न तो गुण और अलंकार का स्पष्ट पृथक्करण ही हुआ था और न शब्दगुण और अर्थगुण की विभाजक रेखा ही निर्धारित हो सकी थी। दण्डी काव्य शोभाकर सब धर्मों को अलंकार के रूप में परिगणित करते थे। यद्यपि उन्होंने गुणों को वैदर्भी का प्राण तथा उपमा आदि को साधारण अलंकारजात के रूप में कथन किया है।[4]

---

1 ना० शा० १६।११० (गा० ओ० सी०) १७।१०६, का० स० का० आ० १।७, का० अ०, पृ० २८३-८४, अग्निपुराण ३४६।१८ का० अ० सू० अधि ३।१।२२।२२ अ० भा० भाग २।३४२।

2 ना० शा० १६।१११ का० अ०, पृ० २८६ का० अ० सू० अधि ३।१।२५, २।१४।

3 भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० २७२ वी राघवन्।

4 भामह काव्यालंकार २।१ २, इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः का० आ० । १।४१, २।१ ३।

शरीर की आत्मा है, (ख) काव्य शब्दार्थमय शरीर है, (ग) रसरूप काव्यात्मा के ओज प्रसादादि गुण नित्य धर्म हैं, (घ) शब्दार्थमय काव्य शरीर के उपमादि अलकार अनित्य धर्म हैं और (ङ) गुण दस या बीस नही, तीन हैं। उन्ही तीनो म कुछ का अन्तर्भाव होता है और कुछ दोषाभाव रूप भी हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य की इस नई समीक्षा दृष्टि न साहित्य मीमासा के क्षेत्र म मौलिक क्रान्ति उपस्थित कर दी। भरत की दृष्टि से कोई काव्यार्थ रस क बिना प्रवत्त नही होता। परन्तु भरत की यह रस दृष्टि उत्तरोत्तर अलकारवादियो और रीतिवादियो क मानदण्डो के मध्य धूमिल होती गई। भामह ने तो रस' को रसवत्' अलकार के रूप म परिगणित कर लिया। पर ध्वनिकार ने रस को काव्य और नाटय के प्राण रस के रूप म उसे साहित्य के उपादानो म शीर्षस्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी दृष्टि से आत्मा की शूरता आदि नित्यधर्मों की भाँति ओज आदि गुण भी रस रूप काव्य आत्मा के नित्य धर्म हैं और अलकार कटक केयूर के[1] समान अगो के माध्यम से आत्मा रूप रस के उपकारक होते हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य की इसी नूतन चिन्तनधारा से प्रभावित हो मम्मट और हेमचन्द्र ने काव्य की परिभाषा म 'अनलकृत काव्य को कविता के रूप मे स्वीकार करने का साहस किया।[2]

उपसहार

आनन्दवर्द्धनाचार्य अभिनवगुप्त मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ आदि आचार्यों की इस नूतन विचारधारा का स्रोत भरत के विचारो मे सूत्ररूप म ही मिलता है। उन्होने गुण, लक्षण और अलकार आदि काव्यागो का विवेचन रस के सन्दर्भ म ही किया, व रसानुगामी है। परन्तु परवर्ती आचार्यों की विभिन्न समीक्षा पद्धतियो ने भरत की रसवादी दृष्टि को आत्मसात् कर लिया था। आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम भरत के रस सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित किया। इसम सन्देह नही कि भरत ने रस और गुण का नित्य-सम्बन्ध गुण रस का उत्कर्षक दोष रस का अपकर्षक तथा रस और अलकार के अनित्य सम्बन्ध जसे गम्भीर समीक्षा सिद्धान्तो का स्पष्ट निर्देश नही किया था। आनन्दवर्द्धनाचार्य की य मान्यताएँ अवश्य ही मौलिक थी। तीन गुणो म सब गुणो का अन्तर्भाव करने की प्रवृत्ति भामह म थी, पर उनके स्रोत का सकेत नही मिल पाता। पर भरत ने 'दोषाभाव रूप गुण' का कथन कर गुणो की सख्या को न्यून करने की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। यह भी स्पष्ट है कि गुण दोषाभाव रूप होते हैं' और हैं भी, पर इन तीन गुणो के अतिरिक्त अन्य गुणो के द्वारा कवि की विविध कल्पना और भावो के मनोहारी रूप रग की अभिव्यक्ति की सम्भावना की क्या कोई सीमा है। इस सम्बन्ध म ध्यातव्य है कि गुण सम्बन्धी समीक्षा पद्धति मे एक नव्य विचारधारा का अवतरण हुआ। वदान्तियो क अनुसार आत्मा के निर्गुण होने के समान ही रस भी निर्गुण होता है। अत गुण रस का नित्य धर्म नही है।

---

१ तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।
अगाश्रितास्त्वलकारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥ ध्वन्यालोक २।६।

२ का० प्र० १।१२ भोजराज शृङ्गार प्रकाश पृ० ३५१, का० प्र०
ये रसस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्यु रचलस्थितयो गुणा । का० प्र० ८।६६।
तत् अदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती' । का० प्र० १।१।

नाटकों की भाषा, संबोधन, पाठ्य-गुण

नाटकों में भाषा की बहुविधता

भरत निर्दिष्ट भाषाविधान वाचिक अभिनय का सर्वस्व है। छन्द, लक्षण, अलंकार और गुण आदि तो काव्य शरीर के शोभाकर धर्म हैं पर भाषा तो काव्य एवं नाट्य का साक्षात् शरीर है। भाषा के अन्तर्गत भरत ने नाट्य में प्रयुक्त विविध भाषाओं, संबोधन, पात्रों के नामकरण तथा नाट्य की पाठ्य शैली आदि नाट्योपयोगी विषयों का तात्त्विक निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र में प्रधान रूप से चार भाषाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है—अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और योन्यन्तरी भाषा। अतिभाषा वैदिक शब्दबहुल होती है। आर्यभाषा श्रेष्ठ जनों की भाषा होती है। वह वैदिक भाषा है अथवा संस्कृत, यह भरत ने स्पष्ट नहीं किया है। योन्यन्तरी भाषा पशु-पक्षियों की बोली की अनुकरणात्मक नाट्यभाषा होती है।[1]

पात्रों की विभिन्न भाषाएँ

जातिभाषा का प्रयोग प्रधानतया रूपकों में होता है। इसके दो रूप ज्ञात हैं—संस्कृत एवं विभिन्न प्राकृत। संस्कृत संस्कार गुण सम्पन्न भाषा होती है, देश भेद होने पर भी उसमें भाषा का अन्तर नहीं आता। उच्चारण भेद अवश्य आ जाता है। परन्तु प्राकृत जन की भाषा होने के कारण प्राकृत भाषा में स्थानभेद से भाषा की प्रकृति में व्यापक भिन्नता आ जाती है। दोनों भाषाओं का प्रयोग चातुर्वर्ण्य समाश्रित होता है। उच्च वर्ग के पात्र प्रायः संस्कृत भाषा और निम्न वर्ग तथा सभी नारी पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। पर इसके अपवादों का भी विधान किया गया है और नाटकों में तदनुरूप प्रयोग भी प्रचुरता से मिलते हैं। दरिद्रता अविद्या तथा ऐश्वर्य से प्रमत्त धीरोदात्त, धीरललित आदि उच्च श्रेणी की विविध जातियों के पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। अर्जुन ने बृहन्नला के रूप में प्राकृत का ही प्रयोग किया है। पर नारी पात्रों में नृपपत्नी, वेश्या और शिल्पकारिणी स्त्रियाँ कभी कभी प्राकृत भाषा का प्रयोग करती हैं। अप्सराएँ सामान्य रूप से संस्कृत भाषा का प्रयोग करती हैं, पर नृपपत्नी होने पर प्राकृत भाषा का प्रयोग करती हैं।[2]

विविध प्राकृत भाषाएँ

भाषाविधान के प्रसंग में भरत ने निम्नलिखित सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या। उस युग में प्रचलित विभिन्न जनपदों की ये जनभाषाएँ थीं। इनके अतिरिक्त विभाषा के अन्तर्गत शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल (ड) और वनचरों की भाषा का भी विधान है। महाराष्ट्री प्राकृत का उल्लेख संभवतः इसलिए नहीं हुआ कि उसका प्रयोग नाट्य में नहीं होता। देश, जाति और अवस्था भेद से विभिन्न भाषाओं के विधान का आशय यही है कि नाटकों की भाषा देश, जाति और अवस्था के अधिकाधिक अनुरूप हो।[3]

---

१ ना० शा० १८।२५ ३६, का० स०।

२ ना० शा० १७।२९ ४५ (गा० ओ० सी०), अ० भा० भाग २, पृ० ३७२ ३।

३ ना० शा० १७।४७ ४७ (गा० ओ० सी०)।

भाषाविधान परवर्ती नाटक और नाट्यशास्त्र

भरत के भाषाविधान का प्रभाव परवर्ती नाटककारो और नाटयशास्त्रो पर समान रूप से पडा। शौरसेनी, मागधी और अधमागधी का व्यवहार नाटको में लोकप्रिय रहा है। पृथ्वीधर के मत से मृच्छकटिक मे न केवल प्राच्या और अवन्ती का ही अपितु चाण्डाली, शकारी और ढक्की तक का प्रयोग मिलता है।[१] 'मुद्राराक्षस' का चदनदास अधमागधी का प्रयोग नही करता पर 'कर्णाभरण' का ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करता है। आधुनिक नाटयकारो म स्व० जयशकर प्रसाद, स्व० रामवक्ष बेनीपुरी, रामकुमार वर्मा और जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटको म पात्र के देश भाषा और अवस्था के अनुरूप विभिन्न स्तरो की भाषा का प्रयोग किया है।[२]

परवर्ती नाट्यशास्त्रकारो ने भरतानुसार भाषा का विधान किया है, पर उसकी सख्या म पर्याप्त वद्धि हुई है। शारदातनय ने सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत के पैशाची, मागधी और शौरसेनी आदि भेदो, अपभ्र श आदि प्रत्यक के ग्राम्य, नागरक और उपनागरक आदि भेदो के विवेचन के क्रम म अठारह प्रकार की भाषाओ का उल्लेख किया है।[३] आचाय विश्वनाथ ने तेरह प्रकार की प्राकृत भाषाओ का तथा शिगभूपाल ने विभिन्न प्राकृतो के लिए 'प्राकृती' यह नव्य नाम प्रस्तुत किया। निम्न श्रेणी के पात्रों एव महिलाओ की भाषा प्राय प्राकृत या कभी कभी अपभ्र श भी होती है।[४] विक्रमोवशी मे उवशी गीत के प्रसग मे अपभ्र श का प्रयोग करती है, क्योकि गीत' देशीभाषा समाश्रित होना चाहिए।[५] ऐसा भरत का स्पष्ट मत है। नाटको और परवर्ती नाटयशास्त्रों की भाषा पद्धति का विश्लेषण करने पर इस बात की पुष्टि होती है कि भरत के भाषाविधान का दोनो ही धाराओ पर स्पष्ट प्रभाव है।

सबोधन विधान परवर्ती परपराएँ

नाटको म पात्र परस्पर विभिन्न अवस्थाओ मे एक दूसरे को सबोधित करते हैं उनके सबध मे स्पष्ट निर्देश प्रस्तुत किया है।[६] इन असख्य सबोधनो का आधार है—सामाजिक प्रतिष्ठा और हीनता, पारिवारिक आदर प्रेम, विभिन्न व्यवसाय और मवाकाय तथा लोक प्रच लित व्यवहार। इन सब सबोधनों को भरत ने शास्त्र का व्यवस्थित रूप दिया है। इसका प्रभाव भास से लेकर स्व० जयशकर प्रसाद, डॉ० रामकुमार वर्मा उदयशकर भट्ट और जगदीशचन्द्र माथुर तक के नाटको मे परिलक्षित होना है।[७] पुरुष पात्रों मे महर्षि, देव, ब्राह्मण, मत्री और सम्राट् मुख्य होते हैं। राजा के लिए महाराज देव और आय एव आयपुत्र (पत्नी द्वारा) आदि सबोधन विहित हैं। सस्कृत एव अन्य भारतीय भाषा के आधुनिक नाटको म प्रचुर प्रयोग

---

१ मृच्छकटिकम् पृथ्वीधर की टीका, पृ० १२।

२ सत्य हरिश्चन्द्र, प्रसाद के नाटक, कादम्ब या विष (रामकुमार वर्मा), कोणार्क (माथुर)।

३ शारदातनय भावप्रकाशन, पृ० ३१० ११।

४ सा० द० ६।१६८, रसाणव सुधाकर, पृ० २६० ३२२।

५ नाना देशसमुत्थ हि काव्य भवति नाटके। ना० शा० १७। ४८।

६ ना० शा० १७। ६७-७४ (गा० ओ० सी०)।

७ स्कदगुप्त, पृ० ११ १२।

उपलब्ध हैं। अन्य ब्राह्मण आदि उच्च श्रेणी के पात्रों के लिए 'भगवत्' संबोधन का विधान है। राम ने कपटवेषधारी रावण तथा दुष्यंत ने महर्षि मारीच को 'भगवन्' शब्द से ही संबोधित किया है। वृद्ध जनों के लिए 'तात' संबोधन विहित है। प्रसाद विरचित स्कन्दगुप्त में कुमारगुप्त और चक्रपालित वृद्ध पर्णदत्त को 'तात' शब्द से संबोधित करते हैं।[1] व्यवसाय और शिल्प के आधार पर भी संबोधन का विधान है, 'चारुदत्त' में रदनिका, प्रतिमा यौगन्धरायण में हंसक और निपुणक इसी परंपरा के नाम हैं। विदूषक संस्कृत नाटकों में हँसोड़ पात्र है और नायक का अभिन्न सखा। वह वयस्य शब्द से संबोधित होता है। 'आयुष्मान्' शब्द अपने से छोटे के लिए विहित है। अ० शा० में सूत दुष्यन्त को और स्कन्दगुप्त में वृद्ध पर्णदत्त चक्रपालित को इसी मंगलवाचक शब्द से संबोधित करते हैं। कुमार को भर्तृदारक और युवराज को 'स्वामी' शब्द से संबोधन का विधान है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए 'श्रमणक' संबोधन का विधान है।[2] नाना संबंधों के आधार पर संबोधन की परंपरा का विकास नाटकों में हुआ है। पुरुषों के साथ महिलाएँ भी भारतीय नाट्य में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रही हैं। इसीलिए भरत ने उन संबंधों के आधार पर संबोधनों का विधान किया है।[3] तपस्विनी, दिव्यनारी, व्रतधारिणी लिंगिनी और ब्राह्मणी आदि पूज्य नारी पात्रों के लिए 'भगवती' तथा 'आर्या' शब्द का विधान है। मा० अ० में राजा और वि० उ० में कंचुकी आदि पात्र परिव्राजिका तथा तापसी को 'भगवती' शब्द से संबोधित करते हैं। स्व० वा० में वासवदत्ता तापसी को तथा अजातशत्रु में प्रसेनजित् मल्लिका को 'आर्या' शब्द से संबोधित करते हैं। राजपत्नियों के लिए राजा द्वारा 'देवी', 'प्रिये', निम्नस्तर के पात्रों द्वारा भट्टिनी या स्वामिनी संबोधन का विधान है। अविवाहित राजकुमारियों के लिए, 'भर्तृदारिका' शब्द का प्रयोग विहित है। स्व० वा० अविमारक एवं अन्य नाटकों में प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। वेश्याएँ, सूत्रधार की नटी तथा नर्तकी आदि मनोरंजनप्रिय कला व्यवसायी महिला पात्रों के लिए आर्या, अज्जुका तथा अत्ता आदि संबोधनों का विधान है। चारुदत्त, मृच्छकटिक के विभिन्न प्रसंगों तथा अन्य नाटकों की प्रस्तावना में इन पात्रों के लिए यथावसर उन आदरसूचक संबोधनों का प्रयोग मिलता है।[4] पारिवारिक संबंध सूत्रों में वर्तमान बहन माता और सखी आदि नारी पात्रों के लिए पृथक् पृथक् संबोधनों का विधान है। ये सारे संबोधन पुरुष एवं नारी पात्रों को उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा, आचार-व्यवहार, कला एवं व्यवसाय के आधार पर एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।

पात्रों के नाम

भरत ने विभिन्न जातियों और सामाजिक स्तरों के पात्रों के लिए तदनुरूप नाम का भी विधान प्रस्तुत किया है। यह विधान मुख्य रूप से कल्पित पात्रों के लिए है ऐतिहासिक या पौराणिक कथानकों के प्रसिद्ध पात्रों के लिए नहीं। ब्राह्मण पात्र के लिए शर्मा और क्षत्रिय पात्र के

---

१ स्कन्दगुप्त पृ० ११ १२।

२ चारुदत्त, अ० शा० प्रतिज्ञा यौग० और मृच्छकटिक के विभिन्न प्रसंग।

३ ना० शा० १७।७८-८०३।

४ मृच्छकटिक अंक १, स्कन्दगुप्त पृ० ७५ ७७, ८०, १३३ विक्रमोर्वशी अंक ५ स्वप्नवासवदत्ता १ अजातशत्रु पृ० १२० २१।

लिए 'वर्मा' का विधान है। पर प्रसिद्ध संस्कृत एवं प्राकृत नाटकों में यह परंपरा परिलक्षित नहीं होती। प्रसाद के नाटकों में प्रद्युम्न, मधुवर्मा और भीमवर्मा आदि नाम मिलते हैं। वैश्य के लिए 'दत्त' उपाधि का विधान है पर 'चारुदत्त' व्यवसाय से वैश्य है जाति से ब्राह्मण ही। शूद्रपात्रों के लिए कर्मानुरूप नाम का विधान है। मृच्छकटिक का 'वीरक' तदनुरूप ही है। राजपत्नियों के लिए 'विजयवाचक' नाम का विधान है। पर संस्कृत एवं प्राकृत नाटकों में वासवदत्ता, पद्मावती और शकुन्तला आदि नाम तदनुरूप नहीं हैं। वेश्याओं के नाम आदि 'दत्ता, सेना और मित्रा' उपाधि का विधान है। मृच्छकटिक की वसन्तसेना का नाम तदनुरूप है। पात्रों के नामकरण के संबंध में भरत का विधान व्यापक और विस्तृत है। नाटककार उनसे कहीं कहीं तो प्रभावित मालूम पड़ते हैं अन्यथा स्वतन्त्र वृत्ति से ही नामों का प्रयोग उन्होंने किया है।[1]

नाट्य-प्रयोग : पाठ्य गुण

पाठ्य वाचिक अभिनय का प्राण है। वाचिक अभिनय का प्रस्तुतीकरण 'पाठ्य' द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसीलिए भरत ने 'पाठ्य गुण' का विस्तृत विवेचन किया है। गुण शब्द 'धर्म' वाचक नहीं उपकरणवाचक है।[2] इसके अन्तर्गत पाठ्य के उपकारक तत्वों या उपकरणों का व्यापक विश्लेषण भरत ने प्रस्तुत किया है। यह पाठ्यरूप वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है, अन्य अभिनय इसी आधार पर परिपल्लवित होते हैं। पाठ्य के उपकारक उपकरण निम्नलिखित हैं—सप्तस्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो काकु, छः अलंकार तथा छः अंग।

'सप्तस्वर' के अन्तर्गत भरत ने यह प्रतिपादित किया है कि षड्ज, ऋषभ, गांधार सात स्वरों का विनियोग रसों के संदर्भ में हो। हास्य और शृंगार रसों के योग में मध्यम तथा पंचम स्वरों में तथा करुण रस में गांधार और निषाद तथा भयानक और बीभत्स में धैवत स्वर गायन का विधान है। स्थान के अन्तर्गत शिर, कण्ठ और उरस् परिगणित हैं। इन स्थानों से स्वरों का उत्थान होता है तथा काकु का प्रयोग भी। दूरस्थ पात्रों में शिर, किंचित् दूरी में कण्ठ और निकटस्थ पात्रों के साथ संवाद योजना में उरस का प्रयोग पाठ्य के प्रसङ्ग में होता है। वर्ण का उपयोग हास्य आदि के रसों के योग में होता है। ये चार हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कंपित। हास्य और शृंगार में उदात्त, वीर रौद्र और अद्भुत में उदात्त और कंपित तथा करुण बीभत्स भयानक रसों में स्वरित और कंपित वर्णों का विधान है। काकु तो पाठ्य गुण का मानो प्राण है। काकु के द्वारा स्वर वैचित्र्य होने पर अर्थ की नवीन भूमि का विस्तार होता है। साकाक्ष और निराकाक्ष दो भेद काकु के होते हैं। साकाक्ष प्रकरणादि की अपेक्षा करता है। इसमें तार से मन्द्र तक स्वर अर्थ अनियत उदात्त आदि वर्ण तथा उच्च आदि अलंकार अपरिसमाप्त रहते हैं। पर निराकाक्ष में अर्थ नियत, वर्णालंकार परिसमाप्त, स्थान शिर और मन्द्र से तार तक स्वरों की योजना होती है। इस काकु का संपादन जिह्वा द्वारा होता है। उच्च दीप्त आदि तथा पाठ्य के संधि विच्छेद आदि के द्वारा काकु को ही प्रधानता दी जाती है।[3]

---

१ ना० शा० १७ ६५ ६८, अजातशत्रु, पृ० ४१ ४२, ६१ ६२, राज्यश्री, मृच्छकटिक अंक ४।

२ अ० भा० भाग २ पृ० ३२२।

३ ना० शा० १७।३८५ ३६१, (गा० ओ० सी०), सर्वत्र काकु प्रधानमिति स्थितम्। अ० भा० भाग २, पृ० ३८४।

अलकार क छ भेद होते हैं—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलबित। 'अलकार' भूषण वाचक नही पर्याप्त बोधक है। इनके द्वारा 'काकु' की पूणता प्राप्त होती है। दूरस्थित पात्रो के सवाद, विस्मय, बाधा और त्रासन आदि म उच्च स्वर म पाठ होता है पर पारस्परिक आक्षेप, कलह, क्रोध, आघषण, शौय और दर्प प्रदशन क प्रसग म दीप्त स्वर तथा निर्वेदग्लानि, चिन्ता उत्सुकता, दीनता, व्याधि और गाढ शास्त्र प्रहार आदि म मन्द्र स्वर म पाठ होता है। इसी प्रकार विभिन्न भावदशाओ के सदभ म तदनुरूप स्वरो मे पाठ का उपयुक्त विधान किया गया है। प्रयोक्ता पात्र का पाठ प्रकार सवथा भावदशा के अनुरूप हो।[1]

'अग' के भी छ भेद हैं—विच्छेद, अपण, विसग अनुबध दीपन और प्रशमन।[2]

पाठय म विच्छेद विराम के कारण होता है। विराम अथदशक होता है। वह नाटयाथ के अनुरोध से होता है वत्त के कारण नही। विभिन्न दशाओ के अभिनय प्रसग मे प्रयोक्ता पात्र के हस्तादि अङ्गोपाग न्यस्त रहत हैं, अर्थानुरोध स विराम का प्रयाग करने पर नाटयाथ पूणतया अनुभवगम्य होता है। *अथदशक विरामो से युक्त और दृष्टि समन्वित वाचिक अभिनय नाट्य को* समृद्ध करता है।[3] अपण मे प्रयोक्ता पात्र ऐसे मधुर गभीर स्वर म पाठ करता है कि सारी रग भूमि उसके द्वारा अभिनीत भावो मे समाहित हो जाती है। पात्र अपनी पाठयशैली द्वारा कवि कल्पित समस्त सहानुभूति और सवेदना को अर्पित कर देता है। वाक्य की परिसमाप्ति म विसग और पाठय की शृखला न टूटने पर अनुबध होता है। दीपन मे विभिन्न स्थाना से उत्थित स्वर उत्तरोत्तर दीप्त होता जाता है और प्रशमन म तारस्वर म उच्चरित स्वर क्रमश मद होता जाता है। इन अगो के रसाश्रित प्रयोग का विधान भरत ने किया है। हास्य और शृगार रसा मे अपण विच्छेद दीपन और प्रशमन, करुणा म दीपन और प्रशमन वीर रौद्र और अदभुत म विच्छेद, प्रशमन, दीपन और अनुबध तथा बीभत्स तथा भयानक रसा म विसग और विच्छेद विहित हैं। इन रसाश्रित विभिन्न अगो का प्रयोग भी तार मध्य और मन्द्र नामक अलकारो के आधार पर कण्ठ शिर और उरस् आदि तीन स्थाना से होता है। मन्द्र स्वर से तार स्वर या तार स्वर से मन्द्र स्वर मे सहसा पाठ नाटयाथ प्रतिरोधी होता है। पाठय के क्रम म द्रुत मध्य और विलबित आदि का रसाश्रित प्रयोग नाट्याथ को समृद्ध करता है।

भरत ने भाषा विभेदो सबोधन प्रणाली, पात्रो के नामकरण तथा वाचिक अभिनय की पाठयशली का तात्त्विक निरूपण किया है। प्रयोक्ता पात्र कवि रचित गद्य या पद्यवध को देश, जाति और मनोदशा के सदभ म तदनुरूप भाषा, लय, ध्वनि विराम, स्वरो के आरोह अवरोह काकु और अपण आदि के सहारे नितात उपयुक्त रूप म पाठ करने पर वह एक विशिष्टत्व प्राप्त करता है और उसकी वाणी को भी सजीव अथवत्ता प्राप्त होती है जो अनुभूति के स्तर पर निर्वैयक्तिकता तथा परम आनन्द तथा महारस एव महायोग्यता से आविष्ट होते हैं।

भाषा, सबोधन तथा पाठय-गुणो का गठन विश्लेषण करने पर भरत की प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। उस युग म ही 'पाठयशली' के क्रम म इतनी निपुणता प्राप्त की जा चुकी थी।

---

१ ना० शा० भाग २, पृ० ३९२ ९४।
२ ना० शा० भाग २, पृ० ३९७ ४०३।
३ विरामेषु प्रयत्नो हि नित्य कार्य प्रयोक्तृभि।
कस्मादभिनयो ह्यस्मिन् ह्यर्थापेक्षी यत स्मृत ॥ ना० शा० १७।१३१ ४।

सप्तम अध्याय

नाट्य का प्रस्तुतीकरण

१ पूवरग
२ पात्रो की विभिन्न भूमिकाएँ
३ नाट्याचाय और रगशिल्पी
४ सिद्धि-विधान

न तथाऽग्नि प्रदहति प्रभजनसमीरित ।
यथा ह्ययप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ।।

—ना० शा० ५।१७०

यादृश यस्य यद्रूप प्रकृत्या तस्य तादृशम् ।
वयोवपविधानेन कतव्य प्रयुयुक्षुणा ।।
वणकेश्छादितस्तत्र भूपगैश्चाप्यलकृत ।
गाभीयौ दायसम्प नो गजवतु भवे नर ।।

—ना० शा० २४

समागतासु नारीसु वयोरूपवतीसु च ।
न दृश्यते गुणैर्युक्ता सहस्रेष्वपि नतकी ।।

—ना० शा० २४।११३

न शब्दो नैव च क्षोभो न चोत्पात निदशनम् ।
सपूणता च रगस्य सा सिद्धिर्दैविकी स्मृता ।।

८

पूर्वरग

पूर्वरग का स्वरूप

भरत प्रतिपादित पूवरग मे नाटय प्रयोग के शुभारम्भ पूव अनेक मागलिक और प्रायोगिक अनुष्ठानो का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसमे मुख्यत गीत, वाद्य, नत्य और पाठ्य आदि का प्रयोग यवनिका के भीतर और बाहर होता है। उद्देश्य है, उपस्थित सामाजिको का अनुरजन, मगलाशसा, प्रयोगपरीक्षण तथा कवि, काव्य एव कथावस्तु का उपक्षेपण। भरत ने इन सब विधियो का 'पूवरग' नाम इसीलिए रखा कि ये सब प्रयोगविधिया वास्तविक नाटय प्रयोग के पूव ही सम्पन्न हो जाती हैं।[1] उनकी दृष्टि से पूवरग की विधियो का महत्त्व केवल अनुरजनात्मक ही नही अपितु प्रयोग के अभ्यासाथ एव परिचयात्मक भी है।

पूर्वरग और आचार्यों की मान्यताएँ

आचाय अभिनवगुप्त ने भरत निरूपित पूवरग के व्याख्यान के समथन म हप और वार्तिककार के मतो को उद्धत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि रग (शाला) पर पूव प्रयोग के कारण ही यह 'पूवरग' होता है।[2] दशरूपक के टीकाकार धनिक ने सामाजिको की पूव परितुष्टि के कारण ही इसे पूवरग माना है।[3] इसी परम्परा मे भावप्रकाशनकार शारदातनय ने भी पूवरग का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि पूवरग की क्रियाओ के द्वारा नट नटी आदि परस्पर अनुरजन करते हैं। सामाजिको के लिए उसका प्रयोग अशत ही होना

---

१ यस्माद्रगे प्रयोगोऽय पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादय पूर्वरग ना० शा० ५।७ (गा० ओ० सी०)।

२ तेन पूर्वं रगो पूर्वरग। अ० भा० भाग १, पृष्ठ २०६।

३ पूर्वं उच्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरगो नाट्यशाला तत्स्थप्रथमप्रयोग युत्थापनादा पूर्वरगता। द० रू० अवलोक प्रकाश ३।२।

है क्योंकि उनकी बहुत सी क्रियाओं का प्रयोग अन्तर्यवनिका में होता है।[1] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की दृष्टि में पूर्वरंग का प्रयोग विघ्नोपशमन के निमित्त होता है।[2] परन्तु नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र की दृष्टि से पूर्वरंग के प्रयोग में रंजना ही हेतु है। वास्तव में विघ्नोपशान्ति के लिए स्तुतिपाठ और मंगलाशंसा आदि तो श्रद्धालुओं की प्रतारणा के निमित्त हैं इसलिए उपेक्ष्य भी हैं।[3] पूर्वरंग के धार्मिक पक्ष को यदि उपेक्षित भी कर दिया जाय तो भी अन्तर्यवनिका में प्रयोज्य प्रत्याहार अवतरण और परिघट्टना आदि की क्रियाओं तथा नान्दीपाठ आदि विधियों का सम्बन्ध तो विशुद्ध नाट्य प्रयोग से है, उनकी उपेक्षा किस प्रकार की जा सकती है। अतः भरतनिरूपित पूर्वरंग प्रयोग की दृष्टि से कदापि उपेक्ष्य नहीं है। इस सन्दर्भ में हमें अभिनवगुप्त की विचारधारा महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है। उन्होंने पूर्वरंग की विधियों की तुलना से करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि एक एक सूत्र के संयोग से जिस प्रकार पट की रचना होती है उस पट से मनुष्य अपनी नग्नता पर आवरण देता है, उसी प्रकार गीत वाद्य नृत्य पाठ्य रूप एक एक सूत्र को संयुक्त कर प्रयोक्ता नाट्य को समग्र रूप दे पाता है।[4] सफल नाट्यप्रयोग की अन्तिम परीक्षा इसी पूर्वरंग में होती है कि विद्वान् उस प्रयोग से परितुष्ट हो गये। महाकवि कालिदास के अनुसार बिना सामाजिक परितोष के नाट्य का प्रयोग विधान साधु नहीं हो पाता, क्योंकि अतिशिक्षित प्रयोक्ताओं को भी अपनी सफलता पर सन्देह बना ही रहता है।[5] पूर्वरंग नाट्य प्रयोग के पूर्व की अन्तिम परीक्षाभूमि है अतएव उपादेय भी है।

पूर्वरंग के विभिन्न अंग

भरत ने पूर्वरंग के उन्नीस अंगों का विवेचन करते हुए उन्हें दो भागों में विभाजित किया है। प्रत्याहार से आसारित तक नौ पूर्वरंग विधियों का प्रयोग यवनिका के अन्तर्गत होता है। शेष दस पूर्वरंग विधियों का प्रयोग यवनिका का उद्घाटन कर रंगपीठ पर होता है।[6] यवनिकान्तर्गत पूर्वरंग के नौ अंग निम्नलिखित हैं

(१) प्रत्याहार (वाद्ययन्त्रों का विन्यास)

(२) अवतरण (गायक गायिकाओं का निवेशन),

(३) आरम्भ (सामूहिक परिगीत क्रिया का आरम्भ)

(४) आश्रावणा (वाद्य यन्त्रों का सन्तुलन निर्धारण)

(५) वक्त्रपाणि (वाद्य यन्त्रों का स्वर संधान)

(६) परिघट्टना (तन्त्री वाद्यों का स्वरसाधन),

(७) संघोटना (कला निर्धारण का अभ्यास)

(८) मार्गासारित (विभिन्न वाद्य-यन्त्रों का स्वर-समन्वय),

---

१ भा० प्र० पृ० १९५, पं० १४ १६।
२ साहित्यदर्पण ६।१०।
३ नाट्यदर्पण, पृ० १३८ (गा० ओ० सी०)।
४ प्रत्याहारादिकेन ह्यंगेन बिना गायनादिसामाग्र्यसम्पत्तेः कथं नाट्यप्रयोगः। नह्यहोतन्तु तुरीवेमाद्यैः बिना शक्यः पटः कर्तुम्। अ० भा० भाग १ पृ० २०६।
५ अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक १ २।
६ ना० शा० ५।११ १२ (गा० ओ० सी०)।

(६) आसारित (नतकियो के पादविन्यास की कला और लय का निर्धारण)।

इन नौ प्रकार की पूवरग विधियो का सम्बध मुख्य रूप से प्रयोक्ताओ से है। सामाजिको के परितोष के लिए प्रयोक्ता सब वाद्य यत्रो का विधिवत् परीक्षण और सतुलन अतिम रूप से कर लेते हैं। इसम प्रयोग पक्ष की प्रधानता है।[1]

यवनिका के बाहर पूवरग की प्रयोज्य विधियाँ

यवनिका को हटाकर पूवरग की निम्नलिखित दस विधियो का प्रयोग होता है —

(१) गीतक (देवताओ का कीतन तथा ताडव प्रधान),
(२) उत्थापन (नादी पाठको द्वारा मगलोत्सव का शुभारभ)
(३) परिवतन (सूत्रधार द्वारा चार बार परिक्रमा, इद्र की वदना तथा जजर की स्तुति),
(४) नादी (सूत्रधार द्वारा स्तुति वाचन, आशीवचन और मगलाशसा का पाठ)
(५) शुष्कावकृष्ट (सूत्रधार द्वारा जजर श्लोक का पाठ),
(६) रगद्वार (आगिक एव वाचिक अभिनयो का सवप्रथम प्रयोग),
(७) चारी (शृगार रस का प्रसार),
(८) महाचारी (रौद्ररस की अभियजना)
(९) निगत (सूत्रधार, पारिपार्श्विक और विदूषक द्वारा कथावस्तु के सम्बध मे कौतूहलपूण कथोपकथन)
(१०) प्ररोचना (काय का उपक्षेप, कायवस्तु का निरूपण तथा कविकीतन द्वारा सामाजिको मे अभिरुचि का जागरण)।[2]

इन दसो विधियो द्वारा मगलाशसा तथा कायाथ-सूचन मुख्य रूप से होता है।

पूवरग की उपयोगिता

पूवरग के इन दो प्रकारो से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी विधियाँ धार्मिक क्रियाओ की अपेक्षा नाट्य प्रयोगपरक अधिक हैं। आरभिक नौ विधियाँ मूलत प्रयोक्ताओ को लक्ष्य करती हैं और यवनिका के बाहर की दसो विधियो म स्तुति आशीवचन तथा मगलाशसा रहती है। उसम भी नाट्य प्रयोग, उसकी कथावस्तु एव कविनाम गुणकीतन की प्रधानता रहती है। अत पूवरग नितात धार्मिक एव मागलिक अनुष्ठान मात्र नही रग के पूव प्रयोज्य नाट्य वस्तु की प्रमुख भूमिका है वह। पूवरग के विभिन्न अगो की सख्या के सम्बध म आचार्यों म ऐकमत्य नही है। अभिनवगुप्त शारदातनय और सागरनदी ने अय अतिरिक्त अगों का विवरण प्रस्तुत करते हुए 'नान्दी' की प्रधानता का उल्लेख किया है।[3] बहुत से आचाय तो नादी के अतिरिक्त

---

१ ना० शा० ५।८ १५ (गा० ओ० सी०)।
२ ना० शा० ५।२१ ३० (गा० ओ० सी०)।
३ अ० भा० भाग १, पृ० २१०,
यद्यप्यगानि भूयासि पूर्वरगस्य नाटके तत्राप्यवश्य कर्त्तव्या नादीविघ्नोपशान्तये। भा० प्र०, पृ० १९६,
नांदी पूर्वरगस्याग मुख्यतमम्। ना० ल० को० प० ११२८।

बाईस पदा तक का मानते है। बाईस पदा की नान्दी का उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नादी श्लोक के द्वारा प्रतापरुद्र की राज्यलक्ष्मी की मगलकामना तथा प्रतापरुद्र द्वारा लक्ष्मी प्राप्ति रूप नाटक के प्रयोजन की सूचना भी दी गई है।[१] आचार्य विश्वनाथ ने नादी की प्रमुखता को स्वीकार करते हुए भी रगद्वार नामक पूर्वरग' के अग को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि से नादी तो कवि कतव्य नही प्रयोक्ता का प्रतिपाद्य है। विक्रमोर्वशी म दवाना मिदम्' यह श्लोक नान्दी नही रगद्वार है क्योकि रगद्वार से ही कवि निर्मित नाट्य का आरभ होता है। अपने तर्क के समर्थन म किसी प्राचीन आचार्य का मत भी उद्धृत किया है।[२]

भास के नाटक और नादी

आचार्य विश्वनाथ के मत के सदर्भ म भास की नाट्यशैली विशेष रूप से विचारणीय है। भास के नाटको म नादी का प्रयोग नही है। सूत्रधार ही नाटक का आरभ करता है नादी के अन्त म।[३] यद्यपि भास प्रयुक्त नान्द्यन्ते' शब्द के अर्थ की यह भी परिकल्पना की गई है कि मगल सूचक नगाडो के बजने के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है। पर यह निर्विवाद नही है। इस दृष्टि से स्वप्नवासवदत्तम म दो आरभिक पक्तिया बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योकि उसम बलराम की वदना की गई है और मुद्रालकार की सहायता से नाटक के उदयन, वासवदत्ता पद्मावती और विदूषक जसे प्रधान पात्रो का भी उल्लेख किया है।[४] नादी के देवता चन्द्र है और उक्त श्लोक म नवोदित चन्द्र का भी उल्लेख है। व्यापक दृष्टि स विचार करने पर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' और विक्रमोर्वशीयम' के प्रथम श्लोक भी नादी ही हैं क्योकि इन दोनो म भी आशीर्वचन और मगलकामना का विधान है। भास के प्राय कई नाटको म नारायण के अनेक रूपो का स्मरण किया गया है।[५] नान्दी का स्पष्ट प्रयोग न होने पर भी आशीर्वचनात्मिका नादी की सत्ता भास के कुछ नाटको म भी वर्तमान है। अत विश्वनाथ के मत स सहमत होना सभव नही है।

भरत एव अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत नादी सबधी मान्यताओ म स्पष्ट अन्तर यह है कि भरत नादी को मुख्यत मगलविधायिनी विधि मानते है, जबकि उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्यार्थ सूचन का भी दायित्व उस पर डाल दिया है। भरत ने काव्यार्थसूचन के लिए त्रिगत और प्ररोचना नामक पूर्वरग के अगो का विधान किया है। आचार्यों की इस मान्यता के मूल म एतिहासिक कारण है। परवर्ती काल म नाट्य प्रयोग की जटिल विधियाँ शिथिल हुइ और पूर्वरग के एकाध अग का ही प्रयोक्ता प्रयोग करने लगे।

नादी का पाठ और भव्य वातावरण

नान्दी की पृष्ठभूमि के रूप म चारो परिवर्त' का जो भव्य रूप भरत ने प्रस्तुत किया है उसस नाट्य प्रयोग के शुभारभ काल म अत्यन्त मनोहर वातावरण का सृजन होता है। रक्षामगल

---

१ प्रताप रुद्रीय, पृ० १३१ १३२।
२ साहित्यदर्पण ६।११ तथा उसका गद्य भाग।
३ भास के स्वप्न० चारदत्त आदि नाटक की स्थापना द्रष्टव्य।
४ उदयनेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्॥ स्वप्नवा०, अक १।१
५ श्रीमान् नारायणस्ते प्रदिशतु वसुधामुद्धिन्नैकातपत्राम्। अविमारक अक १।१

सस्कृत, शुद्ध वस्त्र शोभित, सुन्दर मन और अदभुत दष्टि के साथ सूत्रधार का प्रवेश मध्यलय म रगशाला पर होता है। मगल कलश और जर्जर धारण किए हुए सौष्ठव अग मे पुरस्कृत परिपार्श्विक साथ रहते हैं। उन दोनो के मध्य सूत्रधार मध्यलय म ही पाच बार चरण विन्यास करता हुआ रगपीठ के मध्य मे पुष्पाजलि का विसर्जन करता है। इसी शैली मे अन्य तीनो परिवर्तनो म भी शुद्धि, वदना, जर्जरपूजा एव पुष्पविसर्जन के अनेक भव्य नाटकीय आयोजन होते हैं। इसी शोभा, शृगार, शुद्धि और पवित्रता के चित्ताकर्षक वातावरण म नादी का प्रयोग होता है।[१]

नादी का उत्तरवर्ती अनुष्ठान

नादी के मागलिक अनुष्ठान के उपरान्त शुष्कावकृष्ट, रगद्वार, शृगाररसयुक्त चारी रौद्ररस-युक्त महाचारी', त्रिगत' एव 'प्ररोचना' का प्रयोग होता है। अन्तिम दो अगो का सम्बन्ध प्रयोज्य नाट्यवस्तु से है। त्रिगत म सूत्रधार, परिपार्श्विक और विदूषक द्वारा कथावस्तु से सबधित पर असबद्ध प्राय परिहासपूर्ण कथोपकथन की ऐसी योजना होती है कि सूत्रधार जस सुसस्कृत पात्र के ओठो पर भी मदुल हास्य थिरक उठता है।[२] 'प्ररोचना' का नाम अन्वर्थ है। नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए प्ररोचना म कार्योपक्षेपण होता है।[3] यह प्ररोचना भारती वत्ति के भेदो म से एक है। अभिनवगुप्त ने भारती वृत्ति के भेद प्ररोचना को भी नादी के रूप म ही स्वीकार किया है।[४] नादी तथा भारती का भेद प्ररोचना दोनो ही मगलविजयाशसिनी है। परन्तु भरत न प्ररोचना द्वारा कार्योपक्षेपण का विधान किया है। यह नादी के उपरान्त प्रयुक्त होती है पर उस पर उसका प्रभाव वतमान रहता है। वस्तुत प्ररोचना तो नादी और आमुख या प्रस्तावना के मध्य की सुनहली शृखला है।

स्थापना या प्रस्तावना

प्रस्तावना नाट्य प्रयोग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है। नादी यदि नाट्य प्रयोग का मागलिक अनुष्ठान है तो प्रस्तावना कवि, काव्य, नाट्य प्रयोग और प्रयोक्ता क परिचय का प्रवश द्वार है जहाँ प्रस्तावक या स्थापक नाट्य-सृष्टि के हतु भूत प्रधान अगो का सकेतात्मक या प्रत्यक्ष परिचय प्रेक्षको के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस स्थापना के नाम के सम्बन्ध म शास्त्रीय ग्रन्थो म बडा भ्रम फला हुआ मालूम पडता है। तीन नाम सामान्यतया इस सबध म अधिक प्रचलित हैं—स्थापना, प्रस्तावना और आमुख। भरत ने स्वय भी इन तीनो नामो का उल्लेख किया है।[५] पचम अध्याय म प्रस्तावना या स्थापना की पथक् कार्य विधि का उल्लेख बहुत स्पष्ट नही है, परन्तु उपर्युक्त स्थल के गहन विश्लेषण से ऐसा मालूम पडता है कि स्थापना के अन्तगत कवि नाम कीतन होता था तथा प्रस्तावना क अतगत कार्यवस्तु का उपक्षेपण।[६] भरत ने स्थापक प्रवेश का उल्लग

---

१ ना० शा० ५।६३ १०४ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० ५।१३३ १३४ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० ५।१३८ (गा० ओ० सी०)।

४ एवैव च नादी मागल्यनिरूपणे प्ररोचनेति निर्दिश्यते। भा० भा० भाग १ पृ० २४३।

५ ना० शा० ५।१६१, १६२, १६६, १६६ तथा २०।३१ (गा० ओ० सी०)

६ स्थापक प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः। प्रविश्य रग तैरेव सूत्रधारपदैर्वजेत्।

किया है तथा प्रस्तावक के निष्क्रमण का। स्थापना शब्द का स्पष्ट प्रयोग इस सदर्भ म नहीं किया है। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि स्थापना और प्रस्तावना सम्भवत भले पर्यायवाची न भी हो तो एक दूसरे के पूरक अवश्य हैं। अन्यत्र २०वे अध्याय म भारती वृत्ति के अंग का विवेचन करते हुए आमुख और प्रस्तावना इन दोनों का समानार्थक शब्द के रूप म उल्लेख किया गया है।[1] अत स्थापना, प्रस्तावना और आमुख ये तीनों शब्द नान्दी के उत्तरवर्ती कवि नामगुण कीर्तन एव काव्यवस्तु के उपक्षेपण आदि के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। इन तीनों द्वारा पूर्वरग की तीन भिन्न विधियों का प्रयोग नही होता है तथा स्थापना या प्रस्तावना का प्रयोक्ता सूत्रधार के गुण और आकृति के तुल्य 'स्थापक' होता है पर वह 'स्थापक' सूत्रधार म भिन्न होता है, यह स्पष्ट रूप स उल्लेख भरत के नाटयशास्त्र म नही मिलता। अभिनवगुप्त ने भरत के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि स्थापना का 'स्थापक' या प्रस्तावक 'सूत्रधार' ही पूर्वरग (नादी) का प्रयोग करके स्थापक के रूप म प्रवेश करता है। स्थापक और सूत्रधार दोनों की भिन्न कर्तृता को वे स्वीकार नही करते।[2]

प्रस्तावना की विधि

भरत के अनुसार स्थापक सूत्रधार के गुण और आकृति के तुल्य होता है, वह उसी के समान सौष्ठवांग से पुरस्कृत हो वैष्णव स्थान तथा मध्यलय म रगपीठ पर प्रवेश करता है। उसके प्रवेश करते ही रगमडप के प्रसादन के लिए देव, ब्राह्मण आदि की प्रशसायुक्त, शृगार या वीररस प्रधान नाना भाव सपन्न श्लोक का पाठ होता है। तदनन्तर स्थापक कवि-नाम गुणकीर्तन करता है। पुनश्च भारती वृत्ति की उद्घात्यक या अवगलित आदि विभिन्न शैलियों म काव्योपक्षेपण होता है।[3] इस रूप म काव्य का उपक्षेपण कर काव्य का प्रस्तावक रगभूमि से बाहर चला जाता है।

सम्भव है, भरत के काल म पूर्वरग विधियों के विस्तृत प्रयोग के कारण सूत्रधार और स्थापक भिन्न व्यक्तित्व रहे हो। इसीलिए दोनों के लिए पृथक काय विधियाँ निर्धारित हैं। परन्तु नाद्यन्त पूर्वरग, आमुख एव प्रस्तावना आदि के पृथक प्रयोग की शैली प्राचीन नाट्य परम्परा म रही होगी। कालान्तर म वह विलुप्त हो गयी। अभिनवगुप्त की विचारधारा म हम उसी का प्रतिफलन परिलक्षित होता है।

भारतेन्दु और प्रसाद के नाटक तथा पूर्वरग

पूर्वरग की विधियों म नादी और प्रस्तावना की प्रधानता रही है। सस्कृत के भासोत्तर प्राय सब नाटकों मे नादी के उपरान्त प्रस्तावना का प्रयोग अवश्यमेव हुआ है। यहाँ तक कि

सुवाक्यमधुरै श्लोकै नाना भाव रसान्वितै ।
प्रसाद्य रग विधिवत् कवेर्नाम च कीर्तयेत ।
प्रस्तावना तत कुर्यात् का यप्रख्यापनाश्रयाम् ।
उद्घात्यकादिकर्तै य काव्योपक्षेपणाश्रयाम् ॥ ना० शा० ५।१६१ १६६ (गा० ओ० सी०)।

१ आमुख तत्त विज्ञेय बुधै प्रस्तावनापि सा। ना० शा० २०।३१ (गा० ओ० सी०)।

२ सूत्रधार एव स्थापक इति सूत्रधार पूर्वरग प्रयुज्य स्थापक सन् प्रविशेदिति न भिन्नकर्तृता। अ० भा भाग १, पृ० २४८।

३ ना० शा० ५।१६५ १६९।

भारतेन्दु और प्रसाद के आरंभिक नाटकों में भी नांदी और प्रस्तावना का प्रयोग हुआ है। प्रसादजी के उत्तरवर्ती नाटकों में यह प्राचीन नाट्य-परंपरा लुप्त हो गई। 'कल्याणी-परिणय' नामक एकांकी में भी नांदी पाठ का स्पष्ट विधान है। यही एकांकी नाटक 'चन्द्रगुप्त' नाटक के विकास का आधार बना। हमारा आशय यही है कि पूर्वरंग प्राचीन भारतीय नाटकों के लिए तो उपयोगी माना जाता ही था, उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में यूरोपीय नाट्यकला से प्रभावित हिन्दी के ये प्राचीन नाटक इस परंपरा से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे।[1]

पूर्वरंग के भेद

आशीर्वचनात्मिका नांदी तथा कवि, काव्य एवं नाट्य प्रयोग की भूमिका रूप प्रस्तावना ये दोनों ही पूर्वरंग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधियाँ हैं। प्रथम के द्वारा मंगल विजय की आशंसा होती है और दूसरे के द्वारा प्रेक्षक प्रयोग के समीपवर्ती होता है। दोनों के दो उपयोग हैं। परन्तु इन दो के अतिरिक्त रंगद्वार, चारी और महाचारी आदि का भी बहुत महत्त्व है। उन्हीं के द्वारा तो गीत वाद्य और नृत्य की मधुरता का सृजन होता है। इसीलिए भरत ने इस पूर्वरंग के चार भेदों की परिकल्पना की है।

पूर्वरंग के ताल-लयाश्रित भेद

भरत ने पूर्वरंग के विविध अंगों का विवेचन करते हुए ताल और लयाश्रित दो भेदों की भी परिकल्पना की है—चतुरस्र और त्र्यस्र। चतुरस्र पूर्वरंग में हस्त और पाद की कला, ताल और लयाश्रित १६ पात होते हैं और त्र्यस्र पूर्वरंग में इसकी संख्या १२ हो जाती है।[2] अन्यथा दोनों ही पूर्व रंगों में कोई अन्तर नहीं होता। पाद, गति प्रचार, ध्रुवा और ताल आदि का प्रयोग त्र्यस्र में संक्षिप्त होता है और चतुरस्र में किंचिद्विस्तृत। वस्तुतः पूर्वरंग की सारी योजना को शुद्ध पूर्वरंग की संज्ञा दी गई है। शुद्ध पूर्वरंग में भारती वृत्ति उपाश्रित रहती है, इसमें गीत और नृत्य का प्रयोग बहुत न्यून रहता है।[3] पूर्वरंग के तीन रूपों का हमें परिचय प्राप्त होता है, त्र्यस्र, चतुरस्र और शुद्ध। तीनों एक दूसरे के पूरक हैं, शुद्ध पूर्वरंग होने से भारती वृत्ति का ही प्रयोग होता है। अतः भाषा की दृष्टि से पूर्वरंग में संस्कृत भाषा की प्रधानता और प्राकृत भाषा के प्रयोग की सम्भावना कम रहती है। त्र्यस्र और चतुरस्र भेद मुख्यतः हस्त प्रचार और गति प्रचार पर ही आधारित हैं।

गीत वाद्याश्रित चित्र पूर्वरंग

इन तीन भेदों के अतिरिक्त पूर्वरंग के एक और भी भेद की परिकल्पना भरत ने की है, वह है चित्रपूर्वरंग। चित्रपूर्वरंग में गीत और नृत्य की योजना विशेष रूप से रहती है। नांदी पदों के प्रयोग के क्रम में रंगपीठ पर एक ओर शुभ्र पुष्पों की वर्षा होती रहती है और दूसरी ओर

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) प्रस्तावना भाग, सज्जन (जयशंकर प्रसाद), प्रस्तावना भाग, हिन्दी नाटक उद्भव विकास, पृ० २१४ १५ तथा पृ० २०२। डॉ० दशरथ ओझा।

२ ना० शा० ५।१४४ १४५ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० ५।१४८।

ननकिया ताल लयाश्रित गीत और नत्य की मधुर गूज से दशकों को मन्त्रमुग्ध करती हैं। देविया अपने अगो को समलकृत कर नत्य की रसमयी मुद्राओ का प्रदशन करती हैं। इन्ही गान और नत्य की विधियो के योग मे वही शुद्ध पूवरग चित्रपूवरग के रूप मे परिणत होता है।

चित्रपूर्वरंग और शिव के तांडव नृत्य

चित्रपूवरग की सजना मे नत्य के प्रवतक शिव का बडा महत्त्व है क्योकि मूलत भरत ने शुद्ध पूवरग की ही योजना की थी।[1] उस शुद्ध पूवरग का प्रयोग शिव ने देखा और इसम अधिक रसमयता के सृजन के लिए नत्त के प्रयोग का विधान किया। तण्डु को आदेश देकर भरत को नत्य की शिक्षा दिलवायी। यह पूवरग विधि नाना करण' और 'अगहारो' से विभूषित होने के कारण ही 'चित्रपूवरग' के रूप मे विख्यात है।[2] अभिनवगुप्त ने चित्रपूवरग के उदभव के सम्बन्ध मे अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है कि भरत ने मूलत पूवरग म नृत्य की योजना नही की थी परन्तु शिव निर्दिष्ट नत्य की योजना के कारण उसे वचित्र्यकारक कहा गया और वह चित्रपूवरग के रूप म स्वीकृत हुआ।[3] पूवरग म वचित्र्य सृजन के लिए 'ताण्डव' अथवा 'लास्य' नत्यो का प्रयोग होता है।

गीत वाद्य-नृत्त का सतुलित प्रयोग

भरत ने यह अनुमान किया कि यदि नाटय प्रयोग से पूव गीत और नत्त का प्रयोग आवश्यकता से अधिक किया जाय तो प्रेक्षक खिन्न हो जायेंगे और शेष प्रयोग म उनकी रुचि नही रह जायेगी। अत चित्रपूर्वरग के विवेचन के क्रम म यह भी स्पष्ट निर्देश दिया है कि गीत, वाद्य और नत्त के अतिशय प्रयोग से अभिप्रेत भावो और रसो का उदबोधन न हो सकेगा। गीत वाद्य एव नत्त का पूव रग म प्रयोग उतना ही हो कि वह रागजनक ही हो, खेदजनक नही।[4] अत पूव रग को 'चित्र' रूप देते हुए 'गीतावाद्यनत्त' का सतुलन अपेक्षित है। गान, वाद्य और नत्त का सतुलित प्रयोग होने पर ही प्रधान नाटय प्रयाग के प्रति उत्तरोत्तर अभिरुचि जागृत होती है और उसम रागजनकता भी रहती है।

वस्तुत आरम्भ के नौ यवनिकान्तगत पूवरग के अगो का उपयोग तो नाटय प्रयोग को पूण सफल बनाने का महान् समारम्भ ही है। आधुनिक नाटय गृहो म भी पहले से गानवाद्य का समारम्भ होता रहता है। उन सबके विवरण का महत्त्व प्रयोक्ताओ की दृष्टि से है। वाद्य-यन्त्र, पात्रों का निवेशन, हस्तपाद प्रचार आदि सब पूणतया अन्तिम रूप मे परीक्षित हो जायें। इस विषय के विवेचन से भरत की सूक्ष्म प्रयोग दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। पूवरग के शेष दस अग तो दशको से सम्बन्धित हैं। नान्दी से ही नाटय प्रयोग का आरम्भ हो जाता है। प्रस्तावना तो

---

१ ना० शा० ५।१२ १८।

२ ना० शा० ५।१५।

३ अ० भा० भाग १, पृ० ८७।

४ यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूवरगे विधिं प्रति। गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसगत।
खेदो भवेत् प्रयोक्तृणां प्रेक्षकाणां तथैव च। खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते।
तत शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्। ना० शा० ५।१५९ १६०।

नाट्य प्रयाग का माना प्रथम चरण है। नादी और प्रस्तावना क सम्बन्ध म आचार्यों म परस्पर मतभेद भी कम नही है।

भरत की विचार-दृष्टि नितान्त स्पष्ट है। नादी का प्रयोग सूत्रधार करता है, प्रस्तावना का स्थापक। परन्तु परवर्ती आचार्यों म जो भ्रम और सन्देह की लहरें उठती हुई मालूम पडती हैं, उसके कारण हैं—नाटय प्रयोग का उत्तरोत्तर ह्रास तथा भरतकालीन अनेक आडम्बरपूर्ण विधिया के सक्षेपण का प्रयास। आचाय विश्वनाथ ने तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि उनक काल म पूवरग की विधिया का इतना विस्तृत प्रयाग न होने के कारण सूत्रधार ही 'स्थापन' भी करता है। भास प्राचीन नाटककार होते हुए भी नादी का तो प्रयोग करते ही नही, सूत्रधार द्वारा नाटक का आरम्भ करते हैं, कवि कीतन या काव्यापर्पण नही।

वस्तुत प्राचीन नाटयशास्त्र और नाट्य-साहित्य का एतत्सम्बन्धी प्राप्त रूप जितना रोचक है उतना ही महत्वपूर्ण भी। इसमे सन्देह नही कि भरत ने जितनी स्पष्टता और विशदता से इस विषय का विवरण प्रस्तुत किया है उतना अन्य आचार्यों ने नही। हाँ, आमुख के सन्दभ म नाट्य-ग्रन्थो के आधार पर अनेक नवीन भेदा की परिकल्पना की गई है। निसन्देह प्रस्तावना की समृद्ध शली का परिचय प्राप्त होता है। परन्तु वह उन आचार्यों का मौलिक चिन्तन नही है उसका स्रोत तो नाटयशास्त्र था और गौण रूप से भरतोत्तर रूपक साहित्य भी।

अत पूवरग की प्रकल्पना नितान्त मौलिक और विचारोत्तेजक तथा नाट्य प्रयोग को समृद्ध रूप म प्रस्तुत करन की अत्यन्त भावभरी रगीन रगभूमि भी है वह।

९

पात्रो की विभिन्न भूमिकाएँ

पात्रों की भूमिका के मूल मे विचारदर्शन

नाटय प्रयोग के सिद्धान्तो के विवेचन के क्रम म भरत ने पात्रो की विभिन्न भूमिकाओं के सम्बन्ध म तात्विक विचारो का आकलन किया है। नाटय के लोक वृत्तानुकरण होन स प्रयोज्य एव प्रयोक्ता दोनो ही प्रकार के पात्रों की आकृति, प्रकृति, आचार-व्यवहार एव वेशभूषा आदि मे विभिन्नता एव विविधता स्वाभाविक होती हैं। प्रयोग काल म प्रयोक्ता पात्र जब रगमडप म प्रवेश करता है तो वह 'स्व' का 'त्याग' और 'पर' प्रभाव को ग्रहण कर प्रस्तुत होता है। प्राण की यात्रा एक देह से दूसरी म होती है और वह दूसरी देह म प्रवेश करते हुए प्रथम देह के स्वभाव को त्यागकर दूसरी देह के अनुरूप हो जाता है। नाटय प्रयोग मे पात्रो की भूमिका के मूल म भारतीय दर्शन की इस चिन्तनधारा का प्रभाव स्पष्ट है। पात्र अपने रूप को उपयुक्त वर्ण, वसन एव आभूषण आदि से आच्छादित कर मन से भी प्रयोग-काल तक के लिए वह राममय या दुष्यन्तमय हो जाता है। उसकी वाणी, अगो की चेष्टा और लीलाएँ सब तदनुरूप हो जाती हैं। तब वह पात्र प्रयोज्य पात्र की भूमिका म अवतरित होता है।[1] अतएव लौकिक दृष्टि से सामान्य स्तर का भी पात्र प्रयोग-काल म राज प्रभाव उत्पन्न करने मे समर्थ होता है। राजा का राज प्रभाव तो सह जात है और पात्र का राज प्रभाव आचार्य-बुद्धि और पात्र की प्रतिभा एव परिश्रम का सृजन।

---

१ आत्मरूपमवच्छाद्य वर्णकै भूषणैरपि।
याद्दशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य ताद्दशम्।
वयो वेशानुरूपेण प्रकृते नाटयकर्मणि
यथा जन्तुस्वभाव हि परित्यज्यान्यदैहिकम्,
परभाव प्रकुरुते परदेह समाश्रित,
एव बुध परं भाव सोऽस्मीति मनसा स्मरन्
वागगति लीलाभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत्। ना० शा० २६।७-८।

वस्तुत भरत के प्रयोग सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तो का यह प्राणसूत्र है। इसी से प्रयोग द्वारा नाट्य प्रयोग को रूप प्राप्त होता है और इसीलिए वह 'रूपक' या नाटक' होता है। लोक जीवन के अनुरूप ही नाट्य मे प्रयोज्य पात्रो के नितात अनुरूप प्रयोक्ता पात्रो की कल्पना भरत ने प्रस्तुत की है। पात्रो की आकृति, प्रकृति व आगिक चेष्टा तथा अन्य भाव भगिमाओ की परीक्षा करके तब उन्हे तदनुरूप किसी विशिष्ट पात्र की भूमिका देने का विधान है। यदि प्रयोज्य एव प्रयोक्ता पात्रो की इन विशेषताओ को अनुरूपता को दृष्टि मे रखे बिना ही पात्रो का चयन होता है, तो प्रयोगकाल मे नाट्याचार्य को बडी कठिनाई उठानी पडती है। पाश्चात्य नाट्य प्रयोग के इतिहास मे प्रयोक्ता पात्र (ऐक्टर) को कभी सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। क्योकि वे अपनी शारीरिक भाव भगिमा, वाणी एव अन्य चेष्टाओ द्वारा उपयुक्त प्रभाव उत्पन्न करते थे। अपनी आकृति और प्रकृति एव चेष्टा आदि के द्वारा स्वभावत 'खलनायक' प्रतीत होता था और अपनी उदात्त वृत्ति, सुरूपता, वीरता और सौम्य प्रभाव के द्वारा वह 'नायक' जान पडता था।[१] भारत और पाश्चात्य नाट्यकला के समीक्षको के विचारो मे बहुत समता है। उनका भाव यही है कि दानव, राक्षस, राजा, सेनापति, मत्री एव दुर्जन आदि की भूमिका के लिए पात्र मे सहजात गुण भी अपेक्षित हैं, वह केवल नाट्याचार्य की बुद्धि का ही परिणाम नही होता।

प्रयोज्य पात्रों के उपयुक्त पात्रो की आकृति और प्रकृति

भरत ने दिव्य मनुष्य एव राक्षसादि विभिन्न श्रेणी के पात्रो की आकृति, व प्रकृति, देश एव वेश आदि का सुनिश्चित रूप प्रस्तुत किया है।

दिव्यपात्रों की भूमिका प्रयोज्य पात्र के दिव्य होने पर उसके अनुरूप प्रयोक्ता पात्र के लिए अहीनाग, वपोचित, न स्थूल न कृश, न दीर्घ न मथर, सुगठित अग युक्त, तेजस्वी, सुस्वरयुक्त तथा प्रियदर्शी होना नितान्त उचित है।[२]

दानव आदि पात्रों की भूमिका स्थूल, लम्बा और विशाल शरीर, मेघो-सा गम्भीर स्वर, रौद्रभाव प्रकट करने वाले नेत्र, और तनी हुई भौंहो के साथ राक्षस और दानव आदि की भूमिका मे पात्र प्रवेश करते हैं।[३]

मानुषोचित पात्रों की भूमिका मनुष्य की भूमिका म अभिनय करने वाले पात्रो के नयन, भौंह, ललाट, नासिका, ओष्ठ, कपोल, मुख, कण्ठ, शिर, ग्रीवा तथा अग, सब सुन्दर होते हैं। इनके अग प्रत्यग सुश्लिष्ट, दीघ एव मद से मथर होते हैं। इनका शरीर न तो स्थूल होता है, न

---

१ Heroes had to be heroic, in the grand manner, and when villainy was afoot, then it was villainy indeed The actor carried the burden and consequently voices that could roar like thunder or whisper like a trickling brook because sine qua non while gestures and body movements had to take on the similitude of gods

Production Theatre and Stage, *p 816, Vol II*

२ ना० शा० ३५।५-६ का० मा०।

३ वही ३५।७-८ का० मा०।

कृश ही। अपितु स्वभावत सतुलित होता है। ये सुशील, ज्ञानी तथा प्रियदर्शी होते हैं। राजा और राजकुमारो की भूमिका म एसे ही पात्रो का प्रयाग करना उचित होता है।[१]

अन्य पात्रो के लिए उपयुक्त आकृति और प्रकृति

प्रयोग-काल म अन्य प्रयोज्य पात्रो के लिए भी भरत ने आकृति और प्रकृति आदि की कल्पना की है। जिन पात्रो के अग न विकल, न स्थूल और न कृश हो, जो तक वितर्क म चतुर हो प्रगल्भ तथा जीवन म उन्नतिशाली हों, उन्ह मंत्री और सेनापति की भूमिका म प्रस्तुत करना चाहिये। परन्तु जिन पात्रो के नयन पिंगल वर्ण, नाक लम्बी, कद मध्यम या नाटा हो वे कांचुकीय और ब्राह्मण की भूमिका के लिए उपयुक्त होते हैं। परन्तु जिन पात्रो की चाल धीमी हो, बौने, कुबडे, काने, मोटे और चिपटी नाक वाले हों उन्ह दुर्जन या दास की भूमिका म प्रस्तुत करना चाहिये। जिनका शरीर स्वभावत क्षीण एव दुबल हो वे तप श्रान्त व्यक्ति की भूमिका के लिए उपयुक्त होते हैं।[२]

विकृत आकृति और पशुओं की भूमिका

प्राचीन भारतीय (प्राकृत संस्कृत) नाटको और रामलीलाओ म बहुत स पात्रो के लिए कई मुख कई हाथ आदि वाले विकृत पात्र, वानर और सिंह आदि का भी प्रयोग होता आया है। उनके लिए आचार्य-बुद्धि के अनुसार मिट्टी लाख, काठ, चमडा आदि के द्वारा उनकी आकृति रचना अपेक्षित है।[३] शाकुन्तल तथा प्रसादकृत चन्द्रगुप्त म अन्य पशुओ की भी परिकल्पना की गई है।[४]

आकृति और प्रकृति की अनुरूपता

प्रयोक्ता पात्र अपनी शारीरिक और मानसिक विशेषताओ के अतिरिक्त आहार्य विधियो से समन्वित हो प्रयोज्य पात्र की भूमिका म नितान्त तदनुरूप हो प्रस्तुत और इसकी परिकल्पना की गई है। भरत ने वय, वेश, अगरचना, भाषा और अन्त प्रकृति सबकी अनुरूपता का बहुत स्पष्ट विधान किया है। भरत की व्यापक व्यावहारिक नाट्य दृष्टि का इससे पता चलता है। न केवल बाह्य अनुरूपता का ही अपितु आन्तरिक अनुरूपता पर भी उन्होने पर्याप्त प्रश्रय दिया है। दोनो के समन्वय से ही इस अनुरूपता का सृजन होता है। यद्यपि इसमे लोकधर्मी विधि से अनुरूपता प्रदान की जाती है। परन्तु प्रयोक्ता पात्र म किसी प्रयोज्य पात्र की भूमिका मे प्रस्तुत होने के लिए आकृति एव अन्त प्रकृति की दृष्टि से स्वाभाविक अनुरूपता अपेक्षित है। आचार्य-बुद्धि तो उसमें परिष्कार और संस्कार मात्र करती है।[५] प्रयोक्ता अपने अभिनय द्वारा एक मर्मस्पर्शी

---

१ ना० शा० ३५।६ ११ का० मा०।

२ ना० शा० ३५।१२ १९ का० मा०।

३ ना० शा० ३५।१६ १८, ना० स० का० भा० पादटिप्पणी पृ० ६५२।

४ अभिज्ञान शाकुन्तल सप्तम अक चन्द्रगुप्त अ० १, पृ० ८०।

५ एवमन्येष्वपि नाट्यधर्मी प्रशस्यते।
देशवेषानुरूपेण पात्र यान्य हि भूमिषु। ना० शा० ३५।५ ६५२ पादटिप्पणी तथा अ० शा० अक ५, चन्द्रगुप्त अक ३।

अनुभूति के माध्यम से जीवन की सपूर्णता का सृजन करता है। दृश्य विधान आदि उसम सहायक मात्र है। अत प्रयोक्ता पात्र की सहजात मनोवृत्ति और आकृति का विचार और तदनुरूपता का निर्धारण बहुत आवश्यक है। अनुरूपता के सिद्धान्त म यही मूल विचारतत्त्व है। डोरान के शब्दो म अभिनेता अपनी सपूर्ण चेतना द्वारा प्रयोज्य पात्र को प्रस्तुत करता है, उसम उसका शरीर, रक्त और सवेदना मूर्तिमान होते हैं।[1]

प्रकृतियाँ

भरत ने विभिन्न भूमिकाओ म पात्रो के अभिनय की प्रवृत्तियो और परपराओ का तीन प्रकृतियो म समाहार किया है। उन्ही तीन प्रकृतियो म भूमिका के सब रूपो का समावेश हो जाता है। वे तीन प्रकृतियाँ निम्नलिखित हैं

अनुरूपा, विरूपा और रूपानुरूपा या रूपानुसारिणी।

अनुरूपा प्रकृति

प्रयोज्य पात्र की कवि कल्पित प्रकृति के अनुरूप प्रयोक्ता पात्रो की प्रकृति आदि होने पर अनुरूपा होती है। पुरुष पात्र पुरुष की तथा स्त्री पात्र स्त्री की भूमिका म देश, वय, वेश एव भाषा के अनुरूप प्रयोग के लिए प्रस्तुत होते हैं।[2]

विरूपा प्रकृति

जब प्रयोज्य पात्र को प्रस्तुत करने के लिए प्रयोक्ता पात्र अपनी प्रकृति के विपरीत भूमिका मे प्रस्तुत होता है तो 'विरूपा' प्रकृति होती है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब वृद्ध बालक की और बालक वृद्ध की भूमिका मे प्रस्तुत होते हैं। भरत ने विरूपा' भूमिका का सवथा निषेध किया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से 'स्थविर बालिश' शब्द उपलाक्षणिक है। इस लिए बालक वृद्ध की और वृद्ध बालक की भूमिका के लिए तो सवथा अनुपयुक्त होते ही हैं, परन्तु युवा वृद्ध की और वृद्ध युवा की भूमिका के लिए भी उपयुक्त नहीं होते। आहार्यविधि द्वारा रूप आदि की समानता होने पर भी जाति एव अन्य आगिक चेष्टाओं मे परस्पर बहुत वैषम्य होता है।[3]

रूपानुरूपा प्रकृति

जब पुरुष पात्र स्त्री की और स्त्री पात्र पुरुष की भूमिका म अवतरित होते ह तो

---

1 A player must callforth a response from his audience by *their Inte* rest in his humanity, his flesh & blood, heart mind and soul, without this his gestures may be exact, but they will be those of automation Stage & Theatre p 848

२ ना० शा० २६।१।

३ सवथि शब्दा सवष्यन्तर माक्षिपन्तीति। स्थविरो युवाभूमिकायां युवा च स्थविर भूमिकाया न योज्य। बालिशोऽत्र विरूप स विरूपभूमावायोज्य। एतच्चोपलक्षणम्। यत्र यत्प्रयोजनो न शिलष्यति न स तत्र योज्य इत्यर्थं। अ० भा० भाग ३, पृ० २६७।

रूपानुरूपा या रूपानुसारिणी प्रकृति होती है।[1] ऐसी भूमिकाओं को अभिनवगुप्त ने वैसादृश्य के नाम से अभिहित किया है। स्त्री द्वारा पुरुष का और पुरुष द्वारा स्त्री का अभिनय वैसादृश्य ही है। इसी प्रकार नरसिंह या दशकन्धर रावण की भूमिका में प्रयोक्ता पात्र का अवतरण वैसादृश्य ही है। प्रयोक्ता पात्र की न तो वैसी आकृति होती है और न वैसी प्रकृति ही। अतः भरत एवं अभिनवगुप्त के अनुसार प्रयोक्ता पात्र दूसरे के रूप के अनुसार अपने रूप की रचना करता है। अतः यह भी रूपानुरूपा होती है।[1]

अनुरूपता की सीमा

भरत प्रतिपादित पात्रों की अनुरूपता के सन्दर्भ में न केवल स्त्री द्वारा पुरुष की और पुरुष द्वारा स्त्री की भूमिका में प्रस्तुत होने की स्वच्छन्दता है अपितु जन्तु (नाग), काष्ठ और चर्म आदि के योग से पशु, सहस्रमुख और बहु बाहुयुक्त आदि प्रयोज्य पात्रों में भी प्रयोग में उन्हें संकोच नहीं है।[2] परन्तु विपरीत प्रकृति के वे पक्ष में नहीं हैं। वृद्ध द्वारा बालक या युवा की तथा बालक या युवा द्वारा वृद्ध की भूमिका में पात्रों का अवतरण उनकी दृष्टि से उचित नहीं है क्योंकि वृद्ध और बालक या युवा की आकृति और प्रकृति एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होती है। एक जीवन के तट पर खड़ा नये स्वर्णविहान का समुपासक सा है तो दूसरा जीवन-सन्ध्या का जराजीर्ण पाण्डु पत्र। दोनों में अनुरूपता की सम्भावना नहीं की जा सकती।

अनुरूपता से भरत का भाव यही है कि प्रयोगकाल में प्रयोक्ता प्रयोज्य की आत्मा से अपने-आपको आविष्ट कर अपने अहंभाव का त्यागकर आहार्य विधि की सहायता से आकृति को तदनुरूप बनाकर वाणी, अंगलीला और चेष्टा आदि का भी तदनुरूप ही विधान करे। प्रयोक्ता पात्र प्रयोज्य के अनुरूप वय, अवस्था, आकृति और प्रकृति आदि की दृष्टि से होने पर ही सच्चे अर्थों में नाट्य प्रयोग कर सकता है।[4]

भूमिकाओं की विभिन्न प्रकृतियों के उपलब्ध साक्ष्य

नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित इन तीन प्रकृतियों के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य (विशेषतः नाट्य) में रोचक और महत्त्वपूर्ण विवरण उपलब्ध हैं।

पुरुष पात्र पुरुष की तथा स्त्री पात्र स्त्री की भूमिका में वेश, वय और वेशादि की अनुरूपता से प्रस्तुत हों यह तो नितान्त स्वाभाविक स्थिति है। संस्कृत एवं प्राकृत के प्राचीन नाटकों की प्रस्तावना में यत्र-तत्र इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। हर्षवर्द्धनकृत 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नाटकों में स्वयं सूत्रधार ही वत्सराज की भूमिका में प्रस्तुत हुआ है उसका छोटा भाई रत्नावली में यौगन्धरायण तथा प्रियदर्शिका में दृढवर्मा की भूमिका में

---

१ ना० शा० २६।१५ (गा० ओ० सी०)।
का० स० ३५।१६, का० मा० ३५, पृ० ५५२।

२ पुरुषस्य प्रयोक्तुः पुरुषेण प्रयोज्येन, योषित् योषिता तत्र सदृशो व्यवहारः। स्त्रिया पुरुषस्य वैसादृश्यम्। सा हि सिंहवदनदशवदनादिति यत्तु प्रयोज्यैरन्यसादृश्यमेव। अ० भा० भाग ३, पृ० २६३।

३ ना० शा० २६।२६ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० २६।७-८ (गा० ओ० सी०)।

अवतरित होता है।[1] कुट्टनीमत म रत्नावली के प्रथम अक का प्रयोग प्रस्तुत किया गया है। उसमे राजकुमारी रत्नावली की भूमिका म मजरी नाम की परम रूपवती वेश्या प्रस्तुत हुई है, उसने अपने अनुपम रूप-सौन्दय और अनूठी विलास-लीलाओ और भाव भगिमाओ से काश्मीर सम्राट समरभट्ट का हृदय ही नही वश मे कर लिया था, उसे नितान्त निधन भी बना दिया था।[2] नटी प्राय स्त्री पात्रो की भूमिका म प्रस्तुत हुआ करती है। अत यह अनुरूपा प्रकृति तो भारतीय नाटको की सामान्य विशेषता है।

विपरीत भूमिका

पुरुष पात्र द्वारा स्त्री पात्र एव स्त्री पात्र द्वारा पुरुष पात्र की भूमिका मे प्रस्तुत होने के विवरण नाटको एव अन्य ग्रन्थो में मिलते हैं। यह रूपानुरूपा प्रकृति की परपरा अपने देश मे प्राचीन काल से ही प्रचलित है। भरत ने तो इस अभिनय परपरा के लिए निश्चित सिद्धान्तो का निर्धारण किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भरत के पूर्व नाटय प्रयोग मे ऐसी परपरा प्रचलित थी। कात्यायन के एक वार्तिक पर टिप्पणी करते हुए पतजलि ने 'भ्रूकुस' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द स्त्री-वेषधारी नतक के अथ मे प्रसिद्ध है। भट्टोजी ने उक्त वार्तिक पर टिप्पणी करते हुए विचारपूण अथ की परिकल्पना की है। भौंहों द्वारा भाषण या शोभा (कुस) होने के कारण ही वह स्त्री-वेशधारी नतक (पुरुष) 'भ्रूकुस' होता है।[3] पतजलि ने इसका उल्लेख किया है कि भौंहो और हाथ की विविध मुद्राओं द्वारा शब्द प्रयोग के बिना ही अनेक अर्थों की प्रतीति होती है।[4]

भारतीय नाटको में ऐसे अनेक प्रसगा म पुरुषो द्वारा स्त्री के अभिनय का उल्लेख किया गया है। मालतीमाधव प्रकरण मे सूत्रधार और पारिपार्श्विक (नट) क्रमश कामदकी और उसकी शिष्या अवलोकिता की भूमिका मे[5] हैं। कपूर मजरी के सूत्रधार का बडा भाई महाराजा की देवी की भूमिका मे प्रस्तुत हुआ है।[6] प्रियदर्शिका मे वत्सराज-वासवदत्ता की प्रेमकथा पर आधारित नाट्य प्रयोग का आयोजन हुआ है। उसम नायिका वासवदत्ता की भूमिका मे आरण्यिका (प्रियदर्शिका) और नायक वत्सराज की भूमिका मे मनोरमा प्रस्तुत होने वाली है।

---

१ सूत्रधार (आकर्ण्य। नेपथ्याभिमुखमवलोक्य। सहर्षम्) आर्ये! एष मम कनीयान् भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिक प्राप्त एव। रत्नावली प्रस्तावना।

२ अनुकुर्वत्या कर्या तथा तथा नायकस्तया दृष्ट। येन जरत्स्वप्यटनी धनुष स्पृष्टा दराधबाधेन। कुट्टनीमत ६६६।

३ अभ्रकुसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रूकुस भ्रकुस। अष्टाध्यायी ६।३।६१ परभाष्य।
तथा—भ्रूकुस। भ्रुवो कुस भाषण शोभा वा यस्य स स्त्री-वेषधारी नर्तक। सिद्धान्तकौमुदी। समासाश्रय विधि प्रकरण।

४ अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोग बहवोऽर्था गम्यन्ते अक्षिनिकोचै पाणिविहारैश्च। पातजल महाभाष्य २।१, १ पाणिनीय सूत्र पर।

५ नट—सौगत जगत्परिव्राजिकाया तु कामदक्या प्रथमा भूमिका भाव स्वाधीने तदन्तेवासिन्यास्तु अहम् अवलोकिताया। मालतीमाधव प्रस्तावना।

६ महाराअस्स देवीए भूमिआ घेत्तूण अज्जा अज्जमारिसा अजवधि अन्तेर चिट्ठदि। कर्पूरमजरी, प्रस्तावना।

परन्तु विदूषक और मनोहर का कुशल योजना से स्वयं उदयन ही नायक की भूमिका में (मनोरमा के स्थान पर) प्रस्तुत होता है। प्रियदर्शिका के इस नाट्य प्रयोग से पुरुष की भूमिका में स्त्री और स्त्री की भूमिका में पुरुष—दोनों प्रकार की प्रयोग परंपराओं का समर्थन होता है।[1]

पुरुष द्वारा स्त्री एवं स्त्री द्वारा पुरुष की भूमिका में अभिनय नाट्य प्रयोग की सामान्य स्थिति नहीं है। वह कभी कथावस्तु के आग्रह कभी पात्रों की न्यूनता और कभी कौतूहलवश सुनियोजित होती है। अर्जुन का बृहन्नला की भूमिका में प्रस्तुत होना नाटकीय घटना की अनिवार्यता ही है। प्रसाद रचित ध्रुवस्वामिनी में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ध्रुवस्वामिनी की सखी की भूमिका में प्रस्तुत हो शकराज का वध करते हैं। चन्द्रगुप्त का कामिनी-वेशधारण कोरी नाट्य कल्पना नहीं अपितु वह ऐतिहासिक तथ्य है। गुप्तकुल की गौरव-लक्ष्मी की मर्यादा की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने यह साहसिक कार्य किया था। बाणभट्ट ने चन्द्रगुप्त के इस साहस का उल्लेख किया है।[2] प्रसादकृत 'चन्द्रगुप्त' में युवती कल्याणी (नंद की पुत्री) एक युवक सैनिक के रूप में पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए प्रस्तुत हुई है।[3] निःसंदेह इस प्रकार के विलक्षण प्रयोगों से नाट्य प्रयोग में असाधारण चमत्कार भी उत्पन्न होता है।

रूपानुरूपा नाट्य-प्रयोग की प्रवृत्ति

आधुनिक एमेच्योर (अव्यवसायी) नाट्य मंडलियों में रूपानुरूपा पद्धति प्रचलित है। विश्वविद्यालयों और कालेजों की सांस्कृतिक परिषदों द्वारा आयोजित नाट्य प्रयोगों में पुरुष एवं स्त्री पात्रों के विपर्यय के उदाहरण कभी कभी मिलते हैं। ऐसा अभाववश होता है। कुछ वर्षों पूर्व मैंने भासरचित वासवदत्ता का स्वानूदित रूपान्तर और श्रीबेनीपुरी रचित अम्बपाली को अपने निर्देशन में प्रस्तुत किया था। नारी पात्रों के अभाववश पुरुष पात्रों को ही नारी पात्रों की भूमिका में प्रस्तुत किया और प्रेक्षकों के प्रशंसक भाजन भी बने। प्रसादरचित ध्रुवस्वामिनी का प्रयोग कुछ वर्षों पूर्व मैंने एक महिला कॉलेज में देखा था। पुरुष पात्रों की भूमिका में छात्राएं ही थीं और चन्द्रगुप्त एवं अन्य पुरुष पात्रों की सफल भूमिकाएँ भी कभी कभी कुछ उपहासास्पद सी मालूम पड़ती थीं।[4] यूरोप में शेक्सपियर के काल में भी ऐसी प्रथा थी और अब भी ऐसे प्रयोगों का अभाव नहीं है। वहाँ के सामाजिक जीवन में संगठित अनेक प्रकार की महिला समितियाँ ऐसे नाट्यों का आयोजन करती हैं जिनमें महिलाएँ पुरुषों की भूमिका में अभिनय करती हैं। परन्तु यह तथ्य है कि शिक्षा और अभ्यास द्वारा भी नारी पौरुष का कितना भी प्रदर्शन करे परन्तु पुरुषोचित वीरत्व और परुषता का वह भाव नहीं आ पाता।[5] भरत ने इस विपरीत

---

१ प्रियदर्शिका तृतीय अंक।

२ ध्रुवस्वामिनी अंक २, पृ० ४७ तथा अरिपुरे परकलत्रकामुकं कामिनीवेशः चन्द्रगुप्तो शकपतिमशातयद्। बाणभट्ट।

३ चन्द्रगुप्त, अंक २ पृ० ६४।

४ स्वप्नवासवदत्ता (१९५०) अम्बपाली (१९५१)
भरत नाट्य परिषद् (रामदयालुसिंह कालेज के तत्वावधान में आयोजित)।

५ In Shakespeare's time the women's part were taken by men No body minds a little girl dressing up as a boy and in any case, there is a wide field of fantasy that they can enter

नाट्य प्रयोग को अलकार ही माना सहजात गुण नही।[1] लोकनाट्यो मे तो प्राय ऐसे प्रयोग होते ही हैं। मिथिला के लोकनाट्य मे पुरुष और नारी दोनो ही भूमिकाओ का निर्वाह बाल नतक द्वारा ही सम्पन्न होता है।

रूपानुरूपा प्रकृति के अनुसार तो स्त्री स्वच्छन्दतापूवक पुरुप की और पुरुप स्त्री की भूमिका मे होते हैं। यह अस्वाभाविक अवस्था है। सामान्यतया यही उचित है कि सस्कृत पाठ्य का प्रयोग पुरुष पात्र करें और गीत का प्रयोग नारी। क्योकि नारी कठ मधुवर्षी होता है और पुरुष कठ परुष एव कठोर। यद्यपि पुरुष भी शास्त्रीय गीत का अभ्यास तो कर लेते हैं परन्तु स्वर म स्वाभाविक माधुय न होन से गीत म वह मोहकता नही आ पाती। यदि स्त्री के पाठ (सस्कृत) म पुरुषजनोचित स्पष्टता और उदात्तता हो तथा पुरुष के स्वर मे नारी-कण्ठ-सा माधुय हो तो दोनो की प्रकृति के विपरीत होने से उनके लिए अलकार ही होता है।[2] मृच्छकटिक मे नायक चारुदत्त को गीत मे विशेष अनुराग है और रोमिल (पुरुप पात्र) का स्वभाव मधुर गीत सुनकर उसकी चेतना आनन्द मग्न हो जाती है। यद्यपि विदूषक की दृष्टि मे स्त्री का सस्कृत पाठ तथा पुरुष द्वारा गायन, ये दोनों ही उसे उपहासास्पद मालूम पडते है।[3] स्वभाव के विपरीत नारी एव पुरुष पात्रों द्वारा रूपानुरूपा भूमिका मे प्रयोग के अनेक उदाहरण नाटको म मिलते हैं, यह हम उल्लेख कर चुके है।

भरत ने प्रकृति के विपरीत रूपानुरूपा की भूमिका के लिए प्रयत्न की आवश्यकता मानी है। अपने अपने स्वभाव के अनुकूल सुकुमार या परुष प्रयोग की भूमिका का निर्वाह तो सभव है परन्तु विपरीत स्वभाव का शास्त्रानुसार प्रयोग आचाय बुद्धि की प्रेरणा और प्रयोक्ता के प्रयत्न से ही सभव है।[4] स्त्रिया के अगो म स्वाभाविक माधुय और गति मे विलास भाव वतमान रहता है, पुरुषो के अगो म सुश्लिष्टता और प्रभावशाली तेजस्विता स्वय वतमान रहती है। सहज रूप-सौन्दय और विलास लीलाओ से उद्दीप्त नारी नाट्य शिक्षा पाकर तो नाट्य म वसी ही मन भावन और प्रियदर्शिनी मालूम पडती है जसे फूलो के सौरभ-मद म झूमती लता। नारियाँ कामो पचार म निपुण होती हैं। योग्य एव रूपवती नारियो के भाव रस, अगो के भाव समद्ध लालित्य द्वारा नाट्य म प्राणोन्मादक रस का उन्मेष होता है।[5]

No women when acting the part of a man is completely convincing Gestures may be studied, the voice may be turned to a lower key, make up may be perfect but a women's general appearance and mere often than not the attitudes she adopts, remain famine —Women in Dramas —Stage and Theatre, p 1167 8

१ प्रकृतिविपयय जनिता विज्ञेयौ तावलकारौ। ना० शा० २६।१६।

२ माधुर्य गुणविहीन शोभा जनयेन्त तद्गीतम्।
यत्र स्त्रीणां पाठ्यात् गुर्वी नराणां च कठमाधुर्यम्। ना० शा० २६।१७-१६।

३ मृच्छकटिक अक ४।३ ५, मम तावद्द्वाभ्यां हास्य जायते। स्त्रिया सस्कृत पठन्त्या मनुष्येण च काकली गायता।

४ स्त्रीषु प्रयोज्य प्रयत्नेन प्रयोग पुरुषाश्रय। यस्मात् स्वभावोपगतो विलास स्त्रीषु विद्यन। ना० शा० २६।२० २१।

५ प्रमदा नाट्य विलासै (लभते) लतेव कुसुमै विचित्रलावण्या। कामोपचार कुशला भवन्ति च काम्या विशेषेण॥ २६।३४ (गा० ओ० सी०)।

सुकुमार और आविद्ध प्रयोग

स्त्री और पुरुष की भिन्न प्रकृति को दृष्टि म रखकर ही भरत ने दो प्रकार के नाट्य प्रयोग की कल्पना की है—सुकुमार और आविद्ध। सुकुमार प्रयोग म नारी-पात्रो की प्रधानता रहती है और आविद्ध प्रयोग मे पुरुष की। सुकुमार प्रयोग मे युद्ध, मार काट, हत्या और इसी प्रकार के अन्य भयावह दृश्यो का प्रयोग नही होता क्योकि उसका प्रयोग नारी द्वारा सभव नही है। नाटक, प्रकरण, भाण और वीथी आदि शृगार प्रधान सुकुमार रूपक स्त्रियो के लिए उपयुक्त होते हैं। इनम सुकुमार प्रकृति की नारियाँ भूमिका मे रहती हैं। इन रूपक भेदों मे शृगार की प्रधानता होने के कारण स्त्री की सुकुमार प्रवृत्ति और लालित्य के प्रसार का पर्याप्त अवकाश रहता है। परन्तु आविद्ध प्रयोग मे कठोर प्रकृति के पुरुषो की बहुलता रहती है। उद्दण्ड प्रकृति के देव, दानव और राक्षसो क जीवन के अनुरूप ही युद्ध, हत्या, विनाश, विभीषिका, आघात और प्रत्याघात के दारुण दृश्यो का प्रयोग होता है। उद्धतप्राय डिम, समवकार ईहामृग और व्यायोग (रूपक भेद) इनके लिए उपयुक्त होते हैं। अत वृत्ति के रूप म इन प्रयोगो के सात्वती और आरभटी का प्रयोग होता है।[1]

---

१ ना० शा० २१।१२२ १२ (गा० ओ० सी०)।

१०

नाट्याचार्य और रगशिल्पी

नाटय प्रयोग मे समस्त ज्ञान विज्ञान, शिल्प और कला तथा लोक एव शास्त्र की परपराओ का समन्वय होता है।[१] इस समन्वय के द्वारा ही नाटय प्रयोग को पूर्णता प्राप्त होती है। इसी पूर्णता को लक्ष्य कर भरत ने नाटय प्रयोग के समस्त साधक अगो का आकलन और तात्त्विक निरूपण तो किया ही है परन्तु उनकी शास्त्रीय दृष्टि का प्रसार उस महत्तर मानवीय शक्ति की ओर भी हुआ जिसकी प्रखर प्रतिभा कल्पना और परिश्रम के योग से ही नाट्यामृत रस का रगभूमि मे अभिवर्षण होता है। नाटय प्रयोग के लिए विविध विषयो के आचार्य, कला मर्मज्ञ और शिल्पियो की विद्या बुद्धि का उपयोग होता है। ये रगाचार्य, नाटयाचार्य, वर्तक, छन्द विधानज्ञ, शिल्पी और लयतालज्ञ आदि होते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के व्यवसाय और कला के जानकार शिल्पियों की प्रतिभा और परिश्रम का भी उपयोग नाट्य प्रयोग के लिए किया जाता है, जिनमे आभरणकृत माल्यकार, चित्रकार, वेषकार, नाटयकार, स्तौतिक, रजक, कारुक और कुशीलव आदि अनगिनत शिल्पी जन अपना योग प्रदान करते हैं। रगमच पर उपस्थित पात्रों के अतिरिक्त ये नाटय प्रयोक्ता नाटय मडप की रचना, उसकी साज-सज्जा, पात्रो के वेश विन्यास आदि का विधान, आभरण रचना, चित्र कल्पना, गायन और वादन, आदि नाना प्रकार के प्रयोगो के समन्वय द्वारा नाटय प्रयोग को सिद्धि प्रदान करते हैं।

सूत्रधार स्थापक और पारिपार्श्विक

पात्रो तथा अन्य नाटय शिल्पियो मे सूत्रधार प्रधान होता है, क्योकि समस्त नाट्य प्रयोग का सूत्र उसी के द्वारा सचालित होता है। वह नाटय प्रयोग का प्राण सूत्र सा बनकर सब पात्रो और प्रयोक्ताओ को जीवन और गति देता रहता है। आवश्यकतानुसार स्वय भी रगमच

---

१ न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न साविधान साकला। न सयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
ना० शा० [illegible]

पर पात्र के रूप मे प्रस्तुत होता है, तथा स्थापना या प्रस्तावना के माध्यम से नाटय का आरम्भ भी करता ही है। नाटय प्रयोग उसकी प्रेरणा और कल्पना पर परिपल्लवित होता है। इसी महत्ता को दृष्टि म रखकर भरत ने सूत्रधार के स्वाभाविक एव उपार्जित गुणो का आख्यान करते हुए उसम महत्तर आदशपूण व्यक्तित्व की कल्पना की है। सूत्रधार शास्त्र कर्मों म सुशिक्षित वाद्य वादन मे प्रवीण रसभाव म विशारद, नाटय प्रयोग मे कुशल, वेश्याओ के उपचार मे निपुण, नाना प्रकार के गीतो, छन्द विधान और ग्रहनक्षत्र के तत्त्वो का ज्ञाता, देह व्यापार म पडित, पृथ्वी, द्विप, देश और जनपदो के चरित का ज्ञाता, राजवश म जन्म ग्रहण करन वाला, शास्त्रार्थों का निर्णायक, प्रवक्ता तथा नाना पाखण्ड कार्यों का ज्ञाता हाता है। इन शास्त्रोपार्जित गुणो के अतिरिक्त वह स्वाभाविक गुणो से भी समद्ध होता है। वह स्मृतिमान बुद्धिमान्, स्मित भाषी पवित्र, नीरोग, मधुर, क्षमाशील, प्रियवादी, अनुकूल, सत्यवादी और क्रोधरहित होता है। इन शास्त्रोपार्जित एव स्वाभाविक गुणा के द्वारा वह समस्त नाटय प्रयाग का सचालन करता है।[1] उसी के माध्यम से कवि और प्रेक्षक का सगम सभव हो पाता है।

नाट्य प्रयोग सम्बन्धी अन्य अनेक कार्यों का सपादन करते हुए यह सूत्रधार स्थापना एव प्रस्तावना द्वारा नाटय का मगलारभ करता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र एव अन्य नाटयशास्त्रीय ग्रन्थो मे स्थापक द्वारा काव्य की स्थापना के प्रयोग का विधान है परन्तु प्राप्त सस्कृत नाटको म स्थापक द्वारा स्थापना के प्रयोग का कोई उदाहरण नही उपलब्ध है।[2] भास के नाटको मे स्थापना तो है पर उसका प्रयोक्ता भी सूत्रधार ही है। इनम सूत्रधार तो कभी अत्यन्त सक्षेप मे और कभी गीत आदि की योजना करके ही नाट्य प्रयोग का आरभ कर देता है।[3] परन्तु मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली और उत्तररामचरित आदि भास के परवर्ती नाटको मे सूत्रधार प्राय अतिरिक्त नाटय काय करते हुए पाये जाते हैं। वे कवि परिचय देत हैं और नाटयकथा के नितान्त नवीन होने पर उसका भी सक्षिप्त सकेत कर देते है। उत्तररामचरित म सूत्रधार (वदेशिक) और नट के सवाद से कथा का परिचय मिल जाता है।[4] मच्छकटिक और मालतीमाधव नामक प्रकरणो की कथा सवविदित न हाने के कारण चारुदत्त वसन्तसेना और मालती-माधव की प्रणय-कथा का सकेतात्मक वणन प्रस्तावना म सूत्रधार ने प्रस्तुत किया है।[5] महावीरचरित की प्रस्तावना म तो सूत्रधार का सहायक उससे निवेदन करता है कि कथा की अपूवता के कारण उसके सम्बन्ध मे प्रेक्षका स निवेदन करे।[6]

१ नाटयप्रयोग कुशल नानाशि पसमन्वित ।
पादच्छन्दविधानज्ञ सवशास्त्र विचक्षण ।
स्मृतिमान् मतिमान् धीर उदार स्थितवाक कवि ।
नरोगो मधुर क्षान्तो दान्तचैव प्रियवद ॥ आदि। ना० शा० ३८।४८ ८२ का स०, का० मा० ३५। पृ० ६८८।

२ ना० शा० ५।१६२ (गा० ओ० सी०)।

३ भास के नाटकों की प्रस्तावना।

४ अ० शा०, उत्तररामचरित और मालविकाग्निमित्र प्रस्तावना।

५ अवनिपुरी द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्र किल चारुदत्त ।
गुणानुरक्ता गणिका चयस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥ मृ० म० १।५-६, मा० मा० की प्रस्तावना।

६ म० च० की प्रस्तावना।

सूत्रधार-अभिनेता भी

यह सूत्रधार प्रस्तावना के उपरान्त आवश्यकतानुसार पात्र के रूप में भी रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ है। मालतीमाधव की कामदकी सूत्रधार ही है।[1] प्रियदर्शिका और रत्नावली में भी वह वत्सराज तथा उत्तररामचरित मे वह रामकाल के वैदेशिक की भूमिका में अवतरित हुआ है। उत्तररामचरित मे भरत का उल्लेख तौर्यत्रिक सूत्रधार के रूप मे किया गया है, क्योंकि वह गीत, वाद्य और नृत्यो मे भी पाता हैं।[2] यही कारण है कि प्रस्तावना के क्रम में वह नटी या कुशीलव या पारिपार्श्विक आदि की सहायता से नाट्यारंभ मे गीत के सहयोग से प्रयोग करता है। अतः पात्रो तथा अन्य नाट्य प्रयोक्ताओं मे सूत्रधार का व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्त्वशाली है। वह नाट्य प्रयोग की विधियों का उपदेष्टा ही नहीं स्वयं रंगमंच पर प्रस्तुत हो कवि एवं काव्य परिचय, गीत तथा अभिनय का भी प्रयोक्ता है। वह भास के पूर्व से ही नाट्य प्रयोग का इतना महत्त्वशाली व्यक्तित्व बना हुआ था कि भारतेन्दु काल तक के नाटक सूत्रधार के प्रभाव से बच नहीं सके।[3]

पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली मे सूत्रधार

नाट्य प्रयोग के लिए सूत्रधार की महत्ता के सम्बन्ध मे भरत की कल्पना के समानांतर आधुनिक पाश्चात्य नाट्याचार्यों ने भी प्रायः उसी रूप में विचार किया है। उनकी दृष्टि से सूत्रधार (प्रोड्यूसर) नाट्य प्रयोग का नियंत्रक होता है। वह नाट्यकार की रचना को प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त पात्रो का चयन करता है, रंगमंडप रचना, वेशभूषा विन्यास, प्रकाश व्यवस्था एवं अन्य अनेक प्रकार की प्रयोग-संबंधी समस्याओं का सूत्र वही संचालित करता है। प्रयोक्ता पात्र एवं अन्य सहायक उसके अंग के रूप में रहते हैं। वह समस्त नाट्य प्रयोग का मूल स्रोत है, जो कवि के नाट्य, उसके विचार और कल्पना को अभिनय एवं अन्य विधियों द्वारा रूप देता है, समग्रता देता है, प्राण देता है।[4] इन आचार्यों ने नाट्य प्रयोग मे प्रयोक्ता, कवि और सामाजिक के महत्त्व का शतशः आख्यान किया है और इस 'त्रिक' का समन्वय यह सूत्रधार अथवा प्रोड्यूसर ही करता है।[5] भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार तो इन तीनों द्वारा व्यक्ति विशेष की भावना परिस्थिति विशेष की कल्पना से साधारणीकृत होने पर ही नाट्य रस आस्वाद्य होता

---

१ मा० मा० की प्रस्तावना।

२ यस्तुजद् भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिक सूत्रधारस्य। उ० रा० च० अंक ४।

३ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — सत्य हरिश्चन्द्र की प्रस्तावना।

४ The status of producer is essentially one of the control He is, indeed, the autocrat of the theatre into whom all things must be subservient —Theatre and Stage p 781 (Production and Principles)

५ There will be something of beauty added to the world, because the producer has unified his elements used his tools wisely brought the three A's to-gether the author the actor and the audience into the common understanding and to one mind or way of thinking

F E Doran Production and Principles,

Theatre and Stage p 771 80

शिल्पियों की परिगणना 'भरत' शब्द के अन्तर्गत की गई है।[1] रत्नावली की प्रस्तावना में सूत्रधार अपनी पत्नी से निवेदन करता है कि उसका छोटा भाई ही यौगन्धरायण की भूमिका में प्रस्तुत हो रहा है।[2] अतः सूत्रधार, नटी एवं अन्य विशिष्ट पात्र एक ही जाति के थे और नाट्य प्रयोग करना उनका वंश-परम्परागत गुण (व्यवसाय) था। नटी सूत्रधार की पत्नी होती थी। प्रायः गीत, नृत्य तथा अभिनय कला में निपुण होती थी। अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रस्तावना में ही नहीं, चारुदत्त के नाटकों में भी गीत की योजना उसी ने की है। शाकुन्तल में प्रयुक्त उसका गायन, अत्यन्त मनोहर है।[3] मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में सूत्रधार ने अपनी पत्नी नटी के सम्बन्ध में उत्तम विचार प्रस्तुत किये हैं।[4] इन प्रमाणों के आधार पर यह तो प्रमाणित हो जाता है कि नटी सूत्रधार की सहानुगा है और उपलब्ध भारतीय नाट्य-साहित्य में भास से भारतेन्दु तक के नाटकों में वह सूत्रधार के साथ वर्तमान रही है। प्रस्तावना के क्रम में प्रयुक्त इन तीन प्रधान पात्रों के अतिरिक्त इसी अध्याय में सम्भव है नाट्यशास्त्र में उल्लिखित नाटकीया ही नटी हो। यह वस्त्र आभूषण और वर्णक आदि से आच्छादित हो भावरस समन्वित नृत्य का (मनोदशा का) अभिनय करती है। नटी, नाटकीया और नर्तकी ये तीनों ही नाट्य प्रयोग में नाना शिल्पों के ज्ञान आतोद्य के वादन तथा रूप और यौवन से सम्पन्न होती हैं। नाटकों की प्रस्तावना में नटी ही प्रस्तुत होती है।[5]

नर्तकी, नाटकीया

रस भाव विभाविका, दूसरे का संकेत जानने वाली, चतुरा, अभिनयज्ञा, भाण्डवाद्य लय तालज्ञा, रसानुविद्ध और सर्वांग सुन्दरी नटी नाटकीया होती है।[6] सम्भव है भरत ने नटी के स्थान पर ही नाटकीया का उल्लेख किया हो। चारुदत्त नाटक में गणिका वसन्तसेना के लिये खलनायक शकार ने, नाटक स्त्री शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि इसी अध्याय में भरत ने गणिका की पृथक् परिभाषा एवं परिगणना की है।[7] सम्भव है अभिनय एवं नृत्य में चतुर यह वेश्या भी होती हो अथवा यह भी सम्भव हो कि यह नर्तकी के निकट का शब्द हो। नर्तकी की परिभाषा और व्याख्या करते हुए उसकी मनोमुग्धकारिणी सुन्दरता—आकर्षक भाव भंगिमा और शिल्पज्ञान की न जाने

१ अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां विकल्पनम्। ना० शा० ३५।६६ का० सं०। (गा० ओ० सी०) ३५।२१ ४१।

२ ननु अयं मम कनीयान् भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव। रत्नावली की प्रस्तावना।

३ तवास्मि गीतरागेन हारिणा प्रसभं हृतः। अ० शा० प्रस्तावना।

४ गुणवती उपाय निलय स्थिति साधिक त्रिवर्गस्य। मुद्रा० रा० प्रस्तावना भाग।

५ ना० शा० ३५।४२ ४७ का० सं०।

६ स्वरतालयतिज्ञाश्च तथाऽऽचार्योपसेविका।
चतुरा नाट्य कुशलाश्चोहापोह विचक्षणा।
रूपयौवनसम्पन्ना नाटकीयाश्च नर्तकी।
माधुर्येण च सम्पन्ना ध्यानेन कुशलास्तथा।
अनपत्याः सम्पन्ना चतुः षष्टि कलान्विता॥ आदि। ना० शा० ३५।७७ का० सं०।

७ नाटकस्त्री वसन्तसेना नाम गणिका दारिका। चारुदत्त अंक १।
तथा—अस्यैव कौत्सन भार्या लासिका नर्तकी नटी।
सैव रंगमुपारूढा कथ्यते रंगनायिका। ना० ल० को० पृ० २१८१ ८२।

कितनी प्रशसा की गई है। दशरूपक मे उद्धत नाटय शास्त्र के पाठ के अनुसार तो गुण, वय और रूपवती सहस्रो नारियो मे नर्तकी सी कोई भी स्त्री सुदर और निपुण नहीं होती।[1]

स्तौतिक (तौरिक)—परिभाषा में तौरिक और परिगणना में स्तौतिक शब्दों का प्रयोग है। सम्भव है स्तौतिक शब्द का विकास स्तुति मगलवाचक 'स्तु' धातु मे हुआ हो क्योंकि आरम्भ कालीन नादी मे मगलारम्भ के पूव म गीत या नृत्य का प्रयोग नितान्त अल्पमात्रा म होता था, केवल स्तुति वाचन मात्र होता था। इस स्तुति का वाचक ही स्तौतिक रहा होगा। परन्तु तौरिक शब्द की परिभाषा भरत ने 'तूय परिग्रहयुक्त' की है। वह तो वाद्यवादन तथा युद्धकला म भी निपुण होता था। वह शूरपति और तूयपति भी होता था जिसम मगलारम्भ में गायन, वादन और नत्य की प्रचुरता हो गयी थी।[2] यद्यपि भरत ने नाटय प्रयोग म अतिशय गीत वाद्य एव नत्य का प्रयोग निषिद्ध माना है।[3] अत ये दोनो प्रचलित शब्द नाटय प्रयाग की विकासशील विभिन्न अवस्थाओ के परिचायक हैं। एक म स्तुतिवाचन की ही प्रधानता है तो दूसरे मे न केवल तूय आदि वाद्यों की ही, अपितु परिग्रहों (शस्त्रों) के प्रयोग की भी प्रधानता है।

नाटय प्रयोग के कुछ अन्य शिल्पी

मुकुट कर प्रयोक्ता पात्रो के लिए मुकुट की रचना करता है। मुकुट रचना के लिए भी आहार्याभिनय के अन्तगत निश्चित विधानों का उल्लेख है। मुकुट का प्रयोग राजा रानी एव अन्य राजवशीय पात्रो के लिए होता है, क्योंकि शिरावेश के लिए अनक वेश भूपा और अलकारो का विधान किया गया है। उन सबकी रचना यह मुकुटकर ही किया करता था। आभरण कृत द्वारा विभिन्न पात्रा के अग प्रत्यगो की छवि को और भी आकषक एव प्रभावशाली रूप म प्रस्तुत करन के लिए विविध प्रकार के मनोहारी आभरणो का विधान बहुत विस्तृत रूप म किया गया है। अत आभरणो का प्रयोक्ता (विशेषज्ञ) आभरण कृत ही होता था। माल्य कृत फूलो की सुरभित रग बिरगी मालाओ की रचना कर पुरुष एव नारी पात्रा की शृगार-सज्जा प्रस्तुत करता था। वेषकर पात्रा की वेष रचना करता था।[4] वेश का बडा महत्त्व है। कवि कल्पित पात्र की मनोदशा, वय एव अवस्था के अनुरूप वेश की रचना होने पर नाटय प्रभाव की वद्धि होती है। अत वेषकर भी नियुक्त रहता था। चित्रकार मुख्य रूप से रगपीठ एव रगमडप की भीतरी भित्तियो पर चित्ररचना करता था। प्रेक्षागृह के विभिन्न भागो के वणन के प्रसग मे नाटयमडप की सुदरता और भव्यता के लिए मनोहारी चित्ररचना का स्पष्ट विधान किया गया है। रजक वस्त्रा को रँगता था क्योंकि विभिन्न रसों के सदभ म पात्रा के वेश का भी रग तदनुरूप परिवर्तित होता रहता था।[5] कारुक रगमच के लिए ऐसी उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता था, जिसमे

---

१ समागतासु नारीषु रूपयौवन कान्तिषु।
न दृश्य न गुणैस्तुल्या नर्तकी सा प्रकीर्तिता। ना० शा० ३४'४७ का० स०।
तथा—दशरूपक के परिशिष्ट में उद्धृत नाटयशास्त्र के पाठानुसार ३४।११३ (निर्णयसागर)।

२ शरपतिस्तूर्यपति सर्वातोध प्रवादन कुशल।
तूयपरिग्रहयुक्तो विज्ञेय तौरिको नाम। ना० शा० ३५।७२ का० स०।

३ कार्यो नातिप्रसगोऽत्र नृत्तगीतविधि प्रति। ना० शा० ५।१५८ (गा० ओ० सी०) (द्वि० स०)।

४ ना० शा० ३५ ३३ २८ का० मा०।

५ ना० शा० ३५।८२, का० म०, का० मा० ३५।३८।

सोना, लोहा, पत्थर और लकड़ी का प्रयोग होता था। मुख्य रंगमंच की रचना में कारुक का संभवतः सर्वाधिक योग लिया जाता हो। क्योंकि रंगमंच की रचना में इन वस्तुओं का प्रयोग होता ही है साथ ही अस्त्र शस्त्र एवं इसी प्रकार की अन्य अनेक प्रकार की नाट्योपयोगी कृत्रिम सामग्री तैयार की जाती है। कथावस्तु के आग्रह से पात्र उसका प्रयोग करते हैं। इस शब्द का प्रयोग शिल्पकार और कर्मकार के लिए भी प्राचीन भारतीय साहित्य में हुआ है। याज्ञवल्क्य मनुस्मृति विद्धशालभंजिका और नैषधीयचरित में इसका उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति के अनुसार कारुक शब्द बहुत व्यापक है इसके अंतर्गत काष्ठकर्मी, तन्तुवाय नापित, रजक और चर्मकार आदि सब परिगणित होते हैं।[1]

कुशीलव वाद्ययन्त्रों की समुचित व्यवस्था तथा उनके वादन में निपुण होता है। आतोद्य विधान और उसके वादन की कुशलता के कारण ही यह कुशीलव के रूप में विख्यात हुआ।[2] कुशीलवों का संबंध राम के पुत्रद्वय वाल्मीकि रामायण के गायक कुशलव से भी है क्योंकि ये दोनों भी रामायण के परम प्रसिद्ध गायक थे। परन्तु नाट्यकला और प्रयोग के ह्रास के साथ ही इन नटों और गायकों का भी सामाजिक दृष्टि से घोर पतन हुआ और उनका नाम 'कुशीलव' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[3] प्राचीन भारतीय नाटकों में कुशीलव का उल्लेख सभी प्रस्तावनाओं में किया गया है और वहाँ हीन भावना का कोई संकेत नहीं मालूम पड़ता है। मालतीमाधव और वेणीसंहार में कुशीलव शब्द का उल्लेख है। निःसंदेह गायन और वादन में कुशल होने के कारण नाट्य प्रयोग में इनका बड़ा महत्त्व था।[4]

इस विवेचना से भरत की शास्त्रीय दृष्टि का ही नहीं अपितु उनकी सूक्ष्म प्रयोगात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। नाट्यशास्त्र में इन प्रयोक्ताओं के लिए एक सामान्य नाम 'भरत' शब्द का प्रयोग किया गया है।[5] इसके अन्तर्गत सूत्रधार से लेकर रजक तक लगभग अठारह प्रकार के विभिन्न शिल्पियों की परिगणना एवं उनके कार्य व्यापार का उल्लेख किया गया है। इनमें से प्रत्येक अपने आप में स्वतन्त्र है तथा जिसकी कला के योग के बिना नाट्य प्रयोग के सफल होने की संभावना नहीं की जा सकती। वेषकर नहीं हो तो पात्र के वय, सामाजिक और मानसिक अवस्था के अनुरूप प्रभावोत्पादक वेश रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। कारुक यदि नहीं तो नाट्य प्रयोग में प्रयुक्त प्रभूत सामग्री का उचित उपयोग ही नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्र में परिगणित प्रत्येक शिल्पकार नाट्य प्रयोग को जीवन, रस और शक्ति प्रदान करता है। अतएव भरत ने उन प्रधान प्रयोक्ता शिल्पियों की परिगणना की है, अन्यथा रंगमंडप की रचना तथा

---

१ ना० शा० ३५।८३ का० सं०।
(क) कारुभिः कारितं तेन कृत्रिमं स्वप्नहेतवे। विद्धशालभंजिका १,१२।
(ख) नैषधीय चरित १ ३८।
(ग) याज्ञवल्क्यस्मृति २।२४६।
(घ) मनुस्मृति ५।१२९, १०।१३।

२ ना० शा० ३५।८४, का० मं०, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, विलियम पृ० २९७।

३ मनुस्मृति ८, ६५, १०२ अमरकोष पृ० ११५२ ८३।

४ तत्सर्वे कुशीलवाः संगीतप्रयोगेन मत्समीहितं संपादनाय प्रवर्तन्ताम्। मा० मा० प्रस्तावना।
तदिदमिति नाटयति कुशीलवैः सहसंगीतकम्। वेणीसंहार प्रस्तावना।

५ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां निरूपणम्। ना० शा० ३५।२० का० मा०।

आहार्याभिनय के प्रसग मे जितना विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे नाट्य मण्डप म नाट्य प्रयोग के लिए जितनी विविध सामग्री और विभिन्न शिल्पियो के योग की आवश्यकता पडती है, उसकी परिगणना अत्यन्त श्रमसाध्य है। परन्तु नाट्य मण्डप, आहार्य विधि तथा प्रयोक्ता पात्रो की परिगणना के द्वारा भरत ने नाट्य के प्रयोग पक्ष को प्रयोक्ताओ के लिए बडा ही सुगम बना दिया है। इनके अतिरिक्त भरत ने गणिका, शिल्पकारिका, शकार, विट और विदूषक आदि लोक प्रिय पात्रो की भी परिगणना की है, जिनके सबध म हमने अन्यत्र विचार किया है।[1]

परवर्ती आचार्यों की विचार-धारा

नाट्य प्रयोग की एसी व्यापक दृष्टि का परिचय भरत के परवर्ती आचार्यों न नही दिया। यह तो स्पष्ट ही है कि इन आचार्यों और भरत की दृष्टि म महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भरत शास्त्र कार और प्रयोक्ता दोनो ही थे और य आचाय मात्र शास्त्रकार थे। अत इनकी दृष्टि प्रयोग की ओर नही गई है। धनजय, शारदातनय, सागरनदी, आचाय विश्वनाथ और शिगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने परपरागत पात्रो के सबध मे विचार किया है, प्रयोक्ता पात्रो के सबध मे नही, या किंचित् ही। इन प्रयोक्ताओ मे सूत्रधार, पारिपार्श्विक और स्थापक आदि परपरागत प्रयोक्ता पात्रा का उल्लेख इन सब ग्रन्थो मे है, परन्तु नेपथ्यभूमि मे रहकर नाट्य प्रयोग को प्राण रस से पुष्ट करने वाले उन विभिन्न पात्रा का कोई विवरण नही है। दशरूपककार धनजय की परपरा म ही आचाय विश्वनाथ ने रगमच पर प्रस्तुत होने वाले परपरागत पात्रो के क्रम मे सूत्रधार, पारिपार्श्विक, सस्थापक और कुशीलव आदि का विवेचन किया है। प्रयोगात्मक दृष्टि न होने के कारण भरत की व्यापक पद्धति का अनुसरण नही किया गया है। अतएव अन्य नाट्य प्रयोक्ताओ की परिगणना इन दोनो नाट्य ग्रन्थो मे नही है।[2] इस दृष्टि से सागरनदी के नाटक लक्षण रत्नकोष मे किंचित् उपयोगी सामग्री इस सबध मे प्रस्तुत की गई है। उनका प्रेरणा स्रोत भी भरत का नाट्यशास्त्र ही है। उन्होने नाट्य प्रयोक्ताओ मे सूत्रधार, परिपार्श्विक के अतिरिक्त काव्य प्रस्थापक (सस्थापक), नर्तक, नट (शलूप), भरतसुत (स्त्रीजावा) और रगाचाय (महानट) तथा इन्ही की पत्नी क्रमश लासिका, नर्तकी और नटी का उल्लेख किया है। रगाचाय की पत्नी ही अथवा इनमे से कोई नायिका की भूमिका मे अवतरित होने पर रगनायिका होनी है।[3] परन्तु नाम-परिगणना की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो नाटक लक्षण रत्नकोष म परिगणित नामो मे कुछ ऐसे ही पात्रो की परिगणना की गई है जो प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत होते हैं।

अत भरत की-सी व्यापकता इसमे भी नही है। शिगभूपाल ने भी परपरागत नायको के सहायक पीठमर्द, चेट, विट और विदूषक तथा स्त्री पात्रा मे नायिकाओ की सहायिकाओ या दूती के रूप म चेटी लिंगिनी, प्रतिवेशिनी धात्रेयी, शिल्पकारी, कुमारी, कथिनी, कारु और विप्रश्निका का उल्लेख किया है। कारु शिगभूपाल की दृष्टि म रजकी होती है और शिल्पकारी

---

१ ना० शा० २८ पादटिप्पणी पृ० ६८५, का० मा० स०।

२ द० रू ३।२१ सा० द० ३।४० ६०।

३ लासको नतक प्रोक्त नट शैलूष एव च।
स्त्रीजीवो भरतसुतो रगाचार्यो महानट ॥ ना० ल० को० २१६० २१८८।

वीणावादिनी। परन्तु इनका उल्लेख नायिकाओं की सहायिका के रूप में यहाँ है।[१] भावप्रकाशन मे शारदातनय ने प्रयोक्ताओं के संबंध मे अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ विचार किया है। परन्तु शारदातनय ने नाट्य के प्रयोक्ता के स्थान पर संगीतशास्त्र के प्रयोक्ताओं के नामों की परिगणना की है। इन प्रयोक्ताओं में सूत्रधार, नट, नटी, पारिपार्श्विक कुशीलव, विदूषक के सहित अन्य नाट्य प्रयोक्ता, शलूष और भरत आदि हैं। इस नामावली से यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें ऐसा एक भी नाम नही है जो मात्र प्रयोक्ता हो, पर रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाला पात्र नही हो।[२]

अतः हमारा मन्तव्य इस संबंध में यही है कि भरत की-सी व्यापक प्रयोग दृष्टि परवर्ती किसी आचार्य ने नहीं अपनायी और इसीलिए रंगमंच पर प्रत्यक्षतः प्रस्तुत होने वाले पात्रों के अतिरिक्त अन्य प्रयोक्ताओं के संबंध में कोई विवरण नही प्रस्तुत किया।

नाट्य-प्रयोक्ताओं की सामाजिक स्थिति

नाट्य प्रयोक्ताओं की सामाजिक स्थिति के संबंध में प्राचीन भारतीय साहित्य मे पर्याप्त परस्पर विरोधी विवरण प्राप्त होते हैं। रामायण, पुराण, स्मृतियाँ, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं उपलब्ध प्राचीन भारतीय नाटकों में इस संबंध की प्राप्त सामग्री में नाट्य प्रयोक्ताओं के सामाजिक उत्थान और पतन का जीता जागता इतिहास ही मानो चित्रित है। वस्तुतः इन प्राप्त विवरणों के विश्लेषण से नाट्य प्रयोक्ताओं के सामाजिक ह्रास और उन्नति दोनों का परिचय मिलता है।

नाट्यशास्त्र में प्राप्त पौराणिक आख्यान इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। उक्त आख्यान के अनुसार भरत (नाट्य प्रयोक्ता) नाट्य प्रयोग के क्रम में विनोद सृजन के लिए ऋषि मुनियों का भी उपहास करने लगे और उन्होंने क्रोध में उन्हें अभिशापित किया कि वे शूद्राचार तथा निर्ब्राह्मण हो अपना हीन जीवन बिताएँगे, वंश अपवित्र हो जाएगा तथा वे नर्तकों का हीन व्यवसाय करेंगे।[३] इन्हीं अभिशापित भरत पुत्रों ने ही नहुष का अनुरोध स्वीकार कर पृथ्वी पर नाट्य प्रयोग का समारंभ किया। काणे महोदय की इस सन्दर्भ में यह कल्पना है कि नाट्यशास्त्र के प्रथम से पाँचवें अध्याय तक का अंश भरतों (नटों, नाट्य प्रयोक्ताओं) को निकृष्ट जीवन से उत्कृष्ट जीवन की ओर उत्थान का एक विराट प्रयास है। इन अध्यायों में 'नाट्य' यज्ञ के रूप में परिणत हो जाता है और ब्रह्मोद्भव तथा वेद प्रसूत पंचम वेद के रूप में प्रस्तुत होता है।[४]

पातञ्जल महाभाष्य में नाट्य प्रयोक्ताओं की हीन सामाजिक दशा का बहुत स्पष्ट विवरण हमें मिलता है। पतञ्जलि ने यह कल्पना की है कि 'आख्याता' शब्द का प्रयोग वेदादि शास्त्रों के अध्यापक के लिए हो सकता है, न कि नाट्य विद्या की शिक्षा देने वाले ग्रंथिक या नट के लिए जो रंगमंडप में विभिन्न भूमिकाओं के लिए पात्रों से अभ्यास करवाते हैं क्योंकि

१ शिंगभूपाल, र० सु० १।८६ ९३।

२ भा० प्र० १० अ० पृ० २८८, पं० १७ ३४ १८ २०।

३ निर्ब्राह्मणो निराचारो शूद्राचारो भविष्यति।
यच्च वा भवता वंशे न चाशौचो भविष्यति॥ ना० शा० ३६।३४ ३८ (का० मा०)।

४ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ७७ (पी० वी० काणे)।

यह प्रकृष्टतर उपयोग नही है। प्रकृष्टतर उपयोग तो ग्रथ और अथ का हो सकता है।[1] सभव है पतजलि के काल मे नाट्य विद्या का पूर्णतया परिणत शास्त्र नही तैयार हुआ हो या नटो के आचरण सबधी दुबलताओ के कारण नाट्य विद्या का वह ऊँचा स्थान विद्वानो के बीच नही बना रह सका।

महाभाष्य के एक अन्य सदभ के अनुसार नटो की पत्निया (नटिया) का चरित्र निर्दोष नही होता है, वे पर पुरुषो के साथ भी स्वर और व्यजन की तरह हिल मिल जाती हैं।[2]

वस्तुत भारत का प्राचीन साहित्य (धार्मिक) नाट्य प्रयोक्ताओ और उनकी पत्नियो के चरित्र को सदेह की दृष्टि से देखता रहा है। निर्वासन काल मे राम सीता को साथ नही ले जाना चाहते थे, अत सीता ने कठोर शब्दो मे राम की भर्त्सना की है कि वे अपनी चिर सगिनी युवती पत्नी को शलूष (नट) की तरह दूसरे को सौंपकर वन जाना चाहते हैं।[3]

अथशास्त्र मे नाट्य मडलियों के चरित्र को ही दृष्टि मे रखकर ग्राम म विनोद-स्थान प्रेक्षणशाला और सैर सपाटे के बाग बगीचो के निर्माण का निषेध किया है, क्योकि ग्रामवासियो के सीधे सादे जीवन म नट, नर्तक, गायक और कुशीलव आदि विघ्न उपस्थित करत थे।[4]

मनु और याज्ञवल्क्य नटो के प्रति समाज के आकषण से सभवत परिचित थ। मनु ने नट व्यापार को अनुचित मानते हुए ब्राह्मणो द्वारा नट प्रदशन का निषेध किया है। नटो की पत्निया की सामाजिक मर्यादा उनकी दृष्टि मे नितान्त नगण्य थी। समाज के अन्य पुरुषो का उन नटी स्त्रियो स अवैध सम्बन्ध होने पर भी उसके लिए बहुत ही हल्का दण्ड दन का विधान है। क्योकि वे नट अपनी पत्नियों के रूप और सौन्दय को बेचकर धनोपाजन करत थ और अपनी पत्नियो को अन्य पुरुषों से सपक रखने के लिए उत्साहित करते थे, इसलिए नट, कुशीलव और मल्ल आदि के साथ सपक का सवथा निषेध किया है। नाट्य प्रयोग और दारू कम (बढईगिरी) करने वाले ब्राह्मणो की परिगणना उन्होने शूद्रो की श्रेणी मे की है। नटो को किसी भी वस्तु की प्रामाणिकता के लिए साक्षी के रूप मे स्वीकार नही करत। इन पात्रो द्वारा प्रस्तुत आतिथ्य

---

१ पातजल महाभाष्य, आख्यातोपयोग पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्र पर।
यदारम्भका रग गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्याम।
एव तर्हि उपयोग इत्युच्यते। सर्वश्चोपयोग तत्र प्रकर्षमितिविज्ञास्यते
यश्च साधीय उपयोग। कश्च साधीय ? यो ग्रथार्थयो।
अर्थोपयोग को भवितुमर्हति। यो नियमपूर्वक तद्यथा उपयुक्ता
माणवका इत्युच्यते य एत नियमपूर्वकमधीतव तां भरन्ति। १।४।२९।
देखा—पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३३६, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।
पतजलिकालीन भारत पृ० ५०० डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री।

२ यतनानि पुन नटभायावद् भवन्ति। तद्यथा नटाना स्त्रिय रगगता योय पृच्छति कस्य यूयम् कस्ययूयम् इति तततव तवेत्याहु। पातजल महाभाष्य ६ १, १३ सूत्र पर भाष्य।

३ स्वय तु भार्यां कौमारी चिरमध्युषितां सतीम्।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि। वा० रा० २।३० ८।

४ अर्थशास्त्र—अध्यक्ष प्रचार अधिकरण, पृ० ५३।

ब्राह्मणों के लिए स्वीकार योग्य नहीं होगा।[१] मनु के इस विधान का समर्थन भास्कर और मृच्छकटिक की प्रस्तावनाओं से होता है। सूत्रधार द्वारा अनुरोध करने पर भी विदूषक (ब्राह्मण) उसका निमंत्रण अस्वीकार कर देता है।[२] विष्णुस्मृति में नाट्य प्रयोक्ता नटों को 'आयोगव' शब्द से संबोधित किया गया है क्योंकि ये वर्णसंकर होते थे। ये शूद्र और वैश्य स्त्रियों के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।[३] 'रूपाजीव' और 'जयाजीव' ये दो शब्द इन नाट्य प्रयोक्ताओं के लिए प्रचलित थे। इससे एक ओर उन प्रयोक्ताओं की हीन सामाजिक स्थिति का संकेत होता है दूसरी ओर यह भी कल्पना की जा सकती है कि स्त्री पात्रों की भूमिका में प्रायः रूपजीवा वधूएँ अवतरित होती थीं। चारुदत्त नाटक की वसन्तसेना नाटक-स्त्री है।[४] नाटक लक्षण रत्नकोश में भरत-पुत्र के लिए 'रंगजीवी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[५]

शान्तिपर्व में शूद्र को यह स्वतन्त्रता दी गई है कि रंगमंडप के अन्य कार्यों के अतिरिक्त वह स्त्री का भी तदनुरूप अभिनय सम्पादित कर सकता है।[६] नट निम्नश्रेणी का होता था और उसकी परिगणना समाज के सबसे निकृष्ट अन्त्यजों की श्रेणी में की गई है।[७] सम्भवतः इसी सामाजिक हीनता को दृष्टि में रखकर आपस्तम्ब सूत्र में नाट्य, सभा एवं समाज आदि के प्रदर्शन में पात्रों के लिए भाग लेना सर्वथा निषिद्ध माना गया है।

नटों की खोई हुई सामाजिक प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने की दृष्टि से नाट्यशास्त्र के आरंभिक पाँच अध्यायों की रचना हुई। इन अध्यायों में नाट्य विद्या और उसके प्रयोग को पवित्र धार्मिक अनुष्ठान और 'चाक्षुष-यज्ञ' की मर्यादा देकर बहुत ही ऊँचे सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित किया।[८]

भरतों और नटों का पतन धार्मिक और नैतिक कठोरता के कारण ही नहीं हुआ। भारत के राजनीतिक पतन के उपरान्त नाट्य प्रयोक्ता निराश्रित हो भटकने लगे, फलतः नाट्यकला और उसके प्रयोक्ता उत्तरोत्तर बिखरते गये। अभी भी उत्तर भारत के गाँवों में नट शारीरिक कलाबाज़ी और आल्हा ऊदल के जोशभरे गीत गाकर अपना जीवन यापन करते हैं और उनकी पत्नियाँ (नटिनियाँ) द्वार द्वार गीत गाकर अपना पेट पालती हैं और पर्व-त्योहार के दिनों में यौवन और प्रेम के रंगभरे गीत गाकर अन्न उपार्जन करती हैं। इनकी बोली पछाँही होती है। दूसरी ओर पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तर बिहार के बहुत-से गाँवों में भाटों की बहुत बड़ी आबादी अभी भी स्तुति और वंदना के गीत गाकर अपना जीवन यापन करती है। इनमें बहुतों ने दो एक सदी पूर्व इस्लाम मत स्वीकार कर लिया था। बाद में बहुत से भाट पुनः हिन्दू हो गए। इन नटों और भाटों का संबंध भरतों और नटों से रहा हो यह कहना कठिन है। परन्तु नाट्य शास्त्र के अनुसार भरतों का पतन हुआ था यह निश्चित है। यह अनुसंधान का महत्वपूर्ण विषय है कि ये नट और भाट भरतों की उस परंपरा को विकृत रूप में ही सही, जीवित रखे हुए हैं। मुज़फ्फरपुर में

१ मनुस्मृति ८।१०२, ३।६२ ६८ १० २० १२।४५ याज्ञवल्क्य २।८ ७० ७१।

२ चारुदत्त और मृच्छकटिक का प्रस्तावना भाग।

३ विष्णुस्मृति १६।३ ८।

४ अमरकोष प० १११२ तथा चारुदत्त अंक १।

५ ना० ल० को स्त्रीजीवी भरतसुत प० २१८५।

६ रंगावतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम्। महाभारत शान्तिपर्व २९५।४ ५।

७ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग २ पृ० ७० ८४ तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र १ १, ३, ११ १२।

८ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स पृ० ३२, पी० बी० काणे।

भरथुआ[1] ग्राम अभी भी है और व प्राचीन बदी जनो की तरह स्तवन एव गायन का पेशा करते हैं। य भाट भट्टो के उत्तराधिकारी मालूम पडते हैं, भरतो के नही। भरत का पर्यायवाची शब्द नट है, भाट नही। 'भर' शब्द भट्ट एव 'थुआ' शब्द प्राचीन भारोपीय 'स्तूप' शब्द से विकसित हुआ हो। ऐसे गाँवो के इतिहासो म प्राचीन भारतीय कला और सस्कृति के बहुत स महत्त्वपूर्ण सूत्र खोए हुए हैं जिनके अनुसधान की आवश्यकता है।

भारतीय साहित्य म नाट्य विद्या और नाट्य प्रयोक्ताओ के सम्मान और मर्यादा के भी विवरण उपलब्ध हैं। आरम्भिक बौद्ध साहित्य म समाजो का निषेध किया गया है। परन्तु विरोध का यह स्वर उत्तरोत्तर मद ही नही पडता गया अपितु नाट्य विद्या और प्रयोग को अधिकाधिक प्रश्रय मिलने लगता है। 'ललित विस्तर' और 'अवदान शतक' म इस सम्बन्ध की रोचक कथाएँ मिलती हैं। भगवान् बुद्ध का जीवन अकित करने के लिए नाट्याचार्य स्वय बुद्ध बनता है और अन्य नट भिक्षु-वेष मे अवतरित होते हैं।[2] यही नही, स्वय तथागत भी अन्य अनेक कलाओ के साथ नाट्य-नृत्य और सगीत आदि कलाओ में भी निपुण है।[3] बौद्धधर्म आरभ म इन रागमूलक कलाप्रवृत्तियों का विरोधी था परन्तु बाद मे उस धर्म के प्रवर्तक को ही उस नाट्यकला म निपुण रूप मे चित्रित किया गया है। स्मृति एव धर्म-ग्रन्थो म जो विरोध है, वह उनकी नीतिवादिता और आचरण की शुद्धता के कठोर आदर्श के कारण ही। अत धर्म एव नीतिमूलक साहित्य मे तो विरोध है परन्तु जातीय जीवन का जो विशाल साहित्य विकसित हो रहा था उसमे नाट्य कला और प्रयोक्ताओ को सम्मान का पद प्राप्त था। नाट्यशास्त्र प्रणेता 'भरत' मुनि के रूप म समादृत हैं। नाट्य विद्या से सम्बधित सब विषयो के प्रवर्तक भरत ही माने जाते हैं। लक्ष्मी स्वयवर' नाट्य के प्रवर्तक वही माने जाते हैं। दिव्य अप्सरा उसम लक्ष्मी का अभिनय रूपायित करती है। इस प्रकार नाट्य विद्या का सम्बन्ध वेदो, ब्रह्मा और भरतमुनि से और प्रयोग का सबध विष्णु शिव पार्वती इन्द्र एव दिव्य अप्सराओ तथा भरतमुनि के सम्मानित पुत्रो से है।[4] नाट्य प्रयोक्ता पात्र राजाओ और श्रेष्ठ कवियो के रूप मे भी चित्रित हुए हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित म वर्णित अपने मित्रो म नटो और नटियो के नामों की परिगणना की है। भर्तृहरि ने

---

१ भरथुआ शब्द का पूर्वार्द्ध तो भाट शब्द का रूपान्तर है। भट्ट भर भड़ भर। भाटों के कई गाँव में भर शब्द मिलता है। जैसे भरौली (भट्टपल्ली), भरौरा (भट्टपुरा) परन्तु थुआ शब्द का मूलरूप अन्वेषण का विषय है। बहुत पुरा स्तुप' धातु सारी भारोपीय भाषाओं में मिलता है। स्तूप उसी से बना है। पुराना अर्थ टीला रहा होगा। उसे ही इसका पूर्वरूप मानने को म नहीं कहता, क्योंकि ध्वनि-परिवर्तन कभी कभी भ्रामक व्युत्पत्ति की ओर ले जाता है। बहरहाल भरथुआ का तात्पर्य भाटो के गाँव से है। भरतो से इसका सबध नहीं जान पडता। भरतपुत्र नट होते हैं भाट नहीं।
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी स पत्राचार के आधार पर चडीगढ ७।११।६४
Tribes and Castes in North Oudh—W Crooke p 20

२ अवदानशतकम्, पृ० १८७।

३ का यकरणे—वीणाया वाद्ये नृत्ये गीते पठिते आख्याने, हास्ये, लास्य नाट्ये विडम्बिते—सवत्र बोधिसत्व एव विशिष्यतरम। ललितविस्तर पृ० १०८।

४ (क) ना० शा० प्रथम अध्याय
(ख) मुनिना भरतेन य प्रयोग अक २।१७
लक्ष्मीभूमिकाया वतमाना उवशी—विक्रमोर्वशी, अक ३।

वैराग्यशतक म इन नाट्य प्रयोक्ताओं और राजाओं की मित्रता का उल्लेख किया है।[1]

मालविकाग्निमित्र के प्रथम एव द्वितीय अक म प्रयोक्ता पात्रो और नाट्याचार्यों की महत्ता का प्रतिपादन है। रानी धारिणी की बहन मालविका सम्भ्रान्त राजपरिवार की कन्या होने पर भी नृत्य और अभिनय की शिक्षा पाती है। नाट्याचार्य हरदत्त और गणदास को राजा द्वारा उचित सम्मान प्राप्त है। प्राश्निक पद पर अधिष्ठित परिव्राजिका के लिए राजा और रानी दोनो के हृदय म सम्मान का भाव है। यही नहीं, गणदास के शब्दो म नाट्यविद्या 'चाक्षुष क्रतु' (नयनो का यज्ञ) है स्वांग या नकल मात्र नहीं। शिव और पार्वती की प्रेरणा से इस महनीय कला का उदभव हुआ है।[2]

रत्नावली म सम्राट श्रीहर्ष के पादपद्मोपजीवी राजादिग्—देशागत, राजसमूह न सूत्रधार के लिए 'सबहुमान' जसे आदरसूचक शब्द का प्रयोग किया है।[3] भवभूति न महावीरचरित तथा मालती माधव म नाट्य प्रयोक्ताओं के साथ अपनी मित्रता का उल्लेख किया है।[4] भवभूति जैसे शिष्ट और सुसस्कृत नाटककार की मैत्री जिन नाट्य प्रयोक्ताओं स रही होगी, निश्चय ही धर्म सूत्र, स्मृति ग्रथ एव अर्थशास्त्रो म निषिद्ध सामान्य नटो की अपेक्षा, वे शिक्षा और सस्कार म कही अधिक सम्भ्रान्त होंगे। हरिवशपुराण म रामायण नाटक' और कौबेररम्भाभिसार' का प्रद्युम्न यदुवंशियो द्वारा प्रयोग नाट्यकला और उसके प्रयोक्ताओं की मर्यादापूर्ण सामाजिक अवस्था का परिचायक है।[5] कालिदास एव अन्य नाटककारो की प्रस्तावनाओं म नाट्य प्रयोग विधान' की शिक्षा और अभ्यास पर जसा बल दिया गया है[6], उससे भी यह प्रमाणित होता है कि पतजलि के बाद लौकिक विद्या और कला के रूप म इसका सम्मान उत्तरोत्तर बढा और अन्य विधाओ की भांति इसके अध्ययन-अध्यापन की शास्त्रीय परपराओं की स्थापना और समृद्धि हुई। यो पाणिनि के पूर्व भी इन नट सूत्रो की परिगणना वैदिक चरणो के अन्तर्गत हो रही थी।[7]

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्य विद्या (वेद) और प्रयोग की इसी महत्ता को दृष्टि म रखकर (नाट्य) कवि द्वारा नाट्य की रचना प्रयोक्ता द्वारा नाट्य प्रयोग और सामाजिक द्वारा प्रयोग का प्रेक्षण तीनो को ही वर्जनीय नही माना है, क्योंकि नाट्यविद्या तो नट के लिए वेद स्वरूप है, उसका धर्म है अत उपादेय है। कवि तो अपने हृदय मन्दिर में उदित प्रतिभा रूप वाग्देवी के अनुग्रह से ही अपूर्व एव विलक्षण नाट्य की रचना प्रजापति की तरह

---

१ पुस्तकृत् (लेपरचना) कुमारदत्त लासकयुवानाण्ड्विक, शैलालियुवा शिवाभद्रक नर्तकी हरिणिका। हर्षचरित उच्छ्वास १, पृ० ४२ वैराग्यशतक ४६।

२ मालविकाग्निमित्र अक १।४। शान्त क्रतु चाक्षुषम्। रुद्रेणेदमुमाकृत यतिकरे स्वागे विभक्त द्विधा।

३ अद्याह वस नारमवे सबहुमानमाहय—रत्नावली प्रस्तावना भाग।

४ भवभूतिनामा जातुकर्णीपुत्र कवि निसर्ग सौहृदेन भरतेषु स्वकृतिमेव प्रायगुण भूयसीमस्माकमर्पित वान। मालतीमाधव प्रस्तावना भाग। महावीरचरित प्रस्तावना भाग।

५ हरिवश, वि णुपर्व ९३। रामायण महाका यमुद्दिश्य नाटक कृतम्। रम्भाभिसार कौबेर नाटक ननृतु तत। ९३ ९ ९२।

६ आपरितोषाद् साधु न म ये प्रयोगविज्ञानम्। अ० शा० प्रस्तावना भाग।

७ पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३३०। वासुदेवशरण अग्रवाल।

करता है। सामाजिक को गाने नाचने का उपदश नही दिया जाता है। अपितु स्वभावत सुदर विपयो के रसास्वादन मे प्रवत्त वेदादि (नीरस) शास्त्रा से भयभीत सामाजिक के लिए मनोमुग्धकारी नाटय प्रयोग की परिकल्पना की गई है। इस मनोविनोद के साथ ही सहज रूप से धम अथ, काम और मोक्ष इन चारो साधनो का भी वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है।[1]

भरत ने तो नाटय को वेद का सम्मान देकर यह प्रतिपादित किया है कि नाटय-वेद का जो अध्ययन एव प्रयोग करता है, उसे वही पुण्य प्राप्त होता है जो वेद ज्ञाता, यज्ञानुष्ठाता और दानशील का प्राप्त होना है।[2]

नाटय प्रयोक्ताओ की परिगणना एव परिभाषा म विभिन्न व्यवसायियो और शिल्पियो की परिभाषाए दी गई हैं। उनके लिए कही भी निदात्मक शब्द का प्रयोग नही किया गया है अपितु उनकी गुण गरिमा का अत्य त भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। सूत्रधार तो सब गुण आगर होता ही है पर वह राजवश प्रसूतिमान् भी होता है।[3]

अन नाटयशिल्पियो के सामाजिक जीवन का इतिहास उत्थान पतन के सघर्षों से भरा है। व अपने सामाजिक जीवन म उठे भी है और गिरे भी हैं। पर नाटयकला के पुनरुत्थान के लिए ही सदा जीते-जागते रहे हैं। हीन सामाजिक जीवन के सदियो से शिकार रहे हैं और अतत वह जाति भी प्राचीन भारत के रगमचीय गौरव के साथ विस्मति म विलीन हो गई। भरता की वह परपरा लुप्तप्राय है। यह महत्वपूण बात है कि नाटयशास्त्र की मूल पाडुलिपिया प्राय दक्षिण भारत मे मिली, उत्तर भारत म नही।

न तथा गन्धमाल्येन देवा तुष्यति पूजिता ।
यथा नाटय प्रयोगस्य नित्य तुष्यति मगल ॥

---

१ एतेन कामजो दशको गुण ' (मनुस्मृति—७·४७) इति अनौचित्येन [illegible] शशकिरे तदयुक्तीकृतम्। याज्ञवल्क्यस्मृति पुराणादी चस्य [illegible] तावेदतस्य धमाम्नाय रूपतयाऽनुष्ठेयमेव। श्र० भा० [illegible]

२ य इम शृणुयात् प्रोक्त नाट्यवेद महात्मना ।
कुर्यात् प्रयोग यश्चैव तथाऽधीयीत वानर ।
या गति वेदविदुषा या गतिर्यज्ञवेदिनाम् ।
या गतिर्दानशीलाना ता गति प्राप्नुयाद् [illegible]

३ प्रमाणचरितश्च राजवश प्रसूतिमान्— [illegible]

वराग्यशतक म इन नाट्य प्रयोक्ताआ और राजाओ की मित्रता का उल्लेख किया है।[1]

मालविकाग्निमित्र के प्रथम एव द्वितीय अका म प्रयोक्ता पात्रो और नाट्याचार्यों की महत्ता का प्रतिपादन है। रानी धारिणी की बहन मालविका सभ्रात राजपरिवार की कन्या होने पर भी नत्य और अभिनय की शिक्षा पाती है। नाट्याचाय हरदत्त और गणदास को राजा द्वारा उचित सम्मान प्राप्त है। प्राश्निक पद पर अधिष्ठित परिव्राजिका क लिए राजा और रानी दोनो के हृदयो म सम्मान का भाव है। यही नही गणदास के शब्दो म नाटयविद्या 'चाक्षुप ऋतु' (नयना का यज्ञ) है स्वाग या नकल मात्र नही। शिव और पावती की प्रेरणा से इस महनीय कला का उदभव हुआ है।[2]

रत्नावली मे सम्राट श्रीहृप के पादपदमोपजीवी नानादिग—देशागत, राजसमूह ने सूत्रधार के लिए सबहुमान' जसे आदरसूचक शब्द का प्रयोग किया है।[3] भवभूति न महावीरचरित तथा मालती माधव मे नाटय प्रयोक्ताओ के साथ अपनी मित्रता का उल्लेख किया है।[4] भवभूति जैसे शिष्ट और सुसस्कृत नाटककार की मैत्री जिन नाटय प्रयोक्ताओ से रही होगी, निश्चय ही धम सूत्र, स्मृति ग्रथ एव अथशास्त्रो मे निषिद्ध सामा य नटो की अपेक्षा, वे शिक्षा और सस्कार म कही अधिक सभ्रात होगे। हरिवशपुराण मे 'रामायण नाटक' और कौवेररमाभिसार' का प्रद्युम्न यदुवशियो द्वारा प्रयोग नाटयकला और उसके प्रयोक्ताओ की मर्यादापूण सामाजिक अवस्था का परिचायक है।[5] कालिदास एव अ य नाटककारो की प्रस्तावनाओ म 'नाटय प्रयोग विज्ञान' की शिक्षा और अभ्यास पर जसा बल दिया गया है[6], उससे भी यह प्रमाणित हाता है कि पतजलि के बाद लौकिक विद्या और कला के रूप म इसका सम्मान उत्तरोत्तर बढा और अ य विधाओ की भाति इसके अध्ययन अध्यापन की शास्त्रीय परपराआ की स्थापना और समृद्धि हुई। यो पाणिनि के पूव भी इन नट सूत्रो की परिगणना वदिक चरणा के अ तगत हो रही थी।[7]

आचाय अभिनवगुप्त ने नाटय विद्या (वेद) और प्रयोग की इसी महत्ता को दष्टि मे रखकर (नाटय) कवि द्वारा नाटय की रचना, प्रयोक्ता द्वारा नाटय प्रयोग और सामाजिक द्वारा प्रयोग का प्रेक्षण तीनो को ही वजनीय नही माना है क्योकि नाटयविद्या तो नट के लिए वेद स्वरूप है उसका धम है अत उपादेय है। कवि तो अपने हृदय मं दर म उदित प्रतिभा रूप वाग्देवी के अनुग्रह से ही अपूव एव विलक्षण नाटय की रचना प्रजापति की तरह

---

१ पुस्तकृत् (लेपरचना) कुमारदत्त' लासकयुवानाण्डविक शैलालियुवा शिलण्डक नर्तकी हरिणिका। हषचरित उच्छ्वास १, पृ० ४२ वैराग्यशतक ५६।

२ मालविकाग्निमित्र अक १।४। शा त ऋतु चाक्षुषम्। रुद्रेणेदमुमाकृत व्यतिकरे स्वागे विभक्त द्विधा।

३ अद्याह वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय—रत्नावली प्रस्तावना भाग।

४ भवभूतिनामा जातुकर्णीपुत्र कवि निसग सौहृदेन भरतेषु स्वकृतिमेव प्राणगुण भूयसीमस्माकमर्पित वान्। मालतीमाधव प्रस्तावना भाग। महावीरचरित प्रस्तावना भाग।

५ हरिवश, विष्णुपर्व ९३। रामायण महाका यमुद्दिश्य नाटक कृतम्। रम्भाभिसार कौबेर नाटक ननृत तत। ९३ ६ ९२।

६ आपरितोषाद् साधु न म ये प्रयोगविज्ञानम्। अ० शा० प्रस्तावना भाग।

७ पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३३०। वासुदेवशरण अग्रवाल।

नही अपितु हरिवश पुराण जसे पौराणिक तथा अवदानशतक जैसे बौद्ध ग्रन्थ म भी नाटय प्रयोग की सिद्धि के लिए पारितोषिक प्रदान का विवरण मिलता है।[1]

सिद्धि का स्वरूप और प्रकार

नाटय प्रयोग की सिद्धियाँ भरत के मत से दो प्रकार की होती हैं—दैवी और मानुषी। ये दोनों सिद्धियाँ आगिक वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयो के लोक एव शास्त्र की परपराओ पर आश्रित होती हैं। नाटय प्रयोग के सफल होने पर प्रेक्षको और प्राश्निको के हृदय में प्रसन्नता का उदय होना है, उसका प्रकाशन अनेक रूपो म होता है। आनन्द प्रदशन की विविध प्रक्रियाओ का वर्गीकरण भरत न किया है।[2]

मानुषी सिद्धि के रूप

मानुषी सिद्धि मुख्यत प्रसन्नताबोधक स्थूल सकेतो पर आधारित होती है। प्रेक्षक अपनी वाणी एव शरीर से प्रसन्नता का प्रकाशन करते हैं। इसीलिए इसके दो भेद है—वाडमयी और शारीरी।

वाड्मयी सिद्धि

वाडमयी सिद्धि के निम्नलिखित छ भेद हैं—

स्मित, अद्ध हास, अतिहास साधु, अहो, कष्टम् तथा प्रवृद्ध नाद।

पात्र द्वारा शिष्ट रसमय हास्य का प्रयोग होने पर प्रेक्षक के मुख पर मन्दहास्य की रेखा अकित होने पर स्मित होता है। अस्पष्ट हास्य या अस्पष्ट वचनो के प्रयोग होने पर प्रेक्षक का अस्पष्ट रूप से हँसना अद्ध हास्य होता है। विदूषक की विकृत आगिक चेष्टा या उपहासास्पद नेपथ्यज विधियो के कारण अतिहास होता है। धमयुक्त कार्यों का अभिनय अत्यन्त उत्तम रीति से होने पर प्रेक्षक परितोष व्यक्त करने के लिए साधु शब्द का उच्चारण करते हैं। स्वभाव सिद्ध श्रृगार वीर या अदभुत आदि रसा का अभिनय उत्तम रीति से होने पर प्रेक्षक आत्मपरितोष को अहो अहो आदि भावावेशपूर्ण शब्दो द्वारा प्रकट करते हैं। करुणरस के प्रयोगकाल म प्रेक्षक सास्र नयन से कष्टम शब्द के द्वारा प्रयोग के प्रति परितोष प्रकट करता है। प्रयोग म विस्मय भाव का प्रकाशन होने पर प्रेक्षक द्वारा गम्भीर उच्चस्वर मे प्रशसा प्रकट करने पर प्रवृद्धनाद होता है।[3]

शारीरी सिद्धि

पात्रो के उत्तम अभिनय के प्रति शारीरिक प्रतिक्रियायो द्वारा भी प्रेक्षक आत्म-परितोष प्रकट करते हैं। उनके भी तीन प्रकार हैं—सरोमाचपुलक, अभ्युत्थान और चेलागुलीदान। नाटय प्रयोग के प्रसग म जब पात्र परस्पर अपमानजनक सवाद द्वारा एक-दूसरे को आकंपित करते हैं तो आश्चय बोधक भावा के प्रति प्रशसा और परितोषसूचक शरीर पर रोमाच और पुलक का

१ मालविकाग्निमित्र, अक १ २।

२ ना० शा० २७।१ २ (गा० ओ० सी०), हरिवश।

३ ना० शा० २७।४ ४, ६ १२, (गा० ओ० सी०)।

सिद्धि-विधान

सिद्धि-विधान की परम्परा

नाटय प्रयोग का प्रधान लक्ष्य है प्रेक्षक के हृदय म आनन्द रस का उद्बोधन। वह तभी हो पाता है जब वह प्रयोगसिद्ध हो।[1] उसकी इस सिद्धि के निधारण के लिए भरत ने निश्चित मान दण्डा की स्थापना सिद्धि विधान म की है। इसके अन्तगत सिद्धि के भेद और आधार उसका सकेत करन वाली सात्विक और आगिक प्रक्रियाएँ सिद्धि के लिए नाटय मडलियो की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा, पारितोषिक प्रदान की प्रणाली, सिद्धि के माग म नाना विध बाधाएँ सिद्धि के निर्णायक सहानुभूतिशील प्रक्षक एव गुण दोष विवेचक प्राश्निक आदि की क्षमता के सम्बन्ध म तात्विक विचारा का आकलन किया है। वस्तुत भरत का सिद्धि विधान नाटय प्रयोग का चरम उत्कष है उनकी प्रयोगात्मक नाटय दृष्टि की चरम परिणति इसमे होती है।

नाटय प्रयोग म सफलता की उपलब्धि के लिए नाट्य मडलियो म परस्पर सघष होता था। वे प्रेक्षका के परितोष और अपने नाटय प्रयोग के लिए पुरस्कार प्राप्ति की दिशा मे सचेष्ट रहते थे। इसका विवरण प्राचीन भारतीय साहित्य मे भी उपलब्ध है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम एव द्वितीय अक इस दृष्टि स विशेष रूप स उपादेय हैं। भरत निरूपित सिद्धि विधान का वह प्रयागात्मक स्थल ही है। नाटय प्रयोगगत सिद्धि की समस्याओ का नाटयशास्त्र म जितने विस्तार से विचार किया है, वे सब समग्रता के साथ प्रयाग रूप म यहाँ प्रस्तुत किये गय हैं। अभि ज्ञान शाकुन्तल, उत्तररामचरित, मालतीमाधव और वेणीसहार आदि नाटको की प्रस्तावनाएँ भी इस दृष्टि से विवेचन के लिए आधार प्रस्तुत करती है। इनम सूत्रधार अपन नाटय प्रयोग द्वारा प्रेक्षक को परितुष्ट करन की अपनी लालसा स्पष्ट शब्दो म प्रकट करता है। इन नाटको म ही

१ यस्मात् प्रयोग सर्वोऽय सिद्ध्यर्थं सम्प्रदर्शित, ना० शा० २७।१ख।

बाधाएँ (दोष)

भरत ने नाट्य प्रयोग की सिद्धि के अतिरिक्त चार प्रकार की बाधाओं का भी विवेचन किया है। वे ये हैं—दैवी आत्मसमुत्था परसमुत्था तथा औत्पातिका।[1] नाट्य प्रयोग की बाधाओं के विश्लेषण से भरत की प्रयोग दृष्टि की कुशलता का ज्ञान होता है। छोटी और बड़ी सब बाधाओं (दोषों) के प्रति वे पूर्ण सजग हैं कि नाट्य प्रयोग नितान्त सफल हो।

दैवी बाधाओं पर यद्यपि मनुष्य का अधिकार नहीं है परन्तु दैवी बाधाओं को दृष्टि में रखकर ही दृढ़ स्तंभ वाले नाट्य मण्डपों का उन्होंने विधान किया है।[2] दैवी बाधा के अन्तर्गत वायु अग्नि मण्डप का गिरना और वर्षा का प्रकोप कुंजर (हाथी), भुजंग कीड़े सर्प और चिंटी आदि के प्रवेश का उल्लेख है।[3] यदि नाट्य मण्डप शास्त्रानुसार दृढ़ता से बना हो तो इन दैवी विपत्तियों से बचने की संभावना रहती है और प्रयोग में बाधा नहीं उपस्थित होती।

परसमुत्था बाधा

भरत के काल में विभिन्न नाट्य-मंडलियाँ नाट्य का प्रयोग पारम्परिक प्रतिस्पर्द्धा के साथ करती थीं। धन प्राप्ति या पारितोषिक के लिए उनमें परस्पर प्रतियोगिता होती थी। प्रेक्षकों और रंग प्राश्निकों की दृष्टि में वे नाट्य-मंडलियाँ एक दूसरे के प्रयोग को हीन तथा असफल सिद्ध करने का भी अनुचित प्रयास करने में संकोच नहीं करती थीं। भरत ने 'परसमुत्था बाधा' के अन्तर्गत ऐसी ही अनेक बाधाओं का उल्लेख किया है। नाट्य प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए विरोधी दल का जोरों से हँसना रोना धीमे धीमे निरन्तर बातचीत करते रहने आदि का प्रयोग होता था। भरत के अनुसार विरोधी प्रेक्षक नाट्य प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए अभिनय काल में गोपठा, घास फूस ही नहीं पत्थर के टुकड़े और चिंटियाँ के छत्ते तक रंगमंच पर फेंक दिया करते थे[4] जिससे विशेषकर नारी पात्र उद्विग्न हो जाएँ।[5] भरत ने इस प्रसंग में ईर्ष्या द्वेष, शत्रु पक्ष में मिलने तथा अर्थ भेद के कारण भी प्रयोग में बाधा होने का उल्लेख किया है। अर्थभेद से भरत का आशय संभवतः यह है कि शत्रु पक्ष के लोग प्रेक्षकों को उत्कोच देकर भी नाट्य प्रयोग में बाधा उपस्थित किया करते थे। अर्थभेद प्रेक्षकों का होता था या प्रयोक्ताओं का, यह अस्पष्ट है। इसमें संदेह नहीं कि नाट्य प्रयोग इतना अधिक विकसित था और आपस में ऐसी प्रतिस्पर्द्धा होती थी कि घूस देकर या किसी अन्य विधि से प्रेक्षक या प्रयोक्ता आदि को शत्रु पक्ष के प्रयोक्ता अपने अनुकूल बनाकर सिद्धि में बाधा उपस्थित करते थे।[6] सभा समितियों और

---

१ ना० शा० २७।१६ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० २। ८ का० मा०।

३ ना० शा० २७।२० (गा० ओ० सी०)।

४ अतिहसित रुदित विस्फोटितान्यथोत्कृष्टनालिका पाता।
गोमयलोष्टपिपीलिका विक्षेपाश्चारिसंभूता। ना० शा० २७।२४।

५ सुकुमार प्रकृत स्त्रीपात्र प्रायस्य त्रासोत्पादितेन सिद्धिविघाताय।
पशो सिंहादेः वेष कृत्वा सुकुमार प्रयोक्तार भीषयति सामाजिक वा।
अ० भा० भाग ३, पृ० ३११ ३१२।

६ मात्सर्यद्वेषाद्वा तत्पक्षत्वात्तथार्थभेदात्।
एते तु परसमुत्था ज्ञेया घाताबुधैर्नित्यम्॥ ना० शा० २७।२३।

प्रदर्शन होता है। परन्तु अगा के छेदन, भेदन, युद्ध और आक्रमण प्रत्याक्रमण के उत्तेजनात्मक दृश्यों के प्रति आसन से उठकर प्रेक्षक द्वारा परितोष प्रकट करने पर 'अभ्युत्थान' होता है। भावावेश म प्रेक्षकों के नयन अश्रुसिक्त हो जाते हैं और कपोल कांपने लगते हैं। प्रयोग म पूर्णतया परिपुष्ट होने पर प्रेक्षक कभी कभी भावावेश मे पात्रों को बहुमूल्य वस्त्र देकर एव अंगूठी उतारकर अपना सतोष प्रकट करते हैं।[1] इस प्रकार की परम्परा भारत मे प्राचीन काल स प्रचलित है। दर्शकों म समृद्ध व्यक्ति प्रयोग से परितुष्ट हो भावावेश म अपने बहुमूल्य वस्त्र पात्रों को अर्पित कर दिया करते थे।[2] हरिवंश म दानवों ने पात्र वेषधारी यदुवंशियों को बहुमूल्य वस्त्राभरण, आकाशचारी विमान और हाथी आदि देकर परितुष्ट किया।[3]

दैवी सिद्धि

भाव की अतिशयता तथा सात्त्विक भावों की समृद्धि होने पर दैवी सिद्धि का आविर्भाव रंगमंडप म होता है। नाट्य प्रयोग की उत्तमता के कारण रंगमण्डप पूर्ण शान्त निःशब्द प्रेक्षकों से परिपूर्ण तथा उत्पातरहित होने पर दैवी सिद्धि होती है।[4]

दोनों सिद्धियों का अन्तर

दैवी सिद्धि और मानुषी सिद्धि में यह स्पष्ट अन्तर है कि मानुषी सिद्धि तब होती है जब नाट्य प्रयोग म शारीरिक और वाक्चेष्टा की प्रधानता रहती है और तदनुरूप प्रेक्षक भी युद्ध परस्पर आघात प्रतिघात और उत्पात आदि के दृश्यों के संदर्भ म उसी प्रकार अपना परितोष वाणी और आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रकट करते हैं। आजकल भी निम्नस्तर के प्रेक्षकों का ऐसे रोमांचक दृश्यों के प्रति विशेष अभिरुचि होती है। परन्तु नाट्य प्रयोग म ऐसे भी अवसर होते हैं जब आंगिक अभिनय और आघातपूर्ण वाक्यों के स्थान पर सात्त्विक भावों तथा जीवन की घोर गंभीर भावधारा का अभिनय कहीं अधिक मर्मस्पर्शी होता है। भाव संप्रेषणपूर्ण अभिनय से रंगमंडप नितान्त शान्त और गम्भीर वातावरण के दैवी प्रभाव म डूबा रहता है। ऐसे ही उत्तम प्रयोगों को दृष्टि म रखकर भरत ने दैवी सिद्धि की कल्पना की है। नाट्य प्रयोग की दो प्रकार की सिद्धियों के विधान से भरत ने प्रयोक्ता और प्रेक्षकों की भी दो भिन्न परंपराओं का संकेत किया है। सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत प्रेक्षक प्रायः ऐसे नाट्य प्रयोगों में ही रुचि लेते हैं।[5]

---

१ ना० शा० २७।१३ १६ (गा० ओ० सी०)।

२ स ददु वस्त्रमूल्यानि रत्नान्याभरणानि च। हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व ९३ अध्याय।

३ ना० शा० अ० भ० पृ० ५१२, पाण्डिपणी २७।१८ श्लोक पर। ना० ल० को० पृ० ३२८९ ९०।

४ या भावातिशयोपेता सत्त्वयुक्ता तथैव च।
शब्दो नैव च क्षोभो न चोत्पात निदर्शनम्।
सम्पूर्णता च रंगस्य दैवी सिद्धिस्तु सा स्मृता॥

५ Thedevine success seems to relate to cultured spectators who generally take interest in deeper and more subtle aspects of dramatic performance and as such are above ordinary human beings and may be called Divine'

—N S English Trans p 513 (M M Ghosh)

नालिका द्वारा निर्धारित किया जाता था। निर्धारित अवधि म प्रयोग के समाप्त न होने पर नालिका दोष भी होता था। अर्थशास्त्र म नालिका की अवधि निर्धारित की गई है।[1]

भरत ने प्रकृत व्यसन और काल-जनित दोषो के प्रति विशेष सावधानता का विधान किया है। अभिनवगुप्त ने भरत प्रयुक्त 'प्रकृत व्यसन समुत्थ' तथा 'शेषोदक नालिकत्व' इन दोनो दोषो को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि प्रकृत कृत मे भरत का आशय है अनौचित्य दोष और 'शेषोदक नालिका' मे काल दोष। अनौचित्य से बढकर रसभग का और कोई कारण नही है। निधारित काल म प्रयाग की परिसमाप्ति न होने से 'शेषादक नालिकत्व' दोष होता है। जिस काल म जो नाटय का प्रयोग अनुचित हो उसका प्रयोग नही करना चाहिए। वस्तुत देश, काल और स्वभाव-कृत जो भी अनौचित्य हैं वे सब सिद्धि के विघातक ही होते हैं।[2]

बाधाओ के तीन रूप

नाटय प्रयाग की ये बाधाएँ तीन रूपो म दृष्टिगोचर होती ह मिश्र, सवगत और एकदशज। मिश्र मे नाटय की सिद्धिया और बाधाएँ दोनो ही मिली रहती हैं सवगत मे नाटय प्रयोग सवथा दूषित होता है और एकदेशज मे नाटय प्रयोग अशत दूषित होता है। भरत का यह स्पष्ट निर्देश है कि प्रयोग काल म बाधा और सिद्धि का स्पष्ट उल्लेख करना उचित है। जहाँ पर सवगत सिद्धि या बाधा है वह तो प्रेक्षको की दृष्टि म आपसे आप दिखाई देती है। परन्तु यदि कोई बाधा या दोष आशिक हो तो उसके उल्लेख की नितान्त आवश्यकता नही है।[3] क्योंकि शास्त्र और लोक व्यवहार दोनो ही दृष्टिया स नितान्त निर्दोषता की कल्पना नही की जा सकती।

आलेख्य का प्रयोग

नाटय प्रयाग काल म भरत की दृष्टि से आलेख्य का प्रयोग आवश्यक है। पूवरग के प्रयोग के क्रम म कभी कभी पात्र अनपेक्षित दवता की स्तुति करने लगते हैं, कभी वास्तविक नाटककार के स्थान पर अन्य किसी नाटककार का स्मरण कर बठते हैं, कभी सूत्रधार प्रयोज्य नाटक मे किसी अन्य नाटक का कुछ अश मिला दिया करते हैं। इन सब त्रुटियो का उल्लेख नाटय सिद्धि की बाधा के रूप म होना उचित होता है। पात्र कभी कभी शास्त्रविहित भाषा

---

१ ना० शा० २७।३४ तथा अर्थशास्त्र २।२०।
कुम्भच्छिद्रमाढकमम्भो वा नालिका। द्विनालिको मुहूर्त। अर्थशास्त्र के अनुसार एक निमेष का चार भाग तुट, दो तुट का एक लव, दो लव का एक निमेष, पाँच निमेष का एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला और चालीस कला की एक नाडिका होती है। घडे में जल भरकर उसमें एक पतली नाली के माध्यम म बूँदें गिरती रहती हैं, उसके माध्यम से काल नियमन होता है।

२ प्रकृत कृतमनौचित्यम् इति यावत्।
तदुक्तम्—अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम्।
शेषोदक नालिकया काल उपलक्ष्यते। तस्य शेषत्वम यकालयोग्यता तेन यत्र काले यदनुचित तत्र तन्निबन्धनम्। —तेन देश-काल स्वभाव कृत यदनौचित्य कार्यं तत्सवमेव सिद्धि विघातकम्।
अ० भा० भाग ३, पृ० ३१६ १७।

३ ना० शा० २७।३६ ४०।

नाटय मडलियो म प्रतिस्पर्धा का यह भाव भरतकाल की तरह वतमान है। मनुष्य की मनोवत्ति इतनी सदियो बाद भी वही पर है।[१]

आत्मसमुत्था बाधा

नाटय प्रयोग की सिद्धि म परकृत बाधा की अपेक्षा पात्रकृत त्रुटिया और भी बाधा उपस्थित करती हैं। उनके अनेक रूपा की परिगणना भरत न की है। अभिनय की अस्वाभाविकता से 'वैलक्षण्य', अनुचित आगिक चेष्टा से अचेष्टा, दूसरे पात्र की भूमिका म दूसरे पात्र के अवतरण से अविभूमिकत्व पाठयाश के विस्मरण से स्मति प्रमोष ज़ोर से चिल्लाने स आतनाद यान विमान आदि पर आरोहण और अवतरण के क्रम म हाथो के त्रुटिपूण सचालन से विहस्तत्व अपने पाठय के स्थान पर अय पात्र के पाठय का वाचन होने पर अय वचन आदि पात्रगत बाधायें होती हैं।[२] लक्ष्मी स्वयवर' के प्रयोग काल म लक्ष्मी की भूमिका म अभिनय करती हुई उवशी ने पुरुषोत्तम क स्थान पर पुरुरवा का उच्चारण किया। इस अवाच्य वचन' दोष के कारण वह मुनि के अभिशाप का पात्र बनी।[३]

अभिनय के क्रम म पात्र का अत्यधिक हँसना या रोना, स्वरों की त्रुटि आभूषण का यथोचित प्रयोग न करना मुकुट का पतन, रगमच पर यथासमय अप्रवेश, और मदग आदि वाद्य का असतुलित प्रयोग होन पर नाटय प्रयोग की त्रुटियाँ होती हैं।[४] इसी प्रसग म भरत ने पुनरक्त, असमास विभक्तिभेद विसधि, अपाथ निलिगज दोष प्रत्यक्ष परोक्ष-सम्मोह, छ दोवत्त त्याग, गुरु लघुसकर तथा यति भेद—इन दस स्थूल काव्य दोषो का भी उल्लेख किया है। इनक आधार पर परवर्ती आचार्यों ने दोषा की परिगणना का विस्तार किया।[५] भरत क काल म सम्भवत य पात्र प्राकृत भाषा भाषी थे और सस्कृत वाक्या के विधिवत् उच्चारण मे उनसे त्रुटियाँ हो जाती थी। एक प्रचलित उक्ति के अनुसार वैयाकरण रूपी किरात स भयभीत अपशब्द रूपी मग, ज्योतिषी नट विट गायक आदि क आनन रूपी गुफा म जा छिपते हैं।[६]

औत्पातिक बाधा

औत्पातिक बाधा क अतगत भूकम्प, आंधी वर्षा और अय प्राकृतिक प्रकोपा का उल्लेख किया गया है जिन पर मनुष्य का कोई वश नही है।[७]

नालिका द्वारा नाटय प्रयोग का कालनिर्धारण

किसी अक गीत, या नत्य आदि का प्रयोग कितनी अवधि म समाप्त हो यह भी

१ ना० शा० भ० भ० पृ० ५१४ पादटिप्पणी।
२ ना० शा० २७।२ , ३५।३७।
३ विक्रमोर्वशीयम अक ३।
४ ना० शा० २७।२७-३१।
५ ना० शा० २७।३२ ३३ (गा० ओ० सी०)।
६ वैयाकरण किरातादपशब्दमृगा क्व यान्ति सत्रस्ता।
ज्योतिर्नट विटगायक मानन गह्वराणि चेन्न स्यु॥ इन्डर इतिहास, पृ० १४३।
७ ना० शा० २७।२५ (गा० ओ० सी०)।

सयमी, शुद्ध आचरण, उहापोह विशारद, दोष दशक और अनुरागी होने पर ही प्रेक्षक होता है। पात्र के तुष्ट होने पर सतुष्ट शोकात्त होने पर शोक विगलित, क्रोध मे क्रुद्ध और भय की दशा मे भयभीत होता है। पात्रा के अभिनय के अनुरूप ही जिस दशक या सामाजिक के हृदय मे भावानुक्रमण होता है वही प्रेक्षक होता है।[१]

प्राश्निको और प्रेक्षको की भरत निरूपित विशेषताओ का प्रभाव सस्कृत नाटको की प्रस्तावना पर बहुत स्पष्ट है। शाकुन्तल और विक्रमोवशी की दशक मडली अभिरूप भूयिष्ठा' और रस समृद्ध प्रबधो का प्रयाग देख चुकी है। इसीलिए सूत्रधार विद्वानो के पूण परितोष के बिना प्रयोग को साधु नही मानते। मालविकाग्निमित्र और मालतीमाधव का प्रयोग विद्वत् परिषद के अनुरोध से हुआ है। यह दशकमडली अभिनय की बारीकियो को समझती थी।[२]

यूरोपीय नाटय पद्धति म प्रेक्षको की महत्ता स्वीकार की गयी है। वे मानसिक दृष्टि से सदा निष्क्रिय ही नही होत व प्रबुद्ध चेतना के होते हैं और रगमडप पर प्रयुक्त नाटय के प्रति उनकी निश्चित बौद्धिक प्रतिक्रिया भी होती है। इसलिए नाटय का प्रयोग उनको परितुष्ट करने के लिए होता है।[3]

प्रेक्षको की अनेक श्रेणिया

भरत ने प्राश्निक और प्रेक्षक की इतनी गुण सपदा का उल्लेख करके भी यह स्वीकार किया है कि इतने सारे गुण एक व्यक्ति म नही होते, क्योकि ज्ञेय वस्तु की सीमा नही है और मनुष्य की आयु तो सीमित है। परन्तु जिसका जो शिल्प और कम है, तदनुरूप नाटय प्रयोग की महानुभूतिपूवक समीक्षा करे तो, उसकी सिद्धि और बाधा का रूप अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। उत्तम, मध्यम, अधम, वृद्ध बालिश और स्त्रियो की रुचि और प्रवृत्ति एक दूसरे से बहुत भिन्न होती है। तरुण व्यक्ति काम भाव से प्रसन्न होते हैं अर्थ लोभी धनधान्य की वृद्धि से, विरागी मोक्षगत कथावस्तु से, शूर व्यक्ति युद्ध और मार काट से तथा वृद्धजन धर्माख्यान और पुराणो की कथा से प्रसन्न होत हैं। अत प्रेक्षको की तो अनेक श्रेणिया होती हैं।[४]

उत्तम पात्रा के अभिनय को अधम प्रेक्षक हृदयगम नही कर पाते। विद्वान् प्रेक्षक तात्त्विक वक्ता स परितुष्ट होते हैं। परन्तु बालक मूख और स्त्रीजन हास्य रस तथा नेपथ्यज दृश्यो के आनन्द म रस ग्रहण करते है।

१ ना० शा० २७।६२ ६३ (गा० ओ० सी०)।

२ (क) अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अ० शा०

(ख) परिषत्पूर्वेषा कवीना दृष्टरसप्रबधा। विक्रमोर्वशी।

(ग) अभिहितोऽस्मि विद्वत् परिषदा—माल० अ०।

(घ) आदिष्टोऽस्मि विद्वज्जन परिषदा—मालतीमाधव (प्रस्तावना भाग)।

३ It must be remembered that while the audience may be a passive element, *it is also a critical element* in so far it has instinct for critical and comprehensive reaction which at once responds to the work seen on the stage

Production Theatre and Stage, p 778

४ ना० शा० २७।५६ ६१ (गा० ओ० सी०)।

वेश एवं देश संबंधी नियमों की अवहेलना कर स्वबुद्धि कल्पित प्रयोग करते हैं, ऐसी त्रुटियाँ उपेक्षणीय नहीं, अनेरय हैं।[1]

लोक और शास्त्र की परम्पराओं का अनुसरण

भरत ने नाट्य प्रयोग काल में सिद्धि और बाधा के आलेख्य का विधान तो किया है, परन्तु प्रयोगशील आचार्य होने के कारण वे शास्त्रविहित प्रयोग की सीमा से भी अपरिचित नहीं थे। अतः उन्होंने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि शास्त्र में नियमों की ऐसी विशाल और सुदृढ़ परम्परा है कि उन सबका यथावत् प्रयोग संभव नहीं है। लोकपरंपरा तथा वेदों एवं शास्त्रों की मर्यादा के अनुरूप गम्भीर भाव भूषित सर्वजन ग्राह्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। इस त्रिगुणात्मक संसार में न तो कुछ गुणहीन ही है न नितान्त दोषहीन ही। अतः नाट्य प्रयोग-काल में किंचित् दोष उपेक्ष्य होता है। गुण संभार में दोष लेश अदृश्य हो जाता है।[2] भरत ने इतनी स्वतन्त्रता देकर भी प्रयोक्ताओं को पूर्ण अनुशासित किया है कि वाचिक, आंगिक सात्विक और नेपथ्यज विधियों का रस भाव गीत आतोद्य और लोक-व्यवहार के प्रयोग के प्रति पूर्ण सतर्क रहना चाहिए।[3]

प्रेक्षक और प्राश्निक

भरत ने नाट्य प्रयोग की सिद्धि और बाधाओं के विविध अंगों तथा भेदों का विवेचन करते हुए सिद्धियों और बाधाओं के निर्णायकों—प्रेक्षक और प्राश्निक की भी विशेषताओं का उल्लेख किया है। नाट्य प्रयोक्ताओं में सूत्रधार तथा नाट्य प्रयोग की सिद्धि और बाधाओं के निर्णय में प्राश्निक का स्थान अत्यन्त महत्व का है। एक सफल नाट्य प्रयोग के लिए नाट्यकार की प्रतिभा नाट्य प्रयोक्ता की कुशल प्रयोग दृष्टि और रंगमंच का उपयुक्त वातावरण अत्यावश्यक है। नाट्य प्रयोग की सफलता के निर्णायक प्रेक्षक और प्राश्निक के लिए नाट्यकला, लोक और शास्त्र की सब परंपराओं का ज्ञान अत्यावश्यक है।

उज्ज्वल चरित्र, कुलीन, शान्त, विद्वान् यशस्वी, धर्मरत, निष्पक्ष, प्रौढ़, नाटक के छहों अंगों का कुशल मर्मज्ञ, प्रबुद्ध, वासनावृत्ति से अप्रभावित चारों प्रकार के वाद्ययन्त्रों के बजाने में कुशल वक्ता, तत्त्वदर्शी, देशभाषा-संबंधी विधानों का ज्ञाता कलाशिल्प का प्रयोजक, चारों प्रकार के अभिनयों का ज्ञाता, रस और भाव का सूक्ष्म ज्ञाता, व्याकरण और छन्दशास्त्र में पारंगत तथा नाना शास्त्रों में कुशल होने पर वह प्राश्निक की पदवी प्राप्त करता है।[4]

---

१ ना० शा० २७ ४३ ४४ (गा० ओ० सी०)।

२ न शक्यो नाट्यविधिः यथावदुपपादनं प्रयोगस्य।
कर्तुं यस्मान्न वा यथोक्तं परिज्ञातुम्।
तस्माद्गम्भीरार्थाः शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः।
सर्वजनेन ग्राह्यास्ते योज्या नाटके विधिवत्।
न च किंचिद् गुणहीनेनैवं परिवर्जितं न चाकिंचित्। तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो (नात्यर्थतो) ग्राह्याः। ना० शा० २७।४६ ४७ (गा० ओ० सी०)।

३ न च नाटकेषु कार्यो महतैव व्यायामसाय नेपथ्ये।
रसभावे रस गीतेषु आतोद्ये लोकयुक्त्यां च। ना० शा० २७।४८ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० २७।५०-६१ (गा० ओ० सी०)।

के सिद्धि विधान के प्रयोगात्मक रूप का परिचय मिलता है। हर्षचरित की भूमिका म भास द्वारा यश और 'पताका' की उपलब्धि का सकेत किया गया है।[1] उत्तररामचरित म भवभूति ने नाटकान्तगत नाटक (सीता प्रत्याख्यान) क प्रयोग-काल म रगप्राश्निक भी उपस्थित थे।[2]

हरिवशपुराण और अवदानशतक म सफल नाट्य प्रयोग के लिए पारितोषिक प्रदान का बडा रोचक विवरण मिलता है। केशव पुत्र अनिरुद्ध एव अन्य यदुवशियो ने रामायण का नाटकीय रूपान्तर तथा 'कौबेर रभाभिसार' का प्रयोग किया। इनका प्रयोग इतना सफल था कि रामकाल म वतमान दानव उन पात्रो को रामानुरूप देखकर विस्मित हो गय। उन पात्रा का सस्कार (वेष धारण), अभिनय, प्रस्तावो (क्रिया व्यापारो का धारण) तथा प्रवेश (प्रथम दशन) असाधारण रूप से राम रावण और कुबर एव रभा आदि के अनुरूप थ। अत प्रसन्न होकर इन दानवो ने इन प्रयोक्ताओ को उठ उठकर प्रोत्साहित किया, वस्त्र और इतने महामूल्य, रत्नजटित आभरण दिय कि वे सब रत्न रहित हो गये।[3] अवदानशतक म भी बुद्धवेषधारी नाट्याचाय और भिक्षु-वष धारी नटो को राजा द्वारा पुरस्कृत करने का विवरण मिलता है।[4] कुट्टनीमत क अनुसार नाटकस्त्री मजरी नाम की वेश्या न काश्मीर के तत्कालीन सम्राट समरभट्ट से इतना पुरस्कार लिया कि व नितान्त निधन हो गय।

प्रस्तुत विषय का किंचित् प्रतिपादन भावप्रकाशन' तथा अभिनयदपण' म किया गया है। 'भावप्रकाशन की प्रतिपादन प्रणाली तथा विवेच्य विषय भरतानुसारी है। भरत की तरह ही यज्ञविद् एव नतक आदि प्राश्निको का उल्लेख है।[5] अभिनयदपणकार ने नाट्य एव नृत्य की उत्तमता के निणय के लिए विस्तृत विधान प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि स प्रेक्षक तो कल्पवृक्ष के समान है, वेद उसकी शाखाएँ हैं शास्त्र पुष्प है तथा विद्वान् मधुप हैं। नाट्य प्रयोग की सफलता का निर्णायक यहाँ प्राश्निक नहीं, सभापति होता है। सभापति प्रेक्षको म प्रमुख होता है। वह समद्ध बुद्धिमान् विवेकशील, सगीतज्ञ, गुणशाली, आगिक अभिनयों का ज्ञाता, निष्पक्ष, गुढाचरण, दयालु सयमी तथा कला एव अभिनया का ज्ञाता होता है। यह सभापति ही पुरस्कार आदि वितरण करता है। 'सभापति' भरत के 'प्राश्निक का प्रतिस्पर्धी है।[6] अभिनयदपण क अनुसार ही सगीत रत्नाकर म सभापति का उल्लेख किया गया है।[7] प्राश्निक के आलेख्य की तरह ही सभापति के भी परामशदाता होते हैं।

---

१. भ.पताके यशो. लभे. भासो. देवकुलैरिव। हर्षचरित भूमिका—१६।

२ राम —वत्स लक्ष्मण। अपि उपस्थिता रग प्राश्निका। उत्तररामचरित—अक ७।

३ ते रक्ता विस्मय नेदु असुरा परयामुदा।
उत्थाय उत्थाय नाट्यस्य विषयेषु पुन पुन।
प्रेक्षासु तासु बह्वीषु वदन्तो दानवास्तथा।
धनरत्नै विरहिता कृता पुरुषसत्तम। हरिवश विष्णुपर्व ९३।६२।

४ ततो राज्ञा हृष्टतुष्टप्रमुदितेन नाट्याचार्यप्रमुखो,
नटगणो महता धनस्कन्धेनाच्छादित। अवदानशतक पृ० ८७।

५ भा० प्र० पृ० २२९।

६ अ० द०, पृ० १७-१९।

७ स० र० ७।१३४५ ५०।

प्राश्निकों की विविध विषयज्ञता

नाट्य का विषय विविध होता है और प्रेक्षक भी विविध रुचि के होते हैं। भरत ने नाट्य प्रयोग में विविध लौकिक एवं शास्त्रीय परम्पराओं के ज्ञाता प्राश्निकों की नियुक्ति का विधान किया है। कथावस्तु में यज्ञ की योजना होने पर यज्ञवित्, नृत्य की योजना होने पर नर्तक, छन्दों के योग होने पर छन्दशास्त्र ज्ञाता, पाठ्यांश के विस्तार के लिए व्याकरण, रंगमंच पर अस्त्र शस्त्र के संचालन आदि के लिए अस्त्र चालक, नेपथ्य के सौन्दर्य की समीक्षा के लिए चित्रकार, कामोपचार के लिए वेश्या, स्वर योजना में गन्धर्व गायक, व्यक्तिगत ऐश्वर्य प्रदर्शन में राजा और शिष्टाचार के प्रदर्शन में सेवक तक प्राश्निक पद को सम्मानित करते थे। भरत की इस विस्तृत सूची से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वे नाट्य प्रयोग को शतांश में पूर्णता देना चाहते थे। नाट्य प्रयोग के संदर्भ में समस्त कलाओं, लोक-व्यवहारों और शास्त्रों की परंपराओं की तुला पर तौलकर उसे पूर्ण और अति सुन्दर बनाने का उनका बड़ा प्रबल आग्रह था।[१] प्राश्निकों के विवरण से भरतकालीन नाट्य प्रयोग की महत्ता का अनुमान किया जा सकता है।

नाट्य प्रयोग में प्रतिद्वन्द्विता और पुरस्कार का विधान

नाट्यशास्त्र के अनुशीलन से उस युग की विकसित नाट्य परम्परा का परिचय हमें प्राप्त होता है। नाट्य मण्डलियाँ स्वामी की प्रेरणा, अर्थोपार्जन, पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा पुरस्कार प्राप्ति की भावना से अनुप्राणित हो एक दूसरे को अपने प्रयोग की कुशलता से पराजित करती थीं और पुरस्कार भी प्राप्त करती थीं।[२] पुरस्कार प्रदान के निर्णायकों के सम्बन्ध में भरत ने बहुत ही स्पष्ट एवं सुनिश्चित नियमों का विधान किया है। प्राश्निक निष्पक्ष हों, रंगभूमि के निकट शान्तिभाव से बैठकर प्रयोग का परीक्षण करें तथा उसके पार्श्व में लेखक बाधा और सिद्धि का उल्लेख करता रहे। इस सम्बन्ध में भरत का स्पष्ट निर्देश है कि दैवी और परसमुत्था बाधाओं की उपेक्षा करके केवल नाटकान्तर्गत एवं पात्रगत दोषों की न्यूनता और गुणों की अतिशयता होने पर पात्र को पुरस्कृत करना चाहिए। यदि दो पात्र समान रूप से पुरस्कार के अधिकारी हों तो दोनों को ही स्वामी से आदेश लेकर पुरस्कृत करना चाहिए।[३] पुरस्कार में सम्राट द्वारा पताका प्रदान करने का विधान है।

परवर्ती ग्रन्थों में सिद्धि-विधान

मालविकाग्निमित्र में नाटकान्तर्गत नाट्य प्रयोग में हरदत्त और गणदास के मध्य राजा और रानी की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए होड़ है। मालविका ने दुष्प्रयोज्य 'छलिक' का प्रयोग किया है। इस प्रयोग सिद्धि की प्राश्निक है परिव्राजिका। मालविका का निर्दोष नाट्य प्रयोग देखकर परिव्राजिका उसी के पक्ष में निर्णय देती है क्योंकि उसमें पात्रगत, प्रयोगगत और समृद्धिगत तीनों सिद्धियों का समन्वय हुआ है।[४] वस्तुतः मालविकाग्निमित्र के दोनों अंकों में भरत

१ ना० शा० २७।६४-६७।
२ स्वामि नियोगान्योऽन्य विग्रहस्यपेक्षा च भरतानाम्।
अर्थपताका हेतो संघर्षो नाम सभवति॥ ना० शा० का० सं० २७।७०-७१।
३ ना० शा० २७।६८-८० (गा० ओ० सी०), का० सं०, वही।
४ मालविकाग्निमित्र, अंक १२।

अष्टम् अध्याय

नाट्य-प्रयोग विज्ञान

१ आगिक अभिनय
२ आहाय अभिनय
३ सामान्य अभिनय
४ चित्राभिनय

सफल नाट्य-प्रयोग के लिए 'त्रिक' का समन्वय

नाट्य प्रयोग की सिद्धि और बाधा तथा उसके निर्णायक प्राश्निकों की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए और भी महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का आकलन भरत ने किया है। उनकी दृष्टि से सफल नाट्य प्रयोग के लिए पात्र, प्रयोग और समृद्धि इन तीनों का समन्वय होना अत्यावश्यक है।[1]

पात्रगत

बुद्धिमत्ता, सुरूपता, लयतालज्ञता, रसभावज्ञता, उचित वयस कौतूहल, नाट्यकृत गान आदि कलाओं का ग्रहण, गात्र की अविकलता भय और उत्साह पर विजय पाने की क्षमता—ये पात्रगत विशेषताएँ हैं जिनसे विभूषित होने पर प्रयोक्ता पात्र प्रयोग का सफल बना पाता है।

प्रयोग

सुवाद्यता, सुगान, सुन्दर पाठ तथा नाट्यशास्त्र में विहित सब विधियों का प्रयोग होने पर आदर्श प्रयोग होता है।

समृद्धि

सुन्दर आभूषण माला तथा वस्त्र धारण तथा अन्य नेपथ्यज विधियों का कुशल प्रयोग होने पर प्रयोग में समृद्धि का प्रसार होता है।

वस्तुत जिन नाट्य प्रयोगों में पात्रगत, प्रयोगगत तथा आहार्यज विधियों का विधिवत् प्रयोग होता है वे नाट्य प्रयोग उत्तम होते हैं। इन तीनों में से किसी एक की भी उपेक्षा होने पर प्रयोग की सफलता में सन्देह हो जाता है।

भरत ने नाट्यशास्त्र की रचना करते हुए नाट्य प्रयोग की परिपूर्णता के लिए जहाँ अनेक शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया, वहाँ प्रयोग की सफलता के निर्धारण तथा निर्णय के लिए भी प्रयोग का निश्चित मानदंड प्रस्तुत किया है। उसके आधार पर किसी भी नाट्य प्रयोग का मूल्यांकन उचित रूप से किया जा सकता है। इस सिद्धि अध्याय की रचना में भरत का प्रयोगात्मक नाट्य दृष्टि का परिचय मिलता है। वे नाट्य प्रयोग के किसी भी पक्ष को अधूरा छोड़ना नहीं चाहते थे। कवि और प्रयोक्ता के लिए नियमों का निर्धारण करते हुए अन्त में सामान्य प्रेक्षक तथा विशेषज्ञ प्राश्निकों के लिए भी नियमों का निर्धारण किया है। वस्तुत नाट्यशास्त्र में 'दशरूपविकल्पन' कवियों के लिए चारों प्रकार के अभिनय एवं अन्य नाट्य शिक्षाएँ नाट्य प्रयोक्ताओं के लिए तथा सिद्धि अध्याय मुख्यत प्रेक्षक और प्राश्निक के लिए है। इस प्रकार पाश्चात्य नाट्य पद्धति की तरह कवि, पात्र और प्रेक्षक का यहाँ समन्वय किया गया है।

---

१ ना० शा० २७।८८ १०३।

१२

आगिक अभिनय

अभिनय विधान सामान्य पर्यवेक्षण

भरत ने नाट्य-कला के सिद्धान्त और प्रयोग दोनों ही पक्षों का तात्त्विक निरूपण नाट्यशास्त्र में किया है। सिद्धान्त के अन्तर्गत नाट्योत्पत्ति का इतिहास, दशरूपकों का विकल्पन, नाट्य के इतिवृत्त, पात्र और रस एव भाव आदि का विधान किया है। नाट्य प्रयोग के अन्तर्गत आगिक वाचिक सात्त्विक और आहार्य अभिनय आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। भरत केवल शास्त्र प्रणेता ही नही, नाट्य प्रयोक्ता भी थे।[1] नाट्य प्रयोग सम्बन्धी सिद्धान्तों का आकलन और विवरण नाट्य शास्त्र मे जितना ही विस्तृत है उतना ही सूक्ष्म भी। नाट्य प्रयोग अभिनय द्वारा सम्पन्न होता है। अत प्रयोग सम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्तों और लोक परम्परागत मान्यताओं का आकलन और विवेचन अभिनय के अन्तर्गत किया है। नाट्य एव नृत्त शास्त्रीय परवर्ती ग्रन्थों में[2] एतद्विषयक विवेचन नितान्त परम्परानुसारी है। उनमें भरत की सी मौलिक तत्वान्वेषिणी व्यापक नाट्य दृष्टि का परिचय नही मिल पाता।

अभिनय और नाट्य

नाट्य या अभिनय प्रयोग के लिए ही होता है और अभिनय मे नाट्य के प्राण रस का उन्मेष होता है। भरत ने नाट्य के इस प्रयोगात्मक नाट्य विधान को अभिनय यह शास्त्रीय नाम दिया है। अभिनय मे पात्र अनुकार्य राम आदि की अवस्था आदि का सात्मत्य अनुकरण करता है। अपनी आंगिक चेष्टाओं, वाणी के सन्तुलित उपक्रम, मनोवेगों का

१ स्व पुत्रशतसयुक्त प्रयोक्ताऽस्य मवानघ। ना० शा० १।२४ ख (गा० ओ० सी०)।

२ अभिनय दर्पण—नन्दिकेश्वर, भरतार्णव—नन्दिकेश्वर, नाट्यशास्त्र सग्रह आदि।

का प्रयोग तो रगमच पर होता है। भरत द्वारा प्रधान रूप स प्रतिपादित ये चार प्रकार के अभिनय परवर्ती आचार्यों म बहुत लोकप्रिय हुए और सबने इन्ही चार प्रकार के प्रधान अभिनया का उल्लेख किया।[1]

अभिनय के अन्य दो भेद

उपयु क्त चार प्रकार के अभिनया के अतिरिक्त भरत न सामान्य एव चित्र अभिनया का प्रतिपादन दो भिन्न अध्याया मे किया है। 'सामान्य अभिनय' वाचिक, आगिक और सात्विक अभिनयो का समाहित रूप है।[2] चित्राभिनय म सध्या, सूय चन्द्र, नदी, वन और पवत आदि प्राकृतिक पदार्थों और परिस्थितियो का आगिक अभिनय की विभिन्न मुद्राओ के द्वारा प्रतीक रूप म अभिनय सम्पन्न होता है।[3] परवर्ती आचार्यों ने तो इन दोना अभिनयो को मान्यता नही दी।[4] परन्तु नाटय प्रयोग के प्रति व्यावहारिक दृष्टि होने के कारण भरत ने इन दोनो अभिनयो का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन करते हुए ऐसे कतिपय विषया की अभिनय प्रणालियों का उल्लेख किया है जो नाटय प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूण है। वस्तुत भोज ने भी इन दोनो अभिनया को भरत की भाँति पूर्वोक्त अभिनयो का समाहित रूप ही माना है।[5] सवथा स्वतन्त्र नही। भरत प्रतिपादित आगिक अभिनय का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

आगिक अभिनय के प्रकार

मनुष्य के विविध अग उपाग और प्रत्यग आदि की विविध चेष्टाओ और भाव मुद्राओ द्वारा रमणीय अथ का जो सृजन होना है वही आगिक अभिनय होता है। अगो द्वारा निष्पन्न होने वाले विशिष्ट अभिनय का प्रयोग आगिक अभिनय होता है। भरत ने आगिक अभिनय के तीन प्रकारों का विधान किया है। शारीर, मुखज तथा शाखा और अगोपागयुक्त चेष्टाकृत अभिनय। अग एव उपागो की सख्या छ छ है। वे निम्नलिखित हैं—

अग—शिर हाथ वक्ष, पाश्व, कटी और पाद।

उपाग—नेत्र, भ्रू, नासा अधर कपोल और चिबुक।[6]

आगिक अभिनय और भाव प्रदर्शन

भरत ने अगोपागों की विभिन्न मुद्राओं को दृष्टि मे रखकर उनके अनेक भेदा उनकी

---

१ अभिनयदपण पृ० ३५, द० रू० १।७ (धनिक की टीका), ना० द० ३।५० ५१, सा० द० ६।३, भा० प्र० पृ० ६०४।

२ सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागगसत्त्वज। २२।१ (गा० ओ० सी०)।

३ अगाभिनयस्येह यो विशेष क्वचित् क्वचित्।
अनुक्त उच्यते यस्मात् स चित्राभिनय स्मृत। ना० शा० २५।७ (का० मा०)।

४ सरस्वती कठाभरण, ५।१५७, ना० द०, पृ० १७०।

५ सरस्वती कठाभरण, पृ० २६५।

६ ना० शा० ८।१३। (का० मा०), गा० ओ० सी० ८।१४।

प्रत्यन्जन अभिव्यजना, उचित वेश विन्यास तथा अवस्था और प्रकृति के अनुसार वह कवि निबद्ध पात्रों, उनके विचारों, भावों तथा कथावस्तु आदि को रूपायित करता है और इन माध्यमों के द्वारा प्रेक्षक को रसाभिमुख करता है। अतएव यह 'अभिनयन' करने वाला पात्र 'अभिनेता' भी होता है।[1] नाट्य प्रयोग अभिनय द्वारा ही सिद्ध होता है। समग्र नाट्य-कर्म अभिनय में ही सन्निविष्ट है। अभिनय होने पर काव्य नाट्य होता है और नाट्य ही रस होता है। वस्तुत अभिनय नाट्य और रस ये क्रमश नाट्य की रसाभिमुखी विकासशील प्रक्रियाएँ हैं। नाट्य अभिनीत होने पर रस्य होता है, और रस्यता में ही नाट्य की प्राण-रूप आस्वादना रहती है। अत अभिनय, नाट्य और रस तीनों अपप्रवाह ही नहीं प्रयोग की दृष्टि से भी माला के एक ही सूत्र में पिरोये हुए सुरभित पुष्प हैं।

अभिनय के चार प्रकार

नाट्य तो लोकवृत्तानुकरण या तीनों लोकों का भावानुकीर्तन है। जीवन की सुख दु खात्मक परिस्थितियों के परिवेश में मनुष्य के मन, अंगों एवं वाणी की जैसी क्रिया और प्रतिक्रिया होती है और परम्परा से होती आ रही है तदनुरूप ही मन अंग और वाणी आदि के द्वारा हाव, भाव एवं ललित या उद्धत चेष्टा आदि का पात्र द्वारा कलात्मक भावपूर्ण प्रदर्शन प्रेक्षक को अपने साथ रसदेश में ले जाता है, इसीलिए यह अभिनय होता है।[2] अभिनय के द्वारा नट या पात्र प्रेक्षक के हृदय में सौन्दर्यानुभूति का उद्बोधन करता है। रसानुभूति की सौन्दर्य-चेतना के तट पर वह उसे ले जाता है।[3] भरत ने अभिनय का वर्गी करण प्रधान रूप से चार वर्गों में किया है[4]—*आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। अंग* उपांग और प्रत्यगों की चेष्टा आदि के द्वारा आंगिक अभिनय सम्पन्न होता है। भरत ने इस *अभिनय का बहुत ही विस्तृत एवं सूक्ष्म विधान किया है। वाचिक अभिनय के द्वारा कवि* निबद्ध पात्र, काव्य एवं जीवन सौन्दर्य की व्यजना करता है। नाट्य के पाठ्य-अंग का प्रयोग वाचिक अभिनय द्वारा सम्पन्न होता है। मनुष्य के सुख-दु खात्मक मनोवेगों की अभि व्यक्ति सात्त्विक अभिनय के द्वारा सम्पन्न होती है। सब अभिनयों के सम्पन्न होने पर भी सात्त्विक अभिनय के योग से ही अनुकार्य पात्र के साधारणीकृत मनोभावों का पूर्ण प्रस्फुटन होता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाच और अश्रु आदि सात्त्विक चिह्नों के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है। आहार्य विधि मुख्यत वेश भूषा आदि नेपथ्य विधियों से सम्बन्धित अभिनय का एक प्रकार है। अन्य अभिनयों की अपेक्षा यह इस अर्थ में भिन्न है कि आहार्य अभिनय विधियों का प्रयोग नेपथ्य में ही सिद्ध कर लिया जाता है। परन्तु अन्य अभिनयों

१ विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगत ।
शाखांगोपांगसंयुक्त तस्मादभिनय स्मृत । ना० शा० ८।८ तथा ८।७ (गा० ओ० सी०)।

२ अभिनय इति कस्मात् ? उच्यते अभीत्युपसर्गो णीञ् प्रापणार्थो धातु ।
यस्मात् प्रयोग नयति तस्मादभिनय स्मृत । (आनुवश्य श्लोक भरत ना० शा० ८।६ ख (का० मा०)।

३ The actor educates the spectator by stimulating in him the latent possibility of aesthetic experience Rasaswadans the tasting of the flavour Mirror of Gesture, p 36 (footnotes)

४ ना० शा० ८।१० (गा० ओ० सी०)।

होने वाली प्रतिक्रियाओ का कोई ओर छोर नही है।[1] इसलिए भरत का स्पष्ट निर्देश है कि लोक प्रचलित सामान्य व्यवहारो को दृष्टि मे रखकर सिर के द्वारा होने वाले अन्य अभिनय भेदो की परिकल्पना की जा सकती है।[2]

दृष्टियो द्वारा होने वाले अभिनयों की रूपरेखा

भरत की दृष्टि से मनुष्य के नयनो की भाषा और भाव भगिमा म ही नाट्य प्रतिष्ठित रहता है।[3] दृष्टि तो मानो मनुष्य के आत्मदर्शन का दर्पण है। स्वभावत दृष्टि के विभिन्न रूपो उनकी भाव भंगिमाओ और अन्य परपराओ के विनियोग का बडा ही विस्तृत पर्यालोचन भरत ने प्रस्तुत किया है। अगोपागो मे अभिनय की दृष्टि से 'दृष्टि' का महत्व असाधारण है। भरत ने कान्ता हास्या भयानका, करुणा, अदभुता रौद्रा वीरा बीभत्सा आदि आठ रस दृष्टि, स्निग्धा हृष्टा दीप्ता क्रुद्धा और भयान्विता आदि आठ स्थायी दृष्टि तथा शून्या मलिना, श्रान्ता, ग्लाना मुकुला अभितप्ता, शकिता और विषण्णा आदि बीस सचारी दृष्टिया को मिलाकर कुल छत्तीस दृष्टि भेदो का विधान किया है जिनके द्वारा विविध रसो का उन्मेष होता है।[4] कुमार स्वामी महोदय ने अन्य आठ दृष्टिया का उल्लेख कर चौवालीस दृष्टिया मानी हैं और अभिनयदर्पणकार तो केवल आठ दृष्टिया ही मानते है। दृष्टि के अन्तर्गत भौंह तारा और पुट आदि का भी पृथक रूप से विवेचन भरत ने किया है। तारा के नौ भेद,[5] पुटकर्म के नौ[6] और भौंहो के भी सात[7] भेदो तथा रस भावानुसार उनके विनियोग का विधान भरत ने किया है। प्रत्येक भेद न जाने कितनी अन्य परम्पराओ से समाविष्ट रहता है।

अभिनय ही अगो को भाषा देते है इस भाषा की मुखरता, नयनो म अधिक सशक्त होकर प्रकट होती है। यही कारण है कि भरत ने दृष्टि भेद का विवेचन बहुत व्यापकता और विस्तार से किया है। दृष्टि की प्रत्येक भाव भगिमा के द्वारा मनुष्य के सुख दु खात्मक जीवन का भावलोक मुखर होता है। उसमे मनुष्य के आत्मराग को, अनुभूति को अभिव्यक्त करने की अपार क्षमता रहती है। भरत की महत्ता इस बात म है कि लोक जीवन उसकी परपरा सुख दु ख के परिवेश म उपागो की स्वाभाविक क्रिया प्रतिक्रिया का यथावत् अध्ययन कर उसे शास्त्र-सम्मत रूप दिया है और उसका स्तरीकरण किया है।[8] उनके द्वारा निर्धारित दृष्टि सम्बन्धी भाव-भगिमाओ और मुद्राओ के स्वरूप सदियो बाद आज भी उसी प्रकार के हैं। क्रोध म हमारी भौंह आज भी तन जाती हैं नेत्र पुट फैल जाते हैं नयनों के तारे नाचने लगते हैं और सयुक्त रूप मे

---

१ ना० शा० ८।२० ३८ (गा० ओ० सी०)। मिरर ऑफ गस्चर, पृ० ३७-३९।

२ एभ्यो न्ये बहवोभेदा लोकाभिनयसंश्रया।
तेच लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्या प्रयोक्तृभि। ना० शा० ८।३९।

३ षट्त्रिंशत् दृष्ट्योह्येता तासु नाट्य प्रतिष्ठितम्। ना० शा० ८।५५ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० ८ ४० ९५ (गा० ओ० सी०)। भरतार्णव पृ० १०६ ३०, नाट्यशास्त्र सग्रह, पृ० ४९८ ५८९ भा० प्र०, पृ० १२४ मिरर ऑफ गस्चर, कुमार स्वामी पृ० ४०।

५ ना० शा० ८।९७ १०४ (गा० ओ० सी०)। भ्रमण, वलन, चलन सप्रवेशन।

६ ना० शा० ८।११० १७, उन्मेष, निमेष, प्रसृत आदि।

७ ना० शा० ८।११८ १२७ उत्क्षेप पातन, भ्रुकुटी कुचित और रेचित आदि।

८ स्वभाव सिद्धमेवैतत् कर्मलोक क्रियाश्रयम्। ना० शा० ८।१०४।

परिभाषाओं तथा विनियोग का विचार किया है। ये नाट्य और नृत्य की दृष्टि से बड़े ही उपयोगी हैं। आठवें में मुख्य तथा अंगों में प्रधान सिर के भेदों का ही पूरा विवरण दिया है। इनमें से प्रत्येक भेद एक विशेष भाव और विचार परम्परा का प्रतीक है। प्रत्येक अंग और उपांग एवं प्रत्यंग आदि एक दूसरे से अभिनय (प्रयोग) की दृष्टि से नितान्त सम्बन्धित होते हैं। सबका संचालन विशिष्ट विधियों के अनुसार विशेष भाव-रसों की अभिव्यक्ति के लिए होता है।[1] वस्तुत प्रत्येक अंग उपांग के किंचित् संचालन में न जाने कितनी सुकुमार या उदात्त भाव-लहरियाँ स्पन्दित होती हैं। उन सबकी सघन और अपेक्षित अभिव्यंजना के लिए भरत ने एक एक मुद्रा, एक एक चेष्टा, अंगों की मोड़ और झुकाव आदि का जैसा विधिवत् वर्गीकरण किया है वह अत्यन्त विस्मयावह है। काम, क्रोध, करुण और उत्साह आदि की विभिन्न मन स्थितियों में अंगों उपांगों की मनुष्य मात्र में सामान्य रूप से कैसी प्रतिक्रिया होती है सिर का कंपन कैसा होता है, आँखों में कैसी रस दृष्टि उमड़ने लगती है, कपोलों पर कैसी लालिमा छा जाती है ओठ कैसे फड़क उठते हैं चरणों में कैसी चंचलता या शान्तता आ जाती है ये सारी शारीरिक प्रतिक्रियाएँ मनुष्य की जटिल मनोग्रंथियों की ही प्रतिच्छवियाँ हैं। भरत ने मनुष्य के स्वभाव, प्रकृति और अवस्था तथा चेष्टाओं का विलक्षण आकलन उस काल में किया था जब विश्व के बहुत बड़े भू भाग में इन कलाओं का इतना समीचीन और वैज्ञानिक विश्लेषण तो क्या कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों के बहुत मान्य और स्वीकृत तथ्यों पर भी बहुत हलके ढंग से भी चर्चा नहीं हो रही थी। नाट्य प्रयोग के क्षेत्र में भरत की यह देन अत्यन्त महान् है और उसके पुनर्मूल्यांकन की नितान्त आवश्यकता है।

हम यहाँ पर उनके आंगिक अभिनय सम्बन्धी विश्लेषणों को सूत्ररूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे कि उनकी सृजनात्मक और विवेचनात्मक प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट हो।

शिर के अभिनय

आंगिक अभिनयों के मुख्य भेद में शिर से होने वाले भेदों की संख्या तेरह है—इनके नाम उनकी क्रिया के अनुरूप ही निम्नलिखित हैं—आकंपित कंपित, धुत, विधुत, परिवाहित आधूत, अवधूत अंचित, निहंचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित।[2] भरतार्णव तथा नाट्यशास्त्र-संग्रह में अन्य छ भेदों का उल्लेख कर उन्नीस भेदों की परिगणना की गई है। अभिनयदर्पण के अनुसार उनकी संख्या कुल नौ ही है। नंदिकेश्वर ने इन नौ के अतिरिक्त भरताचार्य के नाम पर अन्य चौबीस भेदों का भी उल्लेख किया है। इनमें से बहुत से भेद एक दूसरे के अत्यन्त निकटवर्ती-से प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके अर्थ की छायाएँ रंगबिरंगी विविध और भिन्न भी हैं। धुत में शिर शिथिल-सा हो जाता है और उसके द्वारा अनिच्छा, विस्मय, विश्वास, पार्श्वविलोकन, शून्यता और निषेध आदि का संकेत होता है। परन्तु विधुत में शिर की गति का कंपन तीव्रतर होता है और उसके द्वारा शीतग्रस्तता, भयार्तता, ज्वरदु ख तथा मद्यपान आदि विभिन्न स्थितियों का संकेत होता है। मनुष्य का भाव-लोक अनन्त है और शिर द्वारा

---

१ ना० शा० ८।१६ (गा० ओ० सी०)। अ० द०, पृ० ६७।

२ ना० शा० ८।१८ १६ (गा० ओ० सी०), भरतार्णव, पृ० ६३ १०६ (नन्दिकेश्वर), नाट्यशास्त्र संग्रह, पृ० ४३ ६६, मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ३६ ३७।

अत्यन्त असाधारण है। भरत की दृष्टि से मनुष्य के अन्तर म चित्तवत्तियो के आवेग के क्रम म कपोलो और नयना म एक विशेष प्रकार का राग प्रतिबिम्बित होने लगता है। उसी राग के प्रदशन से प्रेक्षक अय के हृदय के भावो को अनुभव कर पाते हैं। अत अभिनेता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भाव और रस के सदभ म मुखराग का तदनुरूप प्रदशन करे। भरत की दृष्टि से शाखा और अगोपागो से अन्वित अभिनय भी यदि मुखरागविहीन होता है तो वह नाट्य शोभा का प्रसार नही कर पाता। पर अत्यल्प आगिक अभिनय भी यदि मुखराग समन्वित हो, तो अभिनय का अथ वसे ही प्रकाशित हो उठता है जैस रात्रि के अधकार म चन्द्र किरणें प्रकाशित हो रात्रि की शोभा यगा दती हैं।[1] अगो के अभिनय की दृष्टि के अतिरिक्त भाषा देने वाला मुखराग भी है। मुखराग के चार प्रकार है—स्वाभाविक (प्रकृत और तटस्थ दशा मे), प्रसन्न (अदभुत, हास्य और शृगार मे), रक्त (वीर, रौद्र, ममता तथा रुग्णावस्था म) और श्याम (भयानक तथा वीभत्स म)।[2] नि सदेह रसात्मिका चित्तवत्ति के प्रकाशन मे मुखराग का महत्त्व कम, ज्यायान् अशोक और सोमेश्वर आदि आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। परन्तु वेम ने भरत द्वारा निर्दिष्ट चार मुखराग के अतिरिक्त विकस्वर, अरुण, मलिन तथा पाडु की भी परिगणना की है।[3] भरत ने नाना भाव रस के प्रकाशक नयनाभिनय तथा मुखराग इन दोनो के समन्वय विधान का बडा ही तात्विक निदेश किया है। मुख भ्रू, दृष्टि युक्त नेत्र का प्रसार जिस रूप म हो, उसी के अनुरूप भाव रसोपेत मुखराग की भी योजना अपेक्षित है। भरत की प्रयोगात्मक दृष्टि की यह बहुत बडी देन है। नाटय की सिद्धि के मूल म नयनाभिनय और मुखराग दोना म समन्वय विधान होने पर ही नाटय हो पाता है।[4]

भरत ने उपागा के द्वारा होने वाले विविध अभिनया क नाम, स्वरूप और विनियोग को शास्त्र-सम्मत रूप दिया है। परन्तु अभिनय भी मनुष्य-जीवन की आगिक क्रियाओ का ही शास्त्रीय रूप है और इस अभिनय शास्त्र का द्वार भरत ने उन्मुक्त कर रखा है कि लोक मे जन्म लने वाले और प्रचलित होने वाले नये रूपा का समावेश इस शास्त्र म होता चले। अत भरत ने इस बात पर सदा बल दिया है कि अभिनयो के क्रम म लोकानुसारिता का त्याग नही होना चाहिए। आगिक अभिनय का लोकजीवन की आन्तरिक चेतना, अनुभूति की आगिक अभिव्यक्ति और उसकी लोक स्वीकृत पद्धति से साक्षात् सम्बन्ध है। मनुष्य मन की गहराई म न जाने कितने भाव मुक्ता छिपे हैं उनकी हलकी हलकी रश्मियो का प्रकाशन तो इन्ही उपागो के अभिनय द्वारा

---

१ शाखागोपांगसयुक्त कृतो ह्यभिनय शुभ।
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत्।
शारीराभिनयोऽल्पोऽपि मुखरागसमन्वित।
द्विगुणां लभते शोभां रात्रदिव निशाकर। ना० शा० ८।१६५ ख १६७ क (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० ८।१६१ १६४।

३ भरत कोष, पृ० ४६६।

४ नयनाभिनयोऽपि स्यात् नानाभाव रसस्फुट।
मुखरागान्वितो यस्मात् नाट्यमत्र प्रतिष्ठितम्।
यथानेत्र प्रसर्पेत् मुखभ्रू दृष्टि सयुतम्।
तथा भाव रसोपेत मुखराग प्रयोजयेत्। ना० शा० ८।१६७-१६६ (गा० ओ० सी०)।

नयनों म रौद्ररस उमडने सा लगता है। परन्तु शोक-दशा म हमारे उभयपुट नीचे की ओर खिसक जाते हैं। नयनो म आँसू छलकने लगते हैं, तारे शिथिल हो जाते हैं और दृष्टि नासाग्र पर टिक जाती है, शून्यता और उदासी के भावो म दृष्टि खोयी सी रहती है।[1] अत भरत द्वारा निर्धारित दृष्टियो के ये भेद उनके स्वरूप और विनियोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका महत्व केवल शास्त्रीय ही नहीं, व्यावहारिक भी है। नाट्य प्रयोग के सदभ म उनकी योजना नितान्त अपेक्षित है कि वे भावगम्य हो सकें। अब भी उनका प्रयोग होने पर व रगमच पर अधिक भाव ग्राही सिद्ध हो सकेंगे।

नासिका, कपोल, अधर और चिबुक, ग्रीवा द्वारा अभिनय

मनुष्य के अगो म नासिका, कपोल अधर और चिबुक उसके आन्तरिक भावो के प्रकाशन के बड़े प्रशस्त माध्यम हैं। मनुष्य के हृदय-केन्द्र म उठती हुई भाव लहरी की हलकी सी हिलोर भी इन अगो के तटो पर एक लहर की रेखा अंकित कर जाती है। उन्ही रेखाओ से प्रेक्षक मनुष्य के अन्तर की अनुभूति करता है। इसीलिए इनके महत्त्व की दृष्टि मे रखकर ही इनके भी भेदो, स्वरूपो और विशेष भाव भगिमाओं के प्रदशन म उनका विनियोग प्रस्तुत किया है। इनकी प्रत्येक मुद्रा किसी विशिष्ट भाव और रस की भाषा बनकर रूपायित होती है। नासिका,[2] कपोल[3] और अधर[4] के छ तथा चिबुक[5] के सात और ग्रीवा के नौ[6] कर्मों का भरत ने उल्लेख किया है। इनके कर्मों का विनियोग शृगार, वीर करुण और रौद्र आदि रसो और विविध भावों के योग मे होता है। सोच्छवास नामक नासाकर्म के द्वारा भीतर की ओर साँस ली जाती है। परन्तु इसका विनियोग दो भिन्न अवस्थाओ म होता है, प्रियवस्तु की सुगधि लेने तथा दु खावस्था म गहराई से श्वास लेने म। क्षाम कपोल दु ख दशा म और फुल्ल-कपोल का प्रयोग आनन्दावस्था म होता है। अधर का कपन वेदना, शीत, भय, ज्वर और स्त्रियो के विलास एव बिब्बोक म होता है। भय, शीत, ज्वर और क्रोध ग्रस्तता मे चिबुक का कुट्टन होता है। कुट्टन म दाँतो का सघर्षण होता है।

अभिनय मे मुखराग की महत्ता

आगिक अभिनय के विवेचन के प्रसग म मुखराग का महत्व रस दृष्टियो की भाँति

---

१ व्याकोशमध्या मधुरा स्मेरताराभिलाषिणी।
सानन्दाश्रुकृता दृष्टि स्निग्धेय रतिभावजा। ना० शा० ८।५३। का० मा०।
अर्धस्रस्तोत्तरपुट स्रस्ततारा शनैश्चरा।
मद सचारिणी दीना सा शोके दृष्टिरिष्यते। ना० शा० ८।५५ (का० मा०)।

२ नासिका—नता, मदा, विकृष्टा, सोच्छवासा, विकूणिता, स्वाभाविका, ना० शा० ८।१३० १३६ (गा० ओ० सी०)।

३ कपोल—क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित, कुञ्चित और सम, ना० शा० ८।१३६ १४० (गा० ओ० सी०)।

४ अधर—विवर्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, सदष्टक और समुद्ग। ना० शा० ८।१४१ १४६ (गा० ओ० सी०)।

५. चिबुक—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित लेहन और सम। ना० शा० ८।१४७-१५३ (गा० ओ० सी०)।

६ समा, नता, उन्नता, त्र्यस्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता और निवृत्ता। ना० शा० ८।७० १७८ (गा० ओ० सी०)।

की मुद्राओ के द्वारा न जाने कितने व्यग्य अर्थो का प्रकाशन करता है, अत हस्ताभिनय के प्रसग म अर्थ-युक्ति का अवेक्षण अत्यावश्यक होता है। उसके द्वारा न जाने कितनी चमत्कारपूर्ण अर्थ परम्पराओ का सृजन होता है।[1]

स्थान

हस्ताभिनय म स्थान की योजना पात्र की श्रेणी के अनुसार होती है। उत्तम श्रेणी के पात्र हस्ताभिनय करते हुए अपने हाथ, ललाट आदि उत्तम स्थानो पर ल जाते है। मध्यम पात्र वक्षस्थल पर और अधम पात्र कटि आदि निम्न अगो को स्पर्श कर भाव प्रकट करते है। भट्टतौत ने पात्रो की श्रेणी के अनुसार स्थान विभाजन की प्रणाली का समर्थन किया है।[2] अन्यथा हस्ताभिनय की विविध मुद्राओ के वर्गीकरण का आधार ही नही मिलता। यही नही उत्तम अर्थ की अभिव्यजना म भी हाथो के द्वारा उत्तमागो का ही स्पर्श होता है हीन विचारो के सन्दर्भ म निम्न अगो का स्पर्श होता है।

हस्ताभिनय के प्रचार की बहुलता और अल्पता का आधार

पात्रो की उत्तमता मध्यमता और अधमता के आधार पर ही हस्त प्रचार की स्वल्पता और बहुलता आधारित होती है। उत्तम श्रेणी के पात्रो की भाव-विभूति का प्रकाशन तो सात्त्विक अभिनयो के द्वारा सम्पन्न होता है न कि आगिक आदि अभिनयो के द्वारा ही। अतएव भरत ने 'सत्त्वातिरिक्त' अभिनय को ज्येष्ठ माना है।[3] उत्तम श्रेणी के पात्रो के सन्दर्भ म तथा नाटकादि उत्कृष्ट रूपको मे हस्त प्रचार अत्यन्त स्वल्प होता है (ज्यष्ठे स्वल्प प्रचारा)। नाटकादि मे धर्म, अर्थ और काम आदि पुरुषार्थ साधना की योजना प्रत्यक्ष साध्य होती है। अत हस्त प्रचार का प्रयोग अत्यल्प होता है। परन्तु मध्यम श्रेणी के पात्रो या उनसे व्याप्त भाणक आदि रूपक भेदों म रजनाफल की प्रधानता तथा आकाशभाषित आदि परोक्षविधियो की बहुलता के कारण हस्त प्रचार मध्यम होता है (मध्ये कुर्वीत मध्यम)। परन्तु अधम कोटि के नृत्त काव्य म तो हस्त प्रचार की अधिकता रहती है क्योकि भाव प्रदर्शन का साधन एकमात्र हस्तादि का प्रचार ही होता है (अधमेषु प्रकीर्णाश्च हस्ता)। अभिनय मे हस्त का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भरत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हस्त प्रचार की अधिकता से अभिनय उत्तम नही होता। उत्तम अभिनय का आधार तो उसकी सात्त्विक विभूतियो के प्रकाशन म ही है क्योकि उसी के द्वारा चित्तवृत्ति का साक्षात्कार सदृश सम्पादन होता है (न हस्ताभिनय कार्य, कार्य सत्त्वसमाश्रय)। परन्तु जहा पर अभिनय प्रत्यक्ष, वर्तमान आत्मस्थ न हो, परोक्ष भावी और परस्थ हो तो वहाँ सात्त्विक भाव नितान्त स्वल्प रहता है। वहाँ पर भावावेश हृदय के अन्तर से नही फूटता। अत बाह्य शोभा और आकर्षण के लिए हस्त प्रचार का प्रयोग किया जाता है। ऐसे अधम कोटि के अभिनयो म विप्रकीर्ण हस्त मुद्राओ का प्रयोग होता है। अत हस्त प्रचार का आधार पात्रो एव

१ देशकाल प्रयोग चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्यतु।
हस्ताद्यैते प्रयोक्तव्या नृणा स्त्रीणा विशेषत। ना० शा० ९।१६४ (गा० ओ० सी०)।

२ अ० भा भाग २, पृ ६७।

३ सत्त्वातिरिक्तोऽभिनय ज्येष्ठ इत्यभिधीयते। ना० शा० २४।२।

संपन्न होता है। इनका प्रकाशन लोकजीवन की परम्पराओं से होता है। भरत ने उन सबका अध्ययन कर अपने सिद्धान्तों का निर्धारण किया है।

हस्ताभिनय

मनुष्य के अंग प्रत्यंग की भाषा, उनकी मुद्रा और उसकी चेष्टाएं ही हैं। उपांगों की मुद्राओं तथा क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के माध्यम से मनुष्य के भावों का लोक रूपायित होता है। परन्तु उसमें प्रधान अंगों के भी सहयोग की नितान्त आवश्यकता होती है। भरत ने अभिनय के सन्दर्भ में शिर के अतिरिक्त हाथ, पाद, जांघ, वक्षस्थल, पार्श्व और कटि के द्वारा अभिनय भाव जगत् या रस भावानुसार उन अंगों की मुद्रा तथा उनके विविध भेदों और स्वरूपों के विनियोग आदि का विस्तार से विश्लेषण किया है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक है कि भरत की दृष्टि से एक भी अभिनय-योग्य सामग्री और अंग परम्परा बच नहीं पाती। उन्होंने अंगों के अभिनय के सम्बन्ध में इतना अधिक कह दिया है कि परवर्ती आचार्यों के प्रतिपादन के लिए कोई नवीन तथ्य शेष नहीं रह गया।

प्रधान आंगिक अभिनय भेदों में हस्ताभिनय का महत्त्व सर्वोपरि है। अभिनय की दृष्टि से ऐसा कोई नाट्यार्थ नहीं है जिसको रूप देने में हस्ताभिनय का प्रयोग न होता हो।[1] हमारी दृष्टि के विविध रूप और सुखराग रागात्मिका चित्तवृत्तियों के प्रकाशन में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। हस्ताभिनय के द्वारा मानवीय हृदय की आशा निराशा, सुख दु:ख, हर्ष शोक एवं सशक्तता और दीनता आदि की अभिव्यंजना होती है। लोक में मनुष्य मात्र विविध भावों और रसों के परिवेश में हाथ की विभिन्न भाव भंगिमाओं का संचालन करते हैं और अभिव्यज्यमान भावों को सौंदर्य और बोधगम्यता प्रदान करते हैं। भरत ने लोक प्रचलित हस्त की उन मुद्राओं भाव भंगिमाओं की भूमि पर ही नाट्य धर्म के परिप्रेक्ष्य में उनमें कुछ और चमत्कारोत्पादक गुणों की प्रतिष्ठा कर शास्त्र सम्मत रूप दिया है। भरत की दृष्टि में अभिनयशास्त्र का तो प्रवर्तक लोक व्यवहार ही है।[2] परन्तु हाथ की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव और रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है।

हस्ताभिनय के आधार

हस्ताभिनय में उसकी मुद्रा और भाव भंगिमाओं की जो रचना होती है उसके कई महत्त्वपूर्ण आधार हैं। भरत ने उन सबका विस्तार से विचार और वर्गीकरण भी किया है। इनकी रचना में देश काल प्रयोग अर्थयुक्ति के अतिरिक्त करण कर्म स्थान और प्रचार का बड़ा महत्त्व है।[3] देश विशेष के अनुसार विविध भाषा के प्रकाशन के लिए हाथ की जिन मुद्राओं का प्रचलन है उनका ही प्रयोग करना चाहिए। नाट्य प्रयोग हस्ताभिनय का विशिष्ट आधार है। प्रयोग की सुकुमारता और उद्धतता के सन्दर्भ में हाथ की मुद्राओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। अर्थयुक्ति का महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है कि वाचिक अभिनय के प्रसंग में पात्र हाथ

---

[1] नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्येऽर्थोऽभिनयं प्रति। ना० शा० ९।१६१ (गा० ओ० सी०)।

[2] ना० शा० ९।१६२ (गा० ओ० सी०)।

[3] ना० शा० ९।१७१ (गा० ओ० सी०)।

कार्यों की उत्तमता मध्यमता एवं अधमता भी है।[1]

शास्त्रानुमोदित तथा लोकानुसारी हस्तमुद्राओं का प्रयोग

भरत ने हस्ताभिनय के प्रयोग के सम्बन्ध में अपने मन्तव्यों को व्यापक विचारभूमि के परिवेश में स्पष्ट किया है। उत्तम तथा मध्यम पात्रों के लिए यह तो आवश्यक है कि वे शास्त्रानुमोदित हस्त मुद्राओं का प्रयोग करें। परन्तु जो नीच पात्र शास्त्रीय विधियों से अपरिचित हैं उन्हें इस बात की छूट दी है कि वे शास्त्र की मर्यादा का पालन भले ही न करें, परन्तु नाट्यधर्म, लोक-व्यवहार और स्वभाव को ध्यान में रखकर हस्त मुद्राओं का प्रयोग करें। भरत द्वारा प्रयुक्त लक्षण शब्द के लिए नवीन अर्थ की परिकल्पना करते हुए उन्होंने 'लक्षणव्यंजित' हस्तों का यह अभिप्राय प्रकट किया है कि हस्त द्वारा सम्पन्न होने वाले नव अभिनय सौष्ठव रहित न होने चाहिए। सौष्ठव के द्वारा अंगों में सौन्दर्य का प्रसार होता है। अतः हस्ताभिनय सौष्ठव विहीन कदापि नहीं होना चाहिये।[2]

प्रयोग और काल के अनुसार हस्ताभिनय का प्रयोग

नाट्य प्रयोग और काल की दृष्टि में रखकर भरत ने हस्ताभिनय के प्रसंग में कुछ महत्त्वपूर्ण विधानों का उल्लेख किया है। प्रयोग की दृष्टि में रखकर कभी 'निर्हस्त' का प्रयोग करना चाहिये और कभी 'हस्तमुद्राओं' का प्रयोग नितान्त नहीं करना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों विधान सौष्ठव के लिए ही होते हैं।

मद्यप, प्रमत्त, शीत, भय और ज्वर पीड़ित मनुष्य तो 'विरलहस्त' का ही प्रयोग करता है। मन और शरीर की असामान्य स्थितियों में हस्ताभिनय में विरलता के प्रयोग द्वारा ही सौन्दर्य का प्रसार होते देखा जाता है। पुनश्च जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं, जब हस्ताभिनय या तो अत्यल्प होता है या नहीं ही होता है तथा सत्त्वसमाश्रित अभिनय की ही प्रचुरता रहती है। विषाद, मूर्च्छा, लज्जा, जुगुप्सा, शोक ज्वर ग्रस्तता हिमातप की प्रबल पीड़ा और सम्भ्रान्तता की उद्वेगजनक परिस्थितियों में हस्ताभिनय के स्थान पर सत्त्वसमाश्रित अभिनय होता है। प्रभाव-वृद्धि के लिए नाना लय और रस का भावक काकुस्वर की योजना भी होती है।[3] ऐसे प्रसंग में हस्ताभिनय का प्रयोग न करने में ही सौष्ठव की योजना हो जाती है। भरत ने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि आन्तरिक उद्वेगों की तीव्रता तथा बाह्य प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण हृदय पर आघात गहरा हो घनीभूत पीड़ाओं की अत्यन्त ममस्पर्शी अभिव्यक्ति होती हो तो हस्ताभिनय भाव प्रकाशन में सक्षम नहीं हो पाता। सात्त्विक अभिनय के द्वारा वहाँ अभिनय सौष्ठव की व्यंजना हो पाती है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने महत्त्वपूर्ण विचार किया है। जो हस्ताभिनय मानव की आन्तरिक चित्तवृत्ति के प्रकाशन में समर्थ हो उसका ही प्रयोग करना चाहिए। 'कपोतक' भयशंका, 'कर्कटक' काम की तन्द्रालसता 'दाल' शोक सन्तप्तता और शुकतुण्डी आदि हस्तमुद्रायें ईर्ष्या आदि भावों का अनुभावन सात्त्विक अभिनय की तरह ही करती हैं। अतः इस प्रकार के

---

१ अ० भा० भाग २, पृ० ६७ ६८।

२ लक्षणान्यजिता हस्ताः कार्यास्तूत्तम मध्यमै। ना० शा० ९।१७४ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० ९।१७२ १७३७ (गा० ओ० सी०)।

हस्ताभिनय की मुद्रायें अन्य हस्तभेदो क आधार है। फलत उनम नाम साम्य ही नही उनकी रूप रचना और विनियोग म भी कुछ-न कुछ साम्य रहता है। अधचन्द्र, अराल, शुक्तुण्ड और सदश ऐसे ही हस्तभेद हैं जिनम परस्पर बहुत साम्य है। 'अद्धचन्द्र' हस्त म अगुष्ठ एव अन्य अगुलियाँ धनुषाकार हो जाती हैं और इस प्रकार अद्धचन्द्र का आकार बन जाता है। उसके द्वारा शशिलेखा बाल तरु, कम्बु कलश, वलय, नारियो की रशना जघन, कटी, आनन और कुण्डल आदि वत्ताकार पदार्थों का अभिनय होता है।[1] अराल हस्त की मुद्रा मे अगुष्ठ कुचित प्रथम अगुली धनुष-सी टेढ़ी तथा शेष तीन अँगुलियाँ भी ऊपर की ओर मुडी हुई होती हैं। अराल और अद्धचन्द्र म रूप साम्य है और भाव साम्य भी है। इसके द्वारा सत्त्व शौण्डीय, वीय, औदाय काति और धय आदि उदात्त भावो की अभिव्यजना होती है। परन्तु इसी 'अराल हस्त क द्वारा स्त्रियो द्वारा केशो का सयमन और ऊपर उठाना, अपने सुघड अगो को स्वय देखना, विवाह के अवसर पर पत्नी द्वारा पति की परिक्रमा आह्वान निवारण और मधुर गध का आघ्राण-जसे सुकुमार भावो का स्त्रियो द्वारा अभिनय होता है।[२] सदश' हस्त 'अराल' के समान ही होता है परन्तु तजनी और अगुष्ठ दोनो ही एक दूसरे के सम्मुख रहते है तथा हस्ततल का मध्य गहरा होता है। आकार की दृष्टि से 'सदश' तीन प्रकार का होता है—अग्रज, मुखज और पाश्वगत। 'अग्रज सदश' के द्वारा पुष्पावचयन माला ग्रथन केश, सूत्र और कटक का ग्रहण और कषण आदि अभिनेय व्यापार सपन्न होते हैं। 'मुख सदश के द्वारा पेड की डाल को झुकाकर फूल तोडना शलाका द्वारा नेत्रो म अजन लेप, चित्राकन, बाहु या कपोल पर पत्र भग की रचना, अलक्तक का निष्पीडन आदि सुकुमार अभिनय कार्यों का प्रयोग होता है। पाश्व सदश' द्वारा भी कोमल, कुत्सा ईर्ष्या और असूया आदि का अभिनय बायें हाथ द्वारा सपन्न होता है।[३] 'शुकतुण्ड' मुद्रा अराल की अनामिका अँगुली के वक्र होने पर होती है। इसके द्वारा केवल निषेधात्मक अभिनय व्यापार ही नही सपन्न होता अपितु ईर्ष्या, मान प्रणय और कलह आदि नारी जनोचित भावो की अभिव्यजना होती है।[४] इस मुद्रा का विकास शिव पावती के प्रेम-कलह से हुआ, ऐसी कल्पना की गई है।

असयुत हस्त

पताका, त्रिपताका और कतरी मुख एक दूसरे के निकट है, रूप रचना और भाव साम्य की दृष्टि से भी। पताका का उदभव ब्रह्मा से हुआ। इसका वण श्वेत है, ऋषि शिव और सरक्षक देवता परब्रह्म हैं। पताका म सब अँगुलियाँ सम और प्रसत होती हैं, अगुष्ठ कुचित होता है। पताका का अभिनय क्षेत्र स्थान परिवतन के अनुसार तो अनन्त है। इसके द्वारा विराट प्रकृति के

---

१ रशनाजघनकटीनामाननतलपत्र कुण्डलादीनाम्।
कर्तव्यो नारीणामभिनय योगेऽद्ध चन्द्रेण। ना० शा० ६।४३ ४५।

२ ना० शा० ६।४६ ५२।

३ ना० शा० ६।११० ११६ (गा० ओ० सी०)।
ना० शा० ६।५३ ५४ (वही), मिरर ऑफ गेस्चर पृ० ४६।

४ न च सर्वथा निषेधेऽयमभिनय अपितु अर्थे अर्थनायां सत्यामीर्ष्या प्रणयाकलहादावितियावत्।
अ० भा० भाग २, पृ० ३६। मिरर ऑफ गेस्चर, पृ० ४७।

इसी नाट्यधर्मी परंपरा द्वारा संभव हो पाता है। भरत ने हाथ के द्वारा संपन्न होने वाले नाना भाव रसाश्रित अभिनयों, मुद्राओं और चेष्टाओं का नामकरण, रूप रचना और विनियोग आदि का जो विस्तृत विधान किया है उसमें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों का पूर्ण समन्वय हुआ है।

हस्ताभिनय के प्रयोग के सम्बन्ध में दो तीन तथ्य महत्वपूर्ण हैं। अभिनय मात्र का प्रयोग आंतरिक चित्तवृत्तियों के प्रकाशन के लिए ही होता है अतः हाथ की जिन विभिन्न मुद्राओं और चेष्टाओं के द्वारा आंतरिक रागात्मक चित्तवृत्तियों की अभिव्यंजना होती है, उनका प्रयोग तो होना ही चाहिए। परन्तु जिनसे नाट्यार्थ में शोभा और सौष्ठव मात्र का ही प्रसार होता है उन हस्त मुद्राओं के प्रयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। निस्संदेह इन हस्तमुद्राओं का प्रभूत प्रयोग तो नृत्त और नृत्य में विशेष रूप से होता है। हस्ताभिनय का प्रयोग वहाँ पर मंद तथा अत्यल्प होता है जहाँ उत्तम पात्रों की भावविभूति का प्रकाशन सात्त्विक अभिनय के माध्यम से होता है।[1]

हस्ताभिनय के भेद

हस्ताभिनय के प्रसंग में भरत ने उनकी विविध मुद्राओं के आधार पर सड़सठ भेदों की परिगणना की है। हस्ताभिनय के प्रधान तीन भेद हैं—संयुत, असंयुत और नृत्त। संयुत हस्त द्वारा तेरह, असंयुत द्वारा चौबीस तथा नृत्त हस्त द्वारा तीस प्रकार की विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग होता है। भरत ने इन मुद्राओं का जो नामकरण किया है और उनकी रूप रचना का जो विधान किया है, वे शास्त्रीय तो हैं, परन्तु लोक-जीवन के व्यवहार का भी उन पर बड़ा प्रभाव है। उनके नामकरण के अनेक आधार हैं। मनुष्य की आंगिक चेष्टाओं के विविध रूप, पशु-पक्षियों की आकृति और चेष्टा, फूलों और लताओं के सुंदर रूप तथा प्रकृति की विराट विभूतियों के आधार पर हस्त भेद के विभिन्न नामकरण प्रस्तुत किये गए हैं। मुष्टि, पताका, पद्मकोश, शुकतुण्ड, हंसवक्त्र, अर्धचन्द्र और भ्रमर आदि हस्त भेद इसी प्रकार के हैं। ये नाम प्रायः उन वस्तुओं के आकार तथा उनके गुण साम्य पर पल्लवित हुए हैं। पताका पद्मकोश और मुष्टि आदि के नामों के मूल में लोक और शास्त्र की परम्पराओं को प्रतीकात्मक पद्धति पर भरत ने जीवित रखा है।[2] समस्त मानव और मानवेतर विराट प्रकृति के विविध रूप रंगों तथा उनकी चेष्टाओं का अध्ययन और विश्लेषण कर प्रतीकात्मक पद्धति पर मनुष्य की भाव-संपदा सुख दुःख, हर्ष शोक और रोष एवं चिन्ता आदि नाना भावों की अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनाया गया। इनके द्वारा नाट्य विशेषकर नृत्य में शोभा का तो प्रसार होता ही है, परन्तु जीवन की गहरी अर्थ-परम्परा की भी व्यंजना होती है।

हस्त भेदों का नाम और क्रिया में साम्य

विविध हस्त भेदों में नाम और क्रिया का भी साम्य बहुत अधिक मिलता है। बहुत से

---

१ ना० शा० ६।१८०-१८३।

२ पताकाकारत्वात् पताकः। अतएव पताकाप्यनेनैव अभिनेया। एवमन्यत्रापि हस्तेषु नामनिर्वचनानुसारेण विनियोगः प्रदर्शनीयः। अ० भा० भाग २, पृ० ६ तथा ना० शा० ६।१८-२०।

होता है। अथ व्यापार के बोधन तथा आकृति साम्य की दृष्टि से इनका कई और प्रकार का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ हस्तमुद्राओ द्वारा जीवन के सुकुमार भावा, नर नारी के शृगार भाव की ललित चेष्टाओ का अभिनय होता है और कुछ के द्वारा पुरुष के परुष भावो, प्रकृति के विराट् भव्य, सुदर और भयानक रूपा का सकेत होता है। असयुत हस्त की सारी अभिनय क्रिया एक ही हाथ से सम्पन्न होती है। यह असयुत हस्त ही सयुत और नत्त हस्तो के विविध विस्तार का माग प्रशस्त करते हैं।

सयुत हस्त

सयुत हस्त म दोना हाथ परस्पर सश्लिष्ट होते है। इस सयुत' हस्त क तेरह भेद है। तेरहो भेद असयुत हस्त के ही विकसित, परिवर्तित एव विभिन्न रूप है। अजलि, स्वस्तिक पुष्प पुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ कपोतक, ककट, निषध और वधमान आदि हैं। भरत ने इन तेरह भेदो का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट रूप स प्रतिपादित किया है कि असयुत हाथ की विभिन्न मुद्राओ के समन्वय से सयुत हस्त की मुद्राआ की रूप रचना होती है।[१] अजलि प्रसिद्ध सयुत हस्तमुद्रा है, इसकी रचना दोना हाथा की पताका मुद्रा द्वारा होती है। इसका विनियोग गुरुओ की वदना, मित्रो के अभिनन्दन आदि मे होता है। कपोतक हस्तमुद्रा की रूप रचना दोनो हाथा के पार्श्वों के योग स होती है। शीत और भय की अवस्था म प्रमदायें कपोत हस्त का विन्यास वक्ष स्थल पर करती हैं।[२] इसी प्रकार ककट असयुत हस्त म दोनो हाथो की अँगुलिया परस्पर एक दूसरे से ककट की दाढ के समान उलझी रहती हैं। इस मुद्रा का प्रयोग मदनागमदन, शयनोपरान्त आलस्य-त्याग आदि के रूप म किया जाता है।[३]

सयुत हस्त और असयुत हस्तमुद्राआ के विश्लेषण के प्रसग म अभिनवगुप्त ने यह सकेत किया है कि वास्तव म नाट्यशास्त्र मे परिगणित भेदा के अतिरिक्त अन्य भेदो की परिकल्पना की जा सकती है, क्याकि कोहल आदि आचार्यों ने अन्य भेदो का उल्लेख किया है।[४] इन मुद्राआ द्वारा जिन भावा के अभिनया का विनियोग प्रतिपादित किया गया है उनके अतिरिक्त अन्य भावो का भी अभिनय सम्भव है, यदि वे लोक प्रचलित तथा भावगम्य हो। वस्तुत नाट्य व्यापार म हस्ताभिनयो और उनकी मुद्राओ का बडा महत्त्व है। उनके द्वारा न जाने कितने विभिन्न भावो का अभिनय प्रतीक रूप म होता है। केशाकषण तो एक ही व्यापार है, परन्तु विदूषक का केशाकषण खटकामुख द्वारा प्रिया का कचाकषण 'अराल' द्वारा और रति क्रीडा के प्रसग मे कचाकषण मुष्टि' द्वारा सम्पन्न होता है।[५] कचाकषण की प्रत्यक मुद्रा मनोभावो की विभिन्नता के अनुरूप भिन्न रूप और आकृति की रचना करती है। हाथ द्वारा होने वाले कमव्यापारो का समाहार भी भरत ने किया है। उनकी दृष्टि से हाथ के द्वारा उत्कषण, विकषण, व्याकषण, परिग्रह,

---

१ ना० शा० ६।१२८, मिरर ऑफ गस्चर, पृ० ४८।

२ कपन इति कपोतो भीरु पक्षी तद् प्रकृतिर्योऽपि कपोतस्तम्य यतोऽय भवतीति भतोनामेव भीत विषयत्वात्। अ० भा० भाग २, पृ० ५६।

३ अ० भा० भाग २, पृ० ५७।

४ वही, भाग २, पृ० ५५।

५ अ० भा०, भाग २, पृ० ६५।

सुंदर, भव्य और भयानक रूपों का संकेत मुद्रा में किंचित परिवर्तन से सम्पन्न हो पाता है। वायु अग्नि और वर्षा का वेग, लहरों का तट पर टकराना आदि अनेक प्राकृतिक परिस्थितियों का बोध होता है।[१] त्रिपताका (संयुत हस्त) पताका की तरह ही है, केवल इसकी अनामिका अँगुली वक्र होती है। इन्द्र के वज्र धारण की शैली से इसका उद्भव हुआ है। वर्ण श्वेत, जाति क्षत्रिय, ऋषि गुह, संरक्षक शिव हैं। हाथ की मुद्रा द्वारा आवाहन, अवतरण, वारण, मांगल्य द्रव्यों का स्पर्श और उष्णीष (पगड़ी) या मुकुट आदि का धारण अभिनीत होता है। त्रिपताका को ही अधोमुख और ऊर्ध्वमुख करने में न जाने कितने भावों का संकेत होता है।[२] दशरूपक के अनुसार 'जनान्तिक' आदि में इसी का प्रयोग होता है। कर्तरी मुख भी त्रिपताका की तरह है। केवल इसकी तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी रहती है। इसकी विभिन्न मुद्राओं द्वारा चरण रचना, शृंग लेख, पतन, मरण व्यतिक्रम और परिवर्तन आदि भावों का संकेत होता है। शिव और जलन्धर की युद्ध कथा से इसका उद्भव हुआ। पज में ऋषि, संरक्षक विष्णु और वर्ण ताम्र है।[३]

असंयुत हस्तों में 'चतुर' हस्त का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य जीवन के जितने भी सुकुमार और सुंदर भाव हैं, उनका अभिनय 'चतुर' के द्वारा सम्पन्न होता है। इसमें तीनों अँगुलियाँ प्रसारित होती हैं। कनिष्ठ अँगुली ऊर्ध्वगामी होती है और अंगुष्ठ मध्यस्थित होता है। लीला, रति रुचि, स्मृति, बुद्धि, विभावना, क्षमा, पुष्टि, प्रणय, पवित्रता, चतुरता, माधुर्य, दाक्षिण्य, मृदुता यौवन और सुरत आदि के न जाने कितने भावों का अभिनय इसके द्वारा सम्पन्न होता है। प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार तो श्वेत, श्याम और रक्त आदि वर्णों का भी संकेत होता ही है।[४] इसका उद्भव कश्यप से हुआ। अमृत चुराने के समय गरुड़ को कश्यप ने उसी मुद्रा की शिक्षा दी। इसका ऋषि बालखिल्य वर्ण विचित्र, संरक्षक देवता विष्णु हैं।

हंस-वक्त्र, हंस पक्ष और मुकुलकर ये तीनों हस्त मुद्रायें भी एक दूसरे की बहुत निकट वर्ती हैं। इनके द्वारा नारी जनोचित शृंगार योग्य भावों का प्रदर्शन होता है। आलिंगन, रोम हर्षण, कोमल स्पर्श, अनुलेपन तथा नारियों के दोनों उरोजों के मध्य हृदयग्राही रसानुकूल विलास भाव आदि के अभिनय व्यापार सम्पन्न होते हैं। मुकुलकर मुद्रा के द्वारा विट प्रमदा के निकट अपनी प्रेमविह्वलता के प्रदर्शन के लिए अपने हस्त तलका चुम्बन या प्रमदा के मर्मस्थान के स्पर्श के सुकुमारभाव का विन्यास करता है।[५] असंयुत हस्ताभिनयों में पताका, सूचीमुख, भ्रमर, चतुर सदृश वक्त्रमुख और पद्मकोश आदि प्रधान हैं। इनके द्वारा नयी-नयी मुद्राओं का आविर्भाव

---

१ ना० शा० ९।१८ २७ (गा० ओ० सी०)। मिरर ऑफ गश्चर, पृ० ४५ ४६।

२ It may be pointed out here once for all that the different meanings of a given hand are differentiated by the position in which it is held and by the way in which it is moved

—*Mirror of Gesture*, p 46 footnote

तथा ना० शा ९। = ३६ वही, द० रू० १।६२६।

३ वही ९।४० ४२ (गा० ओ० सी०)। वही पृ० ४७ तथा पादटिप्पणी २०।

४ सितमूर्ध्वेण कुर्यादेवं मध्यकृतेनैव च। ना० शा० ९ ६३ १०० (गा० ओ० सी०)। मिरर ऑफ गश्चर, पृ० ५४ ५५।

५ पुनरेव च न राणा स्तनान्तरमेन विभ्रम विरोधा। कार्या यथारम स्यु द्ध हनुधारणे चैव। ना० शा० ९।१०६, मिरर ऑफ गश्चर पृ० ५५ ५६।

इनके भेद और विनियोग

हृदय के आभुग्न, निभुग्न, प्रकंपित उद्वाहित और सम के द्वारा लज्जा, हृदय की पीडा सत्यवचन, विस्मय दृष्टि, गर्व प्रदर्शन, मानग्रहण, हँसन, रोने श्रम भय, श्वास कफ हिचकी तथा दुख, उच्छवास, ऊँचाई की ओर देखने और जभाई लेने आदि असख्य भावो का प्रदर्शन होता है।[१] पार्श्व के नत, समुन्नत प्रसारित, विवर्तित और प्रसृत पाँचो पार्श्व रूपो के द्वारा उप सर्पण अपसर्पण, आनन्द दशा, चक्राकार तथा हटने आदि भावो को रूप दिया जाता है।[२] उदर के तीन रूपो का उल्लेख है। हास्य रुदन के आङ्गिक प्रसग में क्षीणोदर 'क्षाम होता है, व्याधि तपस्या, क्षुधा तथा थकावट की स्थिति में उदर 'नत' हो जाता है और स्थूलता व्याधि और अतिभोजन की अवस्था में उदर पूर्ण' रहता है।[३] कटि पाँच प्रकार की होती है। व्यायाम शीघ्रता और चारो ओर देखते हुए कटि छिन्न होती है और उसका मध्य भाग एक ओर हो जाता है। निवृत्त, रेचित, प्रकंपित और उद्वाहित आदि कटि के विभिन्न रूपो द्वारा अनेक प्रकार की गतियो का योग होता है।[४]

अगों का समन्वित प्रयोग

उरु, जघा और पाद के भी पाँच-पाँच रूप हैं। उनका विभिन्न भावो के प्रकाशन में प्रयोग होता है।[५] पाद, जघा और उरु द्वारा होने वाले अभिनय व्यापार भी परस्पर सम्बंधित होते हैं। भाव और रस को दृष्टि में रखकर इनका समान रूप से एक साथ सचालन होता है। इन तीनो के कर्म व्यापारो के समन्वय के द्वारा ही अभिनय में पूर्णता आती है। इन तीनो में भी पाद द्वारा होने वाले अभिनयो का बडा महत्त्व है, उरु और जघा तो उसी पर आधारित हैं। जिस प्रकार पाद का प्रवर्तन होता है उसी प्रकार उरु और जघा का भी। इन्ही तीनो के समीकरण से चारी की रचना होती है। इनका अभिनय और नृत्य दोनो ही के लिए समान रूप से महत्त्व है। पाद के पाँच रूप ये हैं—उद्घट्टित, सम, अग्रतलसचर, अचित और कुचित।[६]

चारी

नाट्य और नृत्य दोनो ही कलाओ के लिए चारी के महत्त्व का प्रतिपादन भरत ने किया है। कटि, पार्श्व, उरु, जाँघ तथा पाद द्वारा होने वाले अभिनयो का समानीकरण ही चारी है।[७] अत चेष्टायें चारी द्वारा व्याप्त रहती है। चारी के द्वारा ही नृत्त तथा अगहार की रचना होती है। चारियो के द्वारा ही शस्त्र मोक्ष होता है। इसीलिए भरत ने चारी के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि नाट्य की स्थिति तो चारी में ही होती है बिना चारी के शिर एव हस्तादि

---

१ ना० शा० ६।२२३ २३२।

२ ना० शा० ६।२३३ ४० (गा० ओ० सी०)।

३ वही ६।२४१ २४३ " " "

४ वही ६।२४४ २५० " " "

५ वही ६।२५० २६६ " " "

६ तयो समानकरणाद् पादचारी प्रयोजयेद्। ना० शा० ६।२८२ (गा० ओ० सी०)।

७ ना० शा० १०।१ ६ (गा० ओ० सी०)।

निग्रह आह्वान ताडन, छेदन, भेदन, सश्लेष, वियोग, रक्षण, मोक्षण, विक्षेप, धूनन तर्जन, स्फोटन, सकोचन और सादर त्याग आदि अनन्त कम होते हैं। ये सारे हस्त कम भी नेत्र-भ्रू मुखराग आदि द्वारा व्यजित होने चाहिये।[1]

नि स देह हस्ताभिनय का भरत न जिस वज्ञानिक रीति स विश्लेषण और वर्गीकरण किया है वह विस्मयावह है। अपनी भाव सम्पदा के प्रकाशन म न जान कितने प्रकार स कितनी मुद्राओ क साथ मनुष्य अपने भावो को रूप देता है उन सबका अध्ययन और तुलना करक प्रतीक रूप म उनको शास्त्रीय रूप देना कम साहस की बात नही है। प्रत्येक परिवर्तित हस्त की मुद्रा क द्वारा भावो की नयी आभा फूटती है।

नृत्त हस्त

इसी प्रसग म भरत ने तीस नृत्त हस्तो का भी पूण विवरण प्रस्तुत किया है। इन नत्त हस्ता की भी रूप रचना हस्ताभिनय के विविध रूपा के आधार पर होती है। चतुरस्र नामक नृत्त हस्त क प्रयोग म प्रामुख, खटकामुख तथा कपू रास(कधा)स तुलित रहते हैं। उद्वत म दोनो हाथ हसपक्ष की मुद्रा म रहत हैं 'अराल खटकामुख' म मणिवध के अन्त म दोनो हाथ अराल की मुद्रा म परस्पर विच्युत होते हैं।[2] सब नृत्त हस्तो की रूप रचना सयुत या असयुत हस्त क सश्लेषण और विश्लेषण द्वारा होती है। पताका आदि अभिनय हस्तो के योग क साथ अभिनय और नत्त की सक्रता भी होती है। नाट्य की प्रधानता होने पर वह 'अभिनयकर' होता है और नत्त की प्रधानता हाने पर नत्तकर[3]। विशुद्ध नाट्य की हस्तमुद्रायें हो या नत्यहस्त की मुद्राओ का अभिनय सम्पादन करना हो, तो करणो का ज्ञान नितात आवश्यक होता है। करण के चार प्रकार होते हैं—आवष्टित, उद्वष्टित व्यावर्तित और परावर्तित। इन चारो करणो क द्वारा हाथ की प्रधान मुद्रायें रूप लेती हैं। इन करणो का प्रयोग भी मुख, भ्रू नेत्र और मुखराग आदि क सदभ म करना चाहिय तथा करणों का प्रयोग विशुद्ध नाट्य और और नत्त दोनो म ही होता है। अभिनय का कोई भी रूप तब तक पूण नही हो पाता जब तक नेत्र, भ्रू तथा मुखराग आदि की भी साथ ही व्यजना न होती हो। वह नत्तहस्त का प्रयोग हो या नाट्य के हस्त की मुद्राओ का परन्तु इन उपयु क्त उपागो का भी तदनुरूप भाव रसाश्रित सचालन नितान्त अपेक्षित है।[4]

अन्य प्रधान अगो द्वारा अभिनय

अभिनय विधान के प्रसग म भरत न हृदय (वक्षस्थल), उदर, पार्श्व, उरु, जघा और पाद द्वारा होने वाले अभिनयो का विवेचन और वर्गीकरण किया है। इन प्रधान अगो का भाव और रस की भिन्नता के परिवेश म जो भिन्न रूप रचना होती है उनक आधार पर उनकी मुद्रायें आकृति की रचना और विनियोग का बहुत ही विस्तृत विधान किया है। हम यहाँ उन्हे सूत्र रूप म प्रस्तुत कर रहे हैं—

---

१ ना० शा० ९।१६८ १६९ (गा० ओ० सी०)।
२ वही ९।१७० २०६ (गा० ओ० सी०)।
३ ना० शा० ९।२ २ २१६ (गा० ओ० सी०)।
४ नेत्रभ्रू मुखरागाद्यै र्वाजिता इति त्वभिनयेषु पूरयाथौ प्रक्रिया। अ० ना० भाग २ पृ० ८१।

सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि जिस ओर पाद प्रचार हो उसी ओर हस्त प्रचार भी होना उचित है। हस्त प्रचार के अनुसार समस्त शरीर की गति का निर्धारण होता है। पाद प्रचार जिस रूप में होता है भ्रू, नेत्र, मुखराग आदि की भी योजना तदनुरूप ही होती है। परन्तु पारस्परिक प्रधानता का नियम इन अभिनय-व्यापारों का सदा अनुशासन करता है। हस्त प्रचार की प्रधानता में पाद प्रचार उसीके अनुसार होता है और पाद प्रचार की प्रधानता में हस्त प्रचार पाद प्रचार के अनुसार होते हैं। यदि दोनों प्रधान होते हैं तो दोनों का विनियोग एक ही काल में होता है।[1]

स्थान

'चारी' के विवेचन के प्रसंग में भरत ने कई महत्त्वपूर्ण नाट्य प्रयोग-सम्बन्धी सिद्धान्तों का आकलन किया है। उनके विचार से पाद प्रचार-काल में मनुष्य के छः स्थान होते हैं। अभिनव गुप्त ने इन स्थानों को 'कायसंनिवेश' और मनमोहन घोष महोदय ने खड़े होने की मुद्रा (स्टैंडिंग पोस्चर प्रास्थानक) के रूप में विवेचन किया है।[2] वैष्णव समपाद वैशाख मण्डल, आलीढ और प्रत्यालीढ ये छः स्थान हैं। प्रत्येक स्थान रूपरेखा और विनियोग की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न है। वैष्णव स्थान में दोनों चरणों में दो तालों का अन्तर एक भाव स्वाभाविक मुद्रा में, दूसरा किंचित् वक्र, अँगुलियाँ पार्श्वाभिमुखी और अंग सौष्ठव युक्त होते हैं। देवता विष्णु हैं। इस स्थानक का विनियोग उत्तम मध्यम पात्रों के स्वाभाविक वार्तालाप, चक्रमोक्षण धनुर्धारण, धैर्य उदात्त अंगलीला, शंका, असूया, उग्रता, चिंता मति, स्मृति दीनता, शृंगार और अद्भुत आदि रसों में होता है। इसी प्रकार अन्य आलीढ और प्रत्यालीढ स्थानों में रौद्र रस आवेगपूर्ण वार्तालाप तथा शस्त्र मोक्ष आदि का प्रयोग होता है।[3] शस्त्रमोक्ष की भी चार विधियाँ हैं, भारत, सात्वत, वार्षगण्य और कैशिक[4]। भारत के अनुसार कटि पर, सात्वत के अनुसार पाद पर, वार्षगण्य के अनुसार वक्षस्थल पर और कैशिक के अनुसार शिर पर अस्त्र प्रहार का विधान है। इनका शास्त्रीय नाम 'न्याय' भी है, क्योंकि न्यायाश्रित अंगहार और न्याय से समुपस्थित युद्ध का रंगमंच पर नयन' होता है। भारत-न्याय के अनुसार प्रवेश करता हुआ पात्र बायें हाथ में खेटक और दायें हाथ में उपयुक्त अस्त्र लेकर रंगमंच पर परिक्रमा करता है। इसी प्रकार अन्य न्यायों में भी किंचित् परिवर्तन के साथ शस्त्रों का प्रयोग नाट्य में होता है। वस्तुतः नाट्य के सन्दर्भ में प्रयोग की दृष्टि से वृत्तियों में 'भारती' वृत्ति की तरह न्यायों में 'भारत न्याय' ही सब प्रधान है।

चारी का नाट्य में प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नाट्य एक सुकुमार कला है जीवन की अनुरूपता के कारण उसमें उद्धत और परुष भावों और घटनाओं की भी योजना होती ही है। अतः सुकुमार नाट्यकला में युद्ध और नियुद्ध आदि दृश्यों के प्रसंग में उसका प्रयोग किस रीति से होना चाहिये, इसका विधिवत् और विस्तृत विवेचन भरत ने किया है। लोक में अस्त्र

---

१ यत पादस्ततो हस्त यतो हस्त तत त्रिकम्। ना० शा० १०।४८ (गा० ओ० सी०)।

२ स्थानानि—कायसंनिवेशाश्च उच्यते। अ० भा० भाग २ पृ० १०७ ना० शा० अ० अ० ११।५०, पृ० २०१।

३ ना० शा० १०।५१ ७२ (गा० ओ० सी०)।

४ वही १०।७४ ८३।

का भी संचालन नहीं होता है। कुछ का गमनागमन चारी के साथ होता है, कुछ का पूर्वापर भाव से। अत अभिनय के क्षेत्र में 'चारी' का महत्त्व तो असाधारण है।[1]

भौमी और आकाशिकी

चारी द्वारा आंगिक अभिनय तो सम्पन्न होता ही है, वह नृत्य के 'करण', 'खण्ड' तथा 'मण्डल' का भी आधार है। जब एक पाद प्रचार द्वारा कोई कार्य सम्पन्न होता है तो चारी, जब दो बार पाद प्रचार होता है तो करण, करणों के समायोग द्वारा खण्ड तथा तीन चार खण्डों के योग द्वारा मण्डल की परिकल्पना की जाती है।[2] इनका विशेष रूप से प्रयोग नृत्त' में होता है। परन्तु नाट्य में युद्ध और शस्त्र प्रहार के प्रसंग में चारी का प्रयोग होता है। आचार्य भरत ने चारी के अभिनय-व्यापारों को दो भागों में विभाजित किया है—भौमी और आकाशिकी। भौमी और आकाशिकी के सोलह भेद हैं। इस प्रकार चारी के भेद कुल बत्तीस हैं—भरत की दृष्टि में। परन्तु अभिनयदर्पण में केवल आठ ही प्रकार की चारियों का उल्लेख मिलता है तथा भौमी और आकाशिकी इन दो पृथक् भेदों की परिकल्पना नहीं है। नाट्य शास्त्र में बीस प्रकार के मण्डलों का भी उल्लेख है। वे चारी की तरह भौमी और आकाशिकी इन दो वर्गों में विभाजित हैं।[3]

भौमीचारी—भौमीचारी के सोलह भेदों का प्रयोग मुख्यत भूमि पर होता है। इसीलिए भौमी यह उनकी संज्ञा है। इन सबके नाम अन्वर्थ हैं। समपादा चारी में दोनों चरणों की गति भूमि पर ही होती है एक दूसरे के निकटवर्ती एक ही स्थान पर आश्रित होते हैं, यहाँ तक कि उनके नख भी सम होते हैं।

आकाशिकी—आकाशिकी चारी के अन्तर्गत आकाश की ओर होने वाले अभिनय व्यापारों का परिगणन किया गया है। अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती में स्पष्ट रूप से इसका समर्थन किया है कि 'चारी' की दोनों संज्ञाएँ अन्वर्थ ही हैं। परन्तु दोनों चारियों में मौलिक अन्तर यह है कि 'भौमी' का प्रयोग मुख्यत द्वन्द्व-युद्ध और करणाश्रित नृत्य के प्रसंग में परम्परा से होता आया है और प्रसंगवश नाट्य में भी होता है। परन्तु आकाशिकी' का प्रयोग मुख्यत ललित अंगों की क्रिया के प्रसंग में तथा धनुष, वज्र और असि के मोक्ष में होता है।[4]

पाद और हस्त-प्रचार की परस्पर अनुगतता

नाट्य एवं नृत्य में पाद प्रचार (चारी) और हस्त प्रचार दोनों का ही प्रयोग होता है। भरत ने दोनों के समन्वय और परस्परानुगतता के सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण विचारों का आकलन किया है। नाट्य और नृत्य (नृत्त) में कभी तो हस्त प्रचार की प्रधानता रहती है कभी पाद प्रचार की और कभी दोनों ही समान रूप से प्रधान होते हैं। ऐसी परिस्थिति में भरत ने यह

---

१ यदेतत् प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेवसंस्थितम्।
नहि चार्या विना किंचित नाट्येऽङ्ग सम्प्रवर्तते। ना० शा० १०।६ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० १०।१ ३ ३६, तथा अ० द०, पृ० ३४ ३६।

३ अ० द०, पृ० ४० ४१, ना० शा० १०।१४ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० १०।२६,४६, अभिनव भारती भाग २, पृ० ६६,१०७

भरत ने 'गति' रखा है। 'गति' के अन्तगत ही भाव, रस, अवस्था, देश और काल की विविधता और विभिन्नता के सदभ मे प्रयोज्य पात्र के स्थान, पाद प्रचार, आसन और शयन आदि का निर्धारण होता है। क्योकि एक व्यक्ति दूसरे से केवल अवयव-सस्थान और स्नायुगत प्रतिक्रिया आदि की दृष्टि से ही भिन्न नही होता अपितु अपनी आन्तरिक चित्तवत्ति देशकाल की सीमा और जीवन के विविध परिवेश के कारण भी उसकी मानसिक प्रतिक्रिया भिन्न होती है और उसका प्रभाव समस्त अग उपागो पर भिन्न भिन्न रूप म पडता है। पाद प्रचार उनसे प्रभावित होता है।

गति विधान नाटय प्रयाग की समृद्धि और सफलता की दृष्टि स भरत की महत्त्वपूण देन है। इसके अन्तगत रगमच पर पात्र के प्रवेश काल स निष्क्रमण काल तक की प्रत्येक शारीरिक चेष्टा का शास्त्रीय रीति से निर्धारण हुआ है। पात्र का स्थानक (खडे होने की मुद्रा) उसके दोनो चरणो का स्थान व्यवधान, चरणविन्यास म काल का क्रम, लय, भाव और रस की भिन्नता क अनुसार गति म भिन्नता, रथारोहण जल सतरण नौका यात्रा, आकाश म सचरण, पुरुष द्वारा स्त्री की भूमिका तथा स्त्री द्वारा पुरुष की भूमिका मे अवतरण आदि अनेक नाटय प्रयोग सम्ब धी तात्त्विक सिद्धा तो का निरूपण किया गया है। गतिविधान यद्यपि आगिक अभिनय का अग है, परन्तु अभिनय के अन्य अनेक महत्त्वपूण रूपो और तथ्यो का भी इसमे आकलन किया गया है। इसम भरत न लोक प्रचलित धारणाओ और अग प्रत्यग की भाव भगिमाओ की विवेचना पात्र की प्रकृति और अवस्था भेद क सदभ म की है।

पात्र का प्रवेश-काल

पात्र का रगमच पर प्रवश एक अत्यन्त महत्त्वपूण नाटय प्रक्रिया है। पात्र प्रवेश के द्वारा ही प्रेक्षक के हृदय म सुखदु खात्मक सवेदना का सृजन होता है। अत प्रवश काल म पात्र का प्रवेश इस प्रभावशाली रूप म होना चाहिए कि प्रतिपाद्य मुख्य रस का उदय प्रेक्षक के हृदय मे आरम्भ स ही होने लगे। अतएव भरत न भाण्डवाद्य पुरस्कृत माग और रसोपेत 'ध्रुवागान का विधान पात्र प्रवेश काल म किया है।[1] प्रविष्ट पात्र ही ता नानाथ रस' का सप्टा होता है और उसका रगमच पर प्रवेश काल नाटय प्रयोग की प्रभातकालीन मगल वला है जिसम जीवन की सवेदनात्मक रश्मि की रगविरगी आभा प्रेक्षक के हृदय को प्रतिभासित करन लगती है। कोहल और आचाय अभिनव गुप्त न पात्र प्रवेश काल को बडा महत्त्व दिया है। प्रवेश काल का बाह्य वातावरण और पात्र की आगिक चेष्टायें, स्थानक और मुखराग आदि सब रसोन्मुखी हो।[2]

पात्र के गतिनिर्धारण मे प्रकृति का योग

पात्र का प्रवश काल केवल मनोहर गान वाद्य और रमणीय दृश्य विधान स ही समृद्ध नहीं

---

१ तत्रोपवहन कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम्।
कार्यं प्रवेश पात्राणा नानार्थरससम्भव। ना० शा० १२ २ ३ (गा० ओ० सी०)।

२ कोहलेन प्रयोगवलाद् यपदिष्ट शुष्कापरगानकृत्वा प्रवेश एव समुचित स्थानक दृष्टिमुखरागादि युक्तो कर्तव्य। यथा सामाजिकाना झटित्यवान्विताभिधान न्यायेन मुख्यरसन्याप्तिरुदयत। अ० भा० भाग २, पृ० १३०।

धारण, शस्त्र माक्षण, प्रहार आदि के जो प्रयोग होते हैं उन सबका यथावत् पर्यालोचन कर भरत ने उसको सैद्धान्तिक रूप दिया है।

निषेध

प्रयोग विधान के अतिरिक्त भरत ने रंगमंच पर प्रयोक्ता पात्रों द्वारा अस्त्र प्रयोग और अस्त्र मोक्ष आदि के सम्बन्ध में निषेधों का भी विधान किया है। भरत का स्पष्ट विचार है कि धनुष या वज्र आदि का प्रयोग हो, प्रहार भी हो, पर वह सज्ञा मात्र हो, न कि रुधिर स्राव करने वाला वास्तविक प्रयोग[1]। अतएव घातन, भेदन और छेदन आदि का अत्यन्त स्पष्ट निषेध है। यदि ये अत्यावश्यक हो, तो आहार्य विधि द्वारा उनका प्रयोग करना चाहिये। इस निषेध के मूल में भरत की सुरुचि का हम अनुमान कर सकते हैं। नाट्य सुकुमार कला है, ऐसे दृश्यों से कुरुचि जागती है। नाट्य सुरुचि का प्रतीक है, इसमें कुरुचि के लिए स्थान कहाँ? दूसरी ओर 'चारी' के प्रसंग में 'अंग सौष्ठव विधान' नितान्त अनिवार्य माना है क्योंकि अंगसौष्ठव से ही नाट्य और नृत्य में शोभा का प्रसार होता है।[2] सौष्ठव अंग में गात्र अचल, शान्त, न बहुत तना, न झुका होना है। कटी कर्ण, स्कंध और शिर 'सम' और वक्षस्थल 'उन्नत' होता है। मध्यम और उत्तम पात्र अंग सौष्ठव से ही अपना प्रभाव समृद्ध करते हैं।

चारी विधान भरत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय उपलब्धियों में है। परन्तु इसके मूल में भी लौकिकता की प्रच्छन्न धारा प्रवाहित होती रहती है। शस्त्र मोक्ष, हस्त प्रचार और पाद-प्रचार की पारस्परिक अनुगतता रंगमंच पर छेदन भेदन और रुधिर स्राव का निषेध तथा अंगों के सतुलित सौष्ठव का विधान, ये सब-कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण नाट्योपयोगी प्रयोग की शृंखलाएँ हैं, जिनसे भरत की प्रयोगशील दृष्टि का हम अनुमान कर सकते हैं। नाट्य प्रयोग के प्रसंग में भरत ने सब प्रयोज्य नाट्य एवं अभिनयों का निश्चित रूप से निर्धारण किया है कि यह नाट्य प्रयोग शताब्दी में मनुष्य के जीवन के अनुरूप हो और अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हो सके।

गति-विधान

गति-विधान—एक महत्त्वपूर्ण नाट्यचिन्तन

आंगिक अभिनय के विवेचन के क्रम में भरत ने पात्र द्वारा प्रयोज्य स्थान, पाद प्रचार, आसन और शयन आदि विभिन्न नाट्योपयोगी विधियों के सम्बन्ध में तात्त्विक विचार प्रस्तुत किया है। आंगिक अभिनय की ये चारों स्थितियाँ आपस में रूप रचना की दृष्टि से तो भिन्न हैं ही, इनका प्रयोग भी भावों की भिन्न भूमिका में होता है। इन विधियों का पारिभाषिक नाम

---

१ सज्ञामात्रेण कर्तव्यं शस्त्राणां मोक्षणं बुधैः।
न भेद्यं न चापिच्छेद्यं न चापि रुधिरस्रुतिः।
रंगे प्रहरणं कार्यो न चापिव्यक्तघातनम्।
अथवाऽभिनयेनैव कुर्याच्छेद्य विधानतः। ना० शा० १०।८६-८७। (गा० ओ० सी०)।

२ नाट्यं नृत्तं च सर्वं हि सौष्ठवे सम्प्रतिष्ठितम्। ना० शा० १०।८८-९१।

लय है। इसी प्रकार नाट्य के पात्रों में उनकी प्रकृति आदि चित्तवृत्ति के प्रकाश में उसकी गति में एक निश्चित लयात्मक सामंजस्य की अपेक्षा होती है।[1]

गति में प्रकृति और सत्त्व का समन्वय

आन्तरिक चित्तवृत्ति के अनुरूप ही आंगिक चेष्टाओं का भी प्रदर्शन होता है। भरत का यह स्पष्ट मत है। परन्तु असाधारण अवस्थाओं में भी उत्तम पात्र की आन्तरी प्रकृति का प्रभाव रहता है। अतः गति विधान के प्रसंग में उत्तम पात्र के लिए विहित विधियों का प्रयोग सदा उत्तम पात्र के लिए ही करना चाहिए, मध्यम एवं अधम पात्रों के लिए प्रयोज्य गति का उन्हीं में प्रयोग करना चाहिए।[2] उनमें परस्पर विपर्यय नहीं होता। इस नियम निर्धारण पर भरत की लोकानुसारी प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव है। लोक में उत्तम पात्र की गति में गम्भीरता, लय की स्थिरता तथा चरण विन्यास के कालक्रम में कला (कलामान) की अधिकता दिखाई देती है। अतः रंगमंच पर भी उसकी गति में भी वही गम्भीरता, शान्ति और शालीनता का गौरव भाव प्रदर्शित होना चाहिए। अधम पात्र प्रकृति और प्रवृत्ति से भी चचल और व्यग्र होते हैं। उनके पाद प्रचार में द्रुतलयता तथा न्यून कला का प्रयोग अपेक्षित होता है। उनकी प्रकृति की सच्ची अभिव्यक्ति न केवल वाणी ही अपितु अंग प्रत्यंग की नानाविध चेष्टाओं द्वारा सम्पन्न होती है।[3]

लयात्मकता नाट्य का प्राण रस

आचार्य अभिनवगुप्त का यह विचार नितान्त उचित ही है कि असामान्य मानसिक दशाओं में गति निर्धारण में जो अनियम दिखलाई देता है, वास्तव में सत्वानुरूपता के कारण उसमें भी एक नियम की धारा वर्तमान रहती है।[4] धीर गम्भीर व्यक्ति यदि कारणवश मानसिक व्यग्रता में होता है, तब भी उसकी गति और चरणविन्यास में स्थिरता और गम्भीरता मध्यम और अधम पात्र की अपेक्षा अधिक ही रहती है। उसका जो स्वभाव सिद्ध गौरव चरण विन्यास में रहता है वह असामान्य सुख दुःख की अवस्थाओं में किंचित् वर्तमान रहता ही है। यह लयात्मकता गति विधान का प्राण है। सत्वानुरूप गति की लयात्मकता, लोक व्यवहार के अनुरूप गति की परिकल्पना नाट्य प्रयोग का प्राण है। इसी प्राण रस को भरत ने यहाँ उच्छ्वसित किया है। यह केवल शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं, जीवन रस में पगा हुआ नाट्य का प्रयोगात्मक रस है जिसके योग से नाट्य प्रयोग को प्राण शक्ति मिलती है।

गति निर्धारण में रस का योग

प्रकृति और मनोदशा (सत्त्व) की भिन्नता के परिवेश में पात्र की गति में भी पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। चित्तवृत्ति का गतिनिर्धारण में बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः आंगिक चेष्टायें तो हमारे आन्तरिक मनोभावों के ही प्रतिरूप हैं। अतः रसरूप चित्तवृत्तियों की भिन्नता

---

१ सत्व चित्तवृत्ति तेन सम्भ्रमादौ उत्तमस्यापि द्रुत शोकादौ मध्यमस्यापि विलम्बितम्। ना० शा० १३।३६ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० १३।३६छ ४०क (गा० ओ० सी०)।

३ म० भा० भाग २, पृ० ४० ४१।

४ ना० शा० १२।३० (गा० ओ० सी०)।

होता अपितु पात्र की प्रत्येक चेष्टा—ताल, कला और लयाश्रित हो सम्पूर्ण वातावरण में एक आन्तरिक संगीत की लय का सृजन करती है। यह लयात्मकता मनुष्य की चित्तवृत्ति से अनुप्राणित होती है। प्रविष्ट पात्र के चरण प्रकृति और मनोदशा भेद से निश्चित दूरी पर और नियत काल क्रम में पड़ते हैं। उत्तम प्रकृति के पात्र के चरणों का स्थान मान क्रम और उनका गतिक्रम (लय) तीनों ही अधिक दूरी अधिक काल और लय पर आश्रित होते हैं। क्योंकि उत्तम पात्रों की प्रकृति और चित्तवृत्ति गम्भीर और स्थिर होती है और अधम पात्रों की प्रकृति चंचल और असंयत। अधम प्रकृति के पात्रों के चरणों की दूरी चरण विन्यास का कालक्रम तथा गतिक्रम सब थोड़ी दूरी कम काल पर आश्रित होते हैं। देवताओं और राजाओं के पादोत्क्षेप का अन्तर चार ताल मध्यम पात्रों का दो ताल तथा स्त्री पात्र एवं नीच पात्रों के चरणों का अन्तर केवल एक ताल होता है। पादोत्क्षेप का काल मान भी चरण ताल के अनुसार ही होता है। उत्तम पात्र के चरण विन्यास में चार कला मध्यम में दो और अधम में एक कला का समय लगता है।[1] मनुष्य की उत्तमाधम प्रकृति के मूल में ही उसकी गति का क्रम या लय भी निर्धारित होता है। लय तीन हैं—स्थित लय, मध्य लय और द्रुत लय। प्रकृति और मानसिक अवस्था से प्रभावित होने के कारण ही धीर गम्भीर स्वभाव के पात्रों का गति क्रम स्थित लय मध्यम स्वभाव के पात्रों का मध्य लय और अधम स्वभाव के चंचल निकृष्ट पात्रों के गतिक्रम के लिए द्रुत लय का विधान किया है।

गति निर्धारण में सत्त्व का योग

भरत के विचार इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट हैं कि ताल काल और लयाश्रित गति का निर्धारण सत्ववश या मनोदशा के सन्दर्भ में होना चाहिए।[2] भरत की यह स्थापना उनकी लोक-परम्परानुसारी नाट्यप्रयोग की दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने सामान्य रूप से प्रकृति भेद से ताल काल और लय भेद का निर्धारण किया है। परन्तु असाधारण मानसिक दशा में इन नियमों का कैसे अनुकरण किया जा सकता है। संग्राम प्रच्छन्नकामिता, भयत्रस्तता और हर्ष आदि के सन्दर्भ में उत्तम प्रकृति के पात्रों का भी पाद प्रचार द्रुत होता है और शोक, ज्वर ग्रस्तता, क्षुधा तपस्या और श्रान्ति की दशा में तो अधम पात्रों का पाद प्रचार भी स्थित होता है द्रुत नहीं।[3] भरत की दृष्टि से गति विधान में प्रकृति की अपेक्षा सत्त्व या चित्तवृत्ति का महत्त्व कहीं अधिक है। चरणों के अन्तर, काल क्रम और गति क्रम में प्रकृति की अपेक्षा चित्तवृत्ति की प्रधानता है। परन्तु भरत ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ताल, कला और लय इन तीनों में ही एकलयात्मकता का सूक्ष्म सूत्र अनुस्यूत रहता है। उत्तम पात्र शोकातुर होने पर भी अधम पात्र की अपेक्षा स्थिर और दृढ़ होता है। उसकी गति भी स्थिर और दृढ़ होती है उसमें उसकी अन्त प्रकृति का प्रभाव रहता ही है। अतः असाधारण अवस्था में भी विभिन्न प्रकृति के पात्रों की गति में मन और शरीर की लयात्मकता का बोध होता है। इसी लय पर तो यह नाट्य सृष्टि होती है। विराट सृष्टि की स्थिति में भी लय है सूर्य चन्द्र सब लय में बंधे हैं और उस प्रलय में भी

१ ना० शा० १२।८-१० (गा० ओ० सी०)।

२ लयत्रय सत्त्ववशेन योज्यम्। ना० शा० १२।१३ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० १३।३०-४० (गा० ओ० सी०)। भ० ना० भाग २, पृ० १३४।

प्रकृति के अनुसार अन्त प्रकृति से शान्त स्वभाव के ही होते है।[1] पाद प्रचार रसानुसार होता है यह हमने सूत्र रूप मे प्रस्तुत किया है। भरत ने जिस सूक्ष्मता और विस्तार के साथ रस भेद से गति भेद का विचार किया है, वह उनकी मौलिक नाट्यचिन्तन प्रवत्ति का सकेतक है। क्योंकि विविध रसो के सन्दभ म पात्रो का पाद प्रचार ही नही, हस्त प्रचार, नेत्र भ्रू और मुखराग आदि का भी विधिवत् विधान किया है और वह नितान्त लोकानुसारी है। अतएव वह नाट्य प्रयोग हृदयग्राही भी है।

गति-विधान मे देश का योग

भारतीय नाटको म कथावस्तु के आग्रह से अनेक असामान्य दृश्यो की परिकल्पना की जाती है, जिनका सामान्य रूप से नाट्य प्रयोग सभव नही है। शकुन्तला नाटक के प्रथम अक म *रथारूढ दुष्यन्त मृग का अनुसरण करते हुए प्रवेश करते है, सप्तम अक मे विमानारूढ हो दुष्यन्त* मातलि के साथ स्वग से धरती पर उतरते हैं। ऐसे ही रथारोहण, पवतारोहण, सागर नदी सतरण और अन्धकार म यात्रा आदि के प्रभावोत्पादक दृश्या की परिकल्पना भारतीय नाटको म की गई है। भरत ने नाट्यशास्त्र म इन दृश्यो, लौकिक पदार्थों, उनकी क्रियाओ और परिस्थितियो को नाट्य म प्रकृत रूप देने की दृष्टि से अनेक नाट्योपयोगी प्रतीकात्मक अभिनयो की परिकल्पना की है। इन सब महत्त्वपूण विषयो का विचार देश भेद से गति भेद के अन्तगत किया गया है। भारत की विप्रतिपत्ति यह है कि देश भेद के अनुसार पात्र का पाद प्रचार और हस्त प्रचार दोनो मे ही महत्त्वपूण परिवतन उपस्थित हो जाते हैं, यह सारा परिवतन लोकानुसारी होता है। रथ पर चढते हुए या जल मे तरते हुए या आकाश से उतरते हुए देश विभिन्नता के परिवेश मे पात्र की गति भिन्न होती चलती है। वस्तुत दृश्य को प्रभावशाली बनाने के लिए ऐसे रमणीय दृश्य प्रसगो म पात्रो द्वारा नाट्यधर्मी प्रतीकात्मक अभिनय के अतिरिक्त तदनुरूप काव्य पाठ तो होता ही है, *परन्तु चित्रपट पर अकित प्रतिकृतियो का भी प्रयोग रगमच पर होता* है। भरत ने नाट्यशास्त्र मे जो विचित्र वाहनो के प्रयोग का उल्लेख किया है, उनको इसी प्रकार रूपायित किया जाता है।[2] इस देश भेद से गति भेद के अन्तगत भरत ने प्रतीकात्मक अभिनय तथा अंकित दृश्यानुकृति के अनुरूप काव्याश के पाठ द्वारा प्रभावशाली दृश्यो को रूपायित करने का विधान प्रस्तुत किया है। निर्जीव या सजीव पदार्थों की अवतारण की इस पद्धति का विचार विस्तारपूवक आचाय अभिनवगुप्त ने भी किया है। उनका स्पष्ट मत है कि अनुकृत प्रतिकृतिया का प्रयोग होना चाहिये।[3] पातजल महाभाष्य म ऐसे शोभाधायक चित्रपटो के धारण करने वाले शौभिको का उल्लेख पतजलि ने किया है।[4]

देश भेद से गति भेद की विचित्रताएँ रथारूढ पात्र समपादस्थानक म रथ-यात्रा का अभिनय करता है। एक हाथ म धनुष और दूसरे हाथ से रथ का कूबर पकडे रहता है। घोडा के लगाम सूत के हाथ म रहते हैं। कालिदास के रथारूढ दुष्यन्त का प्रवेश इसी रूप म होता है।[5]

१ अ० भा० भाग २, पृ० १४८।
२ वाहनानि विचित्राणि कतव्याणि विभागश । ना० शा० १३।६० (गा० ओ० सी०)।
३ अ० भा० भाग २ पृ० १५१।
४ पातजल महाभाष्य ३।१।२६।
५ ना० शा० १३।८८ ८६ (गा० ओ० सी०)।

के अनुरूप ही गति में भेद का प्रयोग नाट्य में होना ही चाहिए। यह लोक जीवन की प्रवृत्ति के अनुरूप ही है। शृंगार रस से उल्लसित स्वस्थ कामी व्यक्ति के चरण विन्यास में जो उल्लास का लालित्य रहता है, वह शोकाविष्ट वियोग व्यथित व्यक्ति के चरण विन्यास में नहीं। भरत ने प्रत्येक रस के अनुरूप गति का अत्यन्त सूक्ष्म एवं विस्तृत विधान प्रस्तुत किया है।

रसों में प्रधान शृंगार रस है। शृंगारी पात्र की वेशभूषा में चारित्य तो होना ही है, उसके चरण भी ताललयाश्रित हो मन्द मन्द स्वच्छन्द भाव से रंगमंच पर संचरण करते हैं।[1] परन्तु ठीक इसके विपरीत प्रच्छन्न-कामी तो चन्द्र-ज्योत्स्ना में श्वेत कर्पूरवासित वस्त्र सदृश वस्त्र धारण किये शब्द श्रवण मात्र से भीत शंकित दृष्टि हो लड़खड़ाते चरण विन्यास करता हुआ संकेत स्थान पर जाता है। उसमें आन्तरिक आत्मिक निर्भीकता का वह भाव नहीं रहता है।[2] रौद्ररस के प्रयोग में रसाविष्ट पात्रों के अंग रुधिर स्नात होते हैं कभी बहु-बाहु मुख होते हैं, तो कभी वे स्वभाव रौद्र हो रक्ताभ नयन दन्तस्वर, कृष्णवर्ण आदि के द्वारा रौद्र रूप का प्रदर्शन करते हुए विषमरूप में अपने पाद प्रचार का प्रयोग करते हैं।[3] बीभत्स रस के प्रयोग में भूमि श्मशान कुरुचिपूर्ण दृश्यों और रक्त से सनी होती है। पात्र के चरण विन्यास में कोई नियम नहीं रहता कभी दूर पड़ते हैं और कभी निकट ही।[4] वीररस के प्रयोग में गति का क्रम द्रुत रहता है। अतः चरण विन्यास भी चुनकलायुक्त होता है।[5] करुणरस की अवस्था में पाद प्रचार स्थित लय में होता है। उमड़ते अश्रु प्रवाह से नयन अवरुद्ध हो जाते हैं। गात्र निस्पन्द रहता है हाथ कभी ऊपर और कभी नीचे की ओर जाते हैं। करुणरस की दशा में उत्तम पात्रों की गति भिन्न होती है। वे रोते हैं पर सशब्द नहीं, उनकी आँखों में केवल आँसू छलक पड़ते हैं। गहरे निःश्वास लेते हैं कभी आकाश की ओर शून्यभाव से देखा करते हैं। वस्तुतः गति का न कोई प्रमाण रहता है न सौष्ठव का विधान ही। दुःखावेग के कारण अनियन्त्रित पाद पात ही प्रमाण हो जाता है। इष्ट बन्धु के मरण में शोकग्रस्त पात्र का वक्षस्थल नत होता है, गाढ़ प्रहार के कारण उसका शिथिल अंग भुजा पर टिका रहता है।[6] भयानक रस में भयग्रस्त स्त्री, कापुरुष तथा बलहीन व्यक्तियों की दृष्टि चंचल, शिर कम्पित उभय पार्श्वों में भयातुर दृष्टि रहती है स्खलितगति हो वे चूर्ण पदों से संचरण करते हैं।[7] शान्तरस में गम्भीर धीर प्रकृति के पात्रों की गति भी धीर गम्भीर होती है। वे समपाद में स्थित होते हैं। परन्तु जो आचरण से शान्त नहीं पर वेशभूषा से निकृष्ट कोटि के यति आदि होते हैं उनकी गति में वह संयम और शान्ति कहाँ? अतः उनके नयनों में निश्चलता गति में स्थिरता और गम्भीरता नहीं रहती।[8] परन्तु वणिक अमात्य प्रभृति लोक

---

१ ना० शा० १२।४०-४४ (गा० ओ० सी०)।
२ वही १२।४५-४८, वही।
३ वही, १२।४८-५३, वही।
तथा भ० भा० भाग २ पृ० १४६।
४ ना० शा० १२।५५-५६ (गा० ओ० सी०)।
५ ना० शा० १२।५८-६० (गा० ओ० सी०)।
६ वही १२।६१-६६, वही।
७ वही, १२।७१-७६, वही।
८ वही, १२।७७-८४, वही।

चित्रलिखित प्रतिछवियों का प्रयोग

प्रतीक विधान से भरत के काल म प्रयुक्त समृद्ध नाट्य सामग्री का अच्छा परिचय मिलता है। नाट्य प्रयोक्ता नाट्य को अधिकाधिक प्रकृत रूप देने के लिए ही इन प्रतीकों और अनुकृतियो का रगमच पर प्रयोग करते थे और सभव है बाद म चित्रपट पर अंकित अनुकृति की परपरा ने यवनिकाओ पर भी अपना अधिकार कर लिया और शौमिक की परपरा ही नष्ट हो गई। इसम सदेह नहीं कि चित्रलेखन की यह प्राचीन परपरा रगमच की रूप सज्जा को मनोहारी, विचित्र और नयनाभिराम रूप म प्रस्तुत करने वाली एक अतीत की सुनहली शृखला थी। वस्तुत अभिनय द्वारा भरत ने न केवल आन्तरिक चित्तवृत्ति की ही अपितु बाह्य जगत् की सौन्दय यजना का भी विधान किया है।

गतिनिर्धारण मे अवस्था का योग

प्रयोज्य पात्रो के सामाजिक स्तर और वयस भेद स भी उनकी गति एक दूसरे से भिन्न होती है। लोक म सामाजिक दृष्टि मे उच्च स्तर के सभ्रान्तजनो की गति मध्यम और अधम जनो की अपेक्षा शालीन, धीर और गम्भीर होती है।[1] वयस के सदभ म भी गति म स्पष्ट अन्तर आ जाता है। युवती नारी के सचरण म जो लास्य और लालित्य होता है वह वृद्धा या बालिका की गति म कहा ?[2] नाट्य प्रयोग के क्रम म अवस्था के अनुरूप गति का प्रदशन होने पर ही उसम प्रकृत नाट्य रस की आस्वाद्यता का उदय होता है क्योंकि गति तो मनुष्य की आन्तरिक मनोदशा और उसकी प्रकृति की रूपायित प्रतिक्रिया ही है। भरत ने सामाजिक स्तर और वयस् आदि की भिन्नता के आधार पर नाट्य म प्रयुक्त अनेक मध्यम एव अधम पात्रो की गति का स्पष्ट विधान किया है।[3] काचुकीय, विदूषक, विट शकार, चेट, पगु, वामन, कुब्ज और खज आदि एक-दूसरे से अपनी गति से भिन्न होते है। वृद्ध काचुकीय का तो शिर कापता रहता है, पराक्रम मद, श्वासो का आवेग प्रबल और यष्टि उसके प्राणो का आधार बनी रहती है।[4] परन्तु अवृद्ध काचुकीय के चरण अभिमान से इठलाते हुए आधे ताल की ऊँचाइ पर पडते हैं। अवस्था भेद से दोनो की गति म भिन्नता आ जाती है। विदूषक अपनी विकृत आंगिक चेष्टाओ के द्वारा हास्य का सजन करता है। स्वाभाविक स्थिति मे रहने पर वह बायें हाथ म टेढी लकुटी लिये रहता है। दायाँ हाथ 'चतुरा' की मुद्रा मे होता है। पर अस्वाभाविक अवस्था मे उसकी गति भिन्न होती है। अलभ्य भोजन या वस्त्र प्राप्त करने का प्रदशन आदि उसकी स्वाभाविक गति नही है। विट और अन्य पात्रो का भी व्यक्तित्व उनकी अवस्था के अनुरूप उचित गति प्रदशन स ही सपन्न हो पाता है।[5] भरत ने इन पात्रो का गतिविधान नितान्त मौलिक रूप से किया है।

---

१ प्रकट हास अब गोपित भेल।
उरन प्रकट अवतहिकर लेल।
चरन चपल गति लोचन पाव, लोचन धैरज पदतल जाव। विद्यापति पदावली पृ० ११।

२ ना० शा० १२।११७ १२० (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० १२।१२७ १२४ (गा० ओ० सी०)।

४ वही, १२।१४३ १४८ (गा० ओ० सी०), का० स० १३।१४२ १४४।

५ ना० शा० १२।१५२ १५३।

प्रासाद, पर्वत आदि पर आरोहण करते हुए पात्र के गात्र ऊपर उठ जाते हैं, चरणों का न्यास ऊपर उठाकर करता है। परन्तु अवतरण में उसके विपरीत गात्र निम्नाभिमुख हो जाता है। पर्वतारोहण और प्रासादारोहण में समानता होने पर भी स्वाभाविक अन्तर यह है कि पर्वतों पर सोपान की सुविधा न होने से समस्त गात्र को ऊपर की ओर उठा सा लिया जाता है। वृक्षों पर आरोहण के प्रसंग में तो अतिक्रान्त, पार्श्वक्रान्त और अपक्रान्त चारियों का प्रयोग गति विधान में होता है, क्योंकि वृक्षारोहण में पैर तथा अंग के अन्य भागों को ऊपर की ओर उछाला सा जाता है।[1] जल संतरण में गति विधान कई रूपों में होता है। अल्पमात्रा के जल प्रदर्शन के लिए अपने अधोवस्त्र को ऊपर की ओर खींच लेता है और जल गहरा होने पर पात्र अपने हाथों को फैलाकर, अग्र भाग को किंचित् झुकाकर 'प्रतार' का अभिनय करता है।[2] इस प्रकार के अभिनय में पात्र के चरण धरती पर सरकते हैं और उसके हाथ ही उसके भाग का संकेत करते हैं।[3]

भरत ने इस सम्बन्ध में दो प्रकार के समन्वित विधान का निर्देश प्रस्तुत किया है। लौकिक पदार्थों—रथ या विमान और प्रासाद या पर्वत आदि चित्रलिखित हों, पर उनसे सम्बन्धित क्रियाओं का प्रयोग हस्त प्रचार और पाद प्रचार आदि की चेष्टाओं से करना चाहिए। अतः चित्रपटों पर अंकित अनुकृतियों और प्रतीकात्मक अभिनयों—दोनों का ही प्रयोग होता है। यद्यपि मनमोहन घोष महोदय के विचार के अनुसार प्राचीन नाट्य प्रयोग में चित्रित दृश्य विधान की परंपरा नहीं थी[4] क्योंकि तत्संबंधित क्रियाओं का संकेत अभिनय द्वारा संपन्न हो ही जाता है। परन्तु अभिनवगुप्त का यह स्पष्ट मत है कि दोनों का ही योग होना चाहिए। प्रतीकात्मक अभिनयों के साथ अनुकृत प्रतिछवियों के योग से अभिनेय दृश्य की अनुभूतिशीलता में सामलता तथा साक्षात्कार का सा आनन्दानुभव होता है।[5]

रंगमंच पर प्रयुक्त नाट्यधर्मी प्रतीक बड़े ही उपयोगी होते हैं और अभिनय काल में उनसे नाट्यार्थ ग्रहण में बड़ी सहायता मिलती है। ये संकेत प्रयोगकाल में तो सत्य ही माने जाते हैं। घटना और परिस्थिति के अनुरोध से किसी पात्र को यदि मृत कहा जाता है तो प्रयोगकाल में वह मरा ही हुआ माना जाता है, वास्तव में तो वह पात्र मरता नहीं।[6] इसी सन्दर्भ में प्रतीक पद्धति द्वारा अंकुशग्रहण से हाथी, खलीन (लगाम) ग्रहण से घोड़ा और प्रग्रह ग्रहण से यान आदि का प्रतीकात्मक संकेत होता है। यद्यपि वे वहाँ या तो प्रस्तुत नहीं होते या प्रतिछवियों के माध्यम से ही वर्तमान रहते हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं और जीवों का संकेत उन वस्तुओं से सम्बन्धित किन्हीं वस्तुओं के ग्रहण से हो जाता है।[7]

---

१ ना० शा० १२।६०-६४ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० १२।६६-१०१ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० १२।८७ (गा० ओ० सी०)।

४ This passage shows that the use of painted scenery was not indispensible in the ancient Indian stage Natya Sastra English Translation M M Ghosh Footnote, page 223

५ अ० भा० भाग २ पृ० १५४।

६ ना० शा० १२।१०६ (गा० ओ० सी०)।

७ वही, १२।१०७, वही।

नहीं होता। प्रत्येक चरणविन्यास से लालित्य और विलास का भाव प्रस्फुटित होना चाहिये। सामाजिक दृष्टि से पुरुषों की तरह ही उत्तम प्रकृति की नारी की गति में प्रेष्या की अपेक्षा अधिक गम्भीरता और शालीनता का भाव प्रकट होता है।[1]

स्त्री पुरुष पात्रों की भूमिका में विपर्यय

स्त्री पात्र अनुकार्य सीता तथा पुरुष पात्र अनुकार्य राम का अभिनय करे यह स्वाभाविक नाट्य स्थिति है। परन्तु स्त्री-पात्र अनुकार्य पुरुष और पुरुष पात्र अनुकार्य स्त्री का अभिनय करे यह एक विलक्षण नाट्य-कल्पना है। भरत ने स्त्री एवं पुरुष दोनों की भूमिका विपर्यय की चमत्कारपूर्ण कल्पना की है। नाट्य की दृष्टि से भूमिका विपर्यय का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत ने बहुत संक्षेप में इस सिद्धान्त का विश्लेषण किया है। जिस प्रकार रस की आस्वादना में साधारणीकरण (आत्म विलयन) का सिद्धान्त वर्तमान है, उसी प्रकार भूमिका विपर्यय में भी पुरुष एवं स्त्री पात्र स्वभाव को त्यागकर ही अपेक्षित रसोदय का वातावरण प्रस्तुत करते हैं। पुरुष अपनी परुषता को त्यागकर स्त्री के सुकुमार भाव से समाहित हो जाता है और स्त्री अपनी कोमल मनोवृत्ति का परित्याग कर पुरुष वृत्ति से अनुप्राणित होती है। अतः भूमिका विपर्यय का प्रयोग दो ही स्थितियों में होता है—(क) आत्म स्वभाव का परित्याग और (ख) तद्भावगमन। धीरता, उदारता सत्त्व और बुद्धि एवं तदनुरूप कर्म, वेश, वाक्य और चेष्टा आदि के द्वारा स्त्री पुरुष का अभिनय करती है। पुरुष स्त्री की वेशभूषा वाक्य, चेष्टा और मृदु मंद गति के कारण स्त्री का अभिनय करता है।[2] इस प्रकार का विपर्यय प्रयोग मुख्यतः तीन कारणों से होता है। किसी कार्य का साधन, मनोरंजन या वंचना। कथावस्तु के व्याज से विदूषक संकेत स्थान पर चेटी की वेषभूषा धारण कर लेता है क्रीडावश नायिका अपने प्रियतम पुरुष पात्र का रूप धारण कर लेती है। संस्कृत के शृंगार प्रधान नाटकों तथा हिन्दी काव्य में भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। विदूषक की वंचना के लिए चेट स्त्री का वेश धारण कर लेता है।[3]

---

१ ना० शा० २२।१६३ (गा० ओ० सी०)।

२ धैर्योदार्येण सत्त्वेन बुद्ध्या तद्वच्च कर्मणा।
स्त्री पुमांसं त्वभिनयेत् वेषवाक्य विचेष्टितैः।
स्त्रीवेषभाषितैर्युक्तः प्रेक्षितप्रेक्षितैस्तथा।
मृदुमंदगतिश्चैव पुमान् स्त्रीभावमाचरेत्। (ना० शा० २२।१६५ १६६ क (गा० ओ० सी०)

३ (क) मालती माधव में सूत्रधार और पारिपार्श्विक कामन्दकी और अवलोकिता के रूप में अवतरित होते हैं। मालती माधव—प्रस्तावना।
(ख) कामिनि करए कतहु परकार। पुरुषक वेसें करल अभिसार।
धम्मिल लोल भोट करबंध। पहिरल वसन आनकरि छंद।
—विद्यापति पदावली (बेनीपुरी), ३०१।
(ग) चारुदत्त इलेख में मैना मैनसिंह के रूप में (हजारीप्रसाद द्विवेदी—
ग्र० भा० भाग ७, पृ० १६८ [illegible]
का स्त्री रूप में अभिनय। [illegible]
ना० शा० २२।१०१ (गा० ओ० सी०)

इनके अतिरिक्त भरत ने नाटय म प्रयोज्य म्लच्छ आदि नीच जातिया एव विभिन्न पशुओ की गति का विधान करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि इन जातियो की गति उनक देश क अनुसार और श्वापदा की गति उनके स्वभावानुसार होनी चाहिये, क्योकि नाटय के इतिवृत्त के अनुरोध से इनका प्रयोग होता है।[१] भरत न इस बात की स्वतन्त्रता प्रयोक्ताओ को दी है कि जिन जातियो का विधान नही हुआ हो, उनका प्रयोग लोक व्यवहार के अनुसार व कर सकत है।

स्त्री पात्रो का गति-विधान

पुरुषो क गति विधान के समान ही स्त्री-पात्रा की गति पर भी भरत ने विस्तार स विचार किया है। इस प्रसग म स्त्रियो के वय के अनुरूप स्थानक का निर्धारण तथा पुरुष एव स्त्री पात्रो की भूमिका म विपयय आदि अनेक तात्त्विक विषयो का उन्होने उपव हण किया है। उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरुषो की गति म रस, प्रकृति, देश और अवस्था आदि की दृष्टि स भिन्नता परिलक्षित होती है, स्त्री पात्रो की गति क सम्बन्ध म भी वे नियम सामान्य रूप से प्रचलित हैं।[२]

भाषण और सचरण के क्रम म स्त्रियो के तीन प्रकार के स्थानको का उल्लख मिलता है। आयत स्थानक के अनुसार नारी का मुख प्रसन्न, वक्षस्थल सम और उन्नत तथा दोनो हाथ नितम्ब पर रहते है। नाटय प्रयोग की दृष्टि स यह स्थानक अत्यन्त महत्त्वपूण है। इसके द्वारा आवाहन, विसजन चिन्ता, हष लज्जा का गोपन, रगावतरण के आरम्भ म पुष्पाजलि का विसजन, काम और ईर्ष्या स उत्पन्न कोप, गव, मान और मौन आदि नारीजनोचित भावो का अभिनय होता है।[३] अवहित्थ म वामपाद सम, दक्षिणपाद त्र्यस्र तथा बायी कटि समुन्नत रहती है। इसका प्रयोग स्वाभाविक बातचीत, विलासलीला, बिब्बोक श्रृगार, अपना रूप देखना और पति की प्रतीक्षा जसे नारी सुलभ सुकुमार भावो के सकेत विधान म होता है।[४] अश्वक्रान्त स्थानक म नारी का एक चरण समस्थित, दूसरा अग्रतल पर झुका होता है। इसका प्रयोग लालित्य के साथ तरु शिखा का अवलम्बन पुष्पस्तवको के चयन तथा सुकुमार अगो पर स वस्त्र के खिसकने जस लालित्यपूण नाटयार्थो के सकेत क रूप म होता है।[५]

पुरुष पात्रा क समान ही नारी का गति विधान उसकी प्रकृति, चित्तवत्ति, देश और अवस्था पर ही आधारित है। परन्तु अन्तर यह है कि नारी की गति सदा सुकुमार और विलासानुविद्ध होती है। अवस्था भेद से युवती, मध्यवयसा और वद्धा की गति म अन्तर होता है। युवती नारी के गति विधान की अत्यन्त श्रमसाध्य क्लिष्ट कल्पना भरत ने की है। वह सम्भवत इसीलिए कि उसक द्वारा अधिकाधिक सौन्दय और विलास भाव का उद्बोधन हो। स्त्रियो की सुकुमार प्रकृति क कारण पुरुष पात्रा की गति क अन्तगत काल, ताल आदि युवती नारी के तो आधे हो जात हैं। बालाओ की गति स्वच्छन्द होती है और सौष्ठव का वहाँ प्रयोग

---

१ नोक्ता या मया ह्यत्र भाषास्ताश्च लोकत। ना० शा० १३।१८६ क।
२ ना० शा० १२।१८३।
३ ना० शा० १३।१६२ १६६ (गा० ओ० सी०)।
४ ना० शा० १३।१६८ १७१ क (गा० ओ० सी०)।
५ ना० शा० १३।१७३ ७४ (गा० ओ० सी०)।

सामाजिक स्तर

भरत न सामाजिक उच्चता और अधमता तथा प्रकृतिगत उत्तमता और अधमता आदि के आधार पर कई प्रकार के आसनो का विधान किया है। य आसन विधान मुख्यत राजसभाओ म प्रचलित व्यवहारो के आधार पर निर्धारित किये गए हैं। राजा और राजपत्नी के लिए सिंहासन, पुरोहित, मत्री और उनकी पत्नी के लिए वेत्रासन सनानी और युवराज के लिए मुडासन, ब्राह्मणो क लिए काष्ठासन, वेश्या के लिए मयूरासन और शेष प्रमदाओ क लिए भूमि का आसन निर्दिष्ट किया गया है।[१] इनके अतिरिक्त नाटय म अ य प्रयोज्य पात्रो के लिए भरत का यह स्पष्ट निर्देश है कि पात्रो क जीवन म प्रयुक्त आसनो क अनुरूप ही आसन का विधान होना चाहिए। एक काल म जब अनेक पात्र रगमच पर हो, तो उनकी सामाजिक स्थिति क अनुरूप ही आसन का विधान अपेक्षित है। अध्यापक, गुरु और राजा के निकट अ य जनो का समासन' सवथा निषिद्ध है। परन्तु राजा, गुरु और उपाध्याय क साथ अ य पात्रो क सहासन' म दोष नही होता, यदि वे नौका, विमान या रथ आदि पर यात्रा कर रह हो।[२] समस्तरीय पात्र को सम, मध्यम को मध्य और उत्तम को उत्तमासन तथा हीन के लिए भूमि का आसन उपयुक्त होता है।[3] भरत का आसन विधान कितना विस्तत और स्पष्ट है यह उनके आसन सम्बधी विश्लेषण से प्रकट हो जाता है। उनके काल म नाटय प्रयोग म जितने प्रकार के पात्रो का प्रयोग होता था, उन सबके लिए उपयुक्त आसन का विधान उनकी मनोदशा, सामाजिक स्तर और प्रकृति आदि की दष्टि से किया है।

शयन-विधान

भरत का शयन विधान अत्यन्त सक्षिप्त है। यह उचित भी है, क्योकि पाद प्रचार, हस्त प्रचार और आसन आदि आगिक क्रियाओ की अपेक्षा नाट्य प्रयोग म शयन क्रिया का प्रयोग नितान्त यून होता है। परन्तु भरत की दष्टि से शयन क्रिया भी भाव समर्पित होती है। शयन का हर प्रकार मनुष्य की विशिष्ट मनोदशा का ही प्रतिरूप है। शयन काल की आगिक निश्चेष्टता भी विविध भावो और मनोदशा का सूचन करती रहती है। सस्कृत नाटको म शयन की परिकल्पना कही कही की गई है और स्वप्नवासवदत्तम् म तो वह जितनी रसपूर्ण है उतनी ही चमत्कारपूर्ण भी।[४]

शयन काल म मनुष्य या पात्र के शरीर की भाव भगिमा के सामान्यीकरण के आधार पर छ प्रकार के शयन की परिकल्पना की गई है। आकुचित' मे समस्त अग सकुचित, दोनो ठेहुने शय्या से सटे रहते है। इसका प्रयोग शीतात मात्र के लिए होता है। सम म मुख ऊपर की ओर तथा दोनो हाथ शिथिल होते हैं, और निद्रा म सोय व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग होता है। प्रसारित म पात्र एक भुजा को उपधान (तकिया) बनाकर सोता है और जानु फले होते हैं। सुख नीद म पात्र इसी प्रकार सोता है। विवर्तित म पात्र अधोमुख सोया रहता है। इसका प्रयोग

---

१ ना० शा० १२ २०८ २१२।
२ ना० शा० १२।२१५ २२०।
३ वही १२।१२२ २३२।
४ स्वप्नवासवदत्तम्—पचम अक।

भूमिका विपर्यय का यह सिद्धान्त कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रयोग की दृष्टि से तो यह नाट्य प्रयोग विलक्षण और चमत्कारपूर्ण होता है, तथा इसमें अधिक नाट्य कौशल और क्षमता प्रदर्शित करनी होती है, क्योंकि स्त्री और पुरुष के अवयव संस्थान, वाणी विलास और वेश रचना आदि सब भिन्न हैं। विपर्यय में तदनुरूप अभिनय का प्रयोग अत्यन्त श्रम-साध्य है। नाट्य प्रयोग के इतिहास की दृष्टि से भी यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि भरत के काल में भारतीय नाट्य प्रयोग इतना विकसित हो चुका था कि नाट्य प्रयोग मनोविनोद और चमत्कारपूर्ण व्यंजना के लिए भूमिका विपर्यय की आयोजना होती थी। पातंजल महाभाष्य में भ्रूकुंस नामक पुरुष पात्र स्त्री की भूमिका में अवतरित होता था।[१]

भारतीय जीवन में व्रत धारिणी, तपस्विनी, लिंगिनी और आकाशचारिणी स्त्रियाँ राजप्रासादों से तपोवन तक अपना प्रभाव बनाये रहती थीं। संस्कृत नाटकों को गति और सौन्दर्य देने में इनका भी कम दायित्व नहीं रहा है।[२] अतः भरत ने इन नारियों के लिए 'समपाद' का विधान किया है और पुलिन्द एवं शबर जाति की नारियों के लिए उनकी जाति के अनुरूप ही गति का विधान अपेक्षित होता है। परन्तु नारी के गति विधान में यह तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि किसी भी अवस्था में नारियों की गति में उद्धत अंगहार, चारी या मण्डल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके हृदय में सुकुमार वृत्ति और अंगों में लालित्य का ही प्रदर्शन उचित होता है।[३]

आसन-विधान और उसके आधार

आन्तरिक वृत्ति

नाट्य प्रयोग में हस्त प्रचार और पाद प्रचार के विभिन्न रूप पात्र की प्रकृति, चित्तवृत्ति, देश और अवस्था आदि से प्रभावित हो निर्धारित होते हैं। आसन और शयन आदि की विधियाँ और उनकी रूप रचना भी बहुत भिन्न है। चिंता, शोक, मूर्च्छा, मद, ग्लानि और प्रिया के प्रसादन के आसन एक दूसरे से भिन्न होते हैं। शोक भाव के अभिनय काल में पात्र के दोनों हाथ चिबुक का सहारा देते हैं, सिर ग्रीवा पर झुक जाता है इन्द्रिय और मन नितान्त निष्क्रिय हो उठते हैं। परन्तु जब पुरुष पात्र प्रिया का प्रसादन करता है तो वह अपने दोनों जानुओं का पृथ्वी पर रख अधोमुख हो जाता है। इस आसन का प्रयोग प्रसंगवश देवता की वंदना, रुष्ट व्यक्तियों के प्रसादन और आर्त व्यक्तियों के आक्रन्दन में भी होता है। अतः आसन के विविध रूप मनुष्य की आन्तरिक मनोदशा के प्रतीक के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।[४]

---

१ पातंजल महाभाष्य—स्त्रियाम् स्त्रीषु मनोज्ञान इति भ्रू कुंस टाप् प्राप्नोति। यदि लोके पुंस्त्वेन-वस्थितः इव स्त्रीत्वेन तद् भ्रू कुंसे। ४।१।३।

२ स्वप्नवासवदत्तम्, अंक १ २ मालविकाग्निमित्र अंक १ २, अ० शाकुन्तल अंक १, २, ४ ५ ७।

३ ना० शा० १२।२०० २०२ (गा० ओ० सी०)।
उद्धतान्यङ्गहाराणि चार्यो मण्डलानि च।
स्त्रीभिर्न प्रयोक्तव्यानि ...।।

४ वही (चण्ड) ८२, श्लोक १४६ ४२४।

आहार्याभिनय

आहार्य नाट्य प्रयोग की आधार-भूमि

आहार्य अभिनय महत्त्वपूर्ण नेपथ्यज विधि है। पात्रो का वयोऽनुरूप तथा प्रकृतिगत वेश विन्यास, अलकार परिधान अग रचना तथा रगमच पर निर्जीव लौकिक पदार्थो और सजीव जन्तुओ के नाटय धर्मी प्रयोग को भरत ने आहार्य अभिनय' ही माना है। आहार्य यह नाम स्वय ही बडा सार्थक है। पात्र की (अनुरूप) वेशभूषा तथा अगो के वर्ण विन्यास आदि के द्वारा ही प्रेक्षक के समक्ष पात्र राम या सीता के रूप म आहृत होते हैं। भरत का यह विचार नितान्त उचित है कि पात्र की नाना प्रकृतिया (धीरोदात्त, उत्तम, मध्यम आदि) तथा रति शोकादि नानावस्थाओ को नेपथ्य ही मे तदनुरूप वर्ण रचना और वेश रचना द्वारा आहृत किया जाता है। शोक मे मलिन वेश और शृगार मे उज्ज्वल वेश से विभूषित हो पात्र रगभूमि पर अवतरित होते हैं, तब आगिक और वाचिक अभिनयो के योग से रसोदय होता है।[1] अत आहार्य अभिनय का नाटय प्रयोग म महत्त्व असाधारण है। जिस तरह चित्र रचना का आधार भित्ति है उसी प्रकार समस्त अभिनय प्रयोग रूप चित्र के लिए आहार्य अभिनय भी आधार-तुल्य भित्ति ही है। अभिनव गुप्त की दृष्टि से समस्त अभिनय व्यापारो के उपशमन के उपरान्त भी नेपथ्य विधि द्वारा प्रस्तुत पात्र के रूप रग का आलोक विशेष रूप से प्रेक्षक के हृदयाकाश म प्रतिभासित होता ही रहता है।[2] भट्टि, कालिदास और भारवि भरत की आहार्य कल्पना से पूर्णतया परिचित है। निसर्ग सुन्दरता रहने पर आहार्य आडम्बर की आवश्यकता नही होती। परिव्राजिका छलिक' म सब

---

१ नानावस्था प्रकृतय पूर्वं नैपथ्य साधिता ।
अगादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्ययत्नत ॥ ना० शा० २१।२ (गा० ओ० सी०)।

२ तेन समस्ताभिनय प्रयोग चित्रस्यभित्ति स्थानीयमाहार्यम् । तथा च समस्ताभिनय युपरमेऽपि नेपथ्य विशेषदर्शनाद् विशेषोऽवसी यतएव । अ० भा० भाग ३, पृ० १०६

पुस्त

आहार्य अभिनय की विधियों के द्वारा नाट्य प्रयोग को अधिकाधिक यथार्थता मिल पाती है। पुस्त जैसी विधि के द्वारा ही रंगमंडप का दृश्य विधान पूरा हो पाता है। इसके योग से ही शैल यान, विमान, रथ, हाथी, ध्वजा एवं दण्ड आदि अनेकानेक लौकिक पदार्थों के सांकेतिक पुस्तों (मॉडेल) के माध्यम से रंगभूमि पर सारूप्य का सृजन होता है। सारूप्य सृजन के द्वारा *नाट्य में कलात्मकता और यथार्थता का उचित प्रयोग होता है।* पुस्त का भाव होता है संयोजन अथवा सांकेतिक मॉडेल की रचना।[1]

इस पुस्तविधि के तीन रूप हैं—

सधिम, व्याजिम और वष्टिम या चेष्टिम।

सधिम

सधिम का भाव ही होता है जोडना या बांधना आदि। सधिम विधि के द्वारा विभिन्न वस्तुओं को परस्पर बांध या जोड कर रंगोपयोगी वस्तु की रचना की जाती है। बांस भूर्ज-पत्र, चमड़ा, वस्त्र, लाह तथा बाँस की पत्तियां आदि से अपेक्षित वस्तुओं की रचना की जाती है। प्रस्तर शिलाएँ, प्रासाद, दुर्ग, वाहन, विमान, रथ घोड़े और हाथियों को भी सधिम के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है।[2]

व्याजिम—यान्त्रिक साधना से जिन भौतिक पदार्थों का रंगमंच पर प्रयोग होता है वे व्याजिम होते हैं। इसी व्याजिम विधि से रथ यान और विमान आदि को रंगमंच पर कृत्रिम गति प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार इन भौतिक पदार्थों को सूत्र के माध्यम से आगे पीछे आकर्षित कर उनमें कृत्रिम गति उत्पन्न की जाती थी।[3]

वेष्टिम—वष्टिम (त) या चेष्टिम वह पुस्तविधि है जिसमें वस्त्र आदि को आवेष्टित या लपेटकर प्रयोग होता है। किसी किसी संस्करण में वेष्टिम (त) या वेष्टित के स्थान पर चेष्टित (म) शब्द का भी प्रयोग होता है। उसके अनुसार भौतिक पदार्थों का नाना तद्वत् चेष्टा के प्रदर्शन से भी होता है।[4]

नाट्य में इसी पुस्तविधि के प्रयोग द्वारा शैल यान विमान वाहन और नाग आदि का प्रयोग होता था। वत्सराज उदयन की कथाओं में यन्त्र निर्मित हाथी का उल्लेख मिलता है। दशरूपक टीकाकार धनिक ने ऐसे हाथी के प्रयोग का संकेत किया है तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यौगन्धरायण द्वारा ऐसे हाथी की रचना का संकेत दिया गया है।[5] मृच्छकटिक और शाकुन्तल

---

१ शैलयान विमानानि चर्म वर्मध्वजा नगा ।
यानि क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञित । ना० शा० २१।६।

२ किलिंज चर्म वस्त्राद्यैर्यद्रूप क्रियते बुधै ।
सधिमो नाम विज्ञेय पुस्तोनाटक संश्रय । ना० शा० २१।७।

३ ना० शा० २१।७ क, अ० भा० भाग ३, पृ० १०६।

४ ना० शा० २१।८ (गा० ओ० सी०)।

५ द० रू० ४।४८ पर धनिक की टीका, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अंक १, पृ० ४८, कथासरित्सागर—२।४ ४, १८ २०।

अगों की सुन्दरता की अभिव्यक्ति के लिए नपथ्य विधि अनावश्यक मानते हैं।[१] इस आहार्य विधि के द्वारा ही उपमेय म उपमान की भी परिकल्पना की जाती है। नाटय म भी प्रयोक्ता पात्र म प्रयोज्य पात्र का आहरण होता है।[२]

आहार्य अभिनय का विचार दर्शन

वस्तुत आहार्य अभिनय की विधि नाटयप्रयोग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है। भूमिका विषयक प्रसग म हमने यह विचार प्रतिपादित किया है कि पात्र 'स्व भाव' का त्याग तथा 'तद्भावानुगमन' करके ही प्रयोज्य राम और सीता आदि का अभिनय करता है। भरत निरूपित आहार्य अभिनय के इस तात्त्विक विचार दर्शन का भाव यही है कि पात्र जिस अनुकार्य पात्र राम आदि की वेशभूषा धारण करता है वह प्रयोग-काल तक के लिए उसी के व्यक्तित्व से आच्छादित हो जाता है। उसका अपनत्व (प्रयोग काल तक के लिए) अन्तर्हित हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर उसकी रूपरेखा यों निर्धारित होती है। परमात्मा अपने चैतन्य प्रकाश का त्याग न करते हुए भी देहकंचुकोचित चित्तवृत्ति रूपित स्वरूप को ही प्रतिभासित करता है। उसी प्रकार प्रयोक्ता पात्र 'आत्मावष्टम्भ' को न त्यागते हुए भी अनुकार्य पात्र के वय और प्रकृति के अनुरूप वेश एव वर्ण रचना आदि से आच्छादित हो, तदनुरूप स्वभाव से आविर्भूत-सा अपनी आत्मा का सामाजिक के समक्ष प्रदर्शन करता है। जैसे आत्मा एक देह को त्यागकर दूसरी देह म प्रवेश करते हुए प्रथम देह के सुख दु खात्मक स्वभाव को त्यागकर दूसरी देह के सुख दु खात्मक प्रभाव को ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रयोक्ता पात्र नाटय प्रयोग काल मे 'स्वभाव' को त्याग 'परभाव' का ग्रहण कर सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत होता है। यह काय अत्यन्त श्रमसाध्य है, परन्तु आहार्य विधि की वर्ण एव वेश आदि की रचना के योग से पात्र और प्रेक्षक दोनो के लिए ही सरलता से सम्पन्न हो जाता है।[३]

आहार्य अभिनय के चार प्रकार

भरत न आहार्य अभिनय के अन्तगत अपेक्षित बहुत सी नेपथ्यज विधियों का समीकरण कर उन्हे निम्नलिखित चार भागो म विभाजित किया है—

पुस्त (सयोजन अथवा माडल), अलकार (प्रसाधन), अगरचना (आकृति आदि का परिवतन) तथा सजीव (जीव जन्तुओ का नाटय म प्रयोग)।[४]

---

१ (क) आहार्यं शोभारहितैरयायै, भट्टिकाव्य। ३।१४।
(ख) सरम्यमाहार्यमपेक्षते गुणः किरातार्जुनीय ४।२३।
(ग) निसर्गसुभगस्य किमाहार्योडाडम्बरेण—(मल्लिनाथ की टीका, कुमारसम्भव ७।२० पर)।
(घ) विगत नेपथ्ययो पात्रयो प्रवेशोऽस्तु, मालविकाग्निमित्र अक १।
२ अथ च द्राक्षुखमित्यादौ च ऽभिन्ने मुखे चन्द्राभेदज्ञान तच्चाहार्यमेव। वाचस्पत्य ७ (तारानाथ)।
३ स्ववर्णमात्मनश्छाद्य वर्णकै वेषसश्रयै। आहार्याभिनयस्य कर्त्तव्या यस्य प्रकृतिरास्थिता।
यथा जन्तु स्वभाव स्व परित्यज्यान्य दैहिकम्। तत्स्वभाव हि भजते देहान्तरमुपाश्रित।
वेषेण वर्णकैश्चैव छादित पुरुषस्तथा। परभाव प्रकुरुते यस्य वेष समाश्रित।
ना० शा० २३।८८ ९०—९१ ५ (गा० ओ० सी०)।
४ ना० शा० २३।५ (गा० ओ० सी०)।

प्रयोग का लक्ष्य सारूप्य सृजन है न कि वास्तविक छेदन या भेदन।

आहाय की पुस्तविधि द्वारा नाटय प्रयोग को प्रकृत रूप देने मे बहुत सहायता मिलती है। प्रासाद, मदिर, मूर्ति, ध्वजा, प्रतिशीप और मुकुट आदि का भी नाटयधर्मी प्रयोग इस विधि द्वारा ही सम्पन्न हो पाता है। प्रतिज्ञायौग धरायण की घोषवती वीणा, प्रतिमा नाटक म दिवगत राजाओ की मूर्तियाँ और बालचरित के मनुष्य रूप धारी शख चक्र आदि सब पुस्त विधि द्वारा सम्पन्न हो पात हैं।[1] भरत इस बात से परिचित थ कि बहुमूल्य सुवण एव अय धातु सामान्यतया उपलब्ध नही होते। अत वेणुदल, लाक्षा, घासफूस, अभ्रक और मधु आदि के लेप से रगमच पर इन लौकिक पदार्थों को साक्षात्कार सदश प्रस्तुत किया जा सकता है। पुस्तविधि भरत की प्रतिभापूण नाटय-दृष्टि का सकेत करती है। विस्तृत विधान देकर भी उ हाने यह स्वतन्त्रता दी है कि इनके सम्बन्ध म नाटयाचाय की बुद्धि पर निभर करना चाहिये।[2]

अलकार

रगमच पर प्रस्तुत पात्रो का माल्य, आभरण और वस्त्र आदि के द्वारा जो मनोहारी प्रसाधन होता है उसे ही भरत ने अलकार की अन्वथ सज्ञा दी है। अतएव पात्र का अलकार मुख्य रूप से तीन प्रकार से होता है। माला धारण, आभूषण-परिधान तथा वेशविन्यास।[3]

माल्य द्वारा अग-शोभा

माला द्वारा शरीर का प्रसाधन भी पाँच प्रकार से होता है—वेष्टित, वितत सघात्य ग्र थित और प्रलबित। भरत ने इन पाँच प्रकार की माला विधियो की परिगणना मात्र की है। उनका विवरण नही दिया है। आचाय अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार वेष्टित माला मे हरी पत्तिया और रग विरगे फूलो को एकत्र आवेष्टित कर दिया जाता है। वितत मे फूलो की माला प्रसृत रहती है सघात्य म फूलो के डठल सूत्र म अदश्य भाव स सगहीत रहते हैं, ग्रथित मे फूलो को गूथ दिया जाता है तथा प्रलबित म माला फूलो के गुथी बहुत लम्बी और लटकी रहती है।[4]

आभरण द्वारा शरीर का अलकार

शरीर पर आभरण के प्रयोग की विविध शलियो के अनुसार आभरण चार प्रकार के होते है—आवेध्य, बधनीय क्षेप्य और आरोप्य।[5]

आवेध्य के अन्तगत उन आभरणों की परिगणना होती है जो अगो को बेधकर पहने

१ न भेद्य नैव च छेद्य न प्रहत यमेव तत्।
रग प्रहरणै काय सज्ञामात्र तु कारयेत्। ना० शा० २१।२१८ २२६ (गा० ओ० सी०)।

२ प्रतिज्ञायौग धरायण, अक १, पृ० ६३ ६४ प्रतिभा नाटक अक ३, पृ० २७७-८। ना० शा० २१। २११ २२३ (गा० ओ सी)।

३ ना० शा० २१।१० (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा २१ ११ वही तथा अ० भा० भाग ३, पृ० ११० ११।

५ ना० शा० २१।१२ (गा० ओ सी०)।

में रथ और वाहनों का प्रयोग रंगमंच पर ही किया गया है।[१] बालरामायण में राजशेखर ने पुतली सीता की परिकल्पना इसी शैली में की है। सम्भव है इसी पुस्तविधि के प्रयोग द्वारा इन भौतिक पदार्थों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता हो। यद्यपि गति विधान के प्रसंग में नाट्यशास्त्र में जलयान और विमान आदि को चित्रपट पर अंकित करके रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करने का भी विधान अन्यत्र किया गया है।[२] सम्भव है बहुत प्राचीन काल में पुस्त की यह विधि प्रयोग में नहीं लाई जाती होगी। उसके स्थान पर चित्र रचना द्वारा ही इन वस्तुओं को प्रस्तुत कर दृश्यविधान को पूर्णता प्रदान की जाती हो। बाद में इस विधि का विकास हुआ है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में छत्र, मुकुट, इन्द्रध्वज, भृंगार, ध्वजा और व्यजन आदि नाना प्रकार के गुणवर्धक एवं नाट्योपयोगी पदार्थों की सूची प्रस्तुत की गई है। ये सब पुस्तविधि द्वारा ही सम्पन्न होती हैं।[३] इसी प्रकार गति विधान के प्रसंग में शैल, यान और विमान आदि के अतिरिक्त राजा, मंत्री, नृपपत्नी तथा समाज के विभिन्न स्तरों के पात्रों के लिए सिंहासन, देवासन, मुण्डासन, कुशासन, काष्ठासन और मयूरासन आदि का जो विधान किया गया है,[४] उन सबकी रचना पुस्तविधि द्वारा ही सम्भव हो पाती है।

अस्त्र-शस्त्रों का नाट्य में प्रयोग

नाट्य कथा के आग्रह से प्रयोज्य युद्ध और नियुद्ध आदि के रोमांचक नाट्य दृश्यों में विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों की रचना तथा प्रयोग का विधान भी भरत ने प्रस्तुत किया है। कुन्त (भाला), शतघ्नी, शूल, तोमर, शक्ति, धनुष, गदा, शर, वज्र और चक्र आदि अस्त्र तथा उत्तम शस्त्रों की परिगणना की गई है। भरत का यह स्पष्ट मत है कि नाट्य में ये उपकरण लौकिक पदार्थों के अनुकृत रूप हों न कि यथार्थ रूप। रंगमंच पर लोक प्रचलित पत्थर या लोहे से बने भारी अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग न करके जतु (लाह), बाँस, उसके पत्तों और मधु आदि के योग से हलके दिखावटी अस्त्र शस्त्रों की रचना नाट्य प्रयोग के लिए होनी चाहिये, अन्यथा भारी अस्त्र शस्त्रों के उठाने से श्रान्त और शिथिल पात्र अन्य आंगिक अभिनय विधियों का सम्पादन सफलतापूर्वक नहीं कर सकते।[५] प्रयोग विधि के सम्बन्ध में तो कई महत्वपूर्ण विधि निषेधों का उल्लेख किया है। शस्त्र का प्रहार न हो, उसका संकेत से अंग-स्पर्श मात्र ही हो, अन्यथा प्रहार होने से पात्र क्षत विक्षत हो सकता है। छेदन भेदन, ताडन मारण आदि द्वारा रुधिरस्राव का भी निषेध है। यदि प्रभावोत्पादकता के लिए रुधिर-स्राव आवश्यक भी हो, तो उसका प्रयोग आहार्य विधि द्वारा सम्पन्न हो। अतः नाट्य प्रयोग में शस्त्र प्रयोग सीमित है।

---

१ मृच्छकटिकम्, अंक ६, अ० शा० अंक १६, ६, बालरामायण अंक ५, पृ० २४२ २५१।

२ ना० शा० २३।८७-१०६ तथा अ० भा० भाग ३, पृ० २८१ २८४।

३ ना० शा० १।६० ६२ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० १३।२१४ २१६।

५ या काष्ठयन्त्र भूयिष्ठा कृता सुप्तिर्भेदतमना।
न सा ऽस्त्राक नाट्यधारा कस्मात् खेदावहा हि सा।
यद्द्रव्य जीवलोकेषु नानालक्षण संज्ञितम्।
तस्यानुकृति संस्थानं नाट्योपकरणं भवेत्। ना० शा० २३।१९७ १९६ (गा० ओ० सी०)।

(गोलाकार, पत्रकर्णिका, कुण्डल, कण-मुद्रा, कर्णोत्कीलक और कणपूर आदि होते है। इन आभूषणो की रचना नाना वर्णों के रत्नो तथा दन्त पत्रो से की जानी चाहिए। कपोल के आभूषण तो तिलक और पत्र-लेखा हैं। नेत्रो का 'अजन' और ओठो का 'रजन' द्वारा अलकार होता है।[1] भरत के अनुसार दांतो का अलकार भी विविध रागा स रगकर ही होता है। सम्मुख के चार दात शुभ्र भी रह सकते हैं। रजित लाल अधर पल्लवो के मध्य शुभ्रदत पक्तियो स नारी का हास्य अत्यन्त मधुरता स स्फुरित होता है। रक्त कमलाभ रग स दाता के रग का भी विधान है। अधर पल्लवा की प्रभा नव पल्लव सी ताम्र होनी चाहिए।[2] कण्ठ के आभूषण मुक्तावली, व्याल-पक्ति, मजरी, रत्नमालिका, रत्नावली और सूत्रक है। इन आभूषणो म एक से लेकर चार लडियाँ हो सकती हैं। बाहुमूल के आभूषण अगद और वलय हैं। नाना शिल्पा से रचित हार और त्रिवेणी तथा 'मणिजाल निर्मित' आभूषण स नारी के वक्षस्थल का शृगार होता है। अगुली के आभूषण कलापी, कटक, हस्तपत्र, सपूरक और मुद्रा हैं। श्रोणी के आभूषण कई प्रकार के होते हैं, मखला, काचिका, रशना और कलाप। काची म एक लडी होती है और मेखला म आठ लडी रशना म सोलह और कलाप (समूह) मे पच्चीस लडिया होती हैं। नूपुर, किंकिनी, घटिका, रत्नजालक और सघोष कटक (कडा) ये पाच प्रकार के आभूषण होते है। सघोष कटक आभूषण का प्रयोग अभी भी ग्रामीण महिलाओ म प्रचलित है। यह भीतर मे खोखला होता है और उसके भीतर ककड होते ह और गति के अनुरूप गूजते रहते है। जाघो म पाद पत्र, परो की अँगुलियो म अगुलीयक तथा दोनो पावो म अगुष्ठ तिलक का भी विधान है।[3] अशोक के पल्लवो की आभा के सदश रक्त वण अलक्तक राग का प्रयोग पावो म होना चाहिए जिसम नाना प्रकार की कलात्मक रेखाए अकित हो।[4]

आभूषणो के प्रयोग की स्थितिया

इस प्रसग म भरत ने प्रयोग सबधी महत्त्वपूण सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है कि इन आभूषणो का प्रयोग भाव और रस के सदभ म होना चाहिए। आगम प्रमाण, पात्र, रूपशोभा तथा लोक प्रचलित व्यवहारो की पष्ठभूमि म ही आभूषणो का प्रयोग उचित होता है। शोक की दशा मे चमत्कारपूण आभूषणो का प्रयोग नारी के लिए शोभा नही देता।[5]

भूषणो का अतिशय प्रयोग

भरत न भूषणो का इतना विस्तत विधान शास्त्रीय दष्टि से तो किया परन्तु प्रयोग की दष्टि से मूल्यवान रत्ननिर्मित आभूषणो तथा अधिक आभूषणा का प्रयोग उचित नही माना है। अधिक बोझिल अलकारो का प्रयोग पुरुष एव नारी पात्रो म श्रम और खेद भी उत्पन्न करते हैं। उस अवस्था म नाटच प्रयोग म बाधा उपस्थित होती है। अत लाह आदि से निर्मित

१ ना० शा० २०।२८ क।

२ ना० शा० २।२६ ३०, गा० ओ० सी।

३ ना० शा० २१।३१ ३४, अ० गु०।

४ ना० शा २१।४१क (का ना०)।

५ एतद्विभूषण नार्या आकेशानखादपि।
यथाभावरसावस्थ विज्ञायैव प्रयोजयेत्॥ ना० शा० २१।८२ ८३।

जाते हैं। नाक के कुण्डल आदि तथा नाक के विभिन्न आभूषण प्राय आवध्य होते हैं।

आरोप्य के अन्तर्गत हेम सूत्र, मणिमाला तथा अन्य प्रकार के नानाविध मनोहारी आभूषणों की परिगणना की गई है जिसका अगों में आरोप मात्र कर लिया जाता है। बधनीय के अन्तर्गत अगद, मयूर, करणी आदि आभरणों की परिगणना हुई है, जो अगों में बांधे जाते हैं और प्रक्षेप्य के अन्तर्गत नुपूर जैसे आभरण और ऊपर से प्रक्षेप्य वस्त्राभरण का भी परिगणना की है।[1]

भरत ने उपर्युक्त चार प्रकार के आभूषण भेदों की परिगणना के उपरान्त पुरुष एव महिलाओं द्वारा विभिन्न अगोपांगों में प्रयोज्य विविध आभरणों का उल्लेख किया है। नाट्य प्रयोग में सौन्दर्य वृद्धि की दृष्टि से तो उसका महत्त्व है ही, पर इतने प्रकार के प्रयोज्य मनोहर आभूषणों की परिगणना से भरतकालीन भारत के समृद्ध जीवन का बड़ा सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

पुरुषों के आभूषण

पुरुषों द्वारा प्रयोज्य आभूषणों की नामावली बहुत बड़ी है—शिर पर चूडामणि, कानों में कुण्डल, कठ में मुक्तावली, हर्षक और सूत्रक, अगुली में अगुलीमुद्रा और वतिका बाहुनाला में हस्तली और वलय बाजू में रूचक और चूलिका, बाजू से ऊपर के भाग में मयूर और अगद, त्रिसर और हार, मोतियों की माला वक्षस्थल पर और सूत्रक कटि में धारण करने से पुरुषों के अंगों का अलकार होता है। इन आभूषणों से देवों और मनुष्यों का शृंगार होता है।[2]

महिलाओं के आभूषण

महिलाएँ तो आभूषण प्रिय होती हैं। भरत द्वारा महिलाओं के लिए प्रस्तुत की गई आभूषणों की नामावली बहुत ही विस्तृत है। प्रत्येक अग उपाग के लिए अनेक आभूषणों का विधान है। शिर पर शिखापाश, शिखाव्याल, पिंडीपत्र, चूडामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्षिक और शीर्षजाल। आचार्य अभिनवगुप्त ने शिर के इन आभूषणों की रूपरेखा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। शिखाव्याल' नाग की तरह ग्रथियों से उपनिबद्ध होता है। 'चूडामणि' शिर के मध्य मे तथा 'मुक्ताजाल'—ललाट के अन्त में मोतियों की सूक्ष्म चमत्कारपूर्ण जालियों से बना होता है। इनसे आभूषणों की रूप रचना और सौन्दर्य का सकेत होता है।[3]

ललाट पर शिखिपत्र वेणीपुच्छ और कुसुम-सदृश ललाट तिलक की रचना नाना शिल्प प्रयोजित होनी चाहिये।[4] 'शिखिपत्र' तो मयूरपिच्छ के आकार का विचित्र वर्ण की मणियों द्वारा रचा जाता है और वह कर्णावतंस होता है।[5] कानों के आभूषण कर्णिका, कर्णवलय

---

१ ना० शा० २१।१३ १६ क (गा० ओ० सी०)।

२ वही, २१।१८ ख २१, वही।

३ ना० शा २१।२२ २४ (गा० ओ० सी०), का० मा० २० २२।

४ ललाटतिलकश्चं नाना शिल्प प्रयोजित ।
भ्रूकचोपरि गुच्छश्च कुसुमानुकृतिर्भवेत । ना० शा० २१ २४ का० मा० ।

५ शिखिपत्र मर पिच्छाकारो विचित्र वर्णमणि रचित कर्णावतसक । अ० भा०, भाग ३ पृ० ११३।

फणाकार केश गुच्छ की रचना करती हैं। मुनि-कन्याओं के केश विन्यास एवं आभरण आदि की विधि सरल और वन प्रकृति के अनुरूप होती है। शिर में एक वेणी मात्र, शरीर पर आभरण नहीं और वेश वनोचित होता है। अभिज्ञान शाकुन्तल की तापस बालाएँ वल्कल ही धारण कर बहुत ही मन भावन लगती हैं।[1] सिद्धों की स्त्रियों का मण्डन मुक्तामरकतप्राय आभरणों से होता है। व पीत वस्त्र धारण करती हैं। गन्धर्व कन्यायें पदमराग मणिनिर्मित आभूषण पहनती हैं। कुसुंभी रंग का वसन पहनती हैं और हाथ में जीवन-संगिनी वीणा सुशोभित रहती है। राक्षसियों का मण्डन इन्द्रनीलमणि से होता है, दांत शुभ्र और परिच्छद कृष्ण वर्ण का होता है।[2] देवांगनाएँ वदूर्यमणि और मुक्ता के बने आभरणों से अपना शृंगार करती हैं। उनका परिच्छद शुक के कोमल पंखों-सा हरिद्वर्ण का होता है। कभी कभी दिव्य और वानर नारियों का परिच्छद नील वर्ण का भी होता है। ये सारी विधियाँ शृंगार के लिए उपयुक्त होती हैं। परन्तु भाव और अवस्था के अनुरूप उनका वेशविधि, परिच्छद तथा आभरण शैली में परिवर्तन भी हो जाता है।[3]

पार्थिव नारियों का देशानुरूप वेष विन्यास

मानुषी स्त्रियों के वेश, आभरण और परिच्छद आदि में देश की भिन्नता के संदर्भ में देश की विलक्षणता का विधान है। इसी विलक्षणता के कारण रंगमंच पर उनकी पहचान होती है। अवन्ती देश की युवतियों के शिर पर कुन्तल अलक होते हैं। गौड देश की स्त्रियों की वेणी में शिखापाश की रचना होती है। आभीर (अहीर) युवतियाँ दो वेणियों द्वारा केश रचना करती हैं। उनका परिच्छद नील होता है तथा वे शिर को ढँके रहती हैं। पूर्वोत्तर देश की स्त्रियों का शिखंडक मस्तक पर उठा रहता है। वे सिर से लेकर पाँव तक परिच्छद से अपने शरीर को ढके रहती हैं। दक्षिण देश की स्त्रियाँ उल्लेख्य[4] नामक आभरण पहनती हैं और ललाट पर गोलाकार तिलक की रचना करती हैं। गणिकाओं का मण्डन तो इच्छानुरूप होता है।[5]

वियोगिनी स्त्री का वेष

नारियों के वर्णित वेश विधान के क्रम में देश और अवस्था आदि का भरत ने सदा ध्यान रखा है। देशानुसार वेश आभरण और परिच्छद आदि की संयोजना होने पर ही शोभा का प्रसार होता है अन्यथा मेखला यदि वक्षस्थल पर धारण कर ली जाय तो अशोभन ही मालूम पड़ेगा।[6] इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रोषित कान्ता के लिए मलिन वेश की परिकल्पना की गई है। विप्रलंभ शृंगार के क्रम में वेश शुद्ध होता है विचित्र नहीं। न तो अधिक आभरणों का

---

१ इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी। अ० शा० अंक १।१९।
२ ना० शा० २१.५३-६३ (गा० ओ० सी०)।
३ ना० शा० २१.६३-६५।
४ म० मो० घोष—ना० शा०, अ० अ० पृ० ४२० पादटिप्पणी, बंगाल में प्रचलित 'उल्की' का सा कोई आभूषण।
५ ना० शा० २१.६९-७० (गा० ओ० सी०)।
६ ना० शा० २१.७१, का० मा०।

चमत्कारक पर हलके अलंकारों का प्रयोग उचित है। भरत के आभूषण विधान में उनकी प्रयोग दृष्टि का सही अनुमान कर सकते हैं। वे इन कृत्रिम आभूषणों द्वारा अलंकार ही करना चाहते थे जिससे पात्र के रूप की आभा आकर्षक हो, पर यह अलंकार बोझ न बन जाए कि प्रयोग में बाधा और खेद उत्पन्न हो।[1]

भरत के भूषण विधान से हम कई बातों का पता पाते हैं। भरतकालीन भारतीय समाज के समृद्ध जीवन में नारियाँ अलंकार का प्रयोग करती थीं। भरत की आभूषण विधि नारी सौन्दर्यानुसारिणी है। इन आभूषणों का प्रयोग रंगभूमि पर सौन्दर्य का प्रसार करना ही था परन्तु वह प्रयोग भी नाटय में प्रवहमान भाव और रस का अनुसारी होना चाहिए।

वेश, आभरण और केश-विन्यास की विलक्षणताएँ

नारियों के विविध अंगोपांगों के लिए नाना वर्ण और आकार के कलात्मक आभूषणों का विधान भरत ने उनके सौन्दर्य और प्रयोगानुकूल भाव रस की समृद्धि के लिए किया है। परन्तु नारी के शरीर के वेश, आभरण और केशविन्यास के द्वारा विशिष्ट जाति और विशिष्ट देश-वासिनी महिला का भान रंगमंच पर होता है। अत जातिभेद तथा देशभेद के संदर्भ में उनके विलक्षण वेष, आभरण और केश रचना का विधान किया गया है। निश्चय ही इस विधान के मूल में भिन्न भिन्न जाति और देश की वेष प्रकृति, आभरण परिधान का कौशल एवं केश रचना के सौन्दर्य का पूर्ण विवरण है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त तीनों शब्दों की बड़ी अर्थपूर्ण व्युत्पत्ति की है। जो हृदय को व्याप्त कर ले, आविष्ट कर ले वह वेश होता है। केश की मनोहारी रचनाविधि वेश ही है। आभरण द्वारा चारों ओर से कान्ति का आभरण या पोषण होता है। अतएव शिर या व्याल आदि आभूषण या आभरण होते हैं। क्षुरकर्म के द्वारा ललाट पर अलक या घुंघराले केशों की रचना होती है और परिच्छद शरीर को चारों ओर से आच्छादित करने वाले विचित्र वस्त्रों के योग से सम्पन्न होता है। नारियों के शरीर की साज सज्जा की रचना इन्हीं विधियों से प्रधान रूप से सम्पन्न होती है।[2]

दिव्यांगनाओं के वेष-विन्यास

विद्याधरी, यक्षिणी, अप्सरा, नागपत्नी, ऋषि कन्या और देवांगनाएं वेष आदि के द्वारा एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होती हैं। सिद्ध, गन्धर्व, राक्षस और असुर पत्नियों तथा दिव्य नारियों के मस्तक पर केशाग्र बंधे रहते हैं और उनमें मोती प्रचुरता से पिरोये होते हैं। विद्याधरियों का वेश और परिच्छद शुद्ध होता है। यक्षिणी और अप्सराओं के आभरणों में रत्न जड़े रहते हैं। केश विन्यास इनका 'सम' होता है परन्तु यक्षिणी अपने केशों में शिखा की योजना करती है। दिव्य और नाग स्त्रियों की केशविन्यास विधि बड़ी आकर्षक होती है। वे मुक्तामणि मंडित

---

१ न तु नाटय प्रयोग कर्तव्यं भूषणं गुरु ।
रत्नवत् जतुबद्धं वा न खेदजनन भवेत् ।। ना० शा० २१।४७ ४६ ।

२ हृदयं व्याप्नोति, हृदयत एव इति वेशः केशरचनादि । आसमन्तात् भियते पोष्यते कान्तिर्येन तदाभरणं शिखाव्यालादि । क्षुरकर्म अलकादि योजना परिच्छद विचित्र वस्त्रयोग । अ० भा० भाग ३, पृ० १२० तथा ना० शा० २१।७२ ।

पदमवण, पीत-नील से हरिद्वण, नील रक्त से कापाय और रक्त पीत स गौर वण का आविभाव होता है।[1]

वण रचना और वतनाविधि इतनी महत्त्वपूण है कि नाटय प्रयोग म न केवल सीता राम आदि अतीत के मनुष्यो के अनुरूप वण रचना द्वारा अवतरण की कल्पना की जाती है अपितु प्रासाद यान, विमान, पवत, दुग और शास्त्र भी प्राणी के रूप म रगमच पर अवतरित होत हैं। उत्तररामचरित म गगा, तमसा, मुरला और पथ्वी देवी का अवतरण इसी रूप म होता है। यौगधरायण उदयन के उद्धार और वासवदत्ता के हरण क लिए इसी शली म रूप परिवतन कर उज्जनी म प्रवेश करता है।[2] इस प्रकार अगवतना और अग रचना की इस विशिष्ट शली म नाटय धर्मी विधि द्वारा भौतिक निर्जीव पदार्थों को भी प्रयोग काल म गति मचार और मानवीय रूप सज्जा देकर प्रस्तुत किया जाता है। पर रूप रग की आभा ऐसी होती है कि वे हिमालय और गगा की तरह प्रतीत होते हैं।

विभिन्न जातियो और देशवासियो के वर्ण

राजाओ, देवो, दानवो और अन्य देशवासियो तथा विभिन्न जातियो के लिए विभिन्न वर्णों का विधान किया गया है। राजाओ के लिए पदम और श्यामवण ऋषियो के लिए बदरी (बेर) का-सा कापायवण, सुखीजन गौर, किरात, ववर आन्ध्र, द्रविड, काशी और कोशल पुलिन्द, एव दक्षिणवासियो का कृष्ण, शक, यवन पल्लव, वाह्लीक और उत्तरवासी गौर, पाचाल, शौरसेन मागध, उद्र, अग, वग और कलिंगवासी श्याम वैश्य और शूद्र भी सामान्यत श्याम, ब्राह्मण क्षत्रिय रक्त, देवता, यक्ष और अप्सरा गौर, इन्द्र, रुद्र सूय, ब्रह्मा और कार्तिकेय स्वण वण चन्द्र, वहस्पति शुभ्र, वरुण, तारागण, समुद्र, हिमालय और गगा आदि श्वेत और रक्तवर्णों के माध्यम स प्रस्तुत होते हैं। बुद्ध और अग्नि पीतवण के होते हैं। नर नारायण वासुकि दत्य दानव राक्षस गुह्यक पिशाच, जल और आकाश आदि श्यामवण के होत है। रोगी, कुकर्मी, ग्रह गहीत तपस्यारत और क्लेशाविष्टो का वण कृष्ण होता है। विविध वर्णों और उपवर्णों के सयोग से पात्रो की विभिन्न अवस्था के अनुसार सुख दु खात्मक भूमिका भी प्रस्तुत की जाती है।[3]

रसानुरूप शरीर का वर्ण

पात्र की मनोदशा (रस दशा) के अनुरूप ही उसकी अग रचना का वण भी विहित है। प्रत्यक रस के लिए पृथक् वण का निर्धारण किया गया है। शृङ्गार रस श्याम, हास्य शुभ्र (सित), करुण धूसर, रौद्र रक्त, वीर गौर, भयानक कृष्ण अदभुत पीत और बीभत्स रस नील वण होता है।[4]

---

१ ना० शा० २१।७८ ८८ (गा० ओ० सी०)।

२ उत्तररामचरित अक—३।७ कथासरित्सागर—द्वितीय लवक ४।४० ५२।

३ ना० शा० २१ ९२ ११४। वि० ध० पु० ३।२७।१६ २६ (गा० ओ० सी०)।

४ वही, ६।४७-४८।

प्रयोग उचित है और न अधिक मलिनता से (न मृदा युत) ही युक्त रहना चाहिए।[1] घोष महोदय ने प्रोषित का ता के लिए स्नान का जो निता त निषेध किया है, वह कल्पना निता त अरुचिकर होने के कारण ग्राह्य नही है।[2] कालिदास ने मेघदूत म विरहिणी यक्षिणी के शुद्ध स्नान का उल्लेख किया है।[3] नि सदेह वह मलिन वसन, स यस्ताभरण तथा एक वेणीधरा तो है ही। कालिदास रचित ऋतुसहार की नागरिकाओ, अलका की वधुओ, हिमालय की पुत्री पार्वती, अज की पत्नी इ दुमती और अलका की उ मुक्त युवतियो के नाना आकार प्रकार के मनोहर आभूषण, अग रचना की शलिया और केश एव वेश आदि का हृदयहारी वणन मिलता है। भरत निरूपित आभूषण अग रचना और वप वि यास का प्रभाव कालिदास पर अत्य त स्पष्ट है। नि सदेह कालिदास ने अपने काव्य और नाटक की वनिताओ का शृगार पुष्पो स अधिक किया है।[4]

पुरुषो का भी वेश वि यास आदि देश, जाति और अवस्था के आधार पर निर्धारित होता है। भरत ने वेश विधान के पूव अग रचना और वतना के सिद्धा त का विवेचन कर तब वेश-विधान प्रस्तुत किया है, क्योकि वण रचना होने के बाद ही वस्त्र धारण किया जाता है। हम उसी क्रम मे यहा उ ह यथा स्थान प्रस्तुत करेंगे।

अग-रचना

अग रचना आहाय अभिनय का तीसरा प्रकार है। इसके अन्तगत अगो की रचना तथा केश वि यास आदि की विभि न शलियो का प्रतिपादन किया गया है। अग रचना देश, जाति और वय के अनुरूप होती है। एसा होने पर ही पात्र का रूप परिवतन होता है और वह स्वरूप, स्वभाव आदि का त्यागकर अनुकाय राम और सीता के स्वरूप और भाव को धारण कर प्रेक्षको के समक्ष प्रस्तुत होता है। इस प्रसग मे भरत ने मूल रूप से चार प्रकार के स्वाभाविक वर्णों का उल्लेख किया है—सित (उज्ज्वल), पीत, नील और रक्त। परन्तु विष्णुधर्मोत्तरपुराण म नील के स्थान पर कृष्ण तथा हरित नामक नये वर्णों का उल्लेख मिलता है। भरत ने प्रधान वर्णों के योग से अनेक उपवर्णों की भी कल्पना की है उन उपवर्णों के भी परस्पर योग स तो हजारो प्रकार के वर्णों की योजना होती है। विष्णुधर्मोत्तर की दृष्टि से उनकी सख्या की परिगणना नही की जा सकती।[5] भरत न वर्णों के सयोग के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का आकलन किया है। नील वण सब वर्णों म बलवान होता है और वर्णों क मेल म उसकी मात्रा सर्वाधिक या यून होनी चाहिए। इस प्रकार वर्णों और अ य अनेक उपवर्णों के योग से रगो की नानाविध मनोहारी छायाएँ प्रकट होती हैं। उ ही से रँगकर पात्रो को जाति और देशानुरूप रीति से प्रस्तुत किया जाता है। सित और नील से कपोत वण (भूरा), सित पीत क योग से पाडु वण, सित और रक्त से

---

१ ना० शा० २१।७२ ७५ (गा० ओ० सी०)।

२ एण्ड नोट टू क्लो स न्यर बोडी—ना० शा० अ० अनु० २३।७७ (एम० एम० घोष)।

३ शुद्धस्नानात् परुषमलकम् नूनमागण्डलम्बम्। उत्सग वा मलिन वसने, एक वेणीधरा, सामन्य स्ताभरणमबला पेशलधारयती। उत्तरमेघ २३, २४, २८।

४ उत्तरमेघ—२, ११, २६, ३८, ३८ रघुवश—७।६ १० १६।४८, कुमारसभव—७।२६ ३० ऋतु० अ १।४ ८, २।१८ २०, ४।३ ६, ५।८ १२ तथा कालिदासकालीन भारत—पृ० १३२ १३८—भगवतशरण उपाध्याय।

५ विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३,२७।७ १८।

सामान्यत दशावस्था आदि के संदर्भ में प्रकृत जन तथा सम्भ्रान्त राजा अमात्य आदि की जो वेश भूषा भरत काल में होती थी उसी का समानीकरण करके भरत ने शास्त्रीय रूप दिया है। भरत ने तीन प्रकार के वस्त्र शुद्ध, विचित्र और मलिन का उल्लेख किया है।

देव-मंदिर की यात्रा, मंगल व्रत, विवाह और तिथि नक्षत्र के शुभयोग में यदि नर या नारी प्रवत्त हो तो उनका वेश 'शुद्ध' होना चाहिये। देव, दानव, यक्ष, राक्षस तथा कामुक राजा का वेश चित्र होता है। वृद्ध, ब्राह्मण, सेठ, अमात्य, पुरोहित, वणिक काचुकीय, तपस्वी, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य तथा स्थानीय जनों के लिए नाटकाश्रित शुद्ध वेश का प्रयोग होता है। उन्मत्त, प्रमत्त, पथिक, विपत्तिग्रस्त पात्र का वेश मलिन होता है। लोक की स्वाभाविक वेश भूषा के उपयुक्त वेश भूषा का विधान है। मुनि, यति और शाक्य का वेष काषाय वर्ण, तपस्वी का वेष चीर (वृक्ष की मोटी त्वचा), वल्कल और चर्म (बघछाल और मृगचर्म), पाशुपत के लिए नाना वर्णों से बना विचित्र वेष विहित है। अन्तःपुर में जो परिजन आदि नियुक्त रहते हैं, तथा जो अहृत हैं, उनका वेष काषाय वस्त्र या कंचुक पट होता है। अवस्था के अन्तर से वेष परिवर्तित भी होता है। यों राजा का वेष तो प्रायः नाना वर्णों से रचित विचित्र होता है। परन्तु जब वह संग्राम में प्रवत्त होता है तो विचित्र शस्त्र, तरकस और धनुष धारण किये रहता है। केवल व्रतादि अनुष्ठान के प्रसंग में ही उसका वेष शुद्ध होता है। वस्त्र या वेष विधि जाति देश, वय और विभिन्न अवस्थाओं के संदर्भ में होना चाहिए यह भरत का स्पष्ट निर्देश है।[1]

शिर का वेष

शरीर के वेष के समान प्रमुख अंग शिर का भी नाटक में प्रसाधन किया जाता है, तथा इसकी भी रचना शुभाशुभकृत नाना अवस्था को देखकर ही होती है। शिर के वेष विन्यास तीन प्रकार के होते हैं—पार्श्वगत (पार्श्वमौलि), मस्तकी और किरीटी। इन तीनों ही शिरोवेष में किरीट सर्वश्रेष्ठ होता है और बहुमूल्य रत्नों से उसकी रचना होती है वह शिर पर उठा रहता है। 'मस्तकी' किरीट का-सा उतना ऊपर नहीं उठा रहता परन्तु शिर को ढके रहता है। इसकी भी रचना स्वर्ण आदि रत्नों से होती है। पार्श्वमौलि' की ऊँचाई बहुत थोड़ी होती है संभवतः शिर के पार्श्व में पहनी जाती है समस्त शिर को नहीं ढक पाती। इसीलिए इसे अर्ध मुकुट भी कहते हैं। इसकी भी रचना स्वर्ण रत्नों से ही होती है। मुकुट शैली के तीनों प्रकार के शिरोवेष का प्रयोग मुख्यतः दिव्य पात्रों और पार्थिवों द्वारा ही होता है। दिव्य पात्रों में जो उत्तम हैं वे किरीट ही धारण करते हैं, मध्यम दिव्य पात्र पार्श्वमौलि और कनिष्ठ शीर्षमौलि धारण करते हैं। राजाओं के शिर पर मस्तकी मुकुट सुशोभित रहता है। युवराज और सेनापतियों के शिरोवेष के रूप में अर्ध मुकुट या पार्श्वमौलि होती है। विद्याधर सिद्ध और चारण आदि पात्रों के शिरो वेश की रचना केशों की प्रर्ययों द्वारा होती है। राजाओं के अन्तःपुर के अमात्य, कंचुकी, श्रेष्ठी और पुरोहितों के शिरोवेष के लिए शिर को चारों ओर से वस्त्र-पट्टियों से बाँधने वाली पगड़ी (प्रतिशिर) होती है। पिशाच, उन्मत्त, साधक और तपस्वियों के शिरोवेष तो उनके शिर के लम्बे केश ही होते हैं। शाक्य श्रोत्रिय, संन्यासी तथा यज्ञ आदि के लिए दीक्षित पुरुषों का शिरो वेष केशमुण्डन द्वारा ही होता है। वस्तुतः बिना मुकुट धारण किये भी व्रतानुकूल तीन प्रकार के

---

१ ना० शा० २१।१२२ ३८।

वर्ण-रचना की मौलिकता

भरत द्वारा विभिन्न देशवासियों और जातियों के लिए जो पृथक्-पृथक् वर्ण विधान किया गया है उसके मूल में तदनुरूप ही उन जनपदवासियों के रूप रंग की वर्तमानता भी है। यद्यपि पिछले हजारों वर्षों में संस्कृतियों और विभिन्न जातियों के अन्तरावलंबन में जातियों तथा विभिन्न अंचलवासियों का शरीर वर्ण भी परिवर्तित हुआ है। परन्तु अभी भी भरत की कल्पना बहुत अंश में ठीक ही है। हिमाचल वासियों की अंग रचना गौर, और किरात, बर्बर, आंध्र आदि की कृष्ण है। भारतीय जातियों में भी वर्णों का जो विधान किया गया है वह बहुत अंश में उपयुक्त और यथार्थ है। उत्तर देश के ब्राह्मण प्राय गौर वर्ण होते हैं और शूद्र श्याम वर्ण। घोष महोदय के अनुसार उच्चवर्णों में इन्डो यूरोपीय वर्ण अब भी अंशतः सुरक्षित सा है।[1]

पुरुषों का केश विन्यास

अंग रचना के अन्तर्गत ही पुरुषों के श्मश्रु कर्म की भी विवेचना की गई है। इसके चार प्रकार हैं—शुद्ध, विचित्र, श्याम और रोमश। इन चारों का प्रयोग देश, वय तथा अवस्था आदि के क्रम में होता है। शुद्ध श्मश्रु कर्म में केश नितान्त नहीं रहते। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, मंत्री, पुरोहित, इन्द्रियमुक्तनिवृत्त और दीक्षित पुरुष के लिए शुद्ध, श्मश्रु का विधान है। अशौच और व्रत आदि धारण के प्रसंग में अभी भी सम्पूर्ण केश कटा लेने की प्रथा है।[2] विचित्र श्मश्रु में केश विन्यास क्षुर शिल्प द्वारा आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। राजा, राजकुमार, राजपुरुष शृंगारी और यौवनोन्मादी पुरुषों के अभिनय प्रसंग में विचित्र श्मश्रु कर्म का प्रयोग होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार पुरोहित और मंत्री आदि भी विचित्र शैली में केश विन्यास की रचना करते हैं। जो पुरुष व्रती, प्रतिज्ञा-परायण, दुखी, तपस्वी या विपत्ति-ग्रस्त होते हैं उनके लिए श्याम श्मश्रु का प्रयोग किया जाता है। ऋषि, तपस्वी और दीर्घ-व्रती के लिए रोमश श्मश्रु का प्रयोग होता है। श्मश्रु विधान के तीनों प्रकारों में नाना प्रकार की सामाजिक, धार्मिक और मानसिक परिस्थितियाँ आधार के रूप में वर्तमान रहती हैं।[3]

पुरुषों का वेश विन्यास

अंग रचना के उपरान्त भरत ने पुरुषों की वेश भूषा का विधान किया है। वेश विन्यास की विशिष्ट शैली द्वारा ही देश भिन्नता तथा मानसिक सुख दुख का अन्तर ज्ञात होता है।

---

१ मनुस्मृति १०।८४।
Red (Rakta) or reddish yellow colour (Gaur K M) assigned to Brahmins and Kshatriyas probably show that at one time when the various theatrical conventions cystalised, these two sections of society still retained their original Indo Iranian physical features one of which was certainly the colour of their skin The Dark colour of Vaisyas and Sudras similarly shows in all likelihood that those were not Aryans of the pure type (M M Ghosh) N S (Eng Trans) p 426 footnote

२ ना० शा० २३।१०९ ११२, का० मा०।

३, ना० शा० २३।११६ १२०, वि० ध० पु० ३।२७ ३२ (गा० ओ० सी०)।

होता है।[1] अत भरत की प्रयोगात्मक चिंतन प्रवत्ति, मौलिकता और नाटयोपयोगिता की दृष्टि से बहुत बडी सभावनाओ का सकेत करती है। यह आहार्य अभिनय भरत की विवेचना का लक्ष्य इसीलिए है कि समस्त नाटय प्रयोग इसी म प्रतिष्ठित रहता है।

यस्मात प्रयोग सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थित ।

—ना० शा० २१।१ (गा० ओ० सी०)।

[1] आज आधुनिक दृष्टि से रगमच की सम्भावना को जिस प्रकार देखा जा रहा है, भारतीय दृष्टि अपनी मौलिक प्रवत्ति में उसके समान थी यह कहा जा सकता है।

—नाट्यकला, पृ० २१० (रघुवश—१९६४)।

आदि के द्वारा सृष्टि के सब रूपो की रचना हो सकती है। नाना प्रकार के पेड पौधे और फूलो का सौन्दर्य भी रगमच पर इसी रूप म विकसित हो जाता है। यहाँ तक कि मुकुटो म प्रयोज्य नाना प्रकार के बहुमूल्य आभूषणो म और रगबिरगे रत्नो के स्थान पर अबरक, ताम्रपत्र और मधु आदि की बडी मनोहर योजना होती है। युद्ध, द्वन्द्व युद्ध और नृत्त के प्रसगो म इनक प्रयोग स सुविधा भी होती है। पात्र क्लान्त न हो, पूरी तत्परता से अपना अभिनय व्यापार सम्पन्न कर पाते हैं।[1] बोझिल सामग्रियो और शस्त्र आदि के प्रयोग से कभी कभी प्राणो का सदेह हो जाता है, अतएव *शस्त्रा का प्रयोग आदि भी सज्ञा-मात्र से ही विहित है।*

कृत्रिम विधि से रचित सामग्रियो का ही प्रयोग रगमच पर उचित होता है। भरत का यह उद्देश्य है कि अग रचना, वश विन्यास, अलकार और केश विन्यास एव रमणीय तथा नाट्योपयोगी प्रभावशाली दृश्यविधान द्वारा नाट्य प्रयोग को प्रकृत रूप प्राप्त हो।[2]

अन्य आचार्य

आहार्याभिनय म नाट्य प्रयोग का अवस्थान है (यस्मात प्रयोग सर्वोऽयमाहार्याभिनय स्थित। ना० शा० २१।१)। नाट्य प्रयोग के सिद्ध आचार्य भरत ने जिस रूप मे इसका प्रतिपादन किया अन्य आचार्यों ने नही। अग्निपुराण की दृष्टि म आहार्याभिनय तो बुद्धि प्रेरित अभिनय है सारी प्रयोग प्रक्रिया, बुद्धि और कल्पना पर आश्रित है।[3] धनजय भोज और विश्वनाथ आदि ने तो इसके उल्लेख मात्र से सतोष किया है।[4] नाट्यदर्पणकार ने अन्य अभिनयो को शारीर निमित्तक माना है और इसे बाह्यनिमित्तक। परन्तु उसकी महत्ता किंचित भी न्यून नही होती।[5] अतएव भरत न उचित महत्त्व देकर विवेचन किया है। अन्य आचार्यों की दृष्टि प्रयोगात्मक न होने के कारण इसकी विवेचना की ओर प्रवृत्त नही हुई।

समाहार

भरत के आहार्य अभिनय के विश्लेषण म भरत की नाट्य दृष्टि का हम अनुमान कर सकते हैं। वे इस विधान के द्वारा नाट्य प्रयोग को अधिकाधिक प्रकृत और कलात्मक रूप देने का प्रयास कर रहे थे। एक ओर *अनुकर्ता पात्र अनुकार्य पात्र की प्रकृति अवस्था, देश, जाति और* वय की अनुरूपता के साथ अवतरित हो प्रेक्षको के हृदय म अनुभूति का, रस का, सचार करता है, दूसरी ओर आहार्य अभिनय की अन्य विधियो के सहयोग से दृश्यविधान के वातावरण तथा नाट्य प्रयोग को और भी रमणीय और कलात्मक रूप म प्रस्तुत करता है। अत भरत प्रतिपादित आहार्य अभिनय विधि के द्वारा यथार्थता की अनुभूति एव कलात्मकता के सौन्दर्य-बोध का सामजस्य होना है। वस्तुत ये विधियाँ आधुनिक नाट्य प्रयोग के लिए आज भी कम उपयोगी नही हैं, क्योकि मूलत सारा आहार्य अभिनय तो मनोदशा की, रस की अभिव्यक्ति के लिए ही

---

१ ना० शा० २१।१६५ २२७।

२ इण्डियन थियेटर, पृ० ८६ (चन्द्रभानु गुप्त)।

३ अग्निपुराण १६।४२।२—[illegible] बुद्ध्यारम्भ प्रवृत्त।

४ ना० द० ३।८१ वर्णादिना क्रिया_कार्या बाह्य वस्तु निमित्तक

५ सरस्वतीकंठ... [illegible] ५।१२७।

आचाय धनजय और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने परम्परागत चार प्रकार क अभिनयो के अतिरिक्त सामा'याभिनय का उल्लेख भी नही किया है। ऐसा इन आचार्यों के लिए स्वाभाविक भी है। इनकी दृष्टि नाट्य क प्रति शास्त्रीय है, प्रयोगात्मक नही। वी० राघवन महोदय ने भी परम्परागत पद्धति के अनुसार इन सामा'य अभिनय को मा'यता नही प्रदान की है।[1] पर'तु अभिनवगुप्त का यह स्पष्ट मत है कि भरत ने प्रयोगो को समानीकृत रूप इस अभिनय विधि के माध्यम से कवि एव नाट्य प्रयोक्ताओ की शिक्षा के लिए प्रस्तुत किया है।[2] अत नाट्य प्रयोग की दृष्टि स इसका महत्त्व स्वीकार करने योग्य है। भरत ने इसी दृष्टि से पृथक उल्लेख एव प्रतिपादन भी किया है।

सामा'याभिनय का स्वरूप

भरत की दृष्टि से सामा'याभिनय वाचिक, आगिक और सात्त्विक अभिनयो का समन्वित रूप है। आगिकादिगत जितने भी अशेष अभिनय विशेष हैं, उन सबका सूचन सामा'य अभिनय की विशिष्ट पद्धति द्वारा ही होता है। शिर हाथ और दृष्टि आदि के द्वारा सपाद्य अभिनय का एक समानीकृत प्रयोग होने पर सामा'याभिनय सम्प'न होता है।[3] अभिनवगुप्त के अनुसार किराना (किराट) की दूकान से, गाधिक गध द्रव्यो का लाकर उनका स'तुलित पूर्वापर प्रयोग करता है। तब सुगधित पदाथ (इत्र आदि) बन पाता है। उसी प्रकार सामा'य अभिनय के अन्तगत विभि'न अभिनयो का प्रयोग किस प्रकार किया जाय यही सामान्याभिनय के अन्तगत विचार किया जाता है।[4]

सामा'याभिनय की सीमा

सामा'याभिनय की सीमा बहुत व्यापक है। वह वागगसत्वज' होने के कारण स्वभावत नर नारीगत कामोपचार का तो प्रतिपादन करता ही है[5] पर आहार्याभिनय भी उसकी प्रतिपाद्य परिधि के अ'तगत ही है। क्योकि मनुष्य का मन प्रसूत सत्त्व और उसकी बाह्य वेशभूषा दोनो की अनुरूपता नाट्य प्रयोग को शक्ति और गति देती है। यद्यपि आहाय अभिनय बाह्य है

---

१ There remarks make it unnecessary to accept two additional Abhinayas called Samanyas and Chitra Bhoja s Sringar Prakash p 694
(V Raghavan)

२ तेन सर्वेषु अभिनयेषु यद्रूपमवशिष्ट पूर्वैनोक्तम् अवश्य च वक्त य च कविनटशिक्षार्थं तद्येनाध्यायेनाभिधीयते स सामा याभिनय। अ भा भाग ३, पृ० १४६।

३ सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागग सत्वज।
शिरोहस्तकटीवक्षोजघोरूकरणेषु यत्।
सम क्रमविभागो य सामान्याभिनयस्तु स। ना० शा० २२।७३ (गा० ओ० सी०)।

४ यथाहि किराट गृहाद ग'ध द्रव्याण्यानीय गाधिकेन समानीक्रियते अस्य इयान् भाग इद पूर्वमिति, एवमत्र अध्याय अभिनया'। तत्र शृगारस्य प्राधा'यात् तत्रैवाभिनेयाना भागयोगेन पौर्वापय युक्त्या समीकरण सत्वातिरिक्त इति। अ० भा० भाग ३, पृ० १४८।

५ तथा चेद तु सामा याभिनय कामोपचार। अ० भा० भाग ३, पृ० १४७।

१४

सामान्याभिनय

सामान्याभिनय की परम्परा

भरत ने परम्परागत आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयो के अतिरिक्त सामान्याभिनय विवेचन नाट्यशास्त्र के बाइसवें अध्याय मे स्वतन्त्र रूप से किया है। यह अभिनय परम्परागत चार प्रकार के अभिनयो से स्वतन्त्र और भिन्न नहीं है। परन्तु आंगिक आदि अभिनयो का समानीकृत रूप होने से सामान्याभिनय महत्त्वपूर्ण और उपादेय है।

भरत के परवर्ती आचार्य सामान्य अभिनय की महत्ता एवं स्वतन्त्र उपयोगिता के सम्बन्ध में एकमत नही है। आचार्य अभिनवगुप्त ने सामान्याभिनय की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है और तत्सम्बन्धी भरत की मान्यता के समर्थन में कोहलमतानुसारी किसी आचार्य का मत उद्धृत किया है। उसके अनुसार सामान्याभिनय के निम्नलिखित छः भेद होते है—

शिष्ट, मिश्र, काम, वक्र, सभून और एकत्व युक्त।[1]

इस उद्धरण से सामान्याभिनय की प्राचीन परम्परा का समर्थन होता है। आचार्य भोज ने भी परम्परागत चार प्रकार के अभिनयो के अतिरिक्त सामान्य और चित्र अभिनयो का उल्लेख किया है।[2]

जैन आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण मे सामान्य और चित्राभिनया का उल्लेख कर खण्डन किया है। उनके मत से सामान्याभिनय तो वाचिक, आंगिक और सात्त्विकादि अभिनयो का सन्निपात रूप है, उसका अन्तर्भाव इन अभिनयो में हो जाता है। फलतः इन आचार्यों की दृष्टि से सामान्याभिनय को अतिरिक्त अभिनय के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठता।[3]

---

१ कोहलमतानुसारिभिः वृद्धैः सामान्याभिनयस्तु षोढा भण्यते। अ० भा० भाग ३, पृ० १४६।

२ भगवान् सत्वजाद्यार्थं सामान्यश्चित्रइत्यमी।
षट्चित्र इत्यभिनया तद्वत् अभिनय वचो विदु ॥ स० क० भा० २।१४७, शृ० प्र० भाग २, पृ० २८३।

३ अभिनयद्वयत्रय चतुष्टय सन्निपात रूप सामान्याभिनय पुनः वाचिकादि लक्षणेनैव चरितार्थं इति।
ना० द०, पृ० १२०।

अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। प्रतीक की महत्ता दोनो अभिनयो म है।[१] वस्तुत दोनो प्रकार की अभिनय विधिया द्वारा भिन्न कार्यों का सम्पादन होता है। सामान्याभिनय म सत्त्व (अन्तमन) के आवेगो को शारीरिक प्रतिक्रियाओ द्वारा रूप देने का प्रयत्न बहुत प्रबल होता है। सब प्रकार के अभिनया को समानीकृत कर अन्तमन की दशा क अनुरूप उनकी अभिव्यजना अग प्रत्यग से की जाती है। चित्राभिनय म प्राय प्रभात, पवन नदी आदि प्राकृतिक पदार्थों एव भावा को उनकी अनुपस्थिति म आगिक अभिनया की प्रतीक-पद्धति द्वारा उनकी उपस्थिति का बोध रग मच पर प्रस्तुत होता है। अत यह चित्रात्मक होता है। हमारी दृष्टि से अभिनवगुप्त के ये विचार पर्याप्त स्पष्ट हैं। *विचारा के विस्तार म कुछ पाठगत त्रुटियाँ अवश्य प्रतीत होती हैं।* परन्तु सामान्यत सामान्याभिनय और चित्राभिनय के भिन्न कार्यों और उपयोग का निर्धारण भरत के अनुरूप एव पर्याप्त स्पष्ट है।

सामान्याभिनय और सत्त्व (मनोवेग)

सामान्याभिनय म वाचिक, आगिक और सात्त्विक अभिनयो का समीकरण होता है। इन तीनो अभिनयो म सात्त्विक अभिनय की ही प्रधानता रहती है। क्योकि सत्त्व अथवा अन्तमन की दशा का ही प्रदशन तो वाणी और अगो की विभिन्न चेष्टाआ द्वारा होता है। सात्त्विक या मानसिक भावो का प्रकाशन देह के माध्यम से भी होता है। क्योकि वे तो अव्यक्त रहते हैं रोमाच, और अश्रु आदि के द्वारा यथास्थान रसानुरूप प्रयोग के होने पर वे अभिव्यक्ति पाते हैं।[२] इन्ही सात्त्विक अभिनयो के द्वारा नाट्य रसमय होता है। रस का प्राण तो सात्त्विक भाव ही है। अत अन्य अभिनयो की अपेक्षा सत्त्व या मनुष्य की आन्तरी चित्तवृत्ति के उपयुक्त प्रदशन म अधिक प्रयत्न की अपेक्षा होती है।

अभिनय की उत्तमता का आधार सत्त्वातिरिक्तता

वाचिक आगिक और सात्त्विक अभिनयो म अनुपात से अन्य दोना की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय की मात्रा अधिक होने पर भरत के मत से उत्तमोत्तम अभिनय होता है। परन्तु जहा अन्य दोनों अभिनया के सम अनुपात म सत्त्व अभिनय होता है वह मध्यम कोटि का अभिनय होता है। जहाँ पर केवल वाचिक और आगिक अथवा दोनो मे से एक ही अभिनय क्रिया की प्रधानता हो परन्तु आन्तरी चित्तवृत्ति (सात्त्विक भावा) का प्रकाशन न हो तो वह अधम कोटि

---

१ Abhinavagupta seems to have not very convincing explanations as to why Samanyabhinaya was so called it appears that expression Samanyabhinaya means a totality of form of kinds of Abhinaya (N S XXVI) and as such he distinguished from the Chitrabhinaya which applies only to the pictorial representation for particular objects and ideals—N S Trans M M Ghosh Footnote page 440

२ तत्र कार्य प्रयत्नस्तु सत्त्वे नाट्य प्रतिष्ठितम्।
अव्यक्त रूप सत्त्व हि विज्ञेय भावसश्रयम्।
यथास्थान रसोपेत रोमाचाश्रादिभि गुणै। ना० शा० २२।२ (गा० ओ० सी०)।

पर भरत की दृष्टि से आहाय के सकेतात्मक होने के कारण समस्त नाटय प्रयोग इसी म अव स्थित रहता है।[1] नि सन्देह आहाय अभिनय नेपथ्य म सिद्ध होता है और अन्य अभिनय रगमच पर साध्य एव प्रयोज्य होते हैं। भरत एव अभिनवगुप्त की व्यापक दृष्टि से मनुष्य की मनोदशा और उसकी बाह्य वेषभूषा परस्पर जिस रूप म एक दूसर को प्रभावित करती हैं, नाटय प्रयोग म भी उसी लोकानुवर्तिता का प्रयोग होना चाहिये। आ तरिक मनोदशा के अनुरूप वाग विलास, अगोपाग का सचालन स्तम्भ और स्वेद आदि का प्रदशन तथा तदनुरूप वेष वियास होने पर अभिनय पूण एव समृद्ध होता है। उज्ज्वल या मलिन वष धारण करना नितात यान्त्रिक क्रिया नही है जिसका मनुष्य के अन्तमन से कोई लगाव नही हो। लोकाचार की दृष्टि से रति म उज्ज्वल और शोक म मलिन वेष धारण करना औचित्य होता है।[2] नाटय प्रयोग तो लोकानुसारी औचित्य और अनुरूपता का ज्वलत प्रतीक है। अत सामायाभिनय म आहार्याभिनय का भी समीकरण हाता है।[3]

सामान्याभिनय और चित्राभिनय

भरत के अनुसार सामायाभिनय तो 'वागगसत्वज' होता है। प्रभात, स ध्या नदी, समुद्र, पवत एव अन्य प्राकृतिक पदार्थों का अगोपाग आदि के द्वारा रूपात्मक और प्रतीकात्मक अभिनय ही विलक्षणता के कारण चित्राभिनय होता है।[4] इसम वाचिक, आगिक और सात्त्विक अभिनया का व्यामिश्रण होता है और सामायाभिनय म उपयुक्त अभिनयो का समानीकरण होता है। मन सभूत सत्त्व स सम्बधित होने के कारण सामायाभिनय म कामोपचार की भी प्रधानता रहती है। विभिन्न रसो और भावो के सदभ म उन अभिनया का प्रयोगात्मक रूप यहाँ व्यवस्थित होता है। परन्तु चित्राभिनय म अगादि अभिनयो द्वारा रूपायित होने वाले अनेक प्राकृतिक पदार्थों और भावनाआ को रूप दिया जाता है। यही उसकी चित्रात्मकता है। चित्र म प्रतीकात्मता की ओर सामाय म मनोवग की प्रधानता रहती है। उसी मनोवग म नाटय प्रतिष्ठित रहता है।[5]

घोष महोदय की मायता

मनमोहन घोष महोदय आचाय अभिनवगुप्त क इस विचार स सहमत नहीं हैं, उनक विचार स सामायाभिनय और चित्राभिनय क अन्तर का आधार बहुत अस्पष्ट है। सामाया भिनय क द्वारा चारो प्रकार के अभिनयो का सनिपात और चित्राभिनय क द्वारा प्रतीक शली म

१ यस्मात् प्रयोग सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थित । ना० शा० २१।१।
२ अ० भा० भाग ३, पृ० १४६।
३ न गत सरसाभिनया अन्योन्य सहचर्य माना नस्तव तदु आहार्य स्वस्य अनुवादानन्या । अ० । न मुनेमत्स्य रसितमरनाभि । अ० भा० भाग ३, पृष्ठ १४६।
४ ना० शा० २६।१ (गा० ओ० सी०)।
५ चित्राभिनयात् सामान्य (सामान्याभिनयस्य) विशेष । उक्तं—तत्र वागङ्गसत्त्वाभिनय । [illegible] दृष्ट चित्राभिनयानुकारस्य [illegible]।
अ० भा० भाग ३, पृ० १८७।

का अभिनय होता है।[१] अभिनय का प्रधान उद्देश्य आन्तरी चित्तवृत्ति का (सात्त्विक भावों का) अन्य अभिनयों द्वारा साक्षात्कार सदृश प्रस्तुत करना है। यदि अन्य अभिनय विधियों के द्वारा आन्तरिक वृत्ति का प्रकाशन न हो अथवा नितान्त न्यून हो तो अभिनय का उद्देश्य ही बाधित हो जाता है। भरत एवं अभिनवगुप्त की दृष्टि से अभिनय की उत्तमता का आधार है अन्य अभिनयों की तुलना में सात्त्विक अभिनयों का अधिकाधिक प्रयोग। आंगिक और वाचिक अभिनय उस स्थिति में गौण हो जाते हैं, सात्त्विक भावों एवं आन्तरिक मनोदशाओं के प्रदर्शन के वे माध्यम मात्र होते हैं, प्रधानता सात्त्विक अभिनय की ही होती है। यह स्तम्भ, स्वेद, कंप और अश्रुपात आदि का भाव एवं रसानुरूप प्रयोग होने पर संभव हो पाता है।

अभिनय

ज्येष्ठ (सत्त्वातिरिक्त)	मध्यम (सम-सत्त्व)	अधम (सत्त्वहीन)
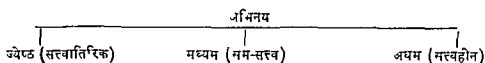
सत्त्वातिरिक्तता और अरस्तू की मान्यता

भरत और अभिनवगुप्त की दृष्टि इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट है कि नाट्य प्रयोग की उत्तमत्ता सात्त्विक अभिनय (स्तम्भन, स्वेद, रोमांच और अश्रु आदि का प्रदर्शन) की अतिरिक्तता पर निर्भर है। बिना सात्त्विक अभिनय के अन्य अभिनय व्यापारों का भी उन्मीलन संभव नहीं है। भरत के विचारों के विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे इन सात्त्विक चिह्नों के माध्यम से मनुष्य के मनोवेगों को अनुभवगम्य रूप प्रदान करना चाहते थे। अन्ततः नाट्य मनोवेगों, मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियों के संघर्षों का ही तो प्रतिफलन है।

इस संदर्भ में पाश्चात्य साहित्य मनीषियों की नाट्य-सम्बन्धी विचारधारा पर विचार करने में भरत की इस मान्यता का महत्त्व हमें मालूम पड़ता है। पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के प्रवर्तकों में दो दल बहुत स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। अरस्तू और क्रोचे आदि की दृष्टि से दृश्यविधान रंगशाला की साज-सज्जा तथा उसमें सम्पन्न होने वाले गीत-नृत्य एवं अभिनय तो गौण हैं। दुःखान्त नाटकों का विशिष्ट प्रभाव काव्यात्मक उपकरणों से उत्पन्न होता है रंगमंच की साज सज्जा और अभिनय से नहीं। तो नाटक की अभिव्यक्ति मन में होती है और उसके लिए रंगशाला आदि के स्थूल उपकरण नितान्त अनावश्यक हैं।[२] दूसरी ओर उत्तरोत्तर विकसित नाट्य सिद्धान्तों के अनुसार बीसवीं सदी तक यह समन्वयात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ कि नाटक में कवि प्रयोक्ता, सूत्रधार, प्रेक्षक और रंगशाला के निर्माण से सम्बन्धित अन्य सब नाट्य शिल्पी मिलकर नाट्य प्रयोग को रूप देते हैं। इन सबके मध्य निर्देशक का महत्त्व सर्वाधिक होना

१ सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः। ना० शा० २२।२ (ना० का० सी०)।

२ Terror and pity may be raised by decoration—the mere spectacle but they may also arise from the circumstances of the actions itself, which is far preferable and shows a superior poet

Aristotle Poetics p 27 (Every Man's Library)

रहते है।[1] इस रूप म पाश्चात्य नाटय सिद्धान्तो के मूलभूत अन्तद्वन्द्व की भावना की आधुनिक काल मे प्रधानता है।

भरत की सत्वातिरिक्तता आन्तरिक मनोवेगा को रूप देने की कलात्मक और प्रभावशाली नाट्यविधि है। ये सात्विक चिह्न दु ख और सुख दोनो ही के हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाटयकथा की पाच अवस्थाओ और नाटयशास्त्र के प्रथम अध्याय म नाटय की व्यापक पृष्ठभूमि के विवेचन से भरत एव पाश्चात्य नाटयशास्त्री एक दूसरे के बहुत निकटवर्ती मालूम पडते हैं, क्योकि भरत की दृष्टि म सुख दु ख-समन्वित लोक का स्वभाव अगादि अभिनयो स उपेत होने पर नाटय होता है।[2] और अरस्तू की दृष्टि म दु खमूलकता नाटय के लिए श्रेष्ठ तत्व है। यद्यपि उत्तरोत्तर विकसित नाटयसिद्धान्त समन्वय (सुखात्मकता) का भी स्पष्ट सकेत करत है।[3]

सामान्याभिनय और नर-नारी के सत्वज अलकार

भरत ने सामान्याभिनय के सिद्धान्त का सात्विक आकलन करते हुए नारी एव पुरुष के अलकारो की परिगणना एव विवेचना की है। उनकी दृष्टि स भाव, हाव हेला तथा अन्य अयत्नज एव स्वाभाविक चेष्टालकारो द्वारा भावो का प्रेषण होता है। ये अलकार भाव और रस के आधार है। सात्विक भाव तो मनुष्य के हृदय म सवेदन रूप म व्याप्त हैं, परन्तु दूसरा सात्विक भाव तो देह धम के रूप मे मनुष्यो म वतमान है।[4] य देहात्मक सात्विक विभूतिया शास्त्रीय दृष्टि से अलकार हैं। इन सात्विक विभूतिया के दशन प्राय उत्तम स्त्री पुरुषो म होते हैं। स्त्रियो की उत्तमता शृगार रस म और पुरुषो की उत्तमता वीर रस म होती है। शृगाररस स्त्रीगत होता है, वीररस पुरुषगत, यह तो लोक प्रसिद्ध बात है। य सत्वज देहाश्रित अलकार उत्तम स्त्री पुरुषो के अतिरिक्त अन्यत्र भी परिलक्षित होते है। सात्विक भाव तामस और राजस शरीरो मे भी असभव नही है। समाज के निचले स्तर की स्त्रियो म भी रूप लावण्य की सपदा यदाकदा होती ही है और उनके अगो पर चेष्टालकार की शोभा होन पर उनकी भी उत्तमता का सूचन होता है। उनके समाज की अन्य स्त्रिया की अपेक्षा इनमे सौन्दय की गुणशाली समृद्धि के होने से उनका सौन्दय अन्यो की अपेक्षा अधिक उत्तमता का आधान करता है।

आचाय भट्टतौत और शकुक ने भी सात्विक भावो के प्रकाशन म इन चेष्टालकारो के महत्व को स्वीकार किया है। उनके विचार से पुरुष के उत्साह को सूचित करती हुई सात्विक विभूतियाँ तथा अगनाओ के शृगार के अनुरूप उनकी विविध सहज चेष्टाएँ सामान्याभिनय की कोटि म ही आती है। य चेष्टालकार रूप-लावण्य आदि की तरह नितान्त अनभिनेय नही हैं।

1 In a drama of farce what we ask of the theatre is the spectacle of a will striving towards a goal and conscious of the means which it employs Law of the Drama, Ferdinand Brunetiere

२ योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु ख समन्वित ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेत नाट्यम् ना० शा० १।११९ (गा० ओ० सी०)।

३ Aristotle finds unhappy ending aesthetically superior to the other Cassells Encyclopaedia of Literature p 550

४ इह चित्तवृत्तिरेव सवेदन भूमौ सत्त्वा ना देहमपि व्याप्नोति। सैव च सत्वमित्युच्यते। अ० भा० भाग ३, पृ १५२।

सुखात्मक की अपेक्षा दु खा त को ही श्रेष्ठ नहा मानते। अरस्तू न ट्रजडी (दुखा त) को निश्चित रूप से श्रेष्ठतर माना है, क्याकि जीवन दु ख और प्रतारणाओ से प्राय उत्पीडित रहता है। इस उत्पीडन का नाटय रूप म पाकर प्रेक्षक के मन का विनोदन होता है इस विनादन या रचन की क्षमता के कारण दु खमूलक नाटक श्रेष्ठ हाते हैं।[1] भरत का दु खात्त और श्रमात्त का नाटय प्रयाग के दशन द्वारा विश्रा ति जनन' और अरस्तू का दु ख 'विनोदन' एक-दूसर क निकट हैं।[2] (विश्रान्ति जनन नाटयम्)। हेगेल और उनक अ य समयक चिन्तका ने आत्म सघष क साथ सम वय (कनफ्लिक्ट और रिकोंसिलियेशन) की भी कल्पना की है। उनकी दृष्टि स नाटय का सारा द्व द्व मनुष्य के नतिक कतव्या पर आधारित होता है। गाल्सवर्दी के लायल्टीज' नामक नाटक म कतव्य की ऐसी प्रतिस्पद्धा का भाव बडी सुन्दरता स अकित किया गया है। कालिदास का दुष्यन्त एसी कतव्य निष्ठा स प्रेरित होकर ही न तो शकु तला-सी परम रूपवती को पत्नी क रूप म पाकर भी स्वीकार ही कर पाता है और न उसका त्याग ही। सघष और सम वय की यह भावना भारतीय एव पाश्चात्य नाटको म भी समान रूप से परिलक्षित होती है। शेक्सपियर के सुख-पयवसायी नाटको म स सघष के उपरा त सम वय का सुखदायक रूप प्रतिभासित होता है। भारतीय नाटककार अपने सुख-पयवसायी नाटका म सघष के उपरान्त ही नायक-नायिका मिलन को मगलकारी कल्पना करते हैं। यद्यपि भास के कुछ नाटक इसके अपवाद भी हैं जिनम दु खात्मक पयवसान है।[3]

नाट्य और इच्छा-शक्ति का सघय

शोपेनहावर न मनुष्य की प्रबल इच्छा शक्ति के आधार पर दु खात्मकता क सिद्धा त की कल्पना की है। इच्छा शक्ति के समक्ष दवी और प्राकृतिक शक्तियो का विनाशकारी रूप प्रस्तुत होता है और उसकी प्रतिक्रिया दु खात्मक नाटय के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। मनुष्य की इच्छा शक्ति का यह सघष जीवन का चरम सत्य है। नाट्य म इसक प्रतिफलन होने के कारण सौ दयबोध और जीवन की अनुरूपता की दष्टि स ऐसी रचनाएँ महत्तर होती हैं। ट्रजडी के लिए इच्छा शक्ति की इस महत्ता के सिद्धान्त को फरडीने ड ब्रुनेटियर ने और भी विकसित किया और उसे नाट्य (ट्रजेडी) के लिए नितान्त आवश्यक माना। उनके मतानुसार नाटक नायक की सबल और सजीव इच्छाशक्ति तथा उसके माग म आने वाली बाधाआ के पारस्परिक सघष की अभिव्यक्ति है। नायक अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है, साधना का सचय करता है, विरोधी परिस्थितियो से जूझता है, उन पर विजय पाता है या पराजित भी होता है। अत विपरीत परिस्थितियो के साथ इच्छा शक्ति के द्वद सघष म ही नाटक के मूल तत्त्व निहित

---

१ नाना भावोप सप न नानावस्था तरान्तकम्।
लोकवृत्तानुकरण नाटयम् एतन्मया कृतम्। ना० शा० १।११२।

२ He is definite in his view that the aim of tragedy is to give pleasure a peculiar kind of pleasure which accompanies the release of feeling effected by the stage performance of a tragedy
—Introduction to Aristotle's Art of Poetry, p xviii

३ (क) मर्चें ट ऑफ वेनिस शेक्सपियर।
(ख) अभिज्ञान शाकुन्तल (कालिदास), उत्तररामचरित (भवभूति), कर्णभार, उरुभग (भास)।

उदारता ये सात अयत्नज अलकार है। नारी के सौन्दय क य प्रतीक हैं। शोभा, कांति और दीप्ति नारी के सहज सौन्दय, काम भावना और उपभोग की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई वत्तियो की अवस्थाएँ हैं। क्रोध आदि की विपरीत परिस्थिति मे भी चेष्टा म सुकुमारता होने पर माधुय होता है। उद्धतता और अभिमान स रहित स्वाभाविक चित्तवृत्ति धय की होती है। काम कलाओ का निर्भीक प्रयोग ही प्रागल्भ्य' होता है। ईर्ष्या आदि की उत्तेजनापूण दशा म भी उदार वचनो का प्रयोग औदाय होता है।[1] अयत्नज अलकारा की सख्या सात ही हो यह आवश्यक नही है। शाक्याचाय राहुल, सागरनदी और मातृगुप्त आदि ने मौग्ध्या, मद, परितपन और विक्षेप आदि को भी अयत्नज के रूप म स्वीकार किया है।[2]

पुरुषो के सत्त्व-भेद

नारियो के सत्त्व भेद के समान ही पुरुषो के भी सत्त्व भेद होत है। य निम्नलिखित हैं—शोभा, विलास, माधुय, स्थय, गाम्भीय, ललित औदाय और तेज।

उपयुक्त सत्त्व भेद नारियो के अयत्नज अलकारो की परम्परा म है। शोभा, विलास माधुय, स्थय और गाभीय आदि नाम दोना म समान हैं। परन्तु नाम साम्य होने पर भी पुरुष एव स्त्री के इन अलकारा मे निहित विचार-तत्त्व सुतरा पृथक हैं। नारी के अयत्नज अलकारा म शारीरिक सुकुमारता आदि का सूचन होता है और पुरुषो के सत्त्व भेद से उनकी मानसिक विभूति के दशन होत हैं। नारी म भावा की सुकुमारता लालित्य और विलासपूण चेष्टाओ द्वारा सौन्दय का मोहक प्रसार होता है। पुरुष मे वीरता, तेज, उत्साह और स्थिरता एव गम्भीरता आदि क द्वारा उसके पौरुष का प्रभाव समृद्ध होता है।[3]

शारीर अभिनय

भरत ने सत्त्वज अभिनय के अतिरिक्त सामान्याभिनय अध्याय म शारीर अभिनयो का वर्गीकरण और विश्लेषण किया है। भरत की दृष्टि से समानीकृत शारीर अभिनय छ प्रकार का होता है—वाक्य, सूचा अकुर, शाखा, नाट्यायित और निवत्यकुर।[4]

वाक्य वाक्य शारीर या दूसरे शब्दो म वाचिक अभिनय है। विविध रस एव अथ स युक्त गद्यमय अथवा पद्यमय एव सस्कृत अथवा प्राकृत भाषा युक्त वाक्य (काव्य) का अभिनय वाक्य अभिनय होता है। यह वाक्याभिनय गद्य पद्य एव सस्कृत प्राकृत भेद से चार प्रकार का हो जाता है। सात्त्विक अगो द्वारा वाक्य अथवा वाक्याथ का सूचन पहले हो जाता है तब वाक्याभिनय का प्रयोग होने पर सूचा शारीर अभिनय होता है। इस प्रकार का अभिनय गीत और नत्य म प्रयुक्त होता है। सूचा की पद्धति म हृदयस्थ भावो का आगिक अभिनय द्वारा प्रदशन होने पर अकुराभिनय होता है। यह अभिनय प्रक्रिया नृत्य के लिए उपयुक्त होती है। अकुर को निपुण प्रयोक्ता कार्यान्वित कर सकत हैं। उपजीव्य तो कवि वाक्य ही है प्रयोक्ता कल्पना से उसे प्रभाव

१ ना० शा २२।१६ ३२ (गा० ओ० सी०)।
२ भ० भा भाग ३, पृ० १६२।
३ ना० शा २२।३२ ४१।
४ ना० शा २२।४३ (गा० ओ० सी०)।

ये तो अनुभाव हैं, शरीर के विकार हैं। शरीर के विकार सामान्य अभिनय की कोटि म ही हैं। वाचिक, आगिक, सात्विक और आहार्य अभिनयो क रम म समन्वित रूप म उनक प्रस्तुत हान पर सामान्याभिनय होता है।[१]

आगिक विकार

नारिया एव पुरुषो के आगिक विकारो द्वारा सात्विक विभूति का प्रदशन होता है। नारियो के आगिक विकार यौवन-काल म अधिक बढ़ जाते हैं।[२] भरत के अनुसार य आगिक विकार तीन प्रकार के है—अगज, स्वाभाविक और अयत्नज। अगज विकार के तीन भेद हात है—भाव, हाव और हेला। सत्व तो आन्तरिक वत्ति है, उसका प्रकाशन देह के माध्यम स हाता है। सत्व से भाव, भाव से हाव और हाव स हेला, उत्तरोत्तर विकास की यही गति रहती है। य एक-दूसरे स विकसित होते रहते हैं और शरीर की प्रकृति म स्थित सत्व के ही विविध रूप हैं।[३] भरत ने भाव श द का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वाणी, अग, मुखराग और सत्व के अभिनय द्वारा कवि हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावा (अथ) का जिसस भावन होता है, वही भाव होता है।[४] यह भाव वासना रूप म मनुष्यमात्र के हृदय मे वतमान रहता ही है। अतएव कवि कल्पित भावो को ही अपन विविध आगिक विकारो द्वारा पात्र प्रस्तुत करता है और सहृदय प्रेक्षक उस भाव का अनुभव करता है। हाव चित्त (सत्व) से उत्पन्न होता है। नयन भ्रू और चिबुक आदि आगिक विकारो स युक्त ग्रीवा के रेचक आदि द्वारा शृगार की अनुभूति शीलता प्राप्त होती है। वही भाव शृगार रस स उत्पन्न होने पर ललित अभिनय से परिपूण हो हेला के नाम से अभिहित होता है। 'हिल' श द का अभिप्राय है भावकरण। हेला की स्थिति मे मन शृगार रस स वेगवान् हो उठता है और भाव का प्रसार अत्यन्त तीव्रता से होता है। सत्व के इन तीनो आगिक विकारो द्वारा भावान्तगत रति का उदबोधन होता है। उसके उपरान्त मनुष्य मात्र के मन म उठने वाली भाव लहरिया परम आनन्द का विषय होती हैं। नारियो के लिए वे ही लोकोत्तर अलकार है। अतिशय आन द के लक्ष्य और परम पवित्र भी हैं।

नारियो के स्वाभाविक और अयत्नज अलकार

स्त्रियो के स्वाभाविक और अयत्नज अलकारो द्वारा उनके मनोभावो का प्रदशन होता है। लीला, विलास विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित् मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक ललित और विहृत ये दस तो स्वाभाविक अलकार है। इन स्वाभाविक अलकारो द्वारा नारियाँ प्रेम मिलन, विछोह मान, ईर्ष्या आदि की विविध परिस्थितियो म अपन हृदय की सुकुमार मनोदशाओ को सहज रूप मे सूचन करती हैं।[५] इनके अतिरिक्त शोभा, कान्ति, दीप्ति माधुय धय प्रगल्भता और

---

१ अ० भा० भाग ३, पृ० १५३।

२ ना० शा० २२।४ व (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा २२।७ (गा० ओ० सी०), द० रू० २।३, भा० प्र० पृ० ८, ना० द० पृ० २०४।

४ कवेर तर्गतं भाव भावयन् भाव उच्यते।
वागगमुखरागैश्च सत्वेन अभिनयेन च॥ ना० शा० २२।८ (गा० ओ० सी०)।

५ ना० शा० २२।१२ २५ (गा० ओ० सी०)।

नाट्य के दो रूप आभ्यन्तर और बाह्य

शिर, हाथ, कटि, जघा, उरु और पाद के अभिनय व्यापारों का समीकरण होने पर सामान्याभिनय होता है। रस भाव-समन्वित, ललित हस्त सचार एव मृदुल आगिक चेष्टाओं से युक्त अभिनय का प्रयोग उचित होता है। अनुद्धत, असम्भ्रान्त, अनाविद्ध अगचेष्टाओं से युक्त, लय, ताल और कला के प्रमाणों से नियत, पदालाप का सुविभाजन, अनिष्ठुर और अनाकुल अभिनय होने पर आभ्यन्तर' नाट्य होता है। नाट्यशास्त्र म अभिनय के लिए निर्धारित लक्षणों का अनुसारी होने से यह नाट्य-आभ्यन्तर या शास्त्रानुसारी होता है। परन्तु अभिनय म स्वच्छन्दता स गति और चेष्टा का प्रयोग होता हो, गीत और वाद्य अनुबद्ध न हो तथा अन्य अभिनय की प्रक्रियायें भी विपर्यस्त हो, तो वह नाट्य प्रयोग 'शास्त्र बाह्य' होने से बाह्य होता है।[1] *आचार्यों द्वारा निर्धारित नियमो की अपेक्षा किये बिना ही इन बाह्य नाट्य प्रयोगो म शास्त्र* बहिष्कृत परम्पराओं का अनुसरण होता है। भरत के काल म प्रयोग की ये दो परम्परायें वर्तमान थी। *एक म शास्त्रानुमोदित नाट्य नियमो का प्रयोग होता था तथा दूसरी म शास्त्र-बहिष्कृत* नियमों का अनुसरण किया जाता था।[2] इन सब विभिन्न विषयो के आकलन का यही अभिप्राय है कि सामान्य अभिनय म विभिन्न प्रकार की अभिनय विधियो का समानीकरण और एकीकरण होता है। सामान्य अभिनय 'अलात चक्रमडल' की तरह अपने-आप म सब अभिनयो को समाहित कर प्रयोग के लिए भूमि प्रस्तुत करता है। इस अभिनय म शास्त्रानुमोदित, आचार्यों द्वारा निर्धारित अभिनय की परम्पराओं का प्रयोग होता है। शास्त्र-बहिष्कृत स्वच्छन्द अभिनय के लिए कोई स्थान नही है।[3]

विषयो का प्रत्यक्षीकरण और नाट्य

नाट्य सुखदु खात्मक लोक-जीवन का कलात्मक प्रतिरूप है। स्वभावत लौकिक विषयो का पचेन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकरण, उसकी अभिनय विधि मन का इन्द्रियो द्वारा सम्बन्ध, इन्द्रियो *के आकर्षण और विकर्षण आदि के द्वारा हृदय स्थित सत्व का प्रकाशन आदि मनोवैज्ञानिक विषयो* का भरत ने नाट्य प्रयोग के क्रम म विवेचन और स्पष्ट सिद्धान्तो का निर्धारण किया है। विभिन्न लौकिक विषयो का इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकरण होने पर नाट्य की सारी प्रक्रिया गतिशील होती है। अत नाट्य प्रयोग की दृष्टि से इन सिद्धान्तो के विवेचन द्वारा भरत ने नाट्य प्रयोग के क्षेत्र म अत्यन्त महत्वपूर्ण देन दी है।

इन्द्रियो के सकेतो द्वारा भावो का अभिनय

इन्द्रियो द्वारा शब्द रूप, रस, गध और स्पर्श के प्रति कसी प्रतिक्रिया अभिनीत होनी चाहिये इसका सुस्पष्ट निर्धारण भरत न लोकाचार के आधार पर किया है। दृष्टि को पार्श्व मे

---

१ ना० शा० २२।७३ द० (गा० ओ० सी०)।

२ This shows that the ancient India s artists did not follow the Sāstra slavishly *N S Eng Trans M M Ghosh, p 452, footnote,*

३ अ० भा० भाग ३, पृ० १८०।

शाली बनाता है। शिर, मुख, जंघा, उरु, पाणि और पाद के द्वारा यथाक्रम अभिनय होने पर शाखा अभिनय होता है। भरत ने इन अंगोपांगों के अभिनय विधान ने क्रम में इनके एक दूसरे के अनुसारी होने का विधान किया है अन्यथा नाट्यार्थ के बोध की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। इन अभिनयों के साथ पाठ्य का भी प्रयोग हुआ करता है। प्रयोक्ता अभिनेताओं के प्रवेश से पूर्व समय-यापन के लिए नाट्य के आरम्भ में नृत्य और गीत का प्रयोग किया जाता है। भाव और रस से प्रेरित हर्ष, रोष और शोक आदि के सन्दर्भ में ध्रुवा गान में जो अभिनय सम्पादित होता है वह भी नाट्यायित होता है। जब दूसरे के द्वारा उच्चरित वाक्यों को दूसरा (पात्र) सूत्र' अभिनय द्वारा प्रस्तुत करता है तो निवृत्यङ्कुर होता है।[1]

वाचिक अभिनय के बारह रूप

इन अभिनय क्रियाओं का सम्बन्ध भावों और रसों से है जो नाटकों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय के रूप में वर्तमान रहते हैं। वाचिक का अभिनय निम्नलिखित बारह प्रकार से हो सकता है आलाप, प्रलाप, विलाप अनुलाप, संवाद, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश व्यपदेश और अपदेश। इन बारह प्रकार के वाचिक अभिनय के रूपों द्वारा वाक्याभिनय अथवा छहों शारीर अभिनयों की योजना होती है। ये सामान्याभिनय रूप होने के कारण सबमें समान रूप में वर्तमान रहते हैं।[2]

वाचिक अभिनय के अनगिनत भेद

वाचिक अभिनय का विवेचन भरत ने अन्य प्रकार से भी किया है। उसके अनुसार उसके प्रत्यक्ष, परोक्ष, आत्मस्थ, परस्थ तथा भूत वर्तमान और भविष्यत् काल कृत भेद सात होते है।[3] सामान्याभिनय का शारीर भेद मुख्यतः इन सात प्रकार के भेदों में विभाजित हो सकता है। अभिनवगुप्त ने शारीर अभिनय (वाक्याभिनय) के एक सौ चवालीस भेदों की परिकल्पना की है। आलाप आदि बारह तथा प्रत्यक्ष, परोक्ष आत्मस्थ और परस्थ नामक चार भेदों का काल कृत भूत' आदि से गुणन करने पर ये भेद भी बारह हो जाते हैं। इन बारहों को परस्पर गुणन करने से वाक्याभिनय के एक सौ चवालीस भेद होते है। संस्कृत प्राकृत आदि भेदों के गुणन करने से तो वाक्याभिनय के ६५२ भेद होते है और इनका भी यदि सूचा के दो भेद वाक्य और वाक्यार्थ से गुणन किया जाय तो कुल १६०४ भेद होते हैं। इस प्रकार शारीर के अन्य चार भेदों में अंकुर के भेद वाक्याभिनय के समान ही होते हैं। शाखा, नाट्यायित और निवृत्यङ्कुर के भेदों के परस्पर गुणन से अभिनवगुप्त के मत से तो शतकोटि भेद होते हैं। उन्होंने शंकुक के इस मत का खण्डन किया है कि सामान्याभिनय के शारीर भेद के कुल चालीस हजार ही भेद होते हैं। इन्हीं के द्वारा रसाश्रित अभिनयों की पूर्णता प्राप्त होती है।[4] पर यह सब शास्त्रीय महत्व का ही है।

---

१ ना० शा० २२।४४ ८०।

२ ना० शा० २२।८१ ५६ (ना० ओ० सी०)।

३ ना० शा० २२ ६० ७० (ना० ओ० सी०)।

४ कोटिशतान्यनेकानि भवन्ति।" न तु यथा श्रीशङ्कुकेनोक्त चत्वारिंशत् सहस्राणीत्यादि।
अ० भा० भाग ३, पृ० १८०।

इष्ट अनिष्ट या तटस्थ भावो का अनुभाव दिखाई देता है, वस्तुत उसमे मन के भाव ही प्रकट होते हैं न कि इन्द्रियो के।[1]

अभिनय की दृष्टि से मन के भाव तीन प्रकार के होते हैं—इष्ट, अनिष्ट और मध्यस्थ। इष्ट भाव का प्रकाशन गात्रो के प्रह्लादन, रोमाच और मुख की प्रसन्नता से होता है। यदि शब्द, रूप, रस और गध आदि विषय इष्ट होते हैं तो उसके प्रति सौख्य (सामुख्य) भाव का प्रदर्शन होता है। शिर को प्रत्यावृत्त (घुमाकर), नेत्र और नाक को पीछे की ओर आकर्षित करने, उधर न देखने से अनिष्ट भाव का अभिनय होता है। न तो अत्यन्त इष्ट हो न अत्यन्त जुगुप्सा का भाव हो तो मध्यस्थ भाव का प्रदर्शन होता है।[2]

सब भावो के मूल मे काम भाव

भरत ने भावो के अभिनय सम्बन्धी सिद्धान्तो का आकलन करते हुए इन्द्रियार्थ, इन्द्रियाँ और मन के परस्पर सम्बन्धो पर विचार करते हुए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय का निरूपण किया है जिसका सम्बन्ध नाट्यशास्त्र एव मानसशास्त्र दोनो ही से समान रूप से है। भरत ने इस विषय का समारम्भ करते हुए प्रतिज्ञा प्रस्तुत की है कि 'सब भावो की निष्पत्ति काम से होती है।' भाव इच्छा गुण-सपन्न होने पर अगणित रूपो मे परिकल्पित किया जाता है।[3] अतएव धर्मकाम, अर्थकाम, शृगारकाम और मोक्षकाम आदि अनेक रूपो के हमे भाव के दर्शन होते हैं। यो तो मनुष्य की इच्छाओ की कोई सीमा नही है और तदनुरूप भावो का ससार भी विशाल है। मनुष्य की प्रवृत्ति काम के अतिरिक्त धर्म, अर्थ और मोक्ष की ओर भी होती है परन्तु स्त्री पुरुष के भावो के योग से काम की प्रधानता रहती है। वस्तुत काम की प्रधानता नाट्य मे ही नही समस्त लोक मे है। यह कामभाव तो समस्त मानलोक को आच्छन्न किये रहता है।

भारतीय चिंतको ने स्त्रियो मे पुरुषो का और पुरुषो मे स्त्रियो का जो परस्पर स्वाभाविक स्नेह है उसको काम कहा है। स्त्री और पुरुष के इस स्वाभाविक आकर्षण और पारस्परिक स्नेह से प्रजनन आरम्भ होता है।[4] भरत की दृष्टि से स्त्री और पुरुष का यह योग ही काम होता है।[5] सुख दु खात्मक लोक के जीवन मे काम की प्रबलता रहती है क्योकि व्यसन (विपत्ति या दु ख) मे भी काम सुखदायक ही होता है। स्त्री और पुरुष का सयोग रति सुख देने वाला है। उपचार-कृत होने पर वही शृगार रस के रूप मे परिणत होता है तथा अमद आनन्द का सर्जन करता है। अत लौकिक जीवन मे काम की प्रधानता है। नाट्य के लोक जीवन का प्रतिरूप होने से उसमे भी काम की प्रधानता रहती ही है।

---

१ अ० भा० भाग ३, पृ० १८४।

२ ना० शा० २।८८ ६७ (गा० ओ० सी०)।

३ प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते। ना० शा० २२।६५।

४ स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा।
परस्पर कृत स्नेह स काम इत्यभिधीयते। शार्ङ्गधर १।६।

५ स्त्रीपुसयोस्तु य योग स काम इत्यभिधीयते। ना० शा० २२।६८।

करके, शिर को पार्श्वगत और तर्जनी अँगुली को कान के पास ले जाने से शब्द श्रवण का अभिनय होता है। आँखो का किंचित् संकुचित भौहो पर बाँकापन, गर्दन और कपोल के स्पर्श से स्पर्श का अभिनय होता है। हाथ का पताका मुद्रा में मूर्धस्थ कर अँगुलि को किंचित् गतिशील कर और किसी लक्ष्य को निर्निमेष भाव से नयनों से देखने पर रूप दर्शन का अभिनय होता है। दोनो नेत्रो को आकुंचित और नासिका को उत्फुल्ल कर एक उच्छवास से रस और गंध के प्रत्यक्षीकरण का संकेत होता है। अंगोपांगो पर प्रकट ये अनुभाव पाँचो इन्द्रियों के विषयो का संकेत करते हैं। वस्तुत इन विषयो का ज्ञान तो मन को ही होता है परन्तु माध्यम इन्द्रियाँ ही हैं। इन्द्रियो के माध्यम से मन ही इनका प्रत्यक्षीकरण करता है। और मनोदशा के अनुरूप ही इन्द्रियो द्वारा विभिन्न इष्ट अनिष्ट प्रतिक्रियायें प्रतिफलित होती हैं।[1]

इन्द्रियाँ और मन

भरत ने इन्द्रियो, इनके विषयो और मन के परस्पर सम्बन्धो पर भी सूत्र रूप में विचार किया है। उन्होने सामान्याभिनय के विवेचन के प्रसंग में आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि सब अभिनयो के माध्यम से मनुष्य के सत्व (हृदयस्थ भाव) का ही प्रकाशन होता है। यहाँ इसी महत्त्वपूर्ण विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है। भरत की दृष्टि से इन्द्रियो द्वारा जिन अनुभावो की व्यंजना होती है वे अनुभाव मात्र इन्द्रियो के ही नहीं हैं, वे इन्द्रियसहित मन के हैं। इन्द्रियाँ तो मन की सुख-दुखात्मक प्रतिक्रियाओ के प्रतिफलन के साधन हैं। इन्द्रियो के माध्यम से मन इष्ट अनिष्ट भावो का अनुभव करता है और उन्ही के द्वारा वह अभिव्यक्ति भी प्रदान करता है। मन से विच्छिन्न होने पर स्वतन्त्र रूप इन्द्रियो को कोई अनुभव नही होता। यही कारण है कि मन यदि किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न रहता है तो सम्मुख स्थित विषयो का प्रत्यक्षीकरण नही होता।[2] वस्तुत मन के माध्यम से ही निर्विकारात्मक आत्मा से भी इन विषयो के प्रत्यक्षीकरण का सूक्ष्म सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। भारतीय दर्शन एवं उपनिषदो में इन्द्रियो, मन एवं आत्मा के परस्पर सम्बन्धो एवं उत्तरोत्तर विकासशील अवस्थाओ पर बडी गम्भीरता से विचार किया है। कठोपनिषद के चिन्तक ऋषि के अनुसार इन्द्रियो से परे मन और मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे आत्मा का स्थान है।[3] यद्यपि स्वयं इन्द्रियाँ भी बडी प्रबल होती हैं, मन को विषयो की ओर प्रवृत्त करती हैं। मन लौकिक विषयो का प्रत्यक्षीकरण या अनुभव इन्ही पाच इन्द्रियो द्वारा करता है। इन्द्रियाँ तो मन तक विषय गत अनुभूति (रस) के प्रवेश के मार्ग द्वार हैं। भावो के स्पन्दन और कम्पन तो वस्तुत उस मानस सागर में ही होते हैं। सांख्य और वैशेषिक दर्शनो के अनुसार भी मन और इन्द्रियो का यही सम्बन्ध है। इन्द्रियाँ प्रत्यक्षीकरण का माध्यम हैं और वास्तव में मन ही तो इन विषय रसो का अनुभव करता है। अत नाट्य में पंचेन्द्रियो द्वारा जो विविध

---

१ शब्द, स्पर्शं, रूप च रस गंध तथैव च।
इन्द्रियार्थोन्द्रियार्थांश्च भावैरभिनयेद् बुध। ना० शा० २२।८१-८५ (गा० ओ० सी०)।

२ इन्द्रियार्थाः सुमनसो भवन्ति ह्यनुभाविन।
न चास्त ह्यमना किंचिद् विषय पंचधा गतम्॥ ना० शा० २२।८७ (गा० ओ० सी०)।

३ इन्द्रियाणि पराण्याहु इन्द्रियेभ्य पर मन।
मनसस्तु परा बुद्धि यो बुद्धे परतस्तु स॥ गीता ३।४२, क० उप० ३।४।

उदयास्त, नदी, समुद्र, पर्वत और जल प्रलय आदि प्राकृतिक विभूतियों की भव्यता और विराटता, हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुओं की मनोहारिता और मनुष्य की विभिन्न मनोदशाओं को रूप दिया जाता है। प्रकृति के नाना रूपों और मन की विभिन्न अन्तदशाएँ इस चित्राभिनय की पद्धति से प्रत्यक्षवत् वहाँ प्रस्तुत होती हैं। भरत की दृष्टि से जनान्तिक, अपवारित, स्वगत और आकाशवचन की नाट्यधर्मी विधियाँ इसी चित्राभिनय पद्धति के द्वारा नाट्य में प्रयुक्त होती हैं। अतः प्राकृतिक पदार्थों, ऋतुओं की सुन्दरता और भव्यता तथा मनुष्य की मनोदशा आदि सबके प्रदर्शन करने के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

परंपरा—चित्राभिनय की परंपरा भरत ने आरम्भ की, अभिनवगुप्त ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता और उपयोगिता का समर्थन किया है। भोज ने भी किंचित् दुर्बल स्वर में पाँचवाँ अभिनय में चित्र अभिनय को मान्यता दी है। परन्तु वे आंगिक अभिनय से इसे भिन्न नहीं मानते।[1] यही कारण है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसका खण्डन किया है।[2] धनंजय, विश्वनाथ और सिंगभूपाल आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है। यद्यपि धनंजय ने चित्राभिनय के अन्तर्गत प्रतिपादित जनान्तिक, स्वगत आदि का विवेचन कथावस्तु के तीन अंगों के अन्तर्गत किया है।[3] इन्हीं आचार्यों के स्वर में राघवन् भी इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है।[4] परन्तु इस अभिनय विधि में कल्पना और प्रतीक का जैसा समुचित विधान किया गया है तथा उसके प्रयोग के अभिनय में सौन्दर्य और चमत्कार का जैसा समावेश होता है उसको दृष्टि में रखकर इसकी स्वतन्त्र उपयोगिता तो अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

चित्राभिनय की लोकात्मकता

प्रकृति एवं लोक-जीवन पर आश्रित चित्राभिनय में कल्पना और अनुभूतिशीलता का ममस्पर्शी सामंजस्य रहता है। लोक जीवन का सुख दुःखात्मक रूप ही तो नाट्य में प्रतिफलित होता है। प्रयोगकाल में लोक परंपरा और प्रकृति जीवन के विविध रूपों से अनुप्राणित रहने पर ही कवि या प्रयोक्ता की समृद्ध कल्पना प्रेक्षक के लिए ग्राह्य और संवेद्य होती है। वस्तुतः समृद्ध कल्पना और अनुभूतिशीलता दोनों अनुबद्ध हो नाट्य में गति और प्राण देते हैं। इस प्राण का स्रोत सुख दुःखात्मक लोक जीवन ही है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ, विविध भावों तथा शीलवैचित्र्य की भूमिका में मनुष्य की जैसी आंगिक प्रतिक्रिया प्रकृति और शेष-जगत् के पदार्थों के प्रति होती है उसी को कलात्मक और नाट्य रूप दिया जाता है। रंगमंडप पर उसे प्रस्तुत करते हुए उसमें चित्र के समान साक्षात्कार सा आनन्द आता है। यद्यपि वे वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत नहीं भी होतीं। अतः चित्राभिनय में कल्पना और अनुभूतिशीलता दोनों का योग रहता है और यह लोकानुप्राणित रहता है,[5] लोकविच्छिन्न नहीं।

---

१ सरस्वती कण्ठाभरण २।१५०।

२ यस्तु पंचमं चित्राभिनयं प्रोक्तं सोऽप्यंगोपांगकर्म विशेषरूपत्वात् आंगिक एवान्तर्भवति। ना० द०, पृ० १६१।

३ द० रू० १।२३, सा० द० ६।१२-१।

४ वी० राघवन्, भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० ६०४।

५ लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा। ना० शा० २८।१२१ (गा० ओ० सी०)।

चित्राभिनय

स्वरूप, सीमा और परम्परा

स्वरूप—भरत ने चित्राभिनय का स्वतन्त्र रूप से पच्चीसवें अध्याय म विवेचन किया है। सामान्याभिनय की अपेक्षा यह भिन्न है। यह दोनों की परिभाषाओं से भी स्पष्ट है। सामान्याभिनय का सम्बन्ध चारो प्रधान अभिनयों से है, चित्राभिनय का मुख्य रूप से आंगिक अभिनय से।[1] यद्यपि इस भिन्नता के आधार को मनमोहन घोष महोदय सवथा अस्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि स चित्राभिनय म प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मुद्राओ द्वारा चित्रात्मक प्रभाव का सजन होता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से विभिन्न अभिनयो का इसमे व्यामिश्रण होता है।[2] वस्तुत नाटय प्रयोग को कल्पना-समद्ध एव प्रभावशाली रूप मे प्रस्तुत करने के लिए आंगिक एव विभाव आदि अभिनयों के सम्बन्ध म कुछ विशिष्ट विधियों, प्रतीकों और कल्पनाओं का विधान भरत ने किया है। इनके समुचित प्रयोग से अभिनय म वचित्र्य और सौन्दय का सृजन होता है, इसीलिए इस नयी अभिनय विधि का विधान किया गया है।

सीमा—यद्यपि आंगिक अभिनय के माध्यम से ही चित्र अभिनय को रूप दिया जाता है परन्तु इसकी सीमा बहुत व्यापक है। इसके द्वारा प्रभात सध्या रात्रि सूय और चन्द्र का

---

१ (क) सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागग सत्वज । ना० शा० २२।१ (गा० ओ० सी०)।
(ख) अगाधभिनयस्यैव यो विशेष क्वचित् क्वचित ।
अनुक्त उच्यते चित्र स चित्राभिनय स्मृत । ना० शा० २५।१ (गा० ओ० सी०)।

२ Abhinava Gupta makes scholastic discussion on the justification of the Chitrabhinaya But this does not appear to be convining The term seems to hint at the pictorial effect of the direct or indirect use of gestures and may be explained as Chitratwatam Abhinayasa
—M M Ghosh, N S (Eng Trans), p 493 footnotes

दिशाएँ और ग्रह-नक्षत्र आदि का अभिनय पाश्व संस्थित 'स्वस्तिक' हाथो को उत्तान कर शिर को ऊपर उठाकर देखने से होता है। अभिनय के क्रम म प्राकृतिक वस्तुओ के अनुरूप दृष्टि का भी भाव परिवर्तित होता रहता है क्योकि जिस वस्तु को प्रयोक्ता देखता है, उसके प्रति मन की प्रतिक्रिया तो नयनो म बहुत स्पष्टता से प्रतिफलित होती है। परन्तु भूमिस्थ वस्तुओ का सकेत नीचे की ओर देखने से होता है। अगोपाग की शेष मुद्राएँ पूर्ववत् रहती है। स्पश ग्रहण तथा रोमाच के प्रदशन द्वारा चन्द्रमा की धवल ज्योत्स्ना, सुखद वायु, मधुर रस और गध का, वस्त्राव गुठन द्वारा सूय, धूल, धूम का, अग्नि की छाया की अभिलाषा द्वारा भूमि के ताप और उष्णता का, ऊपर की ओर देखने से मध्याह्न के सूय का, विस्मयपूण विचारो द्वारा उदय और अस्त का, गात्र के स्पश और पुलक द्वारा सौम्य एव सुखयुक्त भावो का, असस्पश, मुख के अवगुठन एव उद्वेग द्वारा तीक्ष्ण रूप का तथा साहस, गव और सौष्ठवयुक्त गात्रो के द्वारा गभीर और उदात्त भावो का (अभिनय) होता है। विद्युत् उल्का, मेघगजन विस्फुलिंग और प्रकाश आदि का अभिनय त्रस्त अग और आँखो के निमेष द्वारा होता है।[1]

उपयुक्त प्राकृतिक पदार्थों एव परिस्थितियो का भारतीय नाट्य म निर्बाध रूप से प्रयोग होता आया है। शूद्रक के मृच्छकटिक म वर्षा और मेघगजन के दृश्य,[2] भास के चारुदत्त म उन्नीयमान चन्द्रमा,[3] अभिज्ञानशाकुतल म उदयास्त होते सूय-चन्द्रमा का[4] तथा प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' म उल्कापात द्वारा शकराज[5] एव स्कदगुप्त म कुमारगुप्त की मृत्यु का सकेत हुआ है।[6] प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल के नाटको म भौतिक पदार्थों की योजना प्रभाव वृद्धि आदि के लिए हुई है। भरत ने उनके लिए विशिष्ट प्रतीको के प्रयोग का विधान किया है जिसका प्रभाव भारतीय नाटको की निर्देशविधि पर भी परिलक्षित होता है। अभिज्ञान शाकुतल के प्रथम अक और स्वप्नवासवदत्तम् के चतुथ अक म भ्रमरो का सकेत घबराहट और सभ्रम द्वारा तथा शरत्कालीन सूय के तेज का अभिनय छाया की अभिलाषा द्वारा हुआ है। मृच्छ कटिक की वसन्तसेना और प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी का मिहिरदेव ऊपर की ओर देखकर—मेघ सूय और चन्द्र तथा उल्का का अभिनय करते है। शिष्य तो चन्द्रास्त और सूर्योदय का प्रभावक दृश्य देख लोक प्रचलित व्यसनोदय की उदात्त कल्पना करत हैं।[7]

---

१ ना० शा० २५।३२१ (गा० ओ० सी०)।

२ चारुदत्त, अक १। उदयति हि शशाक क्लिन्नखर्जूरपाण्डु।

३ यात्यस्तोन्नं शिखर पतिरोषधीनाम्,
आविष्कृतोऽरुण पुरस्सरएकतोऽर्क। अ० शा० अक ४।१

४ (मिहिरदेव—उठकर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती, वह देख, नील लोहित रग का धूमकेतु अविचल भाव मे इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक सकेत कर रहा है। ध्रुवस्वामिनी, अक २, पृ० ४४।

५ स्कन्दगुप्त, अक १, पृ० ३२।

६ अ० शा०, अक १।

७ (क) विदूषक—(उर्ध्वमवलोक्य) ही ही शरत्काल निर्मले अन्तरिक्षे सारसपक्ति यावत् समाहित गच्छन्ती देखता तावद्भवान्। स्व० वा० अ० ४।
(ख) स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी—वही।

चित्राभिनय में प्रतीकविधान

कथावस्तु के आग्रह से नाट्य प्रयोग में क्रम में वर्षा, जल प्रलय हाथियों और मृगों का आखेट सिंहशावकों के साथ खेल युद्ध ऊबड़ खाबड़ भूमि पर रथों की तीव्रगति चाँदनी और खिलती धूप आदि का रगमच पर प्रयोग एक जटिल समस्या बनी रहती है। प्राचीन भारतीय नाटकों में लौकिक और प्राकृतिक पदार्थों एवं प्राणियों को स्थान दिया गया है। अभिज्ञान शाकुन्तल में नायक रथारूढ़ हो मृग का आखेट करता है। हाथी लताप्रतानों में उलझता है और हरिणों के झुंड शान्त उपवनों में चौकड़ी भरते फिरते हैं।[1] नदी और उपवनों की रमणीय दृश्यावली आती है। प्रसाद के नाटक चित्राभिनय की प्रयोग पद्धति के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते है। केवल चन्द्रगुप्त में ही प्रासाद दुर्ग शिविर नदी तट नाव और सिंह आदि के अनेक प्रत्यक्ष दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। निश्चय ही इन प्रयोगों की जो कठिनाई हो पर दृश्य विधान तथा कथावस्तु में प्रभावशालिता अवश्य ही आ जाती है। स्कन्दगुप्त के अनेक दृश्य नदी तट। वन पथ। दुर्ग या अन्त पुर में ही अभिनीत होते हैं।[2] ये सब मन भावन दृश्य किस प्रकार नाट्य-रूप में रगमच पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं? आधुनिक रगमचों पर वर्षा धूप, चाँदनी और रात्रि आदि के प्राकृतिक दृश्य प्रकाश और छाया की नयी वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। प्राचीन काल के भारतीय रगमचों की एक सीमा थी, उनमें सब प्रकार के प्राकृतिक दृश्य एवं भौतिक पदार्थों के प्रयोग की सभावना ही नहीं की जा सकती है। आहार्याभिनय के अन्तगत प्रतिपादित पुस्त एवं सजीव विधियाँ द्वारा निर्जीव एवं सजीव प्राणियों को भी प्रस्तुत किया जा सकता था। निर्जीव या सजीव पदार्थों को कृत्रिम रूप में प्रस्तुत करने की प्रणालियाँ आहार्यज होने के कारण नितान्त सिद्ध होती हैं। पर चित्राभिनय के अन्तगत अभिनेय सकेतात्मक सारा व्यापार पात्र द्वारा रगमच पर साध्य होता है। पात्र के लिए कौशल प्रदर्शन का पूर्ण अवसर होता है। अतएव भरत ने लौकिक एवं प्राकृतिक पदार्थों एवं विविध भाव दशाओं के सूचन के लिए प्रतीकों का भी विधान किया है। ये प्रतीक भी लोक परपरा एवं व्यवहारों पर आश्रित हैं। इन प्रतीकों के प्रयोग से रगमचीय योजना सरल हो जाती है और अनुभवगम्य भी। रथारोहण या जलसतरण आदि के दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए कुछ ऐसे आंगिक अभिनयों का प्रयोग किया जाता है कि उन वस्तुओं के कृत्रिम रूप में भी प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं रहती और प्रेक्षक उन प्रतीकों द्वारा उन अप्रस्तुत वस्तुओं या पदार्थों की उपस्थिति का अनुभव करने लगता है। चित्राभिनय इन्हीं प्रतीक विधियों और कल्पना पर आश्रित है। यहाँ हम कुछ प्राकृतिक पदार्थों और तदनुरूप प्रतीकों का उल्लेख कर रहे हैं जिनके द्वारा अभिनय में चित्रात्मकता का सजन होता है।

प्राकृतिक पदार्थों का चित्रात्मक अभिनय

प्रभात गगन रात्रि सध्या, दिवस, ऋतुओं, मेघमालाओं वन प्रान्तर, विस्तत जलाशय

---

१ अ० शा०, प्रथम एवं द्वितीय अक।

२ चन्द्रगुप्त, पृ० ६०,६२ ६६,६७,६६ ७१,११२ ११७ भारती भडार १२वाँ सस्करण २०१७ वि०।

(क) एक नाव तेजी से आती है, उस पर से अलका उतर पड़ती है—चन्द्रगुप्त पृ० २४१

(ख) स्कन्दगुप्त, पृ० १६ ४२,४७,७४,६३,६७ ८१ १२३।

(ग) वही १,३,४,६,७, २।४,५,६, ३।१,४,८,६।

और ऊनी वस्त्रो की अभिलाषा तथा गात्र के सकोच द्वारा हेमन्त का अभिनय होता है। शिर, दाँत और ओष्ठ के कपन और गात्र सकोचन आदि के द्वारा अधम पात्र शिशिर ऋतु का अभिनय करते हैं। परन्तु दवयोग से यदि उत्तम पात्र विपत्तिग्रस्त हो, तो वे भी शिशिर ऋतु का अभिनय इन विधियो से करते हैं। इसमे ऋतुज पुष्पो की सुगध लेने से इस ऋतु का सकेत होता है। नाना प्रकार के प्रमाद, उपभोग और सुखदायक कृत्यो का प्रदर्शन, एव पुष्प प्रदर्शन द्वारा वसन्त ऋतु का, स्वेद प्रमार्जन, भूमि के ताप, पखा के प्रयोग तथा उष्ण वायु के स्पर्श द्वारा ग्रीष्म ऋतु का, कदम्ब, निम्ब कुटज, हरी हरी घास, वीर बहूटियो और मूर्धा के गम्भीर नाद द्वारा वर्षाकाल का और धारासार वर्षा, बिजलियो की कौंध और तडतडाहट से वर्षा की घनी अँधेरी रात का सकेत होता है।[1]

ऋतुओ का रसानुग प्रदर्शन

इन प्रतीको का प्रयोग भारतीय नाटककारो ने यथावसर किया है। जिस ऋतु का जो चिह्न, वेश, कर्म और रूप हो, उसका प्रदर्शन इष्ट और अनिष्ट के दर्शन के अनुरूप उन्ही प्रतीको के द्वारा होना चाहिये। ऋतुओ की सत्ता तो मनुष्य के मन से स्वतत्र है, परन्तु उनके प्रति मनुष्य के मन की प्रतिक्रिया तो उसकी सुख दुखात्मक स्थितियो के अनुरूप ही होती है। अत ऋतुओ का प्रदर्शन रसानुग होना चाहिए। चित्त के क्लेश युक्त होने पर सुखदायक प्रकृति का रूप भी दाहक दुखद मालूम पडता है। शकुन्तला की विरह पीडा मे सतप्त दुष्यन्त को चन्द्रमा की शीतल स्निग्ध किरणें अग्नि वर्षा करती मालूम पडती हैं और काम के पुष्प-बाण वज्र से कठोर और तीखे लगते हैं।[2] इसी वस्तुस्थिति को दृष्टि मे रखकर भरत ने यह स्पष्ट विधान किया है कि मनुष्य जिस सुख या दुख के भाव से आविष्ट रहता है उसी के अनुरूप उन प्राकृतिक पदार्थो और रूपो के प्रति उसकी प्रतिक्रिया भी तदनुरूप ही होती है। अत नाट्य प्रयोग काल मे ऋतुओ का अभिनय करते हुए मनोभावो के अनुरूप ही उन प्रतिक्रियाओ का प्रदर्शन होना चाहिए।[3]

मनोभावो के प्रदर्शन की प्रतीकात्मक विधियाँ

नाट्य प्रयोग मे मनोभावो के प्रदर्शन की प्रधानता रहती है। भरत ने भावाध्याय, सामान्याभिनय और चित्राभिनय मे मनोभावो के प्रदर्शन के सम्बन्ध मे नाट्योपयोगी प्रयोग विधियो का विधान किया है। इनकी विशेषता यह है कि अगोपागो के सचालन तथा आकृति पर सहज रूप से प्रकट मुखराग आदि के द्वारा विविध भावो का प्रदर्शन होता है। मनोभावो का प्रदर्शन विभावो और अनुभावो दोनो द्वारा ही होता है। विभाव से सबधित कार्यो का प्रदर्शन अनुभव के माध्यम से होता है। भाव का सबध आत्मानुभव से है और अनुभाव का सम्बन्ध दूसरे

---

१ ना० शा० २४।२८ ३६।

२ अ० शा० ३।३।

३ एतानृतूनर्थवशात् दर्शयद्धि रसानुगान्।
सुखिनस्तु सुखोपेतान् दुखार्तान् दुखसयुतान्।
योयेन भावेनाविष्ट सुखदेनेतरेण वा।
स तदाहितसस्कार सर्वं पश्यति तन्मयम्॥—ना० शा० २५।३८ ३६

पशुओ के अभिनय के लिए प्रतीक

सिंह, व्याघ्र, वानर तथा अन्य श्वापदो को रगमच पर प्रतीक विधि द्वारा प्रस्तुत करने का विधान भरत ने किया है। दोनो हाथ स्वस्तिक स्थित हो 'पद्मकोश' की मुद्रा मे अधोमुख हो इन वन्य पशुओ का सकेत विहित है। पद्मकोश मे हाथो की अँगुलियाँ कुचित हो जाती है। ऐसा भयवश होता है। आकुचित हस्तागुलियो द्वारा उक्त श्वापदो के प्रति भय का अनुभव प्रकट होने के कारण उनकी उपस्थिति का सकेत किया जाता है।[१] इन श्वापदो का प्रयोग भारतीय नाटको मे दृश्य रूप मे भी हुआ है। हर्ष की रत्नावली मे एक दुष्ट वानर के खुल जाने पर सारे प्रमद वन मे सभ्रम पदा हो जाता है। वह दुष्ट वानर पिंजरे को खोलकर सारिका को उडा देता है और सुकुमार प्रमदाओ की ओर बढता है।[२] अभिज्ञान शाकुतल मे शकुन्तला का पुत्र सिंह शावको के साथ खेलता है और चन्द्रगुप्त मे सिंह का प्रयोग कल्याणी—चन्द्रगुप्त के प्रमभाव तथा सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त को कृतज्ञता के बधन मे बाँधने का साधन बना है।[३]

ध्वज, छत्र और अस्त्र शस्त्र के द्वारा राज प्रभाव की समृद्धि

नाटको का तो नायक राजा होता है सेनापति, मत्री आदि समाज के प्रमुख व्यक्ति भी उसमे पात्र होते हैं। ध्वजा, छत्र तथा अस्त्र शस्त्रादि के प्रयोग द्वारा भी नाटय प्रयोग मे राजसी प्रभाव का सृजन किया जाता है। भरत ने आहार्य विधियो द्वारा इन राजसी प्रभावो के उत्पन्न करने का विस्तृत विधान प्रस्तुत किया है। परन्तु बोझिल वस्तुओ का धारण करना नाटय प्रयोग की दृष्टि से अनुपयुक्त माना है क्योकि उनको धारण करने से पात्र श्रान्त हो जाते हैं। श्रान्त होने पर उपयुक्त अभिनय सपन्न नही हो सकता। नाटय प्रयोग के लिए उतनी सामग्री भी जुटाना सरल नही है। राज भवनो से बाहर भी नाटय प्रयोग होते रहे है। सामान्यजन के प्रयोग के लिए राज प्रभाव की ऐसी बहुमूल्य सामग्रिया नही पाई जाती। अतएव भरत ने इन व्यावहारिक कठिनाइयो को दृष्टि मे रखकर इनके लिए भी प्रतीको का विधान किया है जिससे बिना किसी जटिलता के ये पदार्थ भी प्रतीकात्मक रूप मे अभिनय हो सकें। केवल दण्डधारण मात्र से इन राज प्रभाव सबधी वस्तुओ का सकेत हो जाता है।[४]

ऋतुओ का अभिनय

प्राचीन भारतीय जीवन मे ऋतु शोभा को बडा महत्त्व दिया है। नाटय मे ऋतु शोभा का प्रयोग अपवाद नही है। शाकुन्तल मे ग्रीष्म स्वप्नवासवदत्तम मे शरत् चारुदत्त और मृच्छकटिक मे वर्षा का नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत हुआ है।[५] भरत ने नाटय प्रयोग मे ऋतुओ को प्रतीकात्मक अभिनय का विस्तृत विधान किया है। दिशाओ की प्रसन्नता नाना प्रकार के रग बिरगे फूलो के प्रदर्शन और इन्द्रियो की स्वस्थता द्वारा स्वस्थता द्वारा शरत् ऋतु का, सूर्य अग्नि

१ ना० शा० २६।७८ (गा० ओ० सी०)।

२ एष खलु दुष्टवानर इत एवागच्छति। रत्नावली अक २।

३ अ० शा० अक ७ तथा चन्द्रगुप्त अक १ एव ३।

४ ना० शा० २१।२३ (गा० ओ० सी०)।

५ अ० शा० अक १,३, स्वप्नवासवदत्तम् अक ४।२, मृच्छकटिक, अक ५।

है। पुरुष दु ख प्रदशन लम्बी श्वासें लेते हुए, नीचे की ओर मुख कर चिन्तामग्न हो करता है या आकाश की ओर देखकर दव को दोष देता है। परन्तु स्त्री तो रोते, लम्बी साँसें लेते, शिरोभिहनन, भूमिपात और शरीरताडन द्वारा अपना दु ख प्रकट करती है। आनन्दज या दुखज रुदन का प्रयोग स्त्री पात्रो मे ही उचित है पुरुषों म नही। पुरुष के भय का अभिनय सम्भ्रम (घबराहट) शीघ्रता की चेष्टाओ, शस्त्र सपात तदनुरूप धय आवेग और बल प्रदशन द्वारा होता है। परन्तु स्त्री के भय भाव का प्रदशन तो सत्रस्त हृदय के कारण दोना पार्श्वों म अवलोकन पति का अन्वेषण, जोरो स आक्रन्दन तथा प्रिय के आलिगन द्वारा सम्पन्न होता है।[1] विट और शकार द्वारा पीछा करने पर वसन्त सेना पलत्वक और परभृत्तिका को पुकारती हुइ उद्विग्न, चचल, कटाक्ष से दोना पार्श्वों म देखती हुई व्याधानुसृत चकित हरिणी सी अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए पलायन करती है।[2] परन्तु स्कन्दगुप्त की देवसेना की हत्या का षडयन्त्र प्रपचबुद्धि कार्यान्वित करता है और वह अकस्मात् स्कन्दगुप्त के प्रस्तुत होने पर उसका आलिगन कर बठती है।[3] स्त्री एव पुरषो के विभिन्न भावो का अभिनय उनकी सुकुमार एव पुरुष प्रकृति को दृष्टि म रखकर करना उचित होता है। ललित सुकुमार भावो का प्रयोग स्त्रियो द्वारा एव धय माधुय सम्पन्न भावो का प्रयोग पुरुषो द्वारा होना चाहिये।[4]

लौकिक प्राणियो और पदार्थों का अभिनय

भावो के प्रदशन के लिए प्रयुक्त प्रतीकों का विधान करते हुए शुक, सारिका, सारस, और मयूर, हिंस्र जन्तु भूत पिशाच, देव, पवत और गुहा आदि के लिए भावगम्य सकेतो का विधान किया है। शुक, सारिका जसे सूक्ष्म एव मयूर, सारस और हसो का रेचक अगहारो से, उष्ट्र, सिंह और व्याघ्र आदि का उन्ही के अनुसार गति प्रचार और अग रचना से अभिनय सम्पन्न होता है। भूत, पिशाच, यक्ष, दानव और राक्षस आदि का निर्देश या तो तदनुरूप अगहारो द्वारा सम्भव है अथवा नामनिर्देश स भी उनका सकेत सम्भव है।[5] यदि य नाट्य-कथा क प्रयोजनवश रगमच पर साक्षात उपस्थित होने योग्य हो तो विस्मय-युक्त भय और उद्वेग के प्रदशन द्वारा उनकी उपस्थिति का अभिनय उचित होता है।[6] इसी शली म देवो के अदृश्य रहने पर प्रणाम एव भावानुरूप चेष्टा प्रदशन द्वारा उनका अभिनय होता है। यदि मनुष्य भी अदृश्य हो तो उसका अभिनय दायी ओर स 'अराल' मुद्रा म हाथ उठाकर ललाट का स्पश करना उचित होता है। परन्तु देव, गुरु, प्रमदा रगमच पर प्रत्यक्ष रूप म प्रस्तुत हो तो 'खटका', 'वधमानक' और 'कपोत' मुद्राओ के माध्यम से उनका अभिनन्दन करना उचित होता है। उनकी उपस्थिति के बोध म गम्भीर भाव एव वातावरण के प्रभाव की योजना उचित होती है। पवतो का प्राशुभाव,

---

१ ना० शा० २५ ४२ ६६, का० मा०।

२ मृच्छकटिक, अक १, पृ० १५ २०।

३ स्कन्दगुप्त, अक ३ पृ० ८८।

४ सर्वे सललिता भावा स्त्रीभि कार्या प्रयत्नत ।
धैर्यमाधुर्यं सम्पन्ना भावा कार्यास्तु पौरुषा ॥ —ना० शा० २५।६६ ६७ क (गा० ओ० सी०)।

५ ना शा० २२।६८ ७० (गा० ओ० सी०)।

६ ना० शा० २५।७१ क (गा० ओ० सी०)।

के प्रति उठने हुए आत्म भावों के प्रदर्शन से है। अतः मनुष्य के सुख दुःख का ज्ञान रूप ही भाव है। भाव संवेदनात्मक होता है। उदाहरण के रूप में गुरु, मित्र, प्रेमी, सम्बन्धी और बन्धु के आगमन का आवेदन तो विभाव होता है और आसन से उठकर अर्घ्य, पाद्य और आसनदान आदि द्वारा स्वागत-सत्कार और आदरपूर्वक आसन आदि से उठने की सारी प्रक्रिया अनुभाव है। इसी प्रकार दूत के संदेश का प्रतिसंदेश भी अनुभाव ही होता है। इन्हीं पद्धतियों द्वारा नाट्य प्रयोग में भाव, विभाव और अनुभाव का संकेत यथोचित रीति से पुरुष एवं स्त्री पात्रों द्वारा भरत ने प्रस्तुत करने का विधान किया है।[1]

पुरुष एवं स्त्री की प्रकृति के अनुरूप भावों का प्रदर्शन

भरत ने भावों के प्रदर्शन का विधान करते हुए इस तथ्य का भी विचार किया है कि पुरुष एवं स्त्री के शरीर एवं मन की प्रकृति एक-दूसरे से कई दृष्टियों से भिन्न होती है। अतएव भावों और वस्तुओं का उनके मनों पर प्रतिफलन भिन्न रूप में होता है। शकुन्तला भ्रमरों को देखकर अपनी सुकुमार वृत्ति के कारण भय का अनुभाव प्रदर्शित करती है। परन्तु शासक दुष्यन्त तो तपोवन में आखेट के लिए ही आये हैं। सेनापति के शब्दों में हिंस्र पशुओं के आखेट से शरीर में तेज और मन में विनोद उत्पन्न होता है।[2] अतः स्त्री और पुरुष के प्रवृत्तिगत मौलिक अन्तर को दृष्टि में रखकर भरत ने दोनों के लिए भिन्न गति एवं अनुभाव आदि का विधान किया है। स्वाभाव का अभिनय करते हुए पुरुष का स्थान वैष्णव होता है। उनके हाथ पाँव आदि का संचरण धीर एवं उद्धत होता है। परन्तु स्त्रियों का स्थान (खड़े होने की मुद्रा) आयत या 'अवहित्थ', अंगों की चेष्टाएँ मृदु और ललित होती हैं। प्रयोग के प्रयोजन से अन्य रूपों में भी स्त्री-पुरुषों के भावों का अभिनय संभव है। स्त्री एवं पुरुष पात्रों के भाव प्रदर्शन रस और भाव के संदर्भ में होने पर नाट्य में अपेक्षित प्रभाव का सृजन करते हैं।[3]

भाव प्रदर्शन की प्रयोग विधियाँ

सुख दुःखात्मक मनोभावों का प्रदर्शन शरीर की किन चेष्टाओं और अनुभाव आदि द्वारा प्रस्तुत किया जाय, भरत ने इसके सम्बन्ध में निश्चित प्रमाणों का विधान किया है। इनसे भरत की सूक्ष्म प्रयोग दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। गात्रों के आलिंगन सस्मित नयन और पुलक प्रदर्शन द्वारा हर्ष का अभिनय सामान्य रूप से होता है। परन्तु हर्ष का अभिनय करती हुई नर्तकी के अंग प्रत्यंग पुलकित हो उठते हैं। नेत्रों में आनन्दाश्रु उमड़ते रहते हैं और वाणी में मधुर हास्य फूटता रहता है। मालविकाग्निमित्र में नृत्य करती हुई मालविका के नयन उत्फुल्ल हैं और वदन शरत्कालीन चन्द्रमा की कान्ति-सा शुभ्र और स्निग्ध है। क्रोध भाव के प्रकाशन में पात्र की आँखें फैली हुई लाल रहती हैं और वह अधरों को दाँत से बार-बार काटता है वेगातुर निःश्वास तन में अंग निरंतर काँपता रहता है। क्रोध में स्त्री का सिर काँपता है भौंहें तन जाती हैं माल्य आभरण त्याग देती है मौन हो अंगुलि नग्न करती रहती है और 'आयत' स्थान में स्थित रहती

---

[1] ना० शा० २४।८० ८९ (गा० ओ० सी०)।

[2] दृष्टा परित्रासार्थां मालविन मधुकरय अभिभूयमानाम्। अ० शा० अंक १ तथा २।८।

[3] सस्वरम सस्मितम् स्त्रीणां आनन्दरोदनम्।
नराणां प्रमदानां च नावालिंगनपूर्वक॥ ना० शा० ८।८१, (गा० ओ० सी०)।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है।[1] आकाश भाषित का प्रयोग अधिकतर भाण म होता है। इस अभिनय शिल्प के द्वारा एक ही पात्र दो पात्रो का काम पूरा कर देता है। भारतेन्दु के नाटको म इस शिल्प का तो प्रयोग हुआ ही है, प्रसादजी ने परीक्षण के तौर पर इसका प्रयोग प्रायश्चित्त' नामक नाटक मे किया है।[2]

आत्मगत

हृदय का भाव ही आत्मगत या स्वगत होता है। अत्य त हर्ष, मद रागद्वेष भय विस्मय और दु ख दग्ध होन पर पात्र जब अपने मनोभाव एकाकी प्रकट करना चाहता है तो आत्मगत *या स्वगत नामक अभिनय शिल्प की योजना होती है।*[3] इसकी कई विधियाँ हैं। कभी तो पात्र रगमच पर एकाकी होता है और अपने मनोभावो का प्रकाशन अन्य पात्रो की अनुपस्थिति म करता है। स्वप्नवासवदत्ता के तृतीय अक म उदयन पद्मावती के विवाह को देखकर वासवदत्ता का अन्तमन अत्यन्त पीडित है। इस ममस्पर्शी पीडा को वह एकान्त म ही प्रकट करती है।[4] प्रसाद के स्कन्दगुप्त म देवसेना, विजया, मातृगुप्त और स्कन्दगुप्त आदि कई प्रधान पात्रो ने स्वोक्ति शली म ही अपने गम्भीर दु ख और सवेदना प्रकट की है।[5] कभी कभी ऐसी जटिल परिस्थितियो की भी भारतीय नाटककारो ने कल्पना की है कि दो पात्र आपस म सवाद करते हुए मनोगत भावो को एक दूसरे पर प्रकट करने की स्थिति म नही होते। परस्पर प्रकट रूप म जसी सवाद योजना होती है उसके विपरीत हृदय के भाव होते है। स्वप्नवासवदत्ता के तृतीय अक म स्वगत की बडी ममस्पर्शी कोमल व्यजना हुई है। उदयन का विवाह पद्मावती से हो रहा है वासवदत्ता रगमच पर चिन्तित भाव म अपने हृदय की निराशा और अवसाद प्रकट कर रही है कि चेटी वही से आ पहुचती है और उदयन पद्मावती के शुभ विवाह के लिए कौतुक माला गूथन का आग्रह करती है। उस प्रसग म वासवदत्ता के हृदय म भी सवदना का स्रोत स्वगत शली म फूट पडता है।[6] यह छोटा सा प्रसग अत्यन्त करुण एव हृदय द्रावक है। अत ऐसी जटिल परिस्थितियो को रूप देने के लिए स्वगत की योजना होती है। ऐसी स्वगत योजनायें मुखराग द्वारा या पात्र से एक ओर हट कर सामाजिको के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं। अतएव भरत ने भी यह निर्देश किया है कि स्वगत की योजना विचारपूवक होनी चाहिये।[7]

अपवारितक

निगूढ भाव से सयुक्त वचन ही अपवारितक होता है। इसम पात्र अपना वक्तव्य (रहस्य) इस रीति से प्रस्तुत करता है कि वही पात्र उस वक्तव्य का सुन पाता है, जिसके लिए

१ ना० शा० २५।८६-८७ ना० मा० वही, का० स० २६ न० ८१, द० रू० १।६७।

२ सत्यहरिश्च द्र अक १, पृ० ७, ८, ९ आदि प्रायश्चित्त, (प्रसाद)।

३ ना० शा २५।८८ख ८९क।

४ स्वप्नवासवदत्तम् अक ३।

५ स्कन्दगुप्त, अक १, पृ० २३ ब। पृ० ८९, ४।१२३, चन्द्रगुप्त अक १, पृ० ७१, ३।१३७।

६ वासवदत्ता—(आत्मगत) क्या मुझे यह भी करना होगा ? आह ! विधाता कितने निर्दय हैं (चिन्ता म लीन)। स्वप्नवासवदत्तम्, अक ३।

७ सवितर्क च तद्यो य प्रायशो नाटकादिषु। ना० शा० २५।८८-८९।

ऊचे वृक्षो का प्रसारित बाहुआ द्वारा, विशाल समुद्र और सेना का उत्तिप्त पताका हाथो द्वारा अभिनय सम्पन्न हो पाता है।[१] काम पीडित, शापग्रस्त और ज्वरोपहत व्यक्तियो का अभिनय तदनुकूल चेष्टाओ द्वारा होता है।[२] रगमच पर दोला का सकेत रज्जु आदि के ग्रहण मात्र से हो जाता है परन्तु दोला पर बैठकर झूलने का दृश्य हो और पुस्त विधि से उसकी रचना हुई हो तो पात्रो के उस पर बैठ जाने पर उसमे वेग देकर उचित गति देनी चाहिए।[3] श्री बेनीपुरी रचित 'अम्बपाली' के प्रथम दृश्य मे वसन्तोत्सव के मादक वातावरण का प्रभावशाली सृजन दोला पर बैठकर वसन्त गीत गाकर प्रस्तुत किया गया है।[४] गर्व, धैर्य, शूरता और उदारता आदि भावों का प्रदर्शन अरालमुद्रा मे ललाट के स्पर्श से अभिनीत होता है। इन अभिनय विधियो के प्रयोग से भरत की व्यापक नाट्य दृष्टि का सकेत मिलता है कि वे नाट्य मे भौतिक, प्राकृतिक और आकाशीय पदार्थों का यथासम्भव प्रयोग करना चाहते थे जिससे नाट्य कथा मे गति यथार्थता और प्रभावशालिता का सचार हो। इसलिए प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित, पुस्तविधि तथा प्रतीक-विधान के द्वारा नाट्य को पूर्णता प्रदान का प्रयास कर रहे थे। वस्तुत प्रतीक विधान भी केवल कल्पनाश्रित नही, वह लोक व्यवहाराश्रित है। विभिन्न परिस्थितियो वस्तुओ, ऋतुओ, जन्तुओ और आकाशीय पदार्थों के प्रति मनुष्य की जो आगिक प्रतिक्रियायें होती है उनका समीकरण और वर्गीकरण कर भरत ने शास्त्रीय रूप दिया है।

अभिनय के कुछ विशिष्ट शिल्प

नाट्य प्रयोग को शृखलाबद्धता और गति देने के लिए भरत ने कुछ विशिष्ट अभिनय शिल्पो का भी विधान किया है। उनका प्रयोग भारतीय नाटको मे प्रचुरता से किया गया है। ऐसी शैली के प्रयोग के द्वारा पात्र की अनुपस्थिति या अतीत की घटना तथा सीमित प्रेक्षको या पात्रो के लिए नाटकोपयोगी श्रव्य कथाशो का भी सकेत हो जाता है। आकाशभाषित, आत्मगत अपवारितक और जनातिक आदि प्रयोग ऐसे ही कुछ विलक्षण हैं, जो वास्तव मे जीवन प्रकृति के नितात अनुकूल तो नही होते हैं परन्तु नाट्यधर्मी प्रभाव से प्रयोग काल मे उनका ऐसा होना सम्भव मान लिया जाता है। धनजय ने इन्हे कथावस्तु को विकसित करने की विभिन्न तीन शैलियो के रूप में माना है।

आकाश-वचन

रगमच पर अप्रविष्ट पात्र से सवाद की योजना तथा प्रविष्ट पात्र से अन्तर्हित हो वाक्य की योजना होने पर 'आकाश वचन' होता है। यहा अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही उत्तर-प्रत्युत्तर शैली मे नाट्य प्रयोग से सम्बन्धित सवाद की योजना होती है। भास के चारदत्त मे सूत्रधार और विदूषक का सवाद 'कान्य भाव समुत्थित' ही है उनके दूरस्थ आभाषण से नायक की हीन दशा का परिचय हम प्राप्त हो जाता है। नायक की दरिद्रता चारुदत्त की कथावस्तु का

---

१ ना० शा० २६ ७२ ८४ (गा० ओ० सी०)।
२ वही २६।८२ख ८३ क (वही)।
३ वही २६।८३ख ८६क (वही)।
४ अम्बपाली, पृ० १ (श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी)।

है। प्रथम वेग म दुबलता, दूसरे म कम्प तीसरे म दाह, चतुथ मे विलल्लिका (लार का टपकना), पाचवें म मुह मे फेन आना, छठे म ग्रीवा भग, सातवें म नितान्त जडता और आठवें म मरण का अभिनय होना उचित होता है। अल्प भाषण से कृशता सर्वांग म कम्पन से कम्प, हाथ और शरीर को इधर-उधर फेंकने से दाह, ऊपर की ओर एकटक देखने, वमन तथा अव्यक्त अक्षरो के उच्चारण से विलल्लिका, नि सशता और निमष द्वारा फेन, शिर के कधा पर गिर जाने से ग्रीवा भग, सब इन्द्रियो के निष्क्रिय होने से जडता, नयनो के नितान्त मुद जाने से मरण का अभिनय होता है। वह व्याधि या विष के कारण भी हो सकता है।[1] इन सबम प्रतीकात्मक अभिनय का प्रयोग होता है।[1]

वृद्ध और बालक का अभिनय

गद्गद लडखडाते वचन वि यास से वद्ध का तथा अघूर तुतलाते मीठे शब्दो के द्वारा बालक का अभिनय सम्पन्न होता है। अभिज्ञान शाकुन्तल म शकुन्तला का बालक ऐसे ही तुतलाते वचनो का प्रयोग करता है।[2]

पुनरुक्तता

नाटय प्रयोग के क्रम म पात्र यदि घबराहट दोष, शोक और आवेशपूण परिस्थितियो के अनुरोध से कि हो शब्दो का बार-बार प्रयोग करता है तो पुनरुक्ति दोष नही होता। प्रशसा या दु खपूण परिस्थिति अथवा जिज्ञासा आदि के प्रसग मे उपयुक्त वचनो का भी दो-चार बार एक साथ प्रयोग उचित ही होता है। वहाँ भी पुनरुक्तता नही होती।[3] प्रतिज्ञायौगधरायण म उदयन के पकडे जाने पर महासेन का विस्मय, इस पुनरुक्त शली म अत्य त प्रभावशाली तथा भरत के नियमो के अनुरूप है।[4]

शास्त्र और सत्व के अनुरूप अभिनय

भरत ने चित्राभिनय का उपसहार करते हुए नाटय प्रयोग के लिए कुछ महत्वपूण सिद्धा ता का भी निर्देश किया है। भरत की दृष्टि से जो काव्य या प्रयोग पद पद पर विकृत तथा 'सधि आदि अगो से हीन हो वहा शास्त्रानुमोदित अभिनय का प्रयोग उचित नही होता। जिन उत्तम भावो का विधान उत्तम पात्रो के लिए शास्त्र म किया गया हो उनका प्रयोग नीच पात्रो द्वारा नही होना चाहिये और तदनुसार नीच पात्रो के लिए प्रयोज्य अधम भावो का अभिनय उत्तम पात्रो द्वारा कदापि नही होना चाहिये। ऐसा होने पर नाटय प्रयोग का अपेक्षित प्रभाव नही पडता। पृथक पृथक पात्रो के लिए निर्दिष्ट उत्तम अधम भाव एव रस का तदनुरूप प्रयोग होने पर ही नाटय प्रयोग मे राग का सृजन होता है। इन सारी अभिनय विधियो को सत्वातिरिक्तता से विभूषित करना उचित है। सत्व या मनोभाव की रागात्मक अभिव्यक्ति ही नाटय प्रयोग का

१ ना० शा० २५।६७-११० (गा० ओ० सी०)।
२ वही २५।६६, वही।
३ वही २५।१११ ११२।
४ प्रतिज्ञायौगधरायण, अक २, पृ० ७७।

वह प्रयुक्त हुआ है अन्य नहीं। अन्यों से इस वक्तव्य को अपवारित कर कहा जाता है।[१]

जनान्तिक

कार्यवश प्रयोक्ता पात्र अपने वक्तव्य को इतने ही पात्रों को कहता है जो उसके सुनने के अधिकारी हैं अन्य पार्श्वगत भी उसे नहीं सुन पाते हैं, ऐसा समझा जाता है। अपवारितक और जनान्तिक दोनों ही रंगमंच पर उपस्थित बहुत से पात्रों के लिए अश्राव्यता की दृष्टि से समान होते हैं, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है यह अभिनवभारती में स्पष्ट मालूम पड़ता है। परन्तु बहुत से आचार्यों ने इन दोनों की सीमाओं का भी निर्धारण किया है। उनकी दृष्टि से जो वृत्त एक के लिए ही गोप्य हो और बहुतों के लिए अगोप्य (प्रकाश्य) हो वह तो जनान्तिक होता है। परन्तु जो वृत्त एक के लिए ही प्रकाश्य हो परन्तु अन्य सबके लिए गोप्य हो तो अपवारित होता है। वृत्त का कोई गूढ़ अंश जनान्तिक शैली में पात्र के कर्ण प्रदेश में अन्य पात्र द्वारा सूचित होता है। परन्तु पूर्ववृत्त का पुनः कथन इसी शैली में प्रयुक्त होता है कि पुनरुक्ति न होने पाए। आकाशवचन, जनान्तिक और आत्मगत पाठ्य का प्रयोग त्रुटिहीन रूप में होना उचित है। पाठ्यान्तर्गत वृत्त का सम्बन्ध प्रत्यक्ष, परोक्ष अपने आप या किसी अन्य से भी सम्भव है। जनान्तिक और अपवारितक का प्रयोग हाथ को व्यवहित कर त्रिपताका शैली में होता है।[२]

स्वप्न-वाक्यों का प्रयोग

नाटकों में कथावस्तु के आग्रह से स्वप्न और मद की भी योजनायें होती हैं। भरत ने स्वप्नावस्था के प्रकृत रूप के अनुरूप ही उसके लिए विधान भी प्रस्तुत किया है। स्वप्न में उच्चरित वाक्य के अनुरूप हस्त संचार का प्रदर्शन नहीं होना चाहिये। सुप्तावस्था में उच्चरित वाक्यों के द्वारा ही उसका अभिनय होना उचित होता है। मदस्वर के संचार, व्यक्त अव्यक्त शब्दों में अतीत के वृत्त का पुनः कथन तथा पूर्व का अनुस्मरण हो स्वप्नावस्था में पाठ्य होता है।[३] भास के स्वप्नवासवदत्तम् में उदयन के स्वप्न की परिकल्पना भरत के निर्धारित नियमों के अनुरूप तथा जितनी मर्मस्पर्शी है उतनी ही रागोत्तेजक भी।[४]

मूर्च्छा और मरण आदि की अभिनय-विधियाँ

भरत के अनुसार अत्यन्त शिथिल करुण, घर्घर युक्त गदगद वाक्यों द्वारा मरण काल का, हिचकी और श्वास प्रश्वास के आवेग द्वारा मूर्च्छा का अभिनय उचित होता है। ऐसी दारुण अवस्था में हाथ पर विक्षिप्त हो जाते हैं। व्याधिग्रस्त होकर मृत्यु होने पर शरीर अकड़ जाता है। विष-पान से मृत्यु होने पर शरीर और पाँव विक्षिप्त रहते हैं अंग रह रहकर फड़कते हैं। विष पान से उत्तरोत्तर मृत्यु की ओर अग्रसर होने वाली सात दशाओं का रूप भरत ने प्रस्तुत किया

---

१ ना० शा० ८८ख ८६क।

२ ना० शा० २५।८६ ६४, मा० द० १०१ ना० द० (यद्वृत्तमेकस्यैव बहूनामगोप्य तज्जनान्तिकम्) पृ० ३१ अ० भा० भाग ३, पृ० २८१।

३ ना० शा० २५।६८ ६६ (वही)।

४ स्वप्नवासवदत्तम्, पञ्चम अंक।

नवम् अध्याय

नाट्य की रूढियाँ

उद्देश्य है और वह अभिनया के सत्वसयुक्त होने पर ही सम्भव हो पाती है।[1]

नाट्य की लोकात्मकता

अन्य जो लौकिक अभिनय विधिया और व्यवहार है उनका प्रयोग लोक परम्परा को दृष्टि म रखकर होना चाहिये। भरत की दृष्टि स नाट्य प्रयोग के लिए लोक परम्परा, वद और अध्यात्म तीनो की ही प्रामाणिकता है। शब्द छ द, गीत आदि का प्रयोग तो शास्त्र स सिद्ध होता है, पर तु नाट्य तो लोकात्मक होन से लोक परम्परा का अनुवर्ती होने पर ही सिद्ध हो पाता है। यद्यपि लोक म आचार व्यवहार, विभिन्न वस्तुओ, व्यक्तियो और परिस्थितियो के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया की कोई सीमा नही है। शास्त्र तो यथावत् उसका निणय करन म असमथ है। अत लोक परम्परा को दृष्टि म रखकर सत्त्व और शील की उचित योजना करते हुए नाट्य का प्रयोग करना चाहिये।[2]

समाहार

भरत ने चित्राभिनय क प्रसग म आगिक अभिनयो द्वारा भौतिक जगत् के पदार्थों, प्राकृतिक विभूतियो, मनोहर ऋतुओ और नदी एव समुद्र आदि विविध रूपधारी विश्व प्रकृति क अभिनय क लिए प्रतीक विधान तो किया ही है, मनुष्य की मनोदशाओ और विविध अवस्थाओ को चित्रात्मक शली म प्रस्तुत करने के लिए अभिनय को विधियो का भी निर्धारण किया है। भरत क चि तन की मौलिकता यह है कि लोक प्रचलित व्यवहारो तथा विविध परिस्थितिया म मनुष्य क अगोपागो की प्रतिक्रियाओ का एसा यथातथ्य सम वयात्मक रूप प्रस्तुत किया है जो आज क नाट्य प्रयोग क लिए भी उपयोगी है। यह ध्यातव्य है कि प्रयोग की परिकल्पना म अनुभूतिशीलता का बहुत प्रश्रय दिया है और उसका सचार नाट्य म लोकानुवर्तिता स ही होता है। भरत की दृष्टि स नाट्य म वद और अध्यात्म की अपेक्षा लोक ही प्रमाण है। अत चित्रा भिनय यद्यपि कल्पनाशील नाट्य प्रयोग की विचित्र विधि है पर उसका आधार है लोक-जीवन म प्रचलित आगिक प्रतिक्रिया ही।

---

१ ना० शा० २५।१२३ १२४ (गा० ओ० सी०)।
य यस्य लीला नियता गतिश्च रगप्रविष्टस्य विधानतस्तु।
तानेव कुर्यादविमुक्तसत्त्वो यावन्न रगात् प्रतिनिवृत्त स ॥
ना० शा० २५।१२० (का० स०)।

२ लोकसिद्ध भवेत् सिद्ध नाट्य लोकात्मक तथा।
न ना शोभात्मकाय शास्त्र नाट्य प्रतिष्ठितम्।
तस्मात् स्वभावत हि विज्ञेय नाट्ययोक्तृभि ॥
ना० शा० २५।१२२ १२३।

१६

नाट्य-वृत्ति

वृत्तियों का स्वरूप और परंपरा

नाट्य प्रयोग में वृत्तियों का असाधारण महत्त्व है। भरत की दृष्टि से तो ये वृत्तियाँ नाट्य की माता हैं[१]। नायक, नायिका प्रतिनायक एवं अन्य पात्रों का कायिक वाचिक और मानसिक व्यापार (चेष्टा) वृत्ति है। उसी वृत्ति से नाट्य में रसोदय होता है। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ (वृत्तियाँ) समस्त जीवलोक में व्याप्त हैं। प्रवाह रूप में ये सर्वत्र संचरण करती हैं। परन्तु विशिष्ट हृदयावेश से युक्त ये त्रिविध (काय वाङ्मनस) वृत्तियाँ नाट्य की उपकारिणी होती हैं। यह आवेश भी दो प्रकार का होता है लौकिक और अलौकिक। लौकिक आवेश तो सुख-दुःख-तारतम्य-कृत होने के कारण आस्वाद्य नहीं होता। परन्तु अलौकिक आवेश तो हृदय के अनावेश की स्थिति में भी कवि या सामाजिक की तरह आवेशपूर्ण होता है। अतएव हृदय की संवेदना के अनुकूल होने के कारण चमत्कारकारी वह व्यापार विशेष रस का उपकरण हो जाता है।[२]

आचार्य दशरूपकाचार्य ने 'व्यवहार', भोज, राजशेखर और सागरनंदी ने विलास विन्यास-क्रम' के रूप में वृत्ति का व्याख्यान किया है।[३] विलास' नाट्यशास्त्र के अनुसार अयत्नज नामक चेष्टा अलंकारों में से एक है। विलास में गति धीर, दृष्टि चित्र और वचन मधुरहास्य-युक्त हो

---

१ वृत्तयो नाट्य मातर ।

२ यद्यपि कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सहवैचित्र्येण वृत्तय' ताश्च समस्तलोकव्यापि योऽनिदं प्रथमतः प्रवृत्ता प्रवाहेन वहति। तथापि विशिष्टेन हृदयावेशेन युक्ता वृत्तयो नाट्योपकारिण्य'। अ० ना० भाग ३, पृ० ८२ ८३।

३ वेश विन्यासक्रम वृत्ति का० मी० पृ० ६ भोज भाग २, पृ० ४८६।
व्यवहारो वृत्तिरित्युच्यते। दशरूपक ३। ३२।

वृत्ति और रीति

वत्तियो के विवचन के क्रम मे हमारा ध्यान काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रतिपादित वत्तिया क व्यापक रूप पर जाता है। वहाँ रीतियो और वृत्तिया का समीकरण करत हुए परुपा, उपनागरिका और कोमला आदि वृत्तियो का उल्लेख किया गया है। मम्मट ने निश्चित रूप स इन वत्तिया का प्रतिपादन वामन की तीन रीतियो के स्थान पर किया है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित वत्तिया भी वामन की रीति स्थानीय हैं न कि अलकार मात्र। उनकी दृष्टि मे इन्ही तीन परुपा उपनागरिका और कोमला के स्थान पर वामन आदि आचार्यों न वदर्भी, गौडी और पाचाली आदि रीतियो को स्वीकारा है।[1] दण्डी न रीति का वदर्भी और गौडी का माग के रूप म उल्लेख किया है।[2] मम्मट के अनुप्रास मे रसानुकूल वर्णों का विन्यास होता है। वत्ति नियत वर्णगत रस विषयक व्यापार है। मम्मट की दृष्टि स वृत्ति और रीति दोनो एक ही हैं और रस के अनुग्राहक हैं। परन्तु वामन की दृष्टि स तो रीति रस के साधन ही नही, वे तो काव्य की आत्मा हैं, सिद्धि हैं।[3] इनक अतिरिक्त वृत्ति की प्रसिद्धि समासयुक्त सघटना के लिए भी है। यह समास वत्ति भी दो प्रकार की होती है—समस्ता और असमस्ता। समस्ता क अधिक, न्यून तथा मध्य। समास की दृष्टि स क्रमश गौडीया पाचाली और लाटीया य तीन भेद भी होते हैं। समास-वत्ति क प्रवतक आचाय रुद्रट के अनुसार वत्ति रीति का पर्याय ही है।[4] वृत्ति और रीति के सम्ब ध म आचार्यों के विचारो म विचित्र तक रहा है। राजशेखर ने तो रीति को वचन वि यास क्रम' तथा वत्ति को चेष्टा वि यास क्रम के रूप मे मानत हुए दोना की पृथकता स्थापित की है।[5] और आन दवद्धनाचाय ने उदभट द्वारा कल्पित परुषा और कोमला आदि वत्तियो का श दाश्रित तथा भरत निरूपित कशिकी आदि वत्तिया का अर्थाश्रित वृत्ति के अ तगत विवेचन किया है। परन्तु वत्तिया को रसानुगुण मानकर ध्वनि म ही अन्तर्भाव कर लिया है। आनन्दवद्धन एव अभिनवगुप्त की दृष्टि स उपनागरिक आदि शब्दाश्रित वत्ति और कशिकी आदि अर्थाश्रित वत्ति परस्पर स निविष्ट हो काव्य और नाटय म अपूव शोभा का सृजन करती है।[6]

भरत-प्रतिपादित वृत्तियाँ

भरत न नाट्यशास्त्र म जिस वृत्ति का विवचन किया है, वह मुख्यत नाटय प्रयोग के

Vamana or three Guna s of Anand Bardhan
—S K De, Sanskrit Poetics, Vol 2, p 58

१ काव्यप्रकाश सूत्र १०८ १११।

२ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेद परस्परम्।
तत्र वैदर्भी गौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ। का० आ० १।४० (दण्डी)।

३ रसाद्यनुगत प्रकृष्टन्यास अनुप्रास। वृत्ति नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार। का० प्र० ६, पृ० ४६८।

४ रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टपद रचना रीति। का० अ० सूत्र १ २, ६ ७।

५ का० मी० ३ अ०, पृ० २१ (राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार)।

६ शब्दतत्त्वाश्रया कारिचदर्थतत्त्वयुजो परा।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे। ध्वन्यालोक ३।४८।

जाता है।[1] अत इन आचार्यों की दृष्टि से भी काय, वाक् और मानसिक चेष्टाओं का विशिष्ट व्यापार ही वृत्ति है। विश्वनाथ की दृष्टि से आंगिकादि का व्यापार विशेष ही वृत्ति है। उनके टीकाकार ने एक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की ओर भी संकेत किया है। उनकी दृष्टि में जिसके कारण नाट्य में रस वर्तमान हो या 'रस का संचरण हो' वह वृत्ति होती है।[2] इन आचार्यों के मतानुसार नाट्य में यथार्थता, सजीवता और रसमयता के संचार के लिए काय वाक् एवं मनो व्यापारों का पात्रों द्वारा जो प्रदर्शन होता है, वही वृत्ति है। यही वृत्ति विभिन्न आचार्यों द्वारा वृत्ति, व्यवहार, चेष्टा और विलास विन्यास क्रम आदि के रूप में व्यवहृत हुई है। निश्चय ही इस रूप में वृत्ति रसोदय का स्रोत होने से नाट्य की माता है। नायक आदि के काय, वाक् और मन के विशिष्ट विलासपूर्ण व्यवहार रूप वृत्ति द्वारा ही तो रसोदय होता है।

वृत्ति काव्य की व्यापक शक्ति

वृत्ति नाम से भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक काव्य-तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। अभिधा, लक्षणा तात्पर्य और व्यंजना आदि शब्द शक्तियाँ भारतीय काव्य शास्त्र में वृत्ति के रूप में ही प्रचलित है।[3] अलंकारशास्त्र की प्राचीन परंपरा के अनुसार अनुप्रास के लाटीय, ग्राम्य और छेक आदि भेद भी वृत्तियाँ ही हैं। भामह ने भी अनुप्रासों की व्याख्या के प्रसंग में इसका संकेत किया है।[4] उद्भट ने भामह द्वारा प्रतिपादित अनुप्रास के दो भेदों के स्थान पर तीन निम्नलिखित भेदों का वृत्ति के रूप में उल्लेख किया है—परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या। इन तीनों वृत्तियों को वे निश्चित रूप से अलंकार मानते हैं, जिनका संबंध रसानुकूल शब्द-चयन से है।[5] रुद्रट ने भी इन वृत्तियों को अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया है। यद्यपि वे उद्भट की तीन वृत्तियों की तुलना में पाँच वृत्तियों को स्वीकार करते हैं—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा ललिता और भद्रा।[6] उद्भट और रुद्रट के विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि इन आचार्यों की दृष्टि से वृत्तियाँ मुख्यतः अनुप्रास अलंकार से संबंधित हैं। परन्तु किंचित् संबंध वामन की रीति और आनन्दवर्द्धन के तीन गुणों से भी माना जा सकता है क्योंकि उनके द्वारा भी कोमलता और परुषता का अभिधान होता ही है। इसी आधार पर लोचनकार ने रीति का पर्यवसान गुणों में ही माना है।[7] पर दे महोदय की दृष्टि से वामन की रीति-कल्पना और आनन्दवर्द्धन की गुण कल्पना का जो व्यापक क्षेत्र है उसमें उद्भट की वृत्ति का प्रसार नहीं हो सकता[8] क्योंकि वे तो शब्दालंकार मात्र हैं।

---

१ ना० शा० २२।२५ (गा० ओ० सी०)।

२ सा० द० तर्कवागीश की टीका, पृ० ३५४।
तत्र वर्तते रसोऽनयेति व्युत्पत्ति नायिकादि व्यापारविशेषो वृत्तिरिति वृत्ति लक्षणम्।

३ नैयायिकादयो यामेव वृत्तिमाहुस्तामेवालंकारिका शक्तिनाम्ना व्यपदिशति। सा०द० की टीका, पृ० २६।

४ भामह काव्यालंकार—२।५८।

५ उद्भट काव्यालंकार १, ४, ३७ ग्राम्या वृत्ति प्रशमन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः।

६ रुद्रट का० अलंकार अ० २ का १९।

७ रीतेः गुणेष्वेव पर्यवसायिता। ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २३१।

८ But even then it can not be said that Udbhata's vrittis cover the same ground, possesses the same functional value as the three ritis of

पाश्चात्य आचार्यों की समीक्षा के सदभ मे हम यह स्थापित कर चुके हैं कि नाट्य के उदभव म वदो का दायित्व आशिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है। यहा भरत न वत्तियो के उद्गम क क्रम मे पौराणिक परम्परा के अतिरिक्त वैदिक स्रोत की भी कल्पना की है। उनकी दृष्टि स भारती वृत्ति (सवाद प्रधान) ऋग्वेद से, सात्वती वत्ति (मनोव्यापार एव अभिनय प्रधान) यजुर्वेद से, कशिकी वृत्ति (गीतवाद्य प्रधान) सामवेद से और आरभटी अथववद से उत्पन्न हुई।[1]

वृत्तियो के प्रेरक शिव और पार्वती

वत्तिया के उद्भव के रूप म वैदिक और पौराणिक परम्पराओ के अतिरिक्त एक और परम्परा का उल्लेख नाटयशास्त्र म मिलता है।[2] उसके अनुसार नाटयशास्त्र म प्राप्त वाक प्रधान पुरुष प्रयोज्य सस्कृत पाठय-युक्त भरता ने अपने नाम स ही भारती वत्ति प्रचलित की। नाट्योत्पत्ति की कथा के प्रसग म यह भी उल्लेख मिलता है कि भरत ने तीन वत्तिया का प्रयोग तो स्वय किया परन्तु कशिकी के प्रयोग की प्रेरणा उन्हे शिव के नृत्त अगहार सपन्न रसभाव क्रियात्मक, सुरुचिपूर्ण वेशभूषा से अलकृत और शृगार रसात्मक नृत्य से मिली। कशिकी म शृगार रस की प्रधानता के कारण उसका प्रयोग बिना स्त्रियो के सभव ही नहीं था। अतएव भरत के अनुरोध पर ब्रह्मा न नाट्य और चेष्टा अलकारा म चतुर मजुकेशी, सुकेशी और मिश्र-केशी आदि अप्सराओ को नाट्य मे कशिकी के प्रयोग क लिए भरत को दिया।[3] नाटयशास्त्र म वत्तिया के उदभव की ये चार परम्पराएँ उपलब्ध हैं। नारायण-मधुकटभ युद्ध, चारो वेदा से चार वत्तियो का ग्रहण, भरता के नाम से भारती का उदभव, शिव द्वारा कशिकी का प्रयोग और स्वय भरत द्वारा शेष वृत्तिया का प्रयोग य विभिन्न परम्पराएँ सगहीत हैं। शारदातनय के भाव प्रका शन म नाट्यशास्त्र मे उपलब्ध वत्ति सबधी परम्पराओ के अतिरिक्त एक और भी परम्परा का विवरण दिया गया है। वह भी किसी परम्परागत आचाय क आधार पर ही है। उसम शिव पावती का नृत्य देखते हुए ब्रह्मा के चारा मुखो से चारा वृत्तियो के उदभव की भी एक परि कल्पना की गई है।[4]

वृत्तियाँ नाट्य की मातृरूपा

नाट्योत्पत्ति म चारो वेदा और प्रधान दवा के योग की परिकल्पना की गई है, तो नाटय माता वत्ति क लिए उसी प्रकार की परिकल्पना करना अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु इन परम्पराओ क विश्लेषण स हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि नाटय प्रयोग-काल म पात्रा का कायिक, वाचिक और सात्त्विक (मानसिक) व्यापार होता है, वही वृत्ति है। निसन्देह उनक द्वारा ही रसोत्पत्य भी होता है। अतएव भरत न उन्हे नाट्यमाता का सम्मानपूर्ण नाम दकर उचित ही

---

१ ऋग्वेदाद् भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि। ना० शा० २०।२५ (गा० ओ० सी०)।

२ स्वनामधेयै भरतै प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्ति। ना० शा० २०।२६।

३ दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यत।
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गाररससम्भवा। ना० शा० १।४५।

४ अपरे तु नाट्यदर्शनसमये कमलोद्भवस्य वदनेभ्य।
शृङ्गारादि रसु य सहिता वृत्ती समाचख्यु। भा० प्र०, पृ० १२।

प्रयोग में। उपचार मध्यवृत्ति, समासवृत्ति तथा अनुप्रासवृत्ति से यह सर्वथा भिन्न है। इसका संबंध नाट्य प्रयोग के लिए आश्रित वाचिक, शारीरिक और मानसिक व्यापारों से है। इस वृत्ति को ही ध्वनिकार ने व्यवहार और अभिनवगुप्त ने बुद्ध्यारम्भ व्यापार माना है। पुरुष अथवा नारी पात्र रंगमंच पर प्रयुक्त हो वाचिक, सात्त्विक और मानसिक व्यापार करते हैं। वे सब व्यापार वृत्ति हैं। इसी व्यापार द्वारा रसानुभव भी होता है अतएव यह रसोत्पादक भी होता है।

वृत्तियों का उद्भव

नाट्यशास्त्र में प्राप्त प्राचीन कथा के अनुसार विष्णु और मधु कैटभ में द्वन्द्व-युद्ध हुआ और उसमें वाणी, अंग और मन के विभिन्न व्यापारों का जो प्रयोग हुआ, उनसे ही चारों वृत्तियों का उद्भव हुआ।

भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर सोये थे। बलदर्प से उन्मत्त मधु और कैटभ नामक असुरों ने भगवान् को युद्ध के लिए बार बार ललकारा। दोनों अपने विशाल बाहुओं को मसलते हुए, जानु और मुष्टियों से भगवान् विष्णु के साथ युद्ध करने लगे। युद्ध करते हुए वे कठोर और तिरस्कारपूर्ण वचनों का उच्चारण इतने वेग से कर रहे थे कि समुद्र भी कांप उठे। ब्रह्मा इस शरीर और वाग् युद्ध के साक्षी थे। उनकी परुष वाणी सुनकर उन्होंने नारायण से पूछा—भगवन्! भारती वृत्ति वाणी से ही प्रवृत्त होती है क्या? नारायण ने कहा—ब्रह्मन्, नाट्य क्रिया के लिए ही मैंने भारती वृत्ति की रचना की है। युद्ध विशारद दैत्यों से द्वन्द्व-युद्ध करते हुए हरि ने पादन्यासों को धरती पर बार-बार बल देकर रखा। भूमि पर अधिक भार होने से (भारती) यानी भूमिष्ठा 'भारती' वृत्ति हुई। शार्ङ्ग नामक धनुष के वीर रसोचित रीति से बुद्धिपूर्वक संचालन करने से सात्वती हुई। विष्णु के विचित्र अंगहारों तथा लीलापूर्ण चेष्टाओं के द्वारा केशपाश के संयमन से 'कैशिकी' तथा वेग, उत्साह, उद्धत चारियों के योग तथा विलक्षण द्वन्द्व युद्ध से 'आरभटी' नामक वृत्ति का उद्भव हुआ।'[1] इस पौराणिक कथा की परम्परा में ही रामायण और कूर्मपुराण में नारायण और मधुकैटभ के संघर्ष की कथा का उल्लेख लवणासुर शत्रुघ्न युद्ध के प्रसंग में किया गया है। रामायण की कथा के अनुसार मधुकैटभ के नाश के लिए नारायण ने विशेष प्रकार के धनुष की रचना की थी।[2]

वृत्तियों के स्रोत वेद

नाट्य के उद्भव और विकास के विवेचन के सम्बन्ध में भरत एवं अन्य प्राच्य एवं

---

१ भूमि संयोगसंस्थानैः पादन्यासैः हरेस्तदा।
अतिभारोऽभवद्भूमेः भारती तत्र निर्मिता।
वल्गितैः शार्ङ्गधनुषैः तीव्रैः दीप्ततरैरथ।
सत्त्वाधिकैरसंभ्रान्तैः सात्वती तत्र निर्मिता।
विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः।
बबन्ध यच्छिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता।
संरम्भावेगबहुलैः नानाचारी समुत्थितैः।
नियुद्ध करणैश्चित्रैरुत्पन्नारभटी ततः। ना० शा० २०।[illegible] १५।

२ वा० रा० ७।६६ २७।

कुभ के अनुमार भारती म सब वाचिक अभिनय वतमान रहते है और विप्रदास के अनुसार भारती म वाग्देवी भारती ही अन्तर्हित रहती है।[१]

भारती के अग

सवत्रव्यापी वाग-व्यापार रूपा भारती के चार अग है—प्ररोचना आमुख, वीथी और प्रहसन।

प्ररोचना—पूवरग का अग है। विजय मगल, अभ्युदय एव पाप प्रशमनयुक्त वाणी नाटयारम्भ म प्रयुक्त होने पर प्ररोचना होती है। प्ररोचना द्वारा ही प्रस्तोता पात्र काव्य का उप क्षेपण हेतु और युक्तिपूवक करता है।[२] जब नटी विदूषक या परिपाश्विक आदि प्रयोक्ता पात्र सूत्रधार के साथ श्लिष्ट, वक्रोक्ति और प्रत्युक्ति शली अथवा स्पष्टोक्ति के माध्यम से सवाद की योजना करते हैं वही आमुख हाता है। आमुख का नाम प्रस्तावना भा है[३] नाटय प्रयोग के सभारम्भ की विविध शलिया की दृष्टि से आमुख या प्रस्तावना क पाच भेद होते हैं

उदघात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और अवगलित।

उदघात्यक द्वारा भावी का‍याथ का सूचन होना है। अप्रतीत अथ की प्रतीति के लिए अ‍य पदो की योजना होती है वहाँ उद्घात्यक होता है। सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त 'च‍द्र' (ग्रहण) शब्द म चाणक्य गुप्त' को जोडकर च‍द्रगुप्त' यह प्रतीताथता प्रदान करता है।[४] कथोदघात वहाँ होता है जहाँ सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त वाक्य या वाक्याथ के सूत्र के सहारे किसी पात्र का प्रवेश होता है। च‍द्रगुप्त के प्रथम अक म सिंहरण के विस्फोट' शब्द का सूत्र पकड आभीक प्रवेश करता है।[५] एक ही प्रयोग के माध्यम से दूसरे प्रयोग का आरभ हो जाता है वहा प्रयोगातिशय होता है। भास के चारुदत्त म सूत्रधार के प्रयोग के द्वारा विदूषक का रगमच पर प्रवेश होता है।[६] ऋतु आदि की वणना के माध्यम से ही जहाँ प्रयोग प्रवत्त हो वहा प्रवतक होता है। वेणी सहार नाटक मे शरद वणन के माध्यम से प्रयोग का आरभ होता है।[७] एकत्र समावेश हाने पर सादृश्य आदि के आधार पर अ‍य का प्रयोग हो जाता है तो अवगलित होता है। शाकुतल म मनोहारी गीतराग की प्रशसा के सादृश्य के द्वारा सूत्रधार ने मगया विहारी दुष्य‍त को रगमच

१ या वाक् प्रधाना पुरुषा प्रयोज्या।
स्त्रीवर्जिता सस्कृत पाठयुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतै प्रयुक्ता।
सा भारतीनाम भवेत्त वृति। ना० शा० २०।२६, द० रू० ३।५, सा० द० ६।१४, भ० को० पृ० ८६१।

२ ना० शा० २०।२८-२६ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० २०।३० ३१ (गा० ओ० सी०)।

४ मुद्राराक्षस, प्रथम अक।

५ च‍ गुप्त, प्रथम अक, पृ० १ (प्रसाद)।

६ चारुदत्त, अक १।

७ चन्द्रगुप्त, अक १, पृ० १।
सद्य पद्मा म उरगिर प्रसाधिनाशा महोद्धतार भा
निपतति धावराष्ट्र कालवशाम्मेदिनी पृष्ठे। वेणीसहार १।६

किया है। प्रयोग काल में इन व्यापारों या व्यवहारों के बिना रसोत्पत्ति की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः वृत्तियाँ नाट्य की माता कही गयी हैं।

भरत निरूपित वृत्तियाँ

भरत के अनुसार वृत्तियाँ ये चार प्रकार हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। ये चारों वृत्तियाँ यद्यपि प्रधानता की दृष्टि से एक-दूसरे से पृथक् होती हैं पर ये एक दूसरे से संवलित भी होती ही हैं। वाचिक, मानसिक और शारीरिक चेष्टाएँ परस्पर मिलकर ही एक दूसरे को पूर्णता और प्रकाशन देती हैं। शारीरिक चेष्टा भी सूक्ष्म मानसिक चेष्टा और वाचिक चेष्टाओं से व्याप्त रहती है।[1] वाक्यपदीय के अनुसार मनुष्य का कोई ऐसी अनुभूति (प्रत्यय) नहीं है जिसका शब्द अनुगमन न करता हो। समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध रहता है।[2] अतः नाट्य प्रयोग काल में कोई भी शब्द क्रिया रसोपयोगी साहित्य से शून्य नहीं होता। प्रत्येक वाचिक चेष्टा में मानसिक और शारीरिक चेष्टा का योग परस्पर उपकारक रूप में वर्तमान रहता ही है। परन्तु जहाँ पर किसी चेष्टा विशेष की प्रधानता होती है उसी कारण ही उस वृत्ति-विशेष का नाम होता है। अभिनवगुप्त के इस मत से नाट्यदर्पणकार भी सहमत हैं। उन्होंने भी इस नाट्य प्रयोग के तथ्य का समर्थन किया है कि चार वृत्तियाँ किसी एक वृत्ति के प्रधान होने के कारण ही होती हैं, नहीं तो अनेक व्यापारों से मिलता हुआ वृत्तितत्त्व एक ही है क्योंकि नाटक या प्रबन्धादि में कोई भी वृत्तितत्त्व दूसरी वृत्तियों के योग के बिना निष्पन्न हो ही नहीं सकता। यहाँ तक कि विदूषक भी यदि हास्यपूर्ण या असभ्य आचरण का प्रदर्शन करता है, तो वह भी बुद्धिपूर्वक ही करता है। अतः वृत्तियाँ परस्पर संवलित होने पर भी अंश विशेष की प्रधानता होने पर चार प्रकार की होती हैं। नाट्यदर्पणकार अनभिनेय काव्य में वृत्तियों की स्थिति स्वीकार करते हैं क्योंकि कोई भी वर्णनीय काव्य व्यापार शून्य नहीं होता।[3]

भारती

यह पाठ प्रधान वाग् वृत्ति, पुरुष प्रयोज्य एवं संस्कृत पाठ-युक्त होती है तथा स्त्री-पात्रों से रहित होती है। भरतों या नटों के वाग् विन्यास तथा उनके नाम के कारण यह भारती वृत्ति हुई। भारती वृत्ति वाग्-व्यापारात्मक होने के कारण सर्वत्र वर्तमान रहती है। चारों वृत्तियों में भारती वृत्ति की प्रधानता मानी गई है। किसी भी भाव या परिस्थिति का आंगिक या मानसिक चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शन वाचिक चेष्टा से ही पूर्ण हो पाता है। भरत के इस मत से धनंजय विश्वनाथ आदि प्रायः सब आचार्य सहमत हैं कि यह वृत्ति पुरुषप्राय और संस्कृत पाठयुक्त हो। आचार्य

१ (वाङ्मनःकायचेष्टासु) नह्येकोऽपि कश्चिच्चेष्टांशोऽस्ति। कायचेष्टा अपि हि मानसीभिः सूक्ष्माभिश्च वाचिकीभिश्चेष्टाभिर्व्याप्यन्त एव। अ० भा० भाग ३ पृ० ९१।

२ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। वाक्यपदीय १।१२४।

३ मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सम्भिन्नते। शब्दोल्लिखित मनःप्रत्ययं विना रजकस्य कायव्यापार परिस्पन्दस्याभावात्।
तेनाभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। न हि व्यापारशून्ये किंचिद् वर्णनीय मस्ति। नाट्यदर्पण विवृत्ति। ३ १।

युद्ध का नियमोल्लघन, उद्भ्रात चेष्टा, बधन और वधादि की प्रधानता रहती है। आरभटी वत्ति सौन्दय एव लालित्य के विपरीत होने के कारण कशिकी के विपरीत है, और 'यायवत' के प्रतिकूल होन के कारण सात्वती वृत्ति के भी विपरीत ही है। आरभटी यह नाम भी नितात अ वथ है। 'आरभट' अर्थात् उत्साहपूण योद्धाओ के गुण जिस वत्ति म वतमान हो वह वृत्ति 'आरभटी होती है। रामचन्द्र गुणचन्द्र की दृष्टि से आर' का अथ होता है 'चाबुक', जो भट या योद्धा चाबुक के समान हो। जिस वृत्ति म एसे योद्धाओ या भटा की बहुलता होती है, वह आरभटी होती है।[1] कुभ और विप्रदास ने इसी रूप म शत्रुओ के परस्पर युद्ध सघष की प्रबलता के कारण आरभटी वत्ति की अ वथता का प्रतिपादन किया है।[2] यह आरभटी वत्ति कायिक, वाचिक और मानसिक सब प्रकार के अभिनयो स सपन्न होती है। यह भी नाटय के लिए बहुत उपयोगी हाती है क्योकि इसम अभिनय की सब विधियो का प्रयोग होता है। आरभटी वत्ति के चार अग हैं—सक्षिप्त, अवपात, वस्तूत्थापन और सफेट।

सक्षिप्त आचार्यो की विभिन्न मान्यताएँ

'सक्षिप्त' म प्रयोजनवश पुस्तविधि की सहायता से कुशल शिल्पियो द्वारा विचित्र वस्तुओ का उत्थापन होना है। इसमे मिट्टी, बास क पत्ते और चमडे आदि के सयोग से विचित्र नाट्योपयोगी वस्तु की रचना होती है। उदयन चरित म बास का बना हाथी, बालरामायण की पुत्तलिका और रामाभ्युदय म राम के मायाशिर की रचना 'सक्षिप्त' के ही उदाहरण हैं।[3] धनजय विश्वनाथ और शिगभूपाल ने सक्षिप्त की एक दूसरी परिभाषा भी प्रस्तुत की है। उसके अनुसार नाटय प्रयोजनवश एक नायक के स्थान पर दूसरे नायक का स्थान ग्रहण अथवा नायक की मनोवत्ति म परिवतन हाना भी सक्षिप्तक' ही होता है। वालि क स्थान पर सुग्रीव या रावण के स्थान पर विभीषण का राज्याभिषेक एव परशुराम की उद्धत प्रवृत्ति क स्थान पर शात प्रवत्ति का होना भी सक्षिप्तक' ही है। भरत एव अ य आचार्यों की परिभाषाओ म यह स्पष्ट अतर है कि भरत पुस्तविधि द्वारा प्रस्तुत विचित्र मायापूण रचना को 'सक्षिप्त' मानते हैं और परवर्ती आचार्यो की परिभाषाओ म नायको की मनोवृत्ति म परिवतन या स्थान ग्रहण को सक्षिप्त' माना गया है।[4]

अवपात

भय, हृष, क्रोध, प्रलोभन, विनिपात, सभ्रम, आचरण के कारण क्षिप्रता से पात्रो के प्रवश का और निष्क्रमण हाने पर 'अवपात' होता है।[5] राम परशुराम-युद्ध के अवसर पर घबराहट और चिन्ता के कारण दशरथ का बार-बार रगमच पर प्रवश और निष्क्रमण 'अवपात' ही

१ ना० शा० २०।६४ ६६ (गा० ओ० सी०), मारेण प्रतोपवेन तुल्या भटा उद्धता पुरुषा आरभटा। ना० द० ३। सूत्र १६२ पर विवृत्ति।

२ म० को०, पृ० ७६६।

३ ना० शा० २०।६८।

४ पूवनेर्दविद्रत्यान्य नेत्रन्तरपरिग्रह। द० रू० २।५८, सा० द० ६।१३६, र० सु० १।२४३। पूवनायक नाशेना पर नायकमभव सक्षिप्तक। ना० ल० को० १३६८ ९।

५ ना० शा० २०।६६ (गा० ओ० सी०)।

नम के द्वारा शिष्टजनो के हृदय का आवजन होता है। यह कही नान, कही हास्य, कही शृगार जनक हास्य, कही भयजनक हास्य और कही पूवनायिका के भय के कारण नम अनेक रूपो मे परिलक्षित होता है। सागरनदी ने हास, ईच्छा और भय के अनुसार तीन भेदा की परिकल्पना की है। शृगारोद्दीपक, विलासपूण परिहास हास्याश्रित होता है। छिपी रहन पर भी नायिका कुसुमा से प्रहार करती हुई नायक के दशन के लिए आती है, ता ईच्छाश्रित नम होता है।

नम स्फुज (स्फुञ) कशिकी का दूसरा अग है। प्रेमी प्रेमिकाओ के प्रथम मिलन की मधुवेला मे वेश, वाक्य और चेष्टा आदि के द्वारा प्रेमभाव का उदबोधन होता है। पर तु अवसान मे पूव-नायिका कृत भय बना रहता है। रत्नावली म उदयन और सागरिका का मिलन वासव दत्ता के विघ्न से ‍याप्त है।[1] स्फुज विघ्नवाचक है।

नम-स्फोट--विविध भावो के किंचित् किंचित् अश से भूषित होने पर असमग्र (विशेष) रस का सजन होता है तो नम स्फोट होता है। इसम भय, हास, हष, रापादि के माध्यम स नम (शृगार) का विलक्षण प्रस्फुटन होता है। पर‍तु सागरनदी एव शिगभूपाल के अनुसार तो अकाण्ड (अनवसर) ही प्रेमी प्रमिकाओ के सभोग विच्छेद होने पर नम स्फोट होता है। भरत की परिभाषा से इन आचार्यां द्वारा उद्धत परिभाषाएँ पर्याप्त भिन्न हैं। असमग्राक्षिप्त रस' से अभिनवगुप्त ने कल्पना की है, ‍अ‍य रसा म शृगार की प्रधानता के कारण उसका चमत्कार और उल्लास-कृत प्रस्फुटन होता है, परन्तु इन आचार्यों की दृष्टि म वह अनवसर ही सभोगविच्छेद होता है। अत विघ्न रूप होने क कारण तो नम स्फुज के निकट का ही है।[2] **नम गम**—वन समागम के लिए शृगारोपयोगी रूप शोभा सर्म वत हो कायवश प्रच्छन्न रूप स नायक व्यवहार करता है वह नम गम होता है। ये सब प्रसाधन और साज सज्जा आदि प्रच्छन्न रूप से सप‍न होत हैं, क्योकि यह नम शृगार काय गम स्थित ही रहता है।

कशिकी वृत्ति के इन चार अगा के वेश, वाक्य और चेष्टा इन तीन भेदो के क्रम म कुल भेद बारह हात हैं। परवर्ती आचार्यों म धनजय, शिगभूपाल और सागरनदी ने केवल नम-गम के ही अट्ठारह भेद स्वीकार किय हैं। परन्तु नाटयदपणकार ने कशिकी के प्रधान भेदा म केवल नम गम का ही उल्लेख किया है।[3] यह वत्ति मनुष्य की सुकुमार वेशभूषा कोमल शृगार भाव तथा गीतवाद्य नत्य प्रधान होने के कारण नाटको म बहुत लोकप्रिय रही है। यो सामा‍य रूप स सब रसो म प्राण रस क रूप मे यह वतमान रहती है, क्योंकि उद्धत कार्यों म भी एक सहज लालित्य होता ही है। शिव-पावती नत्य की परपरा से उद्भूत होने के कारण स्वभावत इसका सम्ब‍ध पावती के लास्य नत्य स कल्पित किया जाता है।

आरभटी

आरभटी वृत्ति म वीरों क क्रोधावेग, कपट, प्रपचना छल, दभ प्रदशन, असत्य भाषण

१ ना० शा० २०।५६ (गा० ओ० सी०), सा० द० ६।१४७, द० रू० २।५१क ना० ल० को० पृ० १३४२ ४४।

२ ना० शा० २०।६० (गा० ओ० सी०) द० रू० २।५१ ख र० सु० १। २७२ ७७ सा० द० ६।१४८ ना ल० को० १३३ ४० अ० भा० भाग ३, पृ० १०२।

३ ना० शा० २०।६१ ६२ (गा० ओ० सी०), द० रू० २।५२ सा० द० ६।१४६ ना० ल० को० १३३८ १३४६ र० सु० १।२७८ २७६।

हुए उदभट द्वारा प्रतिपादित अपवृत्ति का खण्डन किया है। आनन्दवधनाचार्य ने भी चारो वत्तियो का दो भागो मे वर्गीकरण किया है, जिसम भारती तो शब्द वत्ति है और शेष कैशिकी आदि तीन वत्तियाँ अथवत्तियाँ हैं। पर वत्तियाँ उन्होने चार ही स्वीकार की हैं।[1] भोज ने वत्तिया का विवेचन अनुभावा, प्रबध अगो, शब्दालकारो और पुरुषार्थों के सदभ म विभिन्न रूप से किया है। भोज की दृष्टि से वत्तियाँ अनुभाव के रूप म बुद्धि से उत्पन्न हुई हैं। यहाँ पर वत्तियो की सख्या चार ही है। परन्तु प्रबध अगो के विवेचन के क्रम मे उन्होने परपरागत चार वृत्तियो के अतिरिक्त 'विमिश्रा' नाम की पाँचवी वत्ति भी स्वीकार की है। वस्तुत यह कोई नितान्त नूतन वत्ति नही है अपितु चारो का मिश्रित रूप ही है। सभवत पाच वत्ति मानने का एकमात्र कारण यह है कि प्रबध अगो के विवेचन म उन्होने पाच अगा मे विवच्य विषयो का वर्गीकरण किया है। अत उसके मल म 'विमिश्रा'-वृत्ति की कल्पना कर पाँच वत्तियाँ स्वीकार कर ली हैं।[2] भोज की विमिश्रा' वत्ति से शारदातनय और शिगभूपाल ने अपना परिचय प्रकट किया है। परन्तु जब भोज ने शब्दालकारो का विवचन किया तो उस सदभ म वत्तियो की परपरागत चार सख्या मे 'मध्यमा कशिकी' और 'मध्यमा आरभटी' नाम की दो वत्तिया का उल्लेख किया। वह इसी कारण कि शब्दालकारो का विभाजन समान रूप से छ प्रकारो मे किया है। अत उसके अनुक्रम म दो वत्तिया की परिकल्पना कर छ वृत्तियो का आविष्कार कर लिया। भोज ने तीन प्रसगो म वत्ति की सख्याएँ तीन रूप मे स्वीकार की हैं। परन्तु सवत्र वत्ति तो वही है। वत्तियाँ मूल रूप से अनुभाव है, अनुभाव ही अलकार है। वाचिक अभिनय के माध्यम से वागारभानुभावा का प्रकाशन होता है। इसी प्रकार अन्य अनुभावा से अन्य मनोदशाएँ भी प्रकट होती हैं।[3]

वृत्यगों की सख्या

विभिन्न वत्तियो के अगा के सम्बन्ध म प्राय आचार्यों की विचार दृष्टि भरतानुसारी है। परन्तु भारती के स्वरूप और अगो के सम्बन्ध म भोज एव धनजय आदि आचार्यों की विचार-धारा किंचित् भिन्न है। भरत ने भारती के चार अग माने हैं—'प्ररोचना', आमुख', वीथी' और 'प्रहसन'। 'प्ररोचना' और 'आमुख' तो प्रस्तावना एव नाट्य के आरम्भिक अग हैं। यहाँ वाग् व्यापार की ही प्रधानता है। परन्तु वीथी और प्रहसन तो रूपको के भेदो में हैं। वहाँ भी वाक-प्रधान भारती वत्ति की प्रधानता रहती है। धनिक के अनुसार भारती तो शब्द वत्ति है और नाटक के आमुख का अग है। शेष तीनो अथवत्तियाँ है। उनमे ही सब रसा का अनुगमन होता है।[4] धनजय के अनुसार भारती का व्यापक क्षेत्र सीमित हो जाता है। वाग् व्यापाररूपा होने से भारती तो सवत्र ही वतमान रहती है। परन्तु इनकी दृष्टि से वह आमुख या प्रस्तावना का अग मात्र है। भरत ने आमुख के पाँच अगा की भी परिकल्पना की, धनजय ने उन चार भेदो को

१ द० रू० २।६०-६१।

२ सोऽय पचप्रकारोऽपि चेष्टाविशेष विन्यास क्रमोवृत्तिरित्याख्यायते। मुखादि सधिपु याप्रियमाणना नायकोपनायकादीना मनोवाक्कायकर्मनिबधना पचवृत्तयो भवन्ति भारती आरभटी, कैशिकी सात्वती, विमिश्रा चेति। शृ० प्र० भाग २ पृ० ४५६।

३ भोजाज शृङ्गार प्रकाश, पृ० १६५-१६७।

४ चतुर्थी भारती साऽपि वाच्या नाटक लक्षणे। द० रू० २।६०।
भारती तु शब्दवृत्तिरामुखांगत्वात् तत्रैव वाच्या। धनिक की टीका।

है। क्योकि पात्र इसम उतरते है, इसीलिए अवपात यह नाम भी अन्वथ है।[1] 'अवपात' और 'विद्रव' दोनो एक ही है। अवपात म कायिक, मानसिक और वाचिक अभिनयो का बडा ही प्रभावकारी समन्वय होता है। परवर्ती आचार्यों ने भी 'अवपात' की परिभाषा भरत के अनुसार ही प्रस्तुत की है।[2]

वस्तूत्थापन सब रस का समासीकरण

'वस्तूत्थापन' म स्थायीभाव एव व्यभिचारी भावो को समाहार रूप म प्रस्तुत किया जाता है। अग्निकाण्ड आदि उपद्रव या उसके बिना भी इसका प्रयोग होता है।[3] धनजय, शिगभूपाल और विश्वनाथ ने किंचित् भिन्न परिभाषा की कल्पना की है। उनके अनुसार माया और इन्द्रजाल के प्रभाव से किसी नवीन वस्तु का उत्थापन होने से वस्तूत्थापन होता है।[4] सागरनदी ने यद्यपि वस्तूत्थापन की परिभाषा तो नही दी है, परन्तु उनके उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भरत के 'सवरससमासकृत' को ही वे वस्तूत्थापन मानते हैं। राम-परशुराम युद्ध प्रसग इसका उदाहरण है। राम परशुराम का भयानक युद्ध आरभ हुआ, तो जनक अक्रुद्ध थे वशिष्ठ और दशरथ आदि चिन्तित थे, और घबराहट मे मथिली धरती पर गिर पडी। यहा अनेक प्रकार के रसो का समासीकरण हुआ है। भरत की दृष्टि रस और भाव की अनुवर्तिना रही है और धनजय आदि आचार्यों की दृष्टि वस्तु क उत्थापन की ओर रही है। हास न भी वस्तु' का अनुवाद 'मटर' ही किया है।[5] अन्य आचार्यों की दृष्टि म पुस्तविधि, माया या इन्द्रजाल आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन होता है। भरत की दृष्टि स वस्तु' शब्द रसो के समासीकरण का सकेतक है। यही भरत एव अन्य आचार्यों म अन्तर है।

सफेट

नाना प्रकार के द्वन्द्व युद्ध, कपट निर्भेद तथा शस्त्र प्रहार की बहुलता होने पर 'सफट' होता है। जटायु रावण का युद्ध सफेट का ही उदाहरण है। इसकी परिभाषाए भरतानुसारी ही हैं।[6]

वृत्तियो की सख्या

हमने पिछले पृष्ठो म चारो वृत्तियो और उनके विभिन्न अगो का तुलनात्मक विवचन भरत एव परवर्ती आचार्यों क विचारो के सदभ म किया है। इस प्रसग म उदभट और भोज के विचारो का पृथक रूप से विवचन उचित होगा। इन दोनो ही आचार्यों के विचार भरत स भिन्न है और अन्य आचार्यों स भी। दशरूपककार धनजय ने वत्तियो के विवचन का उपसहार करत

१ अवपतन्त्यस्मिन् पात्राणीति। अ० भा० भाग ३, पृ० ४०४।

२ द० रू० २।५६, सा० द० ६।१५६, ना० ल० को० १३६८ ७२ प०।

३ ना० शा० २०।७० (गा० ओ० सी०)।

४ द० रू० ३।५६ क, सा० द० ६।१४६, ना० ल० को० प० १२७४ ८, र० सु० १।२८५।

५ Production of matter is the name given to a matter produced by majic and the like —D R Hass, p 73

६ ना शा० २०।७१, (गा० ओ० सी०), द० रू० २।५८ ख।

प्रवृत्ति

प्रवृत्ति का स्वरूप

भरत ने नाट्य प्रयोग को अधिकाधिक प्रकृत और रसानुग्राहक रूप देने के लिए प्रवत्ति का विधान किया है। 'प्रवत्ति' शब्द भारतीय वाङमय म अनेक अर्थों म व्यवहृत हुआ है। मनुष्य की पाप पुण्य वत्ति, बुद्धि और कर्मेन्द्रियो की चेष्टाएँ, शरीर के लीला विलास आदि व्यापार, मन के हाव और हेला आदि विकार तथा आलाप एव विलाप आदि वाग व्यापार सब प्रवत्ति के रूप म ही प्रसिद्ध हैं।[१] भरत ने नाटय शास्त्र म 'प्रवत्ति' शब्द का प्रयोग व्यापक और भिन्न अथ म किया है। उनकी दृष्टि से भारत के विभिन्न जनपदो म प्रचलित नाना वश, भाषा, आचार और वार्ता का ख्यापन करने वाली वत्ति ही प्रवत्ति है।[२] वस्तुत आचार और वार्ता के अन्तगत मानवीय व्यवहार के अधीन किस बात का समावेश नही हो जाता ! अभिनवगुप्त ने भरत की इस 'प्रवत्ति' शब्द की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि से 'प्रवत्ति' शब्द सूचनायक है। समस्त लोक म प्रचलित मनुष्य-मात्र की जीवन प्रवत्ति का ज्ञान इस प्रवत्ति के द्वारा होता है।[3] अत यह प्रवृत्ति मनुष्य की बाह्य प्रवत्ति सभ्यता के जानने का महत्वपूर्ण साधन है।[४]

विभिन्न देशो और अवस्था आदि के अनुरूप भाषा और वेशभूषा आदि से पात्र को

---

१ शृंगारप्रकाश १२। पृ० ४५६६०।

२ अत्राह प्रवृत्तिरिति कस्मादिति। उच्यते, पृथिव्यां नाना देशवेषभाषाचारा वार्ता ख्यापयतीति वृत्ति प्रवृत्तिश्च निवेदने। ना० शा० १३। पृ० २०२, भाग २ (गा० ओ० सी०)।

३ तत्रैव योजना—देशे देशे येष्वेव वेषादयो नैपथ्य भाषा वा आचारो लोकशास्त्र यवहार वार्ता कृषि पशुपाल्यादि जीविका इति तान् प्रख्यापयन्ति पृथिव्यादि सर्वलोकविधाप्रसिद्धि करोति। प्रवृत्ति बाह्यार्थे यस्मात् निवेदने नि शेषेण वेदने ज्ञाने प्रवृत्ति शब्द । अ० भा० भाग ३, पृ० २०५ २०६

४ In fact it represents the civilization that differs with provinces
Laws of Sanskrit Drama, p 288 (S N Sastri)

तो स्वीकार किया परन्तु आमुख के वे चार अग ही मानते हैं। उदघात्यक और वीथी को एक ही मान लिया। भोज के भी विचार इसी परपरा म हैं। परन्तु वे तो भारती क चार प्रमुख अगो के स्थान पर केवल आमुख को ही मानते हैं। वे 'प्रयोगातिशय' नामक भेद को नहा स्वीकार करते। इस प्रकार विमिश्रा' को छोड शेष चार वत्तियो मे स प्रत्येक के लिए चार-चार अग स्वीकार कर सोलह वत्यगो को मानने के पक्ष म हैं। भरत तो निश्चित रूप से वीथी और 'प्रहसन' को रूपक भेद के रूप मे स्वीकारते हैं और भारती वत्ति का क्षेत्र मात्र 'आमुख' या प्रस्तावना' न हाकर इन रूपक भेदो म विशेष रूप से है। परन्तु भोज एव परवर्ती आचार्यों की दष्टि भारती के प्रति बहुत सकीण होती गई है और ये प्रहसन को प्रस्तावनान्तगत प्रहसनपूण छोटा-सा सवाद मात्र मानते हैं। भारती के सम्बन्ध म भरत की दष्टि नितान्त स्पष्ट एव व्यापक है वे वाक प्रधान वत्ति को सवत्र ही स्वीकार करते हैं। सारा नाटय प्रयोग या काव्य तो वाग प्रधान ही है। वाणी के बिना नाटय प्रयोग को पूणता प्राप्त ही नही हो सकती।[१]

वृत्तियो का रसानुकूल प्रयोग

वत्तियो का सम्बन्ध नायक नायिका एव अन्य पात्रो के वाचिक कायिक और मानसिक व्यापारो से है। ये चेष्टाएँ ही रस का उदबोधन करती हैं। अत भरत ने वत्तियो क सदभ मे उनकी रसानुकूलता का भी विचार किया है। भरत की दष्टि से कशिकी सुकुमार वत्ति होती है। इसम हास्य और शृगार की बहुलता होती है। सात्वती म वीर और अदभुत रसो की प्रमुखता होती है। रौद्र और अद्भुत म आरभटी तथा बीभत्स करुण म भारती की प्रधानता होती है।[२] कोहल ने तो करुण रस म भी कशिकी वत्ति की प्रधानता मानी है।[३] यहा यह विचारणीय है कि किसी विशेष वत्ति का रस विशेष मे नितान्त रूप से निर्धारण करना उचित होगा या नही। भरत ने प्रधानता को दृष्टि मे रखकर ही ऐसा सकेत किया है। 'भारती तो वाक प्रधान होने के कारण सब रसा और भावो म वतमान रहती ही है। इसी प्रकार कशिकी भी सौन्दर्याधायक और लालित्य प्रधान होने क कारण नाट्य के किस रस मे नही वतमान रहती है ? भारती वत्ति भी केवल करुण और बीभत्स म ही कसे नियन्त्रित रहेगी, जबकि सब रस प्रधान 'वीथी', 'शृगार वीर प्रधान भाण' तथा हास्य प्रधान प्रहसन आदि भारती के अग हैं।[४] स्वय भरत ने वृत्तियो के उपसहार के रूप मे यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि कोई काव्य या नाटय प्रयोग के क्रम म एक रसज नही होता। उसम विभिन्न भावो रसा, वत्तियो और प्रवत्तिया का योग होता ही है। सब भावो, वत्तियो और रसो के समवेत होने पर उनम प्रधान तो रस होता है शेष सचारी होते हैं। वत्तियों की भी यही दशा है। उनका निर्धारण भी प्रधानता के अनुसार होता है।[५]

---

१ जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च—जिल्द ७, पृ० ४४ ४८ (वी० राघवन)।

२ ना० शा० २०।७२ ७४ (गा० ओ० सी)।

३ भरतकोष, पृ० ६३४।

४ ये तु भारत्यां 'बीभत्सकरुणो' प्रप ना ' ने सर्वरस वीथी—प्रधानशृगार वीर भाण प्रधानहास्य प्रहसनानि स्वयमेव भारत्या वृत्ता नियमितानि नावेक्षितानि। नाट्यदपण, पृ० १३६ (द्वि० स०)

५ नाट्यकरस काव्यज किञ्चित्‍ प्रयोगत ।
भावो वाऽपि रसो वाऽपि प्रवृत्ति वृत्तिरेव वा। ना० शा० २०।७४ (गा० ओ० सी०)।

और शारदातनय दोनो ही आचाय देश, वेष, भाषा और अन्य व्यवहारो के रूप मे प्रवत्ति को मान्यता देते हैं। प्रवत्ति विवेचन के प्रसग म भरत की नाटय दृष्टि जैसी व्यापक है वसी इन पर वर्ती आचार्यों की नही। यहाँ तक कि विश्वनाथ ने प्रवत्ति का स्वतन्त्र रूप से विवेचन न कर केवल भाषा विधान स ही सतोष किया है।[1]

चार ही प्रवृत्तियो का औचित्य

भरत ने चार प्रवत्तियो का विवचन किया है। प्रवत्तियो के आधार है विभिन्न प्रदेशो और अचला म प्रचलित भाषा, वेश, आचार एव व्यवहार। इनकी विभिन्नता के आधार पर प्रवत्ति के भी भेद अनगिनत न होकर चार ही हैं। इसके पर्याप्त कारण हैं। विभिन्न देश और अचला की अनेकरूपता के साथ बाह्य जीवन के य चिह्न भाषा और वेशभूषा आदि भी तो नाना रूपधरा हैं। परन्तु इस अनेकता के बीच भी उनम परस्पर साम्य का एक सूत्र भी गुथा रहता है। व परस्पर एक दूसरे से किमी अश म भिन्न होकर भी एक ही होते हैं। इसी पारस्परिक साम्य को दृष्टि म रखकर चार ही प्रवृत्तियो का विधान किया गया है। प्रत्यक प्रवत्ति के अतगत कुछ ऐसे देशा की भाषा और वेशभूषा आदि की परिगणना की गई है, जो एक दूसरे के निकट तथा बहुत अश म अनुरूप है। वस्तुत जितनी भिन्नताएँ वतमान हैं उन सबकी परिगणना सम्भव भी नही है। मनुष्य की चित्तवत्तियाँ तो बहुविध होती है। उन सब चित्तवृत्तिया का समाहार समान-लक्षणता क आधार पर कुछ प्रधान चित्तवत्तियो के अतगत होता है। उमी प्रकार लोकप्रचलित विभिन्न प्रवत्तियो म से कुछ का एक साथ वर्गीकरण समान लक्षणता के आधार पर किया गया है। नाट्य तो मनोवत्ति प्रधान है उसम मनुष्य की मनोदशा को नाटय रूप देना प्रधान उद्देश्य है। प्रवत्तियाँ, भाषा और वशभूषा आदि के द्वारा उसम सहायक होती हैं। परन्तु अनगिनत बाह्य प्रवत्तियो के चित्रण और वर्गीकरण म शक्ति और कला का उपयोग किया जाय तो चित्त वत्तियो का उत्तम अभिनय नहा हो सकता। इसीलिए विभिन्नता के मध्य एकता का सूत्र प्रस्तुत करते हुए केवल चार प्रवत्तिया का विधान भरत ने किया है।[2]

भरत निरूपित प्रवृत्तियाँ

यह ध्यातव्य है कि भरत का यह प्रवत्ति सम्बन्धी विभाजन भरत-कालीन भारत के भौगोलिक विभाजन तथा वेशभूषा-सम्बन्धी लोक-व्यवहारो पर आधारित है। कई जनपदो को मिलाकर एक बडे भूभाग के लिए एक प्रवत्ति का प्रधान रूप स उपयोग होता है, उसके द्वारा उस प्रवत्ति की प्रधानता का सूचन हो जाता है। देश क किमी बडे भूभाग म शृगार की प्रधानता

---

१ (क) देश भाषा क्रियावेश लक्षणा स्यु प्रवृत्तय।
लोकादेवागम्यैता यथोचित्य प्रयोजयेत्। द० रू० २।६३ ७१।
(ख) भा० प्र० १२ तथा पृ० ३१० १३।
(ग) सा० द० ६।१६२।
(घ) ना० द० ४।

२ ननु किमित्यय सक्षेप आदृत, आह यस्माल्लोको बहुविध भाषाचारादियुक्त करत प्रतिपद वक्तु शक्नुयात् शिक्षितुमभ्यसितु वा प्रयोक्तु, द्रष्टु वा, चित्तवृत्ति प्रधान चेद नाट्यमिति तदेव वक्तु यायम्। अ० भा० भाग २, पृ० २०७।

प्रसाधित कर तब अन्य अभिनय विधियों द्वारा उसमें प्राण प्रतिष्ठा होती है। बिना प्रवृत्ति या प्रसाधन के विभिन्न पात्रों का प्रयोगकर्ता में विशिष्ट अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। प्रवृत्ति विधान के द्वारा भरत ने भारत के विभिन्न जनपदों की वासियों भाषाएँ आचार और व्यवहार का समीकरण रंगमंच के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसमें एक साथ ही जनपदों की भिन्नताओं के एकीकरण और वैशिष्ट्य दोनों का विराट प्रयोग एक साथ किया गया है। नाट्यकला के माध्यम से इन जनपदीय प्रवृत्तियों को समृद्ध करते हुए उनके सम रस का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भरत के काल में नाट्य प्रयोग के क्रम में विभिन्न पात्रों को प्रस्तुत करते हुए उनके बाह्य रूप रंग, आचार व्यवहार को प्रस्तुत करने में बड़ी सतर्कता बरती जाती थी।

प्रवृत्ति की परम्परा

भरत निरूपित प्रवृत्ति पर पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। उनके विवेचन के क्रम में भरत ने यह स्वीकार किया है कि नाट्य प्रयोक्ताओं ने चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। अपने विचारों के समर्थन में किसी प्रसिद्ध नाट्य प्रयोक्ता के विचारों का संग्रह भी अपने नाट्य शास्त्र में किया है।[1] यह अंश निश्चय ही मूल नाट्यशास्त्र का अंश नहीं, किसी पूर्ववर्ती आचार्य का ही कथन है। अतः भरत से पूर्व प्रवृत्ति विवेचन की परम्परा थी। भरतोत्तर राजशेखर और भोज आदि आचार्यों को छोड़ अन्य आचार्यों ने प्रवृत्ति की उपयोगिता स्वीकार नहीं की, अनावश्यक मान उसका विवेचन नहीं किया।[2] प्रवृत्तियाँ परवर्ती आचार्यों द्वारा नाट्य लक्षणों की तरह उपेक्षा का भाजन बनी रहीं।

प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार

राजशेखर ने वृत्ति, प्रवृत्ति और रीति तीनों का अन्तर स्पष्ट किया है। वृत्ति में तो शरीर के 'विलास विन्यासक्रम' प्रवृत्ति में 'वेष विन्यासक्रम' है और रीति में पदविन्यासक्रम का समाहार होता है।[3] वस्तुतः भरत की वृत्ति में ही परवर्ती आचार्यों की रीति का भी अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि वृत्तियों में भारती, वाग्व्यापार प्रधान होती है। प्रवृत्ति तो मुख्यतः बाह्य वेशभूषा, भाषा और आचार व्यवहार से सम्बन्धित है। वृत्ति के अन्तर्गत तो रीति और प्रवृत्ति के सब तत्त्वों का समावेश हो जाता है। इन तीनों में वृत्ति अधिक व्यापक है। मनुष्य जीवन की अन्तर और बाह्य समस्त प्रवृत्तियाँ वृत्ति के अन्तर्गत समाविष्ट होती हैं।[4] राजशेखर के विचार के क्रम में ही भोज ने भी प्रवृत्ति को 'वेश विन्यासक्रम' के रूप में स्वीकार किया है।[5] धनंजय

---

१ ना० शा० १४।३७ क।

२ तासामनुपयोगित्वान्नात्र लक्षणमुच्यते। द० रू० २।२६८ क।

३ काव्यमीमांसा पृ० ६ (राजशेखर)।

४ In a way, Vritti comprehends both the Pravritti and Riti for it is the name of the whole field of human activity

—Bhoja's Singar Prakash, p 201 (V Raghavan)

५ शृङ्गारप्रकाश जिल्द सं० २, पृ० ४५६।

आवंतिका प्रवृत्ति

अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट, मालव, सिन्धु सौवीर, दशाण, त्रिपुरा तथा मत्तिकापुर वासी पात्रो की भाषा, वेशभूषा तथा अन्य आचार व्यवहार आदि आवन्तिका होती है।[1] अत इन देशा के पात्र जब नाटय प्रयोग के क्रम म प्रस्तुत होते हैं तो इनकी भाषा और वेशभूषा तदनुरूप होती है। भरत ने अन्यत्र इसका विस्तृत विधान दिया है कि विभिन्न प्रदेशवासी पुरुषों और स्त्रियो की वेशभूषा का क्या स्वरूप होना चाहिये। आवन्तिका स्त्री का केशविन्यास कुन्तल केशो (घुघराले केश) से प्रसाधन होना चाहिये। क्योकि नाटय प्रयोग म देशज वेश अत्यन्त आवश्यक है।[2] आवन्तिका के प्रयोग के क्रम म सात्विकी और कशिकी वत्तियो का भी प्रयोग होता है। आवन्ती के धर्म एव शृगार प्रधान होने के कारण इन दिनो वत्तियो का समन्वय उचित है।[3]

औड्रमागधी प्रवृत्ति

अग, बग, कलिग, वत्स, औड्रमागध, पोण्ड, नेपाल, पवतो के बीच और बाहर के देश मलय, ब्रह्मोत्तर, प्राग ज्योतिष, पुलिद, विदेह और ताम्रलिप्त प्रदेश-वासी पात्र औड्रमागधी प्रवत्ति का प्रयोग करते हैं। इस प्रवत्ति का प्रयोग पूवदिशा के अन्य प्रदेशवासिया द्वारा भी होता है। इसम आडम्बर प्रधान घटाटोप वाक्यो का प्रयोग प्रचुरता से होता है। अत भारती और आरभटी वत्तियो का भी समन्वय होता है।[4] प्राच्य देश की सीमा दक्षिण म समुद्र तटवर्ती प्रदेशो तक चली जाती है और उत्तर म मगध तक। दोनो के मध्य होने से औडमागधी होती है, यह प्रवत्ति आन्ध्र और कलिग दोनो के लिए उपजीव्य है। निकटता के कारण दो प्रवत्तियो का एकीकरण किया गया है। इनके अन्तगत जिन प्रदेशो की नाम परिगणना हुई है, उनका उल्लेख किंचित् परिवतन के साथ पुराणो म भी मिलता है।[5]

पाचालमध्यमा प्रवृत्ति

पाचाल, शूरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर, वाहि लक, काकल, मद्र, कुशीनर हिमालयवासी और गगा की उत्तर दिशा म आश्रित जनपद वासियो के लिए पाचाल मध्यमा प्रवत्ति उपयोगी होती है। इस प्रवत्ति म सात्वती और आरभटी वत्तियाँ विशेष रूप से उपादेय हैं।[6] भरत की दृष्टि से इन देशवासियो मे गीत प्रयोग की अल्पता के कारण कशिकी का प्रयोग नही होता।[7]

---

१ ना० शा० १२।४२ ४३ (गा० ओ० सी०)।

२ आवन्तियुवतीनां तु शिर साऽलककुन्तलम्। ना० शा० २३।६७ ६७ (का० स०)।

३ ना० शा० १३।४४ (गा० ओ० सी०)।

४ वही १३।४५ ४८।

५ टेक्स्ट ऑफ पौराणिक लिस्ट्स ऑफ पिपल्स इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २१, १९४५ तथा विश्वभारती पत्रिका जिल्द १, पृ० २५०।

६ ना० शा० १३।४६ ५०, का० भा० १३।४३ ४८, का० स० १४।४७ ४६।

७ ना० शा० १३।५१ ख।

है तो किसी भाग में धर्म की। इन सब विभिन्न विशेषताओं से पूर्णतया प्रसाधित हो पात्र रंगमंच पर प्रस्तुत होता है। उसकी वेशभूषा, भाषा और व्यवहार आदि उसे अन्य पात्रों से विशिष्ट बना देते हैं। वस्तुत वेष और भाषा आदि तो अवान्तर रूप से न केवल मनुष्य के देशभेद की ही अपितु स्वभाव आदि की भिन्नता का भी संकेत करते हैं। भरत निरूपित चार प्रवृत्तियाँ निम्न लिखित हैं।

दाक्षिणात्या, आवन्तिका ओड्रमागधी और पाचालमध्यमा।[1]

दाक्षिणात्या

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति शृंगार प्रधान होती है। दक्षिण देशवासी नृत्त, गीत और वाद्य प्रिय होते हैं, उनके आंगिक अभिनय चतुर मधुर और ललित होते हैं।[2] दाक्षिणात्य देश के अन्तर्गत दक्षिण के सब देशों का समावेश होता है। महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल और पालमजर पर्वतों के मध्य स्थित सारे देश दाक्षिणात्य हैं। कोसल, तोसल, कलिंग, यवन, खस द्रमिल (द्रविड), आन्ध्र महाराष्ट्र और कृष्णापिनाकी के तटवर्ती देश भी दाक्षिणात्य के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं तथा विन्ध्या और दक्षिण समुद्र के मध्यवर्ती सारे प्रदेश दाक्षिणात्य ही हैं। वेशभूषा भाषा, आचार और व्यवहार में इन प्रदेशवासियों में परस्पर बहुत साम्य है। इसलिए इन सबके लिए एक दाक्षिणात्य प्रवृत्ति का विधान किया गया है।[3] इस प्रवृत्ति की सुकुमार प्रियता का भरत की तरह ही अन्यत्र आचार्यों और कवियों ने भी प्रयोग किया है। दाक्षिणात्य प्रवृत्ति और वैदर्भी रीति में परस्पर बहुत साम्य है। राजशेखर ने कर्पूरमंजरी की नांदी में वैदर्भी रीति के समानान्तर वत्स गुल्मी शैली का उल्लेख किया है। वत्स गुल्म संभवत विदर्भ की कोई प्राचीन राजधानी थी। राजशेखर ने काव्य पुरुष और साहित्य विद्या वधू के विवाह की कल्पना विदर्भ देश की राजधानी वत्सगुल्म में की है।[4] विदर्भ प्रान्त दाक्षिणात्य के रूप में भी प्रसिद्ध रहा है। इस दाक्षिणात्य प्रवृत्ति का उल्लेख कालिदास के मालविकाग्निमित्र के पंचम अंक में भी मिलता है। वहाँ देवी धारिणी ने पंडित कौशिकी को चुनौती दी है कि यदि उन्हें प्रसाधन शैली का अभिमान हो तो मालविका का शृंगार वैदर्भी नेपथ्य विधि से करें। 'वैदर्भी विवाह-नेपथ्य' शब्द दाक्षिणात्य वेशभूपा का ही सूचक है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में दाक्षिणात्यों की संगीत विषयक सुस्वरता और ध्वनि की सहज रमणीयता का उल्लेख किया है।[5]

---

१ ना० शा० १२।३७ (गा० ओ० सी०)।

२ तत्र दाक्षिणात्यास्तावद बहुनृत्तगीतवाद्या कैशिकी प्राया चतुरमधुर ललिताङ्गाभिनयाश्च।
ना० शा० भाग २ पृ० २ ७।

३ ना० शा० १२।३६ ४१।

४ वच्छोमी नइ मागही फुरदुणो सा रिंपि पचालिआ। कर्पूरमजरी—१।१ तथा—तत्रास्ति मनोजन्मन देवस्य क्रीडावास विदर्भेषु वत्सगुल्मनाम नगरम्। तत्र सारस्वतेय ताम् औमेयीं गान्धर्वेवत् परिणिनाय। काव्यमीमांसा पृ० १०।

५ न च दाक्षिणात्य गीत विषय सुस्वरनादिध्वनि रामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्व वक्तु पार्यते। तस्मिन् सति तथाविध काव्य करण सर्वस्य स्यात्। वक्रोक्तिजीवितम् प्रथम उन्मेष, पृ० ६६ (दिल्ली विश्वविद्यालय संस्करण)।

भोज के प्रवृत्ति-विधान को एक मौलिकता है। उन्होने वेशभूषा की भिन्नता की अवस्थाओ का विवेचन करते हुए प्रतिपादित किया है कि लोक मे वेशभूषा केवल पात्र (व्यक्ति) की भिन्नता मे ही परिवर्तित नही होती, अपितु, एक ही व्यक्ति (पात्र) की वेशभूषा अनेकानेक कारणो और अवस्थाओ से परिवर्तित होती रहती है। इन कारणो और अवस्थाओ की परिगणना तो सभव नही है। पर भोज ने चौबीस प्रवृत्ति हेतुओ की परिगणना की है। देश काल, पात्र, वयस, शक्ति, साधन, अभिप्राय, व्याघात, विपरिणाम निमित्त, विहार उपहार, छल, छद, आश्रय जाति, व्यक्ति और विभव आदि के कारण मनुष्य (पात्र) की वेशभूषा मे (लोक मे) अन्तर आता है। तदनुसार नाट्य प्रयोग मे भी उस लोकाचार का प्रयोग पात्र के लिए, भोज के अनुसार उचित होता है।[1] नाट्यशास्त्र मे आहार्याभिनय के प्रसग मे भरत ने इस विषय का विस्तार से विवेचन किया है कि वेशभूषा, भाव रस, देश, अवस्था और वयस् आदि के अनुसार कथा-परिवतन होता है।[2]

प्रवृत्तियो का समन्वय

इन विभिन्न प्रवृत्तियो का समन्वय नाट्य प्रयोग मे नाट्य-सभा, देश, काल और अर्थ-युक्ति के आग्रह से होता है। इससे नाट्य प्रयोग मे सौन्दर्य का ही सृजन होता है। परन्तु समन्वय होने पर भी देश भेदानुसार कुछ प्रवृत्तियाँ तो प्रधान होती हैं और कुछ गौण। जिन प्रवृत्तियो का विधान जिन विशिष्ट देशो के लिए किया गया है, उनका प्रयोग तदनुरूप ही अपेक्षित है।[3] यदि नाटिका का प्रयोग होता हो और नायक कश्मीर देश का हो तो भरत के प्रवृत्ति विधान के अनुसार इन दोनो नाटिका और कश्मीरी नायक का समन्वय सभव नही है। नाटिका के कैशिकी-प्रधान रूपक होने के कारण दाक्षिणात्य नायक उसके लिए अधिक उपयुक्त होता है। नाट्य प्रयोग के क्रम मे देश काल और अवस्था आदि के अनुरूप प्रवृत्ति-विधान होने पर ही रसास्वाद सभव है। अन्यथा यथावत सामजस्य न होने पर तो नाट्य की सारी परिकल्पना नीरस और अनुभूतिशून्य हो जाती है।[4] अत प्रवृत्ति की प्रधानता को दृष्टि मे रखकर उसी देश के नायक की भी योजना होनी चाहिये और पात्र की भी। क्योकि प्रयोग-काल मे बाह्य परिवेश और प्रतिभा के योग से ही पात्र प्रेक्षक के हृदय मे भावानुप्रदर्शन करता है।

प्रवृत्ति विधान मे भरत के विचारो की मौलिकता

भरत ने कक्ष्याविधान द्वारा तो नाट्य प्रयोग के दृश्य विधान को रूप दिया है। लोक जीवन प्रासादो पर्वतो नदियो तटो सरोवरो खेतो और खलिहानो मे फूलता फलता है। नाट्य प्रयोग की तदनुरूपता के लिए कक्ष्याविधान प्रस्तुत किया गया है। उसी भव्य पृष्ठभूमि पर नाट्य के पात्र अवतरित होते हैं। अवतरण काल मे वे किसी प्रदेश विशेष के होते हैं, अत देश, काल और अवस्थानुरूप उनका वेष विन्यास, भाषा और आचार-व्यवहार का भी निश्चित विधान

---

१ शृगार प्रकाश—१२। पृ० ४८६ ६०।

२ ना० शा० २३। का० स०।

३ येपुदेशेषु या कार्या प्रवृत्ति परिकीर्तिता।
तद्वृत्तिकानिरूपाणि तेषु तज्ज्ञ प्रयोजयेत्॥ ना० शा० १३।५५ ५६ (गा० ओ० सी०)।

४ देशादौचित्ये तच्चेष्टित यावत्तनेन प्रतीतिविघाताद्समयत्वाभाव। रसाश्च नाट्यस्य प्राणा। समरयता शक्ता च विहन्यादेव समूलघात प्रयोगम्। अ० भा० भाग २, पृ० २११।

प्रवृत्ति और पात्र का रगमच पर प्रवेश

भरत ने प्रवृत्ति के अनुसार ही पात्र के रगमच पर प्रवेश का भी विधान किया है। इसकी दो विधियाँ हैं। द्वार के अभाव म आवन्ती और दाक्षिणात्य पात्र दक्षिण पार्श्व से और पाचाल मध्यमा तथा ओड्रमागधी प्रवृत्ति के पात्र वाम पार्श्व से रगमच पर प्रस्तुत होते हैं। सम्भवत यह विधान भी उनकी प्रवृत्ति भिन्नता का परिचायक है। द्वार रहने पर अवन्ती और दाक्षिणात्य प्रवृत्ति के पात्र उत्तर दिशा के द्वार से और पाचाल और ओड्रमागधी के पात्र दक्षिण द्वार से रग मच पर प्रवेश करते हैं।[1] प्रवृत्तियो की इन विभिन्नताओ का प्रयोग नाट्य म ही होता है पर गीत आदि म नही। गीत म इनका समन्वित प्रयोग होता है।[2]

देशभिन्नता स्वभाव भिन्नता का भी परिचायक

भरत ने इन प्रवृत्तियो के विभाजन और वर्गीकरण के माध्यम से नाट्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का सकेत किया है। नाट्य प्रयोग चित्तवृत्ति प्रधान है। उस चित्तवृत्ति की प्रधानता म वेशभूषा आदि का प्रयोग सहायक है। वेश एव भाषा भेद से देश भेद और देश भेद से स्वभाव भेद को नाट्यायित करना भरत का मूल उद्देश्य है। स्वभाव भिन्नता के आधार पर ही उद्धत या मृदुललित वृत्तियो का भी निर्धारण होता है। देश और स्वभाव भिन्नता के अनुसार किसी पात्र म सुकुमारता और लालित्य की प्रधानता होती है तो किसी म वागाडम्बर की, किसी म सात्त्विकता की और किसी म युद्ध प्रियता की। बहुत अशो म इस स्वभाव भिन्नता का कारण देश भिन्नता भी है। पजाबी प्राय युद्धप्रिय होते हैं और बगवासी कलाप्रिय मृदुल स्वभाव के। भरत की व्यापक नाट्य दृष्टि के अनुसार नाट्य म देशगत यह स्वभाव भिन्नता सदा सुनियोजित होनी चाहिये। अभिनवगुप्त ने भी इस विचार-तत्त्व का समर्थन किया है।[3]

भोज के प्रवृत्ति हेतु

अन्य परवर्ती आचार्यों म भोज ने प्रवृत्तियो का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने वृत्तियो के विवेचन के क्रम म एक स्थान पर तो चार ही प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है और पच सधियो के क्रम म पाँच प्रवृत्तियो की परिगणना की है। उनके द्वारा परिगणित नवीन प्रवृत्ति है पौरस्त्या, जिसका नाट्यशास्त्र म उल्लेख नही मिलता। यह पौरस्त्या प्रवृत्ति पूर्व देशो का सकेत करती है। परन्तु पूर्व देशो का सकेत करने वाली ओड्रमागधी प्रवृत्ति का भी उल्लेख भोज ने किया है और वह प्रवृत्ति नाट्यशास्त्र म भी परिगणित है। भोज ने राजशेखर की काव्यमीमांसा से ही प्रवृत्ति का सकलन किया है और वहाँ पाचालमध्यमा का उल्लेख है। सभव है पाचाली या पाचालमध्यमा के स्थान पर यह त्रुटिपूर्ण उल्लेख भोज ने किया है। पाचाली के स्वीकार करने पर प्रवृत्तियाँ भोज के अनुसार पाँच होती हैं।[4]

१ ना० शा० १३।५२ ५४ (गा० ओ० सी०)।

२ ना० शा० १३।५१क (का० मा०)।

३ अनादिरथ देशभेदेन चित्तवृत्ति क्रम । दृष्टो हि वस्त्राभरणात्मना देशभेदोचित स्वभावभेद ।
—अ० भा० भाग २, पृ० २०६।

४ वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति । साऽपि चतुर्धा । पौरस्त्या, औड्रमागधी दाक्षिणात्या आवन्त्या च ।
—शृगार प्रकाश १२, पृ० ४८६ ६०।

लोकधर्मी नाट्यधर्मी

लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढियो का स्वरूप

रस, भाव और अभिनय आदि ग्यारह नाट्य-तत्त्वो के साथ भरत ने नाट्य शास्त्र मे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढियो की परिगणना एव विवेचना की है।[1] लोकधर्मी नाट्यो म लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण होता है। उसमे विभिन्न भावो का सकेत करने वाली वाचिक आगिक, सात्त्विक और आहार्य विधियो का समावेश नही होता है। जीवन को प्रकृत रूप मे ही प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु नाटयधर्मी नाटयपरपरा मे साकेतिक वाक्य, लीलागहार, नाटय भ प्रचलित जनातिक स्वगत आकाशवचन आदि रूढिया, शल, यान, विमान, प्रासाद, दुग, नदी एव समुद्र आदि को सूचित करने वाली पद्धतियाँ, रगमच पर प्रयोज्य अस्त्र शस्त्रो तथा अमूत्त भावो का सकेत करने वाली अनगिनत विधियाँ नाटयधर्मी ही हैं। लोक का जो सुख-दुख क्रियात्मक आगिक अभिनय होता है, वह भी नाटयधर्मी ही है।

भरत-परिगणित लोकधर्मी और नाटयधर्मी रूढ़िया के विश्लेषण से हम यह अनुमान कर सकते है कि भरत के काल मे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परपराएँ स्वतत्र रूप मे विकसित हो रही थी। नाटय-परपरा पर एक ओर लोक जीवन की सहज वत्तियो का प्रभाव था तो दूसरी ओर सुसस्कृत जीवन का परिष्कार और सौदय की कलात्मक अभिरुचि की रगीन छाया का भी। नाटयधर्मी नाट्य के रूप मे तो अश्वघोष, भास, शूद्रक कालिदास और हष आदि नाट्य कारो की महत्त्वपूण कृतियाँ हैं। लोकधर्मी परपरा के नाटय का सुनिश्चित उदाहरण सस्कृत नाटय परपरा म उपलब्ध नही होता। परन्तु दशरूपक के भेदो और उनकी परपराओ के विश्लेषण से प्राचीन लोकनाट्यो के इतिहास के बिखरे धुधले पृष्ठ उन्ही म खोये मालूम पडते

१ रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्ति प्रवृत्तय ।
सिद्धि स्वरा तथाऽतोद्य गान रगश्च सग्रह ॥ ना० शा० ६।१० (गा० ओ० सी०)
तथा ना० शा० ६।७४ एव १३वाँ अध्याय ।

प्रस्तुत किया गया है। उस रूप में प्रयुक्त होने पर ही वे पात्र रसानुग्राहक होते हैं। भरत का यह प्रवृत्ति विधान नितान्त मौलिक चिन्तन का प्रतीक है। इसके द्वारा विभिन्न जनपदों में प्रचलित प्रवृत्तियों को समान लक्षणता के आधार पर उनका गम वध किया गया है। इस प्रकार भारत ही प्रवृत्तियों के समन्वय के आधार पर समन्वयमूलक सभ्यता का जन्म हुआ है। विभिन्न प्रदेशों और जनपदों के बाह्य जीवन की प्रवृत्तियों में विविधता तो थी पर उनमें भी एकता का एक दृढ़ सूत्र पिरोया हुआ था। ज्ञान और प्रेम का संदेश देते हुए भारतीय ऋषियों और चिन्तकों ने जहाँ समस्त मानव के लिए एकता की, समता की और मित्रता की उदात्त कल्पना की[1] वहाँ कला के माध्यम से भरत ने भारतीय जनपदों की सभ्यता और संस्कृति के एकीकरण की कल्पना की थी।

प्रवृत्ति विधान का ऐतिहासिक मूल्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भरतकाल से पूर्व ही प्रवृत्तियों की परंपरा प्रचलित थी। भरत ने उसे शास्त्रीय रूप दिया। उस युग का नाट्य प्रयोग इस दृष्टि से इतना समृद्ध था कि उसमें देशानुसार न केवल भिन्न वेश और आचार व्यवहार का ही प्रयोग होता था अपितु भिन्न भाषाओं का भी प्रयोग होता था। भरत ने सात प्रधान भाषाओं का उल्लेख किया है। अतः प्रयोक्ता शिक्षित कलाविद् और निश्चय ही बहुभाषा भाषी होते होंगे। नाट्य रस का आस्वादन करने के लिए प्रेक्षक नाट्य शास्त्र के ज्ञाता तो होते ही होंगे वे बहुभाषाविद भी होते थे। भरत ने प्रवृत्ति विधान द्वारा जनपदों की सभ्यता और संस्कृति के संगम की महत्वशाली कल्पना की है और उसका माध्यम है नाट्य-जैसी सुकुमार ललित कला। प्रवृत्ति के माध्यम से समस्त भारतीय जनपदों की विशेषताओं का, उनके व्यक्तित्व के सौरभ का सृजन करना है और नाट्य प्रयोग की अन्तर्धारा के माध्यम से मनुष्य मात्र के हृदय में यह कला विश्रान्ति और विनोद का सृजन करती है, भरत की ऐसी ही व्यापक विराट कल्पना है।[2]

१ मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। यजुर्वेद ३६।१८।

२ विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। ना० शा० १।१२०ख (का० मा०)।

उदाहरण हैं। मार्ग शब्द का प्रयोग दण्डी ने रीति के अर्थ में किया है।[1] शास्त्रीय मार्ग (रीति) पर विकसित नाट्य परंपराएँ नाट्यधर्मी हुई और देशी अथवा जनपदों की प्रकृत भाव भंगिमा के रंग बिरंग रूप को लेकर विकसित होती नाट्य-परंपरा लोकधर्मी हुई।

लोकधर्मी

भरत ने लोकधर्मी नाट्य-परंपराओं का समीकरण कर उनका विवरण समीचीन रूप में प्रस्तुत किया है। लोकधर्मी नाट्य प्रकृत, स्थायी और व्यभिचारी भावों से युक्त रहता है। इसमें कल्पना द्वारा कोई परिवर्तन प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यह शुद्ध एवं प्रकृत रूप में रहता है। अंगहार आदि आंगिक विलास-लीलाओं का प्रयोग नहीं होता। स्त्री एवं पुरुष पात्रों का प्रयोग तो प्रचुरता से होता है। लोकनाट्य में पुरुष ही पुरुष पात्र का अभिनय करते हैं, स्त्री द्वारा पुरुष का अथवा पुरुष द्वारा स्त्री का अभिनय नहीं होता।[2] अभ्यास और चेष्टा द्वारा नाट्य में शिल्प और कल्पना का नाट्यधर्मी संस्कार प्रस्तुत नहीं किया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार इस लोकधर्मी रूढि के अनुसार कवि तो यथावत् वस्तु मात्र का वर्णन करता है, नट प्रयोग करता है। वहाँ स्वबुद्धि कृत अनुरंजनकारी वैचित्र्य की कल्पना नहीं होती।[3] इसी दृष्टि से वह काव्य भाग और प्रयोग भाग लोकधर्माश्रित होता है। वस्तुतः काव्य और नाट्य दोनों में ही दो भिन्न परंपराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक परंपरा के अनुसार दोनों में ही लोकानुसारी प्रवृत्ति की और दूसरी के अनुसार दोनों में वैचित्र्य और रंजनकारी प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है।

नाट्यधर्मी

नाट्यधर्मी रूढि लोकधर्मी रूढि की अपेक्षा अधिक कल्पना समृद्ध, वैचित्र्यपूर्ण और अनुरंजक होती है। काव्य भाग और प्रयोग भाग दोनों में ही परिष्कृत कवि-बुद्धि और प्रयोक्ता की समृद्ध कल्पना के चमत्कार और सौंदर्य का योग होता है। भरत ने लोकधर्मी रूढि की भांति नाट्यधर्मी रूढि के लिए कुछ निश्चित आधार और सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं। निःसंदेह इस आधार निरूपण और सिद्धान्त विधान में उन्होंने परंपरा से प्रचलित काव्य और नाट्य प्रयोग की सुदीर्घ धारा का विश्लेषण उपस्थित किया है।

लोकवृत्त और स्वभाव में नवीन कल्पना

इतिहास-पुराण आदि के प्राचीन वृत्तों को यथावत् न प्रस्तुत कर, उनका अतिक्रमण करके उचित अनुरंजनकारी कल्पनात्मक क्रिया का प्रयोग होता है, पुरानी घटनाएं अधिक आकर्षक रोचक और रमणीय रूप में प्रस्तुत होती हैं तो नाट्यधर्मी रूढि होती है। कालिदास की

---

१ काव्यादर्श, दण्डी १।

२ स्वभाव भावोपगतं शुद्धं तु प्रकृतं तथा।
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम्।
स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु स्मृता। ना० शा० १३।७१ २ (गा० ओ० सी०)।

३ यदा कविर्यथा वृत्तवस्तुमात्रं वर्णयति नटश्च प्रयुङ्क्ते, न तु स्वबुद्धिकृत रंजनावैचित्र्य, तत्रानुप्रवेशय त्तदा तावान् स काव्यभाग प्रयोगभागश्च लोकधर्माश्रय इत्ति धर्मी। अ० भा० द्वि० भाग, पृ० २१५।

हैं। भाण, प्रहसन और सट्टक आदि भेद सभवत उन्ही प्राचीन लोकधर्मी लोक नाटयो के परिष्कृत रूप है।[1] सस्ता मनोविनोद और व्यग्य का सजन करना ही इनका प्रधान लक्ष्य था। इन लघु नाटको म जिस स्तर क पात्र होते है उनका सबध प्राचीन जन-जीवन से अधिक था। पर शन शन य नागर जीवन का परिष्कार और सस्कार पाकर रूपको की श्रेणी म आ मिले। यह स्मरणीय है कि नाट्यधर्मी परपरा के नाटय तो राज्याश्रय और नागरिकता की सुकुमार स्निग्ध छाया मे पनपे परन्तु मुस्लिम शासनकाल म प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण इनका विकास अवरुद्ध हो गया। पर जो लोकधर्मी नाटय थे, जिनकी प्रेरणा का स्रोत ग्राम-जीवन की ग्राम्यता, सहजता और अकत्रिमता थी, वे राजनीतिक वात्याचक्र और झझावात के थपेडो को झेलकर भी पनपते ही रहे। *बगाल की यात्रा असम की अकिया* बिहार की *कीर्तनिया,* उत्तर भारत की रामलीला और रासलीला आदि लोक नाटय ही हैं। यद्यपि नाटयधर्मी नाट्य का प्रभाव उन पर निरन्तर पडता रहा है।[2]

नाट्यधर्मी का स्रोत लोकधर्मी

यहाँ यह स्मरणीय है कि लोकधर्मी और नाटयधर्मी रूढिया भिन्न परपराओ का सकेत करती हैं। परन्तु नाटयधर्मी रूढियो का भी मूल स्रोत तो लोकधर्मी रूढियाँ ही हैं।[3] इसी लोक धर्मी मिट्टी स नाटयधर्मी नाटय के मधुर सुरभित पुष्प विकसित हुए हैं।[4] अतएव भरत ने नाटय प्रयोग के लिए अध्यात्म और वेद की अपेक्षा लोक को ही प्रमाण के रूप म स्वीकार किया है।[5] नाटयशास्त्र म नाटयधर्मी रूढियो का विशाल सग्रह तो है पर उसकी वास्तविक प्रेरणा भूमि और उसकी कसौटी लोकानुभूति ही है। लोकधर्मी नाटयशास्त्रीय पद्धति की अनभिज्ञता, रगमच निर्माण की विस्तृत विधियो से अपरिचय तथा वस्तुगत वचित्र्य के अभाव म भी प्राचीन काल म भारतीय जनपदो की छाया मे स्वतन्त्र रूप स विकसित हो रहा था। ऋतु उत्सव विवाह, जन्म, अभ्युदय एव अन्य मागलिक अनुष्ठानो के अवसरो पर ग्रामो और नगरो म लोकनाटयो के आयोजन होत थे। नगरो म आयोजित नाटय प्रयोग शास्त्रानुमोदित और सुसस्कृत होते थे, ग्रामो के आयोजन शुद्ध और प्रकृत रूप म। भरत न ग्रामो एव नगरो म प्रचलित नाटय की इन दो धाराओ को ही लोक एव नाटयधर्मी के रूप म परिगणित किया है। धनजय और शारदातनय ने इसी जनपदीय *एव नागरिक नाटय-परपरा को 'मार्ग' और देशी' के रूप म उल्लेख किया है।*[6] भाव रस-समद्ध अभिनय ही 'मार्ग' है और ताललयाश्रित गात्र विक्षेप पूर्ण नत्य दशी' है। 'भरत नाटयम्' शास्त्रानुमोदित नत्य का उत्तम उदाहरण है। गरबा, डोमकछ आदिवासी नत्य दशी' के

---

१ कीथ, सस्कृत ड्रामा, पृ० ३४८।

२ श्याम परमार लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ० ७।

३ हजारीप्रसाद द्विवेदी, भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, पृ० २५ २६।

४ It is the soil where all great art is rooted —Early Poems & Stories
W B Rutts London, 1925

५ लोकसिद्ध भवेत् सिद्ध नाट्य लोकस्वभावजम्।
तस्मात् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाण लोक इष्यते।

६ दशरूपक १।६, भावप्रकाशन पृ० २६५-६६।

यदि एक पात्र के मार्ग में एक पर्वत आ जाता है और वह इस बाधा का वाक्य में यो प्रयोग करता है—'सामने यह पर्वत खड़ा है, कैसे आगे बढ़ूँ', तो सचमुच वहाँ पर्वत तो रंगमंच पर नहीं रहता परन्तु वर्ण्याविधान की पद्धति से इच्छा या कार्य रूप में उसका आभास प्रेक्षकों को होता है और वह नाटयधर्मिता से ही। अभिनवगुप्त के मतानुसार लोक में जो क्रियाएँ इच्छारूप में ही रहती हैं, वे कला, शिल्प आदि के आकलन से मूर्त रूप में रंगमंच पर प्रयुक्त होती हैं।[1]

आसन्न वचन का अश्रवण और अप्रयुक्त वचन का श्रवण

लोक-परंपरा और नाटय-परंपरा में कभी कभी विलक्षण विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। लोक में आसन्न व्यक्ति के उच्चरित वचन का लोग श्रवण करते हैं, अनुच्चरित वचन का श्रवण नहीं करते। परन्तु नाटय प्रयोग के संदर्भ में कथावस्तु के आग्रह से आसन्न पात्र के उच्चरित वचन को दूसरे पात्र श्रवण नहीं करते, इसके लिए 'जनान्तिक' और 'अपवारित' जैसे विचित्र नाटय शिल्प का प्रयोग होता है। दूसरी ओर कथावस्तु के आग्रह से ही अप्रयुक्त वचन को पात्र सुन लेते हैं आकाशभाषित की योजना इसी विधि के अनुसार होती है। इस प्रकार की नाटय रूढ़ियाँ कथावस्तु और मनोविनोद दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी होती हैं।[2]

शैल, यान, विमान और आयुध आदि का प्रयोग

कथावस्तु की विकास भूमि तो यह नाना रूपधरा धरित्री है। उसी परिवेश में उसका पूर्ण विकास होता है। रंगमंच पर कथावस्तु अपने समस्त परिवेश के साथ प्रस्तुत हो यह भरत की कल्पना है। परन्तु रंगमंच की तो अपनी परिसीमा है। उस पर पर्वत, यान विमान और आयुध आदि का प्रकृत रूप में प्रयोग तो संभव नहीं है। इसलिए भरत ने इन लौकिक वस्तुओं के लिए प्रतीकात्मक प्रयोग का विधान भी प्रस्तुत किया है। कहीं पात्र की विशिष्ट आंगिक चेष्टाओं द्वारा इन भौतिक पदार्थों का बोध होता है। कहीं इन भौतिक पदार्थों के मानवीकरण के माध्यम से प्रयोग होता है, प्रेक्षक को तद्वत आभास भी होता है। शैलयान आदि का मूर्तिमद् प्रयोग तो नाटयधर्मी रूढ़ि द्वारा संपन्न होता है।[3]

एक पात्र का एक से अधिक भूमिका में प्रयोग

भरत के निर्देशानुसार एक पात्र एक से अधिक भूमिका में अभिनय का प्रयोग करता है। उसके दो कारण हैं एक तो पात्र की अभिनय-कुशलता और दूसरे पात्रों की न्यूनता। इन दो कारणों में कुशल प्रयोक्ता पात्र एक से अधिक भूमिका में नाटयधर्मी रूढ़ि के अनुसार ही अवतरित होते हैं। संभव है कि भरत के काल में यह परंपरा भारतीय नाट्य प्रयोग में प्रचलित हो कि एक ही पात्र एकाधिक भूमिका में भाग लेता हो।[4]

---

१ ना० शा० १३।७५ (गा० ओ० सी०)।

२ आसन्नोक्तं च यद्वाक्यं न शृण्वन्ति परस्परम्।
अनुक्तं श्रूयते यच्च नाटयधर्मी तु सा स्मृता ॥ ना० शा० १३।७६ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० १३।७७ (गा० ओ० सी०)।

४ ना० शा० १३।७८ (गा० ओ० सी०)।

शकुन्तला, महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान की शकुन्तला की अपेक्षा यहाँ अधिक सुकुमार, रमणीय और मन भावन है। शकुन्तला की यह परम रमणीय मूर्ति कालिदास की कल्पना प्राण सरस तूलिका की सृष्टि है। कहाँ महाभारत की धृष्ट तापस बाला और कहाँ कालिदास की मानस हंसिनी-सी सुन्दर, सलज्जा, सुकुमार, मुग्धा यह मुनितनया!

पात्रों के स्वभाव और चित्तवृत्ति आदि जिस रूप म परपरा से गृहीत होते आये हैं, उनका अतिक्रमण करके उसम नवीन कल्पना विन्यास द्वारा चित्तवृत्ति भिन्न रूप म प्रस्तुत होती है। तापसवत्सराज म विदूषक की चपल मनोवृत्ति के प्रतिकूल वत्सराज ने उसम मन्त्रिजनोचित गाभीर्य और अवहित्था की योजना की है। इसी नाटक म वत्सराज की पत्नी स्त्री-स्वभावानुरूप प्राकृत भाषा के स्थान पर सस्कृत का प्रयोग करती है। इसम कल्पना द्वारा सत्व या मनोवृत्ति का अतिक्रमण होता है।[१]

लक्षण युक्तता और अभिनय मे मनोहारिता

कल्पनाशील काव्य भाग और प्रयोग भाग दोनों म ही नाट्यधर्मी प्रभाव के कारण नाट्य के समस्त लक्षण वतमान रहते हैं, उन लक्षणो से सुशोभित आगिक आदि अभिनयो की शोभा प्रधान मनोहारी अगहार आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। नाट्यधर्मी रूढ़ि म शास्त्रीय विधियो से सपन्न अभिनय सुचारु और अधिक रोचक होता है। नाट्य का काव्य भाग और प्रयोग भाग यथावत् रूप म प्रस्तुत नही किया जाता। आवश्यकतानुसार वाचिक अभिनय के प्रसग मे उसमे स्वरो के हृदयग्राही रागयुक्त आरोह अवरोह तथा अलकारो की मधुर योजना होती है।[२]

पात्रो की भूमिका मे विपयय

नाट्यधर्मी विद्या के अनुसार पात्रो की भूमिका म भी विपयय होता है पुरुष पात्र स्त्री की भूमिका म और स्त्री पात्र पुरुष की भूमिका म रगमच पर अवतरित होते हैं। इस विपयय प्रणाली के अनुसार पुरुष पात्र और स्त्री पात्र न केवल अपनी वेषभूषा, भाषा, अगो की उद्धत या सुकुमार लीला का ही परस्पर विपयय करते हैं अपितु प्रयोग काल मे परस्पर स्वभाव का भी त्याग कर दूसरे के स्वभाव म समाविष्ट हो रगमच पर प्रस्तुत होते हैं।[३]

लोक-प्रसिद्ध द्रव्य का प्रयोग

ससार मे विविध सामग्रियाँ, आचार व्यवहार और कम के दशन होते है। इन प्रसिद्ध द्रव्यो का प्रयोग इच्छा या मूर्तिमान प्रतीको के रूप म होता है वह नाट्यधर्मी रूढि के अनुसार ही। 'माया पुष्पक' नाटक म ब्रह्मशाप के प्रवेश की मूर्त कल्पना की गई है।[४] परन्तु ब्रह्मशाप तो एक क्रिया है जिसका प्रयोग कायवत् होता है। इसी प्रकार रगमच पर कथावस्तु के आग्रह से

१ अतिवाक्य क्रियोपेतमतिसत्वातिभावकम्। ना० शा० १३।७३क (गा० ओ० सी)।
२ लीलागहाराभिनय नाट्य लक्षण लक्षितम्। ना शा० १३।७३ख (गा० ओ० सी०)।
३ ना० शा० १३।७४क (गा० ओ० सी०)।
४ अ० भा० भाग २, पृ० ३१६।

द्वारा ही कक्ष्याविभाग, प्रासाद, पर्वत, शैल यान, आदि की विविध मुद्राओ द्वारा इच्छानुरूप या कार्यवत् प्रयोग होता है। क्योकि इनका प्रयोग रगमच की परिसीमा के कारण पूर्णत कदापि सभव नही है, इसलिए इनका अशत ही प्रयोग होता है, पर उसी के द्वारा उनकी सूचना दृश्य रूप मे रगमच पर हो जाती है। *अत वह 'अशोपजीविनी' नाट्यधर्मी रूढि होती है।* मराठी टीकाकार उटके गोविन्दाचार्य ने लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढियो का अन्तर भी स्पष्ट किया है—वाचिक अभिनय मे वाक्य प्रयोग तो लोकधर्मी है, पर गान नाटयधर्मी है। इसी प्रकार जनातिक और अपवारित विधिया नाट्यधर्मी हैं। आहार्य के अभिनय के अतर्गत अलकारो का परिधान तो लोकधर्मी है, परन्तु पाद प्रचार मात्र द्वारा शैल-यान विमान आदि पर आरोहण नाट्यधर्मी है। सात्विक अभिनय मे अश्रु का प्रदर्शन मात्र तो लोकधर्मी है पर भाव भगिमा और मुद्राओ द्वारा उसकी व्यजना नाट्यधर्मी है।

यद्यपि यह विभाजन और विचार की शैली नितान्त नवीन नही है क्योकि भरत के द्वारा निर्दिष्ट दोनो धर्मियो के निहित विचार तत्व म इनका समावेश हो जाता है। निस्सदेह मराठी टीका का उपबृहण विषय की स्पष्टता की दृष्टि से अत्यन्त समीचीन और महत्त्वपूर्ण है।

लोकधर्मी और नाटयधर्मी रूढियो की स्वतत्र उपयोगिता और महत्ता प्रतिपादित करने पर भी भरत का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध म नितान्त स्पष्ट है कि लोकधर्मी रूढियाँ ही नाटयधर्मी रूढियो के लिए आधार प्रस्तुत करती हैं। नाटयधर्मी रूढिया का विकास लोकानुभूति और लोकाचार से ही होता है। वस्तुत लोकधर्मी रूढियाँ नाट्यधर्मी के लिए चित्राधारवत् हैं।

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या क्रिया ।
लोकधर्म प्रवृत्तानि तानि नाट्य प्रकीर्तितम ॥

बुद्धि की वैभवशाली कल्पना है जिसमे समस्त नाट्य प्रयोग को रसमय रागमय रूप देने का प्राणवान् सकल्प है।[१]

आचार्यों की मान्यताएँ

भरतोत्तर आचार्यों की दृष्टि प्रयोगात्मक न होने के कारण स्वभावत धनजय आदि आचार्यों ने नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढ़ियो का विचार नही किया है। रामकृष्ण कवि महोदय ने भरतकोष मे वेमभूपाल, कुभ और सगीतनारायण के मतो का आकलन किया है, परन्तु उनके विचारो मे किसी प्रकार की नूतनता नही, भरत के विचारो की पुनरावृत्ति मात्र है।[२]

धर्मियो के नवीन भेद

नाट्यशास्त्र सग्रह' मे प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध मे सक्षेप मे मौलिक रूप से विवेचन किया गया है। चार ही श्लोको मे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी विषय का क्रमबद्ध विवेचन है, परन्तु उसकी मराठी टीका मे विषय का विवेचन विस्तार से किया गया है। लोकधर्मी और नाट्यधर्मी विधाओ की प्रधान विशेषताओ को दृष्टि मे रखकर उनका निम्नाकित रूप मे विभाजन किया है

लोकधर्मी रूढ़ि के दो भेदो के अन्तर्गत जिन दो भेदो का कथन किया गया है उनमे से एक के अन्तर्गत मनुष्य के सुख दु खात्मक स्वभावो से प्रवृत्त अभिनय का विधान होता है। अन्तर की चित्तवृत्तियो का प्रस्फुटीकरण होता है। दूसरा भेद बाह्य वस्तुओ का सकेतक है। मनुष्य के जीवन के चारो ओर प्रकृति की सुन्दरता सरोवरो की स्वच्छता और कमलो का रगबिरगा नयनाभिराम रूप सौन्दर्य का प्रसार करते हैं उसकी ओर सकेत होता है।[३] मनुष्य की अन्तर्वृत्ति तथा उसके जीवन का बाह्य परिवेश दोनो ही लोकधर्मी नाट्य प्रक्रियाओ द्वारा प्रयुक्त होते हैं। *नाट्यधर्मी के प्रथम विभाजन कैशिकी शोभा' की प्रक्रिया द्वारा अगो का विलास, हस्त एव पाद* प्रचार गीत एव नृत्य आदि का प्रयोग होता है। अशोपजीविनी नामक नाट्यधर्मी के दूसरे भेद

१ यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या क्रिया।
लोकधर्म प्रवृत्तानि नाट्यमित्यभिधीयते ॥ कुभ (भरतकोश), पृ० ७२१।

२ भरतकोश अनुक्रम पृ० ६११ ८११ तथा ना० शा० १३।७०-८८।
भरतकोश पृ० ८५६ (भरत कोश)।

३ [illegible]
[illegible]
[illegible]

— [illegible], मराठी टीका मे उद्धृत, पृ० २७ [illegible]।

दशम् अध्याय

नाट्य की उपरजक कलाएँ

१ गीत-वाद्य
२ नृत्य

१९

गीत-वाद्य

नाट्य मे गीत वाद्य का सतुलित प्रयोग और परम्परा

भरत की दृष्टि म नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत वाद्य का महत्त्व है। वह इसीसे प्रमाणित हो जाता है कि उक्त विषय का विस्तृत विवेचन भरत ने नाट्यशास्त्र के छ सात अध्यायो (२८ ३४) मे किया है। नाट्य प्रयाग के प्रथम चरण पूवरग' का मगलारभ गीत एव नत्य स होता है। नाट्य प्रयोग क मध्य गीत प्रयोग का विधान तो है ही, प्राचीन भारतीय नाटको म अक क आरभ और अन्त भी गीतो की मधुरलय से रससिक्त रहते हैं। भरत की दृष्टि गीत प्रयोग के सम्बन्ध म अत्यन्त सतुलित एव स्पष्ट है। वे गीत वाद्य को नाट्य प्रयोग का अग मानते हैं, उसकी सफलता का सहायक मात्र। गीत और वाद्य नाट्य प्रयोग म अलातचक्र की तरह मिले रहते है।[1] वाद्य भाडो एव वीणा आदि का वादन इस सतुलन के साथ होता है कि उनकी स्वर-योजना मे नाट्य प्रयाग भाव-समृद्ध और रसानुग हो जाता है न कि उसम ही नितान्त अन्तर्लीन हो जाता है। नाट्य प्रयाग म 'गीत-वाद्य के महत्त्व' पर इस दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि भरत मूलत नाट्य प्रणेता थे। गीत को नाट्य प्रयोग का अग मानकर ही उसका विधान नाट्य प्रयोग के सहायक अग क रूप म उन्होने किया है। भरत की इस मान्यता का स्पष्ट परिचय पूवरग-विधान क प्रसग म हम मिलता है। वहाँ पर गीत एव नत्य का विधान करते हुए यह उन्होने प्रतिपादित किया है कि नाट्य की भावधारा म रागात्मकता के सचार के लिए इनका प्रयोग हाता है। अत जहाँ गीत और वाद्य नाट्य प्रयोग को शक्ति और गति नही देते, वहा इनका प्रयोग अपेक्षित नही है। गीत वाद्य नत्त का अतिशय प्रयोग होने पर प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनो खेद अनुभव करते हैं और भाव एव रस अस्पष्ट हो जाते हैं। गीतो का प्रयोग भाव रस के प्रकाशन के लिए होता है।

१ एव गीत च वाद्य नाट्य च विविधाश्रयम।
अलातचक्रप्रतिम कर्तव्य नाट्योक्तृभि। ना० शा० २८। ७ का० भा०

आधुनिक भारतीय नाट्य स सर्वथा मिट नही सकी है। स्वय पाश्चात्य नाट्य शैली के विचारकों ने नाट्य प्रयोग म गीत के महत्त्व को स्वीकार किया है। ओपेरा तो गीति प्रधान नाट्य का समान धर्मा है। परन्तु अन्यत्र भी गीत का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके विचार से गीत की योजना इस कुशलता से हो कि प्रेक्षक यह अनुभव करे कि नाट्य के राग प्रभाव सृजन म गीत भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है।[1]

गीत-वाद्य के प्रवर्तक भरत के पूर्ववर्ती आचार्य

भरत का गीत-वाद्य विधान पर्याप्त विस्तृत है। सभव है उनसे पूर्व भी सगीताचार्यों की परपरा रही हो। भरत म स्वाति, नारद और तुम्बरू आदि आचार्यों की परम्परा का उल्लेख किया है।[2] भरत ने उनका आकलन कर शास्त्रीय रूप दिया है और उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये है। सप्त स्वर, रसानुसार स्वर-योजना, वर्ण और अलकार, ताल लय और यति की महत्ता, ध्रुवा का स्वरूप और भेद, वाद्य क प्रकार और उनका तालाश्रित प्रयोग आदि गीत वाद्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयो का भरत न आकलन किया है। भरत की दृष्टि म गीतवाद्य नाट्य की शय्या है, इनके समुचित प्रयोग होने पर नाट्य प्रयोग विपत्तिग्रस्त नही होता।[3]

गीत का स्वरूप और प्रकार

सगीत या गीत का स्वर नाद होता है। नाद पराशक्ति ब्रह्म का प्रतीक है। यही स्फोट का व्यजक है। स्फोट और नाद म वही सम्बन्ध है जो नयना और उसके प्रत्यक्षीकरण का विषय रूपात्मक जगत् म। रूप चक्षुग्राह्य है और चक्षु रूपग्राह्य है, गध म घ्राण ग्राह्यता है, घ्राण सुगधि-ग्राह्य है। इसी तरह कठाभिघात स उत्पन्न ध्वनि ही अकार आदि का व्यजक है।[4] यह नाद प्राण वायु और प्राणाग्नि से अभिव्यक्त होता है।[5] इस नाद क विना न तो गीत होता है और न स्वर ही। वस्तुत नाद से ही तो नृत्त भी प्रवृत्त होता है। समस्त जगत् ही नाट्यमय है।[6] नाद के भेद रूप ही श्रुतियाँ हैं, क्योकि उनका श्रवण होता है। वस्तुत श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण ध्वनि ही श्रुति होती है। दर्पण म जिस प्रकार मुख विवर्तित होता है वस ही स्वर भी श्रुतिया म विवर्तित होने पर प्रतिभासित होते हैं। मृत्पिण्ड और दण्ड आदि के द्वारा घट' काय उत्पन्न होता है अथवा अधकार स्थित घटादि की व्यजना दीप के द्वारा होती है, उसी प्रकार, श्रुतियो के द्वारा सात स्वरो की व्यजना होती है। श्रुतियो से उत्पन्न अनुरणनात्मक स्वन्' (स्वर) श्रोता

---

१ The audience is made to feel more deeply that the music is inevitable vehicle for the expression of dramas

Producing opera Clive Gray, Stage and Theatre, p 689

२ ना० शा० ३४।२ का० मा०।

३ गीते प्रयत्न प्रथम तु कार्यं शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति गीतिम्।
गीते च वाद्ये च हि सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति। ना० शा० ३२।४८१ का० मा०।

४ वाक्यपदीय—(ब्रह्मकाण्ड) ६७।

५ 'न' कार प्राण इत्याहु 'द' कारश्चानलो मत। मतग (भरतकोष)।

६ न नादेन विना गीत न नादेन विना स्वर।
न नादेन विना नृत्त तस्मान्नादात्मक जगत्। भरतकोष पृ० ३२४।

पर गीतो के अतिशय प्रयोग होने पर तो वह नाटय प्रयोग 'रागजनक' न होकर खदजनक' ही हो जाता है।[1] नाट्य म गीत प्रयोग के सम्बन्ध म भरत का यह सतुलित सिद्धान्त है।

भारतीय नाट्य मे गीत वाद्य की परपरा

भारतीय नाटय परपरा भी नाटय म गीत वाद्य के प्रयोग का समथन करती है। नाटय म राग का सचार करने के लिए गीत वाद्य का प्रयोग न कवल आरभ और अत म अपितु मध्य मे भी होता रहा है। कालिदास के तीनो नाटको म गीतो का प्रयोग किया गया है। अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रस्तावना म ग्रीष्म ऋतु को लक्ष्य कर नटी गीत प्रस्तुत करती है। हसपदिका कल-विशुद्ध गीत की स्वर साधना करते हुए राजा को उलाहना देती है। विक्रमोवशी के चतुथ अक म गेय पदो की प्रचुरता है, मालविकाग्निमित्र म मालविका छालक का प्रयोग गीत क माध्यम स ही करती है।[2] रत्नावली म द्विपदिका का गायन दो नारी-पात्रो द्वारा होता है।[3] मृच्छकटिक म रोमिल के रागयुक्त तार मधुर, सम एव स्फुट गीत की मनोहारिता म चारुदत्त का मन डूब जाता है।[4] सस्कृत एव प्राकृत क नाटको म गीत का प्रभाव स्पष्ट है। पन्द्रहवी सोलहवी सदी के प्रसिद्ध मथिली नाटक 'पारिजातहरण' म उमापति ने अनेक मधुर गीतो की योजना की है।[5] नाटको म गीतो द्वारा मनुष्य की रागवत्ति के प्रसार की परपरा, पाश्चात्य नाटय-पद्धति का पर्याप्त प्रभाव होने पर भी, हिन्दी नाटको म अब भी वतमान है। हिन्दी के आधुनिक नाटककार प्रसाद प्रेमी, रामकुमार वर्मा, बेनीपुरी एव माथुर आदि के नाटको म गीतो की कोमल ललित स्वर लहरी, कभी इतिहास रस, कभी देशभक्ति और कभी भाव एव रस का समृद्ध वातावरण प्रस्तुत करती है।[6] नाट्य प्रयोग म गीत-वाद्य एव नृत्त की सतुलित योजना भारतीय नाट्य-परपरा की एक अपनी विलक्षणता रही है, जो इब्सन और बर्नार्डशॉ के प्रभावो के बावजूद

---

१ कार्यो नातिप्रसगोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति।
गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसगत।
खेदो भवेद् प्रयोक्तृणा प्रेक्षकाना तथैव च।
खिन्नाना रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते॥
तत शेष प्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्। ना० शा० ५।१८८ ६० (गा० ओ० सी०)।

२ अ० शा० अक १।३।४, ४।१ विक्रमोवशी अक ४।७ मालविकाग्निमित्र अक २।४

३ रत्नावली अक १।१३ १८

४ मृच्छकटिक अक ३।१ ४ (रक्त च तारमधुर च सम स्फुट च)।

५ उमापति पारिजातहरण (सपादक जॉर्ज ग्रियर्सन), पृ० १ गीतसख्या १, ४, ८, ७ ८, ११, १२, १३ आदि।

६ चन्द्रगुप्त, पृ० ५४, ५५ ८६ २।८६, १०६, १११ ४।१५३, १५६, १६१, १६२ ६३।
स्कन्दगुप्त-अक १, पृ० १६, २३, ३१, ४०, ४४, ५१, ६३, ८२, ८७, ६५, ४, पृ० १०६, १३० ५।१३१, १३६, १३६, १४३।
मान का मान (हरेकृष्ण प्रेमी—सवत् २०१८), पृ० २६, ४६, ६३।
अम्बपाली (श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी), पृ० १, ५१, १३६, १५२।
कौमुदी महोत्सव (रामकुमार वर्मा) पृ० ३६, (रगसप्तक सग्रह के अनुसार) शैलशिखर।
भोर का तारा (जगदीशचन्द्र माथुर), तथा—प्रेमी—स्वप्नभग लक्ष्मीनारायण—मदने का भोर पन्त—अप्सरा दिनकर—उर्वशी उदयशकर भट्ट—कालिदास, मत्स्यगधा आदि।

षड्ज स्वर के ऋषभ, गाधार, धवत, निषाद, अनुवादी ही हैं। ऋषभ के मध्यम, पचम और निषाद अनुवादी ही हैं।[1]

४ विवादी

रागानुकूल स्वरा का बाधक स्वर 'विवादी' होता है। यह स्वरो मे आकस्मिक रूप से उत्पन्न होता है। इसके योग से प्रवतमान गीत के राग की हानि होती है। इसीलिए इसकी परिगणना वज्य स्वरो मे की जाती है।[2] अत वचनीय (वदनात् वादी) हाने से वादी', उसमे सहायक हो मिल जाने से 'सवादी' और राग के सौन्दय को समृद्ध करने के कारण अनुवादी', परन्तु राग के बाधक होने से स्वर विवादी' होते हैं। स्वरो की न्यूनता और अधिकता का निर्धारण तत्री का आधारभूत दण्ड एव इन्द्रियो की विगुणता से होता है। आचाय अभिनवगुप्त की दृष्टि से स्वरो मे वादी स्वामी, उसके अनुसारी इतर सवादी स्वर अमात्य, विवादी स्वर शत्रु तथा वादी स्वर म योग देने वाले अन्य स्वर परिजन की तरह अनुवादी होते हैं।[3]

ग्राम

स्वरा का सयोग 'ग्राम' होता है। भरत ने दो ग्रामो का उल्लेख किया है—षडज और मध्यम। गाधार भी ग्राम ही है। परन्तु उसका प्रयोग लोक म नही होता। लोक म उपर्युक्त दो ही 'ग्राम' व्यवहृत होते हैं। वेदो मे प्रचलित उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन स्वर इन लौकिक ग्रामो से भिन्न हैं। इन दोनो ग्रामो मे षड्ज ग्राम 'आदि ग्राम' होने के कारण प्रधान होता है। वस्तुत 'ग्राम' शब्द अन्वय है। ग्रामा मे कुटुम्बियो के 'ग्राम' (समूह) रहते है, इसीलिए उस समूह को *'ग्राम' कहा जाता है। ग्राम मे भी स्वर, श्रुति मूर्च्छना, ताल, जाति* और राग आदि का व्यवस्थापन होता है। राग के व्यवस्थापन मे 'ग्राम' सहायक होता है।[4] षडज ग्राम म षडज और पचम स्वरो का योग रहता है और मध्यम मे पचम और ऋषभ का सयोग रहता है।

ग्रामों की रागात्मकता

राग मुख्यत इन षडज और मध्यम ग्रामो पर ही निभर करते हैं। राग के द्वारा श्रोता के मन का अनुरजन होता है। सगीत रचना का उद्देश्य है श्रोता के मन मे राग का उदबोधन। गीत के स्वर वर्णों के माध्यम से भावो का सप्रेषण करते हैं, और ये भाव रागात्मक होकर श्रोता का अनुरजन करते हैं। 'राग' स्वर वर्णों के सतुलित व्यवस्थापन से उत्पन्न होता है। इनके द्वारा

---

१ वादिसवादि विवादिषु स्थापितेषु शेषा अनुवादिन सज्ञका। ना० शा०, पृष्ठ ४३२, का० मा०।

२ ना० शा० २८ पृष्ठ ४३२।

३ वदनाद्वादी सवदनात् सवादी, विवदनात् विवादी, अनुवदनात् अनुवादी ति। एतषा स्वराणा न्यूनाधिकत्व त त्रीवादन दण्डेन्द्रियवैगुण्याद्रुपजायते। ना० शा० २८।४३३ का० मा० तथा अ० भा० भाग ३ पृ० १८।

४ ना० शा० २८।२४ का० मा० तथा मतग भरतकोष, पृष्ठ १८६।

के मन का अनुरंजन करने में कारण ही 'स्वर' होता है।[1] ये विभिन्न श्रुतियों से उत्पन्न होते हैं। इनकी संख्या सात है।[2]

षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।

नाद का पहले श्रवण होता है, वह श्रुति होती है। परन्तु तत्काल ही अव्यवहित रूप में अनुरणन स्वर (ध्वनि) होता है। श्रोता के मस्तिष्क पर 'स्व' को प्रतिभासित और अनुरंजन करता है। अभिघात से उत्पन्न यह श्रुति या नाद श्रोता की आत्मा के अनुरंजन करने से स्वर' होता है।[3]

स्वरों के चार प्रकार—भरत ने स्वरों का विभाजन श्रुतियों के आधार पर किया है। वे चार हैं वादी संवादी, अनुवादी और विवादी।[4]

१ वादी

राग की अभिव्यंजना के लिए वादी सब स्वरों में प्रधान एवं महत्वपूर्ण होता है। अन्य तीन प्रकार के स्वरों की अपेक्षा राग की अभिव्यंजना के लिए इसकी बार बार आवृत्ति होती है। इसी के द्वारा राग एवं संगीत काल का अनुमान होता है। वादी रागजनक होने के कारण स्वरों में राजा की तरह मुख्य होता है। यह अंश के समान ही सब प्रधान होता है।[5]

२ संवादी

संवादी' स्वर का प्रधान सहायक होता है। इसकी सहायता से राग का सृजन होता है। इसकी स्थिति स्वरों में मंत्री की तरह होती है। समश्रुति होने पर तेरह और नौ का अन्तर होता है। यह केवल वादी स्वर की अपेक्षा गौण होता है परन्तु अन्य स्वर इसकी अपेक्षा गौण होते हैं।[6]

३ अनुवादी

वादी, संवादी एवं विवादी स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वर प्रायः अनुवादी स्वर ही होते हैं। उपर्युक्त दो प्रधान स्वरों की तुलना में अनुवादी स्वरों की स्थिति सेवक की तरह होती है।

---

१ मतंग, भ० को० पृ० ६५५।

२ ना० शा० २८।२२ का० मा०।

३ स्वयमात्मानं रंजयति निपातनात् इति स्वरः निरूपितः। नान्यदेव (भरतकोष) ७८६

तथा—

श्रुत्यनन्तर भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
योगाद्वा रूढितो वाऽपि स स्वरः श्रोतृरंजकः। संगीतराज भ० को० ७८८।

४ ना० शा० २८।२३ का० मा०।

५ तत्रयो यत्रांशः सवादी। ना० शा० पृष्ठ ४३२ का० मा०।

तथा

वदनाद् वादी स्वामिवद्। वदनं हि नामात्र प्रतिपादिकत्वं विवक्षितम्। न वचनमिति। किं तत्प्रतिपादने। रागस्य रागत्वं जनयति। बाधरावद् बोद्धव्य। भरतकोष, पृष्ठ ५६७ (मतंग)।

६ ना० शा० पृष्ठ ४३२ का० मा०।

पर प्रसन्नमध्य अलकार होते हैं। शेष अलकारो द्वारा वर्णाश्रित गीति म रागात्मकता का अधिकाधिक सचार होता है।[1] भरत की दृष्टि से गीति के लिए अलकार नितान्त आवश्यक हैं। बिना चन्द्रमा के रात्रि, बिना जल के नदी और बिना पुष्प के लता तथा बिना अलकारो के नारी लक्षित नही होती। गीति भी अलकारो से विभूषित न होने पर लक्षित नही होती, रागात्मक नही हो पाती।[2]

गीति के प्रकार

भरत के अनुसार चार प्रकार की गीतियाँ होती हैं—मागधी, अधमागधी, सभाविता और पृथुला। *मागधी, द्रुत मध्य और विलबित लय, लघु गुरु और प्लुत अक्षर, तीनो यति तथा* इक्कीस तालो से युक्त होती है। अधमागधी म द्रुत मध्य लय, गुरु और लघु अक्षर तथा मागधी की अपेक्षा आधे तालो का प्रयोग होता है। सभाविता म गुरु अक्षरा की बहुलता रहती है और पृथुला म लघु अक्षरो की।[3]

गीत मे ताल, लय और यति

भरत एव अन्य आचार्यों ने गान की प्रक्रिया म ताल को अत्यधिक महत्त्व दिया है। गीत, वाद्य और नत्य तीनो ही कलाओ के लिए 'ताल' का महत्त्व है। 'ताल' प्रतिष्ठाबोधक शब्द है। इसी मे *गीत, वाद्य और नत्य वतमान रहते हैं और इसीसे प्रवत्त होते हैं। एक अन्य आचाय के* अनुसार 'ता' शकर-बोधक है और 'ल' शक्ति का बोधक। शिव और शक्ति के समायोग से ताल' की उत्पत्ति होती है। ताल के द्वारा गीत क्रिया के काल का अवधारण हाता है। काल (ब्रह्म) सृष्टि स्थिति और प्रलय के मूल म है, उसी प्रकार गीत क्रिया म काल का अवधारक होने के कारण 'ताल' अत्यन्त महत्त्वपूण है। *भरत की दृष्टि से ताल' का अवधारण न जानने* वाला न तो वादक होता है और न गायक ही।[4] यति, पाणि और लय इस ताल के ही अग हैं। द्रुत, मध्य और विलम्बित ये तीन लय हैं। छन्द अक्षर और पदा के सम होने पर गीत म लय की उत्पत्ति होती है।[5] लयो का प्रवतन यति' द्वारा होता है। 'यति नाटयशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की हाती है। *समा, स्रोतोगता (वहा) और गोपुच्छा। आदि, मध्य और अवसान म* कृशता और पुष्टता के आधार पर ही इसका यह त्रिविध रूप होता है। आदि मध्य और अवसान म लय मे समानता रहने पर समा' यति हाती है। प्रारम्भ मे अधिक और क्रमश कृश होने

---

१ नाटयशास्त्र २६।२३ ४६ का० मा०, का० स० २६।४६ ७४।

२ शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव।
अनलक्ष्यते (अविभूषितेव) च नारी गीतिरलकारहीना स्यात्। ना० शा० २६।४६, का० मा०।

३ ना० शा०, का० मा० २६।४७ ५०।

४ (क) यस्तु ताल न जानाति न स गाता न वादक।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन कार्यम् तालावधारणम्।
(ख) शिवशक्ति समायोगात्ताल नामाभिधीयते। भरतकोष पृ० ८, ना० शा० ३१।३२५, का० मा०, सगीतरत्नाकर ५।२।

५ ना० शा० ३१।५३१ का० स०।

राग साहित्य या काव्य की भाँति मनुष्य के मन को आनन्द रस में आप्लावित करते हैं।[1]

अंश स्वर की महत्ता

राग के प्रधान तीन स्वर हैं—ग्रह, अंश और न्यास। संगीत का आरंभिक स्वर 'ग्रह' होता है क्योंकि उसी से गीत के आलाप का उत्थान होता है।[2] 'अंश' 'वादी' की तरह ही स्वरों में प्रधान है। भरत ने यह प्रतिपादित किया है कि 'अंश' में ही 'राग' वर्तमान रहता है और उसी से प्रवृत्त होता है। अभिनवगुप्त और मतंग की दृष्टि से भी स्वरों में 'अंश' वैसे ही प्रधान होते हैं जैसे पुरुष स्वरूप में 'मुख'। अंश स्वर के प्रयोग होने पर ही राग की अभिव्यक्ति होती है।[3] 'न्यास' गीत के परिसमाप्ति काल का स्वर होता है।[4]

गान क्रिया के वर्ण

भरत के अनुसार गान क्रिया ही वर्ण होता है क्योंकि गेय पदों का उसमें वर्णन होता है। ये गान क्रिया रूप वर्ण चार प्रकार के हैं

आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी।

गेय पद के आलाप के क्रम में क्रमशः स्वरों का उत्थान होने पर आरोही, स्वरों के क्रमशः पतन होने पर अवरोही, स्वरों के सम और स्थिर (पुनरावृत्त) होने पर स्थायी तथा स्वरों के संचरण या आरोही और अवरोही के संयोग होने पर संचारी स्वर होता है। ये चारों वर्ण गीत योजक होते हैं और इनकी निष्पत्ति से ही राग का उद्बोधन होता है। लक्षण-युक्त रीति से स्वरों के वर्णन होने पर गान में रसोदय होता है।[5]

अलंकार

स्वर वर्णाश्रित गीति के प्रसन्नादि तेंतीस अलंकार भी होते हैं। कटक केयूर आदि के द्वारा नारी एवं पुरुष का शरीर अलंकृत होता है। वे प्रेक्षक को मन भावन लगते हैं। वर्णाश्रित गीति इन तेंतीस अलंकारों में से विभूषित होने पर श्रोताओं के लिए सुखदायक होती हैं। अलंकारों के द्वारा गीत का राग और भी समृद्ध होता है। प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्न मध्य, सम, स्थित, मृदु, मध्य, आयत, बिन्दु, कंपित, प्रेंखोलित, तार, मन्द्र, रचित और कुहर आदि गीति के अलंकार हैं। क्रमशः स्वर के दीप्त होने पर प्रसन्नादि, व्यस्तता से उच्चारित होने पर प्रसन्नांत आदि अन्त के स्वरों के क्रमशः दीप्त होने पर प्रसन्नाद्यन्त तथा मध्य के दीप्त होने

---

१ स्वरवर्ण विशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा जनः।
रज्यन्ते येन कथितः स रागः सम्मतः सताम्। संगीतरत्नाकर २।२।१ ६क रागविबोध १ १, पृष्ठ १ २, भावविवेक भरतकोष, पृष्ठ ५४१।

२ ना० शा० २८।७१क, का० सं०।

३ रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते। ना० शा० २८।७८ ७८ भरतकोष, पृष्ठ ३ (मतंग), संगीतराज (कुम्भ) पृष्ठ १८८, तथा
यस्मिन् विद्यमाने च रागो रक्ति जातिस्वरूपम् च भाति शिरसीव पुरुषस्वरूपम्। अ० भा०।

४ ना० शा० पृष्ठ ४४३ का० मा०।

५ ना० शा० २६।२८ २६ का० मा०।

नष्क्रामिकी ध्रुवा का प्रयोग अक के मध्य म भी प्रयोजनवश पात्र के निष्क्रमण-काल म हो सकता है।[1]

आक्षेपिकी

नाट्य प्रयोग म प्रवहमान प्रस्तुत रस का उल्लघन करके अन्य रस का आक्षेप करने पर आक्षेपिकी ध्रुवा होती है। इसम प्राय द्रुतलय का प्रयोग होता है।[2]

प्रासादिकी

आक्षेपिकी ध्रुवा क प्रयोग से प्रवहमान लय मे जो क्रम भग उत्पन्न हो जाता है, उसका यथास्थिति निर्धारण इस गीत प्रयोग के द्वारा होता है। इसके द्वारा प्रेक्षको का मन प्रसादन तथा राग का उद्बोधन होता है। यह 'ध्रुवा' प्रसाधन परायण है। अत नाट्य-कथा की अनुरूपता को दृष्टि म रखकर इसका प्रयोग कभी भी हो सकता है। रामचन्द्र की दृष्टि से विभावो के उन्मीलन द्वारा प्रस्तुत रस के निमलीकरण अथवा पात्र की चित्तवत्ति का सामाजिको क समक्ष प्रकाशन 'प्रसाद' माना जाता है। प्रावेशिकी और आक्षेपिकी के बाद इसका प्रयोग आवश्यक होता है।[3]

आन्तरी

नाट्य प्रयोग काल म पात्र के मूच्छित मन, क्रुद्ध या वस्त्र एव आभरण आदि के अव्यवस्थित हो जाने से जो त्रुटि परिलक्षित होती है उसको ढँकने के लिए गान की योजना हाती है। इस गीत के प्रयोग से प्रेक्षको का ध्यान उस गान की ओर आकर्षित हो जाता है, प्रयोग की त्रुटि की ओर नही। यह गान पूववर्ती या भावी रस का अनुगमन करता है। शारदातनय के अनुसार आन्तरी ध्रुवा का गायन नाट्य प्रयोग-गत त्रुटि के आच्छादन के लिए नही अपितु अक की परिसमाप्ति म इसका गायन होता है। उनकी दृष्टि से यह उपसहारात्मक गीत होता है।[4] अभिनवगुप्त ने अन्तरे छिद्रे गीयते इति अन्तराध्रुवा' यह अन्वथ व्युत्पत्ति की है। इसके प्रयोग से छिद्र (दोष) का प्रच्छादन हो जाता है।

ये पाँचो ध्रुवागान नाट्य प्रयोग मे प्रवर्तमान रस भाव, ऋतु काल और देश आदि के सदभ मे प्रयुक्त होते है। स्वभावत नाट्य-कथा क अग के रूप म इनका प्रयोग होता है। इसीलिए रामचन्द्र ने 'कवि ध्रुवा' के नाम से इनका उल्लेख किया है। नाट्य प्रयोग को भाव एव रस समृद्ध बनाने के लिए इनका प्रयोग होता है। अतएव नाटयकार की प्रतिभा के ये गान सकेतक होते हैं। उपयुक्त समय और स्थान पर उनका प्रयोग होने पर प्रवतमान नाट्य कथा एव रस को उचित वेग और शक्ति देते हैं। रसाश्रित ध्रुवागान नाट्याथ का उसी प्रकार प्रकाशन करते हैं जसे नक्षत्रगण आकाश को अपनी ज्योत्स्ना से प्रकाशित करत हैं।[5]

---

१ ना० शा० ३२।३१६, का० मा० ना० द०, वही।

२ ना० शा० ३२।३२०, का० मा०।

३ प्रस्तुतस्यरसस्य विभावोन्मीलनेन निर्मलीकरण प्रसाद प्रविष्टपात्रस्य अन्तर्गत चित्तप्रवृत्ते सामाजिकान् प्रति प्रथन वा प्रसाद । ना० द० ४, पृष्ठ १७२ (गा० ओ० सी०)।

४ विषण्णे मूर्च्छिते भ्रान्ते वस्त्राभरण सयमे।
दोषप्रच्छादना या च गीयते सा तरा ध्रुवा। ना० शा० ३२।३२२ का० मा०।

५ तथा रसकृता नित्य ध्रुवा प्रकरणाश्रिता (ध्रुवा)।
नक्षत्राणीव गगन नाट्यमुद्योतयन्ति ता ॥ ना० शा० ३२।४३६, का० मा०।

रूप 'स्रोतोवहा' और प्रारम्भ में कृश और उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर गोपुच्छा' यति होती है।[1]
का० स० के अनुसार वाद्यप्रधान भूयिष्ठा चित्रा 'समा', कभी द्रुत और विलंबित होने पर, वाद्य-श्रुतप्रधान होने पर स्रोतोवहा तथा गुरु-लघु अक्षरों से भावित होने पर लम्बिता गोपुच्छा होती है।

ध्रुवा गान

भरत ने गीत विद्या के विविध पक्षों का विवेचन शास्त्रीय शैली में विस्तार से किया है। इन गीतों द्वारा नाट्य में रागात्मकता, भाव और रस में गति का संचार होता है। इसीलिए भारतीय नाट्य में यत्र-तत्र नाट्य कथा के मध्य में भावदशा की तीव्रता और अधिकाधिक अनुभूतिगम्यता प्रदान करने के लिए गीतों की योजना होती रही है। इन गीतों के अतिरिक्त भरत ने ध्रुवा गीति का भी विधान पर्याप्त विस्तार के साथ किया है। स्वर वर्णों का उपयुक्त चयन, अलंकारों का प्रयोग, शारीरिक भाव भंगिमा और गीत के उत्कर्ष के द्वारा ध्रुवागान की रचना होती है, इसके प्रयोग से नाट्य के पात्रों की गति और चेष्टा आदि की पूर्ण अभिव्यंजना होती है। अतः अन्य गीतों की अपेक्षा ध्रुवा-गान नाट्य प्रयोग के लिए अधिक उपयोगी है। भरत की यह मान्यता है कि इसमें गीतों के जो विविध अंग विनियुक्त रहते हैं, उनमें स्थायी सम्बन्ध है। इसीलिए ये गान 'ध्रुवा' के रूप में व्यवहृत होते हैं।[2]

ध्रुवा गान के प्रकार

ध्रुवागान भरत के अनुसार पांच प्रकार के हैं—
प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा।

प्रावेशिकी

प्रावेशिकी ध्रुवा का प्रयोग पात्रों के प्रवेश काल में होता है। नाट्यार्थ एवं प्रधान रस से सम्बन्धित गीत वस्तु की योजना इसमें होती है। इसीलिए प्रावेशिकी यह नाम उपयुक्त भी है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार आगे प्रविष्ट होने वाले पात्र के रस भाव, अवस्था आदि का प्रवेश शब्द से अभिधान होता है। प्रावेशिकी ध्रुवा में नाट्य की प्रधान रस धारा और कथा का संकेत अत्यन्त रसमय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विशाखदत्त रचित देवी चन्द्रगुप्तम् में चन्द्रगुप्त के भावी उत्थान की सूचना प्रावेशिकी ध्रुवा द्वारा ही दी गई है।[3]

नैष्क्रामिकी

अंक के अंत में पात्रों के निष्क्रमण-काल में इस गीत का प्रयोग होता है। इसका प्रयोग नाट्यार्थ की अपेक्षित सिद्धि या कथावस्तु के परिसमाप्ति-काल में होता है। रामचन्द्र के अनुसार

---

१ ना० शा० ३१/५२४ २५ का० स०, तथा भरतकोष पृ० ९९२ (अच्युत)।

२ ना० शा० ३२/१ का० मा०।

३ नानार्थरसमुपेता नर्या या गीयते प्रवेशेतु। प्रावेशिकी तु नाम्ना । ना० शा० ३२/२१८, का० मा०।
एष मित्र दर विस्तर प्रणयि शशिरोष वैरितिमिरौघ।
निजविधिविशेन चन्द्रो गगनाश्रय लंघितु विशति॥ (संस्कृत छाया)।
ना० द० ५/२, देवी चन्द्रगुप्त, अंक १।

गायको और वादको की आसन-व्यवस्था

गान और वाद्य की शास्त्रीय विधियो का ही नही गायको और वादका की आसन विधि का भी समुचित निर्धारण भरत न किया है। नेपथ्य गृहाभिमुख दो द्वारा के मध्य सब वाद्यो के रखने का विधान है। मृदगवादक रगमच की ओर उसकी बायी ओर पाणविक, गायक रग-पीठ के दक्षिण उत्तराभिमुख, गायिका उसके सम्मुख उत्तराभिमुख गायन के वाम पार्श्व मे वणिक तथा उसके दक्षिण म वशीवादको के बैठन का विधान है। तीना प्रकार क नाट्य मण्डपो म गायक और वादक रगशीष और रगपीठ के द्वारा के मध्य म रहते हैं।[1]

प्रयुक्त वाद्य

नाट्यशास्त्र म आतोद्य के विवेचन के प्रसग म मदग पणव ददुर दुदुभि मुरज यल्लरी, पटह, वश, शख और ढक्किनी आदि अनेक प्रकार के वाद्या का परिगणना की गई है।[2] अभिनयदपण म पटह, वशी, द्रोण, वीणा तथा प्रसिद्ध पुरुष गायक पात्र या पात्री बाह्य प्राण के रूप मे परिगणित हुए हैं।[3] सगीत मकरद म दस प्रकार की वीणा तथा अय वाद्यो की परिगणना की गई है।[4] सगीत शास्त्र के अय ग्र था म अय अनेक प्रकार के वाद्या का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

समाहार

भरत ने जिन चार प्रकार के प्रधान वाद्या का उल्लेख किया है उनके माध्यम स वाद्य वृ द का भी प्रयोग प्राचीन काल म हाता होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। भरत नाट्य एव कथकली नत्या मे भारतीय वाद्यो की सहायता से वाद्य व द की योजना अभा भी हाती है। *आकाशवाणी द्वारा प्रसारित सगीत के कायक्रम म आर्केस्ट्रा का सफल आयोजन होता है।* आधुनिक गीतिनाट्या के सफल प्रयोग के लिए भाव एव रस के अनुवर्ती विविध वाद्या का प्रयोग किया जाता है। गीतिनाट्य मे प्रवहमान राग को वाद्यो के योग से बल मिलता है। उसके अतिरिक्त वाद्य के यथोचित प्रयोग से नाट्य प्रभाव की भी वद्धि होती है। अत प्रभाव-सृजन की दृष्टि से भी वाद्यो का प्रयोग निता त उचित होता है।

भरत ने गीत वाद्य का योग नाट्य प्रयोग की सफलता के लिए अत्यावश्यक मानकर ही उक्त दोनो विषया का विस्तत विधान नाट्यशास्त्र म किया है। गीत और वाद्य का स्वतत्र महत्त्व भी होता है और इनका प्रतिपादन सगीतशास्त्र म स्वतत्र रूप से भी हुआ है। नाट्य मे उनका प्रयोग सहायक के रूप म ही होता है। नाट्य प्रयोग की सिद्धि क लिए गीत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भरत ने अनेक बार प्रशसासूचक विचार प्रकट किए हैं। उनकी दृष्टि से जिस प्रकार चित्र की कल्पना विविध वर्णों के बिना नही हो सकती उसी प्रकार नाट्य म राग का

---

१ ना० शा० ३४। पृ० ६४० का० मा०।

२ वही ३४।६ १६, का० स० ३४।२ १०१७।

३ अभिनयदर्पण पृ० ३५।

४ सगीतमकरद ४।६ ११, पृ० २२।

सगीत मार्ग और देशी

सगीत और गीत सामान्यत एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द के रूप म व्यवहृत होते है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से दोनो म किंचित् भिन्नता है। सगीत म गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश होता है, अतएव यह त्रिवर्ग है। परन्तु गीत म मौखिक गीत का ही बोध होता है। इसम स्वर, पद और ताल का सम वय होता है। यह सगीत भी मार्ग और देशी भेद से दो प्रकार का होता है। मार्ग-सगीत म दिव्य गीत और नृत्य का योग रहता है इसका प्रयोग गधर्वों द्वारा ही होता है। यह सगीत प्रकार सार्व प्रचलित नहीं है। कभी भरत ने दिव्य अप्सराओ द्वारा इसका प्रयोग किया था। परम्परा के अनुसार त्रिपुरघ्न ने अर्जुन को मार्ग की शिक्षा दी थी। परन्तु देशी सगीत स्थानीय होता है और विभिन्न प्रदेशो की जनरुचि के आधार पर यह विभिन्न रूपो म प्रचलित है। मतग के अनुसार देशी गीत लौकिक सगीत है। ध्वनि रूप गीत' समस्त ससार म व्याप्त है और गायक के कठ से मधुर ध्वनि के रूप म उत्पन्न होने पर सगीत की लय का सर्जन होता है। अपने अपने देश की परम्पराओं का ध्यान रखकर विभिन्न रुचि के रजनकारी गीत देशी होते हैं। इनम देश-देश के राजाओ और प्रजाओ की रुचि का पूर्ण समावेश होता है।[1]

वाद्य

नाट्य प्रयोग को पूर्ण व्यवस्थित रूप देने के लिए गान की शास्त्रीय विवेचना के अतिरिक्त गान वाद्यो की भी परिगणना उनकी निर्माण विधि एव उपयोगिता आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है। भरतकाल म मुख्यत चार प्रकार के वाद्य प्रचलित थ—तत (वीणा आदि), अवनद्ध (मृदग पटह आदि), सुषिर (वशी और वेणु आदि) और घन (झाल आदि)।[2] ये भारतीय वाद्य विभिन्न शैलियो म बनाये और बजाये जाते थे। इन वाद्य यत्रो के प्रयोग से गीत प्रयोग और भी अधिक रागात्मक हो जाता है। नि सदेह 'गीत' जिस प्रकार ताल और लयाश्रित हो प्रस्तुत किये जाते हैं वाद्य भी ताल और लय के अनुसारी होने पर राग का प्रसार करने म समर्थ होते हैं। अत गान के समुचित प्रयोग के लिए वाद्य के प्रयोग की नितान्त आवश्यकता है। गीत वाद्य का प्रयोग होने पर ही नाट्य का समुचित प्रयोग होता है। दशरूपको म वाद्य का प्रयोग वर्जित नही है। परन्तु यह प्रयोग भी रस भाव को दृष्टि म रखकर होता है। उत्सव, यात्रा मगलावसर विवाह और सग्राम आदि के अवसरो पर वाद्य का प्रयोग होता है। घरेलू उत्सवो म वाद्य-यत्रो की सख्या न्यून होती है। और नाट्य प्रयोग म तो प्राय सब वाद्यो का प्रयोग होता है।[3]

---

१ देशेषु देशेषु नरश्वेराणां रुच्या जनानामपि वर्तते या।
गीत च वाद्य च तथा च नृत्त देशीति नाम्ना परिकीर्तिता सा। भरतकोष, पृ० १६२, २२२, ६०२।

२ ना० शा० २८।२ १८ का० मा०, २६।२ ३ ३१।२ ४, का० स० २८।१ १४, ३०।१ २, ३१।१ ४।
तथा
पूर्व गान ततो वाद्य ततो नृत्त प्रयोजयेत्।
गीतवाद्याग सयोग प्रयोग इति सज्ञित । ना० शा० ३४।३८५ का० मा०।

३ ना० शा० ३४।१८ २० का० मा०।

नृत्य

भारतीय नृत्य की परपरा

भारतीय नत्य की परपरा सभवत उतनी ही प्राचीन है जितनी नाटय की। नाटयोत्पत्ति के इतिहास के क्रम म भरत ने नत्य के उद्भव का भी महत्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। उक्त विवरण के अनुसार तो 'नत्य' का 'नाट्य से स्वतत्र विकास हो चुका था। परन्तु नाट्य म शोभा के प्रसार के लिए नत्य का भी उसम प्रयोग किया गया।[1] नाटयशास्त्र म प्राप्त विवरण के अनुसार नाटय म इसका प्रयोग शिव की प्रेरणा से हुआ। 'त्रिपुरदाह' डिम का प्रयोग भरत ने प्रस्तुत तो किया, पर उसका पूवरग नृत्य विहीन होने के कारण 'शुद्ध' था। शिव ने उसम गीत-वाद्ययुक्त नृत्य का प्रयोग कर उसे 'चित्र' रूप मे प्रस्तुत करने के लिए तण्डु को आदेश दिया कि वह भरत को नत्य की शिक्षा दें। इसीलिए नत्य का एक प्रधान (उद्धत) भेद ताण्डव नाम मे प्रसिद्ध भी हुआ।[2] नाट्यशास्त्र मे प्राप्त एक अन्य विवरण के अनुसार दक्ष के यज्ञध्वस के उपरान्त शिव ने गीत के ताल पर अनेक मुद्राओ म नृत्य किया। उन्होने विविध मुद्राओ म प्रत्येक देवता का अनुकरण नत्य म प्रस्तुत किया।[3] ये पिंडीबध के रूप म प्रसिद्ध हुए। भरत ने इस प्रसग म प्राय सब देवताओ के पिण्डीबध का प्रतीकात्मक विवरण दिया है। नाटयशास्त्र मे नत्य के उद्धत (ताण्डव) और सुकुमार (लास्य) भेदो का निरूपण हुआ है।

नृत्य मे करण, अगहार और रेचक

नत्य म हाथ, कटि पाश्व, पाद, जघा, उदर, वक्षस्थल और पष्ठ आदि का स्थान और

१ किन्तु शोभा प्रजनयेदिति नत्त प्रवर्तितम्। ना० शा० ४।२६४ ख (गा० ओ० सी०)।

२ मयाऽपीद स्मृतनृत्य सन्ध्याकालेषु नृत्यता।
नानाकरणसयुक्तै रङ्गहारैर्विभूषितम्॥ ना० शा० ४।१० १८ (गा० ओ० सी०)।

३ ना० शा० ४।२३३ २४२ का (का० मा०)

(१) 'गेयपद' मे तन्त्री और भाण्ड की सहायता से आसनस्थ हो शुष्क गायन होता है। (२) स्थित पाठ्य' मे कामपीडित विरहिणी स्त्री आसनस्थ ही प्राकृत भाषा मे गायन करती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अक म शकुन्तला का गायन (अयि निघृ ण वरभीय) इस लास्य का उत्तम उदाहरण है। साहित्य दपण म उद्धत अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थित पाठ्य का प्रयोग केवल प्रेमाकुल नारी के विरह के लिए ही नही, क्रोध की मुद्रा म भी हो सकता है।[१]

(३) 'आसीन' म स्त्री चिन्ताशोक समन्वित हो अनलकृत हो, प्रस्तुत होती है वाद्य का प्रयोग नही होता। आश्रम की कुटी मे 'अनन्य मानसा विचिन्तयती' शकुन्तला इसी मुद्रा म बठी रहती है।[२] (४) पुष्पगधिका म स्त्री नर वेश म सखिया के विनाद क लिए ललित सस्कृत का पाठ करती है। सागरनदी क अनुसार इसका प्रयोग प्रेमी के हृदय का मोहने के लिए होता है।[३] (५) प्रच्छेदक म चन्द्रज्योत्स्ना पीडित मानिनी स्त्रियाँ विप्रियकारी पति का भी आलिंगन करती हैं, उनके अपराधा को क्षमा करती हैं। परन्तु विश्वनाथ के मतानुसार विरहिणी नारी अपने प्रेमी का लक्ष्य कर एक तार पर विरह गीत गाती है। अभिज्ञानशाकुन्तल म हसपदिका का गीत प्रच्छेदक ही है। नाटक लक्षण रत्नकोष म उद्धत राहुल के मतानुसार यह प्रच्छेदक नाम अन्वथ है, क्योकि सभ्रान्त कुलीन नारी के प्रेम का प्रच्छेद उसके पति द्वारा होता है।[४] (६) त्रिगूढक पुरुष प्रयोज्य नृत्य है। इसके पद सुकुमार और वृत्त सम होते हैं। सागरनदी ने इसे षमूढक कहा है और विश्वनाथ के अनुसार पुरुष स्त्री की वेश भूषा म नृत्य करत हैं। नृत्यकाल अत्यल्प, पर अत्यन्त सुखदायी होता है। मालती माधव मे मकरन्द माधवी के रूप म प्रस्तुत होता है।[५]

(७) सधवक लास्य म पात्र विस्मृत सकेत प्रिय (अथवा प्रिया) को न पाकर सकेत भ्रष्ट हो वीणा आदि का सहायता से प्राकृत भाषा म गायन करता है। सागरनदी और शिंगभूपाल की दृष्टि से सधवक मे पात्र अपनी देशी भाषा म गायन और नृत्य का प्रयोग करते हैं। विश्वनाथ की दृष्टि से सैंधवक यह नाम अन्वथ है, क्योकि निराशा के कारण लवण रस से मानो पात्र अभिषिक्त हो जाता है।[६] (८) द्विमूढक लास्य मे चौरस पद मगलाथक गीत और अभिनय तथा भाव एव रस नितान्त स्पष्ट हाते हैं। विश्वनाथ के अनुसार इस लास्य का प्रयोग मुख और प्रतिमुख सधिया के क्रम मे रस एव भावाभिव्यक्ति के लिए होता है। मालविका का गीत इसका उदाहरण है। शिंगभूपाल की दृष्टि से इसमे ललित एव विलासपूर्ण गति का भी योग रहता है। सागरनदी के अनुसार भी गायक पात्र ललित गति मे सचरण करता है।[७] (९) उत्तमोत्तमक लास्य अनेक रस, हेला भाव तथा विचित्र श्लोक बधा से विभूषित होता है। विश्वनाथ के अनुसार इसम

---

१ ना० शा० १८।१८७ १८८ ८६ का० मा०, सा० द० ६।२१४, ना० ल० को० २८८३, र० सु० ३।१३८, नागानन्द अक ३।१३।

२ ना० शा० १८।१८७ का० मा०, अ० शा० अक ४।

३ ना० शा० १८।१८८ का० मा०, ना० ल० को० २६६८। कामिनि कयल कतहु परकार। पुरषकवेश कयल अभिसार। विद्यापति पदावली ११६।

४ ना० शा० १८।१८६ का० मा०, सा द० ६।२१८, अ० शा० अक ५।८, ना० ल० को० प० २८७२ ७८।

५ ना० शा० १८।१६० का० मा०, ना० ल० को० २८६८ ६६, सा० द० ६।२१६ मालती माधव अक ६।

६ ना० शा० १८।१६१ का० मा०, र० सु० ३।२४४, ना० ल० को० २८७८ ८०।

७ ना० शा० १८।१६२ का० मा०, सा० द० ६।२२१, मा० अ० अक २।४, ना० ल० को० २८६७।

गति (चेष्टा आदि) बड़ा महत्त्व का है। कभी इनकी गति स्थित होती है और कभी द्रुत। ये चेष्टाएँ नृत्य म मातृका होती है।[१] तीन या चार मातृकाओ के योग से करण' का सगठन होता है। भरत ने नाट्यशास्त्र म एक सौ आठ करणा तथा उनकी विभिन्न मुद्राओ का विस्तृत विवरण दिया है।[२] इन विभिन्न करणो के सयोग से अगहारो की निष्पत्ति होती है।[३] नाट्यशास्त्र म बत्तीस प्रकार के विभिन्न अगहारो का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[४] नृत्य की परिसमाप्ति जिस शालीनता और प्रभावशालिता स होती है उसके लिए पादरेचक, कटिरेचक, कररेचक, और कण्ठरेचक इन चार प्रकार के रेचको की कल्पना की है।[५] करण, अगहार और रेचक की रूप रचना शिव न की। शिव से तण्डु को प्रेरणा मिली। ताण्डु निर्दिष्ट य नृत्य ताण्डव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

चिदम्बरम् के नटराज मदिर मे अकित मुद्राए

चिदम्बरम् क नटराज मदिर की नृत्तसभा के चौदह स्तभो पर नाट्यशास्त्र म वर्णित १०८ करण एव चार अ य मूर्तिया अकित हैं। दोनो पार्श्वों मे स्थित सात सात स्तभो पर आठ-आठ मूर्तियाँ और नाट्यशास्त्र मे प्रस्तुत उनकी परिभाषाएँ भी उसी क्रम म अकित हैं। एक पार्श्व के सात स्तभो पर १ ५४ करण मूर्तियो और उनकी मुद्राओ के लक्षण अकित है। चौवन से एक सौ साठ तक क करण दूसरे पार्श्व के सातो स्तभो पर अकित हैं। शेष चार मूर्तियाँ सभवत उस काल के राजा, रानी और मूर्ति निर्माताओ के हैं। दोनो स्तभो पर य युगल मूर्तियो के रूप म हैं।[६] यह मदिर सभवत चौदहवी सदी का है। इसके अतिरिक्त एलोरा, एलिफेंटा और भुवनेश्वर क मदिरो म भरत-कल्पित नृत्य की मुद्राएँ बडी भव्यता और मनोहारिता से अकित हैं। अत यह तो स्पष्ट है कि भरत कल्पित नृत्यविधान का प्रभाव नाट्य और नृत्य पर ही नही प्राचीन भारत की वास्तुकला पर सदिया तक वतमान रहा है।

नृत्य का सुकुमार रूप लास्य

नाट्यशास्त्र म दो प्रकार के नृत्य का विवरण प्राप्त होता है। उद्धत नृत्य ताण्डव' और सुकुमार नृत्य लास्य क नाम से प्रसिद्ध हैं। ताण्डव का शिव स तथा लास्य नृत्य का सम्बध पार्वती की सुकुमार भाव भगिमाओ से है। शिव और पार्वती दोनो ही ने क्रमश ताण्डव और लास्य की उद्भावना म योग दिया, यह कालिदास ने भी स्वीकार किया है।[७] लास्य के दस अगो की परिकल्पना भरत ने की है।

---

१ ना० शा० ४।५६ ६० (गा० ओ० सी०)।
२ ना० शा० ४।३४ ५५ (गा० ओ० सी०)।
३ सर्वेषामगहाराणां निष्पत्ति करणैरत । ना० शा० ४।२६ (गा० ओ० सी०)।
४ ना० शा० ४।१८ २७ (गा० ओ० सी०)।
५ ना० शा० ४।२४८ (वही)।
6 It is therefore, easy to see that there figures have been placed strictly in accordance with the order of Natyasastra K S Ram Swami Sastri Introduction to N S (G O C 2nd Edition, p 34 39)
७ रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्त द्विधा। मालविकाग्निमित्र, अक २।४।

द्वारा अगो की सुकुमारता और सतुलित अवयव-सस्थानो का हृदयग्राही प्रदशन होता है। मालविकाग्निमित्र में मालविका और रत्नावली में मदनिका ने नृत्य के प्रयोग के क्रम मे अभिनय के साथ अग-सौष्ठव का अत्यन्त हृदयस्पर्शी रूप प्रस्तुत किया है।

अगसौष्ठव के प्रदशन के लिए चारी और विरल नेपथ्य विधान अत्यन्त आवश्यक है। नृत्य प्रयोग के प्रसग मे कालिदास ने 'भाव' और 'भाविक' इन दो महत्त्वपूण शब्दा का प्रयोग किया है। नाट्याचाय हरदत्त और गणदास साक्षात् सशरीरी 'भाव' के रूप म उल्लिखित हैं और *उनके द्वारा मालविका को दी गई शिक्षा 'भाविक' है। आगिक चेष्टाओ द्वारा भावो का प्रदशन* दुष्प्रयोज्य होने पर 'छलिक' होता है। *मालविकाग्निमित्र म 'छलिक' का अभिनय एव नृत्य* करते हुए मालविका ने अन्तर्निहित वचन, रूप और अगा द्वारा काव्याथ का सूचन किया है, पादन्यास लयानुसारी है और रसो को त मयता भी है। दूसरी ओर उसका अग-सौष्ठव तो और भी रागोत्तेजक है। मालविका का अभिनय और अग सौष्ठव दोनो ही अनवद्य हैं।[1] यही *अनवद्यता रत्नावली की मदनिका म भी है।*[2] *कुट्टनीमत मे इस नृत्य का प्रयोग मजरी नाम* की परम रूपवती वेश्या ने अत्यन्त मनोहारी रूप म प्रस्तुत किया है।[3] कालिदास की दृष्टि से मालविका का अग सौष्ठव छ दो के नत्य की तरह मधुर है और अभिनय रागबद्ध है।[4] अत नत्य प्रयोग के दोनो प्रयोजनो का अत्य त स्पष्ट निर्देश है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम एव द्वितीय अक नृत्य प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूण हैं। हरिवश के विष्णुपव मे हल्लीसक आदि नृत्य का प्रयोगात्मक वणन भी बहुत ही विशद है। उसके प्रयोग म स्वय विष्णु ने वशी, नारद ने वीणा और अप्सराओ ने वाद्य लिये तथा रभा ने अभिनय किया।[5]

नृत्य प्रयोग के विधि निषेध

नत्य प्रयोग के अवसरो के सम्ब ध मे भरत ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि नाटय के पूवरग मे शोभा और सौन्दय प्रसार के लिए नत्य का प्रयोग अपेक्षित है। परन्तु स्वतत्र रूप से विवाह, ज म, देवपूजा, ऋतुपव और विजयोत्सव आदि के अवसरो पर भी नत्य का प्रयोग विहित था।[6] *नृत्य लोक एव सुसस्कृत राज-परिवारो के मध्य बहुत लोकप्रिय थे। प्राय राज* प्रासादो और विशाल म दिरो के साथ सगीतशालाएँ और चित्रशालायें भी होती थी। कालिदास के शाकु तल और मालविकाग्निमित्र एव अ य प्राचीन ग्र थो म भी ऐसी नत्यशालाओ के विवरण प्राप्य हैं।[7]

नृत्य के साथ गीत वाद्य का प्रयोग तो अपक्षित ही है। जब नतकी रगमच पर प्रवेश करती है तो गान वाद्य तथा उसके लय के अनुरूप ही गति द्वारा चारी का भी प्रयोग वह करती

१ मालविकाग्निमित्र, अक १ तथा २।
२ रत्नावली, अक १।१६।
३ कुट्टनीमत ८८६ ६१०।
४ छ दो नतयितु यथैव मनसि श्लिष्ट तथास्या वपु। मा० अ० १।३।
५ हरिवश विष्णुपव—८६।६८ ८३।
६ ना० शा० ४।२६४ ६६ तथा ३०४ ३०६।
७ चित्रशाला गता देवी (मा० अ० अक १)।
सगीतशालाऽभ्यन्तरेऽवधान देहि। (अ० शा० अक ५)।

विरहिणी स्त्री द्वारा ईर्ष्या और आक्रोशपूर्ण भावो का प्रकाशन होता है।[1] (१०) उक्त प्रत्युक्त लास्य म कोप प्रसादजनित अधिक्षेपपूर्ण उक्त भावो का प्रमाण उक्ति प्रयुक्त शैली म होता है। इसम गीताप की योजना होती है।[2] भरत न इन दस लास्यांगो क अतिरिक्त नाचित और विचित्रपदा दो और भी लास्यांगो का उल्लेख किया है। नाचित म कामाग्नि सतप्त स्त्री प्रिय को स्वप्न म देखकर विविध भावो का प्रकाशन करती है। विचित्र पद नामक लास्य म विरहिणी नारी प्रिय की प्रतिकृति को देखकर अपना मनोविनोद करती है।[3]

प्रायोगिक नृत्य की परम्परा

ताण्डव और लास्य नृत्यो क प्रयोग रूपो का परिचय मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, कुट्टनीमत हरिवश चारुदत्त और मृच्छकटिक म मिलता है। मालविकाग्निमित्र क प्रथम एव द्वितीय अक इस दृष्टि स विशेष रूप स उपादेय है। उसम दुष्प्रयोज्य छलिक को प्रयोग रूप म प्रस्तुत किया गया है। हरिवश म 'कौवेररभाभिसार', तथा छलिक (हल्लीसक) अभिनय एव नृत्य दोनो ही रूपो का परिचय प्राप्त होता है। रत्नावली म मदनिका वसन्ताभिनय का नय रूप मे प्रस्तुत करती है और राजा उसक अभिनय एव अगसौष्ठव को देख मुग्ध हैं। चारुदत्त और मृच्छकटिक म शकार और विट द्वारा अनुगम्यमान नायक स्त्री वसन्तसेना नृत्तोपदेशविशद चरणो का विक्षेप करती है।[4] गीत नृत्य की यह परपरा सस्कृत नाटको के ह्रास क उपरात भी मध्यकालीन उपरूपको और रास नाटको के माध्यम स निरतर पल्लवित होती रही है। य रास और लीला-नाटक भारतीय धर्मभावना तथा शृगार की चेतना को जीवन और गति देते रहे हैं। गीत-नाट्य और नृत्य की यह त्रिवेणी उन्नीसवी सदी तक किसी न किसी रूप म जीवित रही है।[5]

अगसौष्ठव और अभिनय

ताण्डव नृत्य के भी दो रूप हैं—शास्त्रीय और प्रायोगिक। नृत्य के शास्त्रीय रूपो म उसके सद्धातिक पक्ष का विश्लेषण और व्याख्यान किया जाता है। नाट्यशास्त्र, भरतार्णव और अभिनयदर्पण मे सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन है। मालविकाग्निमित्र म नृत्य क प्रयोग-रूपो का बडा स्पष्ट परिचय दिया गया है। 'क्रिया' और 'सक्रान्ति' प्रयोग के दो रूप हैं। नर्तक जब स्वय ही नृत्य प्रस्तुत करता है तो वह 'क्रिया' होती है और आचार्य शिष्य म नृत्य की शिक्षा का सक्रमण करता है तो वह 'सक्रान्ति' होती है।[6] नृत्य प्रयोग के दो उद्देश्य होते हैं—अगसौष्ठव और अभिनय। अभिनय की भावभगिमाओ द्वारा भावो और रसो का उद्भावन होता है। अगसौष्ठव

---

१ ना० शा० १८।१६३ का० मा०, सा० द० ६।२२१।

२ वही १८।१६४ का मा ना० ल० को० २८८१, र० सु० ३।२४७।

३ वही १८।१६६ का० मा०।

४ मालविकाग्निमित्र अक १ २। हरिवश विष्णुपर्व ८८।८६, ६०, अध्याय। रत्नावली अ० १।१६। चारुदत्त अक १।

५ रास और रासा वयी काव्य' तथा 'हिंदी नाटक उद्भव और विकास,' पृ० ८० १२० डॉ० दशरथ ओझा।

६ विवा... दर्शयिष्यन्ति क्रिया सक्रान्तिमात्मन। मा० अ० अ० १।१६।

एकादश अध्याय

आधुनिक भारतीय रगमच

क—उत्तर भारतीय रगमच
१ पारसी
२ गुजराती
३ मराठी
४ बगाली
५ हिन्दी
ख—दक्षिण भारतीय रगमच
१ तमिल
२ तेलगु
३ कन्नड
४ मलयालम
ग—राष्ट्रीय रगमच

है। नर्तकी गान-समन्वित नृत्य प्रस्तुत करती हुई रंगमंच पर कोमल विलास-लीला के साथ अपनी अँगुलियों से पुष्प विसर्जन करती हुई प्रवेश करती है तो वहाँ अपूर्व शोभा का प्रसार होता है।[1] परन्तु जहाँ पर गद्य ही अभिनेय हो वहाँ वाद्य का प्रयोग उचित नहीं होता, क्योंकि गद्यपद अव्यक्त हो जाता है।[2] अभिनय या नृत्य के प्रसंग में वस्तु या भाव के अनुरोध से युवति 'खंडिता' या 'विप्रलब्धा' हो तो नृत्त का प्रयोग नहीं होता। प्रिय के सन्निहित न होने पर तथा प्रिय के विप्रोषित होने पर भी नृत्य का प्रयोग नहीं होता। वस्तु-वृत्त में जहाँ चिन्ता और उत्सुकता का प्रभाव अधिक हो वहाँ भी नृत्य का प्रयोग उचित नहीं होता। परन्तु वस्तु-वृत्त के जिस अंग से नायिका के हृदय में आनन्द की लहर उठने लगे वहाँ से नृत्य का प्रयोग उचित होता है। देवता आदि की स्तुति में शिव के उद्धत अंगहारों द्वारा नृत्य का प्रयोग होना चाहिए और जहाँ शृंगार रस सम्बद्ध स्त्री पुरुषाश्रित गान आदि हो उसका प्रयोग देवी (पार्वती) कृत ललित अंगहारों का प्रयोग होता है।[3]

भरत ने नृत्य (नृत्त) की जो परिकल्पना की है उसका प्रभाव नृत्यकला के शास्त्रीय ग्रन्थों तथा प्रयोगों पर पड़ा। प्राचीन काल की नृत्यशालाओं, रंगशालाओं और चित्रशालाओं में तो उनका प्रयोग होता ही था, परन्तु प्राचीन काल के मंदिरों, भित्तियों तथा प्रस्तर भित्तियों पर भी भरत-कल्पित मुद्राएँ अंकित हैं। अतः नृत्य के क्षेत्र में भरत मौलिक चिन्तक थे।[4]

१ पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रंगमण्डपम्। ना० शा० ४।२७२ ७४।
२ यथाभिनेयं गीतं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत्। ना० शा० ४।२७६।
३ ना० शा० ४।३०८ ३१२।
४ हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ९७-१०७।

२१

आधुनिक भारतीय रगमच

पूवपीठिका

भारत की स्वाधीनता के बाद नाट्य, नत्य और सगीत कलाओ के पुनरुद्धार और पुनमूल्याकन के लिए राष्ट्रीय महत्व के प्रयत्न हो रहे हैं। यद्यपि आधुनिक भारतीय नाटयकला पाश्चात्य नाटयकला की ऋणी है पर प्राचीन भारत की नाटयकला स्वय इतनी समद्ध है कि अपने प्रकृत विकास के लिए नितान्त परमुखापक्षी होने की आवश्यकता नही रही है। आधुनिक भारतीय रगमच के नवीन स्वरूप की कल्पना गौरवशाली प्राचीन भारतीय रगमच से प्रेरणा ग्रहण कर सकती है। उनम परपरागत भारतीय जीवन के आदश आकाक्षाएँ और भावनायें बोलती है। पाश्चात्य प्रभाव म पनपने पर भी हमारा आधुनिक रगमच उस परम्परा की उपेक्षा कसे कर सकता है?[1]

भारतीय रगमच का स्वणयुग

वदिक युग से वीर काव्य-काल तक के सहस्रो वष के आयाम मे प्राचीन भारतीय रगमच फूलता फलता रहा है। उस प्राक ऐतिहासिक काल के नाटय तो विस्मृति के गभ म हैं पर यजुर्वेद म नाटय प्रदशन की अनेक महत्वपूण सामग्रियो और पात्रो के उल्लेख हैं।[2] रामायण म वधू नाटक सघो, गीत वादित्र कुशल' और 'नत्तशालिनी' स्त्रियो एव विभि न वाद्यो क[3] विवरण से (खिस्ताब्द से सदियो पहले हमारे रगमच का इतिहास चला जाता है। पर खिस्ताब्द के

१ परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी पूर्ववर्ती और प्राचीन रचनाओं को किनारे रख दें। जहाँ तक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रश्न है भारतीय आचार्यों का नाटय सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन अनेक अशों में मा य और प्रामाणिक है।—नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य', पृ० २७०।

२ यजुर्वेद अ० ३०।६ ८, १० १२, १४, १६ २१।

३ रामायण २।१२, १३ ७, ८।३२, ३६।

थी।[1] हरिवश म शानदार प्रक्षागृहो का उल्लेख है, जिनमें रामायण' का नाटकीय रूपान्तर और कोवेर रभाभिसार' का अभिनय प्रस्तुत किया गया था।[2] अभिनयदपण और काव्यमीमासा म राजसभाओ के वर्णन हैं। आचाय अभिनवगुप्त के काल म तो १८ प्रकार की रगशालाओ का उल्लेख है। य रगभवन कही स्वतत्र सावजनिक स्थानो, देवालयो के मण्डपो और राजमहलो की सगीत-सभाओ या चित्रशालाओ म होते थे, जहाँ पूरी तयारी के साथ नाटय प्रयोग प्रस्तुत करने की परम्परा थी। मत्स्यपुराण, शिल्परत्न और मानसार आदि ग्रथो म भी राजसभा आदि की निर्माणविधि और शलियो का विवरण मिलता है। उनसे प्राचीन भारतीय नाटक और रग भवनों की उन्नतिशीलता का सकेत मिलता है।[3]

रगमच का ह्रास

हृष के बाद सस्कृत नाटको की भाषा समलकृत और नाट्यशली काव्यशली से प्रति स्पर्धा करन लगी। सवदना की प्राजल अभिव्यक्ति क स्थान पर कृत्रिमता और जटिलता छान लगी। उस पर मध्ययुग म तुर्कों के आक्रमण न ह्रासोन्मुख इन सस्कृत और प्राकृत नाटको को असमय ही मत्यु मुख की ओर ढकेल दिया। इन क्रूर आततायियो ने हिन्दुओ क मदिरो, मूर्तियो, राजमहलों और पुस्तकालयों का तो सवनाश किया ही, पर आर्यों की सुसस्कृत जीवन सभ्यता की गौरवलक्ष्मी, रसवन्ती नाटयकला और उसकी प्यारी रगभूमि को भी अपने क्रूर प्रहारो से ध्वस्त कर दिया। इस विरोध की आँधी म भी नाट्य प्रतिभायें उन्ति तो हुइ पर उपयुक्त रगभवनो के अभाव मे उन सस्कृत प्राकृत नाटकों का रगमच पर प्रयोग नही, विद्वानो के मध्य उनका पाठ होता था। इस तरह बारहवी चौदहवी सदी के उपरान्त विरचित य भारतीय नाटक काव्य और कभी उपरूपको के रूप म या तो जीवित रहे या जनपदीय भाषाओ म लिखित रासको तथा अकिया नाटको क रूप म सुगबुगाते रहे। सवथा नि शेष नही हुए।

मध्ययुग के सगीत प्रधान (रासक मैथिली आदि) लोक नाटय

सस्कृत नाटको के ह्रास के बाद पूर्वी भारत मे लोक-नाटय की एक और महत्त्वपूण परपरा मध्ययुग से होती हुई १९वी सदी तक चली आई है। सदियो तक इसने जनमानस का अनुरजन किया है। इन लोक-नाटको म दोहरी भाषा का प्रयोग हुआ है। सवाद तो शिष्ट, सरल सस्कृत म है पर गीत देशी भाषा म। यह देशी भाषा या तो मथिली है या उससे प्रभावित अन्य स्थानीय

---

१ सहृदयभीरनया न्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्। मालविकाग्निमित्र अक ३।१

२ हरिवश विष्णुपर्व—अ० ९३।६ ३७।

३ मत्स्यपुराण अध्याय २५२ २५७ अग्निपुराण १०० १०६ (अध्याय)।

One thing may be taken as for granted that during the 4th century A D When Indian architecture entered upon a renewed course of creativity and development Names of 18 teachers had become standardise as representing so many different branches of schools of architectural canons

—Matsya Purana s Study, V Agrawal—Introduction

आरम्भिक चरणो म तो अश्वघोष, भास, कालिदास और शूद्रक जैसे रग सिद्ध कवियो के महान् नाटको और उनके अभिनयो से हमारी रगमचीय परपरा और भी समृद्ध और विकसित हो जाती है। भास की नाट्यशैली प्राचीन होने पर भी नय पथ का अनुसधान करती चलती है। उसके दु खान्त नाटको के पात्र शेक्सपियर की ट्रजडी की परपरा के है। उसके कर्ण और दुर्योधन अपनी दारुण विपत्तियो म भी महान् और स्पृहणीय लगत हैं। शूद्रक का सामाजिक नाटक मृच्छकटिक भारतीय जीवन भूमि पर परिपल्लवित होने पर भी अपनी व्यापक मानवीय सवदना के कारण विश्वविख्यात नाटक है। कालिदास विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटककारो म हैं। उनकी प्रतिभा का मधुर फल अभिज्ञानशाकुन्तल विश्व की महत्तर नाट्य-कृतियो म है। इन दोनो नाटककारो ने अपने नाटको म नाट्यकला का परिनिष्ठित आदर्श प्रस्तुत किया। उत्तररामचरित के रचयिता भवभूति और मुद्राराक्षस के प्रणेता विशाखदत्त को छोडकर शेष नाटककारो के लिए कालिदासोत्तर युग सर्जना का नही, अनुकरण और पुनरावृत्ति का (युग) था। ये दोनो नाटककार भारतीय नाट्य-परम्परा की अन्तिम प्रतिभा-ज्योति थ। हर्ष की रत्नावली और प्रियदर्शिका म काव्य प्रतिभा का स्फुरण है और मधुर कल्पना भी, परन्तु उनम कालिदास की सी नानारसात्मक लोकचरित की महाप्राणता[१] का उद्भावन नही हो सका है। हर्ष की प्रतिभा शास्त्रीय नियमो के समक्ष नतमुख हो सामन्ती जीवन के वैभव और विलास रस की वर्षा कर ही सन्तोष करती है। जीवन की महत्तर, उदात्त चेतना को आलोकित नहा करती। राजशेखर, मुरारि और जयदेव तो हर्ष काल के परम्परानुवर्ती नाट्यकार हैं, नवीन नाट्य शैली के प्रवर्तक नही।

प्राचीन भारत के रगभवन

प्राचीन भारत के ये नाटक कला समृद्ध ही नही थ, उनके प्रयोग के लिए उपयोगी और भव्य रगभवन भी थे। नाट्य शास्त्र म वर्णित नाट्यमण्डप की रूपरेखा स उसका अनुमान किया जा सकता है। भरत ने नाट्यमण्डप के लिए यवनिकापटी' द्वार और मत्तवारणी, दोमहले रग मडप, सीढीनुमा आसन शैली तथा रग प्रसाधन का जसा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है उससे रगमच की सुदीर्घ परपरा का ज्ञान होता है।[२] दुर्भाग्य से उस काल का एक भी रगभवन अब शेष नही है। रामगढ की गुफा म प्राप्त सीतावेंगा और जोगीमारा के रगमच बहुत दूर तक हमारी सहायता नही कर पाते हैं। सस्कृत नाटको की प्रस्तावनाएँ निश्चित रूप से सूचित करती हैं कि विभिन्न उत्सवो के अवसरो पर प्रयोग के लिए नाटको की रचना होती थी। उसके दर्शक विद्वान् और रसज्ञ होते थे और प्रयोक्ता प्रयोग विधान के ज्ञाता भी।[3] कालिदास, हर्ष और भवभूति ने नाटकान्तर्गत नाटको की भी परिकल्पना की है। उनमे रगभवनो का स्पष्ट उल्लेख है। उत्तररामचरित म रामायणीय कथा का अभिनय मुक्ताकाश रगमच पर हुआ है। परन्तु मालविकाग्निमित्र के छलिक का प्रयोग सगीत शाला के रगमच पर हुआ है जिसम ड्रापसीन की यवनिका पटी भी

---

१ त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरित नानारस दृश्यते।
नाट्यम् मालविकाग्निमित्र, अक १।४।

२ नाट्यशास्त्र द्वितीय अध्याय।

३ आपरितोषाद, साधु न मन्ये प्रयोग विज्ञानम्। अभिज्ञानशाकुन्तल—प्रस्तावना।

मचो पर इसे प्रस्तुत करते थे। भास और भवभूति ने कभी अपनी परिष्कृत कला से वीरगाथाओ को और भी चमत्कृत तथा रसानुरजित किया था। पर मध्यकाल म रामलीला, रासलीला, कृष्ण-लीला, यात्रा और भागवतम् आदि लोकनाटका के माध्यम से ही लोकमानस की धार्मिक भावना और आदश का प्रतिफलन होने लगा। इस परम्परा की जडें इतनी गहरी थी कि आज भी अपने विकसित रूप मे सारे भारत मे किसी न किसी रूप म व्याप्त हैं।

रामलीला

रामलीला की यह परम्परा सदियो से चली आ रही है। विजयादशमी के अवसर पर समस्त उत्तर भारत म साभिनय रामायण पाठ के साथ ही कथा वस्तु के अनुरूप वश रचना और मुखौटो के द्वारा रामलीला मनायी जाती है। रामायण महाभारत क पाठ की परम्परा सुदूर जावा मे भी कइ सदियो तक प्रचलित रही है। काशी के रामनगर म रामलीला का जसा शानदार प्रदशन होता है वह अब अपने आप मे अद्वितीय है। वाल्मीकि रामायण के स्थान पर तुलसीकृत रामचरितमानस' का पाठ और प्रदशन की परपरा कई सदिया से चली आ रही है। इस अवसर पर उत्तर भारत मे रावण वध के रूप म उसके तथा मेघनाद आदि के विशाल भयावह पुतले को जलाने की परम्परा बहुत लोकप्रिय और आकषण का केन्द्र रही है। रामकथा के अभिनेता आकषक एव भव्य वशभूषा के साथ युद्धभूमि म प्रस्तुत हो सारा आयोजन नाटकीय शली मे प्रस्तुत करते हैं।[1]

कृष्णलीला या रासलीला

*ब्रज भूमि मे रासलीला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सावन म रासधारी कम्प*नियाँ वन्दावन आदि पवित्र स्थानो मे कृष्ण जीवन से सम्बन्धित गीत प्रधान नाटया का प्रदशन करती हैं। नि सदेह इन रासलीलाओ का मूल-स्रोत श्रीमदभागवत और हरिवश म पाया जाता है। ये रासलीलाएँ अवध के नवाब के यहाँ भी लोकप्रिय हुइ और अभी उसकी परम्परा जीवित है।[2]

यात्रा

यात्राएँ बगाल म बहुत लोकप्रिय रही है। कीथ के मतानुसार इनकी परम्परा प्राचीन धार्मिक लोक-नाटयो मे ढूढी जा सकती है। बगाल के जन जीवन की धम भावना इन्ही यात्राओ के माध्यम से सदियो से प्रतिफलित होती आयी है। यात्रा म विशेष उत्सवो के अनुरूप गायन *और सवाद की योजना होती है। उसमे कृष्ण जीवन की मधुर कथाओ का सन्निवेश बडे प्रभाव*-शाली रूप म प्रस्तुत किया जाता है। नि सदेह यात्रा का विकास कृष्ण कथा से ही सबधित है। यद्यपि आधुनिक यात्राओ म अन्य लौकिक विषयो का भी प्रयोग होता है परन्तु उसकी धार्मिकता और रागात्मकता पूववत वतमान है। कृष्ण यात्रा, चण्डी-यात्रा, रथ-यात्रा और चतन्य यात्रा के रूप म प्रसिद्ध थी। उत्तरवर्ती काल म धम का प्रभाव क्षीण होने पर 'विद्या सुन्दर' जसा

[1] ए० बी० कीथ सस्कृत ड्रामा—इट्स ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट, पृ० ४२।

[2] डॉ० दशरथ ओझा हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास, पृ० ६० ११२।

के सांस्कृतिक जीवन के आधार रहे हैं। शकरदेव ने इसका प्रवतन किया और उनके शिष्यो ने उनको समृद्ध किया। उनकी सख्या सकडो है। इनका अभिनय आसाम के गाँवो और महापुरुषो के सत्रो (मठो) म होता था। इनकी कथावस्तु वष्णव धम के उपजीव्य श्रीमदभागवत, हरिवश, रामायण और महाभारत की अनेक धम-कथाओं पर आधारित है। श्लोको मे सस्कृत, सूत्रो मे असमिया और गीतो म ब्रजबुलि (मथिली और असम का मिश्रण) का प्रयोग है। पूर्वी भारत के लोकजीवन म ये पाच सौ वर्षों तक लोकप्रिय बने रहे हैं। परन्तु बाद म अग्रेजी सभ्यता के प्रसार ने इन्हे शहर और गाँवो से प्राय सदा के लिए विदा कर दिया है। पर ये अब भी गौरव-पूण सास्कृतिक थाती हैं।[1] पूर्वी भारत की इस लोक नाट्य पद्धति के पुनरुद्धार द्वारा एक विस्मृत-प्राय लोक-कला का पुन उन्मेष हो सकता है।

दक्षिण भारत के लोकनाट्य

दक्षिण भारत के 'भागवतम्' प्राचीन लोकनाटय परपरा के सजीव रूप है। इन लोक नाटयो मे कृष्ण के जीवन की कथाएँ, रामदास जैसे सन्तो की भक्ति भावना और लोकप्रिय गीति नाटयो का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। केरल का कथकली नत्य प्राचीन नाट्य परपरा-समद्धि का प्रतीक है। इसमे पात्र मुखौट पहनकर कृष्ण जीवन से सबधित रसात्मक कथाओ को नाटय-शली मे प्रस्तुत करते है। यह बात महत्त्वपूण है कि दक्षिण भारत म नाटय-नत्य और सगीत की समृद्ध परपराएँ मुसलमानो के प्रतिरोध के रहते हुए भी मदिरो की देव-दासियो अन्य आचार्यों एव कलाकारा के माध्यम से निरतर विकसित होती रही है। अत दक्षिण भारत के इस विशाल भूभाग मे नाट्य कला की अपेक्षा नत्य-कला ही पिछली कई सदियो स अधिक सक्रिय और समद्ध रही है। कथकली नत्य मे भरत निर्दिष्ट आहाय एव आगिक अभिनयो का प्रयोग प्रभावशाली रूप मे प्रस्तुत होता है। इसके समानान्तर नत्य चीन, जापान और हिन्देशिया (जावा) मे अभी भी प्रचलित हैं।[2]

आज का हमारा रगमच

आज का भारतीय रगमच बहुरगी है। हर प्रादेशिक रगमच अपने स्वरूप और शिल्प की दृष्टि से एक दूसरे से कुछ भिन्न तो है पर व्यापक रूप म उनम एकता भी है। भारत में सदियो से प्रवहमान सस्कृति की आतरिक धारा हमारे रगमच को भी प्राण रस से पुष्ट कर रही है। सस्कृत के नाटका के ह्रास के बाद भी सदियो तक विभिन्न लोक नाटयो म धम और लोको त्सवों की रसवन्ती धारा के रूप म वस्तुगत साम्य (असाधारण रूप से) वतमान है। रामायण, महाभारत, हरिवश और श्रीमद्भागवत म वर्णित महापुरुषो और देव पुरुषो की कथाएँ इन लोक-नाटयो को प्राण रस से सवर्द्धित करती आई हैं। केरल का कथक्ली नृत्य और बगाल की यात्राएँ कृष्ण-जीवन की रगविरगी कथा भूमि पर परिपल्लवित होती रही हैं। भरत ने नाटको के लिए 'महापुरुष सचारम् और 'साध्वाचार जनप्रियम्' का जो महत्तर आदश प्रस्तुत किया था वह

---

१ विरचिकुमार बरुआ, असमिया भकिया नाट, साहित्य सदेश का अन्त प्रान्तीय नाटकाक, पृ० ७८ ७९, जुलाई-अगस्त १९८५ तथा परिशिष्ट 'शारदीया' नाटक, जे० सी० माथुर।

२ सी० बी० गुप्ता इण्डियन थियेटर, पृ० १६०।

शृंगार प्रधान नाटय भी यात्रा के रूप म जनमानस का अनुरंजन करता रहा है। लोक-नाट्य यात्रा के माध्यम से उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध म पहुँच जाता है जब एक बार पश्चिमी नाट्य परम्परा पूर्वी भारत के क्षितिज पर अपना प्रकाश विकीर्ण करने लगती है। १८वी सदी म 'श्रीदल' और 'सबुल' यात्रा वाला' के रूप म प्रसिद्ध थ। उन्नीसवीं सदी म मुकुन्ददास ने अपनी यात्राओं द्वारा जनमानस म देश भक्ति की चेतना भी प्रज्वलित की।[१] यात्राओं की अपेक्षा 'गभीरा' म दृश्यविधान अधिक आकर्षक होता है। गभीरा' लोकोत्सव के विपरीत यात्राओं का प्रदर्शन बिना किसी आकर्षक दृश्यविधान के होता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यात्रा-नाटकों की परम्परा म 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'मायार खेल' जसे लोक नाट्यों की रचना[२] की। इसी परम्परा म महाराष्ट्र के प्रसिद्ध नाटयकार देवल के सगीत नाटक भी हैं।

ललित और भवाड

महाराष्ट्र म ललित अत्यन्त लोकप्रिय नाट्य परपरा है। इसम 'दशावतारम्' का अभिनय होता है। यह भी धर्म प्रधान नाटय है। नवरात्र के अवसर पर इसका प्रयोग होता है। मंदिरों और जननाट्य गृहो म एक-दो पर्दे के सहारे इनका अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। कुचदेवयानी' और 'दामाजित पन्त' आदि लोकनाटयो क द्वारा लौकिक भावना, यथार्थवादिता, प्रहसन और व्यग्य को भी मराठी नाटय परपरा म स्थान मिला है। गुजराती का भवाड' लोकनाटय बहुत प्रसिद्ध है। मूलत यह धार्मिक है और रगमच पर स्वय 'गणपति' के प्रस्तुत होने की परपरा चली आ रही है। इसका प्रदर्शन मुक्ताकाश रगमच, मन्दिरो और सार्वजनिक स्थानो म सदियो से होता आ रहा है। इसके अतिरिक्त राधा और कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित सगीतात्मक नाट्य सवादो के प्रयोग की परपरा बहुत पुरानी रही है। कथावाचक हरिकथा म कृष्ण की सारी कथा नाटकीय शली म प्रस्तुत करता है।

पजाबी लोकनाट्य

पजाब आर्यों की प्राचीन गौरव भूमि है। यहीं वेदो और गीता की रचना हुई। यही पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना की। परन्तु विदेशी आक्रमणकारियो की लहर ने यहाँ की नाटय-परपरा को अक्षुण्ण न रहने दिया। आधुनिक नाटक तो मराठी या बँगला की तरह उभर न सके, परन्तु लोक नाटक और ग्राम नाच पजाबी जीवन के अग रहे हैं। इस दिशा म प्रो० आर० सी० नन्दा और नोरा रिचार्ड स क कार्य चिरस्मरणीय रहग। इन्होने पजाबी नाटक के पुनरुद्धार की दिशा म स्तुत्य प्रयत्न किया। पजाब म गोपीचन्द, पूरन भगत और हकीकतराय जसे लोक-नाटय बहुत लोकप्रिय रहे हैं।

असमिया अकिया नाट्य

असमिया अकिया नाट (एकाकी) १५वी सदी स १६वी सदी के उत्तरार्द्ध तक आसाम

१ प्रबोध सी० सेन बगाली ड्रामा एण्ड स्टेज—इण्डियन ड्रामा, पृ० ४० तथा ए० बी० कीथ सस्कृत ड्रामा—इट्स ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट, पृ० ४०।

२ प्रबोध सी० सेन बगाली ड्रामा एण्ड स्टेज—इण्डियन ड्रामा, पृ० ४३।

भारत म छायी रहा। सस्ता मनोरजन, अभद्र प्रहसन और हलके फुलके गीतो द्वारा जनमानस को तुष्ट कर अधिकाधिक द्रव्योपाजन उनका उद्देश्य था। इनके द्वारा इस लम्बी अवधि म एक बहुत बडे अभाव की भी पूर्ति हुई। आरम्भ म गुजराती, फिर उदू, हिदुस्तानी और बाद म 'वीर-अभिमन्यु' आदि के द्वारा हिन्दी नाटको की ओर भी वे झुके ही थे कि चलचित्रा के चमत्कार और आकषण ने इन्हे आकषणहीन बना दिया। चलचित्र के मोहक दश्यविधान और अन्य आकषणो ने पारसी नाटक-कम्पनियो को ही नही, भारत के विभिन्न प्रदेशो म बिखरी हुई देशी नाट्य मण्डलियो पर भी बडा कठोर आघात किया। बम्बई इनका प्रधान केन्द्र था, परन्तु ये देश के प्रधान नगरो तथा ब्रिटेन म भी नाटय प्रदशन कर आयी थी। अत पारसी थियेटर कम्पनियो का महत्त्व आधुनिक रगमच के विकास म ऐतिहासिक मूल्य का है।

पोस्ताजी फ्रामजी ने १८७० मे पहली व्यावसायिक पारसी कम्पनी स्थापित की। उसके कुछ ही वर्षों बाद खुर्शेदजी ने विक्टोरिया थियेट्रिकल कपनी को जन्म दिया। नाटय प्रदशन के लिए अपनी नाटय मण्डली को ये ब्रिटेन तक ले गये थे। समकालीन कम्पनियो म अल्फ्रेड ओल्ड पारसी थियट्रिकल अलेक्जेंड्रिया और कोरेन्थियन थियेटर कम्पनियो के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इनके अभिनेताओ म खर्शेदजी बादीवाला, काश्वाजी खत्ताउ सोहराबजी और जहांगीरजी अपने प्रभावपूण अभिनयो द्वारा बहुत लोकप्रिय हुए। इन कम्पनियो मे लेखक और गायक नियुक्त रहते थे और पात्र के रूप मे सुन्दर रूप रग तथा मधुर स्वर के गायन मे किशोर पात्रो को तरजीह दी जाती थी। बहुत दिनो तक स्त्रियाँ रगमच पर नही आइ, परन्तु पाश्चात्य प्रभाव के कारण पहले पहल बादी वाला ने पारसी रगमच पर गौहर' मरी फेटन और मुन्ना बाई को प्रस्तुत कर अपनी कम्पनी को और भी अधिक लोकप्रियता प्रदान की।[१]

इन थियेटर कम्पनियो मे परस्पर स्पर्धा भी खूब रहती थी। ड्राप्सीन की यवनिका बडी ही भव्य होती थी। उस पर पौराणिक काल के सुन्दर भव्य चित्र अकित होते थे। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक चित्रित यवनिकाओ का भी प्रयोग होता था। दशको की गलरी सुसज्जित होती थी। *नाटक का आरम्भ सामूहिक गान से होता था और दृश्य परिवतन की सूचना बन्दूक की थर्राती* हुई आवाज से दी जाती थी। पाश्व के द्वारो से पात्रो का प्रवश और निष्क्रमण होता था। भाषा उदू हिन्दुस्तानी सरल और प्रभावशाली भी होती थी। निसदेह पात्रो की भव्य वेश भूषा पर्दो की आकषक सजावट तथा विस्मयोत्पादक दश्य योजना को कथावस्तु सवाद और अभिनय की कलात्मकता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता था। पारसी कपनियाँ पटरियो पर रेल की सरपट दौड, आकाश म हवाई जहाज की उडान और पात्रो के शिरोच्छेद जसे कौतूहलपूण दश्यो से दशको का मन मोह लेती थी। भारतीय नाटय-परपरा की रसानुभूति, कथावस्तु, सवाद और अभिनय की कुशलता का स्थान गौण था। इन पारसी कपनियो ने एसे प्रदशनो के द्वारा उस युग के लोकमानस की विनोदशील रुचि को तुष्ट कर ऐतिहासिक महत्त्व का काय किया था। आधुनिक भारतीय रगमच के इतिहास मे ये थियेटर कपनियाँ अविस्मरणीय रहेगी। ये अपना अमिट चिह्न इस रूप मे छोड गयी हैं कि हिन्दीतर क्षेत्र की इन कम्पनियो द्वारा हिन्दी नाटको को, आशिक रूप से ही सही, उस युग म अखिल भारतीय ख्याति और मर्यादा प्राप्त हो सकी।[२]

१ याज्ञिक इण्डियन थियेटर पृ० ६६ ६७।
२ जे० सी० माथुर शारदीया' नाटक का परिशिष्ट, पृ० ११६।

इन लोकनाट्यों के माध्यम से आज भी जीवित है। तुर्कों के आक्रमण के बाद राजाओं के रंगमहल तो टूट गये मंदिर भी खण्डहर हो गए, पर भारत का आदर्श नहीं टूटा। वह विभिन्न प्रदेशों के लोकनाट्यों के माध्यम से लोक जीवन में भूत है, नये रूप लेकर।

उन्नीसवीं सदी के उदयकाल तक भारतीय जीवन, दर्शन और कला पर पाश्चात्य सभ्यता की किरणें अपना रंग और प्रकाश बिखेरने लगी थीं। सब प्रादेशिक रंगमंच भी समान रूप से उससे प्रभावित हुए। परन्तु उस प्रभाव के चकाचौंध में भी भारतेन्दु (हिन्दी), गिरीश घोष (बंगला), रणछोड भाई उदयराम (गुजराती) और किर्लोस्कर (मराठी) जैसे महान् अभिनेता और नाटककारों ने संस्कृत नाटकों और उनके रूपान्तरों को भी रंगमंच पर प्रस्तुत कर आधुनिक भारतीय रंगमंचों को भारतीयता के रंग में रंगने का स्तुत्य प्रयास किया था। समान रूप से सामाजिक ऐतिहासिक और व्यंग्य प्रधान नाटकों की रचना विविध भाषाओं में हुई और उनके प्रयोग भी हुए। पाश्चात्य नाट्य प्रभाव में पोषित पारसी कंपनियों ने भी भारतीय रंगमंचों पर कुछ न कुछ अमिट चिह्न अंकित किये हैं। चलचित्रों की भव्य दृश्य-योजना एवं अन्य शिल्पों से भारतीय रंगमंच आज जडीभूत-सा है। स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय रंगमंच के पुनरुन्नयन का मंगल शंख फूंका तो गया है पर उसका भविष्य लोकमानस की आकांक्षा और युग चेतना को स्वर देने वाले सफल नाटककारों के नाटकों, कुशल निर्देशकों, सुशिक्षित प्रयोक्ताओं, सहृदय प्रेक्षकों और स्थायी रंगभवनों पर निर्भर करता है। तभी राष्ट्रीय रंगमंच की सुनहली कल्पना मूर्त हो सकती है। हम आधुनिक भारतीय रंगमंचों की रूपरेखा अगले कुछ पृष्ठों में इसी संदर्भ में प्रस्तुत कर रहे हैं।
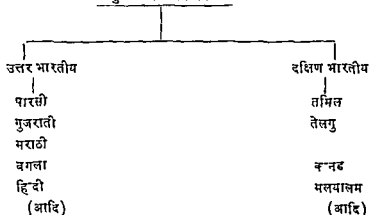
पारसी रंगमंच

आधुनिक भारतीय रंगमंच के इतिहास में पारसी रंगमंच की देन महत्त्वपूर्ण है। बम्बई के विकासशील आधुनिक भारतीय रंगमंचों के तो वे अग्रदूत हैं। गुजराती, उर्दू और हिन्दी का आधुनिक रंगमंच उनका ऋणी है। पश्चिमी नाटक कम्पनियों की देखादेखी पारसियों की भी नाटक कंपनियाँ खुलीं। उन पर नाट्य शिल्प के अनेक विस्मयकारक प्रयोग प्रस्तुत किये गए। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर चलचित्रों के आगमन तक लगभग एक अर्द्धशतक तक वे सारे

पूण अभिनय, कुशल निर्देशन, अभिनय योग्य रगमचीय नाट्य-कृतियो द्वारा गुजरात म अव्यावसायिक रगमच को खूब ही समृद्ध किया है। मजदूर जीवन पर आधारित उनका 'आग गाडी' नाटक बहुत ही लोकप्रिय है। गुजराती रगमच विकास की ओर प्रयत्नशील तो है, पर वतमान अवस्था सतोपजनक नही कही जा सकती। गुजरात का व्यवसायी रगमच तो सस्त बनावटी अभिनय, रुचिहीन ययाथतावादी दृश्य-योजना, सस्ते भावुकता भरे गाने और अश्लील प्रहसन को प्रश्रय दे रहा है। गुजराती म इसमे अधिक बेहतर तथा अधिक आधुनिक और कलात्मक व्यवसायी नाट्यमण्डली के सचालन की दिशा म शुभ प्रयत्न हो रहे है।[1] गुजरात विद्या सभा (अहमदाबाद) द्वारा स्थापित नाट्य मण्डली के तत्वावधान मे 'मैना गुजरी' और अ य लोक नाट्या को नवीन नाट्य शली मे प्रस्तुत किया जा रहा है। अव्यावसायिक नाट्य मण्डलियो म इडियन नेशनल थियटर, भारतीय विद्या भवन का 'कलाके द्र' और रगभूमि' (बम्बई) तथा 'रगमण्डल (अहमादाबाद) रगमच के उत्थान की दिशा मे प्रयत्नशील हैं।

प्राचीन गुजराती रगमच की तुलना म अब नवीन नाट्य शलियो का प्रयोग हो रहा है पर गीत अभी भी इस रगमच का अभि न अग है। स्त्री-पात्रो की भूमिका म मराठी रगमच की तरह स्त्रियाँ भी प्रस्तुत हो रही हैं।[2]

गुजराती रगमच की पुरानी परम्परा गौरवशाली रही है, पर उसका भविष्य सुनहला नही अ धकाराच्छ न सा लगता है। यद्यपि अ य नाट्य मण्डलियाँ और पचहत्तर वष पूव स्थापित देशी नाटक-समाज इसके उत्थान की दिशा मे प्रयत्नशील है। सरकार की सहानुभूतिपूण दृष्टि इस ओर है। इससे आशा बँधती है।

मराठी रगमच

मराठा वीरा की भाँति मराठी रगमच का इतिहास आत्म बलिदान और त्याग की उज्ज्वल कीर्ति कथा है। इसका उत्थान मराठी साहित्यकार और नाट्य-लेखको की जागरूक सामाजिक चेतना एव अभिनेताओ की प्रतिभा और पूण निष्ठा के द्वारा हुआ है। फलस्वरूप मराठी रगमच भारतीय जनजीवन मे छायी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताओ के विरोध म उत्थान और प्रेरणा का एक शक्तिशाली माध्यम रहा है। महाराष्ट्र म आगरकर, केलकर और सावरकर जसे क्रान्तिकारी समाज-सुधारक और खाडिलकर और वामनराव जोशी जसे महान् राजनीतिक विचारको का प्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त होने के कारण मराठी रगमच उनके विचारो का शक्तिशाली वाहन बना। दूसरी ओर बाबूराम कोलहतकर और बालगधव जसे महान् सगीतकारा ने रगमच के विकास के लिए अपना सम्पूण जीवन उत्सग कर नूतन प्राण प्रतिष्ठा की। मराठी रगमच महाराष्ट्र म आध्यात्मिक उत्थान, सामाजिक क्रान्ति और पराधीन राष्ट्र की मुक्ति की विजयिनी पताका लेकर दृढ चरणो से आगे बढा।

आधुनिक मराठी रगमच का समारभ आज से सवा सौ वष पूव १८४३ म हुआ। क नड रगमचीय परम्परा का अनुसरण करते हुए सगली के राजा के आदेश से उनके दरबार के

१ नेमिचन्द्र जैन व्यवसायी रगमच आजकल—सितम्बर ६२, पृ० १६।
२ श्रीकृष्णदास हमारी नाट्य-परम्परा (गुजराती नाटक और रगमच), १६५६, पृ० ४४०,४४८।

गुजराती रगमच

आधुनिक गुजराती रगमच का इतिहास लगभग पिछली एक सदी का है। पारसी थियेटरो ने आरम्भ म अपने नाटको म गुजराती को प्रश्रय दिया था। अत गुजराती रगमच का बाल्यकाल उसी की छाया म पनपा पर धीरे धीरे गुजराती रगमच उससे स्वतन्त्र रूप म विकसित होने लगा।

गुजराती रगमच का पुनज म तो पारसी थियेटरो के प्रतिरोध म हुआ। प्रसिद्ध गुजराती नाटककार रणछोड भाई उदयराम की सेवायें इस सदभ म ऐतिहासिक महत्व की है। पारसी थियेटरो के विदशीपन और गुजराती भवाइ नाटयमण्डली द्वारा प्रस्तुत हलक, ग्राम्य एव उपहास पूण नाटको को देखकर नयी शली की नाटय रचना की ओर उनका ध्यान गया। आरम्भ म उ होने गुजराती थियेटरो के लिए सस्कृत नाटको के रूपा तर प्रस्तुत किये। बाद म 'सत्य हरिश्च द्र' और 'नलदमय ती' जसे पौराणिक तथा 'ललित-दु ख-दशक' जसा दु खा त सामाजिक नाटक का अभिनय भी प्रस्तुत किया। 'हरिश्च द्र' का प्रदशन तीन महीने तक निर तर होता रहा। इसी के आसपास ही नमदाशकर ने 'द्रौपदी-दशन', 'सीताहरण' और 'बाल-कृष्ण' जस पौराणिक नाटको को रगमच पर सफलता के साथ प्रस्तुत किया। १८७८ म मौर्वा आय सुबोध नाटकमण्डली की स्थापना हुई और उसका 'त्रिविक्रम' नाटक लगातार पाँच वर्षों तक चलता रहा और च द्रहास की लोकप्रियता बहुत दिनो तक बनी रही।[1] १९वी सदी के अ तम चरण म गुजराती रगमच विकास की ओर तेजी से बढा। व्यवसाय बुद्धि से प्रेरित हो गुजरातियो ने कई नाटक कपनियाँ खोली, जिनम नरोत्तम गुजराती, बम्बई गुजराती और देशी गुजराती कपनी, गुजराती नाटको के प्रदशन म रुचि लेती रही। गुजराती रगमच के उत्थान म दयाभाई का नाम अविस्मरणीय रहेगा। १८८५ म स्थापित इनका 'देशी नाटक समाज' आज भी गुजराती रगमच की पताका एकाकी ही थाम हुए है। यही एकमात्र व्यावसायिक गुजराती रगमच अब शेष रह गया है। या इस सदी के आरम्भ म और भी कई नाटक कपनियाँ आगे आइ। उनम आय नीति-दशक नाटक समाज, आय नाटय समाज, आय नतिक नाटक समाज, विद्या विनोद नाटक समाज, सरस्वती नाटक-समाज और लक्ष्मीकान्त नाटक-समाज द्वारा प्रस्तुत नाटय प्रदशनो ने गुजराती रगमच को गति और शक्ति दी।

मराठी और बगला की तरह गुजराती भाषा समृद्ध तो है, पर इस उन दोनो की-सी ख्याति नही मिल सकी है। इसीलिए इसका रगमच उनकी तरह उतना उ नत नही हो सका। पिछले अद्धशतक म गुजराती रगमच ने विकास के लम्ब डग भरे हैं। इस काल म रमणभाई, नानालाल क हैयालाल माणिकलाल मुशी रमणलाल देसाई, च द्रवदन मेहता, श्रीधाराणजी आदि के नाटको न गुजराती रगमच को समृद्ध किया है। मुशी, महता और देसाइ क नाटक और भी अधिक लोकप्रिय रहे हैं और इनक नाटको का अभिनय गुजराती रगमच पर निर तर होता रहा है। मुशी और महता क नाटको और उसम प्रयुक्त नाट्य शिल्प से भारत के अ य रगमचो को नयी दिशा प्राप्त हो रही है। मुशी का एतिहासिक नाटक देवी ध्रुवस्वामिनी' खूब लोकप्रिय है। देसाई लिखित स्वर्णोदय और स्वणयुग ढाइ सो दिना तक प्रदर्शित हुए।[2] मेहता क अपने भाव

१ डा० जी० व्यास गुजराती ड्रामा इंडियन ड्रामा, पृ० ५८।
२ वही, पृ० ६०।

स्मरणीय रहेगी। वे कई युगो तक मराठी रगमच पर छाय रहे। इन दोनो महान् अभिनेताओ ने स्व० मामा वरेरकर और खाडिलकर रचित नाटको का अभिनय प्रभावशाली रूप म प्रस्तुत किया। खाडिलकर कृत कीचक वध के अभिनय ने कभी महाराष्ट्र के जन जीवन म स्वतत्रता की पवित्र ज्योति प्रज्वलित की थी। ब्रिटिश सरकार ने इसके प्रदशन पर रोक लगा दी थी, जो १९३७ मे काग्रेस सरकार के सत्तारूढ होन पर उठी। बालगधव और भोसले ने खाडिलकर लिखित 'मानापमान' को गाधीजी के आदेश से तिलक स्वराज्य फन्ड के लिए रगमच पर प्रस्तुत किया था और एक ही रात म इस नाट्य प्रयोग द्वारा लगभग सत्रह हजार रुपयो का सग्रह किया था। बालगधव को भारत के राष्ट्रपति ने सम्मानित भी किया। यह मराठी रगमच का यौवन काल था।[1]

भासले की मृत्यु (१९२१) क उपरान्त 'ललित कलादश' नामक नाटय मण्डली के सूत्रधार बाबूराव पेंढारकर हुए। इस रगमच पर उन्होने स्व० मामा वरेरकर के सामाजिक नाटको को प्रस्तुत किया। स्व० मामा वरेरकर अपनी नवीन यथाथवादी नाटच प्रणाली से मराठी रगमच और नाटचकारों को अभी तक प्रभावित करते रहे हैं। इन्होने छोटे बडे चालीस नाटक लिखे। इनके नाटको मे राष्ट्रीयता का ओज निम्न मध्य वग और श्रमिक वग के प्रति सहज सवेदनशीलता और स्वतत्र स्वावलम्बिनी नारी का अपने अधिकारो के लिए सघष का स्वर अत्यन्त मुखर था। यह मराठी रगमच पर छ दशक तक छाये रहे (मृत्यु—सितम्बर १९६४)।

इस सदी के तृतीय दशक के बाद कुछ अव्यावसायिक नाटय मण्डलियाँ भी जन्मी। नाटयमन्वतर (१९३२) उसी प्रयत्न का परिणाम था। स्त्री पात्रो की भूमिका का निर्वाह ज्योत्स्ना भाले किया करती थी। परन्तु इससे भी पूव प्रसिद्ध सगीतज्ञा हीराबाई बरोदकर ने नूतन सगीत विद्यालय की स्थापना कर अपनी बहनो के सहयोग से कई नाटय अभिनीत किये थे। स्त्री पात्रा का मराठी रगमच पर प्रवेश इन्ही की प्रेरणा से हुआ। तब स धीरे धीरे मराठी रगमच पर पात्र के रूप म स्त्रिया भी प्रस्तुत होने लगी हैं।

महाराष्ट्र म व्यावसायिक नाट्य मण्डलियो की तुलना म शौकिया (अव्यवसायी) नाट्य मण्डली के पर कभी भी नही जम सके। रगमच की प्रगति का सम्पूण दायित्व व्यावसायिक नाट्य-मण्डली पर ही है।[2]

१९३० ३२ के आसपास से चलचित्र का प्रभाव देश मे बडी तेजी से फलने लगा। उसके रुपहले आकषण की तुलना मे मराठी नाटक कम्पनियाँ नही टिक सकी। १९३४ ३६ तक तो प्राय सब बडी नाटय-कम्पनियाँ टूट गइ जिनमे बालगधव, ललितकलादश, बलवन्त और महाराष्ट्र प्रमुख थी। बालमोहन शौकिया कम्पनी थी, जिस पर बालपात्र अत्रे के सुखान्त नाटको को प्रस्तुत करते थे। स्वय अत्रे महान् कलाकार थे। कभी उन्होने अपने अभिनयो द्वारा रगमच

---

१ र० श० वेलकर मराठी रगमच—आरम्भ, उत्कर्ष, पतन, साहित्य सदेश, मन प्रा तीय नाटकाक, पृ० २६।

२ To this day the most significant development on the Marathi stage have been made by professional companies and not by amateurs —The Marathi Theatre Indian Drama, p 84

कीतनकार विष्णुदास भावे ने सगीत नाटक प्रस्तुत किय। इनम सवाद नहीं थ। कथा-वस्तु से परिचित पात्र, गीतो के मध्य म अपनी ओर से गद्यात्मक सवाद जोड देत थ। 'सीता स्वयवर' मराठी का पहला नाटक था। भावे ने कई शृगार प्रधान दु खान्त नाटको की भी रचना की।[१] यह ध्यातव्य है कि भावे की नाटच मण्डली ने कुछ हिन्दी नाटक भी उस काल म प्रस्तुत किय।[२]

मराठी नाटको के अभिनय के लिए आर्योद्धारक, महाराष्ट्र नरहरबुवा और साहुनगर वासी आदि कम्पनियाँ खुली। शेक्सपियर के 'कौमेडी आफ एरर' का मराठी रूपान्तर आर्योद्धारक ने प्रस्तुत किया। साहुनगरवासी कम्पनी मुख्यतया पौराणिक नाटक प्रस्तुत किया करती थी। सत तुकाराम के रूप मे गणपतराव जोशी और नारी पात्र की भूमिका म बलवतराव जोग विख्यात थ।

यह युग शेक्सपियर के दु खान्त नाटको का मराठी भाषा म नाटच प्रयोग के रूप म प्रस्तुत करने का था। आगरकर द्वारा प्रस्तुत तथा शेक्सपियर के हैमलेट एव अन्य दु खान्त नाटको के नायक के रूप म गणपतराव जोशी ने प्रेक्षको को वर्षों तक मुग्ध रखा। उनकी नूतन अभिनय विधियो ने मराठी रगमच को समृद्ध किया।[३]

मराठी रगमच के इतिहास म अभिनेता एव नाटककार स्व० अन्नासाहेब किर्लोस्कर का महत्व ऐतिहासिक है। उन्होने १८८० म किर्लोस्कर कम्पनी की स्थापना की और 'सगीत शकुन्तला', 'सगीत सुभद्रा' 'सुखदा' और 'रामविजय' आदि स्वरचित नाटक रगमच पर प्रस्तुत किये। इस नाटच मण्डली के लिए बाबूराव कोलहतकर जसे महान् सगीतकार ने अपने दिव्य सगीत की मधु वर्षा की और नायिका की भूमिका म प्रस्तुत हो दशको को वर्षों तक मत्रमुग्ध किया था।

किर्लोस्कर के बाद कोलहतकर वर्षों तक मराठी रगमच पर छाये रहे। देवल रचित स्वतत्र नाटक शारदा' म गीतो की मधुर योजना पर कोलहतकर का ही प्रभाव था। स्वदेश हितचितक की रगभूमि पर केशव भोसले ने देवल रचित 'शारदा' की सफल भूमिका और कोल हतकर ने मधुर गीतो द्वारा उसे अमरता प्रदान की। इसी नाटय-सस्था को महान् मराठी नाटक कार स्व० मामा वरेरकर के प्रथम नाटक कुजविहारी (१६०८) को प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

बीसवी सदी क आरम्भ तक मराठी नाटक मे मुख्यतया उच्च वग की आकाक्षाएँ प्रति ध्वनित हो रही थी। परन्तु सामान्य जन के सुख-दु ख और हर्ष विषाद को नाटको म स्वर दिया माधवराव पत्नाकर ने। पर उनकी इस लोकपरक उद्बुद्ध चेतना को महाराष्ट्र के सुदूर ग्रामो तक फलाया बाबाजीराव राणे ने। वे बडे उत्साही अभिनेता थे। सत तुकाराम की पत्नी की भूमिका मे अभिनय करते हुए ही इनकी इहलीला समाप्त हुई।

मराठी रगमच के इतिहास मे भोसले और गायक अभिनेता बालगधव की देन चिर

---

१ मराठी रगभूमि—जून १६०३, पृ० १६।

२ It is worth noting that Bhava's troup, which copied Kannada drama produced a few Hindi plays also Marathi Theatre D Nadkarni Indian Drama, p 78 Publication Division 1956

३ Indian Theatre p 94 (Yagika)

बंगाल के आधुनिक रंगमंच का इतिहास अत्यन्त समृद्ध और गौरवशाली है। कलकत्ता कभी भारत की राजधानी थी और वहाँ पर यूरोपीय शासकों और व्यापारियों के मनोरंजन के लिए १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही कई शानदार रंगभवनों की स्थापना हुई, जिनमें शेक्सपियर एवं अन्य यूरोपीय नाटककारों के नाटकों का भव्य प्रदर्शन होता था। नाट्य प्रदर्शन की पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित हो बंगाल में बंगला रंगमंच की स्थापना हुई और उसी प्रभाव की छाया में दुःखान्त सामाजिक नाटकों की रचना बंगाली नाटककारों ने भी की। पाश्चात्य नाट्य प्रभाव ने बंगाल के रंगमंच और नाट्य परम्परा को नया स्वरूप और नयी दिशा दी। निःसन्देह बंगला रंगमंच के नवजागरण ने पार्श्ववर्ती हिन्दी क्षेत्र को भी प्रभावित किया और उन्नीसवीं सदी के मध्य यहाँ भी नवीन शैली के नाटकों की रचना और रंगमंचों का निर्माण आरम्भ हुआ। बंगला रंगमंच स्वयं पाश्चात्य नाट्य परम्परा से तो प्रभावित हुआ ही, उसने हिन्दी की नाट्य-परम्परा के लिए भी पाश्चात्य नाट्य पद्धति का द्वार उन्मुक्त कर दिया।[1]

कलकत्ता के विदेशी रंगमंच

कलकत्ता थियेटर (न्यू प्ले हाउस) की स्थापना १७७० ई० में हुई। इसमें शेक्सपियर एवं अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन हुआ करता था। कलकत्ता थियेटर में ही सर्वप्रथम श्रीमती वेस्ट्रो के चौरंगी थियेटर की परम्परा का अनुसरण करते हुए रंगमंच पर श्रीमती कार्गिल को स्त्री-पात्र के रूप में प्रस्तुत किया।[2] श्रीमती ब्रिस्टो की मधुर भाव भंगिमा देखकर उस समय के यूरोपीय एवं सम्भ्रान्त भारतीय प्रेक्षकों का हृदय आनन्द और उत्साह से थिरक उठता था। उसकी मधुर याद इस युग के प्रेक्षकों के हृदय में वर्षों तक गूंजती रही।[3]

बंगला रंगमंच के विकास की दृष्टि से रूसी यात्री लेबडेफ का योगदान बहुत महत्त्व का है। ये मूल अंग्रेजी नाटकों के अतिरिक्त उनके बंगला रूपांतरों को भी प्रस्तुत किया करते थे। उन्होंने १७९५ में बंगाली थियेटर को जन्म दिया। 'दि डिस्गाइज' और लव इज द बेस्ट डाक्टर' का बंगला रूपान्तर प्रस्तुत किया। प्रसिद्ध भाषाविद् गोकुलदास के सहयोग से बंगाली पुरुष एवं स्त्री पात्रों को भी रंगमंच पर प्रस्तुत करने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ। इसी रंगमंच पर प्रसिद्ध बंगाली कवि भारतचन्द्र के गीत लयबद्ध कर प्रस्तुत किये गए थे। यह थियेटर सम्भवतः डूमतल्ला बाजार के आसपास था, जो अब भी 'नाच घर' के रूप में प्रसिद्ध है। रंगमंच की स्थापना का प्रथम श्रेय इन्हें ही प्राप्त है।[4]

---

१ राम० शु० हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५८६।

२ डा० पी० गुहा बंगाली ड्रामा (१९३०)।

३ This much is certain that Calcutta was so much dazzled by her (Mrs Bristou s) histrionic perfection that when she returned to England in 1790 her departure, says Dr Busteed eclipsed the gaity of Calcutta refused to be comforted —Das Gupta, Indian Stage p 218

४ Thus the beginning of the first Bengali drama came from a foreigner there is nothing to be ashamed of at this Lebdef's attempt was the first beginning of the gorgious revival of Hindu Stage—Dr Das Gupta Indian Stage, Vol I, p 237

पर आनन्द की मधु-वर्षा की थी पर गत द्वितीय महायुद्ध म वह कम्पनी भी बन्द हो गई और वे चलचित्र निर्माण म लग गये।

इस सदी के चतुथ दशक (१६४२) के बाद मराठी रगमच क इतिहास म पुन आशा की किरणें जगमगाने लगी थी। मोतीराम गजानन रांगणेकर न नाट्य निकेतन' और पार्श्वनाथ केलकर ने लिटल थियेटर' की स्थापना की। नाट्य निकेतन रांगेणकर लिखित नाटको के प्रदशन प्रस्तुत कर अभी भी मराठी रगमच का दिशा निर्देश कर रहा है। १६४३ म मराठी रगमच की शतवार्षिकी मनाई गई। १६४४ म मुम्बई मराठी साहित्य सघ ने चोदह दिनों तक नाट्योत्सव का आयोजन किया जिसम मामा वरेरकर का 'सारस्वत' सफलता स अभिनीत हुआ। इसम सन्देह नही कि स्वतन्त्रता के उपरान्त मराठी रगमच के प्रति सुसस्कृत जनो की अभिरुचि जागी है, महाराष्ट्र सरकार भी सफल नाट्य प्रयोग क लिए पुरस्कार दिया करती है। नाट्यकला की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हुई है। इससे मराठी नाट्य और रगमच की सम्भावनाएँ महान् हैं। परन्तु किसी भी रगमच का भविष्य केवल सरकारी कृपा पर निभर नहीं करता। उसके लिए कुशल सवेदनशील नाटककार, प्रतिभाशील और परिश्रमी प्रयोक्ता तथा सहृदय प्रेक्षक के सहयोग की आवश्यकता है। चलचित्रो के चमत्कार और आकषण की तुलना म सब सम्भव सहयोग और प्रचुर आर्थिक सहयोग पर ही आज का रगमच जीवित रह सकता है।

बंगला रगमच

प्राक मुस्लिम शासनकाल म सस्कृत के साहित्यिक नाटक और लोकनाट्य समानान्तर धारा के रूप म विकसित हो रहे थे। बारहवी सदी के लक्ष्मणसेन क काल म बगाल की साहित्यिक कमण्यता उत्कष पर थी, जब जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की। वष्णवो के बीच सदियो तक सवाद न होने पर भी गीति-नाट्य के रूप म उसका प्रयोग होता था। मुसलमानो के आक्रमण के बाद बगाल की सास्कृतिक धारा दो-तीन सदियो तक बिखरी-सी रही। इसी परिस्थिति म सोलहवी सदी मे चतन्य का अवतरण हुआ। धम और अध्यात्म के प्रसार के लिए वे स्वय नाट्य प्रयोग मे भाग लेते थे। चतन्य भागवत् के लेखक वन्दावन दास ने लिखा है कि 'रुक्मिणी हरण' नाटक मे उन्होने स्वय रुक्मिणी का अभिनय किया था।[1] समानान्तर काल म ही यात्राओ का प्रसार हुआ। यात्राए बगाल की धम भावना की प्राजल अभिव्यक्ति १६वी सदी तक करती रही, जब पश्चिमी नाट्य प्रभाव की किरणें पूव मे भी फूटने लगी थी।

---

1 He had a fascination for drama and was himself a highly skilled actor Vrindavan Das (C 1507 89) The author of Chaitanya Bhagwat has given us a very vivid and interesting description of a play named Rukimini haran which was produced at the house of certain Chandra shekhar of Navadvipa and in which Chaitanya played the role of Rukimini

—Prabodh C Sen, Bengali Drama & Stage Indian Drama, p 40

शिल्प तथा वस्तुगत भावना की द्व द्वात्मकता के गूढ चित्रण द्वारा सारे भारत के नाट्य प्रेमियो का मन मोह लिया। अनुवाद के माध्यम से उनके नाटक हिन्दी क्षेत्र म विशेष लोकप्रिय हुए।

क्षीरोद बाबू (१८६४ १९२७) और अपरेश मुखर्जी ने अपने नूतन नाट्य शिल्प द्वारा बगला रगमच को समृद्धि प्रदान की। भादुरि द्वारा अभिनीत उनका आलमगीर' अत्यन्त विख्यात नाटक था। मुखर्जी महोदय न आट थियेटर (१९२३) के अन्तगत स्वरचित 'कर्णार्जुन', रवि ठाकुर रचित चिरकुमार सभा और रवीन्द्र मैत्रा का 'मानमयी गल स्कूल' बडी सफलता के साथ प्रस्तुत किया।

शिशिर भादुरि इस युग के महान् एव अद्वितीय अभिनेता थे। लगभग चालीस वर्षों तक वह बगला रगमच पर छाये रहे। वद्धावस्था म भी व माइकेल मधुसूदन दत्त का अभिनय बडी सफलता और प्रभावशीलता से किया करते थे। सीता, पोडशी, शेष रक्षा और आलमगीर की सफल भूमिकाएँ नायक के रूप म उन्होने की और उनके प्रदशना के लिए प्रेक्षक सदा लालायित रहते थे। स्व० भादुरि का वह स्वणयुग आज बँगला रगमच से विदा ले चुका है। बँगला रगमच को टगोर परिवार की देन महान् है। १८६६ म जोरासाको नाट्य समाज ने नव नाटक प्रस्तुत किया और सस्कृत नाटको का रूपान्तर भी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अपने अग्रज ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर रचित किसी नाटक के पात्र की भूमिका १८७७ मे सोलह वष की किशोरावस्था मे ही की थी। स्वरचित बाल्मीक प्रतिभा' के अभिनय मे उन्होने बाल्मीकि की मुख्य भूमिका की थी। यह कृति १८८१ और 'श्यामा' १९३९ म प्रकाशित हुई। तब से गत साठ वर्षों मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लगभग तीन दजन नाटको की रचना की। विचार, कल्पना, भाव सौन्दय, नाट्य के स्वरूप एव शलियो की दृष्टि से वे विविध हैं और अनुपम भी। निस्सन्देह इन कलात्मक कृतियो पर इस युग चेतना का प्रभाव भी कम नही है। उन्होने अपने नाटको मे नई शिल्प विधियो का प्रयोग किया है पर शान्तिनिकेतन के उच्चतर कलात्मक वातावरण मे शिक्षित अभिनेता और सस्कार-सपन्न प्रेक्षक ही उसका स्वाद ले सकते हैं। सामान्य रगमचो के अभिनेता न तो इन उत्कृष्ट नाटको को प्रस्तुत ही कर सकते हैं और न प्रेक्षक हृदयगम ही। डी० एल० राय सामान्य रगमचो पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं।

व्यवसायी रगमचो के अतिरिक्त अव्यावसायिक नाट्य मण्डलियाँ भी अभिनय की भाव भगिमाओ के प्रदशन मे यश प्राप्त कर चुकी हैं। बहुरूपी नाट्य मण्डल को 'चौनार तार' जैसे सामाजिक नाटको के अभिनय द्वारा खूब ख्याति मिली।

यद्यपि आज बगला रगमच को मन्मथराय, शचीन्द्रनाथ सेन गुप्त और विधायक भट्टाचार्य जसे प्रतिभाशाली नाट्यकार एव अहीन्द्र चौधरी और मनोरजन भट्टाचाय जसे कुशल अभिनेताओ का सहयोग प्राप्त है पर गत एक सौ वर्षों म उपार्जित बगला रगमच की वह लोकप्रियता और प्रबल शक्ति आज मिटती जा रही है। इसका सभवत कारण यह है कि इन रगमचो पर प्राय घिसे पिटे पुराने नाटको का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है या इसलिए कि उपन्यासो का नाटकीय रूपान्तर प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि शरत के पोडशी विदारे छेल' और ताराशकर बाबू का आरोग्य निकेतन' बहुत ही लोकप्रिय हुए हैं। उपन्यासकारो म बनफूल ने ही मधुसूदन नामक मौलिक नाट्य रचना प्रस्तुत की और वह रगमच पर लोकप्रिय भी है।[1]

[1] प्रबोध सी० सेन, बँगला ड्रामा एण्ड स्टेज—इण्डियन ड्रामा, पृ० ५१।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप से आई पुनर्जागरण की लहरें तट पर बसे महानगरों को भी छूने लगी। इस युग में शेक्सपियर और संस्कृत के महान् नाटकों के अभिनय प्रस्तुत किये गए। प्रसिद्ध है कि संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् डॉ० एच० एच० विल्सन उत्तररामचरित के अभिनय (अंग्रेजी रूपान्तर) में स्वयं पात्र बने थे। परन्तु पहला बंगाली दुःखान्त नाटक 'कुलीन कुल सर्वस्व' मार्च १८५७ में प्रस्तुत किया गया। इस प्रारम्भिक युग के सांस्कृतिक उन्नायकों में राजा जतीन्द्र मोहन टगोर, राजा प्रतापचन्द्र सिंह, बाबू कालीप्रसन्न सिंह और राजा ईश्वरचन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। हर्षरचित 'रत्नावली' का बँगला रूपान्तर ३१ जुलाई १८५८ को प्रस्तुत किया गया। इसमें पाश्चात्य शैली के आर्केस्ट्रा का पहले पहल प्रयोग किया गया था। बंगाल के इन सम्भ्रान्त जनों द्वारा संचालित बंगला रंगमंच सामान्यजन की पहुँच से बाहर थे।

बँगला रंगमंच और गिरीश घोष

बंगला रंगमंच के जन्मदाता गिरीशचन्द्र घोष ने बंगाल के जन-जीवन की आकांक्षा और भावना के अनुरूप १८७२ में नेशनल थियेटर की स्थापना की। यह अब 'नेशनल थियेटर आफ बंगाल' के नाम से विख्यात है। यह पहला थियेटर था जिसके पात्रों को नियमित वेतन मिलता और प्रेक्षकों का प्रवेश टिकट पर होता था। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और विचारों का मद बंगाल पर छाता जा रहा था। प्रभाव की इस लहर से नाटक और रंगमंच कैसे अछूते रहते। गिरीशचन्द्र घोष जितने ही कुशल नाट्य प्रयोक्ता थे उतने ही प्रतिभाशाली नाटककार भी। उन्होंने देश की समकालीन समस्याओं को दृष्टि में रखकर दुःखान्त, सुखान्त, प्रहसन एवं गीति नाट्यों का सफल प्रयोग किया और रंगमंच को यथासंभव पाश्चात्य पद्धतियों से विभूषित भी किया। इन्होंने हरिश्चन्द्र (पौराणिक) शिवाजी, प्रताप (ऐतिहासिक), पतिव्रता, प्रफुल्ल, शास्ति या शान्ति और बलिदान (सामाजिक) नामक स्वरचित नाटकों को सफलता के साथ प्रस्तुत किया। उनके नेशनल थियेटर की ओर से अन्य नाटककारों के भी अनेक नाटक अभिनीत हुए जिनमें ज्योतीन्द्र नाथ ठाकुर लिखित सरोजिनी (१८७५) को बहुत लोकप्रियता मिली। 'बंगाल थियेटर' और नेशनल थियेटर परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे।[1]

इन सार्वजनिक प्रेक्षागृहों में ही व्यावसायिक रंगमंचों के लिए अभिनेता तैयार हुआ करते थे। इन्हीं में गिरीशचन्द्र घोष से शिशिर भादुरि तक के महान् अभिनेताओं की गौरवशाली परंपरा सामने आई और बँगला रंगमंच उनके योगदान से समृद्ध हुआ। अमृतलाल बसु अपरेश मुकर्जी दानी घोष, दुर्गादास बनर्जी, निर्मलेन्दु लाहिरी, अहीन्द्र चौधरी और अमरेन्द्र दत्त आदि प्रतिभाशाली अभिनेताओं ने बँगला रंगमंच का गौरव बढ़ाया। अभिनेत्रियों में चारुशीला, कृष्णकामिनी, नीहार बाला, तारा सुन्दरी और प्रभा ने अपने मर्मस्पर्शी अभिनयों द्वारा बंगला रंगमंच में यथार्थता, सजीवता और नूतनता का संचार किया। बंग-महिलाएँ १८७३ से ही रंगमंच की शक्ति और शोभा देने लगी थीं। घोष महोदय द्वारा प्रवर्तित नाट्य परंपरा का संवर्द्धन उत्तरोत्तर डी० एल० राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाट्य रचना और अभिनय के नवीनतम शिल्पों के द्वारा होता रहा। स्व० राय महोदय ने अपने नाटकों में प्रयुक्त नवीन नाट्य

१ याज्ञिक इण्डियन थियेटर, पृ० ८७।

भाषा की अतिशय काव्यात्मकता के कारण सामान्य लोकरुचि उनमे रम नही पाती। इन्ही की परम्परा म मिलिन्द और हरिकृष्ण प्रेमी आदि के नाटक भी हैं। भारत की प्राचीन कथा भूमि पर ही रामकुमार वर्मा ने 'चारुमित्रा', जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणाक', श्री रामवक्ष वेनीपुरी ने 'अम्ब पाली' और नेत्रदान' पथ्वीनाथ शर्मा ने 'उर्मिला' और सीताराम चतुर्वेदी ने सेनापति पुष्यमित्र' नामक नाटकों की रचना कर प्रसाद की परम्परा का ही पुनरुत्थान किया। इन नाटको का अनेक बार विश्वविद्यालयो के सीमित प्रागणो तथा सामाजिक सस्थाओ मे प्रदशन भी हुआ है। अम्बपाली का सफल प्रदशन दिल्ली म सगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित नाटयोत्सव (१६५४) के अवसर पर हुआ। स्वय मैंने १६५१ म अपने निर्देशन मे अम्बपाली को रामदयालु सिंह कालेज (मुजफ्फरपुर) की भरत नाटय परिषद की ओर स प्रस्तुत किया था। इस महा विद्यालय की उक्त परिषद् के तत्वावधान म बडी धूमधाम स अस्थायी रगभवन की रचना कर हिन्दी नाटयों का प्रदशन होता था। इधर एक विशाल भवन भी बना है, जिसम एक रगभूमि बनी है पर अब न वहां वे रगशिल्पी हैं और न नाटय प्रदशन का वह उत्साह ही। इस सस्था ने उत्तर बिहार म नाट्य प्रदशन की बडी शानदार परम्परा बनायी थी, जो अब मिटती चली जा रही है।

प्रसाद के नाटय रचनाकाल म ही जाज बर्नाड शॉ, इब्सन, मार्क्स और फ्रायड के क्रांति कारी विचारो से प्रभावित हो आदश विरोधी, यथाथवादी व्यग्यप्रधान, मनोविश्लेषणवादी तथा साम्यवादी विचारो की छाया मे विभिन्न शलियो मे लिखे लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास और अश्क प्रभति के नाटक प्रकाश मे आये। परन्तु रगमच की आवश्यकताओ के प्रति वे सजग नही है। हाँ, रामकुमार वर्मा और अश्क के नाटको म यथाथवादिता, विचारो की गम्भीरता और प्रेम की सुकुमारता का समन्वय है तो रगमच के लिए अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता भी।

नाटय रचना की यह लहर हिन्दी म तेजी से बढ रही है और प्राचीन-नवीन कथा भूमियो पर जीवन और जगत् की समकालीन समस्याओ का सजीव प्रतिफलन इन नाटको म हुआ है। ये नाटक विषय-वस्तु ही नही शिल्प की दृष्टि से भी नितात नूतन क्षितिज का सकेत करते हैं। इनके नाटको मे नाटकीयता, जीवन की मधुरता और भावो की प्राणवत्ता का बडा ही ममस्पर्शी प्रस्फुटन हुआ है। यशपाल, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश और धमवीर भारती हिन्दी की नवीन नाटयधारा के प्रवतको म हैं। इनके नाटको का अभिनय अव्यावसायिक नाटय-मण्डलियो द्वारा यदाकदा होता रहा है। बम्बई की थियेटर यूनिट द्वारा राकश के 'आषाढ़ का एक दिन' का सफल प्रयोग हुआ। प्रसाद से आज तक हिन्दी नाटय तो समद्ध हुआ है, उस पर भारतीय और पाश्चात्य नाटयकला का प्रभाव भी पडा है। इन नाटको का प्रदशन अधिकतर अव्यावसायिक नाटय मडलियो द्वारा ही शिक्षा सस्थाओ म होता रहा है। हिन्दी क्षेत्र म कोई व्यावसायिक नाटय-मण्डली इन नाटको के प्रदशन का साहस नही कर सकी है। हिन्दी नाटको के प्रदर्शन के लिए व्यावसायिक नाटय-मण्डली का अभाव हिन्दी रगमच के उत्कप मे बाधक है।

युग नाट्य रचना और रंगमंच की दृष्टि से अंधकार और निराशा का ही युग था। काश! भारतेन्दु भी गिरीशचन्द्र घोष की तरह पूरी जिन्दगी जी पाते तो हिन्दी रंगमंच का इतिहास आज कुछ और ही होता!

नाट्य-मंडलियों की स्थापना

भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी-क्षेत्र के बड़े नगरों में कई नाट्य मंडलियों की स्थापना हुई। रामलीला नाटक-मंडली (१८९८) और हिन्दी नाट्य-समिति (१९०८) इलाहाबाद के द्वारा 'सीता-स्वयंवर', 'महाराणा प्रताप' और 'महाभारत पूर्वार्द्ध' का प्रदर्शन हुआ। ठीक इसके बाद ही काशी में 'भारतेन्दु नाट्य मंडली' और काशी नागरिक 'नाट्य मण्डली' की स्थापना १९०९ में हुई। ये 'नाट्य मण्डलियाँ' भारतेन्दु एवं अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन करती थीं। हिन्दी रंगमंच के इतिहास में पंडित माधव शुक्ल की देन चिरस्मरणीय रहेगी। इन्होंने कलकत्ते में 'हिन्दी नाट्य-परिवार' की स्थापना कर वर्षों तक पारसी थियेटरों की तुलना में हिन्दी रंगमंच को जीवन और गति दी। यद्यपि इन संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित नाटकों पर पारसी थियेटर कंपनियों की रंगमंचीय साज-सज्जा और विस्मयोत्पादक दृश्य विधान का प्रभाव भी कम न था। परन्तु इनमें नाटकीय कौतूहल और मोहक दृश्य विधान की अपेक्षा प्रांजल भाषा, काव्यात्मक गीत, उदात्त एवं भावुकतापूर्ण आदर्शवाद के प्रस्तुतीकरण पर अधिक बल दिया जाता था। फलतः हिन्दी का यह किशोर रंगमंच उत्तरोत्तर स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और हिन्दुस्तानी क्लबों की परिधि में सीमित होता गया। इसके फलस्वरूप उसमें नवीन प्रयोग तो हुए पर नाटकों का सामाजिक महत्त्व कम हो गया।[1]

लगभग दो युगों तक (१९०० से १९२५ तक) पारसी एवं अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियाँ समानान्तर रूप में नाटकों का प्रदर्शन इस विशाल क्षेत्र में करती रहीं। इस काल के हिन्दी रंगमंच के महान् अग्रदूतों में आगा हश्र काश्मीरी, राधेश्याम पाठक, नारायणप्रसाद बेताब, तुलसीदत्त शैदा और हरिकृष्ण जौहर मुख्य हैं। राधेश्याम के 'वीर अभिमन्यु', हश्र के 'सूरदास' और 'सीता वनवास' आदि नाटकों को पारसी थियेटर कंपनियों ने भी अपना लिया।[2]

प्रसाद-युग

हिन्दी नाट्य और रंगमंच की इसी पृष्ठभूमि में जयशंकर प्रसाद का एक महान् सांस्कृतिक अग्रदूत के रूप में अवतरण हुआ। वे नाट्य रचयिता थे, नाट्य प्रयोक्ता नहीं। उन्होंने मुख्यतः ऐतिहासिक नाटकों की रचना की, जिनमें प्राचीन भारतीय गौरव, देशभक्ति और प्रेम का बड़ा ही उदात्त और मधुर चित्रण हुआ है। पाठ्य-काव्य की दृष्टि से ये नाटक जितने ही रसस्निग्ध हैं, अभिनेयता की दृष्टि से उतने ही जटिल और क्लिष्ट। इसीलिए 'ध्रुवस्वामिनी', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' के सफल प्रदर्शन कालेजों और विश्वविद्यालयों के समारोहों पर होते रहे हैं पर

---

१ जे० सी० माथुर : हिन्दी ड्रामा एण्ड थियेटर, इण्डियन ड्रामा, पृ० ३९।

२ भारतीय रंगमंच का विकास : सक्सेना।
साहित्य संदेश : अन्तर्प्रान्तीय नाटकांक (साहित्य सदन) १९४५ (अगस्त), पृ० १६।

नाटय प्रयोगशाला (वकशाप) भी है। इनसे कुछ आशा तो बधती है कि रगमच का भविष्य महान् है। परन्तु जब तक हिन्दी रगमच के विकास म व्यावसायिक नाटय मण्डलिया पर्याप्त रुचि नही लेती तब तक इसका भविष्य बहुत आशावान नही कहा जा सकता।

दक्षिण भारतीय रगमच

तमिल रगमच

दक्षिण भारत म आधुनिक रगमच की परम्परा न तो उतनी आधुनिक ही है और न उतनी समद्ध ही। १६वी सदी के अन्त तक तमिलनाडु मे अभिनीत नाटको का स्तर इतना नीचा था कि भद्र परिवार के माता पिता अपने परिवार के किसी सदस्य को नाटक देखने की स्वतन्त्रता नही देते थे। प्रदशना म सब लोग एक साथ बठते। श्रेणीगत कोई विभाजन न था। सभवत इसलिए भी भद्र लोगा की रुचि उस ओर न थी। परन्तु अभिनय का स्तर भी बहुत ही निम्नश्रेणी का था। वेश रचना तो और भी फूहड होती थी। राजा रानी को छोड अन्य पात्रो की वेशभूषा रोजमर्रा की साधारण होती थी। वण रचना भी एकदम घटिया ढग का होती थी। पात्र भी निम्नस्तर के नितान्त अशिक्षित होते थे। नाटको की कथावस्तु प्राय घिसी पिटी पौराणिक होती थी। हरिश्चन्द्र' 'रामनाटक', 'सावित्री-सत्यवान्' और 'द्रौपदी वस्त्रहरण' आदि का *अभिनय ही बार बार होता था। ये तथाकथित नाटक गीत प्रधान होते थे। सवाद का* कोई सुनिश्चित लिखित रूप नही था। गीतो के मध्य उन सवादा को वे पात्र अपनी इच्छा से भर देते थे। गीत गात हुए हारमोनियम के सहारे उसे बार बार दुहराया जाता था। तब तक अन्य पात्र नेपथ्य मे लौट जाते थे। आज से साठ वष पूव तक तमिल रगमच इसी हीन अवस्था म था। न नाटक अच्छे थे, न प्रयोक्ता और न उनका रगमचीय सगठन ही। फलत अपरिष्कृत रुचि के समाज मे ही उसका आदर था।

तमिल रगमच के उद्धार के लिए अव्यवसायी शिक्षित नाट्य मण्डलियाँ बीसवी सदी के आरम्भ से ही प्रयत्नशील हैं। १८६० म वेल्लारी के कृष्णमाचारी ने 'सरस विनोदिनी सभा' की स्थापना की। धीरे धीरे शिक्षित जना का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। इन्होने पी० एस० मुदालियर के नेतृत्व मे सगुणविलास सभा' की स्थापना की। मुदालियर महोदय महान् अभिनेता *और अध्यापक हैं। गत अद्धशतक से तमिल रगमच के विकास की दिशा म उन्हाने ऐतिहासिक महत्त्व का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त म्यूजियम थियेटर, कन्हैया एण्ड कम्पनी तथा बाल* विनोद नाटक सभा जसी सस्थाएँ भी रगमच के उत्थान के लिए खुली। इन सभाआ द्वारा तमिल *रगमच का स्तर उन्नत हुआ और नाटको के अभिनय न भी नया स्वरूप और शक्ति प्राप्त की।* इन शौकिया नाट्य-मण्डलियो के प्रयत्न से ही व्यावसायिक नाटय कम्पनियो की असम्भ्रान्तता एव अन्य त्रुटियाँ धीरे धीरे दूर हो सकी।

परन्तु रुपहले चलचित्रो के आगमन ने अन्य भारतीय रगमचो की भाँति तमिल को भी क्षति पहुचाई। दशकों की रुचि इन नाटको म तो रमी ही नही, अभिनेता भी चलचित्रो मे चले गए। इसस गत्यवरोध तो उत्पन्न हुआ ही, युद्धोत्तर अथसकट और महँगी ने मिलकर तमिल रगमच को अन्धकारपूण भविष्य की ओर ढकेल दिया।

पृथ्वी थियेटर्स

हिन्दी रंगमंच के इसी निराशापूर्ण वातावरण में आधुनिक भरत पृथ्वीराजजी ने सन् उन्नीस सौ चवालीस में पृथ्वी थियेटर्स की स्थापना की। यद्यपि यह व्यावसायिक रंगमंच था परन्तु इसका आदर्श था, कला और आदर्श की सेवा। पृथ्वीराजजी ने इसी भावना से अनुप्राणित हो 'शकुन्तला' (१९४६), दीवार', 'गद्दार', पठान', 'आहुति', कलाकार' और 'किसान' का बम्बई एवं देश के विभिन्न नगरों में प्रदर्शन किया।

अभिज्ञानशाकुन्तल पर आधारित शकुन्तला पृथ्वी थियेटर्स का प्रथम पर सफल नाटक था। १५ नवम्बर १९४५ को करुणरस प्रधान 'दीवार' का उद्घाटन स्व० सरदार वल्लभभाई पटेल ने किया था। 'गद्दार', 'पठान' और 'आहुति' ये तीनों ही नाटक मुख्यतः भारत विभाजन की समस्या से सम्बन्धित हैं। सितम्बर १९५१ में कलाकार का प्रदर्शन, रायल ऑपेरा हाउस बम्बई में हुआ। पृथ्वीराजजी का सातवाँ नाटक 'पैसा' १९५३ में प्रस्तुत हुआ। आधुनिक भौतिकवादी जीवन की यथार्थता के आधार पर सामाजिक और आर्थिक पहलुओं का बड़ा ही मार्मिक प्रदर्शन इसमें हुआ है। पृथ्वी थियेटर्स का अन्तिम नाटक 'किसान' १९५६ में प्रस्तुत किया गया था। इसका वातावरण बड़ा ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी था। इस नाटक के द्वारा पृथ्वीराजजी ने देश को समाजवाद की ओर आह्वान किया था।

पृथ्वी थियेटर्स के प्रदर्शनों को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। व्यावसायिक रंगमंच होने पर भी इसके प्रति सारे देश में श्रद्धा और प्रेम का भाव था। पृथ्वीराजजी इस युग के सधे हुए महान् कलाकार हैं। उन्होंने रंगमंच पर नए नाट्य शिल्पों का भी प्रयोग किया। ड्रापसीन के अतिरिक्त अन्य पर्दों का प्रयोग नहीं करते थे। रंगमंच की साज-सज्जा ऐसी सहज होती थी कि स्वाभाविक रीति से सारी घटनाएँ उसमें अभिनीत होती थीं। नाटकों की भाषा भी भरत के अनुसार मृदु ललित और प्रवाहपूर्ण थी। स्वाभाविक पर प्रभावशाली प्रदर्शन तथा देशभक्ति और आत्म-त्याग की उदात्त भावना ने इनके प्रदर्शनों को बड़ी ख्याति दी। परन्तु सोलह वर्ष की किशोरावस्था में ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का हिन्दी का यह एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच १९६० में असमय ही काल-कवलित हो गया। उसका प्रधान कारण है, अपने रंगभवनों का अभाव और महान् कलाकार पृथ्वीराजजी की अव्यावसायिक बुद्धि। इसके बन्द हो जाने से हिन्दी रंगमंच का भविष्य गत्यवरोध के तट पर खड़ा है। उनके प्रदर्शनों को मैंने कई बार देखा था। उनकी रूप सज्जा और अभिनय के नूतन शिल्पों से हिन्दी रंगमंच को बड़ी आशाएँ थी पर अब वह इतिहास की स्मृति भर रह गयी है।

इस निराशापूर्ण वातावरण में बम्बई, दिल्ली, काशी, पटना और जबलपुर आदि में नई नाट्य संस्थाओं ने जन्म लिया है और नयी शैली के रंगभवनों की रचना हुई है। ये हिन्दी नाटकों के अंग्रेजी के (मूल भी) मूल और संस्कृत के रूपान्तर भी प्रस्तुत कर रही हैं। बम्बई की थियेटर यूनिट ने 'अंधा युग' और 'नाटक तोता मैना' का प्रदर्शन कर बड़ा यश उपार्जित किया है। दिल्ली नाट्य संघ ने हाल ही मुद्राराक्षस प्रस्तुत किया है। जबलपुर के परिवर्तकामी रंगमंच की बड़ी शोहरत है। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा अभिनय की शिक्षा देने में तल्लीन है। इसके द्वारा विदेशी नाटकों के अनूदित एवं मूल नाटकों के सफल प्रदर्शन हुए हैं। साथ में पुस्तकालय, रंगशाला तथा

नहा है। अव्यावसायिक नाटय-मण्डलियाँ नाटय प्रयोग म रुचि तो ले रही हैं, पर उसके लिए सतत प्रयत्न की आवश्यकता है। बिना व्यावसायिक नाटय मडली के रगमच की वास्तविक प्रगति की कल्पना नही की जा सकती। दुर्भाग्य से वे कन्नड म अब चालू नही हैं। दत्तात्रेय नाटक मडली और विश्वगुणादश नाटक-मडली ने कन्नड के रगमच को गति और शक्ति दी है। इस काल मे अंग्रेजी और सस्कृत नाटका के रूपान्तर तो प्रस्तुत हुए पर कन्नड का नाटक अभिनीत नहीं हो सका। चलचित्रा ने तो कन्नड रगमच की इस बिखरी हुई परम्परा को और भी ध्वस्त कर दिया। बडी कठिनाई से गुब्बी वीरन की थियेट्रिकल कम्पनी ने पौराणिक एव अन्य प्रकार के नाटका के प्रदशना द्वारा कन्नड रगमच को जीवित रखा है। अव्यावसायिक नाटय-मडलियाँ भी स्थापित हुइ, कुछ नाटका का प्रदशन भी किया और फिर बन्द भी हुइ। पिछले कुछ वर्षों मे कन्नड रगमच का उत्थान और पतन होता रहा है। आधुनिक कन्नड रगमच के निर्माण मे स्व० टी० पी० कैलाशम्, श्रीनारायण राव और श्रीरग के नाम अविस्मरणीय रहगे। तोलुगत्ति और होमरूलु द्वारा कैलाशम ने अभिनय की नई परम्पराओ का सृजन किया है। नारायण राव रचित स्त्रीधम रहस्य सम्भवत पहला आधुनिक मौलिक नाटक था। इन दोनो नाटककारो ने कन्नड रगमच के लिए ही नाटको की रचना की थी।

मलयालम का रगमच

नाटयकला के सभी देशी रूपा मे 'कथकली' केरल के लोक जीवन की आकाक्षा और भावनाओ का सवश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। कथकली की कला जितनी सूक्ष्म और जटिल है उतनी ही विशुद्ध भी। वेष और मुखौटा की रचना काव्य की कोमलता, गीत वाद्य नत्य का योग और आगिक भावभगिमाएँ—सब मिलकर 'कथकली' को पूणता प्रदान करती हैं। इसम परम्परागत पौराणिक एव लौकिक कथावस्तुओ का ग्रथन भावभूमि के रूप म होता है। केरल म प्रचलित यह नाटय नत्य प्राचीन भारतीय रगमच का अत्यन्त उदात्त रूप शेष रह गया है। अभिनेता अपने अभिनय की कुशलता से सधिम और वेष्टिम आदि आहाय साधनो के बिना ही दशको को पृथ्वी से स्वग तक ले जाता है और शृगार, वीर, करुण और रौद्र आदि रसो की लहरा म लीन कर देता है। कथकली के साथ ही केरल मे प्राचीन काल से ही सस्कृत नाटक अभिनीत होते थे। वर्षों तक तो सस्कृत के मलयालम रूपान्तर अभिनीत होते रहे हैं।

मलयालम् के नाटक पाश्चात्य नाटय शली के प्रभाव म लिखे जा रहे हैं। रगमच के माध्यम से सामाजिक समस्याओ के समाधान की खोज की गई है। परन्तु अनुकरण की लहर म भी कलाकर एम० पद्मनाभ पिल्लई और एमकुमार पिल्लई ने उससे ऊपर उठकर अपने नाटको द्वारा मूल मानवीय सवेदनाओ को अभिव्यक्ति प्रदान की है। सामाजिक समस्याओ का प्रस्तुतीकरण इनके नाटय प्रयोगो म बडा ही ममस्पर्शी हुआ है। केरल म भी स्थायी रगमच की रचना का प्रयास हो रहा है। कलानिलयम्' नामक नाटय सस्था अस्थायी नाटक भवन मे कई महत्त्वपूण रगमचीय नाटको को प्रस्तुत कर चुकी है। कुरुक्षेत्र, देवदासी तथा नूरजहाँ के प्रदशनो ने इस सस्था को बडा गौरव प्रदान किया है। इसके मच विधान म बिजली की सहायता से कई आकषक फिल्मी शिल्पविधियो का भी प्रयोग किया गया है।[1]

[1] कल्पना, मई, '६३, पृ० १६।

स्वाधीनता के उपरान्त इधर पुन तमिल रगमच के उत्थान के लिए व्यावसायिक नाटय-मण्डली विशेष रूप स प्रयत्नशील है। सम्भवत व्यावसायिक तमिल रगमच इस उच्चता का स्पश पहले-पहल कर सका है। शौकिया नाटय-मण्डली की अपेक्षा इसे अधिक सफलता और ख्याति प्राप्त हुई है। सरकार की ओर स भी इसे प्रोत्साहन मिल रहा है। भय इस बात का है कि तमिल रगमच पर फिल्मो म प्रयुक्त अनेक शिल्पों का अनुकरण किया जा रहा है। उसके कारण कहीं उसी की छाया ही न बन जाय।

तेलगू रगमच

तेलगू रगमच की परम्परा बहुत पुरानी है। पद, भजन और गेय काव्य कभी बहुत लोक प्रिय थे। बाद म भागवतमु और भमकलापयु का प्रदशन होता था। इनम कृष्ण कथा, नृत्य सगीत के माध्यम स प्रस्तुत की जाती थी। छाया नाटय और यक्ष गान आदि भी खूब लोकप्रिय हुए। इनकी भाषा स्थानीय होती थी। परन्तु आधुनिक तेलगू रगमच का ज म उन्नीसवी सदी के प्रथम चरण म हुआ। चित्रनलीयम्' पहला तेलगू नाटक था जिसका प्रदशन आ ध्र नाटक पितामह लेखक अभिनेता कृष्णमाचाय ने प्रस्तुत किया था। इ होने लगभग तीस नाटक प्रस्तुत किए, जिनमे शाङ्ग धर, प्रह्लाद और अजामिल मुख्य हैं। इसी क आसपास श्रीनिवास राव न भी रामराज, शिलादित्य और कालिदास का प्रदशन वेलारी म किया। वस्तुत वेलारी तमिल रगमच की ज मभूमि है। १८९० के बाद तो महान् तेलगू अभिनेताओ के नाम से अनेक नाटक कम्पनियाँ भी खुली।

इस सदी के प्रथम चरण म ही आ ध्र म कई उच्चकोटि के अभिनेता हुए। सन् १९१९ म दिवाली के अवसर पर गुजरादा अप्पाराव का 'क या शुल्कम्' प्रस्तुत हुआ। गोवि द राजुल्य ने गिरीशम् की प्रभावशाली भूमिका की थी। इसकी भूमिका म पात्रो के अभिनय की उत्तमता की कसौटी पच्चीसो वर्षों तक बनी रही। यही नही, सामाजिक नाटको म भी यह नाटक एक आदश बना रहा। तेलगू नाटक के इतिहास म राजम नार के यप्प अरीडी का बडा महत्त्व है। आ ध्र के महान् अभिनेता राघव (आ ध्र नाटक पितामह कृष्णमाचाय का भतीजा) न पुगल के अवसर पर 'म्यूजियम थियटर' मद्रास म इस प्रस्तुत किया। राजमन्नार अ तर्राष्ट्रीय ख्याति के नाटय लेखक हैं। १९३० ४० के बीच मधुकृष्ण क अशोकम' चलम् का चित्रागी' और शशाक कविराजु का 'शबुक वध और खूनी का अभिनय हुआ। परन्तु पौराणिक कथाओ को नये परिवेश म प्रस्तुत किया गया। स्वाधीनता के उपरान्त आ ध्र म कई नाटक मण्डलियाँ काम कर रही हैं और एकाकी नाटक और रडियो रूपको की रचना बडी तेजी से हो रही है। आ ध्र नाटक कला परिषद्, (१९२९) तेलगू लिटल थियटर' और'आ ध्र थियटर फेडरेशन' नामक सस्थायें नाटय प्रदशन और रगमच को लोकप्रिय बनाने की दिशा म प्रयत्नशील हैं। फिर भी तेलगू म अभी ऐसे नाटको का अभाव है जिनका अभिनय पूरे दो घट तक हो सके।[1]

क नड रगमच

कन्नड का आधुनिक रगमच यद्यपि विकासशील है पर उसका भविष्य अभी सुनिश्चित

१ तेलगू ड्रामा के० वी० गोपल स्वामी, इण्डियन ड्रामा, पृष्ठ ११३।

नतकियो और शिक्षित अभिनेत्रियो के नूपुरो से रुनझुन और मधुर कठ से गूजते रहे हैं। 'यवनिका' शब्द के कारण भारतीय नाट्य पर ग्रीक प्रभाव का जो भ्रमजाल वर्षों तक फैला रहा, वह अब छिन्न भिन्न हो चुका है।[1] तब नाटय नत्य और सगीत की विविध शिक्षा पाने पर ही अधिकारी पात्र उनका प्रयोग करते थे। प्रयोक्ताओ के अतिरिक्त रगशिल्पियो का विशाल सगठन था, जो नाट्य का प्रयोग व्यवसाय के रूप म करते थे।[2] सहृदय प्रेक्षक उसम रस लेते, और प्राश्निक उसकी सिद्धि एव दोषो का परीक्षण करते थे। उनके द्वारा प्रशसित होन पर ही राजा पात्र को पुरस्कृत करते थ।[3] रगमच की एसी विकसित, पुष्ट और सुदीघ परम्परा होने पर भी आज भारतीय रगमच अधिकाधिक पाश्चात्य रगमच का ही मुह जोह रहा है, यह हमारी घोर सास्कृतिक दासता का ही परिणाम है।

भारतीय नाटय परम्परा विरोधों और सघर्षों के बीच भी जीवित रही है। भारतीय इतिहास इसका साक्षी है कि मध्ययुग म तुर्कों के आक्रमण के उपरान्त भी सगीत प्रधान नाटक, यात्रा, रामलीला, कृष्णलीला, रासलीला ललित, भागवतम् और भवाई की स्वदेशी नाट्य-परम्परायें उन्नीसवी सदी के अन्त तक वतमान रही हैं। उनम भारतीय जन-जीवन की प्रतिभा और चेतना सदियो से फूलती फलती रही है।

हमारी नाट्य परम्परा ऐसी समद्ध रही है कि पाश्चात्य नाटय परम्पराओ से प्रभावित होने पर भी हम उन परम्पराओ के विधिवत् ज्ञान और प्रयोग द्वारा वतमान रगमच का नया रूप खडा कर सकते हैं। पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियो को नितान्त अस्वीकार करने की स्थिति म भी हम नही हैं। हमारा आधुनिक रगमच उसी पद्धति पर पिछले एक शतक से विकसित होता रहा है। अत इसकी आवश्यकता है कि विदेशी और स्वदेशी नाटय-कलाओ का उचित सामजस्य कर उस नया स्वरूप दें।[4] इसके लिए आवश्यक है कि प्राच्य और पाश्चात्य नाटय-पद्धतियो के शास्त्रीय एव तुलनात्मक अध्ययन के लिए राष्ट्रीय स्तर के नाटय विश्वविद्यालय स्थापित हो, जहाँ सिद्धान्त और प्रयोग-पक्षो के ज्ञाता कुशल आचाय, नाट्यकार अभिनेता और रग शिल्पी इन विषयो का समुचित अनुसधान करें।

नाटयशास्त्र एव *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* मे आहाय अभिनय के अन्तगत व्याजिम, पुस्त-चेष्टिम नेपथ्यज विधियो के साथ पाश्चात्य नाट्य पद्धति की प्रकाश-सयोजना रगमचीय रूप सज्जा और नाटय प्रयोग की नवीनतम तकनीकी विधियो की समुचित शिक्षा दी जाय, यह आवश्यक है।

---

१ It is now an admitted fact that Indian drama had an independent origin and followed its own course of development without being affected by Greek or any other extraneous influence

—Bengali drama and stage—P C. Sen Indian Drama, p 39

ना० शा० २४।२० ३६ का० मा०।

३ वही २७।१७, ४२ ५१ ६१, ६४ ६६ का० मा०।

४ रगमच की दृष्टि से भी भारतीय नाटक को पश्चिम मे बहुत कुछ सीखना है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी पूर्ववर्ती और प्राचीन परम्पराओं को बेकार मानकर किनारे रख दें।

—आधुनिक साहित्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २७०।

भरतनाट्यम

दक्षिण भारत के आधुनिक रगमचा की कथा 'भरतनाटयम्' की चर्चा के बिना अधूरी ही रह जाती है। भरतनाट्यम की भारतीय परम्परा अभी भी दक्षिण म अक्षुण्ण है। पर वह म दिरो के आश्रय के कारण सम्भव हो सका। भरतनाटघम के आचाय अभी हैं। परतु उसे पूरी निष्ठा से प्रस्तुत करने वाली देवदासिया की परम्परा लुप्त हो चुकी है। फलत आज इस नत्य का व्यावसायिक दायित्व म दिरा के मण्डपम् से हटकर तथाकथित कला प्रेमीजनो के मच तक आ गया है।[१] 'भरतनाटयम्' की परम्परा को ईश्वराराधन तथा साम्प्रदायिक'पूजा से शाश्वत प्रेरणा मिलती रही है। वह मात्र अगो का सचालन नही, उसम हृदय की निश्छल भक्ति और दढ अनुराग की अभिव्यजना होती है।[२] परन्तु भरतनाटयम् का आधुनिक प्रदशन देव म दिरो से हटने पर तो केवल यशाभिलापी प्रदशन मात्र रह गया है। उसके मूल म बसी आत्मनिष्ठा लुप्त होती जा रही है। कई सदियो से पोपित यह नाटय हमारे सास्कृतिक सरक्षण का उत्कृष्ट कलात्मक माध्यम रहा है। वह शास्त्रीय और साम्प्रदायिक परम्पराओ पर जीवित है। यदि हम उन्ह खो बठें तो भारतीय नत्य जीवन की उन गरिमाओ को अभिव्यक्ति न दे सकगा, जिनके कारण भारतीयता आज भी जीवित है। नाटय और नत्य प्रेमियो के समक्ष आज यह प्रश्न है कि क्या यह भारतीय नत्य शास्त्र की परम्पराओ की उपेक्षा कर वास्तव म जीवित रह सकेगा ? या पुन देवालय की छाया म ही यह अपने प्रकृत रूप म पनपेगा ? पनप सकेगा ?

राष्ट्रीय रगमच की कल्पना

पिछले पृष्ठो म हमने भारत क विभिन्न प्रदेशो के आधुनिक रगमचो की परम्परा, स्वरूप और अवस्था का विहगम अवलोकन किया है। उसस कई महत्त्वपूण तथ्य हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। यद्यपि विभिन्न रगमचा की प्रगति तो हो रही है परन्तु १९३० ३२ से पूव मराठी, बँगला एव अन्य कुछ रगमचा की जो लोकप्रियता थी, वह अब इतिहास की बात होती जा रही है। व्यावसायिक नाटय मण्डलियाँ चलचित्र के प्रभाव के कारण प्राय बन्द हो चुकी है, अव्यावसायिक नाटय मण्डलियाँ यदा-कदा साहित्यिक नाटको का प्रदशन करती है। केवल बगाल म यह परम्परा अभी जीवित है। आधुनिक रगमचो पर पाश्चात्य नाटय पद्धतियो का प्रभाव बहुत अधिक है। स्वदेशी नाट्य परम्परायें उपेक्षा के कारण उच्छिन्न होती जा रही हैं। नाटय प्रदशन प्राय अव्यावसायिक नाटय मण्डलिया क माध्यम से थोडा-बहुत पनप रहा है। स्वाधीनता के बाद सभी प्रदशा म रगमच क पुनरुत्थान की लहर उठी है। विभिन्न प्रदेशो म रगमचा के विविध स्वरूपों शलियो और परम्पराओ का समन्वय कर राष्ट्रीय रगमच की स्थापना देश की एक महान् आवश्यकता है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि प्राचीन भारत म पूणतया समृद्ध और स्वतन्त्र रगमच था और उनम पूण निष्ठा क साथ सदियो तक नाटय प्रयोग होते रहे हैं। सगीत शालायें चित्रशालायें राजमहलो व भव्य प्रागण और म दिरा क विशाल मण्डपम्' सदा कुशल

१ कल्पना, मई, '६१ पृ० २१।

२ It is the ritual not the trick of expression

—A. K. Coomar Swamy Introduction to Abhinaya Darpan, page 13

रगमच निर्माण की प्राचीन भारतीय पद्धति बहुत पुष्ट थी, वह भरत के नाट्यशास्त्र से स्पष्ट है, परन्तु उस शैली मे निर्मित रगभवन अब एक भी शेष नही है। अत भरत निर्दिष्ट निर्माणशैली का यथावत् प्रयोग न सभव है और न उपयोगी है। परन्तु आधुनिक रगभवनो की निर्माण शैली के परिवेश मे प्राचीन रगमच की रचना होनी चाहिये। रगमच पर पर्दे, द्वार और मत्तवारिणियो का प्रयोग सौन्दय, उपयोगिता और प्रभाव वद्धि की दृष्टि से करना उचित है। गीत नृत्य और अभिनय की भाव भगिमाओं के प्रदशन मे प्राचीन शैली को यथोचित स्थान देना उचित ही है। पाश्चात्य पद्धति के सगीत लय और सवादो के स्थान पर भारतीय गीत एव लय के भावानुरूप प्रयोग होने पर वे प्रकृत एव प्रभाववर्द्धक हो सकते हैं।

राष्ट्रीय रगमचो पर नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करते हुए भारतीय रस दृष्टि की उपेक्षा नही की जा सकती है। सहृदय दशको के समक्ष यदि पात्रो का वेष केश एव वण वि यास भारतीय जीवन एव परम्परा के अनुरूप हो तथा सगीत, नृत्य एव आगिक भावभगिमाएँ शास्त्र एव लोकानुसारी हो, अर्थात् समस्त नाट्य प्रयोग भारतीय जनजीवन की आकाक्षाओ और आदर्शों के अनुरूप हो तब भारतीय नाट्य के उद्देश्य रस का आन दोल्लासपूण उदात्त वातावरण का सृजन स्वाभाविक है।

यह प्रस नता की बात है कि स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय रगमच के निर्माण की आवश्यकता बडी तेजी से अनुभव की जा रही है। भारत सरकार ने सगीत नाटक अकादमी की स्थापना की है। उसके तत्वावधान मे 'ड्रामा स्कूल' का सचालन हो रहा है। पृथ्वी थियेटस की अकाल मृत्यु के उपरान्त थियेटर यूनिट ने कुछ सफल नाट्य प्रयोग प्रस्तुत किये हैं पर उसके पास रगभवन नहीं हैं। जबलपुर का परिक्रामी रगमच भव्य तो है पर उसके लिए कुशल निर्देशक और रग-शिल्पियो की आवश्यक्ता है। अन्य प्रदेशो म भी रगमच के उ नयन की दिशा मे कुछ प्रगति हो रही है।

यह आज आवश्यक है कि हम बिखडी हुई शक्तियो को एकत्र कर राष्ट्रीय रगमच निर्माण का अधूरा स्वप्न पूरा करें, जिसमे सभी भारतीय भाषाओ के प्राचीन और नवीन श्रेष्ठ नाटक, गीति नाट्य और लोक नाट्यो का सफल अभिनय हो। अपने देश के कलाकारो ने विदेशो मे भी नाट्य नृत्य और सगीत का प्रदशन प्रस्तुत कर देश का गौरव बढ़ाया है। रूसी भाषा म रामलीला वहाँ बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई है। श्रीमती साराभाई द्वारा अमरिका म प्रस्तुत भासकृत वासवदत्ता का भारतीय वेशभूषा के साथ अंग्रेजी रूपान्तर उस देश मे चर्चा का विषय रहा है। नाट्य-नृत्य और सगीत की हमारी देशी परम्पराए बहुत उन्नत रही हैं इसलिए आधुनिक नाट्य नृत्य का प्रयोग करते हुए अपेक्षित अनुकूल पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करके भी उसके स्वत्व की सुरक्षा आवश्यक है। पौधा कितनी भी हवा और रोशनी बाहर से क्यो न ले, पर यदि उसकी जड़ें अपनी धरती मे समाई नही हैं तो उसके स्वस्थ विकास की क्या सभावना हो सकती है! आधुनिक भारतीय नाट्य 'स्व' की धरती पर ही पनपकर आत्म सवद्धन कर सकता है, तभी सच्चे राष्ट्रीय रगमच की स्थापना हो सकती है। राष्ट्रीय रगमच की स्थापना केवल विशाल भवनो के निर्माण से सभव नही है, उसमे परम्परागत राष्ट्रीय चेतना की प्रतिष्ठा करने और आदर्शों के उद्बोधन से उसकी स्थापना सभव है। नाटक के लिए महारस, महाभोग, उदात्त वचनान्वित, लोक का

रंगमंच पर नाटकों के प्रदर्शन के साथ साथ भास, कालिदास, शूद्रक, हर्ष, रवीन्द्र, प्रसाद और मामा वरेरकर-जैसे महान् नाटककारों के मूल एवं रूपान्तरों का रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाय जिससे समग्र भारत में इन महान् नाटकों द्वारा भारत की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता का बोध हो सके।

राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में बालगंधर्व, अहीन्द्रनाथ चौधरी और पृथ्वीराज कपूर जैसे सधे हुए अभिनेताओं एवं नाट्य-नृत्य एवं संगीत के मर्मज्ञों उनायकों—उदयशंकर, रामगोपाल, ताराभाई अल्काजी और ओंकारनाथ ठाकुर आदि के सहयोग से राष्ट्रीय रंगमंच की रचना होनी चाहिये। ऐसे रंगमंच भारत के प्रमुख नगरों में हों, जिनमें आधुनिक रंगमंच की नवीनतम सुविधाएँ उपलब्ध हों। भारतीय रंगमंच के ह्रास का एक बड़ा भी कारण है कि उनके पास अपने रंगभवन नहीं हैं। रंगभवन होने पर ही नियमित नाट्य प्रदर्शन की संभावना बढ़ सकती है। यद्यपि चल चित्रों का सा आकर्षण नाट्य प्रदर्शनों में उत्पन्न नहीं किया जा सकता, परन्तु नाट्य-प्रदर्शन में सजीव साक्षात्करण होने के कारण दर्शक और प्रयोक्ता में आत्मीयता के सम्बन्ध का स्पर्श अधिक सजीव होता है। यदि उपयुक्त रीति से नाट्य प्रदर्शन की व्यवस्था हो, तो वे अभी भी लोकप्रिय हो सकते हैं। विदेशों में चलचित्रों के रहने पर भी नाटकों एवं गीति-नाट्यों की लोकप्रियता घटी नहीं है।

वस्तुतः इसके लिए विशाल प्रबन्ध और आर्थिक सुविधा की आवश्यकता है। सरकार भरपूर आर्थिक सहायता देकर कुशल रंगशिल्पियों, अभिनेताओं और निर्देशकों का संगठन कर, उन्हें समुचित वेतन दे तथा पूरी शिक्षा, अभ्यास एवं सब साधनों से सम्पन्न कर नाट्य प्रदर्शन प्रस्तुत किया जाय। तब हमारे रंगमंचों में नव जीवन का संचार हो सकता है। पुरस्कार वितरण और सेमिनारों के आयोजन मात्र से रंगमंच का ह्रास शायद ही रुके।

प्राचीन रंगमंचों पर स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही निर्द्वन्द्व भाव से नाट्य नृत्य एवं संगीत प्रयोग में भाग लेती थीं। तुर्कों के आक्रमण के बाद वह परम्परा लुप्त हो चुकी थी। आधुनिक शिक्षा के सुप्रभाव से अब भारतीय रंगमंच पर स्त्रियाँ भी प्रस्तुत हो रही हैं परन्तु अभी भी अधिकतर स्त्री पात्रों के लिए पुरुष पात्र ही भूमिकाएँ निभाते हैं। इस दिशा में प्रयत्न की आवश्यकता है कि रंगमंच का वातावरण इतना सुसंस्कृत, शिष्ट और पवित्र हो कि कलानुरागिनी स्त्रियाँ अपना सहयोग प्रस्तुत कर रंगमंच को श्री समृद्ध करें। स्त्री पात्रों द्वारा रंगमंच के पात्रों के चरित्र अधिक यथार्थ और शोभा समृद्ध होंगे। भारतीय चल चित्रों पर बढ़ते हुए पाश्चात्य प्रभाव के कारण प्राचीन भारतीय सामाजिक मर्यादाओं और पारस्परिक पारिवारिक शिष्टताओं की सीमाएँ टूट रही हैं। चुम्बन और आलिंगन के कुरुचिपूर्ण यूरोपीय दृश्य विधान की परम्परा भारतीय चलचित्रों पर भी छाती जा रही है। इस कुप्रभाव से भारतीय रंगमंच की रक्षा होनी चाहिए। भारतीयता की अपनी मर्यादा है। उसकी सीमाओं को तोड़कर ही हमारा रंगमंच विकसित नहीं हो सकता। कालिदास के दुष्यन्त एवं शकुन्तला अनुराग से आप्लावित होने पर भी ऐसा कोई कुरुचिपूर्ण व्यवहार नहीं प्रस्तुत करते जो सामाजिक दृष्टि से हेय हो।[1]

---

१ मुखमसविवर्तिपक्ष्मलाक्ष्या मुखमु नमित न चुम्बित तु—अभिज्ञानशाकुन्तल, अ० ३।२३।

उपसंहार

सुख दु खात्मक स्वभाव, लोकभाषाओ का प्रयोग, मृदु-ललित पदो की जन-सुख-बोध्यता, नाना शिल्पो, कलाओ और विधाओ के योग से नाट्य की पूर्णता का भरत निर्दिष्ट आदर्श राष्ट्रीय रगमच के निर्माण म हमारा दिशा निर्देश कर सकते हैं। ऐसा ही रगमच भारतीय जीवन का सच्चा प्रतिफलन होगा।[1]

---

१ महारस महाभोग्य उदात्त वचनान्वितम्।
महापुरुष सचार साध्वाचार जनप्रियम्।
सुश्लिष्ट सधि योग सुप्रयोग सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधानन्तु कवि कुर्यात्तु नाटकम्।
न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगो सौ नाटके यत् न दृश्यते॥

—ना० शा० २६।११६ १२०, १२२ (ना० मा०)

उपसहार

भरत प्रणीत नाटयशास्त्र विश्व का एकमात्र प्राचीनतम ग्र थ है, जिसमे नाटयकला के ऐतिहासिक, रचनात्मक, अभिनयात्मक और रसात्मक पक्षो का समष्टि रूप से इतना विशद एव वविध्यपूण विचार किया गया है। प्राचीन युग के पाश्चात्य विद्वानो ने भी नाटयकला के सम्ब ध मे विचार किया है, पर वह मुख्यत एकागी है। अरस्तू के काव्यशास्त्र म नाटय की अनुकरणात्मकता और दु खात्मकता पर विशेष बल दिया गया है। इसकी रचना तो ईस्वी पूव मे हुई पर यूरोप मे उसे प्रामाणिकता मिली प द्रहवी सदी के आसपास ही। भरत का नाटय शास्त्र कालिदास-काल तक (चौथी सदी) अत्यन्त प्रामाणिक एव पवित्र नाट्यवेद क रूप म भारतीय समाज मे प्रतिष्ठा पा चुका था। सभव है अश्वघोष और भास के प्रारम्भिक नाटको की रचना भी नाट्यशास्त्र से प्रभावित हो। तीसरी सदी के बाद के तो सभी लक्ष्य (नाटय) और लक्षण ग्र थकारो ने इस महान् ग्र थ के आलोक म अपनी कृतियो का सृजन किया है।

भरत द्वारा नाटयशास्त्र का सकलन उस प्राचीन युग म हुआ जब इस भारतभूमि पर आय और आर्येतर जातियो की सभ्यताओ का महामिलन हो रहा था। आर्यों की साहित्यिक कमण्यता अपने उत्कष पर थी। इस 'सावर्वणिक पचम नाटयवेद' की रचना के सदिया पूव हा आय वाड्मय की विशाल गगा अनेक धाराओ म प्रवाहित हो रही थी। वह वद ब्राह्मण, उपनिषद् धम, काम तत्र, अथतत्र व्याकरण शास्त्र छ द शास्त्र, वीर-काव्य गीत नत्य एव रसशास्त्र की परम्पराओ के रूप म लोकजीवन को अनुप्राणित कर रही थी, इस दृष्टि से भारतीय साहित्य-समृद्धि का वह अपूव युग था। सदियो पूव से प्रवहमान जातीय जीवन की सामाजिक और सास्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के माध्यम क रूप म भरत ने सवलोकानुरजनी नाट्यकला का व्यवस्थित रूप दिया। हमारे जातीय जीवन म जो कुछ सु दर, भव्य उदात्त और श्रेष्ठ था, उसकी अभिव्यक्ति का प्रशस्त माध्यम यह कला हुई।

भरत का नाट्यशास्त्र' ललित कलाओ का विश्वकोष है। भरत ने इसम नाट्य-कला

उपसहार

भरत प्रणीत नाटयशास्त्र विश्व का एकमात्र प्राचीनतम ग्र थ है, जिसमे नाट्यकला के ऐतिहासिक, रचनात्मक, अभिनयात्मक और रसात्मक पक्षो का समष्टि रूप से इतना विशद एव वैविध्यपूण विचार किया गया है। प्राचीन युग के पाश्चात्य विद्वानो ने भी नाट्यकला के सम्ब'ध मे विचार किया है, पर वह मुख्यत एकागी है। अरस्तू के काव्यशास्त्र म नाटय की अनुकरणात्मकता और दु खात्मकता पर विशेष बल दिया गया है। इसकी रचना तो ईस्वी पूव म हुई पर यूरोप म उसे प्रामाणिकता मिली प द्रहवी सदी के आसपास ही। भरत का नाटय शास्त्र कालिदास-काल तक (चौथी सदी) अत्य त प्रामाणिक एव पवित्र नाट्यवेद के रूप म भारतीय समाज मे प्रतिष्ठा पा चुका था। सभव है अश्वघोष और भास के प्रारम्भिक नाटको की रचना भी नाट्यशास्त्र से प्रभावित हो। तीसरी सदी के बाद के तो सभी लक्ष्य (नाटय) और लक्षण ग्र थकारो ने इस महान् ग्र थ के आलोक मे अपनी कृतियो का सृजन किया है।

भरत द्वारा नाट्यशास्त्र का सकलन उस प्राचीन युग म हुआ, जब इस भारतभूमि पर आय और आर्येतर जातियो की सभ्यताओ का महामिलन हो रहा था। आर्यों की साहित्यिक कमण्यता अपने उत्कष पर थी। इस 'सावर्णिक पचम नाट्यवेद' की रचना के सदिया पूव ही आय वाड्मय की विशाल गगा अनेक धाराओं म प्रवाहित हो रही थी। वह वेद ब्राह्मण, उपनिषद् धम, काम तत्र, अथतत्र, व्याकरण शास्त्र, छ द शास्त्र, वीर-काव्य गीत नत्य एव रसशास्त्र की परम्पराओ के रूप म लोकजीवन को अनुप्राणित कर रही थी, इस दृष्टि स भारतीय साहित्य-समृद्धि का वह अपूव युग था। सदिया पूव स प्रवहमान जातीय जीवन की सामाजिक और सास्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप म भरत ने सवलोकानुरजनी नाट्यकला को व्यवस्थित रूप दिया। हमारे जातीय जीवन म जो कुछ सु दर भव्य, उदात्त और श्रेष्ठ था, उसकी अभिव्यक्ति का प्रशस्त माध्यम यह कला हुई।

भरत का नाट्यशास्त्र' ललित कलाओ का विश्वकोष है। भरत ने इसम नाटय-कला

नाट्य शास्त्र के अन्तिम अध्याय म सगृहीत नाटयावतरण की कथा और भी महत्त्वपूण है। नहुप की प्रेरणा से भरत पुत्रा द्वारा नाटयप्रयोग को स्वग स धरती पर लाने की बात सत्य हो या नही पर भरतो के सामाजिक तिरस्कार के लक्ष्य हान की बात सत्य है। यही कारण है कि पातजल महाभाष्य ने नाटचविद्या के व्याख्याता को आख्याता' नही माना है। यद्यपि उससे पूव नट-सूत्रो की गणना वदिक चरणो म भी होती थी। नाटच शास्त्र म प्रस्तुत नट-अभिशाप की कथा उस युग की नटमडलियो के प्रति आचार व्यवहार की विशुद्धता के कठोर पक्षपाती नतिक्तावादी एक विशिष्ट वग की हीन मनोभावना का सच्चा प्रतिफलन है। परन्तु भरत की दृष्टि म नाटच प्रयोक्ताओ का स्थान सदा ही मर्यादापूण रहा है, उनका सूत्रधार 'नाना शिल्प-विलक्षण' और नाटच प्रयोग कुशल तो है ही, वह 'राजवश प्रमूतिमान्' भी है। परवर्ती काल म भी भवभूति और वाणभट्ट जसे विशिष्ट कविया की मित्रमडली म नाटच प्रयोक्ताओ के उल्लेख से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का भी समथन हाता है।

नाटच सम्बन्धी भरत का गहन चिन्तन मौलिक किसी भी देश के नाटचप्रयोग के लिए प्ररणा का स्रात हो सकता है। उनके सावभौम नाटच सिद्धान्त म वद, इतिहास आख्यान और विभिन्न लाक परम्पराओ का अन्तर्भाव किया गया है। वद की तुलना म लौकिक परम्पराएँ नाटच मे प्रामाणिक मानी गई है। भरत की दृष्टि म नाटच सबधी मान्यताओ का आधार लोक जीवन है (लाक सिद्ध भवत् सिद्ध नाटच लोकात्मक तु इदम्)। इसम लोक जीवन से सबधित सुखदु खात्मक 'नाना भावोपसपन्न' लोकवत्त का अनुकरण (पुनरुद्भावन्) होता है। कोई ऐसा शास्त्र, कोई ऐसा शिल्प, कोई ऐसी विद्या और कोई एसी कला नही है जिसका नाटच म प्रयोग नहा किया जाता है। तीना लोको का भावानुकीतन रूप हान से नाटय से धम, काम, उत्साह नान, विद्वत्ता और मन को विश्रान्ति भी प्राप्त होती है—

भरत निर्दिष्ट नाटयकला का रचनात्मक रूप भी कम महत्त्वपूण नही है। इसका प्रत्यक्ष सबध नाटय रचयिता कवि स है। पाश्चात्य नाटयकला म भी कभी रचयिता कवि का बडा महत्त्व था पर अब निर्देशक ने भी वह महत्त्वपूण स्थान ग्रहण कर लिया है। रूपको के दसो (नाटिका लेकर ग्यारह) भेदो की व्याख्या जितनी विशद है उतनी ही गहन एव गवषणापूण भी। प्रत्येक रूपक का आदश भिन्न है और उस युग की सामाजिक जीवनधारा के विभिन्न रूपो का परिचायक है। रूपका के उद्भव और विकास का इतिहास नाटय साहित्य के क्रमश विकसित रूप और अवस्था का सकेत करता है। भरत से सदियो पूव नाटय परम्परा का आरम्भ हुआ होगा। प्रस्तुत प्रसग म भरतोत्तर उपरूपको के विकास का भी दिग्दशन किया गया है। इन उपरूपको न मध्यकाल म भारत के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन को सदिया तक प्रभावित किया है।

भरत की दृष्टि से कथावस्तु नाट्य का शरीर है। वस्तुतत्त्व की अथप्रकृतियाँ काय व्यापार की अवस्थाएँ और उनकी समन्वित रूप सधियाँ नाटक का सश्लिष्टता और गति देती हैं। वस्तुतत्त्व की प्रकृतियाँ इतिवत्त की विभिन्न विकासशील दशा की अवस्थाएँ अभिनयात्मक काय व्यापार की अवतारणा म और सधिया रचनात्मक प्रभाव को समन्वित करने म सहायता प्रदान करती हैं। आरभ से फलागम तक जो पाँच अवस्थाएँ कथावस्तु के विकास का सकत करती है वे यूरोपीय कथावस्तु के आरभ, मध्य और अन्त' विकास की इन तीन अवस्थाओ की

के साथ उसकी अन्य उपरंजक काव्यकला, संगीतकला और नृत्यकलाओं के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक रूपों का भी समावेश किया। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में भरत का व्यक्तित्व विलक्षण है। इनकी चिन्ताधारा ने सदियों तक नाट्य, नृत्य, संगीत, काव्य और मूर्तिकला को प्रेरित किया है। नृत्य की कल्पित मुद्रायें और भावभंगिमाओं की अनुकृतियाँ दक्षिण भारत के मंदिरों पर आज भी अंकित हैं। भरत ने भारत की समस्त कलाचेतना को अपनी नव-नवोन्मेष शालिनी कल्पना से सदियों तक अनुप्राणित और अनुरंजित किया। 'भरतनाट्यम्' और 'कथकली' की मुद्राओं एवं भाव-समृद्ध साधना में भरत द्वारा कल्पित कला की मधुर झंकार आज भी सुनाई देती है। अतः भारतीय कला का इतिहास भरत की सतत प्रवहमान विकासशील चिन्ताधारा का ही इतिवृत्त है। भरत ने सदियों तक इन कलाओं के प्रेरणा स्रोत के रूप में वीर काव्य रचयिता वाल्मीकि और व्यास की तरह ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य सम्पन्न किया।

नाट्य के उद्भव और विकास की दृष्टि से नाट्यशास्त्र में सुनियोजित कथा बहुत महत्त्व की है। भरत की यह मूल मान्यता कि ऋग्वेद से संवाद, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस तत्त्व लेकर नाट्य का सृजन हुआ, नाट्य को भी वेद की सी पवित्रता देने के लिए भरत-कल्पित एक काल्पनिक सिद्धान्त मात्र नहीं है। वस्तुतः वेदों में नाट्यतत्त्व आंशिक रूप से वर्तमान है। भरत की यह मान्यता कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों को भी स्वीकार्य है।

नाट्यशास्त्र में संगृहीत नाट्योत्पत्ति की कथा का ऐतिहासिक दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्व है। प्राक् ऐतिहासिक काल में देवों एवं दानवों की संघर्ष कथाओं से हमारा प्राचीन साहित्य ओतप्रोत है। नाट्योत्पत्ति का इतिहास उन दोनों जातियों के रक्तपात से सना है। कितने भरतों (नाट्यप्रयोक्ताओं) के बलिदान और अभिशाप की ज्वाला में जलने के बाद नाट्य का सृजन और प्रयोग हो सका। इसका साक्षी नाट्यशास्त्र है। नाटक देवताओं की विजय या दानवों की पराजय कथाओं का ही 'अनुकीर्तन' नहीं है, अपितु उन दोनों का 'शुभाशुभ विकल्पक' तथा तीनों लोकों का 'भावानुकीर्तन' रूप है। देव दानवों के अतिरिक्त गंधर्व यक्ष राक्षस, नाग आदि विभिन्न जातियों एवं अन्य प्राकृतिक देवतात्माओं के सहयोग से नाट्य प्रयोग संभव हुआ। इससे यह स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि नाट्योत्पत्ति के क्रम में भारत में बसने वाली तत्कालीन सब जातियों का सहयोग प्राप्त किया गया।

भरत-कल्पित सार्ववर्णिक नाट्य (क्रीडनीयक दृश्य और श्रव्य) सृष्टि चक्र का प्रतीक है। विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के प्रतीक हिन्दुओं की 'त्रिमूर्ति' ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने समन्वित भाव से नाट्यकला को विभिन्न अंगों से परिपुष्ट किया। प्रत्यभिज्ञावादी दार्शनिकों के अनुसार जीवात्मा विश्व को 'स्व' मानकर आनन्दानुभव करता है, यद्यपि वह तो प्रकृति की सृष्टि है। अम्य रंगमंडप पर मनोदशा के अनुरूप उचित वेशभूषा, भावसमृद्ध अभिनय तथा गीत-वाद्य आदि अन्य उपरंजक कलाओं के समन्वित प्रयोग से जीवात्मा (प्रेक्षक) आत्मस्थान रूप में स्वर्गानुभव करता है। पात्र द्वारा प्रयुक्त यह नाट्य-सृष्टि उसकी नहीं कवि की है। पर प्रयोग-काल के विलक्षण वातावरण के कारण अपना मान हो वह आनन्दित होता है। अतः भरत द्वारा कल्पित नाट्य प्रधान सृष्टि-चक्र की आनन्दधारा का ही प्रतीक है। शैव मत के प्रत्यभिज्ञादर्शन में चौबीस मातृक और बारह भाव के मूल तत्त्व कुल मिलाकर छत्तीस तत्त्व हैं और नाट्यशास्त्र में भी ३६ ही अध्याय हैं यह एक विलक्षण संयोग है।

महत्वपूण विषय है। रस सिद्धान्त के व्याख्याताओ म भटटलोल्लट शकुक, भटटनायक आनन्द वद्धनाचाय, अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ के नाम चिरस्मरणीय रहग। नाटयरस की जसी तात्विक और विशद विवचना अभिनवगुप्त न की है, वह ग्यारहवी सदी म भारतीय साहित्य और दशन की उत्कषशाली चिताधारा क बौद्धिक विकास का चरम उत्कष है। रस सबधी विवेचना का भाव यही है कि नाटय के द्वारा मनुष्य की सवदनाओ (भावो) का पुनरद भावन होता है, इसी स उसम 'रस्यता' आती है। वस्तुत भावो का उदभावन तो आत्मदशन है। आत्मदशन रूप 'रस' स ही आन द रूप 'महाभोग' का उदय होता ह। इस रस का विदग्ध चित्रण कवि अपनी कल्पना द्वारा प्रस्तुत करता है और अभिनेता अपनी वाणी और शारीरिक भाव भगिमाओ द्वारा प्रत्यक्षवत् रूप दता है तब वह कवि कल्पित भाव प्रतिसाक्षात्कार क तुल्य रस्य या आस्वाद्य होता है। अत रस का सम्बध नाटयकला क रचनात्मक और अभिनयात्मक दोनो ही पक्षो स समान रूप से है। भरतोत्तर भारतीय नाटयशास्त्रियो न अधिकतर नाटय क रचनात्मक और रसात्मक पक्ष का ही उपब हण किया है।

नाटय का प्रयोग रगमच पर प्रस्तुत किया जाता है। भरत द्वारा निधारित रगमण्डपों के माप, मत्तवारणी, प्रेक्षागह, नपथ्यगह रगपीठ और रगशीष तथा स्तम्भ एव द्वार आदि के सम्बध म प्राचीन एव आधुनिक विद्वान् राघवन भकद एव घाष महादय का परस्पर विरोधी मायताओ का विश्लेषण कर निष्कष प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन काल म प्राप्त सगीत शालाओ चित्रशालाओ, दवालयो और सावजनिक प्रागणो का भी रगमच क रूप म प्रयोग होता था। भरत स पूव मुक्ताकाश रगमच भी रह होग। परन्तु भरत न जिस रगमण्डप की परिकल्पना की है वह अपने आप म बहुत भव्य, उपयोगी और स्थायी ह।

रगमच के सम्ब ध म 'शलगुहाकार' द्विभूमि' 'मदवातायनापेत', निवात' और धीर शब्दवान् जस विशेषणो के प्रयोग स प्राचीन युग म विकसित रगमचीय परम्परा का स्पष्ट ज्ञान होता है। रगशाला के रगशीष रगपीठ और दशक दीधा के सम्बध म भरत की मायताओ पर *भटटतौत की कल्पना अत्यन्त आकषक और विचारणीय भी है।* रगपीठ से लेकर प्रेक्षकगह क द्वार तक प्रेक्षागह की आसन-व्यवस्था क्रमश ऊँची होती जाती है, कि कोई दशक किसी के समक्ष नाटय दशन म बाधक न बने। द्वारा और वातायनो की भी व्यवस्था है पर इतनी ही, कि वह निर्वात ही रहे। निवात' और 'शैल गुहाकार होन पर ही रगपीठ पर उच्चरित वाक्य प्रेक्षको के सुखश्रवण क लिए प्रतिध्वनित होते हैं। भरत न तीन प्रकार की रगशालाओ पर विचार करते हुए विप्रकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र नामक नाटधमण्डपो के मध्यम आकारो का विवरण दिया है। उसके अनुसार नौ स अठारह प्रकार क रगमचो की परिकल्पना की जा सकती है। य रगमडप शायद दोमहले भी होत होगे। प्राचीन भारतीय रगमडप पर एक से अधिक यवनिकाएँ भी प्रयुक्त होती थी। इसके प्रमाण अय नाटय ग्र थो म भी मिलत हैं। य यवनिकाएँ कथावस्तु और रस क अनुकूल उन्ही वर्णो की होती थी। भरत न विभि न रसो के लिए विभि न वर्णों का भी विधान किया है। रगमच पर दृश्यविधान के लिए भरत ने स्वतन्त्र रूप स विचार किया है। वहाँ पर प्रस्तुत पात्रो क अतिरिक्त कथावस्तु क अनुरोध स वक्ष्या यान विमान, प्रासाद दुग, पवत और अय आवश्यक पदार्थो और प्राणियो के दश्यो का आयोजन होता है। भरत-कल्पित रगमच पर आहार्याभिनय की सधिम व्याजिम और सजवन आदि विधियो द्वारा प्रभावशाली

परंपरा में है। कथावस्तु का यह शास्त्रीय विभाजन प्राचीन भले ही हो परन्तु नाटकीय कथावस्तु की सश्लिष्टता और प्रभावात्मकता की दृष्टि से अपेक्षित परिवर्तनों के साथ आधुनिक नाटकों में भी यह प्रयोग की पूर्ण क्षमता रखता है। पाँचों सधियों के चौंसठ अंगों की योजना नाट्य में रसपेशलता की दृष्टि से रमणीय होती है जो अंग रसानुकूल होते हैं उनका बार बार प्रयोग हो सकता है पर जो रसानुकूल नहीं हैं उनका प्रयोग उचित नहीं होता।

इतिवृत्त नाट्य का शरीर है, तो पात्र का शील वैचित्र्य उसका आन्तर रस। इसी शील रूप आन्तर रस में नाट्य प्रतिष्ठित रहता है। इस आन्तर रस का उद्भावक तो धर्म अर्थ और काम सम्बन्धी विषयों के प्रति मनुष्य की शारीरिक और मानसिक संवेदनाओं और तदनुकूल प्रतिक्रियाओं से होता है। जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में मनुष्य की चित्त वृत्तियाँ अनेक रूपों में प्रकट होती हैं। उन मूल वृत्तियों के उत्तरोत्तर विकास से मनुष्य के शील का निर्माण होता है। भरत ने मनुष्य की प्रवृत्तियों में काम प्रवृत्ति को सर्वाधिक प्रश्रय दिया है तथा क्रियाओं को उस काम सुख का सार माना है। अतएव मनुष्य की दया, दाक्षिण्य और वीरता आदि सात्विक विभूतियों के मूल में प्राय लालित्य और सौन्दर्य की प्रेरणा ही वर्तमान रहती है। जीवन प्रवृत्तियों के संबंध में भरत की यह काम परक दृष्टि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विचारों के अनुरूप है। उनकी दृष्टि में जीवन की समस्त प्रवृत्तियों के मूल में काम सुख की उपलब्धि या अभावभाव जनित कुंठा ही है।

भरत का पात्र विधान रसिकता मूलक है। लौकिक सुख दु खात्मक रस में मानव चरित्र परिपुष्ट होता है। इस दृष्टि से नाटकों में जीवन की यथार्थता के समर्थक होकर भी वे आदर्शों मुख हैं। उसकी दृष्टि से नाटकों का नायक महापुरुष जनप्रिय तथा साधु आचार का होता है। उसके जीवन में गौरव गरिमा होती है और वह अपने उदात्त आदर्शों से युग चेतना को प्रभावित करता है। इस प्रकार उत्तम प्रकृति की नायिकाएँ भी नायकों के समान पति प्रेम के आदर्श में ढली हुई होती हैं। अन्य अनेक प्रकार की नाट्योपयोगी नायिकाएँ मानसिक अवस्था रूप शोभा और अंगरचना आदि की दृष्टि से भरत के गहन चिन्तन का लक्ष्य बनी हैं। कलाकुशल वेश्याएँ नाट्य नृत्य और गीत के प्रयोग में निपुण होती हैं। अत उस दृष्टि से वेश्याओं के भी उपचार आदि पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारों का आकलन भरत ने किया है जो अन्यत्र कम मिलता है। भरत निरूपित नायक नायिका भेदों के आधार पर ही परवर्ती काव्य शास्त्रियों ने भेदों का विस्तार तो किया परन्तु उनमें भरत की सी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की मौलिक प्रवृत्ति का परिचय नहीं मिलता। भरत ने स्त्री एवं पुरुष का अंग रचना अंगों के लास्य विलास के अनुकूल उनके स्वभाव और अन्त प्रकृति का जितना तात्त्विक निरूपण किया है वह उनकी मौलिक देन है।

भरत की दृष्टि में रस नाट्य का प्राण ही नहीं रस ही नाट्य है। लक्षण दोष, गुण और अलकार आदि उपादानों की परिकल्पना रसोद्बोधन के लिए ही की गई है। कथावस्तु और शील निरूपण में भी महारंभ और महाभोग का नाट्य में आविर्भाव होता है। यद्यपि भरत रस सिद्धान्त के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं परन्तु रस सिद्धान्त की परम्परा उनके पूर्व से ही चली आ रही थी। संभव है आरम्भ में रस का विवेचन केवल नाट्य विधा के सन्दर्भ में ही हुआ हो। भरत की रसदृष्टि आनन्दोद्बोधक नाट्यरस का उन्मेष करती है।

भरत का रस सिद्धान्त प्राचीन एवं नवीन भारतीय काव्यशास्त्रों में विवेचना का

सस्कृत एव विभिन्न प्रदेशा मे प्रचलित प्राकृत थी।

लक्षण, दोष, गुण, अलकार, छन्द, वृत्ति और प्रवृत्ति आदि का भरत ने मौलिक और विस्तृत विधान किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध म वाचिक अभिनय के अग के रूप म ही इनका तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, न कि काव्यशास्त्र के अग क रूप म। लक्षणा की तो परम्परा ही लुप्त हो गई। भरत के चार अलकारा क स्थान पर आज वे तो शताधिक हैं। वाचिक अभिनय के इन महत्त्वपूण अगो के विवेचन के द्वारा भरत ने सवप्रथम भारतीय काव्य शास्त्र की सुनिर्धारित परम्परा का शिलान्यास किया था।

सात्त्विक अभिनय का विधान भावो तथा सामान्याभिनय के विवेचन के प्रसग म किया गया है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाच और अश्रु आदि सात्त्विक चिह्न आन्तरिक मनोदशा की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। भरत ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि उत्तम कोटि का अभिनय वह नहीं होता, जिसम मारपीट और उछल कूद का प्रदशन हो अपितु जिसम सत्त्वातिरिक्त मनो भावो का अधिकाधिक प्रकाशन हो। नाटय प्रयाग द्वारा मनुष्य की आन्तरिक सवेदनाओ का प्रतिपादन होता है, प्रेक्षक को आत्मदशन का महासुख प्राप्त होता है। भरत की इस व्यापक दृष्टि का महत्त्व आधुनिक नाटका के लिए भी ग्राह्य है।

आहार्याभिनय नेपथ्यज विधि है। इसका विधान तो नाट्य के सारूप्य सृजन के लिए होता है। व्यक्ति, जाति, मानसिक अवस्था और रस के सदभ म पात्र की वेशभूषा का विधान अपेक्षित है। वेशविन्यास, अलकार रचना, अगरचना, केश विन्यास और माला धारण और रगशाला की दृश्य-योजना आदि आहार्याभिनय विधियाँ भी मनोदशा के अनुरूप होनी है। भरत की दृष्टि स आहार्याभिनय म नाटय प्रयोग परिपुष्ट होता है। पुरुष एव नारी पात्रो की रूप सज्जा के अति रिक्त नाना प्रकार के आयुध, अस्त्र शस्त्र एव अन्य सामग्रियो का भी रगमच पर प्रयाग होता है। भरत का स्पष्ट निर्देश है कि लाह, अबरख बाँस के पत्ते और घास फूस आदि हलके पदार्थों के मेल स उन पदार्थों की रचना करनी चाहिए, जिसस उन्हे धारण करने म प्रयोगकाल म पात्र थकावट न अनुभव करें। रूप-परिवतन के लिए प्रधान चार वर्णों के समिश्रण म अन्य अनेक वर्णों के रासायनिक प्रयोग का विधान है। वस्तुत भरत का आहार्याभिनय मौलिकता और उपयोगिता की दृष्टि से आज के देशी नाटय प्रयोग के लिए भी कम उपादेय नहीं रहा है।

सामान्याभिनय और चित्राभिनय उपर्युक्त तीनो अभिनयो के विस्तार हैं। प्रयोग की पूणता की दृष्टि से भरत ने उनका भी पृथक् रूप म विवेचन किया है। अत उन दोनो अभिनय शलियो का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन किया गया है।

पात्रो की भूमिका पर नाटय प्रयोग निभर करता है। इसीसे उसके महत्त्व की कल्पना की जा सकती है। भरत ने तीन प्रकार की भूमिकाओ का उल्लेख किया है। अनुरूपा म पात्र अनु-काय के अनुरूप होता है, इसमे अनुकाय नारी या पुरुष का अभिनय नारी या पुरुष पात्र ही करत है। विरूपा म प्रतिकूल प्रकृति का अभिनय होता है। बालक वद्ध की भूमिका म या वृद्ध बालक की भूमिका म प्रस्तुत होते हैं। रूपानुरूपा म पुरुष स्त्री की और स्त्री पुरुष की भूमिका म प्रस्तुत होते हैं। प्रथम और तृतीय का विधान तो भरत ने किया है परन्तु विरूपा भूमिका उनकी दृष्टि से नितान्त अनुचित है। इनके विवेचन के क्रम म भरत ने नाट्य प्रयोग का महत्त्वपूण विचार दशन प्रस्तुत किया है कि प्रयोगकाल मे पात्र न केवल अपना रूप ही परिवर्तित करता है, अपितु उसकी

दश्य विधान की योजना अत्य त महत्वपूर्ण है। इससे नाटय प्रयोग की एक उन्नतिशील परपरा का सकेत मिलता है।

नाटय प्रयोग म अभिनय का महत्त्व सर्वाधिक है। नाटय ही तो अभिनय है। अभिनेता अभिनय के माध्यम से कविद्दत कल्पना का अभिनयन प्रेषण कर दशक को रसाविष्ट करता है। भरत न आगिक वाचिक, सात्विक और आहाय के अतिरिक्त 'सामान्य' और चित्र' अभिनय का विस्तत विधान किया है। नाटयकला के रचनात्मक पक्ष के बाद भरत की चिन्तन दष्टि उसके अभिनयात्मक पक्ष के विवेचन म लगी है। आगिक अभिनय का विवचन जितना विशद और तात्विक है, वह विश्व के किसी नाटय के प्रयोगात्मक साहित्य के लिए आज भी स्पर्द्धा का विषय हा सकता है। विभिन्न अगोपागा के द्वारा न केवल भावो और मनोदशाआ का ही अभिनय होता है, अपितु विभिन्न वस्तुओ और परिस्थिति विशेषा का भी प्रतीक पद्धति म अभिनय होता है। नदिया म तरन पवता पर आरोहण विमान और रथ की यात्राआ और विशिष्ट ऋतुआ का प्रदशन इसी अनुकरणात्मक प्रतीक पद्धति पर सभव हो पाता है। इसक द्वारा रगमच पर असभव वस्तु और परिस्थितिया की उपस्थिति की प्रतीति सुशिक्षित प्रेक्षक को होती है।

आगिक अभिनय का विधान भरत की महत्वपूर्ण मौलिक दन है। भरत का अभिनय विधान इतना विकसित और समर्थित है कि पात्र के अगोपाग की प्रत्यक चेष्टा म सत्त्व (मन) नियत्रित लय की कल्पना की गई है। मनोदशा के प्रतिविम्ब ही तो ये हमारी चेष्टाएँ है और उसी क अनुरूप मनुष्य क नयनो म और मुख पर राग की आभा भी झलकती है, अत आगिक अभिनय स्वतन्त्र नही सत्वानुप्राणित होता है। नयनो के भाव भरे सकत और कर पल्लव की एक मुद्रा म न जाने हृदय के कितने ममस्पर्शी सुख दु खात्मक भावो और विचारो का प्रतिफलन होता है। भारतीय अभिनेता या नतक प्रेक्षक के आत्मदशन रूप आनन्द का माध्यम है वह रस रूप आध्यात्मिक उल्लास की अनुभूति का कलात्मक साधन है। भरत की दृष्टि म अगो का सचालन-मात्र कुशलता नही वह सुख दु खात्मक राग का अभिव्यजक है और उसके द्वारा उन सवदनाओ का सक्रमण ईश्वरीय विभूति तक होता है।

Natya or acting and dancing is a path between the external and spiritual, a fixed and regorous code of minutely significant movement The actor or dancer, is like the priest—a channel for divine power not a displayer of his own personality The audience shares his performance as the congregation shares in the service each spectator making his own spiritual acts It is the ritual not the trick of expression

—A K Koomarswamy, Introduction to Mirror of Gesture p 12 13

भरत की दृष्टि म वाचिक अभिनय तो नाटय का शरीर है प्राणाधान के लिए वह सुन्दर हो नही निर्दोष लक्षण सपन्न समलङ्कृत और छन्द की तरह मधुर हो। भरत न वाचिक अभिनय क अन्तगत व्याकरण-सम्मत स्वर-व्यजन और उनकी उच्चारण विधि एव सुपाठ्यता आदि का विधान तो किया ही है, तत्काल प्रचलित विभिन्न प्रदेशा की विभिन्न भाषाओ का भी विधान पात्रा क सदभ म किया है। जिस प्रदेश क पात्र हो वसी ही उनकी भाषा हो। भाषा के प्रसग म अनक भाषाआ क प्रयोग का विधान भरत न किया है। यद्यपि नाटका की प्रधान भाषा

म आ रहे हैं और भारतीय गीत को स्वतन्त्र रूप देने म समय हैं। गीत की भारतीय परपरा बहुत समृद्ध है। उसको और भी विकसित करने की आवश्यकता है। भारतीय चलचित्रो म पश्चिमी धुनो का प्रभाव छाता जा रहा है। भारतीय गीत की समृद्ध परपरा के साथ नवीन प्रयोग करके ऐसे लोकप्रिय मधुर धुनो का प्रयोग आवश्यक है जिनका उपयोग आधुनिक नाटच प्रयोग म सरलता से सभव हो और रागात्मकता का सचार हो। स्व० ओकारनाथ ठाकुर, उस्ताद अलाउद्दीन रविशकर आदि महान् भारतीय गायको द्वारा प्रयोग की दिशा म नवीन पर मौलिक प्रयत्नो का सर्वेत्र सराहनीय है। स्व० प० ओकारनाथ ठाकुर न रागशास्त्र विषयक मान्यताओ द्वारा भारतीय गीत परपरा को नयी गति दी है। रविशकर तो अपने गुरु उस्ताद अलाउद्दीन खाँ की मौलिक परपराओ को और भी अपनी मौलिक चेतना द्वारा समृद्ध कर रहे है। नृत्य की परपरा के पुनरुज्जीवन म रुक्मिणी अरण्डेल, उदयशकर, रामगोपाल, साराभाई और इन्दिरानी रहमान ने देश विदेश म यश उपार्जित किया है। उदयशकर के उदात्तवादी नृत्य, मूक अभिनय और गीति-नाटचो की दशविदश म सराहना हुइ है। 'कल्पना' नामक बहुप्रशसित गीति नाटच द्वारा उन्होने हिन्दी रगमच को समृद्ध किया है।

नाटच रचना और प्रयोग के स्वर्ण युग का वह कगूरा तुर्कों के आक्रमण होन पर भारतीय मदिरो और रगमहलो के टूटते ही धराशायी हो गया। पर निम्नस्तर के भाण प्रहसन रास और उपरूपक जनपदो का आश्रय लेकर किसी तरह जीते रहे। उधर सगीत प्रधान धर्मानुरजित नाटक टूटे फूटे ग्राम मदिरो और सावजनिक स्थानो के आश्रय म पनपते रहे। इनमे सगीत और नृत्य भी किसी तरह जीवन के लिए जूझते रहे। तुर्कों के आक्रमण ने पूर्वी बगाल के 'कालापहाड' की तरह भारतीय नाटच कला के मम पर आघात कर उसे तहस नहस तो कर दिया, पर उसको भी ठुकराकर लोकचेतना आगे बढती रही है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए रामायण, महाभारत, और पौराणिक आख्यानो पर आधारित चेतना ऊर्ध्वमुखी रही है। प्रादेशिक भाषाओ के लोक नाटय के विविध रूपो के माध्यम से सदियो तक वह भारतीय लोक चेतना ऊर्ध्वमुखी रही है। उत्तर भारत म रामलीला और रासलीला, बगाल म यात्रा महाराष्ट्र म ललित, गुजरात म भवाई और दक्षिण भारत म भागवतम् भरतनाटचम् और कथकली आदि लोकनृत्य की परपराएँ जातीय जीवन की पताका सदियो तक थामे रही है।

आज का हमारा भारतीय रगमच प्राचीन एव मध्ययुगीन रगमचीय परपराओ से बहुत दूर हो गया है। भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओ के रगमच कम या अधिक पाश्चात्य रगमच की प्रेरणा पर ही लगभग एक सौ वर्षों से पनप रहे है। उनका प्रभाव न केवल हमारी नाटच शैली अपितु रगमडप के मडन शिल्प पर भी है। भारतीय रगमच पाश्चात्य प्रभाव म आने पर समृद्ध और कलापूर्ण तो हुआ है, परन्तु यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि न केवल महान् नाटच-कृतियो के रूप म, अपितु भरत निर्दिष्ट रगमडप, रचनात्मक और रसात्मक सिद्धान्त तथा नाटच-प्रयोग के महत्त्वपूर्ण उपयोगी अभिनय शिल्प हमारी प्राचीन भारतीय रगशाला की गौरवशाली परपरा का स्पष्ट सकेत करते हैं। अत प्राचीन भारतीय रगशाला और उसकी शिल्प विधि आज भी इस स्थिति म है कि हमारा आधुनिकतम रगमच उससे अपने आपको परिपुष्ट करे। इस दृष्टि से भरत के अतिविकसित सात्त्विक, आगिक और आहार्य आदि अभिनय महत्त्वपूर्ण नाटच शिल्प हैं। आवश्यकतानुसार अब और भी विकसित कर आधुनिक भारतीय रगमचो पर उनका

आन्तरिक [illegible] अनुभूति और आंगिक [illegible] की [illegible] होती है। [illegible] भाव और भावात्मक [illegible]
पर प्रभाव [illegible] ग्रहण करता है और [illegible] गुण [illegible] भावों में [illegible]
अभिनय करता है [illegible]।

नाट्य प्रयोग का [illegible] भरत ने [illegible] अनुसार [illegible]
विधान किया है [illegible] पृष्ठभूमि में प्रयोग का [illegible]
[illegible] सूत्रधार [illegible] [illegible]
कर नाट्य प्रयोग को परिपुष्ट करते हैं। [illegible]
परिपाश्विक और [illegible] आदि प्रयोक्ता [illegible]
सहकार [illegible]। नाट्य प्रयोग में [illegible] विविध [illegible]
प्रयोग करते थे। भरत ने सूत्रधार और स्थापक आदि की प्रतिभा और प्रयोग [illegible] का
विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है [illegible] आज की पाश्चात्य नाट्य परम्परा में [illegible]
और [illegible] होती है।

The art of the theatre is the art of working together In no other
art so much discipline is necessary the producer director and everyone
who works in the Theatre however are equally subject to this discipline
The director as we may agree to call him must above all be an adopt in
the art of collaboration —Michael Macowin Theatre and Stace p 768

विधि अध्याय नाट्य प्रयोग की दृष्टि में बड़ा महत्वपूर्ण है। यहां पर रचयिता प्रयोक्ता
और प्रेक्षक का महामिलन होता है। नाट्य रूप वृक्ष पर अभिनय के माध्यम से खिलता हुआ
पुष्प सौरभ मधुर फलरूप में परिणत होता है सामाजिक रसास्वादन के लिए। वह सामाजिक या
प्रेक्षक इन्द्रियों से स्वस्थ तथा चित्त में समर्थ और अनुरागी होता है। वह सुख में सुखी शोक
में दुःखी दीनावस्था के अभिनय में दीन होने पर प्रेक्षक हो पाता है। इस सन्दर्भ में वह सहृदय
एवं संवेदनशील होता है। सामाजिक के लिए नाट्य रचना हृदयंगम हो इसके लिए भरत ने
नाट्य रचयिता कवि के लिए भी कुछ विधान प्रस्तुत किये हैं। शास्त्रोक्त समिद्ध संभार जय
युक्त सज्जन ग्राह्य शब्द का प्रयोग नाट्य में होना चाहिये। प्रयोक्ता की उपयुक्त वय
रूपा शिष्टाचार प्रधान पाठ्यविधि आंगिक चेष्टा और वेष विन्यास आदि की उपयुक्तता
आदि का निर्णय रंगप्राश्निक करते थे। उनके निर्णयानुसार राजा द्वारा प्रयोक्ता को पताका
देकर पुरस्कृत करने का विधान है। हरिवंश में अनिरुद्ध का भाव भरा अभिनय देखकर शनैः
द्वारा अपना सर्वस्व अर्पित करने का स्पष्ट उल्लेख है।

नाट्य के अंग के रूप में नृत्य का भी विधान भरत ने किया है। नृत्य के भेदों का उल्लेख
तो चतुर्थ अध्याय में है। पर आंगिक अभिनय की सारी विधियाँ भी (ना० शा० ८ १३) नृत्य
के लिए उपयोगी होती हैं। नृत्य नाट्य का उपकारक अंग ही है। नाट्य में शोभा के लिए या
पूर्व रंग के अंग के रूप में उसका प्रयोग होता है।

नाट्य में संगीत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय नाटकों में गीतों की योजना की पुष्ट
परंपरा रही है और नाट्य प्रयोग में रागात्मकता के संचार का उन पर महत्त्वपूर्ण दायित्व होता
है। भरत ने वीणा, वेणु, वंश मृदंग और पटह आदि वाद्यों का उल्लेख किया है। वे अब भी प्रयोग

संस्कृत के बहुत से रूपकों और उपरूपकों में प्रयुक्त गीतिशैली का भी अनायास इन पर प्रभाव पड़ा ही है। अतः बहुत सम्भव है कि इन 'ध्वनि काव्य नाटकों' के माध्यम से हिन्दी की नाट्य धारा का पुनरावर्तन हो रहा हो। *परन्तु नाट्य के लिए जिस महान् समारंभ की आवश्यकता है उसकी तुलना में ये नगण्य हैं।*

आज भारतीय रंगमंच की सुरक्षा और विकास के सम्बन्ध में सुसंस्कृत जनता और सरकार, नाट्य प्रयोक्ताओं और नाट्य लेखकों तथा अन्य कलाकारों के समक्ष यह चुनौती है कि हम अपने देशी रंगमंच का सही अर्थों में निर्माण कर सकते हैं या नहीं। अंग्रेजी के अनुवादों के रंगमंचीकरण, विदेशी शिल्पविधियों के अन्धानुकरण से हमारा रंगमंच क्या वास्तव में विकसित हो सकता है? शायद हम यह भूल जाते हैं कि किसी देश के रंगमंच में उस देश की आत्मा का निवास है। शेक्सपियर और कालिदास के नाटक सार्वभौम होकर भी अपने देश की आत्मा की मधुर लय का गुंजन करते हैं। वह गूंज सदियों से हमारे पास तक आयी है। *हम इसी अर्थ में आज स्वदेशी या राष्ट्रीय रंगमंच को रूप देना है जो नितान्त देशी हो। जिसमें नाटक की रचना, उसके* मंडन शिल्प, अभिनय और निर्देशन में देश की आत्मा का सुख दुःख, उसके मन प्राण के हास और रुदन का स्वर मिलता है वही हमारा भारतीय रंगमंच होगा।

भारतीय रंगमंच के विकास के लिए आवश्यक है कि देश के प्रमुख नगरों में राष्ट्रीय पैमाने पर अखिल भारतीय रंगमंचों की स्थायी रूप में स्थापना हो। उसमें सब भाषाओं के श्रेष्ठ नाटकों का अभिनय नियमित रूप से प्रस्तुत किया जाए। रंग शिल्पियों, वादकों, गायकों पाण्डुलिपि लेखकों और निर्देशकों को समुचित वेतन देकर ऐसा सुसंगठित रूप दिया जाए कि *नाटक और रंगमंच हमारे देशी जीवन स्वदेश की चेतना और अनुराग के सही जीवन्त प्रतीक* हों। रुपहले चलचित्रों का अस्वस्थ प्रभाव हमारे आज के जीवन पर छाता जा रहा है। उसके चमक दमक और बढ़ते हुए अस्वस्थ प्रभाव की तुलना में हमारे रंगमंच उसी अवस्था में विकसित हो सकते हैं जब प्रचुर आर्थिक सहयोग और सधे हुए कलाकारों की निःस्वार्थ सेवा उसे प्राप्त हो। यह तभी सम्भव है जब देश के प्रधान भागों में भारतीय नाट्यकला, रंगमंच और प्रयोगविधियों के लिए शास्त्रीय पद्धति पर शिक्षा दी जाए। उसका एक निश्चित पाठ्यक्रम हो जिसमें भरत आदि प्रामाणिक नाट्यशास्त्रियों की विचारधारा के साथ पाश्चात्य नाट्यकला की विशेषताओं *का भी अध्ययन और अनुसंधान हो, नाट्य प्रयोग के लिए उन्नत प्रयोगशाला और कमशालाएँ हों।*

प्राचीन काल के नाटक और रंगमंच हमारे राष्ट्रीय जीवन के सच्चे प्रतिरूप हैं। उनमें हमारे राष्ट्र की आत्मा का स्पंदन अभी भी सुनाई देता है। आज के भी हमारे नाटक उसी प्रकार हमारे राष्ट्र और युग चेतना के वाहक हों। यह तभी सम्भव है जब हम हर तरह से उसमें आवश्यक नवीन शिल्पों का प्रयोग करके भी अपनत्व बनाये रखें। इन आदर्शों पर बना रंगमंच अस्थायी ही क्यों न हो वही राष्ट्रीय रंगमंच होगा। आज राष्ट्रीय रंगमंच हमारे राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उसी के द्वारा संपूर्ण राष्ट्र की भावात्मक एकता सुरक्षित रह सकती है। *राष्ट्रीय रंगमंच की हमारी कल्पना भरत निर्दिष्ट नाट्यशिल्प के प्रयोग से परिपुष्ट* हो सकती है। आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के क्षेत्र में उसके प्रयोग इतने व्यावहारिक और नाट्य सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि हम अभी भी उनसे सही अर्थों में प्रेरणा मिलेगी।

भारतीय नाट्यकला के पुनरुन्नयन के क्रम में भरत निर्दिष्ट नाट्यकला के उपादेय तत्त्वों

यदि प्रयोग किया जाय तो यह हमारी राष्ट्रीय चेतना और सस्कार के अनुरूप ही होगा।

आधुनिक भारतीय रगमच का इस शोध प्रबध म पृथक रूप से विचार किया गया है। भारतीय रगमच लगभग गत एक शतक स पाश्चात्य नाट्यकला की इन्द्रधनुषी किरणो से अपने रूप को रगते रह हैं परन्तु आज हम अपनी नाट्यकला की उन महत्ताओ स परिचित हो रहे हैं। क्यो नही हम अपनी नाट्यकला को अपन देशी मनभावन रूप और रग स और भी अधिक सुन्दर बनाकर प्रकृत रूप म राष्ट्रीय परपरा का सच्चा प्रतीक बनायें।

हमारा प्रादेशिक रगमच नाट्यशिल्प और रगविधियो की दृष्टि स बहुरगी है। तमिल रगमच अभी भी मध्यकालीन अवस्था स बहुत ऊपर नही उठ पाया है। पौराणिक कथाभूमि पर ही आधारित नाटको को रगमच पर प्रस्तुत किया जाता है। गुजराती रगमचो पर कौतूहल, भयावह दृश्य और विस्मयजनक घटनायें अभी भी कम लोकप्रिय नही हैं। मराठी और बँगला रगमच विकसित होने क कारण मनुष्य क मनोवेगो और सवेदना को प्रश्रय द रह हैं। हिन्दी रगमच पर भी पाश्चात्य प्रभाव की छाया म अवध के नवाबो की इन्दर सभा पारसी थियेटर और नौटकी की परपराओ का प्रभाव रहा है। पर भारतेन्दु के बाद उनके चरण आग की ओर भी बढे हैं, प्रसाद के नाटको म अभिनयता की मात्रा भले कम हो पर साहित्यिक नाटको के अभिनय की परपरा को शिक्षण सस्थाओ म पिछले कई वर्षों म पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री सेठ गोविन्ददास जगदीशचन्द्र माथुर रामकुमार वर्मा श्री रामवक्ष बेनीपुरी, अश्क उदयशकर भट्ट, मोहन राकेश और डा० लक्ष्मीनारायण तथा धर्मवीर भारती आदि के नाटक अभिनीत हो रहे है। महान् अभिनेता पृथ्वीराज कपूर, अल्काजी जोहरा सहगल और सत्यदेव दूबे जसे प्रतिभाशाली निर्देशक हिन्दी रगमच को प्राप्त हैं। यह हिन्दी रगमच के नय स्वण विहान की शुभ सूचना है। पर केवल इन शौकिया नाट्य मण्डलियो क नाट्य प्रयोग की लोकप्रियता से ही हिन्दी रगमच क वास्तविक विकास की सभवना सदेहपूर्ण मालूम पडती है।

हिन्दी क एकमात्र व्यावसायिक रगमच पृथ्वी थियेटस की अकाल मृत्यु से हिन्दी का रगमच आज सूना है। बम्बई दिल्ली पटना काशी, प्रयाग कलकत्ता (अनामिका) और जबलपुर म नाट्य सगठनो की स्थापना हुई है। नवीन शली म नाट्य प्रयोग हुए है। अधा युग और नाटक तोता मना आदि नई शली म लिखित नाटको और गीतिनाट्यो क बम्बई और दिल्ली मे प्रदशन हुए हैं। दिल्ली नाट्य सघ की ओर स रूपा तरित मुद्राराक्षस का भी अभिनय हुआ है। जबलपुर का रगमच परिभ्रामी है वहाँ हिन्दी नाटको क प्रदशन होते रहते हैं। पटना के भारतीय नृत्यकला मदिर और रवीन्द्र भवन म हिन्दी और बगला क नाटको और नृत्य का प्रदशन यदा-कदा होता है। भारत क प्रधान नगरो म सरकारी प्रोत्साहन एव शिक्षण-सस्थाओ क सहयोग से हिन्दी एव अन्य भाषाओ क नाटको क अभिनय होते हैं। सगीत नाटक अकादमी के नेशनल ड्रामा स्कूल की ओर स नाट्य शिक्षा और प्रयोग भी होते रहे हैं। परतु उन पर पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का ही प्रभाव अधिक है। भारतीय नाट्य प्रणाली के प्रति उदासीनता का भाव है।

देश म रेडियो रूपको की भी परपरा उत्तरोत्तर विकसित हो रही है। गद्यमय नाटको का सफल प्रसारण तो हो ही रहा है पर पश्चिमी गीतिनाट्य शली पर भी विभिन्न विषयो पर ध्वनि-काव्य नाटको की रचना हो रही है। यद्यपि शैली बहुत कुछ पाश्चात्य है परन्तु विषयवस्तु भारतीय है। कालिदास, मेघदूत, विक्रमोवशी' आदि गीतिनाट्य खूब लोकप्रिय हुए हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थो की सूची

पाण्डुलिपि

(१) भारतीय नाटयशास्त्रम्— भरत ६/४१४ क्रम सख्या ४०७६७
सरस्वती भवन, वाराणसी सस्कृत विश्वविद्यालय
पत्र सख्या—१ ६०, पचमाध्यायन्तम्।

(२) अभिनव भारती—नाटय वेद विवृत्ति।

(३) क्रम सख्या—४०७६५ १ ६

(४) क्रम सख्या—४०७६६ १ ७

(५) क्रम सख्या—४०७६७ ६-१६

(६) क्रम सख्या—४०७६६ २० ३१

सस्कृत ग्रन्थ

(१) अग्निपुराण	व्यास	आनदाश्रम सस्कृत ग्रथावली—१६८७
(२) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	स० डा० रामलाल शर्मा	हिंदी अनुसधान परिषद दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली १६५८।
(३) अथर्ववेद सहिता	सायण भाष्य सहित	नि० सा० बम्बइ १८६५।
(४) अनघराघव	मुरारि (रुचिपति टीका सहित)	निर्णयसागर बम्बइ १६३६।
(५) अनुयोग द्वार सूत्र	मलधारीय हेमच द्रसूरि	क्रमरबाई, ज्ञानमदिर, पाटण, १६६३।
(६) अभिनयदर्पण (आलोचनात्मक व्याख्या)	नदिकेश्वर, अनुवादक	देवदत्त शास्त्री, इलाहाबाद, १६५६

की ग्राह्यता के आग्रह का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि प्राचीनता के अंधानुसरण का समर्थन किया जा रहा है। वस्तुतः कला के क्षेत्र में प्राचीनता या नवीनता का प्रश्न ही व्यर्थ है। जो कला प्रवृत्तियाँ मौलिक और जीवन एवं जातीय परंपरा से अनुप्रेरित हों वे ग्राह्य हैं। उनसे कला को शक्ति गति और समृद्धि मिलती है। भरत की नाटयकला के माध्यम से भारतीय जीवन की प्रवृत्ति और परंपरा सदियों तक अभिव्यक्ति पाती रही है। उसमें अवरोध का मुख्य कारण जीवन की परंपराओं में विच्छिन्नता ही नहीं वरन् कलाविरोधी विजातियों का नृशंस आक्रमण भी था। एक हजार वर्षों की पराधीनता के बाद हम आज स्वाधीन हैं तो अपनी प्राचीन कलाओं के पुनरुद्बोधन और पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

कठिनाई यह है कि हमारी कुछ अस्वस्थ जीर्ण शीर्ण आस्थाएं स्वयं टूट रही हैं और कुछ भावावेश में तोडी जा रही हैं। नयी आस्थाओं के चरण डगमगा रहे हैं। लगता है जैसे हम आज अनास्था और सांस्कृतिक शून्यता में भटक रहे हैं। अन्य जातीय चेतना के नाम पर जो कुछ भी ग्राह्य और अग्राह्य मिल रहा है सबसे अपनी शून्यता को भर लेना चाहते हैं। अपनी इस हीन भावना का कारण यह है कि हम यह मान बैठे हैं कि हम पश्चिम से ही कला विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में प्रेरणा लेनी है हम नितान्त अकिंचन हैं।' कला और दर्शन के क्षेत्र में भारत की पुरानी विरासत का समुचित मूल्यांकन कर पाते तो निश्चय ही इस हीन भावना के शिकार न होते।

भरत की नाटयकला देश काल और जाति की सीमाओं से विकसित होने पर भी सार्वभौम नाटयसिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है। विश्व की सुख दुःखात्मक चेतना से उनके सिद्धान्त अनुप्राणित हैं। अतएव उन सिद्धान्तों का असाधारण महत्त्व और उपयोग है। प्राचीन होने पर भी जीवन रस से परिपुष्ट होने के कारण वे अब भी इतने मौलिक और जीवन्त हैं कि उनसे न केवल भारतीय नाटयकला अपितु किसी भी देश की नाटयकला प्राणवान् हो सकती है।

भारतीय नाटयकला के पुनरुद्बोधन की इस मंगल वेला में भरत की नाटयकला के उन उपादेय महनीय तत्त्व मुक्ताओं से भारतीय नाटयकला का प्रगति पथ ज्योतिर्मय हो सकता है।

एवं नाटयप्रयोगे बहु यद्धि विहितं कर्म शास्त्रप्रणीतम्।
न प्रोक्तं यच्च लोकादनुकृतिकरणं तच्च कार्यं विधिज्ञैः॥

—ना० शा० ३६ ७८

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न नाटयशिल्पप्रवर्तक।
शोधग्रन्थं समाप्तेयं भारतस्य यशोवहं॥

इतिशम्

	शीर्षक	लेखक	प्रकाशन
(७७)	नाट्यशास्त्र (अ० भा० सहित ८ १८)	भरत	सपादक रामकृष्णकवि गा० ओ० सी०, १९३४
(७८)	नाट्यशास्त्र (अ० भा० सहित १९ २७)	,,	सपादक रामकृष्ण कवि गा० ओ० सी०, १९५४
(७९)	नाट्यशास्त्र अ० भा० सहित (२७ ३६)	,,	,, १९६४
(८०)	नाटयशास्त्र (अ० अनुवाद) (१ २७)	,,	अनुवादक मा० मो घोष रायल एशियाटिक सासाइटी, कलकत्ता १९५०
(८१)	नाट्यशास्त्र (हि० अनुवाद सहित) (१ ७)	,,	डा० रघुवश—मातीलाल बनारसीदास १९६४
(८२)	नाटयशास्त्र (मराठी)	,,	गोदावरी वासुदेव केतकर, पूना, १९२८
(८३)	नाटयशास्त्र सग्रह	,	सरस्वती महल लाइब्रेरी-तजौर, १९५३
(८४)	निघटु और निरुक्त	डा० लक्ष्मणस्वरूप	आक्सफोर्ड १९२०
(८५)	नषधीय चरित	श्रीहष	नि० सा० बम्बई, १९२४
(८६)	न्यायदशन (वात्स्यायन)	गौतम	बम्बई १९२२
(८७)	नत्त प्रकाश	विप्रदास	
(८८)	पद्म पुराण	व्यासदेव	कलकत्ता, १९६२
(८९)	पाणिनीय शिक्षा	मनमोहन घाष	कलकत्ता, १९३८
(९०)	पातजल महाभाष्य (पतजलि)	राजस्थान सस्कृत कालज	ग्र थमाला काशी, १९३९
(९१)	पारिजात हरण	उमापति	डा० जाज ग्रियसन जनल बिहार रिसच सोसायटी १९१७
(९२)	पिगल छ दसूत्रम	पिगलाचाय	कलकत्ता, १९०२
(९३)	प्रतापरुद्र यशोभूषण (रत्नायण टीका-सहित)	विद्यानाथ	बम्बई, १९०९
(९४)	प्रतिज्ञा यौग धरायण	भास नाटकचक्र	पूना १९३७
(९५)	प्रतिमा नाटक	,,	,
(९६)	प्रबोध च द्रादय	श्रीकृष्ण मिश्र	नि० सा० १९३५
(९७)	प्राकृत पिगल	सपादक च द्रमोहन घोष	रायल एशियाटिक सासाइटी, कलकत्ता १९०९

(४३) कुशजातक (हि दी अ०)		हि दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(४४) कौशितकी ब्राह्मण	सपादक ए० बी० कीथ	कम्ब्रिज, १९२०
(४५) गाथा सप्तशती	हाल	आनन्दाश्रम सस्कृत ग्र थावलि, १९११
(४६) चतुर्भाणी		काव्यमाला, १८९९
(४७) चन्द्रालोक	जयदेव	दक्षिण भारतीय सीरीज, १९२८
(४८) चारुदत्त (हि दी अनुवाद सहित)	भास	चौ० स० सा०, १९३२
(४९) छन्दसूत्र	पिंगलनाग	अनुवादक डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित
(५०) छन्दोमजरी	गगादास	अजन्ता प्रकाशन, पटना, १९६२
(५१) जातकमाला	आयशूर	का० मा० स० १९३२
(५२) जगद्धर की टीका	(वणी सहार)	चौ० स० सी० १९४२
(५३) तापस वत्सराज	अनगहर्ष	काशी, १९३७
(५४) दशरूपक (अवलोक सहित)		नि० सा०, १९४०
		बगलोर, १९२९
(५५) दशरूपक (हि० अनुवाद)	धनजय	नि० सा० बम्बई १९४१
(५६) दिव्यावदान		हजारी प्रसाद द्विवेदी
(५७) दूतघटोत्कच	स० पी० एल० वद्य	राजकमल प्रकाशन, १९६३
(५८) ध्वन्यालोक	भास	मिथिला विद्यापीठ, दरभगा १९५९
(५९) ध्वन्यालोक लोचन	आनन्दवर्द्धन	पूना १९३७
(७०) नागानद	अभिनवगुप्त	नि० सा० १९११
(७१) नाटक लक्षण रत्नकोष सागरनदी	श्रीहर्ष	" "
		सपादक के० व० धवन
(७२) नाट्यदपण		सपादक ढिल्लन० आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लदन, १९३७
(७३) नाट्यशास्त्र (का० मा० प्रथम सस्करण)	रामचन्द्र गुणचन्द्र भरत	गा० ओ० सी० १९५९
(७४) नाट्यशास्त्र (का० मा०) (द्वि० स० १ ३३)		सपादक शिवदत्त दाधिची नि० सा० बम्बई १८९०
(७५) नाट्यशास्त्र (का० स० १ ३६)	"	सपादक केदारनाथ—१९४३
(७६) नाट्यशास्त्र (अ० भा० सहित) (द्वि० स० १)	"	सपादक प्रो० बलदव उपाध्याय चौ० स० सी० १९२९
	"	सपादक रामकृष्ण कवि, सशोधन के० एस० रामस्वामी शास्त्री गा० ओ० सी० १९५६

(१२१) मेघदूत	कालिदास	मल्लिनाथ टीका
(१२२) यजुर्वेद (शुक्ल)	—	नि० सा० १६२६
(१२३) याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षरा टीका)	—	नि० सा० १६२६
(१२४) रघुवश (मल्लिनाथ की टीका)	कालिदास	नि० सा० बम्बई, १६२६
(१२५) रत्नावली	श्रीहर्ष	नि० सा० १६२५
(१२६) रस गगाधर	जगन्नाथ	नि० सा० १६३६
(१२७) रसार्णव सुधाकर	ि्गभूपाल	स० टी० गणपति शास्त्री वि० स० सी० १६१६
(१२८) राजप्रश्नीय	मलयगिरि व्याख्या	आगमोदय समिति सीरीज १६२५
(१२९) राजतरगिणी	कल्हण	सपादक एम० ए० स्टेन, बम्बई, १८९२
(१३०) रामायण	वाल्मीकि	नि० सा० १६२४
(१३१) ललित विस्तर	स० पी० एल० वद्य	मिथिला विद्यापीठ दरभगा, १६५८
(१३२) वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक	स० एस० के० दे, कलकत्ता ओरिएन्टल सीरीज, १६२६
(१३३) वाक्यपदीय (पुण्यराज, हेलाराज का टीका)	भर्तृहरि	बनारस १६०५
(१३४) वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)	,	चौ० स० सी० १६३७
(१३५) वाणीभूषण	दामोदर मिश्र	नि० सा० बम्बई, १६०३
(१३६) विक्रमोवशी	कालिदास	, १६४२
(१३७) विद्ध शालभजिका	राजशेखर	जीवानद कलकत्ता, १६४३
(१३८) विष्णुधर्मोत्तरपुराण	स० प्रियबाला शाह	गा० ओ० सी०, बडौदा
(१३९) वृत्तरत्नाकर	भट्टकेदार	बनारस, १६४८
(१४०) वेणी सहार	भट्टनारायण	नि० सा० बम्बई, १६३७
(१४१) वदिक कोष	डा० सूयकान्त	
(१४२) व्यक्तिविवेक	महिम भट्ट	चौ० स० सी०, काशी, १६३६
(१४३) व्यक्तिविवेक व्याख्यान	राजानक रुय्यक	"
(१४४) शक्ति सगम तत्र	नारायण खण्ड	
(१४५) शब्दकल्पद्रुम		सपादक कालीप्रसाद, कलकत्ता
(१४६) शतपथ ब्राह्मण	सायणाचाय भाष्य सहित	
(१४७) शारिपुत्र प्रकरण	अश्वघोष	

(९८) प्रियदर्शिका	हर्ष	(संपादक जैक्सन) कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, न्यूयार्क, १९२३
(९९) बाल रामायण	राजशेखर	जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता, १८८४
(१००) बुद्धचरित	अश्वघोष	पंजाब विश्वविद्यालय, ओरिएन्टल पब्लिकेशन्स लाहौर, १९३५
(१०१) बृहद्देवता	शौनक	हीराबाई ओरिएन्टल सीरीज़, १९३४
(१०२) बृहद्देशी	मतंग	
(१०३) भक्तिरसायन	मधुसूदन सरस्वती	
(१०४) भरतकोष	रामकृष्ण कवि	पूना, १९६१
(१०५) भरतार्णव	नंदिकेश्वर	साहित्य अकादमी, दिल्ली, १९५७
(१०६) भामह विवरण	काव्यानुशासन में उद्धृत	
(१०७) भाव प्रकाशन	शारदातनय	गा० ओ० सी०, बड़ौदा, १९३०।
(१०८) मत्स्यपुराण		श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
(१०९) मध्यम व्यायोग	भास	पूना ओरिएन्टल सीरीज़, पूना, १९३७
(११०) मनुस्मृति (कुल्लूक भट्टटीका)	मनु	नि० सा०, बम्बई १९३९
(१११) मयशास्त्र	,,	संपादक फनीनाथ बोस, लाहौर १९२६
(११२) महाभारत (नीलकंठी व्याख्या)	व्यास	चित्रशाला प्रेस पूना १९२९
(११३) महावग्ग	भिक्षु जगदीश काश्यप	नालन्दा १९५६
(११४) मानसार शिल्पशास्त्र	संपादक डा० पी० के० आचार्य	आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस, लंदन, १९३३।
(११५) मार्कण्डेय पुराण	—	कलकत्ता, १९६२
(११६) मालती माधव (जगद्धर की टीका)	भवभूति	नि० सा० बम्बई, १९०५
(११७) मालविकाग्निमित्र	कालिदास	नि० सा० बम्बई १९१२
(११८) मुद्राराक्षस	विशाखदत्त	शारदारंजन राय कलकत्ता
(११९) मृच्छकटिकम (पृथ्वीधर की व्याख्या)	शूद्रक	नि० सा० बम्बई १९२०
(१२०) मेघदूत	कालिदास	संपादक एस० के० दे—साहित्य अकादमी दिल्ली, १९५७

(१६६) हरिवश (हि० अनु० सहित)	व्यास	गीता प्रेस
(१७०) हर्ष चरित	बाणभट्ट	नि० सा० प्रेस, बम्बइ
(१७१) हर्षचरित सास्कृतिक अध्ययन	वासुदेव शरण अग्रवाल	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
(१७२) हिन्दी अभिनव भारती	आचाय विश्वेश्वर	हि० अ० प० दिल्ली

हिन्दी के सहायक सदर्भ ग्रन्थ

(१७३) अभिनव नाटयशास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी	काशी
(१७४) अरस्तू का काव्यशास्त्र	डा० नगेन्द्र	हि० अ० प०, दिल्ली
(१७५) आधुनिक साहित्य	नददुलारे वाजपेयी	भारती भण्डार, विक्रम स० २०१८, तृतीय सस्करण
(१७६) आधुनिक हिन्दी नाटक	,, ,	छठा सस्करण, १९६१
(१७७) कालिदास और उनका युग	भगवतशरण उपाध्याय	प्रयाग भारतीय विद्याभवन, १९५६
(१७८) कालिदास और भवभूति (हि० अ०)	डी० एल० राय	हिन्दी ग्रन्थ रत्नमाला कार्यालय, बम्बई
(१७९) काव्यकला तथा अन्य निबध	जयशकर प्रसाद	भारती भण्डार, प्रयाग
(१८०) काव्य के रूप	गुलाब राय	
(१८१) नाटक (निबध)	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु नाटकावली (भाग २) का परिशिष्ट
(१८२) नाट्यकला	डा० रघुवश	नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, १९६१
(१८३) नाटयशास्त्र की भारतीय परम्परा	हजारीप्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पटना, १९६३
(१८४) नाट्य समीक्षा	डा० दशरथ ओझा	नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली
(१८५) पतजलिकालीन भारत	प्रभुदयाल अग्निहोत्री	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६३
(१८६) पाणिनिकालीन भारतवर्ष	वासुदेव शरण अग्रवाल	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, २०१९
(१८७) प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन	डा० जगन्नाथ प्र० शर्मा	सरस्वती मदिर, बनारस
(१८८) प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद	हजारी प्र० द्विवेदी	हि० ग्रन्थ रत्नमाला कार्यालय बम्बई

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
(१४८) शांखायन आरण्यक		पटना, बम्बई, स० सी०, १८८८
(१४९) शार्ङ्गधर पद्धति	शार्ङ्गधर	
(१५०) शिल्परत्न	श्रीकुमार	ग० टी० गणपति शास्त्री, त्रि० सं० सी०, १९२२
(१५१) शिशुपालवध	माघ	नि० सा०
(१५२) श्रुतबोध	कालिदास	नि० सा० १९३१
(१५३) शृंगार प्रकाश	भोज	राजकुमार, मद्रास १९४९
(१५४) शृंगार प्रकाश (१ २)	,	सं० जी० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री, श्रीरंगम् १९१९
(१५५) श्रीमद्भागवद् गीता	तिलक का भाष्य	पूना
(१५६) श्रीमद् भागवत् पुराण		गीता प्रेस गोरखपुर
(१५७) शृंगार हार (चारभाणी का संग्रह पद्मप्राभृतक, धूतविट संवाद उभयाभिसारिका पदताडितकम्)	सं० वासुदेवशरण अग्रवाल, मोतीचन्द्र	बम्बई १९५९
(१५८) सरस्वती कंठाभरण	भोज	नि० सा० बम्बई, १९३४
(१५९) साहित्य दर्पण (सिद्धांत वागीश की टीका)	विश्वनाथ	कलकत्ता, १८५६ शकाब्द
(१६०) सिद्धान्त कौमुदी (तत्व बोधिनी व्याख्या सहित)	भट्टोजी दीक्षित	वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९२६
(१६१) सौंदरानंद	अश्वघोष	सम्पादक—हरप्रसाद शास्त्री रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता १९३९
(१६२) संगीत पारिजात	अहोवल पंडित	संगीत कार्यालय हाथरस, १९४१
(१६३) संगीत मकरन्द	नारद	गा० ओ० सी०, बडौदा, १९२०
(१६४) संगीत रत्नाकर	शार्ङ्गदेव	आधार लाइब्रेरी, १९५३
(१६५) संगीत राज	कुम्भ	
(१६६) सांख्य दर्शन	कपिलमुनि	चौ० स० सी०, १९५८
(१६७) स्वप्नवासवदत्तम्	(द्वि० अ०) भास सं० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित	सुबोध ग्रन्थमाला कार्यालय रांची, १९५६
(१६८) हनुमन्नाटक या महानाटक	दामोदर मिश्र	वेंकटेश्वर प्रेस, १९२४

(२०८)	हि दी नाटककार	जयनाथ	आत्माराम एण्ड स स, १६५६
(२०६)	हि दी नाट्यविमश	बाबू गुलाब राय	
(२१०)	हि दी नाटक साहित्य का इतिहास	डा० सोमनाथ गुप्त	ततीय स० १६५१
(२११)	हि दी साहित्य का इतिहास	रामच द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००३

गुजराती

(२१२)	पारसी नाटक तख्तानो तवारीख (गुजराती)	डा० धनजी भाई पटेल	१६३१
(२१३)	स्मारक ग्र थ गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव		

बगला

(२१४)	प्राचीन भारतेर नाटयकला	मनोमोहन घोष	विश्वभारती, कलकत्ता १६४५
(२१५)	व्याकरण दशनेर इतिहास	गुरुपद हल्दर	कलकत्ता, १३५० वि० स०
(२१६)	मराठी रगभूमि	आद्या विष्णु कुलकर्णी	१६६१

हिन्दी नाटक

(२१७)	अजातशत्रु— १२वाँ सस्करण	जयशकर प्रसाद	भारती भवन, प्रयाग
(२१८)	अ धा युग	धमवीर भारती	
(२१६)	अम्बपाली	रामवक्ष बेनीपुरी	बेनीपुरी प्रकाशन पटना
(२२०)	आन का मान	हरेकृष्ण प्रेमी	कौशाम्बी प्रकाशन
(२२१)	आहुति	पृथ्वी थियेटस	छठा सस्करण, १६६१
(२२२)	कालिदास	उदयशकर भटट	
(२२३)	कोणाक	जगदीशच द्र माथुर	
(२२४)	कौमुदी महोत्सव	रामकुमार वर्मा	प्रयाग
(२२५)	गद्दार	पृथ्वी थियेटस	बम्बई
(२२६)	च द्रगुप्त	जयशकर प्रसाद	
(२२७)	चारुमित्रा	डा० रामकुमार वर्मा	
(२२८)	ध्रुवस्वामिनी	जयशकर प्रसाद	
(२२६)	नाटक तोता-मैना	डा० लक्ष्मीनारायण लाल	

(१८९) प्राचीन भारतीय लोक धर्म — भरत और भारतीय नाट्यकला

(१९०) भरत नाट्यशास्त्र में रंगशालाओं के रूप — डा० वासुदेव शरण अग्रवाल — मानोन्य ट्रस्ट, अहमदाबाद, जुलाई १९६४

(१९१) भारतीय काव्यशास्त्र (भाग १ २) — राम गोवि दचन्द्र — काशी, १९४८

(१९२) भारतेन्दु नाटकावली (१ २ भाग) — प्रो० बलदेव उपाध्याय — काशी

(१९३) मनोविश्लेषण और फ्रायडवाद की रूपरेखा — भारतेन्दु — रामनारायणलाल, प्रयाग, सवत् १९९३

(१९४) रसमीमांसा — याइ मलोहु — रामचन्द्र शुक्ल — पटना १९५४

(१९५) रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण — काशी नागरी प्रचारिणी सभा, स० २००६

(१९६) रीतिकाव्य की भूमिका — आनदप्रकाश दीक्षित — डा० नगेन्द्र

(१९७) रूपक रहस्य — श्यामसुन्दर दास — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९५६

(१९८) लोकधर्मी नाट्य परपरा — श्याम परमार — इण्डियन प्रेस, प्रयाग, स० १९९७

(१९९) विद्यापति पदावली — हि० प्रचारक पुस्तकालय काशी, १९५९

(२००) वदिक साहित्य और सस्कृति — सपादक रामवक्ष बेनीपुरी — पुस्तक भण्डार, पटना

(२०१) साहित्य सिद्धान्त — प्रो० बलदेव उपाध्याय — काशी १९५५

(२०२) साहित्यालोचन (छठा सस्करण) — डा० रामअवध द्विवेदी — बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना १९६३

(२०३) सस्कृत साहित्य का इतिहास — श्यामसुन्दर दास — इण्डियन प्रस प्रयाग, सवत् १९९९

(२०४) हमारी नाट्य परपरा — प्रो० बलदेव उपाध्याय — काशी, १९५२

(२०५) हिन्दी नाट्य उद्भव और विकास (त० स०) — श्री कृष्णदास

(२०६) हिन्दी के पौराणिक नाटक — डा० दशरथ ओझा — आत्माराम एण्ड सास दिल्ली, १९६१

(२०७) हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव — देवर्षि नाट्य — श्रीपति शर्मा — विनोद पुस्तक मदिर, आगरा, १९६१

अग्रेजी भाषा के सहायक सदर्भ ग्रथ

1	Abhinaya Darpan	Nandikeshwar	M M Ghosh, Calcutta 1934
2	Advanced History of India	Au R C Majumdar H C Roy Choudhary, Kalikinkar Dutta	2nd Edition London Macmillan & Co Ltd New York
3	Ancient Indian Theatre	Dr R. Mankad	Charutar Prakashan Ballabh Vidyanagar, Oxford, 1950
4	Aristotle's Art of Poetry (A Greek view of Poetry & Drama)	W Hamilton Fyee	At the Clarendon Press
5	Aristotle s Theory of Fine Art	Prof S H Butcher	
6	Aspects of Sanskrit Literature	S K De	Firma K L Mukho *padhyaya, Calcutta, 1959* New Delhi
7	Asoka Inscriptions	—	Publication Division
8	Basic Writings	Freud	—
9	Vedic Index of Name & Subjects	Macdonell & Keith	Two Volumes, London, 1912
10	Bengali Drama	Dr P Guha Tarakant	London, 1925
11	Bhas	Pulskar	Lahore 1940
12	Bhoja's Sringara Prakas (Revised Edition)	Dr V Raghvan, M A, Ph D	Sri Krishna Ram Street, Madras, 14, 1963
13	Bibliography of the Sanskrit Drama	Schuler	Columbia University Press, New York, 1906
14	British Drama	A Nicoll	Fourth Edition
15	British Rule in India & After	R R Sethi, V D Mahajan Chand & Co	Publisher & Bookseller Fountain, Delhi
16	Cambridge History	Part IX	page 177
17	Cassel's Encyclopaedia of Literature I	Editted by S H Steinberg	London, 1953
18	-do- II	"	"

(२३०) पृथ्वीराज की आँख — डा० रामकुमार वर्मा
(२३१) भोर का तारा — जगदीशचन्द्र माथुर
(२३२) रणधीर प्रेम मोहिनी — श्रीनिवास दास
(२३३) वत्सराज — लक्ष्मीनारायण मिश्र
(२३४) वीर अभिमन्यु — राधेश्याम पाठक
(२३५) शकुंतला — नारायणप्रसाद बेताब
(२३६) शारदीया — जगदीशचन्द्र माथुर
(२३७) सत्य हरिश्चन्द्र — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(२३८) सप्त रश्मि — सेठ गोविन्ददास
(२३९) सिन्दूर की होली — लक्ष्मीनारायण मिश्र
(२४०) सीमारेखा — विष्णु प्रभाकर
सूरदास — आगाहश्र कश्मीरी
(२४१) स्कन्दगुप्त — जयशंकर प्रसाद
(२४२) स्वप्नवासवदत्ता — (हिन्दी रूपान्तर) प्रो० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित
(२४३) सृष्टि की साँझ — सिद्धनाथ कुमार

बंगला नाटक

(२४४) उल्का — नीहाररंजन
(२४५) चिर कुमार सभा — रवीन्द्रनाथ ठाकुर
(२४६) मधुसूदन — वनफूल
(२४७) मानमयी गर्ल्स स्कूल — रवीन्द्रनाथ मैत्रा
(२४८) विन्दोर छेने — शरत्चन्द्र
(२४९) श्यामली — निरुपमा राय
(२५०) षोडषी — शरत्चन्द्र (आदि)

36 Dramatic Criticism	Spingarn	Oxford University Press, 1931
37 Dramatic Technique	G P Bakar	—
38 Early Poems & Stories	W B Dutta	London, 1925
39 Elements of Literary Criticisms	Lamborn	—
40 Encyclopaedia of Religion and Ethics	—	—
41 Foundation of Poetry in Drama, The (An Essay)	Abercrombie	Oxford University Press
42 Gupta Art	Basudeo Saran Agrawal	Lucknow
43 History & the Culture of Indian People	R C Majumdar —	Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay
44 History of Indian Literature	A M Winternitz	(English Translation) Cal University, Calcutta
45 Hindu Law and Custom	Jolly J Calcutta, 1929	Vol I, 1927 Vol II, 1933
46 History of Modern India	Dr Iswari Prasad & S K Subedar	2nd Edition 1951
47 History of Sanskrit Literature	S K Dey	Calcutta University 1947
48 History of Sanskrit Poetics	P V Kane	Motilal Banarasidass, 1961, Varanasi
49 History of Sanskrit Poetics (In two Vols)	Sushil Kumar De	Calcutta, 1960
50 Indian Drama (Collection)	—	The Publication Division Ministry of Information & Broadcasting, Govt of India, New Delhi
51 Indian Literature Vol I, No II	—	Sahitya Akademy
52 Indian Stage, Vol IV	Dr Harendra Nath Das Gupta	Calcutta University 1934
53 Indian Theatre	Prof C B Gupta	Motilal Banarasi Das, 1954, Varanasi
54 Indian Theatre	R K Yajnik	London George Allen & United Dn Museum - Street, First Published in 1933
55 Laws & Practice of Hindu Drama	S N Shastri	The Chaukhamba Sakt Series, Office, Gopal Mandir Lane, Varanas

19 Chandragupta Maurya & His Times (2nd Edition) — R K Mukharji — Rajkamal Publications, New Delhi 1952

20 Classical Sanskrit Literature — A B Keith — London, 1936

21 Collected papers Vol II — Freud — —

22 Commemorative Essays presented to R G Vendadkar — — — Vandarkar Oriental Research Institute Poona 1917

23 Comparative Aesthetics Vol I — Dr Kantichandra Pandey — The Chowkhamba Sanskrit Series Vidya Vilas Press Banaras, 1950

24 The Construction of One Act Play — Walter Eaton — —

25 Contemporary Indian Literature (A symposium) — Sahitya Akademy — New Delhi 1957

26 Contributions to the History of the Hindu Drama — M M Ghosh — Firma K L Mukhopadhyay Calcutta, 1958

27 The Craftsmanship of One Act Play — Percevals Wilds — —

A Critical Survey of the Ancient Indian Theatre — Prof D Subba Rao — Appendix 6, G O C N S Vol Ist, 2nd Edition

28 Curtain in Ancient India — S K De — Bhartiya Vidya Bhawan Volume 1948

29 Dasrupa, The Treatise on Hindu Dramaturgy — Dhanam Jaya — George Co Hoas 1962

30 Dictionary of Hindu Architecture — P K Acharya — Motilal Banarsi Das (Re print)

31 Drama — A Duke — Oxford University Press, London, 1907

32 Drama — H H Wilson — —

The Chowkhamba Sanskrit Series Office 1962, (Re print)

33 Drama & Dramatics of Non European Race — William Ridge Way — —

34 Drama from Ibson to Eliot — Royamond William — Chatto & Winds, London 1954

35 Drama in Sanskrit Literature — R V Jagirdar, M A, London — Popular Book Depot Bombay 7, 1947

75 Selected Inscriptions bearing on Indian Civilization	D C Sarkar	Calcutta, 1942
76 Seven Words in Bharat, what they signify ?	K M Verma	Orient Longman's, 1958
77 Social Plays in Sanskrit, The	Raghvan V	Adyar Library, Adyar, 1942
78 Some Concepts of Alankar Sastra, Studies on	"	"
79 Theatre and Stage (In two volumes)	Harold Downs	The New Era Publishing Co Ltd
80 The Theatre of the Hindus	H H Wilson V Raghvan, K R Pishasroti A C Vidyabhushan	Shushil Gupta India Ltd Calcutta, 12, 1955
81 Theories of Rasa & Dhavani	Sankaran A	University of Madras, 1929
82 Tribes & Castes in North West and Awadh	W Gooke	—
83 Types of Sanskrit Drama	Mankad	University Prakashan Mandir, D Karavadu, 1930
84 The Vakrokti Jivitam	Rajanakakrintala	Ed by S K De, Calcutta, 1923
85 *Bharat's Natyas* and Costum	*Dr G S Gurhe*	*Popular Book Depot* Bombay, 1958
86 World Drama	A Nicoll	1st Edition, 1931
87 Works of Aristotle	W D Ross M A	Oxford at the Alexandrenu

अंग्रेजी के सहायक निवन्ध

1 Archaeological Survey of India (Annual Report 1903 4)	Caves and Inscriptions in Ramgarh hills	Bloch
2 Bulletin of Sangit Natak Akademy, New Delhi	Music in Ancient Indian Drama	V Raghavan
3 Bharati Vidya Vol IX	Curtain in Ancient India	S K De
4 Calcutta Review, 1922-23		—
5 Drama Seminar, Sangit Nataka Academy, New Delhi	Uparupakas	V Raghavan

56	Laws of Drama	F Brunetier	—
57	Matsya Puranas Study	Vasudeva S Agrawal	Ram Nagar, Varanasi, 1963
58	Meaning of Art	Herbert Read	—
59	Mirror of Gesture (Translated into English)	By Ananda K Coomaraswami & D Gopalakrishna Aiyer	E Weyre New York, 1936
60	The Natakalaksana ratnakosa of Sagar Nandin	Myles Dillon & V Raghavan	The American Philosophical Society, Philadelphia 6
61	Natyasastra, (English Translation 1-27)	Manomohan Ghosh, M A, Ph D (Cal)	The Royal Asiatic Society of Bengal, 1950
62	Number of Rasas	V Raghvan	Adyar Library, Adyar, 1940
63	Outline of Psycho Analysis An	Sigmund, Freud 3rd Edition	The Hogarth Press London, 1940
64	Play House of the Hindu Period	P K Acharya, Dr S K Ayangar Commemoration Volume	—
65	Poetry & Drama	T S Eliot	The Tmodore Speneor Memorial Lecture No 125 Falues & Limited 24, Russel, London
66	Pre historic Ancient & Hindu India	Banerjee, R D	Black JE & Sons (India) 1934
67	Principles of Indian Silpasastras (with the text of Maya Sastra)	R N Bose	Payal Sanskrit Book Depot Lahore, 1926
68	Psycho-Analysis Today, its scope and functions	Lorand	Sandor, London, 1933
69	Psychology of Human Affairs	J S Grey	—
70	Rajtarangini	Kalhan, Edited by Stein	Bombay, 1892
71	Rigveda Brahmans Translated	Keith A B	Harward Oriental Series, XXV, 1920
72	Sanskrit Drama	A Berriedale Keith	Oxford University Press, 1924
73	Sanskrit English Dictionary	M A Williams	Oxford, London, 1951
74	Sanskrit Literature (A History of)	Keith, A B	Oxford, 1928

25	Journal of Royal Asiatic Society, Bengal, 1909, 1913	History of Theory of Rusa	Shankaran
26	Journal of Department of Letters, Calcutta University, Part 23 25	Date of Bharat Natya Shastra	M M Ghosh
27	Journal of Andhra Historical Research Society, Vol III	—	—
28	Journal of Orient Re search Madras, Vol VI pp 149 170, p 54-82	(a) Writers Quoted in Abhinava Bharti (b) Concept of Lakshana	V Raghavan „
29	do Vol VII, pp 346 370	Vrittis	„
30	do Vol VII and VIII pp 359 374, 57 74	Lok Dharmi and Natya Dharmi	,
31	Journal of Royal Asiatic Society, London, 1911, p 979 1009, Poona Orientalist, Vol XIV, Part I	Vaidik Akhyam and the Indian Drama S P Bhattacharya	S P Bhattacharya —
32	New Indian Antiquary, Vol VI	—	Doctrine of Lakshan
33	Tribeni Madras 1931, 1932 33 Vol V	Architecture of Ancient India	V Raghavan
34	Akashvani, November, 3, 1963	Rag & Rusa	Nagendra Roy N Shukla
35	Indian Historical Quarterly, 1934, Vol	The Natyashastra and the Abhinava Bharati	M Ghosh

हिन्दी की सहायक शोध एव साहित्यिक पत्रिकाएँ

पब्लिकेश स डिवीजन, दिल्ली

आजकल

(१)	सित० अक्तूबर, १६५५	आज का भारतीय रगमच	प्रभाकर माचवे
(२)	फरवरी, ५७	सगीत, अभिनय और नृत्य	सदगुरुशरण अवस्थी
(३)	जुलाई, ५७	रामायणकालीन वेशभूषा	शान्तिकुमार नाथूराम व्यास
(४)	जून, ५८	राष्ट्रीय नत्य गोष्ठी	नेमिचन्द्र जन
(५)	जनवरी ६०	भारतीय लोक नृत्य और नत्य गीत	रामइकबाल सिह राकेश
(६)	अगस्त, ६०	भारतीय नृत्य परपरा (मुद्राएँ)	रेखा जन

6	Proceedings of all India Oriental Conference, Patna, (1930) (p 577 580)	Fragments from Kohals	P V Kane
7	Indian Antiquary Page 195 7, 1905 Volume 34	Ramgarh hills in Surjuga	J A S Burges
8	Indian Historical Quarterly, Vol VI, 1930	Problems of Natya Shastra	M M Ghosh
9	Indian Historical Quarterly, Vol VIII	Natya Shastra and Bharat Muni	do
10	do 1932	Hindu Theatre (An Interpretation of Natya Shastra, Bharat s Natya Shastra, 2nd Chapter)	D R Mankad
11	do	Prakrit vs in Bharat Natya Shastra	M M Ghosh
12	Indian Historical Quarterly Volume IX 1933	Nati of Patliputra	A Benerjee Shastri
13	-do	Hindu Theatre	M M Ghosh
14	-do	" "	A K Kumar Swami
15	-do	Vaman s Theory of Riti and Guna	Prakash Chand Lahiri
16	Indian Historical Quarterly, Vol IX, December, 1933	Hindu Theatre	B R Mankad
17	do	"	V Raghavan
18	do Vol	so called Conversions of Hindu Drama	M M Ghosh
19	Indian Literature	The Asthetics of Ancient Indian Drama	V Raghavan
20	-do	Indian Drama and Stage Today (Collection)	Different authors
21	-do-	Theatre at Delhi today	Murial Ware
22	Journal of Bombay University, Vol VI	—	Dr Ghati
23	Journal of Bombay University	—	—
24	Journal of Bihar Orissa Research Society 1917	Parijatharan' Editor and *translator*	Dr G Grierson

(२२) त्रिपथगा अक्तूबर, ५८ (सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ)	नाट्यशास्त्र म नेत्राभिनय	पचानन
(२३) त्रिपथगा सितम्बर ५७	अभिनयकला	सीताराम चतुर्वेदी
(२४) नई धारा, अप्रैल मई, ५१ (रगमच अक, पटना)	भरत का रगमच विधान	प्रो० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित
(२५) नया पथ (नाटक अक) मइ १९५६, लखनऊ		
(२६) नागरी प्रचारिणी पत्रिका वष ६३ सवत् २०१५ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)	कालिदास और गुप्त सम्राट	डोलर राय रजीतदास मक्द
(२७) साहित्य त्रमासिक (शोध पत्रिका) जुलाई, ५७ (हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, विहार)	विहार का प्राचीन कलावभव	परमेश्वरीलाल गुप्त
(२८) साहित्यकार अप्रल, ५६	सस्कृत नाट्य परपरा	श्रीकृष्णानद
(२९) सम्मेलन पत्रिका शक सवत् १८८५ आपाढ मागशीष (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)	वम्बई का पारसी रगमच	डा० रणवीर उपाध्याय
(३०) सम्मेलन पत्रिका चत्र ज्येष्ठ शक स० १८८५	भारतीय नाट्यकला का ज म	जयशकर त्रिपाठी
(३१) समालोचक दिसम्बर, ५८ (आगरा)	हिन्दी नाटक और रगमच	रामगोपाल सिंह चौहान
(३२) साहित्य सदेश जुलाई अगस्त, ५५ (अन्त-प्रान्तीय नाटकाक) (आगरा)		
(३३) आकाशवाणी प्रसारिका अक्तूबर दिसम्बर, ५७	भारतीय रगमच	मामा वरेरकर
(३४) ,,	सीतावेंगा	कृष्णदेव
(३५) ,, ,,	नया रगमच	जगदीशच द्र माथुर
(३६) , , माच, ५७	हिन्दी रगमच	डा० सोमनाथ गुप्त

(७)	फरवरी ६१	भारतीय नृत्य-परंपरा (वेशभूषा)	रमा जैन
(८)	अगस्त, ६१	भारतीय नृत्य-परंपरा (संगीत)	रमा जैन
(९)	अक्तूबर, ६१	मास्को के रंगमंच पर रामायण	भीष्म साहनी
(१०)	सितम्बर, ६२	व्यवसायी रंगमंच	नेमिचन्द्र जैन
(११)	अप्रैल, ६३	नाटक का अध्ययन	नेमिचन्द्र जैन

त्रैमासिक दिल्ली

(१२)	आलोचना अक्तूबर, ५७	नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
(१३)	आलोचना नाटक अंक जुलाई, ५६		
(१४)	आलोचना जुलाई, ६३	हिन्दी रंगमंच के विकास की समस्या	उपेन्द्रनाथ अश्क
		मृच्छकटिक—अभिज्ञान शाकुंतल और ओथेलो	भगवतशरण उपाध्याय
			वीरेन्द्र नारायण
(१५)	कल्पना अगस्त, ६१	नाटक की लोकानुसारिता	डा० बच्चन सिंह, हैदराबाद
(१६)	कल्पना, नवम्बर ६१	नाटककार और निर्देशकों के नये संबंधों की खोज	सुरेश अवस्थी, हैदराबाद
(१७)	कल्पना जून, ६२	भारतीय नाट्य-परंपरा पर पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव	सुरेश अवस्थी, हैदराबाद
(१८)	कल्पना मई, ६३	भरत नाट्यम् मंदिर से रंगमंच तक	सुरेश अवस्थी, हैदराबाद
(१९)	कल्पना, सितम्बर, ६३	लोक-नाट्य और आधुनिक रंगमंच	नेमिचन्द्र जैन, हैदराबाद
(२०)	कल्पना, मई ६४	इन्द्राणी रहमान और भरत नाट्यम्	
(२१)	ज्ञानोदय, सितम्बर, ६१ (भारतीय ज्ञानपीठ कलकत्ता)	भारतीय लोकनृत्यों की झाँकी	राजेन्द्र निगम

शब्दानुक्रमणिका

(३७) आकाशवाणी विविधा आधुनिक रगमच अज्ञेय
१९५९
रगमच के उपयुक्त रामच द्र टडन, नमिच द्र जन
(३८) " नाटकों का अभाव भगवतीचरण वर्मा
रेडियो नाटक
(३९) " रगमच की दृष्टि स हि दी
(४०) " १९६० नाटकों का अध्ययन
सगीत और नृत्य को दक्षिण
(४१) " " की देन
लोकगीत और लोक-नाटक श्रीकृष्ण दास
(४२) " खुला रगमच सुरेश अवस्थी
(४३) " अक्तूबर दिस० ५६ कालिदास का भारत डी० डी० मेनन
(४४) " अप्रल-जून, ५६ डा० दशरथ ओझा
(४५) हि दी अनुशीलन अगस्त, हिन्दी के आदि नाटक
१९५५
जनवरी माच अग्निपुराण की रस दृष्टि योगे द्र सिंह
१९६२
(४६) हि दी अनुशीलन (शोध
विशेषाक), १९६२
(४७) हि दी अनुशीलन, वप रस सिद्धान्त की भरत प्रेमस्वरूप गुप्त
१३ अक ३ पूववर्ती रूपरेखा
(४८) रगभूमि नाशोवध च द्रबदन महता
(काग्रेस स्मृति ग्रथ) डा० डी० जी० व्यास
(४९) गुजराती नाटयम् आपणी रगभूमि
(५०) मराठी रगभूमि जून,
१९०२

● ● ●

इ

ई

उ

घ

च

थ

द

प

म

त्र

ह

शुद्धि-निर्देश

	अशुद्ध शब्द	पृष्ठ		पंक्ति संख्या	शुद्ध शब्द
१	मरसरोभि	८	(पादटिप्पणी)	१	मप्सरोभि
२	रुणदि	८	(,,)	५	रुणद्धि
३	प्रणायन	११		११	प्रणयन
४	वधूयति	२५	(पा० टि०)	४	बधयति
५	पदारम्भका	२८	(,,)	५	यदारम्भका
६	शासित	२७		१३	शारिपुत्त
७	नरपतिखानि	३०	(पा० टि०)	१३	नरपतिरवनिम्
८	पह णप	३०	(,,)	१४	पह् णव
९	त'त	३३	(,,)	१४	त'न
१०	कार्मा	३३	( )	१५	कार्या
११	माघ	३४	(,,)	६	माद्य
१२	लक्षणकोप	५६		२३	लक्षणरत्नकोप
१३	मेष्ठ	५६		१३	मण्ठ
१४	प्रतु	६४	(पा० टि०)	२	ऋतु
१५	ब्रह्मा का	६५		६	ब्रह्मा के आदेश से
१६	सुधारक	६८		२४	सुधाकर
१७	भास	६९		२६	मास
१८	शौमिक	७९, ३७१		८,४	शौभिक
१९	संस्करण	८१		५	संस्कार
२०	महामग	८१		२६	ईहामग
२१	शुद्धादशतरमाकार	८८		२६	शुद्धादशतलाकार
२२	निप्यू ह	८९		८	निव्यू ह
२३	चाल्यदा०	९४	(पा० टि०)	३	चा'यदा०
२४	वातायतयतोपेतो—	१०१	(,,)	१	वातायनोपेतो
२५	स्पेशल	१०७		६	रसपेशल
२६	गणेश	१०७		७	गणदास
२७	परिच्छेद	११२		१५	परिच्छद
२८	नतीच्छल्प	१२८		२०	न तच्छिल्प
२९	न साकता	१२८		२०	न सा कला

	अशुद्ध शब्द	पृष्ठ	पंक्ति संख्या	शुद्ध शब्द
६४	वक्रोकित	२७२	१	वक्रोक्ति
६५	श्लेप	२८३	१०	श्लेष, प्रसाद, समता
६६	मन	२८४	१०	मत
६७	दशकुणा	२८५ (पा० टि०)	५	दशगुणा
६८	उत्कपरेतवस्ते	२८७ (पा० टि०)	५	उत्कपहेतवस्ते
६९	अविधा	२८८	१९	अविद्या
७०	पणस्त	२९०	८	पणदत्त
७१	गाधार सात	२९१	१७	गाधार आदि सात
७२	धनुवत	२९१	१९	धवत
७३	उद्घात्मक	३०४	१८	उद्घात्यक
७४	पाद्य	३०५	१८	वाद्य
७५	मारत	३०९	११	भरत
७६	जीत	३१५	६	गीत
७७	भास्वकार	३१७	१०	मालाकार
७८	प्रयोगस्य	३३१	१९	प्रयोगस्त्र
७९	करण कम	३५२	२७	करण, कम
८०	सृष्टि	३५२	३१	दृष्टि
८१	माद प्रचार	३६४	१६	पाद प्रचार
८२	रवलीव	३७०	२५	रवलीन
८३	प्रगृह	३७०	२५	प्रग्रह
८४	कथल	३७३ (पा० टि०)	८	कयल
८५	उद्धत	३७४	१४	उद्धत
८६	रूपित	३७८	१२	रूपित
८७	रयाय	३७८ (पा० टि०)	१	रपाय
८८	परित्यज्याल्य	३७८ (पा० टि०)	७	परित्यज्यान्य
८९	वस्त्राघ	३७९ (पा० टि०)	३	वस्त्राद्यै
९०	पुस्तक	३८०	५	पुस्त
९१	गुदात्मक	४०९	३	गुदाकाम
९२	अनुभव	४१५	२८	अनुभाव
९३	रसानुगुण	४२७	१९	रसानुग
९४	वम के जिन	४३२	२७	वेम के अनुसार जिन
९५	नम गम	४३४	१९	नमगभ
९६	अ तरा	४६६	१७	आन्तरो
९७	मधीरनया	४८१ (पा० टि०)	१	मधीरतया
९८	भवाड	४८४	१०, १५	भवाई

अशुद्ध नाम	पृष्ठ
	१२८
३० उद्भूतता	१२८ (पा० टि०)
३१ अभिनय	१३० (पा० टि०)
३२ गुप्तिम नदा	१३४
३३ मगुप्त	१३५
३४ नेत	१३८
३५ उद्वत	१३८
३६ आभ्यात	१४१
३७ तामी	१४६
३८ शम्या	१४६ १५३
३९ दुमल्लिका	१५५
४० करण	१५६
४१ स्कन्दगुप्त म	
	१६२
४२ भातृगुप्ताचाय	१६४ (पा० टि०)
४३ कीर्तिनम	१६५ (पा० टि०)
४४ सज्जिन	१७८
४५ अखिल	१८०
४६ उत्पन्न	१८२
४७ भातगुप्त	१८२
४८ जपवादित	१९५
४९ प्रतिभावित	१९९
५० महतरी	२००
५१ नायका	२२६ (पा० टि०)
५२ वामसूत्र	२३२
५३ मुक्तिवाद	२४७
५४ शूयपर	२४८
५५ भवित	२५५
५६ दत्य	२५६
५७ धम	२६६
५८ गद्य	२६७
५९ शम्वरी	२६७
६० शाप्मिनी	२६७
६१ जप्रेपया	२६६
६२ कोटन	
६३ प्रशसो प्रशमोपमा	२७०

पंक्ति संख्या	शुद्ध नाम
८	उदात्तता
११	अभिनव
७	गुप्तिम नदय
१८	प्रगुप्त
१७	नेत्र
१८	उद्भट
७	अभ्यास
८	नामी
६	शम्या
३, ८	दुमल्लिका
१२	करण
८	स्कन्दगुप्त म वामुख और
२०	मातृगुप्ताचार्य
३	कीर्तितम्
८	सज्जित
३	अभिनव
२२	उत्पन्न
२८	मातगुप्त
६	अपवारित
२६	प्रतिभासित
८	महत्तरी
६	नायिकाभा
८	वात्स्यसूत्र
१६	मुक्तिवाद
८	शून्यपर
१८	भवति
१२	दत्य
१९	धम
१३	पद्य (दृग)
८	शक्वरी
२०	शालिनी
२३	अप्रमेया
२५	कोहल
१५	प्रशसोपमा

	अशुद्ध शब्द	पृष्ठ	पंक्ति संख्या	शुद्ध शब्द
९९	अत्र	४६१	११	अत्रे
१००	सीमाओं से	५२२	१७	सीमाओं में
१०१	महतीय	५२२	२१	महनीय
१०२	समावोय	५२२	२७	समाप्तो य